3973

कलिकालसर्वज्ञ आचार्यदेवश्री हेमचन्द्रसूरिरचित वीतरागस्तोत्राष्टमप्रकाशान्तर्निहितमर्मद्योतक

न्यायविशारद - न्यायाचार्य - महामहोपाध्यायश्री यशोविजयगणिवररचित

मुनि यशोविजयकृत - जयलतावृत्ति - रमणीयाव्याख्याऽलङ्कृत

स्याद्वादरहस्य

(मध्यम)

(तृतीय खण्ड)

(दिव्याशिष)

वर्धमानतपोनिधि न्यायविशारद संघहितचिन्तक गच्छाधिपति स्व.आचार्यदेवेश
श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज

(प्रेरक-प्रोत्साहक)

सिद्धान्तदिवाकर गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद्विजय
जयघोषसूरीश्वरजी महाराज

-: प्रकाशक :-

दिव्यदर्शन ट्रस्ट
३६, कलिकुण्ड सोसायटी,
धोलका.
Pin - 387810.

-: प्राप्तिस्थान :-

१, प्रकाशक
२, भरतभाई चतुरदास शाह,
कालुशीपोल, कालुपुर,
अमदावाद.
Pin - 380 001

हे शारदे मा.... ... ... (२)
अज्ञानता से हमें तार दे मा... हे.
तू स्वर की देवी है संगीत तुज से
हर शब्द तेरे, हर गीत तुज से
हम है अकेले, हम है अधूरे
तेरी शरण में हमें प्यार दे मा..हे.
मुनियोंने समझी, गुणियोंने जानी
संतो की भाषा, आगमों की वाणी
हम भी तो समझे, हम भी तो जाने
विद्या का हमको अधिकार दे मा...हे.
तू श्वेतवर्णी कमल पे बिराजे
हाथों में वीणा, मुकुट सर पे साजे
मन से हमारे मिटा दे अंधेरे
हमको उजालों का परिवार दे मा...हे.

क्रम	ग्रंथशरीरपरिचय	पत्रक्रमांक
१	प्रकाशकीय वक्तव्य	३
२	अवतरणिका	४
३	विषयानुक्रम	८
४	प्रस्तुत प्रकरण - तृतीय खण्ड	५४१-८८४
५	परिशिष्ट १ से ९	८८५-८९६

संशोधक

न्यायादिशास्त्रमर्मज्ञ तपोरत मुनिप्रवरश्री पुण्यरत्नविजयजी महाराज

卐 प्रथम आवृति 卐
- वि.सं. २०५२
- नकल - ६००

मूल्य: रु. १४०-००

कोम्प्युटर्स टाईप सेटींग
श्री पार्श्व कोम्प्युटर्स,
३३, जनपथ सोसायटी, [illegible] पर,
घोडासर, अहमदाबाद-३८००५०.
फोन :- 396246

सर्वाधिकार श्रमणप्रधान श्री श्वेतांबरमूर्तिपूजक जैन संघ के स्वाधीन

नोंध :- यह ग्रंथ दार्शनिक अध्ययनरसिक जैन साधु साध्वीजी भगवंत को भेट रूप में मिल सकेगा । ज्ञाननिधि में प्रस्तुत पुस्तक का [illegible] मे बिना मूल्य के गृहस्थ इस पुस्तक को अपनी मालिकी में नहीं रख सकते ।

जन्म :- वि. सं. १९९२ अषाढ वद - २ बम्बई

दीक्षा :- वि. सं. २००६ वैशाख वद - ६ बम्बई

गणिपद :- वि. सं. २०३१ कार्तिक वद - १० अमदावाद

पन्यासपद :- वि. सं. २०३४ वैशाख शुक्ल - ५ अमदावाद

आचार्यपद :- वि. सं. २०४० महाशुक्ल - १३ जलगाँव

गच्छाधिपतिपद :- वि. सं. २०४९ वैशाख वद - ४ बम्बई

जिनशासनके श्रमण सिद्धांतदिवाकर गच्छाधिपति
आचार्यदेव श्रीमद्विजय **जयघोषसूरीश्वरजी** महाराजा के
पावन पादपद्मों में समर्पण

- शिशु यशोविजय

प्रकाशकीय वक्तव्य

विद्वद् वाचकवर्ग के करकमल में जयलता (संस्कृत टीका) एवं रमणीया (हिन्दी व्याख्या) से सुशोभित स्याद्वादरहस्य (मध्यम) ग्रन्थरत्न का अंतिम और तृतीय खण्ड प्रस्तुत करते हुए हम आज अपूर्व आनंद की अनुभूति कर रहे हैं ।

प्रस्तुत तृतीय खण्ड में कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज से निर्मित मूलग्रंथस्वरूप वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की ९,१०,११,१२ वीं कारिकाओं का महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी गणिवरविरचित (मध्यम) स्याद्वादरहस्यात्मक विवरण एवं उसकी जयलतात्मक संस्कृत टीका और रमणीयात्मक हिन्दी व्याख्या मुद्रित हैं । मुनिश्री यशोविजयजी ने न केवल भारतवर्षीय एकान्तदर्शनीय विद्वानों के गलत मन्तव्यों की जयलता टीका में कड़ी समीक्षा की है अपितु पाश्चात्यदेशीय हीरेक्लश, हेरेक्लाइटस, हेल्महोल्त्स, परमेनाइडीज़, बर्कले, हेगल, स्पिनोज़ा, शोपनहावर, अनाक्सागोरस, एरिस्टोटल, प्लेटो, हिगेल, आदि फिलोसोफरों की भ्रान्त कल्पनाओं की भी सख्त समालोचना जयलता के तीनों खण्डों में की है, जिसका पता हमें तीनों खण्डों की विषयमार्गदर्शिका पर निगाह डालने पर मिला है । परिशिष्ट नं ६/७/८ का अवलोकन करने से जयलता टीका की महत्ता का भी हमें कुछ ख्याल प्राप्त हुआ । साथ ही सुगम एवं स्पष्टरूप से स्याद्वादरहस्य (मध्यम) के पदार्थ-भावार्थ का द्योतन करनेवाली रमणीया (हिन्दी व्याख्या) ने तो 'सोने में सुगन्ध' कहावत चरितार्थ कर दी है । स्याद्वादरहस्य जैसे उपयोगी महत्त्वपूर्ण कठिन दार्शनिक ग्रन्थ की संस्कृत एवं हिन्दी भाषा के माध्यम से इतनी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत करने के लिये हम मुनिश्री यशोविजयजी का अभिनन्दन करते हैं और आशा रखते हैं कि इस प्रकार के कठिन ग्रंथों की संस्कृत-हिन्दी-गुजराती भाषा के माध्यम से व्याख्या करते हुए महोपाध्यायजी महाराज के साहित्य को आलोकित एवं स्पष्ट कर के प्राथमिक अभ्यासुओं के पठनयोग्य बनायें तथा चिरकाल से अध्ययन - अध्यापनादि की सीमा से बाहर रह गये श्रीमद्जी के अनेक अमूल्य ग्रंथरत्नों को अध्ययन - अध्यापन क्षेत्र में लाने का श्रेय और प्रेय प्राप्त करें तथा उन ग्रंथों की नयी व्याख्याओं के प्रकाशन का लाभ हमारी संस्था को देने के लिये उदारता प्रदर्शित करें ।

प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के तृतीय खण्ड की दोनों व्याख्याओं में त्रुटि रहने न पावे तदर्थ नव्यन्यायपरिकर्मितमति तपस्वी मुनिराजश्री **पुण्यरत्नविजयजी** महाराज ने संशोधन के लिये पर्याप्त परिश्रम किया है । एतदर्थ हम उनके भी ऋणी हैं । मुद्रण आदि कार्य में कोई क्षति न रह जाए उसके लिये व्याख्याकार मुनिश्री ने भी प्रूफरीडिंग आदि कार्य में यथोचित ध्यान दिया है । फिर भी मुद्रण आदि में छद्मस्थतामूलक कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो उसका परिमार्जन करने के लिये अध्येतावर्ग से हमारी प्रार्थना है ।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रथम और द्वितीय खंड के प्रकाशन के बाद अतिअल्प समयावधि में सर्वांग सुन्दर कम्पोज - सेटिंग - मुद्रण आदि कार्यसहित तृतीय खण्ड के प्रकाशन में पार्श्व कम्प्यूटरवाले प्रजेशभाई तथा विमलभाई ने भी अच्छा सक्रिय सौजन्य दिखाया है । एतदर्थ वे भी अवश्य हमारे धन्यवाद के पात्र हैं ।

परमाराध्यपाद वर्धमानतपोनिधि न्यायविशारद संघहितचिन्तक गच्छाधिपति स्व. आचार्यदेवेश श्रीमद्विजय **भुवनभानु सूरीश्वरजी** महाराजा की पुनीत प्रेरणा से प्रारब्ध हमारी संस्था को आज भी उनकी दिव्य कृपा से ऐसे शास्त्रीय प्रकाशनों का लाभ मिल रहा है । इस बात का हमें गौरव है और आगे भी ऐसे महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय-ग्रन्थों के प्रकाशन का लाभ हमारी संस्था को मिलता रहे-ऐसे मंगल आशीष की हम प.पू. स्व.गुरुदेवश्री से याचना करते हैं ।

अन्त में, अधिकारी जिज्ञासु मुमुक्षु पाठकवृन्द टीकाद्वयसहित इस ग्रंथरत्न का सम्यग् अध्ययन कर के पारमार्थिक विश्वकल्याणकर तत्त्वों के मनन से मुक्तिमार्ग की ओर प्रगति करें यही एक शुभेच्छा ।

परमपूज्य सिद्धांतदिवाकर गच्छाधिपति आचार्यदेव **श्रीमद्विजय जयघोष सूरीश्वरजी म.सा.** एवं पू.पंन्यासप्रवरश्री **पद्मसेनविजयजी गणिवर** की शुभ प्रेरणा से मरुधर जैन संघ - हुबली की ओर से एवं श्री गोडीजी महाराज जैन टेम्पल एन्ड चेरीटीझ ट्रस्ट, पायधुनी बम्बई की ओर से तथा पू. मुनिराजश्री **मेघवल्लभविजयजी** म. की पावन प्रेरणा से श्रीजवाहरनगर जैन संघ, गोरेगाँव-बम्बई की ओर से ज्ञाननिधि से आर्थिक सहयोग मिला है ।

लि. दिव्यदर्शनट्रस्ट के ट्रस्टी
कुमारपाल वि. शाह
ललितभाई चतुरदास शाह,
जयंतभाई शाह आदि

॥ श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

अवतरणिका

'मेरी कृति क्यों पसंद नहीं आई ? क्या वह मौलिक एवं अच्छी नहीं है ?'

'जी हजरत ! वह मौलिक भी है और अच्छी भी । किन्तु इस कृति का जो भाग मौलिक है वह अच्छा नहीं है और जो भाग अच्छा है वह तनिक भी मौलिक नहीं है !!'

उपर्युक्त प्रसङ्ग में एकान्तवादी के सिद्धान्तों का प्रतिबिम्ब निहित है । उनमें तनिक भी मौलिकता नहीं है या आंशिक भी समीचीनता नहीं है-ऐसा नहीं है किन्तु उनमें जो मौलिकता है वह मिथ्यात्वविष एवं कुतर्ककण्टक और कुयुक्तिस्वरूप कंकड़ों से व्याप्त होने के सबब भयावह है और उनमें जो सचाई, समीचीनता है वह मौलिक = एकान्तवादनिर्मित नहीं है, अपितु अनेकान्तवाद पर अवलम्बित है । एकान्तवाद में उपलब्ध मौलिकता एवं सत्यता विशृङ्खल है, क्योंकि वह मौलिकता मिथ्यात्वप्रयुक्त है और सत्यता अनेकान्तवादप्रयुक्त है, द्वादशाङ्गीमूलक है । जैसे प्राज्ञ प्रेमीजन इत्र की आमोद और कृत्रिम आकार होने पर भी मौलिक जड़ता एवं प्राणहीनता के सबब कागज के फूलों के ग्राहक बनते नहीं हैं ठीक वैसे ही प्राज्ञ मुमुक्षुजन भी क्वचित् स्याद्वादस्वीकारमूलक सत्यता एवं सरस्वतीप्रसादप्रयुक्त तर्कगर्भितता होने पर भी मौलिक मिथ्यात्व एवं सन्मार्गविमुखता से स्वतः परदर्शनों के एकान्तसिद्धान्तों के उपासक बनते नहीं हैं । जब कि अनेकान्तवाद में उपलब्ध मौलिकता तथा सत्यता ठीक वैसे ही सर्वत्र व्याप्त है जैसे प्राकृतिक गुलाब में निहित सौंदर्य और सुवास । अतएव परमात्मप्रेमी मुमुक्षुवर्ग सापेक्षवादस्वरूप सुमन से सच्चिदानंदस्वरूप परमेश्वर की पूजा - पर्युपासना किये बिना रह नहीं सकते । परदर्शनों के एकान्त सिद्धान्तों में जो क्वाचित्क कादाचित्क सत्यता उपलब्ध होती है वह भी मौलिक सम्यक् सापेक्षवाद पर ही निर्भर है । यह निरूपण कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचंद्राचार्यजी ने वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश में किया, जिसके रहस्यार्थ- ऐदम्पर्यार्थ को व्यक्त करने के लिये महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज ने स्याद्वादरहस्य नामक तीन विवरण ग्रन्थ बनाये ।

मध्यमपरिमाण स्याद्वादरहस्य ग्रन्थ के दो खण्डों का प्रकाशन होने के बाद तृतीय खण्ड वाचकवर्ग के करकमल में प्रस्तुत हो रहा है, जिसमें पूर्ववत् जयलता (संस्कृत टीका) एवं रमणीया (हिन्दी टीका) का समावेश किया गया है । वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की ९,१०,११,१२वीं कारिकाओं का विवरण प्रस्तुत तृतीय खण्ड में समाविष्ट है । ९वीं कारिका में चित्ररूप का स्वीकार करनेवाले वैशेषिक एवं नैयायिक भी स्याद्वाद का स्वीकार करते हैं - इसका निर्देश उपलब्ध है । इस कारिका में निहित रहस्यार्थ का वर्णन श्रीमद्जी ने नव्य न्याय की पारिभाषिक पदावली में हृदयंगम शैली से किया है । यद्यपि साम्प्रदायिक प्राचीन नैयायिक एवं वैशेषिक जिस पद्धति से स्वतन्त्र चित्र रूप का प्रस्थापन करते हैं उसमें अनेकान्तवाद का प्रतिबिम्ब अदृष्टचर है तथापि नील-पीत-रक्तादिकपाल से आरब्ध घट में नीलपीतोभयजन्य चित्ररूप पीतरक्तोभयजन्य चित्ररूप आदि अनेक चित्र रूप का स्वीकार करनेवाले नैयायिकदेशीय के मत में तो अनेकान्तवाद का अङ्गीकार अनिवार्य ही है - इस विषय का महोपाध्यायजी ने अप्रतिम प्रतिभा से प्रतिपादन किया है । चित्ररूपविषयक विशेष विवेचन के लिये श्रीमद्जी ने स्वरचित न्यायवादार्थ और चित्ररूपप्रकाश का अवलोकन करने की सूचना की है । साम्प्रतकाल में श्रीमद्जी का समवादगर्भित [1]वादमालानामक ग्रन्थ उपलब्ध है जिसमें प्रथमवाद है चित्ररूपप्रकाश । न्यायवादार्थ ग्रन्थ अभी अप्राप्य है । इनके अलावा स्याद्वादकल्पलता (स्तबक.६, कारिका. ३७), नयोपदेश, आत्मख्याति आदि श्रीमद्जी के ग्रन्थों में भी चित्र रूप का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है । चित्ररूपमीमांसा के पश्चात् भेद - अभेद, सामान्य - विशेष, उपसर्जनत्व - अनुपसर्जनत्व, वाच्यत्वावाच्यत्व आदि के विरोध का परिहार किया गया है । अंत में शब्द और अर्थ के बीच संकेतनामक सम्बन्ध के स्थान में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध का स्थापन कर के ९वीं कारिका का विवरण समाप्त किया गया है ।

मिथः विरुद्ध सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण से घटित प्रकृतितत्त्व का स्वीकार करनेवाला सांख्य मनीषी भी अनेकान्तवाद का अपलाप कर नहीं सकता - इस विषय का संक्षिप्त निरूपण १०वीं कारिका एवं उसके विवरण में उपलब्ध है ।

कलिकालसर्वज्ञजी ने ११वीं कारिका में परलोक, आत्मा, मोक्ष के बारे में भ्रान्त नास्तिक के मत की उपेक्षा की

---

१. दिव्यदर्शन ट्रस्ट की ओर से प्रस्तुत वादमाला ग्रन्थ का प्रकाशन हो चुका है, जिसमें मुनिश्री यशोविजयजी रचित हेमलता (संस्कृत) टीका एवं वहभा (हिन्दी) टीका का समावेश किया गया है ।

है मगर श्रीमद्जी ने चार्वाकमत की कड़ी समीक्षा की है । पृथ्वी आदि भूतचतुष्क से व्यतिरिक्त आत्मतत्त्व का स्वीकार आवश्यक है-यह सिद्ध कर के प्राचीन नास्तिकमत का संक्षेप से जो निराकरण यहाँ किया गया है वह स्याद्वादरत्नाकर, धर्मसंग्रहणी, स्याद्वादमंजरी आदि प्राचीन ग्रन्थों में विस्तार से उपलब्ध है । नव्य नास्तिक का मत यह है कि —> 'अवच्छेदकतासम्बन्ध से ज्ञानादि के प्रति अवच्छेदकतासम्बन्ध से कारणीभूत शरीर में लाघव से तादात्म्यसम्बन्ध से ही कारणता का स्वीकार संगत है, जिसके फलस्वरूप शरीरानतिरिक्त आत्मद्रव्य की सिद्धि होती है। एवं अनुमिति भी मानस प्रत्यक्षात्मक ही है, न कि प्रत्यक्षभिन्न प्रमा <— किन्तु श्रीमद् महोपाध्यायजी ने अपनी प्रकाण्ड प्रज्ञा से नव्यनास्तिक मत का निराकरण कर के आत्मा को शरीर से भिन्न एवं अनुमिति को मानस प्रत्यक्ष से भिन्न सिद्ध की है । इस विषय का भी विस्तार से निरूपण स्याद्वादकल्पलता के प्रथम स्तबक एवं [1]न्यायालोक में श्रीमद्जी ने किया है । प्रासङ्गिक रूप से दिशा और आकाश में अभेद का (पृष्ठ ६८५) श्रीमद्जी ने निरूपण किया है । तत्पश्चात् शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि के प्रसङ्ग में शब्द को गगनगुण माननेवाले नव्यनैयायिक के मत का उन्मूलन किया गया है । आगे चल कर शब्द को नित्य माननेवाले मीमांसकों के मत का एवं शब्द को अनित्य माननेवाले नैयायिकों के मत का प्रतिपादन एवं प्रत्याख्यान कर के शब्द में नित्यानित्यत्व की सिद्धि की गई है (पृष्ठ ७३६) । तदनन्तर मन को अनतिरिक्त सिद्ध कर के 'धर्म - अधर्म - आकाश-जीव - समय - पुद्गल द्रव्य है' इस जिनोक्त द्रव्यविभाग की समीचीनता स्थापित की गई है (पृष्ठ ७३९-७४३) । द्रव्यविभाग निरूपण के प्रसङ्ग में यहाँ जैसा उद्देश्यविधेयभावनिरूपण उपलब्ध है, जहाँ तक हमारा ख्याल है वैसा उद्देश्यविधेयभाव का सूक्ष्म प्रतिपादन अन्यत्र अनुपलब्ध है (पृष्ठ ७४२ से पृष्ठ ७५४) । आत्मा में चैतन्यात्मकता की सिद्धि के प्रसङ्ग से ज्ञानानात्मक आत्मद्रव्य को माननेवाले सांख्यमत का (पृष्ठ ७६०) एवं ज्ञानाऽज्ञानोभयस्वभाव आत्मद्रव्य के प्रस्थापक भट्ट के मत का (पृष्ठ ७६७) निराकरण किया गया है। बाद में आत्मा को परिणामी, कर्ता और साक्षात् भोक्ता सिद्ध कर के योग-सांख्य - भट्ट मत का निरसन किया गया है (पृष्ठ ७७०) । तत्पश्चात ८१ श्लोकों से नैयायिकादिसम्मत आत्मविभुत्ववाद की सूक्ष्म समीक्षा की गई है (पृष्ठ ७७५-८२७) । तदनन्तर आत्माद्वैतमत का निराकरण कर के अनेक आत्मा की सिद्धि की गई है (पृष्ठ ८२३) और 'अदृष्ट पौद्गलिक है' इस बात का निर्देश (पृष्ठ ८२६) किया गया है । आगे चल कर मोक्ष के प्रति समुचित ज्ञान और क्रिया में मोक्षकारणता का प्रतिपादन कर के विस्तारार्थ स्वकृत ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद को देखने का निर्देश किया गया है । हमारा सौभाग्य है कि महोपाध्यायकृत नयोपदेश ग्रन्थ की स्वोपज्ञ नयामृततरङ्गिणीनामक विवृति के अन्तिम भाग में ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद संपूर्णतया उपलब्ध है । बाद में प्रसङ्गसङ्गति से अन्यथासिद्धि की मननीय मीमांसा श्रीमद्जी ने की है । हमारा दुर्भाग्य है कि पाँचवी अन्यथा सिद्धि के प्रतिपादन का प्रारम्भ होने के पश्चात् श्रीमद्जी का यह मध्यमपरिमाण स्याद्वादरहस्यनामक विवरणग्रन्थ मूलादर्श में भी अनुपलब्ध है । इस (अन्यथासिद्धि) विषय का निरूपण वादवारिधि आदि ग्रन्थों में एवं श्रीमद्जी की अनेकान्तव्यवस्थानामक कृति में विस्तार से उपलब्ध है, जिसके अनुसार मैंने त्रुटित व्याख्या का अनुसन्धान कर के २१वीं कारिका की मूल व्याख्या पूर्ण करने का प्रयत्न किया है और उसकी भी जयलता (संस्कृत टीका) और रमणीया (हिन्दी टीका) में विवेचना की है ।

२२वीं कारिका में परीक्षाकुशल से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की प्रत्येक वस्तु में व्यापकता का, जो सर्वज्ञकथित है, स्वीकार सत्परीक्षाकुशल व्यक्ति करते हैं—इस विषय का प्रतिपादन कर के मूलकारश्री ने अष्टम प्रकाश का उपसंहार किया है । मगर प्रस्तुत मध्यमपरिमाण स्याद्वादरहस्यनामक विवरणग्रन्थ त्रुटित होने की वजह २२वीं कारिका विवरण से अलङ्कृत नहीं है। अतएव ग्रन्थपूर्ति के लिए २२ वीं कारिका की लघुपरिमाण स्याद्वादरहस्य में जो व्याख्या उपलब्ध है, वही यहाँ मध्यमपरिमाण स्याद्वादरहस्य नामक त्रुटित विवरणग्रन्थ के अनुसन्धान में मैंने समाविष्ट की है और उसका भी विवेचन जयलता और रमणीया में किया है ।

टीकाद्वय रचना के बारे में

परहितनिरत परमोपकारी पूज्य गुरुजनों का आशिष ले कर वि.सं. २०५७ महा सुद २ के शुभ दिन सुबह करीब ५-४५ समय पर मद्रास आराधनाभवन में स्याद्वादरहस्य ग्रंथ पर जयलता टीका एवं रमणीया व्याख्या के सर्जन का श्रीगणेश

1. दिव्यदर्शनट्रस्ट की ओर से महोपाध्याय रचित 'न्यायालोक' ग्रंथ का प्रकाशन हो चुका है, जिसमें मुनिश्री यशोविजयगणिरचित भानुमती (संस्कृत) टीका एवं प्रीतिदायिनी (गुजराती) व्याख्या समाविष्ट है ।

हुआ । अध्यापन आदि कार्य में अधिक कार्यरत रहने की वजह चैत्र मास तक प्रथम खंड के केवल १४ पृष्ठ तक लेखनकार्य हुआ । चैत्र मास में मद्रास से कोईम्बतुर की ओर पूज्य विद्यागुरुदेव मुनिराजश्री **जयसुन्दरविजयजी** म.सा. (वर्तमान में पंन्यासप्रवर) की पावन निश्रा में विहार का शुभारंभ हुआ और विहार काल के दौरान प्रथम खण्ड के पृ.१५ से पृ.९० तक व्याख्याद्वय का निर्माण हुआ । परमपूज्य वर्धमानतपोनिधि दादागुरुदेव श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज की पवित्र निश्रा में कोईम्बतुर में चातुर्मासप्रवेश से लेकर मासक्षमण (३१ उपवास) तपश्चर्या की पूर्णाहुति पर्यन्त व्याख्याद्वयसहित पृ.९१ से पृ.१८० तक लेखन हुआ । चातुर्मास के शेष भाग में प्रथम खण्ड का अवशिष्ट कार्य (पृ.१८१ से पृ.२१७ तक की दोनों व्याख्याओं का सर्जन) समाप्त हुआ । चातुर्मास के बाद कोईम्बतुर से इरोड होकर महामास में बेंग्लोर पहुंचे तब तक विहारकाल के बीच द्वितीय खण्ड के पृ.२१८ से पृ.४१० तक टीकाद्वय का कार्य हुआ । तत्पश्चात बेंग्लोर में प्रायः ३ मास की स्थिरता के काल में पृ.४११ से पृ.४६० तक दोनों विवेचनाओं का सृजन हुआ । बाद में बेंग्लोर से हुबली की ओर विहार काल के मध्य में पृ.४६१ से पृ.५५४ तक दोनों व्याख्याओं का कार्य सम्पन्न हुआ । परमपूज्य दादागुरुदेवश्री की धन्यनिश्रा में हुबलीनगर में चातुर्मासप्रवेश से सिद्धि तप का शुभारंभ किया और उसकी समाप्ति तक तृतीय खण्ड के पृ.५५५ से पृ.७०५ तक दोनों व्याख्याओं का आलेखन हुआ । उस चातुर्मास के शेष भाग में प्रस्तुत तृतीय खण्ड के पृ.७०६ से पृ.८८४ तक दोनों टीकाओं के सर्जन के साथ वि.सं.२०४८ कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा के दिन सुबह टीकाद्वयकार्य समाप्त हुआ । प्रतिदिन प्रायः ३/४ घंटे तक संयमीओं के अध्यापन कार्य को मुख्य कर के जो समय बचता था उसमें, २१ मास की कालिक अवधि में, उपर्युक्त जयलता एवं रमणीया दोनों व्याख्याओं का सृजन एवं समापन हुआ । इसमें पूज्यपाद गुरुजनों की महती कृपा एवं मङ्गल आशिष ही प्रधान कारण है, अन्यथा इतना लम्बा - चौडा जटिल कार्य करना मेरे बस की बात ही कहाँ ? व्याख्याद्वयस्वरूप बड़े हिमालय के एवरेस्ट शिखर तक पहुंचना मेरे जैसे पंगु जन के लिये स्वप्न में भी नामुमकिन था । मानों कि गुरुजनों की कृपास्वरूप रॉकेट / स्पुटनिक को पाकर मैं वहाँ तक पहुंच गया, जिसके बाद आनंद की कोई अवधि ही नहीं रही ।

कुलस्केप के कुल १५७८ पृष्ठ का मेरा हस्तलिखित मेटर मुद्रण के तीनों खण्डों में मिल कर ८८४ पृष्ठों में समाविष्ट है । मङ्गल मुहूर्त में शुभारंभ के पश्चात टीकाद्वय का सर्जन कार्य नियमित रूप में आगे चलता रहा और बीच में प्रायः किसी भी विघ्न ने रुकावट नहीं डाली - ऐसा गुरुजनों की पर्युपास्ति एवं प्रभाव का अनूठा फलास्वाद करने का सौभाग्य एवं सद्भाग्य मिला, जिससे प्राप्त आनंद के अनुभव को शब्दावली में बांध कर विज्ञ वाचकवर्ग के सामने पेश करने के लिये मैं असमर्थ हूं । जय गुरुदेव !

उपकारसंस्मरण

नव्यन्याय की गूढ पारिभाषिक पदावली से गर्भित नवीन अकाट्य तर्कजाल से जिस ग्रन्थ की प्रायः प्रत्येक पंक्ति व्याप्त है ऐसे अतिजटिल प्रस्तुत ग्रन्थ की संस्कृत और हिन्दी टीका का सर्जन एवं संपादन करना मेरे बस की बात ही कहाँ ? किन्तु स्वर्गस्थ सिद्धान्तमहोदधि सूरिशिरोमणि सुविशालगच्छाधिपति सहिष्णुअग्रणी भगवान **प्रेमसूरीश्वरजी** महाराजा के पट्टालङ्कार संघहितचिन्तक न्यायविशारद वर्धमानतपोनिधि गच्छाधिपति दादागुरुदेव श्रीमद्विजय **भुवनभानुसूरीश्वरजी** महाराजा के मङ्गल आशीर्वाद से दुष्कर कार्य भी सुकर बन गया । मेरे जीवन में गुरुकृपा का यह सब से बड़ा कल्पनातीत चमत्कार निःसन्दिग्धता से कहा जा सकता है ।

आपके पट्टालङ्कार सिद्धान्तदिवाकर सुविशालकर्मसाहित्यसर्जक समतासागर सूरिवरेण्य श्रीमद्विजय **जयघोषसूरिजी** महाराज को भी ऐसे मङ्गल अवसर पर कैसे भूल सकता ? जिनकी कृपा से एवं अमूल्य मार्गदर्शन से हमारा संयमबाग सदा प्रसन्न - प्रफुल्लित और पावन बन रहा है ।

भीम भवोदधि में डूबती हुई हमारी आत्मा का, अपने प्राणों की परवाह किये बिना निर्व्याजकृपारज्जु देकर, उद्धार कर के रमणीय रत्नत्रय का दान करनेवाले शासनप्रभावक पद्मविजयजीपादपद्मपराग अनुपमवैरागी सूरिवर **हेमचन्द्रसूरिजी** महाराज की परार्थरसिकता को मैं कैसे भूल सकता ?

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के संशोधक तर्कसम्राट सर्वतोमुखप्रतिभासम्पन्न विद्यागुरुदेव पंन्यासप्रवर श्री **जयसुन्दरविजयजी** गणिवर के मार्गदर्शन एवं संशोधनसहायता के बिना मैं यह भगीरथ कार्य कैसे हासिल कर सकता ?

पद्ममणितीर्थोद्धारक प्रशांतस्वभाव पूज्यपाद गुरुदेवश्री **विश्वकल्याणविजयजी** महाराज मेरे लिये सदैव स्मरणीय - वंदनीय - उपासनीय बने रहेंगे, जिनकी पावन प्रेरणा से रत्नत्रयीसरिता में नयी उद्योगऊर्मियाँ उमड रही हैं ।

निस्वार्थपरार्थव्यसनी षड्दर्शनपरिकर्मितमति सूक्ष्मप्रज्ञासम्पन्न तपोरत्न मुनिराजश्री **पुण्यरत्नविजयजी** महाराज को कदापि भूल नहीं सकता, जिन्होंने प्रस्तुत संपूर्ण ग्रन्थ के टीकाद्वययुक्त तीनों खंडों के संशोधन की जवाबदारी उदारता से स्वीकृत की और प्रसन्नता एवं निःस्वार्थता से निभाई ।

प्रारम्भिकन्यायादिविद्याप्रदाता संयमैकलक्षी मुनिराजश्री **अभयशेखरविजयजी** महाराज, प्राकृतादिविद्यादाता सदाप्रसन्न मुनिराजश्री **अजितशेखरविजयजी** महाराज, रत्नत्रयीसमाराधक आत्मीय कल्याणमित्र मुनिवरश्री **कल्याणबोधिविजयजी** महाराज, **श्रीमुक्तिवल्लभविजयजी** महाराज, **श्रीविमलबोधिविजयजी** महाराज, श्रीयुगसुन्दरविजयजी महाराज आदि तथा सहवर्ती सब मुनिभगवंतों के सहकार को भी मैं नहीं भूल सकता ।

इस ग्रन्थ का अध्ययन कर के मुमुक्षुवर्ग कदाग्रहविषमुक्त होकर विश्वकल्याणकर एवं विश्वमङ्गलकर अनेकान्तवाद का उपासक बन कर आत्मश्रेय और प्रेय को प्राप्त करे यही मङ्गलकामना ।

गुरुपादपद्मरेणु मुनि यशोविजय

ॐकारसूरि आराधना भवन, सुरत, वि.सं. २०४९.

विषयमार्गदर्शिका

विषय	पृष्ठ
चित्ररूपवादप्रारम्भः	५५०
चित्ररूपवादस्थल	५५०
नीलाभावादेः प्रतिबन्धकत्वविचारः	५५१
नीलरूपाभाव नीलरूप का प्रतिबंधक है नहीं	
सकल पीठरपाकवादी	५५१
नीलाभावादेश्चित्रप्रतिबन्धकत्वनिराकरणम्	५५२
लघुस्याद्वादरहस्यसंवादः	५५३
नीलाभावादि में चित्ररूपहेतुता मुमकिन -	
पिलुपाकवादी	५५३
पृथ्वी ही चित्ररूप का हेतु है	५५३
नीलाभावादेश्चित्रकारणताविचारः	५५४
कार्यसहभाव से हेतुता का विचार	५५४
लघुस्याद्वादरहस्यसंवादः	५५५
रूपमात्रभावातिरिक्त चित्ररूप के प्रति पाक	
कारण-मतविशेष	५५५
पाकजचित्रप्रतिक्षेपः	५५६
अपरमतद्योतनम्	५५७
रामभद्रसार्वभौममताविष्करणम्	५५८
चित्ररूप के प्रति रूपत्वेन कारणता-रामभद्र सार्वभौम	५५८
रामभद्रमतमीमांसा	५५९
असमवायिकारणत्वेन हेतुताप्रकाशनम्	५६०
असमवायिकारणत्वस्याननुगतत्वम्	५६१
जन्यरूपकारणताविमर्शः	५६२
जन्यरूप के प्रति रूपसामान्य कारण	५६२
सम्बन्धाननुगमस्याऽदोषताबीजाविष्कारः	५६३
कारणतावच्छेदक सम्बन्ध में अननुगम निर्दोष	५६३
नीलतर-नीलतमजन्यचित्ररूपसमर्थनम्	५६४
स्वविजातीयत्वस्वसंवलितत्वपदार्थविशदीकरणम्	५६५
विजातीय चित्र रूप की कारणता का विचार	५६५
मतद्वयगौरवकथनम्	५६६
असमवायिकारणतागर्भित चित्ररूपसामान्यकारणत्व	५६६
यावन्त्वावच्छिन्नाभावस्य चित्रकारणता	५६७
रूपत्वेन चित्रकारणत्वप्रतिपादनम् अखण्डाभावत्वेन	
कारणतानङ्गीकारः	५६८
विभिन्न चित्र रूप की विभिन्न कारणता मतविशेष	५६८
कल्पलतानुसारेण यथाश्रुतपाठोपपादनम्	५६९
रूपजरूपे पाकस्य प्रतिबन्धकता	५७०
आधुनिकमतनिरासः	५७१
नील के प्रति स्वव्यापकत्वसमवाय से नील की कारणता	५७१
नील-पीतारब्धे नीलानुत्पादनिरूपणम्	५७२
अपरमतास्वरसबीजाऽऽविष्करणम्	५७३
रूपविहीनघटवादी मतविशेष	५७३
घटाकाशसंयोगाऽचाक्षुषत्वविचारः	५७४
रूपविहीनघटवादी के मत की समालोचना	५७४
नीलरूपघटवादिकृतपरिष्कारः	५७५
घटाकाशसंयोगादि के अचाक्षुष की उपपत्ति का प्रयास	५७५
अव्यासज्यवृत्त्याकाशगुणाऽचाक्षुषोपपादनम्	५७६
रूपाभाव में द्रव्यसमवेतगोचरचाक्षुषप्रतिबन्धकता का समर्थन	५७६
चाक्षुषप्रयोजकप्रतिपादनम्	५७७
अखण्डभेदहेतुताऽनङ्गीकारः	५७८
चाक्षुषाभावनिष्ठप्रतिबन्धकताविचारः	५७९
समनियताभावाभेददर्शनम्	५८०
त्रुटिविश्रान्तिविमर्शः	५८१
उद्भूतैकत्वस्य द्रव्यचाक्षुषकारणता	५८२
नीलरूपघटवादी नव्यनैयायिक के मत की समालोचना	५८२
स्पर्शशून्य घट का समर्थन	५८३
चित्ररूपप्रकाशातिदेशः	५८४
रूपवत्ताप्रतीति से नीलरूपघटवादी का मत अश्रद्धेय	५८४
ऋजुमतप्रकाशनम्	५८५
अव्याप्यवृत्ति नानारूपवादिमत	५८५
अवच्छेदकतया रूपे समवायेन रूपहेतुता	५८६
अवच्छेदकतायाः कारणनियम्यता	५८७
अवच्छेदकतया नीलादि के प्रति समवाय से नीलादि	
हेतुता मतविशेष	५८७
अवच्छेदकतया रूपे द्रव्यस्य हेतुता	५८८
नीलविशिष्टद्रव्य अवच्छेदकतया रूप का हेतु नहीं है	५८८
अवच्छेदकतया जन्यरूप के प्रति समवाय से	
द्रव्यहेतुता - मतविशेष	५८८
मूर्तत्वेन जन्यरूपकारणतासमर्थनम्	५८९
स्वाश्रयवृत्तिद्रव्यसमवाय से नीलाद्यभावहेतुता असंगत	५८९
अन्यथापि अवच्छेदकतया नीलाद्यापत्तिपरिहारः	५९०
द्रव्यविशिष्टसमवाय से रूपकारणता	५९०
स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवाय से नीलेतरादिहेतुता-मतविशेष	५९०
द्रव्यपदप्रवेशप्रयोजनप्रकाशनम्	५९१
अभिनवैकदेशिमताविष्कारः	५९२
अवच्छेदकत्वनियामकविचारः	५९३
नानासम्बन्ध से नीलेतरकपालादि अप्रतिबन्धक	५९३
अन्वयव्यभिचारनिष्करणम्	५९४

Bold Type जयलता (संस्कृत टीका) के विषय के सूचक है । Normal Type स्वर्णाभा (हिन्दी व्याख्या) के सूचक है ।

विषय	पृष्ठ
नव्यदोषप्रकाशनम्	५९५
नीलेतरत्वेन प्रतिबन्धकता में गौरव अनवकाश	५९५
प्रतिबन्धकतागौरवस्याऽविरोधित्वम्	५९६
सामानाधिकरण्यस्याऽव्याप्यवृत्तिता	५९७
सामानाधिकरण्यावच्छिन्न - नीलेतराभावहेतुतामत	५९७
व्याप्यवृत्तेरवच्छेदकत्वे मानाभावः	५९८
सामानाधिकरण्य अव्याप्यवृत्ति नहीं है	५९८
अन्नम्भट्टमतप्रतिक्षेपः	५९९
अव्याप्यवृत्तिचाक्षुषकारणताविचारः	६००
अव्याप्यवृत्तिरूपपक्ष और चित्ररूपपक्ष में तुल्य कार्यकारणभाव	६००
वार्धी चित्ररूपपरिहारः	६०१
नीलकण्ठमतावेदनम्	६०२
अव्याप्यवृत्तिरूपमत में दोषोद्भावन	६०२
व्याप्यवृत्ति नील-पीतादिरूपवादी-आगमन	६०२
अपरमताऽव्यङ्गसबीजयोतनम्	६०२
नीलावयव में पीतचाक्षुषआपत्ति का निरास	६०३
व्याप्यवृत्त्याधारतावच्छेदकाशङ्काः	६०५
व्याप्यवृत्तिरूपमत में पीतकपालावच्छिन्न पीतसाक्षात्कार प्रसंग	६०५
व्याप्यवृत्त्याधारता सावच्छिन्न - व्याप्यवृत्तिनानारूपवादी	६०५
'मुग्धं पुच्छे च पाण्डुरं' इत्यत्र समन्वयार्थविचारः	६०६
रामरुद्रभट्टमतप्रकाशनम्	६०७
स्याद्वादकल्पलतासंवादः	६०८
भेदाभेद अन्योन्यव्याप्त है	६०९
गङ्गेशमतनिरासः	६१०
धर्मधर्मिभेद से सत्त्वासत्त्व का समावेश	६१०
स्याद्वादमञ्जरीसंवादः	६११
कारणाकारणोभयरूप सिद्धि विचार	६११
एकत्र कारणाऽकारणोभयसमावेशः	६१२
एकान्तवाद में कारणाकारणस्वभाव की अनुपपत्ति	६१२
धर्मधर्मिभावविचार	६१३
नागार्जुनमतनिराकरणम्	६१४
संवृत्तित्रैविध्यप्रदर्शनम्	६१५
शशशृङ्गभानमीमांसा	६१५
वासना की अनुपपत्ति	६१५
आवश्यकनिर्युक्तिवचनविचारः	६१६
असत्ख्यातिनिराकरण	६१६
विशेषावश्यकभाष्यसंवादः	६१७
शशशृङ्गस्थले सप्तभङ्गी	६१७
सौगतसिद्धान्तसमीक्षा	६१८
धर्मधर्मिभावविचार में बौद्धमतखण्डन	६१८
धर्मधर्मिभावमीमांसान्तर्गत नैयायिकदर्शन निराकरण	६१८

विषय	पृष्ठ
समवायनिरासे तत्त्वार्थसूत्रसंवादः	६१९
अत्यन्तभिन्न पदार्थों में अनुगत एक सामान्य नहीं है	६१९
अत्यन्तभिन्ने समानपरिणामाभावाऽऽवेदनम्	६२०
इष्टसाधनताज्ञान-प्रवृत्त्योः कार्यकारणभावः	६२१
प्रतिनियतप्रवृत्तिनियमन के उच्छेद का परिहार-नव्यमत से	६२१
अतद्व्यावृत्ति सामान्य नहीं है	६२१
वस्तुनः सामान्यविशेषोभयात्मकता	६२२
असमानस्वभावव्यावृत्ति समानपरिणामात्मक ही है	६२२
अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकासंवादः	६२३
स्थास, कोश आदि में घटव्यवहारापत्ति का निरास	६२३
स्याद्वादमञ्जरीसंवादः	६२४
दर्शन और ज्ञान में जीवस्वभाव से विषयप्राधान्यनियमन	६२४
ज्ञान-दर्शनयोः विशेष-सामान्यग्राहकत्वविचारः	६२५
उपसर्जनत्व के सम्यग् निर्वचन की अनुपपत्ति आशंका	६२५
नव्यमते दर्शनलक्षणप्रदर्शनम्	६२६
उन्मिलितस्वग्राहकत्वविषयत्व मुख्यत्व नहीं हो सकता	६२६
केवलसंवेदने नयव्यापाराऽसम्भवः	६२७
वादिदेवसूरिवचनतात्पर्याविष्करणम्	६२८
उपसर्जनत्व का सम्यग् निर्वचन	६२८
आवश्यकदीपिकासंवादः	६२९
अर्थ एकान्ततः शब्दाऽवाच्य है- बौद्ध	६२९
असत्पदार्थबोधविमर्शः	६३०
बौद्धमत में शब्द से प्रतिनियत प्रवृत्ति की अनुपपत्ति	६३०
सुगतसम्मतविकल्पितार्थविलयः	६३१
अर्थ में एकीकरण नामुमकिन	६३१
शब्द और अर्थ के बीच वास्तविक सम्बन्ध मुमकिन	६३१
बृहत्कल्पभाष्यसंवादः	६३२
त्रिपुरार्णवसंवादः	६३३
सङ्केत शब्दार्थसम्बन्ध नहीं हो सकता	६३३
शक्ति-सङ्केतभेदोपदर्शने भाषारहस्यवृत्तिसंवादः	६३४
अनेकान्त में सांख्यसम्मति - १२ वीं कारिका	६३४
साङ्ख्यकारिकासंवादः	६३५
१२ वीं कारिका का सामान्य अर्थ	६३५
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकातिदेशः	६३६
भूतचतुष्क से अन्य आत्मा नहीं है	६३६
मीमांसाश्लोकवार्तिकसंवादः	६३७
समवाय से ज्ञान का कारण शरीर - नव्यनास्तिक	६३७
शरीरकारणतावादसंवादः	६३८
ज्ञानाद्यचाक्षुषसङ्गतिः	६३९
ज्ञानादि चक्षुआदि के अग्राह्य हैं - नव्यनास्तिक	६३९
अवयव्यनङ्गीकारेऽभिनवनास्तिकमतं	६४०
अनुमितित्व मानसत्वव्याप्य है - नूतन चार्वाक	६४०

विषय	पृष्ठ
नव्यमते शरीरस्याऽऽत्मत्वं प्रत्यासत्तिलाघवम्	६४०
शरीरात्मवादी को प्रत्यासत्तिलाघव	६४१
बुद्धिचाक्षुषकारणकलापावेदनम्	६४१
महत्त्व और उद्भूत रूप में स्वतन्त्रकारणता	६४२
अयोग्यवृत्तिधर्मायोग्यसन्निकर्षाद्यभावकूट प्रत्यक्षमात्र का कारण	६४२
प्रत्यक्षसामान्यसामग्रीविचारः	६४३
'मम शरीरमि'तिप्रतीतिपरीक्षणम्	६४४
पार्थिवदेहे क्लेदनादेरौपाधिकता	६४५
दिशा एवं काल में कोई प्रमाण नहीं है	६४६
दिनकरीयवृत्तिखण्डनम्	६४६
आकाश अतिरिक्त द्रव्य नहीं है - नूतन नास्तिक	६४६
मुक्तावलीकृन्मतनिराकरणम्	६४७
मन असमवेत भूत है - नवीन नास्तिक	६४७
प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसंवादः	६४८
स्वभाव अनुपलब्धि से आत्मा की असिद्धि नामुमकिन - उत्तरपक्ष	६४८
स्याद्वादरत्नाकरसंवादः	६४९
आरोपयोग्य में ही आरोप मुमकिन	६४९
लघुस्याद्वादरहस्यसंवादः	६५०
अनुलब्धिसमर्थकनिराकरणम्	६५१
चार्वाक मत में भूतचतुष्क की अनुपपत्ति	६५१
भूतचतुष्टयमात्रतत्त्वव्यपोहः	६५२
एकशक्तिमत्त्वेन कारणता में दोषद्वय-स्याद्वादी	६५२
एकशक्तिमत्त्वेन हेतुताप्रकाशनम्	६५३
भूतचैतन्यमतनिरासः	६५४
आत्म-कर्म-परभव-मोक्षसिद्धिः	६५५
न्यायभाष्यसंवादः	६५६
नव्यनास्तिकमतखण्डन	६५६
नास्तिकनये मनोऽङ्गीकारासम्भवः	६५७
मानस प्रत्यक्ष नव्यनास्तिकमत में नामुमकिन	६५७
अनुमितित्वस्य परामर्शकार्यतावच्छेदता	६५८
परामर्शकार्यतावच्छेदक अनुमितित्व ही है - स्याद्वादी	६५८
अनुमितिकारणताविचारविमर्शः	६५९
अनुमितिकारणतायां व्यभिचारप्रदर्शनम्	६६०
अप्रामाण्यस्याननुगमः	६६१
अप्रामाण्यग्रहाभावानामनुमितिहेतुतानङ्गीकारः	६६२
अप्रामाण्यज्ञानाभाव की स्वतन्त्र कारणता नामुमकिन	६६२
रत्नकोशकारमतानभ्युपगमः	६६३
मुक्तावलीगमरुद्रीयवृत्तिखण्डनम्	६६४
'अनुमिनोमि' का विषय विषयताविशेष ही है	६६५
अनुमानस्य प्रमाणान्तरत्वविचारः	६६५
एतदुत्तरानुमितित्व ही परामर्शकार्यतावच्छेदक	६६५
मानसानुमितिमीमांसा	६६६
अनुमिति मानसप्रत्यक्षविशेष है - नव्य नास्तिक	६६६
लौकिकविषयताद्वैविध्यम्	६६७
अनुमिति को मानस प्रत्यक्ष मानने में दोषद्वय - नव्यनास्तिक	६६७
भिन्नविषयकानुमितेः चक्षुर्मनोयोगविरमोत्पत्त्यम्	६६८
मानसान्यसामग्रीप्रतिबध्यताविचारः	६६९
अपेक्षितशुद्धपाठप्रदर्शनम्	६७०
अनुमितेरपरोक्षतोपपादनम्	६७१
विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञाननिरूपणम्	६७२
अनुमिति परोक्ष ही है - समाधान	६७२
अनलादेर्भोगविषयत्वोपपादनम्	६७३
अनुमिति का मानसप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव नामुमकिन - नैयायिक	६७३
मानसानुमितिनिराकरणम्	६७४
उच्छृङ्खलोपस्थितघटादिभानापादनम्	६७५
उत्तेजकत्वनिरुक्तिः	६७६
नैयायिकसिद्धान्तसमीक्षा	६७७
मानस प्रत्यक्ष में अनुमिति के अन्तर्भाव का समर्थन	६७७
कार्यमात्रवृत्तिजातेः कार्यतावच्छेदकत्वनियमानङ्गीकारः	६७८
विजातीयसुखादेर्नोत्तेजकत्वम्	६७९
सुख-दुःख में अनुगत जातिविशेष का स्वीकार असङ्गत	६७९
परामर्शगादाधरीसंवादः	६८०
मानसत्वव्याप्यानुमितित्वजात्यसिद्धिः	६८१
'साक्षात्करोमि' प्रतीति का आपादन एवं निरास	६८१
अनुमितिविषयताद्वयाङ्गीकारः	६८२
अन्वारसबीजाऽऽवेदनम्	६८३
तत्त्वचिन्तामणिकृद्वचनमण्डनम्	६८४
दिशोऽनतिरेके स्याद्वादरत्नाकर-तत्त्वार्थसिद्धसेनीय-वृत्त्यादिसंवादः	६८५
अवगाहना स्वरूप विचार	६८५
कान्ट-हेगलादिमतनिरासः	६८६
दिशा और काल स्वतन्त्र द्रव्य हैं - नैयायिक	६८६
अतिरिक्तदिक्कालविचारः	६८७
आकाशातिरिक्त दिशाद्रव्य अनुपपन्न - स्याद्वादी	६८७
मुक्तावली - दिनकरीयवृत्त्योर्निराकरणम्	६८८
दैशिकसम्बन्धवादी नव्यमत का निराकरण	६८८
दीधितिकृन्मतापाकरणम्	६८९
तत्त्वार्थसिद्धसेनीयवृत्तिसंवादः	६९०
शब्दद्रव्यत्वसिद्धि	६९०
शब्द अभिघातजनक है - स्याद्वादी	६९१

विषय	पृष्ठ
हारिभद्रावश्यकवृत्ति-भाषारहस्यसंवादेन विचारविमर्शः	६९२
शब्द को आकाशगुण मानने में गौरव	६९२
नृसिंहशास्त्रिवचननिरासः	६९३
तत्त्वचिन्तामणिकृन्मतनिरासः	६९४
उद्भूतरूप मूर्तप्रत्यक्ष का नहीं, द्रव्यचाक्षुष का कारण है - स्याद्वादी	६९४
मञ्जूषाप्रशस्तपादभाष्यकृन्मतव्यपोहः	६९५
इन्द्रियभिन्नग्राह्यग्राह्यत्व इन्द्रियान्तरत्वव्यवस्थापक - स्याद्वादी	६९५
गुणान्तर्भावेनेन्द्रियान्तरव्यवस्थानस्वीकारः	६९६
तत्त्वार्थवृत्तिसंवादेन मञ्जूषाकृन्मतनिरासः	६९७
प्राचीन जैनाचार्यों का शब्दद्रव्यत्वसाधक अनुमान	६९७
मीमांसाश्लोकवार्तिककृन्मतापाकरणम्	६९८
क्रिया का आश्रय होने से शब्द द्रव्य है - स्याद्वादी	६९८
शब्दस्य द्रव्यत्वे गौरवानवकाशः	६९९
शब्दद्रव्यपक्ष में गौरव की आशङ्का और परिहार	६९९
शब्द के चाक्षुष और स्पार्शन का परिहार	६९९
मुक्तावलीकारविश्वनाथभट्टवचनप्रतिक्षेपः	७००
शब्दस्य वीणादिगुणत्वनिरासः	७०१
शब्द पवनगुण है - नव्यमत	७०१
गगनस्याऽवयवभिन्नत्वं नव्यमते	७०२
शब्द पवनगुण नहीं है - स्याद्वादी	७०२
न्यायरत्नाकर-मञ्जूषाकृन्मतापोहः	७०३
मतभेदेन शब्दगुणत्वापाकरणम्	७०४
शब्दद्रव्यत्वबाधक हेतुपञ्चकनिराकरण	७०४
अनेकान्तवादेऽनियतारम्भवादाङ्गीकारः	७०५
शब्दाश्रय स्पर्शवान है	७०५
रत्नप्रभसूरिप्रभृतिमतप्रकाशनम्	७०६
न्यायभाष्यकृद्वचनव्यपोहः	७०७
बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वप्रदर्शन	७०७
शब्दस्य स्पर्शशून्याश्रयकत्वासिद्धिः	७०८
प्राचीन नैयायिक का द्वितीय हेतु असिद्ध एवं व्यभिचारी	७०८
अष्टसहस्रीसंवादः	७०९
नैयायिक के तृतीय चतुर्थ हेतु भी व्यभिचारी	७०९
स्याद्वादकल्पलतासंवादः	७१०
पञ्चम हेतु स्वरूपासिद्ध	७११
शब्द सर्वथा नित्य है - मीमांसक	७११
खण्डश उत्पादारोपविचारः	७११
एकत्र तारत्व-मन्दत्वादिसमावेशसमर्थनम्	७१२
क्वचित्कदाचित्कस्याश्रितजातेरभिव्यक्तिः	७१२
नैयायिकमत में उत्पाद की आशंका	७१३
पदार्थमालाकारमतप्रदर्शनम्	७१४

विषय	पृष्ठ
मीमांसकमतेऽतिलाघवोपदर्शनम्	७१५
शब्दनित्यत्वपक्ष में गौरव का परिहार	७१५
शब्दअनित्यत्वपक्ष में गौरवप्रदर्शन	७१५
मीमांसकमते शब्दत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकता	७१६
क, ख आदि शब्द एक ही है - मीमांसक	७१६
मीमांसकमते शब्दत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकता	७१७
मीमांसकमते गौरवाऽऽशङ्का	७१८
विजातीयवायुसंयोग का कार्यतावच्छेदक श्रावणत्व - मीमांसक	७१८
कोलाहलस्थलीयश्रावणमीमांसा	७१९
विजातीयवायुसंयोग स्वतंत्र कारण है - मीमांसकैकदेशीय	७२०
शाबरभाष्यसंवादः	७२०
श्रावणसमवायआदि गुणत्वादिप्रत्यक्ष में कारण - मीमांसकविशेष	७२०
स्फोटविचारः	७२१
शब्द नष्ट है - नैयायिक	७२१
मीमांसक को सांख्यमतप्रवेशापत्ति	७२२
'वीणायां शब्दः' इतिप्रतीतिविचारः	७२२
शब्दस्थलेऽभिनवमीमांसा	७२३
शब्द चारक्षणस्थायी - रघुनाथशिरोमणि	७२३
नानाविधशब्दनाशकताविचारः	७२४
परिष्कृतक्षणिकत्वनिरुक्तिः	७२५
शिरोमणिनयनिरासेऽभिनवमीमांसा	७२६
शब्द की भाँति ज्ञानादि में चतुःक्षणस्थायित्व-प्रसङ्ग - साम्प्रदायिक	७२६
जन्यात्मविशेषगुणनाशविचारः	७२७
शब्द एवं ज्ञानादि की क्षणचतुष्कस्थायिता में प्रतिबन्दि	७२७
ज्ञानादेः स्वोत्तरोत्पन्नज्ञानादिनाश्यता	७२८
चरमशब्दनाशकताविचारः	७२९
अस्वरसबीजोद्भावनम्	७३०
योग्यविभुविशेषगुण में स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यता की मीमांसा	७३०
रामरुद्रभट्टमतप्रकाशनम्	७३१
मुक्तावलीमञ्जूषा-दिनकरीयवृत्तिनिरासः	७३२
योग्यता एवं विशेषत्व का निर्वचन	७३२
अपेक्षाबुद्धिनाशविचारः	७३३
द्वित्वनिर्विकल्पक अपेक्षाबुद्धिनाशक - नैयायिक	७३३
चरमज्ञानादि स्वनाशक है - नैयायिक	७३३
स्वस्य स्वनाशकत्वमीमांसा	७३४
दिनकरभट्टमतनिरासः	७३५
नृसिंह-पट्टाभिराम-गदाधरमतचिन्तनम्	७३६
शब्द नित्यानित्य है - स्याद्वादी	७३६
पाणिनिसूत्र-न्यायभाष्य-स्याद्वादरत्नाकर-बृहद्वृत्ति-लघुन्यासादिसंवादः	७३७

विषय	पृष्ठ
कोलाहलप्रत्यक्षविचारः	७३८
मनःप्रकरणसंवादावेदनम्	७३९
सर्वथा अतीन्द्रिय मन असिद्ध - स्याद्वादी	७३९
पृथिव्याः स्वेतरभिन्नत्वविचारः	७४०
तत्त्वार्थसूत्र-स्याद्वादरत्नाकरसंवादः	७४१
आधुनिकविज्ञानसिद्धान्तखण्डनम्	७४२
उद्देश्य-विधेयभावमीमांसा	७४३
विधेयतासमनियतरूप से व्यापकतालाभ अमान्य	७४३
परिष्कृत व्यापकता भी दोषग्रस्त	७४३
विधेयान्वयितावच्छेदकसंसर्गविचारः	७४४
वह्नि में स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न प्रमाणाधिकरण -	७४४
अनलादिद्रव्यत्वादिना व्यापकत्वापादनम्	७४५
विधेयतावच्छेदकभिन्न धर्म से अनवच्छिन्न व्यापकता दोषग्रस्त	७४५
दीधितिसंवादः	७४६
सत्पदप्रयोजनप्रकाशनम्	७४७
विधेयत्वावच्छिन्न समव्यापकता का भान दोषग्रस्त	७४७
दीधित्युक्तिव्याख्यानम्	७४८
नानाविधेयतावच्छेदकस्थले व्यापकत्वमीमांसा	७४९
चरमपद की तावदन्यतम में लक्षणा भी दोषग्रस्त	७४९
न्यायसूत्रसंवादः पद्माभिरामोक्त्यतिदेशश्च	७५०
अस्वरसबीजाऽऽवेदनम्	७५१
अन्यतमत्व में लक्षणा-अन्य विद्वान्	७५१
भेद में ही लक्षणा प्रामाणिक	७५१
मथुरानाथसम्मतिदर्शनम्	७५२
विभागवाक्य न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदज्ञापक है - प्राचीन नैयायिक	७५२
किरणावलीकारोदयनमतनिरासः	७५३
तर्ककौण्डिन्यन्यायनिरूपणे पातञ्जलमहाभाष्यसंवादः	७५४
पदानुपस्थितरूप से शाब्दबोध - नव्य नैयायिक	७५४
नव्यमताऽस्वरसबीजविचारः	७५५
बृहद्द्रव्यसङ्ग्रह-तद्वृत्तिसंवादः	७५६
आत्मस्वरूपविचार	७५६
सिद्धहेमशब्दानुशासनसंवादः	७५७
ज्ञानमय आत्मा श्रुतिसिद्ध	७५७
बृहदारण्यकोपनिषदादिसंवादः	७५८
मुक्तावलीनिरासः	७५९
आत्मधर्म ज्ञान नहीं है - सांख्यमत	७५९
ब्रह्मवैवर्त-देवीभागवत-योगसूत्र-साङ्ख्यसूत्रादिसंवादः	७६०
दशवैकालिकनिर्युक्त्यतिदेशः	७६१
ज्ञानादि पुरुषधर्म है - स्याद्वादी	७६१
अष्टसहस्रीमीमांसा	७६२
आत्मा ज्ञानाऽज्ञानोभयात्मक है - भट्ट	७६२
आत्मा में केवल गुणस्वभावत्व है - अष्टसहस्रीकार	७६२
आत्मनः गुणस्वभावत्वसाधनम्	७६२
आत्मनि दोषस्यौपाधिकता	७६४
विद्यानन्द का वक्तव्य प्रतिबन्दिग्रस्त - भट्ट	७६४
दिगम्बर-मीमांसकयोःप्रतिबन्दिः	७६५
'सुखमहमस्वाप्सम्' इतिप्रतीतिविचारः	७६६
ज्ञान और अज्ञान एकत्र अविरोधी - भट्ट	७६६
बोधांश-द्रव्यांशयोरभेदः	७६७
ज्ञानाज्ञानोभयस्वभाववादी भट्ट के मत की समालोचना	७६७
भावस्वरूपाऽज्ञानानङ्गीकारः	७६८
'मामहं न जानामि' प्रतीति की उपपत्ति	७६८
ज्ञानाभाववत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकताविचारः	७६९
तदनवच्छेदक तदभावावच्छेदक नहीं हो सकता	७६९
साङ्ख्यकारिका-माठरवृत्त्यादिसंवादः	७७०
पुरुष सर्वथा निर्लेप है - सांख्यमत	७७०
नैयायिकसंमत कूटस्थत्व आत्मा में नामुमकिन- सांख्य	७७०
कूटस्थत्वनिरुक्तिः	७७१
प्रकृति का ही बन्ध-मोक्षादि - सांख्यमत	७७१
गौडपादभाष्यसंवादः	७७२
साङ्ख्यकारिकासंवादः	७७३
सांख्यमतनिरास	७७३
सांख्यकारिकानिराकरणम्	७७४
आत्मा देहपरिमाणवाली है	७७४
आत्मविभुत्ववादारम्भः	७७५
आत्मा में मूर्तत्व है	७७५
वराहमिहिर-गर्ग-वादिदेवाचार्योक्तिसंवादः	७७६
आत्मा सक्रिय है	७७६
कालस्य परिणामिनिमित्तमात्रत्वम्	७७७
अदृष्ट स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से जन्यसत् का जनक - नैयायिक	७७७
अदृष्टस्य कारणत्वमीमांसा	७७८
काशिकानन्दिसंवादः	७७९
अदृष्ट में कालिकावच्छिन्न कारणता मुनासिब	७७९
कालिकसम्बन्ध से अदृष्टकारणतापक्ष में गौरव शंका	७७९
जन्यतावच्छेदकविचारः	७८०
जन्यसत्त्व में कार्यतावच्छेदकता मुमकिन	७८०
महत्त्वस्य त्रिविधकारणावेदनम्	७८१
महत्त्व में द्रव्यप्रत्यक्षकारणता से आत्मवैभवसिद्धि का प्रयास	७८१
नृसिंहमतनिरूपणम्	७८२

विषय	पृष्ठ
नित्यमहत्त्व विभुत्वव्याप्य नहीं है - स्याद्वादी	७८२
आत्मपरिमाणस्य जन्यत्वकथनम्	७८३
आत्मनः सङ्कोच-विस्तारसमर्थनम्	७८४
आत्मख्यातिसंवादः	७८५
अनलादेरूर्ध्वगमनादिहेतुताविचारः	७८६
स्याद्वादरत्नाकरसंवादः	७८७
दीधिति-स्याद्वादमञ्जरीसंवादः	७८८
सम्मतितर्कवृत्तिसंवादः	७८८
योगशास्त्रसंवादः	७९०
अवयवविचार	७९०
अवयवस्य संस्कारजनकत्वानङ्गीकारः	७९१
प्रतिमायाः पूजाफलप्रयोजकत्वम्	७९२
आत्मसंभव के बिना शरीर में आद्यक्रिया नामुमकिन	७९२
अयस्कान्तदृष्टान्तविचारः	७९३
भवान्तरीय शरीर का जन्म	७९३
स्वाश्रयसंयोग से अदृष्टकारणता नामुमकिन - स्याद्वादी	७९३
स्याद्वादरत्नाकरसंवादः	७९४
आकर्षणत्वस्य जातित्वानङ्गीकारः	७९५
शब्द के प्रति अदृष्टकारणता व्यभिचारग्रस्त - स्याद्वादी	७९५
न्यायकन्दलीकारमतव्यपोहः	७९६
आत्मा का कथंचित् छेद अभिमत	७९६
आत्मनः खण्डनसमर्थनम्	७९७
पद्मनालतन्तु दृष्टान्त से आत्मा की खंडितता-अखंडितता मुमकिन	७९७
न्यायखण्डखाद्य-स्याद्वादकल्पलतासंवादः	७९८
ज्ञान की अव्याप्यवृत्तिता अप्रामाणिक - स्याद्वादी	७९८
आत्मख्यातिसंवादः	७९९
समुद्घातविचारविमर्श	७९९
छान्दोग्योपनिषदादिमतनिरासः	८००
अनेक विभु आत्माओं का स्वीकार नामुमकिन - अद्वैतवादी	८००
मधुसूदन-वाचस्पतिमिश्र-सुरेश्वरप्रभृतिमतावेदनम्	८०२
पञ्चपादिकाविवरणादिसंवादः	८०२
छान्दोग्योपनिषद्-ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यसंवादः	८०३
स्याद्वादमञ्जरीटीकाकार-सम्मतिटीकाकारसंवादः	८०४
अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकासंवाद	८०४
न्यायखण्डखाद्यसंवादः	८०५
'यो यत्र...' यहाँ व्यभिचार की शंका और निराकरण	८०५
न्यायकन्दली-स्याद्वादमञ्जरीसंवादः	८०६
ज्ञानात्मना आत्मा विभु है - स्याद्वादी	८०६
व्यवहारनयेनाऽऽत्मनो देहमानता	८०७
श्वेताश्वतरोपनिषदादिसंवादः	८०८
आत्मा अणुपरिमाण नहीं है	८०८
आत्मप्रदेशाभिधानपूर्वसंवादः	८०९
तिष्यगुप्ताभिधाननिह्नवमतनिरासः	८१०
अन्त्यप्रदेशगताऽतिशयमीमांसा	८११
द्वितीयनिह्नवमते चक्रकादिदूषणम्	८१२
जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणवचनसंवादः	८१३
मुक्तावलीकारमतनिरासः	८१४
विशेषावश्यकभाष्य-वृत्तिसंवादः	८१५
मित्रश्रीश्रावकेन तिष्यगुप्तप्रतिबोधः	८१६
असंख्यप्रदेशात्मक आत्मा के स्वीकार में दोषोद्भावन और निराकरण	८१६
आत्मख्यातिसंवादः	८१७
ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यसंवादः	८१८
अस्मदद्वैतमत का निरूपण एवं निराकरण	८१८
शरीरनिष्ठप्रत्यासत्त्या कारणत्वाऽऽशङ्का	८१९
आत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या कारणत्वोपपादनम्	८२०
त्वङ्मनःप्रत्यासत्त्या हेतुतानिराकरणम्	८२१
ब्रह्माद्वैतमत में प्रयत्नाभाव की आपत्ति	८२२
वैशेषिकसूत्रसंवादः	८२२
अमुक शरीरावच्छेदेन सुखकामना असंभव	८२२
न्यायकन्दलीसंवादः	८२३
अदृष्ट फल में कार्यकारणभाव से आत्मा अनेक है	८२३
सन्तान में ऐक्य कल्पना अप्रामाणिक	८२३
ब्रह्मबिन्दूपनिषदादिमतापाकरणम्	८२४
मुक्तावलीकृन्मतनिराकरणम्	८२५
गयाश्राद्ध से पितृतृप्ति नामुमकिन	८२५
अनेकान्तव्यवस्थासंवादः	८२६
आत्मा निर्धर्मक नहीं है	८२६
ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वखण्डनम्	८२७
जैनतर्क-निशीथपीठिकाचूर्णि-तैत्तिरीयकारण्यकसंवादः	८२८
परलोक मुक्ति की सिद्धि	८२८
मुक्तिस्वरूपमीमांसा	८२९
मध्योपदेशसंवादः	८३०
ज्ञानकर्मसमुच्चयवादे गीता-विष्णुपुराणादिसंवादः	८३१
उदयनानुसारिमतद्योतनम्	८३२
सिद्धसेनदिवाकरवचनतात्पर्याविष्करणम्	८३२
ज्ञान-कर्मणोर्मुक्तौ तुल्यवदेव हेतुता	८३३
कारणतास्वरूपविचार	८३४
अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण-जैनतर्कसंवादः	८३५
नैयायिकसंमत कारणता एवं अन्यथासिद्धि का निरूपण	८३५
मुक्तावलीप्रभा-मञ्जूषाकारादिमतप्रदर्शनम्	८३६
आद्य अन्यथासिद्ध का परिष्कृत स्वरूप	८३६
कपालरूपादौ चक्षुःसंयोगाऽन्यथासिद्धत्ववारणम्	८३७

विषय	पृष्ठ
अन्यथासिद्धि के विशेषण की व्यर्थता की शंका एवं उसका निरसन	८३७
पृथक्पदार्थप्रकाशनम्	८३८
फक्किकातात्पर्यद्योतनम्	८३९
पृथक्पदार्थनिर्वचन - नैयायिक	८३९
सम्बन्धभेदे कारणत्वभेदः	८४०
नीलकण्ठादिमतप्रकाशनम्	८४१
प्रथम अन्यथासिद्ध के लक्षण में अन्य मत	८४१
मुक्तावली-प्रभा-दिनकरीयादिकृन्मतदर्शनम्	८४२
रूपत्वेन दण्डरूप में घटकारणता की शंका एवं परिहार	८४२
अतिप्रसक्तधर्मेणाऽपि कारणत्वबोधविचारः	८४३
परिष्कृतप्रथमान्यथासिद्धलक्षणम्	८४४
रामरुद्रमतप्रकाशनम्	८४५
द्वितीय अन्यथासिद्ध का प्रतिपादन	८४५
नृसिंहमताऽऽवेदनम्	८४६
गदाधरमतप्रकाशनम्	८४७
द्वितीय अन्यथासिद्ध के लक्षण में अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति	८४७
रामरुद्र-नृसिंहमतद्योतनम्	८४८
द्वितीय अन्यथासिद्ध के लक्षण में परिष्कार मीमांसा	८४८
उपपादकत्वानिरुक्तिः	८४९
उपपादकत्व का निरूपण नामुमकिन	८४९
अपूर्वं प्रति यागस्यान्यथासिद्धत्वापाकरणम्	८५०
द्वितीय अन्यथासिद्ध का तृतीय लक्षण भी सदोष	८५०
महादेव-नृसिंहमतनिरासः	८५१
दीधितिकार-नृसिंहप्रकाशिकाकृन्मतविद्योतनम्	८५२
तृतीय अन्यथासिद्ध का प्रतिपादन	८५२
पञ्चमीविभक्त्यर्थविद्योतनम्	८५३
पाकजगन्ध के रूपप्रागभाव में अन्यथासिद्धत्व की शंका	८५३
गन्धं प्रति रूपप्रागभावस्यान्यथासिद्धत्वविचारः	८५४
तृतीय अन्यथासिद्ध के लक्षण का परिष्कार	८५४
रामरुद्रभट्ट-नृसिंहशास्त्रिमताऽऽवेदनम्	८५५
तृतीयान्यथासिद्धेः परिष्कृतलक्षणम्	८५६
[illegible] में भी मुमकिन	८५६
गदाधरोक्तिप्रदर्शनम्	८५७
[illegible] की निरवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व है	८५७
[illegible] में भी [illegible] अन्यथासिद्ध	८५७
कारणतावादसंवादः	८५८
[illegible] अन्यथासिद्ध	८५८
[illegible] अन्यथासिद्धिनिरासः	८५९
[illegible] में अन्यथासिद्धत्व की शंका	८५९
गदाधरमतोपदर्शनम्	८६०
[illegible] के लक्षण में परिष्कार	८६०
कुलालपिता पञ्चम अन्यथासिद्ध	८६०
तत्त्वचिंतामणिसंवादः	८६१
गदाधर-विश्वनाथ-रघुनाथ-महादेवादिमतद्योतनम्	८६१
दण्डरूपत्वेन घटकारणता अस्वीकार्य-दीधितिकार	८६२
गदाधरोक्तिप्रदर्शनम्	८६२
नैयायिकमतानुसार परिष्कृत कारणता का स्वरूप	८६३
अनवच्छेदकत्व का निर्वचन	८६३
व्यापकताद्वयगर्भैककारणतावादः	८६४
परिष्कृत कारणत्वलक्षण - नैयायिक	८६४
जगदीशतर्कालङ्कारमतप्रकाशनम्	८६५
उदयनाचार्यमतावेदनम्	८६६
अनलाभावाभाव स्वरूपसम्बन्ध से रहता है - नैयायिक	८६६
अभावाभावस्य प्रतियोगिरूपताविचारः	८६७
नील के प्रति नीलाभाव की कारणता का समर्थन	८६७
अनुसन्धानप्रारम्भः	८६८
नैयायिकसंमतकारणता असंगत-स्याद्वादी	८६८
दिनकरीयवृत्तिखण्डनम्	८६९
ईश्वरज्ञानादि में घटादि के प्रति अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति	८६९
द्वितीयान्यथासिद्धिनिरासः	८७०
श्रावणप्रत्यक्ष के प्रति द्वितीयान्यथासिद्धत्वापादन	८७०
मञ्जूषाकारमतनिरासः	८७१
दिनकरीयवृत्तिनिरासः	८७२
कारणत्वलक्षण में भेदकूट या अखण्डाभाव का निवेश नामुमकिन	८७२
जगदीशमतनिरासः	८७३
पक्षधरमिश्रमतनिकन्दन	८७३
न्यूनतादोष नामुमकिन	८७४
अध्यात्मोपनिषदादिसंवादः	८७५
पाशुपतब्रह्मोपनिषदादि संवादः	८७६
नवम कारिका की व्याख्या	८७६
प्रभानन्दसूरि-विशालराजसूरिवचनसंवादः	८७७
पदार्थ एवं परिणाम में त्रितयात्मकता	८७७
विष्कम्भक्रम-प्रवाहक्रमस्वरूपविद्योतनम्	८७८
वास्तुसीमान्त-वृत्तिसीमान्तस्वरूपप्रकाशनम्	८८०
अष्टसहस्री-प्रवचनसारसंवादः	८८०
उत्पाद व्यय ध्रौव्य में कथंचिद्भेद	८८०
स्याद्वादकल्पलता-सम्मतितर्कवृत्तिसंवादः	८८१
विशेष्य अंश में विशेष का प्रदर्शन	८८१
परमाणुकारणतावादिद्वितयमते भेदोपदर्शनम्	८८२
[illegible] से तत्क्षणसिद्धि	८८२
स्याद्वादकल्पलताव्याख्यालेशः	८८३
नयलताकृत्प्रशस्तिः	८८४

श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ।
श्रीमद्विजय-प्रेम-भुवनभानु-जयघोषसूरीश्वरेभ्यो नमः ।
ऐँ नमः ।

महामहोपाध्याय-न्यायविशारद-न्यायाचार्य-श्रीमद् यशोविजयगणिवरविरचितम्
मुनियशोविजयकृत-जयलता-रमणीयाभिधानव्याख्याभ्यां भूषितम्

स्याद्वादरहस्यम्

(मध्यम)
(तृतीयः खण्डः)

अथाऽनेकान्तवादे यौग- वैशेषिकौ अपि सन्मानयन्ति —> चित्रमिति

चित्रमेकमनेकञ्च रूपं प्रामाणिकं वदन् ।
योगो वैशेषिको वापि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥९॥

यद्यपि चित्ररूपाभ्युपगन्तारौ साम्प्रदायिकौ नैयायिक-वैशेषिकौ चित्रे घटे न

❀ जयलता ❀

ज्ञानादृतिक्षयप्राप्तकेवलाऽऽलोकशालिने ।
नमोऽस्तु सततं तस्मै कारुण्यकेलिशालिने ॥९॥

नवमकारिकावतारार्थमुपक्रमते —> अथेति । सन्मानयन्ति, मूलकृतः श्रीहेमचन्द्रसूरय इति शेषः । वीतरागस्तोत्रविवरणकृतस्तु प्रकृते - एकं चित्रं रूपं तदेव चानेकाकाररूपं प्रमाणेनोपपन्नं वदन्तौ अक्षपाद - कणादौ न स्याद्वादं निराकुरुतः । तेषां हि मते मेचकज्ञानमेकमनेकाकारमुररीक्रियते यतः तेषामेवं सिद्धान्तसिद्धिः एकस्यैव चित्रपटा- देश्चलाचल-रक्तारक्तावृतानावृताद्यनेकविरुद्धधर्मोपलम्भेऽपि दुर्लभो विरोधगन्धः । तस्मादस्मद्वद् यौगिक-वैशेषिकावप्यनेकान्तमता- नुमतिं वितन्वन्तौ (वी.स्तो.वि.पृ.८३) इत्येवं विवृतवन्तः सङ्क्षेपतः ।

प्रकृतप्रकरणकारः नवमकारिकां व्याख्यानयति यद्यपीति । अस्य चाऽग्रे (दृश्यतां ६०७ तमे पृष्ठे) तथापीत्यनेनान्वयः । चित्ररूपाभ्युपगन्तारौ = नीलपीताद्यतिरिक्तचित्रवर्णस्वीकर्तारौ, साम्प्रदायिकौ = स्वगुरुपरम्परायातसिद्धान्तानुयायिनौ

❀ रमणीया ❀

❀ ९वीं कारिका की व्याख्या ❀

अथेति । आठवीं कारिका की व्याख्या के अनुसार अनेकान्तवाद का स्वीकार जैसे प्रकारान्तर से योगाचार बौद्ध करता है, ठीक वैसे ही अन्य पद्धति से योग = नैयायिक और वैशेषिक भी सापेक्षवाद को मान्य करते हैं । अतएव मूलकार श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा वीतरागस्तोत्र के प्रस्तुत अष्टम प्रकाश की ९वीं कारिका में नैयायिक और वैशेषिक का अनेकान्तवाद में सन्मान करते हैं कि —> 'एक चित्र रूप अनेकात्मक एवं प्रामाणिक है' ऐसा बोलने वाला नैयायिक या वैशेषिक भी अनेकान्तवाद का प्रतिक्षेप कर सकता नहीं है । इस कारिका का यह सामान्य अर्थ है । अब प्रकरणकार श्रीमद् महोपाध्यायजी महाराज इस कारिका की व्याख्या करते हैं, यह बताई जा रही है । सर्वप्रथम आपाततः मूल कारिका के शब्दार्थ की अनुपपत्ति को 'यद्यपि' शब्द के द्वारा विस्तार से बताते हैं । बाद में आगे चल कर 'तथापि' शब्द से प्रस्तुत कारिका के तात्पर्यार्थ को प्रकरणकारश्री द्योतित करेंगे (देखिये पृष्ठ ६०७) । यह वाचकवर्ग को ध्यान में रहे । सुनिये, 'यद्यपि' शब्द से प्रस्तुत वाच्यार्थ की असंगति की रामकहानी ! यद्यपि चित्र रूप का स्वीकार करने वाले साम्प्रदायिक = सम्प्रदायानुगामी नैयायिक

रूपान्तरमभ्युपगच्छतः, नीलादिप्रतीतेरवयवनीलादिनैवोपपत्तेः । 'नीलादिसामग्रीसत्त्वात्तत्र नीलादिकमपि कुतो नोत्पद्यते' इति चेत् ? (न), स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतररूपादेः प्रतिबन्धकत्वात् ।

❋ जयलता ❋

नैयायिक - वैशेषिकौ चित्रे = अतिरिक्तचित्ररूपसमवायिनि घटे **न** समवायेन **रूपान्तरं** नीलपीतादिकं **अभ्युपगच्छतः** । अतः 'चित्रमेकमनेकञ्च रूपं प्रामाणिकं वदन्' इत्याद्यभिधानमपार्थकमेव, अनभ्युपगताभिधानत्वात् । समवायेन चित्ररूपविशिष्टे नीलपीतादिकं रूपान्तरं यदि नास्ति तदा 'घटोऽयमत्र नीलस्तत्र च पीत' इत्यादिप्रतीतिः कथमुपपद्येत ? इत्याशङ्कायामाह —> **नीलादिप्रतीतेः** = अवयविविशेष्यकनीलादिप्रकारकधियः स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन **अवयवनीलादिना एव उपपत्तेः** । यथा जपाकुसुमसंयुक्ते स्फटिके रक्तिमाप्रतीतेः स्वसमवायिसंयोगलक्षणपरम्परासंसर्गेण जपाकुसुमरक्तरूपेणैवोपपत्तेर्न शुक्ले स्फटिके समवायेन रक्तरूपं स्वीक्रियते तथैव नील-पीतादिकपालसमवेते चित्रघटे नीलादिप्रतीतेः स्वसमवायिसमवेतत्वलक्षण-परम्परासम्बन्धेन कपालनीलादिवर्णैनैव सङ्गतेर्न चित्रघटे समवायेन नीलादिकं रूपान्तरमभ्युपगम्यत इति भावः ।

ननु समवायेन रक्त-नीलादिकं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन रक्त-नीलादेः कारणत्वाद्रक्तावयवशून्ये स्फटिके रक्तरूपानुत्पादो युक्तः तत्सामग्रीविरहात् परन्तु नील-पीतादिकपालजन्ये चित्रे घटे समवायेन नीलादेरनुत्पादो न युक्तः, तत्र स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलादेः सत्त्वादित्याशयेन कश्चिच्छङ्कते —> **नीलादिसामग्रीसत्त्वात्** = समवायेन नीलादेः सामग्र्याः स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलादिस्वरूपायाः सत्त्वात् तत्र = चित्ररूपशालिनि घटे समवायेन **नीलादिकमपि कुतो नोत्पद्यते** ? चित्ररूपमिव नीलादिकमपि घटे समवायेनाऽभ्युपगन्तुमुचितं, स्वसामग्रीबलायातस्य सुरगुरुणाऽपि निरोद्धुमशक्यत्वादिति शङ्काशयः । तत्र सामग्रीवैकल्यमुपदर्श्य नीलादेरनुत्पत्तिं दृढयति —> **स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतररूपादेः** समवायेन नीलादिकं प्रति **प्रतिबन्धकत्वादिति** । स्वपदार्थस्य नीलेतररूपादेः समवायिनि पीतादिकपाले समवेतस्य चित्रघटस्य स्वसमवायिसमवेतत्वसंसर्गेण नीलेतररूपविशिष्टत्वान्न तत्र समवायेन नीलादिकं जायते प्रतिबन्धकाभावस्याऽपि कारणत्वात्

और वैशेषिक चित्रवर्णविशिष्ट घट में नील, पीत आदि अन्य वर्ण का स्वीकार करते नहीं हैं । अतः वे एक-अनेक चित्ररूप को मान्य करते नहीं हैं । चित्र घट में 'यह इस भाग में नील है, उस भाग में पीत है' इत्यादि जो प्रतीति होती है, उसकी उपपत्ति तो घटावयव = कपाल के नील, पीत आदि रूप के द्वारा स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्ध से भी हो सकती है । स्व = कपालगत नील, पीत आदि रूप, उसका आश्रय = कपाल, उसमें समवेत है घट । इस तरह कपालीय नील, पीत आदि रूप स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से घट में रह कर तादृशप्रतीति और व्यवहार को उत्पन्न कर सकते हैं । अतः तदर्थ अवयवी घट में नील, पीत आदि वर्ण का स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

❋ चित्ररूपवादरहस्य ❋

नीला. इति । यहाँ यह शंका हो कि —> 'घट में चित्र रूप की उत्पत्ति के लिए जैसे घटावयव = कपाल में रहने वाले अनेक नील, पीत आदि रूप सामग्री है वह तो घट में नील, पीत आदि रूप की उत्पत्ति के लिए भी समान ही है । अतः घट में चित्रवर्ण की भाँति नील, पीत आदि रूप भी उत्पन्न होने चाहिए, न कि केवल चित्र रूप' <— तो वह निराधार है, क्योंकि नील रूप की उत्पत्ति के प्रति नीलेतर रूप प्रतिबन्धक है । प्रतिबन्धकतावच्छेदकसंबंध है स्वसमवायि-समवेतत्व । स्वपद से अभिमत कपालीय नीलेतर (पीत, रक्त आदि) रूप के समवायी कपाल में घट समवेत होने से कपालीय नीलेतर रूप स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्ध से घट = अवयवी में रहता है । प्रतिबन्धकतावच्छेदक संबन्ध से घट प्रतिबन्धकविशिष्ट होने की वजह प्रतिबध्य नील रूप की समवाय सम्बन्ध से उसमें उत्पत्ति हो सकती नहीं है । घट में नील रूप समवाय संबन्ध से तभी उत्पन्न हो सकता है, जब घट के अवयव में नीलेतर रूप न हो, क्योंकि घटावयव में नीलेतर रूप होने पर वह स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्ध से घट में रह जाने से घट में समवाय संबन्ध से नील रूप की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक बनता है । इस तरह चित्र घट में समवाय सम्बन्ध से पीत रूप की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि चित्र घट के अवयव कपाल में पीतेतर (नील, रक्त आदि) रूप समवेत होने की वजह वह स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्ध से घट = अवयवी में रहता है । पीत रूप का पीतेतर रूप प्रतिबन्धक होने से उस घट में समवाय संबन्ध से पीत रूप की भी उत्पत्ति हो नहीं सकती । अतः वहाँ केवल चित्र रूप की ही उत्पत्ति होगी, न कि नील, पीत आदि रूप की भी । प्रतिबन्धकाभाव भी सामग्री में

स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलाभावादेस्तथात्वे तु यत्रैकावयवे नीलमपरत्र च नील-जनकाग्निसंयोगस्तत्राऽवयविनि व्याप्यवृत्ति नीलं न स्यादिति नील-नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नाभावस्य तथात्वं वाच्यम् ।

❀ जयलता ❀

तदभावे च सामग्रीविकल्यात् । एवं चित्रघटे समवायेन पीतरूपमपि नोपजायते कपालीयपीतेतररूपादेः स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन चित्रघटे सत्त्वेन सामग्रीविकल्यात् । आपादकविरहे आपादनस्याऽन्याय्यत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति चित्ररूपवाद्यभिप्रायः ।

ननु समवायेन नीलादिकं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वं यदुत स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलाभावादेः प्रतिबन्धकत्वं ? इत्यत्र विनिगमनाविरहात्रैतत्प्रतिबध्य - प्रतिबन्धकभावः कल्पयितुमर्हतीत्याशङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते **स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेनेति** । स्वपदेन नीलाभावादेः परिग्रहः, तदाश्रये कपालादौ समवेतो यो घटादिः तत्र समवायेन नीला-दिकं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन **नीलाभावादेः तथात्वे** = प्रतिबन्धकत्वे स्वीक्रियमाणे **तु** नीलादेरनुत्पत्त्यनुपपद्यमानायामपि **यत्र** घटादौ **एकावयवे** कपालादौ समवायेन **नीलं** रूपं वर्तते **अपरत्र च** = विवक्षितकपालेतरकपालादौ घटावयवे च **नीलजनकाग्निसंयोगः** समवायेन वर्तते **तत्र अवयविनि** घटादौ **व्याप्यवृत्ति नीलं न स्यात्** = समवायेन नोत्पद्येत, नीलाभावाश्रये नीलजनकाग्निसंयोगवति कपालादौ घटादेरवयविनः समवेतत्वेन नीलाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन वर्तमानत्वात् । न च तत्रावयविनि घटादौ नीलादिकं नैवोत्पद्यत इति वक्तव्यम्, नील-नीलजनकाग्निसंयोगाभ्यां तत्र व्याप्यवृत्तिनीलरूपोत्पादस्य प्रत्यक्षेणोपलब्धेः । ततश्च तत्र व्याप्यवृत्तिनीलरूपोत्पादान्यथानुपपत्त्या समवायेन नीलं प्रति **स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नील-नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नाभावस्य तथात्वं** = प्रतिबन्धकत्वं भवता **वाच्यम्** । तत्रावयविनि घटादौ स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नील-नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरस्य सत्त्वेन तादृशान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलक्षणस्य प्रतिबन्धकस्यायोगेन नीलरूपस्य निराबाधसामग्रीकत्वात् समवायेन व्याप्यवृत्ति नीलरूपमेवोत्पत्तुमर्हति । किन्त्वेवं कल्पनायां प्रतिबन्धकता-

प्रविष्ट होता है । प्रतिबन्धक होने पर प्रतिबन्धकाभावात्मक कारण न होने की वजह नील, पीत आदि रूप की **सामग्री** ही नहीं है । अतः चित्र घट में स्वसामग्री से नील, पीत आदि रूप की उत्पत्ति का आपादन करना असंगत है । **अतः** कपालसमवेत नील, पीत आदि रूप से घट में अतिरिक्त चित्र रूप की ही उत्पत्ति होगी-यह फलित होता है।

❀ नीलरूपाभाव नीलरूप का प्रतिबंधक हो नहीं सकता - पीतरूपापरवादी ❀

स्वाश्र० इति । नील और अनील कपाल से आरब्ध चित्र घट में नील आदि रूप की उत्पत्ति का वारण यदि इस तरह किया जाय कि —> 'समवाय सम्बन्ध से नील रूप के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसंसर्ग से नीलेतर रूप प्रतिबन्धक नहीं है किन्तु स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से नीलरूपाभाव ही प्रतिबन्धक है । इस तरह प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की कल्पना करने पर भी नील और अनील कपाल से आरब्ध घट में अतिरिक्त चित्र रूप की ही उत्पत्ति होगी, न कि नील आदी रूप की भी, क्योंकि अनील कपाल में वर्तमान नीलरूपाभाव स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से घट में रह कर वहाँ समवाय संसर्ग से नील रूप की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध करता है । स्व = नीलरूपाभाव के आश्रय = कपाल में घट समवेत होने से कपालआश्रित नीलरूपाभाव घट में स्वाश्रयसमवेतत्वसंबंध से रह सकता है - यह तो सर्वमान्य है । अतः नील रूप के प्रति नीलेतर रूप को प्रतिबन्धक मानना असंगत है' <— तो यह नामुनासिब है, क्योंकि इस प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव को मान्य करने पर नीलरूपवाले कपाल और नीलजनकाग्निसंयोगवाले कपाल से आरब्ध घट में व्याप्यवृत्ति नील रूप की उत्पत्ति न हो सकेगी । जिस कपाल में नीलरूपजनक अग्निसंयोग है वह तो नीलरूपाभाव का आश्रय है । अतएव तादृशकपालाश्रित नीलरूपाभाव स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से घट में रह कर वहाँ रूप की उत्पत्ति का प्रतिरोध करेगा ही । मगर वस्तुस्थिति तो यह है कि इस स्थल में घट में व्याप्यवृत्ति एक नील रूप की ही उत्पत्ति होती है, जिसकी संगति समवाय संबन्ध से नील के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्ध से नीलाभाव को प्रतिबन्धक मानने पर कथमपि हो सकती नहीं है ।

यदि इस समस्या के निराकरणार्थ यह मान लिया जाय कि —> 'समवायसंबन्ध से नील रूप के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व संसर्ग से नीलरूपाभाव प्रतिबन्धक नहीं है किन्तु नील-नीलजनकाग्निसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव ही प्रतिबन्धक है । नीलजनकाग्निसंयोगवाले कपाल में नील रूप न होने पर भी नीलजनकाग्निसंयोग का अभाव नहीं है । नील-नीलजनकाग्निसंयोगाऽन्यतर के रहने से वह कपाल नील-नीलजनकाग्निसंयोगान्यतराभाववाला नहीं है। अन्यतर के आश्रय में

एवमपि संयोगस्याऽव्याप्यवृत्तित्वेन तद्दोषतादवस्थ्यात् प्रतियोगिव्यधिकरणस्य तस्य तथात्वं वाच्यमिति गौरवम् ।

❋ जयलता ❋

वच्छेदकगौरवमापद्यते ।

किञ्च **एवमपि** = समवायेन नीलं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नील-नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनेऽपि, **संयोगस्य** = जन्यसंयोगत्वावच्छिन्नस्य **अव्याप्यवृत्तित्वेन** = स्वाभावसमानाधिकरणत्वेन, **तद्दोषतादवस्थ्यात्** = व्याप्यवृत्तिनीलरूपानुत्पादप्रसङ्गस्य तदवस्थत्वात्, नीलजनकतेजःसंयोगवत्यपि कपाले नीलजनकतेजःसंयोगाभावस्य सत्त्वात्, नील-नीलजनकतेजःसंयोगोभयसत्त्वेन तादृशान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यायोगात् । न ह्युभयसत्त्वदशायामन्यतराभावः प्रतिपादयितुं शक्यते । अतः पुनरपि 'यत्रैकावयवे नीलमपरत्र च नीलजनकाग्निसंयोगस्तत्राऽवयविनि व्याप्यवृत्ति नीलं न स्यादि'ति दोषो वज्रलेपायित एव । तन्निराकरणकृते च प्रकृते समवायेन नीलं रूपं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन **प्रतियोगिव्यधिकरणस्य तस्य** = नील-तज्जनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य अत्यन्ताभावस्य **तथात्वं** = प्रतिबन्धकत्वं **वाच्यं** = स्वीकार्यम् । नीलजनकतेजःसंयोगवति कपाले वर्तमानस्य नीलजनकतेजःसंयोगाभावस्य स्वप्रतियोगिव्यधिकरणत्वाभावेन तत्राऽवयविनि घटादौ स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन तादृशान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य प्रतियोगिव्यधिकरणाभावस्याऽसत्त्वात्तत्र नीलरूपोत्पादस्याऽव्याहतप्रसरत्वम् । न हि प्रतिबन्धकासत्त्वदशायां स्वकारणकलापात्कार्यं नोत्पद्यत इति शक्यते वक्तुम् । एवं पूर्वोक्तदोषनिराकरणेऽपि तव मते प्रतिबन्धकतावच्छेदकशरीरकुक्षौ **गौरवं** प्राप्तम् । समवायेन नीलं प्रति मया स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतररूपस्य प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यते त्वया तु स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतियोगिव्यधिकरणस्य नील-तज्जनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याऽत्यन्ताभावस्य प्रतिबन्धकत्वमुपेयत इति त्वत्पक्षे गौरवं स्फुटमेव । **न च** प्रतिबध्यतावच्छेदकस्यैव प्रतिबन्धकाभावकार्यतावच्छेदकत्वात् प्रतिबध्यतावच्छेदकगौरवस्यैव दोषत्वं न तु प्रतिबन्धकतावच्छेदकगौरवस्येति न कश्चिद्दोष इति **साम्प्रतम्**, तथापि समवायेन नीलं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसंसर्गेण नीलस्य कारणत्वेन नीलाभावस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया अयुक्तत्वात् । न हि कारणाभावस्य प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यते मनीषिभिः किन्तु प्रतिबन्धकाभावस्यैव कारणत्वम् । किञ्चैवं सति समवायेन नीलं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलरूपस्य प्रतिबन्धकाभावविधया कारणत्वमापद्येत देवानाम्प्रियस्येति प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धघटकीभूतं स्वाश्रयत्वमपि कालिकेतरसम्बन्धेन वाच्यम् । ततश्च सम्बन्धकृतं गौरवमपि । शरीरकृतं अर्थकृतं उपस्थितिकृतञ्च गौरवं स्फुटत्वान्नात्र दर्श्यते । लाघवानुरोधेन नीलेतरादेः तद्धेतुत्वं विहाय नीलाभावादेः तथात्वोपगमे तु विपरीतमेव गौरवमिति 'भग्नं व्रतं नैव तृषा च वासना' इति न्यायापातः इति न किञ्चिदेतत् ।

तादृशान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव कैसे रहेगा ? कपाल तादृशान्यतराभाव का आश्रय न होने पर उसमें समवेत घट स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्ध से तादृशान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का, जो अवयवी में नील रूप की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक है, आश्रय नहीं होने से वहाँ व्याप्यवृत्ति नील रूप की उत्पत्ति मुमकिन हो जायेगी । अतः नील के प्रति तादृशान्यतराभाव को ही प्रतिबन्धक मानना संगत है ।' <—

एवमपि इति । तो यह भी असंगत है, क्योंकि संयोग अव्याप्यवृत्ति गुण होने की वजह जिस कपाल में नीलरूपजनक अग्निसंयोग रहता है वहाँ उसका अभाव भी रहने से नीलरूपजनकाग्निसंयोगवाले कपाल में नील रूप का एवं नीलरूपजनक अग्निसंयोग का भी अभाव रह जायेगा । इस तरह कपाल में उभयाभाव सिद्ध होने पर तादृशान्यतराभाव तो रहेगा ही । अतः पुनः स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्ध से घट में प्रतिबन्धक की उपस्थिति होने की वजह उस घट में नील रूप की उत्पत्ति न हो सकेगी । इसके निराकरणार्थ यदि ऐसा कहा जाय कि —> 'तादृशान्यतराभाव भी प्रतियोगिव्यधिकरण हो तभी नील रूप का प्रतिबन्धक हो सकता है । प्रस्तुत में कपाल में रहनेवाला तादृशान्यतराभाव प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं है किन्तु प्रतियोगिसमानाधिकरण है, क्योंकि कपाल नीलजनक अग्निसंयोग का आश्रय होने से स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से तद्दृशान्यतर (= नीलजनक अग्निसंयोग) घट में रहता है । घट में स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्ध से वर्तमान तादृशान्यतराभाव प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं होने से नील रूप की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक हो सकता नहीं है' <— तो यह भी अनुचित है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से नील रूप के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से नीलेतर रूप को प्रतिबन्धक मानने की अपेक्षा स्वाश्रयसमवेतत्व संसर्ग से प्रतियोगिव्यधिकरण नील-नीलजनकाग्निसंयोगान्यतराभाव को प्रतिबन्धक मानने में गौरव है । अतएव यह गौरवग्रस्त प्रतिबध्य-

यदि त्ववयवे नीलजनकसंयोगेन नीलजननोत्तरमेवाऽवयविनि नीलोत्पत्तिरित्यभ्युपगम्यते तदा नीलादौ नीलाभावादेरपि कार्यसहभावेन प्रतिबन्धकत्वं युक्तिमत् ।

चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति च पृथिवीत्वेनैव हेतुत्वम् । न च नीलमात्रारब्धेऽपि तदापत्तिः, रूपजचित्रे नीलेतर-पीतेतरादेरपि हेतुत्वात् ।

जयलता

प्रकृते च **लघुस्याद्वादरहस्ये** 'नीलाद्यभावस्यैव स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन विरोधित्वमिति तु वायूपनीतसुरभिभागादे-नीरूपत्वं न शोभते' (ल.स्या.र.पृ.२२) इत्येवं पाठो वर्तते इति ध्येयम् ।

ननु मयाऽवयविनि नीलादिजनकोऽग्निसंयोगो नैवाऽभ्युपगम्यते किन्त्ववयवसमवेतरूपादेवाऽवयविनि नीलादिरूपोत्पादोऽभ्युपगम्यते इत्याशयं पिठरपाकवादिनो दर्शयति **यदीति** । अभ्युपगमवादसूचनायेदम् । तुर्विशेषणार्थः, तदेव दर्शयति --> **अवयवे** = कपालादौ **नीलजनकसंयोगेन** = नीलरूपजनकतेजःसंयोगेन, अवयवे **नीलजननोत्तरं** = नीलरूपोत्पादानन्तरकाल एव **अवयविनि** घटादौ **नीलोत्पत्तिः** भवतीति **अभ्युपगम्यते** भवद्भिः तदा समवायेन **नीलादौ** = नीलादिकं प्रति, **नीलाभावादेरपि**, अपिना नीलेतररूपादिसमुच्चयः, **प्रतिबन्धकत्वं युक्तिमत्**, व्यतिरेकव्यभिचारविरहात् गौरवानवकाशाच्च । वस्तुतस्तु अनुपदोक्तदिशा नीलाभावादेः कारणाभावात्मकत्वमेव, न तु प्रतिबन्धकत्वमिति ध्येयम् ।

ननु चित्रं प्रति केन रूपेण हेतुत्वं ? इत्याशङ्कायामाह --> **चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति च** = यावच्चित्ररूपं **पृथिवीत्वेनैव हेतुत्वम्**, रूपस्य पृथिवी-जल-तेजोवृत्तित्वेऽपि चित्ररूपस्य पृथिवीमात्रवृत्तित्वात् । एवकारेण पाकत्वादेर्व्यवच्छेदः कृतः । प्रकृते कार्यतावच्छेदकसम्बन्धः समवायः, कार्यतावच्छेदकधर्मः चित्रत्वं, कारणतावच्छेदकसंसर्गः तादात्म्यं कारणतावच्छेदकधर्मश्च पृथिवीत्वम् । ननु समवायेन चित्ररूपं प्रति तादात्म्येन पृथिव्याः कारणत्वे यस्मिन् कपाले केवलं नीलरूपं तत्समवेते घटेऽपि चित्रोत्पादप्रसङ्गो दुर्निवारः, घटस्य पार्थिवद्रव्यत्वादित्याशङ्कामपाकर्तुमुपक्रमते **न चेति** । **नीलमात्रारब्धे** = नीलेतररूपशून्येन नीलरूपवता कपालादिना प्रारब्धे घटाद्यवयविनि **अपि तदापत्तिः** = अतिरिक्तचित्ररूपोत्पत्तिप्रसङ्गः । तन्निरासे युक्तिमाविष्करोति **रूपजचित्रे** = अवयवसमवेतरूपजन्ये चित्ररूपे, **नीलेतर-पीतेतरादेः अपि हेतुत्वात्** । अयं भावः चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति

प्रतिबन्धकभाव स्वीकार्य हो नहीं सकता - यह तात्पर्य है ।

नीलाभावादि में चित्ररूपहेतुता मुमकिन - पिठरपाकवादी

यदि. इति । **अगर यहाँ यह कल्पना की जाय कि --> 'अवयव में नीलरूपजनक अग्निसंयोग सर्वप्रथम अवयव में ही नील रूप को उत्पन्न करेगा और बाद में अवयवगत नील रूप ही अवयवी में नील रूप को उत्पन्न करेगा । अतएव स्वाश्रयसमवेतत्व संसर्ग से प्रतियोगिव्यधिकरण नील-नीलजनकाग्निसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव को समवाय संसर्ग से नील रूप का प्रतिबन्धक मानने की आवश्यकता नहीं है । इसका कारण यह है कि पाकज और अपाकज स्थल में हम अवयवसमवेत रूप को ही अवयवी में समवाय संबन्ध से होनेवाले रूप का असमवायिकारण मानते हैं' <— तब तो अवयवी में नीलादि रूप के प्रति कार्यसहभावेन नीलाभाव आदि को भी प्रतिबन्धक मानना युक्तिसंगत है । अवयवरूप से अवयविगत रूप की उत्पत्ति मानने में नील-नीलजनकाग्निसंयोगान्यतराभाव को प्रतिबन्धक मानने की आवश्यकता नहीं है- ऐसा सूचित होता है। अतः गौरव दोष को अवकाश नहीं है ।**

❋ पृथ्वी ही चित्र रूप का हेतु है ❋

चित्रत्वा. इति । **अन्य विद्वानों की यह राय है कि चित्रत्वावच्छिन्न = यावत् चित्ररूप के प्रति पृथ्वीत्वरूप से ही पृथ्वी में कारणता है । मतलब कि घट, पट आदि पृथ्वी होने की वजह ही उनमें चित्र रूप उत्पन्न होता है। यहाँ यह शंका हो कि --> 'चित्र रूप के प्रति पृथ्वीत्वरूप से कारणता का स्वीकार करने पर तो केवल नीलरूपवाले कपाल से आरब्ध घट में भी चित्र रूप उत्पन्न होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि पृथ्वी द्रव्य = पार्थिव द्रव्य होने की वजह घट चित्र रूप का कारण है' <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि चित्रमात्र के प्रति पृथ्वी द्रव्य कारण होने पर भी रूपजन्य चित्र रूप के प्रति नीलेतर, पीतेतर आदि रूप भी कारण हैं । आशय यह है कि पृथ्वी द्रव्य तो चित्ररूप सामान्य का कारण है और नीलेतर, पीतेतर आदि रूप चित्रविशेष का कारण हैं । केवल नीलरूपवाले कपाल से आरब्ध घट में रूपजन्य चित्ररूप का आपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस घट में नीलेतर रूप आदि का अभाव है ।**

केचित्तु - नीलाभावादिषट्कस्यैव तद्धेतुत्वम् । न च नीलपीतोभयकपालारब्धे घटे पाकनाशितावयवपीतस्वचित्रेऽवयवे व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिकाले तदापत्तिः, कार्यसहभावेन तस्य

❊ जयलता ❊

चक्षुष्ट्वेनैव कारणत्वेऽपि अञ्जनादिकालीनचाक्षुषं प्रति अञ्जनादेरपि हेतुत्वात्तस्माके रात्रौ अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां चाक्षुषमिवाऽञ्जनादिकालीनं चाक्षुषमुपजायते तथैव चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति पृथिवीत्वेनैव कारणत्वेऽपि रूपजचित्रं प्रति नीलेतर-पीतेतरादेरपि जनकत्वान्न नीलमात्रारब्धे चित्रोत्पादप्रसङ्गः । एतेन तत्र रूपजं चित्रं माऽस्तु, चित्रमात्रं तु स्यादिति **प्रत्युक्तम्**, अन्यत्र चाक्षुषे आलोकसंयोगादेरिव रूपजाऽतिरिक्तचित्रे पाकस्य हेतुत्वाभ्युपगमात् । समवायेन चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्येन पृथिव्याः रूपजचित्रं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वादिसंसर्गेण पाकस्य हेतुत्वमिति न नीलमात्रसमारब्धे चित्रोत्पादप्रसङ्ग इति तु निष्कर्षः ।

ननु समवायेन चित्रं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसंसर्गेण नीलेतर-पीतेतर-रक्तेतरादिषट्कस्य हेतुत्वकल्पनापेक्षया स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलाभावादिषट्कस्यैव हेतुत्वं कल्पयितुमर्हति अन्योन्याभावापेक्षयाऽत्यन्ताभावस्य लघुतरशरीरत्वात् । युक्तश्चैतदेव, अन्यथा यत्रैकावयवे नीलं अपरत्र च पीतजनकाग्निसंयोगस्तत्र चित्रोत्पादाऽनापत्तेः, नीलेतरादिषट्कस्य तत्र विरहादित्याशयवतां केषाञ्चिन्मतं प्रकरणकारः समावेदयति **केचित्त्विति । नीलाभावादिषट्कस्यैव तद्धेतुत्वं** = चित्रकारणत्वं, एवकारेण नीलेतर-पीतेतरादेर्व्यवच्छेदः कृतः ।

ननु चित्रं प्रति नीलाभावादिषट्कस्यैव हेतुत्वेऽभ्युपगम्यमाने तु यो घटः नीलपीतकपालाभ्यां समारब्धस्तत्र पाकेन यदा कपालपीतरूपं घटसमवेतचित्ररूपं च नाश्यते तदनन्तरं पाकनाशितपीतरूपे कपाले व्याप्यवृत्ति नीलरूपं सञ्जायते तत्समकालमेव घटे चित्ररूपोत्पादप्रसङ्गो दुर्निवारः, तदव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन घटे स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलाभावादिषट्कस्य विद्यमानत्वात् । चित्रं प्रति नीलेतर-पीतेतरादेः हेतुत्वे तु नायं प्रसङ्गः, पाकनाशितपीतरूपकपालवृत्तिव्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिकालाऽव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन नीलेतरादिरूपस्य स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन घटेऽविद्यमानत्वात् । ततश्च नीलेतरादेरेव तद्धेतुत्वं युक्तं न तु नीलाभावादिषट्कस्येति शङ्कामपाकर्तुमुपक्रमते —> **न चेति । नीलपीतोभयकपालारब्धे** = नीलपीतकपालाभ्यामारब्धे **घटे** अवयविनि तदापत्तिः प्रकृतेऽन्वीयते, **पाकनाशितावयवपीतस्वचित्रे** = पाकेन नाशितं अवयवपीतं = कपालपीतरूपं स्वचित्रं = घटचित्ररूपं यस्मिन् **अवयवे** = घटसमवायिकारणे कपाले पाकेन **व्याप्यवृत्ति-नीलोत्पत्तिकाले** = स्वाभावासमानाधिकरण-नीलरूपोत्पादक्षणावच्छेदेन **तदापत्तिः** = चित्ररूपोत्पादापत्तिः । शङ्काग्रन्थो भावितार्थ एवाऽनुपदम् । तन्निराकरणे हेतुमावेदयन्ति —> **कार्यसहभावेन** = कार्योत्पादसमकालीनत्वेन, न तु कार्योत्पादाऽव्यवहितपूर्वकालिकत्वेन **तस्य** = नीलाभावादि-

❊ कार्यसहभाव से हेतुता का विचार ❊

केचि. इति । **चित्र रूप के विषय में कुछ विद्वानों का यह मन्तव्य है कि —> ''चित्र रूप के प्रति नीलाभाव, पीताभाव, रक्ताभाव, श्वेताभाव, कृष्णाभाव, और हरितवर्णाभाव- ये छ कारण हैं । नीलाभावादिषट्क स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्ध से चित्र रूप का हेतु होने से जहाँ एक अवयव में नील रूप है और अन्य अवयवों में पीतजनक अग्निसंयोग है वहाँ अवयवों में पीत रूप की उत्पत्ति के पूर्व भी अवयवी में चित्र रूप की उत्पत्ति मानने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि नीलाभाव, पीताभाव आदि षट्क स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से घटात्मक अवयवी में विद्यमान है। अतः समवाय सम्बन्ध से चित्र रूप के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलाभावादिषट्क को ही कारण मानना संगत है । यहाँ यह शंका हो कि —> 'जहाँ नील - पीत दो कपालों से चित्र घट उत्पन्न होता है और पाक से पीत अवयव के पीत रूप का और स्व = घट के चित्र रूप का नाश होता है वहाँ नष्टपीतरूपवाले अवयव में पाक द्वारा व्याप्यवृत्ति नील रूप की उत्पत्तिकाल में घट में चित्र रूप की उत्पत्ति का प्रसंग होगा, क्योंकि उसकी अव्यवहित पूर्व क्षण में घट में स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलाभावादिषट्क विद्यमान है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि उस घट में चित्र रूप उत्पन्न नहीं होता है' <— तो यह असंगत है, क्योंकि नीलाभावादिषट्क में चित्र रूप के प्रति कार्यसहभावेन हेतुता है । अतः कार्योत्पत्ति की अव्यवहित पूर्व क्षण में नीलाभावादिषट्क की विद्यमानता अनपेक्षित है । किन्तु कार्योत्पत्तिकाल में ही नीलाभावादिषट्क की विद्यमानता अपेक्षित है । चित्ररूपोत्पत्तिक्षण में नीलाभावादिषट्क के रहने पर ही चित्ररूपात्मक कार्य की उत्पत्ति हो सकती है । उपर्युक्त स्थल में नष्टपीतरूपवाले कपाल में व्याप्यवृत्तिनीलरूपोत्पत्तिक्षण में नीलरूपाभाव नहीं होने से चित्ररूपोत्पत्ति के प्रसंगरूप दोष का सम्भव नहीं है ।**

हेतुत्वात् । अस्तु वा नील-नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नाभावादेरेव तथात्वं तेन न नील-पीत-श्वेतत्रितयकपालारब्धे पीत-श्वेतयोः क्रमेण नाशे श्वेतनाशकालेऽपि तदापत्तिरित्याहुः ।

अग्निसंयोगजचित्रं प्रति च विजातीयतेजःसंयोग एव हेतुः, रूपमात्रजाऽतिरिक्त एव वा

❀ जयलता ❀

षट्कस्य चित्ररूपं प्रति **हेतुत्वात्** । पाकनाशितपीतरूपे कपाले व्याप्यवृत्तिनीलरूपोत्पत्तिकालावच्छेदेन घटे स्वाश्रयसमवेतत्व-संसर्गेण नीलाभावादिषट्कस्य विरहान्न तदा घटे चित्रोत्पादप्रसङ्गः ।

ननु समवायेन चित्रं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन कार्यसहभावेन नीलाभावादिषट्कस्य कारणत्वमिति प्रकृतपरिष्कारकर-णेऽपि यो घटो नील-पीत-श्वेतकपालैः समारब्धः तत्र पाकेन प्रथमं पीतरूपं नाश्यते तदनन्तरक्षणे च श्वेतरूपं नाश्यते तदनन्तरक्षणे च तत्र पाकेन व्याप्यवृत्ति नीलरूपमुत्पद्यते तत्र श्वेतनाशकालावच्छेदेन घटे चित्ररूपोत्पादप्रसङ्गो दुर्निवारः, तदा घटे स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलाभावादिषट्कस्य सत्त्वादित्याशङ्कायां कल्पान्तरं प्रादुष्कुर्वन्ति —> **अस्तु** वेति । **तथात्वं** = चित्ररूपकारणत्वम् । **तेन** = समवायेन चित्रं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नील-नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाव-पीत-पीतजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावादिषट्कस्यैव हेतुत्वस्वीकारेण, **न नील-पीत-श्वेतत्रितयकपालारब्धे** घटेऽवयविनि पाकेन **पीतश्वेतयोः** कपालसमवेतरूपयोः **क्रमेण नाशे श्वेतनाशकालेऽपि तदापत्तिः** = चित्ररूपोत्पादप्रसङ्गः, तदा घटे स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलजनकतेजःसंयोगसत्त्वेन नील-नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावादेः चित्ररूपहेतोर्विरहात् । न ह्यन्यतरसत्त्वेऽन्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्तत्राऽभ्युपगन्तुमर्हति ।

आहुरित्यनेनाऽस्वरसः प्रदर्शितः, नीलेतरादिषट्कापेक्षया नील-नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव-षट्कस्य तद्धेतुत्वे गौरवात् संयोगस्याऽव्याप्यवृत्तित्वेन प्रतियोगिव्यधिकरणत्वनिवेशे च महागौरवात् । **न चानवच्छिन्नविशेषण-तया** प्रतियोगितानवच्छेदकाविशेषितोक्ताभावहेतुत्वकल्पनायाः सुघटत्वमिति **वाच्यम्,** प्रतियोगिकोटावुदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्याम-विनिगमात् । न च [illegible] नीलरूपस्य च पीतजनकाग्निसंयोगस्तत्र चित्ररूपोत्पत्त्युपपत्तये नीलाभावादिषट्कहेतुत्वकल्प-नाया न्याय्यत्वमिति **वक्तव्यम्,** तत्र स्थलेऽवयवे पीतरूपोत्पत्त्यनन्तरमेवाऽवयविनि चित्ररूपोत्पत्तिस्वीकारेण व्यतिरेकव्यभि-चाराऽयोगादित्यादि विभावनीयम् । प्रकृते **लघुस्याद्वादरहस्ये** 'नीलेतर-पीतेतरत्वादिनैव तद्धेतुतेत्यप्यन्ये' इत्यधिकः पाठः ।

अविवेकिनां मतमाह **अग्निसंयोगजचित्रं प्रति विजातीयतेजःसंयोग एव हेतुः,** एवकारेण नीलेतरादिषट्कस्य नीलाभावादिषट्कस्य नील-नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नाभावादिषट्कस्य च व्यवच्छेदः कृतः । समवायेनाऽग्निसंयोगज-न्यचित्रं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन विजातीयतेजःसंयोगत्वेनैव कारणत्वस्वीकारे नीलमात्रजन्यघटे पाकेन चित्ररू-

अस्तु, इति । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि समवाय से चित्र रूप के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से नील-नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव ही कारण है । उपर्युक्त कार्य-कारणभाव का त्याग कर के इस नवीन कार्य-कारणभाव को मान्यता देने का कारण यह है कि - चित्र रूप के प्रति कार्यसहभावेन नीलाभावादिषट्क को कारण मानने पर जहाँ नील-पीत और श्वेत इन तीन-रूपवाले कपालों से कोई घट उत्पन्न होता है और उसमें पाक से पीत रूप और श्वेत रूप का नाश क्रम से होता है वहाँ उस घट में श्वेत रूप के नाशकाल में चित्ररूपोत्पत्ति का प्रसंग होगा, क्योंकि उस काल में पीत, श्वेत आदि रूपों का अभाव स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से विद्यमान रहता है । इस दोष के निवारणार्थ नील और नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को चित्र रूप का कारण मानना आवश्यक है । अब इस कार्यकारणभाव को मान्य करने पर उपर्युक्त स्थल में चित्ररूपोत्पाद का अनिष्ट प्रसंग नहीं आयेगा, क्योंकि उक्त घट में पाक से पीतरूपनाश के अनन्तर श्वेतरूपनाशकाल में नीलरूपजनक तेजःसंयोग होने से नील-नीलजनकाग्निसंयोगान्यतरा-भाव नहीं है । कारण के विरह में कार्य का आपादन हो सकता नहीं है । अतः समवाय सम्बन्ध से चित्र रूप के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से नील-नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को ही कारण मानना मुनासिब है" ऐसा कुछ विद्वानों का अभिप्राय यहाँ प्रकरणकार ने व्यक्त किया है ।

❀ रूपमात्रजन्यातिरिक्त चित्ररूप के प्रति पाक कारण - मतविशेष ❀

अग्नि, इति । यहाँ अमुक विद्वानों का यह अभिप्राय है कि पाकज चित्र रूप के प्रति पाक = विजातीय अग्निसंयोग ही हेतु है । इस कार्य-कारणभाव को मान्य करने पर चित्र रूप के प्रति नील-नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक

स हेतुः फलबलेन वैजात्यकल्पनात् । तेन नोभयज उभयोः पृथक्कारणत्वकल्पनम् । पाकजचित्रे वा मानाभावः, पाकादवयवे नानारूपोत्पत्त्यनन्तरमेवाऽवयविनि चित्रस्वीकारे लाघवादित्येके ।

❋ नयलता ❋

पोत्पत्तिः सङ्गच्छते । नीलेतरादिषट्कादेः तत्कारणत्वपक्षे तु नेयं घटामञ्चति, तत्र तद्विरहात् । लाघवानुरोधेन कल्पान्तरमाविष्कुर्वन्ति- **रूपमात्रजाऽतिरिक्ते** = अवयवसमवेतरूपमात्रजन्यचित्ररूपातिरिक्तचित्ररूपे, एवकारेणाऽग्निसंयोगज-चित्ररूपव्यवच्छेदः कृतः । वाकारः कल्पान्तरप्रदर्शनार्थः । **सः** = विजातीयतेजःसंयोगः स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन हेतुः । कल्पान्तरानुसरणप्रयोजनं त्वनुपदमेव दर्शयिष्यते प्रकरणे । **फलबलेन** = अन्वय-व्यतिरेकमहिम्ना, **वैजात्यकल्पनात्** = चित्रजनकाग्निसंयोगसमवेतजातिविशेषस्य सिद्धेः । **एतेन** अग्निसंयोगजन्यचित्ररूपनिरूपितकारणतावच्छेदकीभूतवैजात्याऽसिद्धेः न विजातीयतेजःसंयोगस्य तद्धेतुत्वसम्भव इति **प्रतिक्षिप्तम्,** अग्निसंयोगत्वावच्छिन्नस्य तद्धेतुत्वकल्पने सर्वस्मिन् घटादौ चित्रोत्पादप्रसङ्गात्, तेजःपरमाणुसंयोगस्य तत्र सर्वदा सत्त्वात् । न चैतददृष्टमिष्टं चेति तदन्यथानुपपत्त्या 'सिद्धो धर्म एको नित्यश्चेत् तदा लाघवमि'तिन्यायात् तज्जनकाग्निसंयोगे जातिविशेषः सिध्यतीति भावः । **तेन** = विजातीयाग्निसंयोगनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकधर्मः रूपमात्रजातिरिक्तचित्रत्वं, न तु तेजःसंयोगजचित्रत्वमित्यभ्युपगमेन, **न उभयजे** = नीलेतरादि-पाकोभयजन्ये चित्ररूपे, **उभयोः** नीलेतरादि-पाकयोः **पृथक्कारणत्वकल्पनम्,** तस्य विजातीयतेजःसंयोगकार्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वात् । विजातीयतेजःसंयोगमात्रजचित्र-पाकरूपोभयजचित्रयोः रूपमात्रजभिन्नत्वेनानुगतीकृत्य तौ प्रति पाकस्य हेतुत्वसम्भव इति भावः । प्रकृतकल्पे च समवायेन रूपमात्रजं चित्रं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतरादिषट्कस्य रूपमात्रजचित्रातिरिक्तचित्रं प्रति च विजातीयतेजःसंयोगस्य कारणता कल्प्यत इति कार्यकारणभावद्वयकल्पनम् । अन्यत्र तु अवयवरूपपाकोभयजचित्रं प्रति अवयवरूप-पाकयोः मिलितयोः कारणत्वकल्पनमधिकमिति ज्यायानयमेव पक्षः ।

ननु रूपमात्रजचित्रातिरिक्तचित्रे विजातीयतेजःसंयोगत्वेन कारणत्वं यद्वत अग्निसंयोगमात्रजचित्रातिरिक्तचित्रेऽवयवरूपत्वेन हेतुत्वं ? इत्यत्र विनिगमनाविरहो दुरुद्धरः, उभयजचित्रे उभयोः पृथक्कारणत्वाऽकल्पनं तूभयत्र तुल्यमिति नोपदर्शितकार्यकारणभावः श्रद्धातुमर्हतीत्याशङ्कायां कल्पान्तरमाह **पाकजचित्रे वा मानाभाव** इति । नन्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां, **पाकात्** = विजातीयतेजःसंयोगात् **अवयवे** = अवयवेषु **नानारूपोत्पत्त्यनन्तरं** नीलपीतादिनानाविधवर्णोत्पादानन्तरक्षणे **एव,** न तु तत्पूर्वं, **अवयविनि चित्रस्वीकारे** अतिरिक्तकार्य-कारणभावाकल्पनेन **लाघवात्** । पाकादापरमाण्वन्तसमवयविविनाशो भवतु मा वा । अत्र नास्माकमाग्रहः

अभावत्व आदि रूप से कारणता के स्वीकार का गौरव प्रसक्त होता नहीं है । रूपजन्य चित्र रूप के प्रति विजातीयसंयोग नहीं बल्कि स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से नीलेतर आदि रूप कारण होने से कारणताअवच्छेदकधर्मशरीर में नीलजनकतेजःसंयोग के निवेश की कोई आवश्यकता नहीं है । चित्ररूपकारणतावच्छेदकधर्मघटकीभूत अग्निसंयोगनिष्ठ वैजात्य की कल्पना का गौरव आपाततः प्रतीत होने पर भी यह दोषात्मक नहीं है, क्योंकि वह फलबल से कल्प्य होने से प्रामाणिक है। अग्निसंयोगसामान्य से पाकज चित्र रूप उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु अग्निसंयोगविशेष से ही पाकज चित्र रूप उत्पन्न होता है । यदि ऐसा न माना जाय तो प्रायः सभी द्रव्य के साथ अग्निपरमाणुओं का संयोग होने से सर्व रूपी द्रव्य में पाकजन्य चित्र रूप की उत्पत्ति का अनिष्ट प्रसंग आयेगा । अन्वय-व्यतिरेक से अग्निसंयोगविशेष में ही पाकज चित्र रूप की कारणता का निश्चय होने से चित्ररूपोत्पादक अग्निसंयोग में वैजात्य = जातिविशेष की कल्पना न्याय्य है । अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि रूपमात्र से जन्य चित्र रूप से अतिरिक्त चित्र रूप के प्रति ही विजातीय अग्निसंयोग कारण है । इस कार्यकारणभाव को मान्य करने का लाभ यह है कि अवयवरूप और पाक-उभय से जन्य चित्र रूप के प्रति अवयवरूप और पाक = विजातीय अग्निसंयोग दोनों में स्वतंत्र कारणता की कल्पना का गौरव प्रसक्त होता नहीं है, क्योंकि रूपमात्रजन्यचित्ररूपातिरिक्तचित्रत्वस्वरूप पाककार्यतावच्छेदक धर्म से वह चित्र रूप आक्रान्त है । इस पक्ष में रूपमात्रजन्य चित्र रूप के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलेतर आदि रूप कारण है और तदतिरिक्त (= रूपमात्रजन्य चित्ररूप से भिन्न) चित्र रूप के प्रति विजातीयतेजःसंयोग कारण है । इन दो कार्यकारणभाव की ही कल्पना करनी पड़ती है । उभयजन्य चित्र रूप के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलेतरादिषट्क और पाक इन दोनों में कारणता की कल्पना का गौरव अप्रसक्त है ।

पाक. इति । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि चित्ररूप केवल अवयवसमवेत रूप से ही उत्पन्न होता है, न कि पाक से, क्योंकि पाकजन्य चित्र रूप के स्वीकार में कोई प्रमाण नहीं है । यहाँ यह शंका हो कि —> 'नीलकपालद्वय

तच्चिन्त्यं चित्रजनकत्वेनाऽभिमतस्यैकस्य पाकस्याऽवयवनीलपीतादिजनकत्वेनाभिमतस्यैकस्य पाकस्याऽवयवनीलपीतादिजनकत्वे नीलजनकतावच्छेदक-पीतजनकतावच्छेदकजात्योः साङ्कर्यात् । उभयादिजनकतावच्छेदकजातेस्तत्र नानापाकानां वा कल्पने

❀ जयलता ❀

ऽपि पाकादवयवेष्वेव नानारूपाण्युत्पद्यन्ते । ततश्च तेभ्य एवाऽवयविनि चित्रमुत्पद्यते अवयविरूपस्य अवयवरूपाऽसमवायिकारणकत्वात् । अतश्चित्ररूपं न पाकजं किन्तु रूपजमेवेत्यभिप्रायः ।

एक इत्यनेनाऽस्वरसः प्रदर्शितः । तदेव स्पष्टयति **तच्चिन्त्यमिति** । चिन्ताबीजमेवाविष्करोति **चित्रजनकत्वेन अभिमतस्ये**ति । स्वयं परेण चित्रजनकपाकस्याऽनङ्गीकारात् 'चित्रजनकस्ये'त्यनुक्त्वा 'चित्रजनकत्वेनाभिमतस्ये'त्युक्तम् । **एकस्य पाकस्य अवयवनीलपीतादिजनकत्वे** स्वीक्रियमाणे **नीलजनकतावच्छेदक-पीतजनकतावच्छेदकजात्योः साङ्कर्यादि**ति । चित्राऽजनकत्वेनाऽभिमते नीलजनके पाके नीलजनकतावच्छेदकजातेः सत्त्वेऽपि पीतजनकतावच्छेदकजातेरसत्त्वात्, चित्राजनकत्वेनाऽभिमते पीतजनके पाके पीतजनकतावच्छेदकजातेः सत्त्वेऽपि नीलजनकतावच्छेदकजातेरसत्त्वात् चित्रजनकत्वेनाऽभिमते पाके नील-पीतजनकतावच्छेदकजात्योः सत्त्वात् साङ्कर्यं स्फुटमेव । अत एव तन्निराकरणाय पाकजं चित्ररूपमभ्युपगन्तव्यमित्यभिप्रायः ।

ननु साङ्कर्यपरिहाराय न पाकजं चित्ररूपं स्वीकर्तव्यं किन्तु चित्रजनकत्वेनाऽभिमते पाके नील-पीतोभयजनकतावच्छेदिकाया एकस्या एव जातेः स्वीकारः समुचितः, न तु नीलजनकतावच्छेदक-पीतजनकतावच्छेदकजात्योः स्वीकारः । यद्वा चित्ररूपस्थले नीलजनकपाकादन्य एव पीतजनकपाकः स्वीकर्तुमुचितः । ततश्च न साङ्कर्यावकाश इत्याशङ्कामपाकर्तुमाह --> **उभयादिजनकतावच्छेदकजातेः** नीलपीतोभयादिनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदिकाया एकस्या जातेः, **तत्र** = चित्रजनकत्वेनाऽभिमते पाके, कल्पने इत्यत्रानुषज्यते आवृत्त्या । **तत्र** = अवयवे **नानापाकानां** = नील-पीतादिजनकानेकविध-

से आरब्ध घट में भी विजातीय अग्निसंयोग से चित्र रूप की उत्पत्ति तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है । हाथ कंगन को आरसी क्या ? अतः प्रत्यक्ष प्रमाण ही विजातीय अग्निसंयोग में चित्र रूप की हेतुता को सिद्ध करता है । यहाँ अवयवगत अनेक नीलेतर आदि रूप से अवयवी में चित्र रूप की उत्पत्ति का समर्थन तो नहीं किया जा सकता, क्योंकि अवयव = कपाल में नीलेतर आदि रूप ही अविद्यमान है' <— तो वह अनुचित है, क्योंकि पाक से साक्षात् (सर्व प्रथम) अवयवी = घट में चित्र रूप उत्पन्न होता नहीं है, किन्तु अवयव = कपाल में ही पाक से सर्व प्रथम अनेक नीलेतर, पीतेतर आदि रूप उत्पन्न होते हैं । बाद में अवयवगत नीलेतरादिघटक ही स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से घट में रह कर वहाँ समवाय सम्बन्ध से चित्र रूप को उत्पन्न करता है । पाक तो अवयव=कपाल में नीलेतरादिघटक को उत्पन्न कर के चरितार्थ हो जाता है । अतएव घटसमवेत चित्र रूप के प्रति वह अन्यथासिद्ध सिद्ध होता है । इसलिए चित्र रूप के प्रति विजातीय अग्निसंयोग की कारणता अप्रामाणिक है- यह फलित होता है । चित्र रूप के प्रति तीन या दो नहीं मगर एक ही कारण होता है, जिसका नाम है नीलेतरादिघटक। अनेकविध कारणता का स्वीकार न होने से इस पक्ष में लाघव भी सिद्ध होता है-यह अमुक मनीषियों का वक्तव्य है ।

तच्चिन्त्यं० इति । मगर यह वक्तव्य आँखें मूँद कर स्वीकर्तव्य नहीं है । इसके ऊपर भी थोड़ा सा चिन्तन - मनन करना चाहिए । चिन्तन का एक पहलु यह है कि —> 'अवयवी में चित्र रूप के जनकविधया जो पाक संमत है, उसीको अवयव में नील, पीत आदि रूप का जनक मानने पर नील - पीतादि की जनकतावच्छेदक जाति में सांकर्य होगा, क्योंकि चित्र रूप के अजनक नीलजनक पाक = विजातीय अग्निसंयोग में नीलजनकताअवच्छेदक जाति है किन्तु पीतजनकतावच्छेदक जाति नहीं है । वैसे ही चित्र रूप के अजनक पीतजनक पाक में पीतजनकतावच्छेदक जाति है किन्तु नीलजनकतावच्छेदक जाति नहीं है और वे दोनों जातियाँ चित्ररूपजनक विजातीय अग्निसंयोग में विद्यमान हैं । इस सांकर्य दोष के कारण पाक से अवयव में नील-पीत आदि अनेक रूप की उत्पत्ति और अवयवगत पाकजन्य नीलेतर - पीतेतरादि रूप से अवयवी में चित्र रूप की उत्पत्ति की कल्पना असंगत है । यदि सांकर्य दोष के निराकरणार्थ चित्र रूप के जनकविधया अभिमत पाक में नीलजनकतावच्छेदक और पीतजनकतावच्छेदक दो जातियाँ न मान कर नीलपीतोभयजनकतावच्छेदक एक जातिविशेष की कल्पना की जाय या तो वहाँ नीलजनक पाक और पीतजनक पाक को, अलग अलग माना जाय तब यद्यपि सांकर्य दोष का निराकरण तो हो सकता है तथापि अतिरिक्त जाति की या विभिन्न पाक की, अवयवों में अनेकविध रूपों की, उनके

गौरवादित्यपरे । अवयवेषु नानारूप-तत्प्रागभाव-प्रध्वंसादिकल्पने गौरवादित्यर्थः ।

चित्ररूपे रूपत्वेनैव हेतुता नीलमात्रारब्धे तु प्रागभावाभावादेव न चित्रोत्पत्तिः । अस्तु वा चित्रं प्रति चित्रेतररूपाभावस्य चित्रेतरत्प्रति च चित्राभावस्य कार्यसहभावेन हेतुता । अतो नातिप्रसङ्ग इति तु** रामभद्रसार्वभौमाः **।

❀ जयलता ❀

विजातीयानलसंयोगानां वा कल्पने **गौरवादित्यपरे** । गौरवमेव स्पष्टयति **अवयवेषु नानारूप-तत्प्रागभाव-प्रध्वंसादिकल्पने** = नील-पीताद्यनेकरूपाणां, नील-पीतादिप्रागभावानां, नील-पीतादिप्रागभावध्वंसानां, नीलपीतादिप्रध्वंसानां, आदिपदेन नील-पीतादिजनकतावच्छेदकनानाजातिव्यतिरिक्तायाः नीलपीतोभयजनकतावच्छेदिकायाः जातेः, पाकनानात्वस्य, नीलेतररूपादौ नीलादि-प्रतिबन्धकत्वस्य चित्रजनकत्वस्य च कल्पने **गौरवादित्यर्थः** ।

चित्ररूपे रामभद्रमतमाविष्करोति —> **चित्ररूपे** = समवायेन चित्ररूपं प्रति, **रूपत्वेनैव हेतुता** = स्व-समवायिसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्न-रूपत्वावच्छिन्नकारणता । एवकारेण नीलेतरादिषट्क-नीलाभावादिषट्क-नील-नीलजनकतेजः-संयोगान्यतरत्वावच्छिन्नाभावादेर्व्यवच्छेदः कृतः । कारणतावच्छेदकलाघवानुरोधादयमेव कार्यकारणभावो युक्तः ।

नन्वेवं सति नीलकपालद्वयारब्धे घटेऽपि समवायेन चित्रमुत्पद्येत स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपस्य तत्र सत्त्वादित्याशङ्कायामाह **नीलमात्रारब्धे** = नीलेतरशून्य-नीलरूपवदवयवसमवेतेऽवयविनि **तु प्रागभावाभावात्** = चित्ररूपप्रागभावविरहात्, एवकारेण नीलेतरादिविरहव्यवच्छेदः कृतः, **न** समवायेन **चित्रोत्पत्तिः** ।

ननु रूपस्य चित्ररूपाऽसमवायिकारणत्वस्वीकारे रूपसमवायिसमवेते द्रव्ये चित्रप्रागभावेनाऽवश्यं भवितव्यम्, स्वा-समवायिकारणस्य स्वप्रागभावव्याप्यत्वनियमात् । व्याप्यतावच्छेदकसम्बन्धः स्वकार्यप्राक्कालीनत्व-स्वसमवायिसमवेतत्वोभयसंस-र्गः व्यापकतावच्छेदकसम्बन्धश्च स्वरूपसंसर्गः । एतदनभ्युपगमे तु स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन कपालगन्धवति घटेऽपि गन्धप्रागभावविरहः स्यादित्याशङ्कायां कल्पान्तरमावेदयति —> **अस्तु** वेति । समवायेन **चित्रं प्रति चित्रेतररूपाभावस्य** स्वरूपसम्बन्धेन **कार्यसहभावेन हेतुता**इत्यत्राऽनुषज्यते । **एतेन** नीलकपालद्वयारब्धे घटे नीलोत्पादक्षणे चित्ररूपोत्पत्तिप्रसङ्गः **परास्तः,** नीलोत्पादक्षणे घटे चित्रेतररूपाभावस्य चित्रकारणस्य विरहात् । समवायेन **चित्रेतरत्** रूपं **प्रति च** स्वरूपसम्बन्धेन **चित्राभावस्य कार्यसहभावेन हेतुता** स्वीक्रियते । **अनेन** नीलपीतकपालद्वयारब्धे घटे चित्रोत्पत्तिक्षणे नीलाद्युत्पत्तिप्रसङ्गः **प्रतिक्षिप्तः,** चित्रोत्पादसमये घटे चित्राभावस्य नीलादिकारणस्य विरहात् । तदेवाह **अतः** = दर्शितकार्यकारणभावद्वयाभ्युप-गमात् **नातिप्रसङ्गः** = न चित्रोत्पत्तिक्षणे नीलाद्युत्पत्तिलक्षणो नीलाद्युत्पत्तिक्षणे चित्रोत्पत्तिलक्षणोऽतिप्रसङ्ग इत्यर्थः । यथा चैतद्भावना सा त्वनुपदमेवोक्ता । कार्यसहभावेन दर्शितकार्यकारणभावानुपगमे तु नीलोत्पादक्षणे चित्रोत्पादप्रसङ्गः स्यादेवेति सहभावेन तथोक्तिः चित्रं प्रति रूपत्वेन कारणतावादिमते युक्तैवेति भावः।

ऋजवस्तु समवायेन चित्रं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपस्य स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन च चित्रेतराभावस्य

प्रागभाव एवं प्रध्वंस आदि की कल्पना का गौरव अपरिहार्य होने से यह पक्ष मान्य नहीं किया जा सकता' <— ऐसा अपर विद्वानों का वक्तव्य है ।

❀ चित्र रूप के प्रति रूपत्वेन कारणता - रामभद्र सार्वभौम ❀

चित्र० इति । रामभद्र सार्वभौम का यह मन्तव्य है कि 'समवाय सम्बन्ध से चित्र रूप के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से रूपत्वेन रूपसामान्य ही कारण है । ऐसा कार्य-कारणभाव मानने पर नीलकपालद्वय से आरब्ध घट में नील रूप के साथ चित्र रूप की उत्पत्ति की आशंका नहीं की जा सकती, क्योंकि उस घट में चित्र रूप के कारण रूपसामान्य की उपस्थिति होने पर भी चित्र रूप के दूसरे कारण चित्ररूपप्रागभाव का अभाव होने से वह उत्पन्न नहीं हो सकता। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि समवाय सम्बन्ध से चित्र रूप के प्रति स्वरूपसंबन्ध से चित्रेतररूपाभाव भी कार्यसहभावेन कारण है और चित्रेतर रूप के प्रति चित्राभाव कार्यसहभावेन कारण है । अतएव नीलकपालद्वयारब्ध घट में चित्रोत्पत्ति की आपत्ति-क्षण में चित्रेतर नील रूप विद्यमान होने से चित्रेतररूपाभावस्वरूप चित्र रूपकारण के अभाव से चित्रोत्पत्ति का अतिप्रसंग हो नहीं सकता । इसी तरह नीलपीतकपालद्वयारब्ध घट में नीलोत्पत्ति की आपत्ति-क्षण में चित्र रूप विद्यमान होने से

अत्र रूपवन्नीरूपोभयावयवारब्धावयविनि चित्रानुत्पत्तिस्तु स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावाभावरूपजन्यरूपत्वावच्छिन्नसामग्र्यभावादेवेति बोध्यम् ।

❀ जयलता ❀

हेतुत्वं चित्रेतरत्प्रति च स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन चित्राभावस्य हेतुत्वम् । यत्रैकावयवे नीलं तत्र स्वरूपेण चित्रेतरपीताभावस्य विद्यमानत्वात् अपरत्र च पीतं तत्र स्वरूपसम्बन्धेन चित्रेतरनीलाभावस्य सत्त्वात् घटे स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन चित्रेतराभावस्य सत्त्वेन चित्रोत्पत्तिसम्भव इत्येवं रामभद्रसार्वभौममतं **व्याचक्षते, तन्मन्दम्,** एवं सति नीलकपालद्वयारब्धेऽपि घटे चित्रोत्पादप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् घटे स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन चित्रेतरपीताभावस्य सत्त्वात् । **न च** चित्रेतरयावद्रूपाभावस्य निरुक्तसम्बन्धेन तद्धेतुत्वान्नायं दोष इति **वाच्यम्,** गौरवात्, रामभद्रेण तथाऽनभ्युपगमाच्च । **एतेन** प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धगौरवं कारणतावच्छेदकसम्बन्धगौरवञ्च **प्रदर्शितं** इति दिक् ।

ननु समवायेन चित्रं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपत्वावच्छिन्नस्य कारणत्वाऽङ्गीकारे योऽवयवी रूपवता नीरूपेण चावयवेन समारब्धस्तत्रापि चित्ररूपोत्पादः स्यात् चित्रकारणस्य रूपस्य सत्त्वादित्याशङ्कायामाह **अत्र** = समवायेन चित्रं प्रति समवायेन चित्रेतररूपस्य प्रतिबन्धकत्वं स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपस्य **कारणत्वमिति** रामभद्रसार्वभौममते, **रूपवन्नीरूपोभयावयवारब्धावयविनि** = रूपविशिष्ट-रूपशून्योभयावयवाभ्यामारब्धेऽवयविनि **चित्रानुत्पत्तिस्तु स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावाभावरूप-जन्यरूपत्वावच्छिन्नसामग्र्यभावात्** = रूपाभावप्रतियोगिकाभावस्वरूपाया जन्यरूपत्वावच्छिन्नस्य सामग्र्या विरहात् **एवेति बोध्यम् ।** इदमत्राकूतं समवायेन चित्रं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन कारणत्वं समवायेन रूपं प्रति च स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वं रूपाभावाभावस्य च कारणत्वम् । रूपवन्नीरूपोभयावयवारब्धेऽवयविनि स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपस्य चित्रकारणस्य सत्त्वेऽपि स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपप्रतिबन्धकस्य रूपाभावस्य सत्त्वेन रूपकारणस्य रूपाभावाभावस्य विरहान्न चित्रोत्पादप्रसङ्गः सामान्यसामग्रीसमवहिताया एव विशेषसामग्र्याः कार्यार्जकत्वनियमात् । **न च** स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपस्याऽवयविनि सत्त्वे रूपाभावाभावस्यापि तत्र सिद्धिः अभावप्रतियोगिकाभावस्य प्रथमाभावप्रतियोगिस्वरूपत्वादिति **वक्तव्यम्,** रूपाभावाभावस्याऽभावत्वेन प्रतीयमानस्य भावत्वेन ज्ञायमानाद्रूपादतिरिक्तत्वाभ्युपगमात् । एतत्सूचनार्थमेव रूपं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावाभावस्य कारणत्वमुक्तं अन्यथा स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धस्य रूपकारणतावच्छेदकविधयोपादानं कृतं स्यादिति **ध्येयम्** ।

अत्र समवायेन चित्रं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपत्वावच्छिन्नस्य कारणत्वं चित्रेतररूपाभावस्य च स्वरूपसम्बन्धेन कार्यसहभावेन कारणत्वमिति पूर्वमुक्तत्वात् रूपवन्नीरूपोभयावयवारब्धावयविनि चित्रोत्पादापादकस्यैव विरहः, तदा स्वरूपेण चित्रेतररूपाभावस्यैव विरहात् । अतस्तत्र चित्रोत्पत्तिनिराकरणार्थं रूपं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावाभावस्य प्रतिबन्धकाभावविधया कारणाभिधानमनतिप्रयोजनं गौरवग्रस्तञ्च । रूपसामान्यसत्त्वे रूपाभावबुद्ध्यनुदयात् रूपाभावाभावव्यवहाराच्च रूपाभावाभावस्य रूपानतिरिक्तत्ववादिनां प्राचां मतेन सह विरोधश्चात्राधिक इत्यस्माकमाभाति ।

चित्ररूपाभावस्वरूप चित्रेतररूपकारण के अभाव से चित्रेतररूप = नील आदि रूप की उत्पत्ति का अतिप्रसंग नहीं हो सकता' ।

❀ रूप के प्रति रूपाभावाभावत्वेन कारणता ❀

अत्र रूप. इति । **यहाँ यह शंका करना कि —> 'चित्र रूप के प्रति रूपसामान्य को कारण मानने पर तो रूपी और अरूपी दो अवयव से आरब्ध अवयवी में भी चित्र रूप की उत्पत्ति का अनिष्ट प्रसंग आयेगा, क्योंकि स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से चित्ररूपोत्पादक रूपसामान्य (रूपी अवयव का रूप) उस अवयवी में रहता है' <— ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि उस अवयवी में स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से रूपसामान्य, जो चित्ररूप का जनक है, होने पर भी रूपसामान्य की सामग्री नहीं होने से वहाँ चित्र रूप की उत्पत्ति नहीं हो सकती । रूपसामान्य के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से रूपाभावाभाव कारण है । वह अवयवी रूपी और अरूपी अवयवों से आरब्ध होने से स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव का, जो समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले रूप के प्रति प्रतिबन्धक है, आश्रय होने से स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से रूपाभावाभाववाला नहीं है । रूपाभावाभावात्मक रूपसामान्यसामग्री (= रूपत्वावच्छिन्नसामग्री) स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से न रहने पर रूपविशेष = चित्र रूप की उत्पत्ति का आपादन कैसे किया जा सकता है ? सामान्य कार्य की सामग्री होने पर ही विशेष कार्य की सामग्री से कार्यविशेष (यहाँ चित्र रूप) की उत्पत्ति हो सकती है । यहाँ रूपसामान्यकारणतावच्छेदक सम्बन्ध के घटकीभूत स्वपद से रूपाभावाभाव का ग्रहण अभिमत है- यह ज्ञातव्य है ।**

अग्निसंयोगजचित्रे रूपजनकाग्निसंयोगोऽवच्छेदकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनील-जनकाग्निसंयोगाभावादिषट्कं स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावश्च हेतुः । रूपजचित्रे नीलादिजनकविजातीयसंयोगाभावानां बहूनां हेतुताकल्पनापेक्षयाऽग्निसंयोगजचित्रे रूपत्वावच्छिन्नाभावस्यैकस्य तथात्वे लाघवादित्यपि केचित् ।

केचित्तु नीलेतररूपाऽसमवायिकारणत्व-पीतेतररूपाऽसमवायिकारणत्वादिनैव चित्रं प्रति

❀ जयलता ❀

अग्निसंयोगजचित्रे = पाकमात्रजन्यचित्रत्वावच्छिन्नं प्रति **रूपजनकाग्निसंयोगः** = विजातीयतेजःसंयोगः हेतुरित्यत्रानुषज्यते । समवायेन पाकमात्रजचित्रं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन विजातीयतेजःसंयोगस्य हेतुत्वमित्यर्थः, पाकमात्रजं प्रति पाकस्य हेतुत्वौचित्यात् । 'तथापि पीतकपाले नीलजनकतेजःसंयोगसत्त्वदशायां नीलपीतोभयकपालारब्धघटे चित्रोत्पादप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वमि'त्याशङ्कायां हेत्वन्तरमाह **अवच्छेदकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-नीलजनकाग्निसंयोगाभावादिषट्कं** हेतुरित्यत्राप्यनुषज्यते । अवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलजनकतेजःसंयोगादिषट्कस्य समवायेन पाकजं चित्रं प्रति प्रतिबन्धकत्वात् तदभावषट्कस्य प्रतिबन्धकाभावविधया पाकजचित्रकारणत्वम् । तेन पीतकपाले नीलजनकतेजःसंयोगसत्त्वे नील-पीतोभयकपालारब्धे घटे न चित्रप्रसङ्गः, अवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलजनकतेजःसंयोगसत्त्वेन तादृशाभावषट्कविरहात् । यदा नीलजनकतेजःसंयोगादिषट्कमवच्छेदकतासम्बन्धेन नास्ति तदैव रूपजनकतेजःसंयोगेनाऽवयविनि चित्ररूपोत्पादसम्भवः प्रदर्शितकार्यकारणभावबलेनेति भावः । पाकेनावयवरूपनाशानन्तरमेवाऽग्निसंयोगेनाऽवयविनि चित्ररूपारम्भ इति समवायेन पाकजं चित्रं प्रति **स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावश्च हेतुः**, अवयवरूपस्य अग्निसंयोगजचित्रप्रतिबन्धकत्वादित्यभिप्रायः ।

ननु रूपजं चित्रं प्रत्येव नीलादिजनकतेजःसंयोगाभावानां हेतुत्वं कल्प्यतामित्याशङ्कायामाह --> **रूपजचित्रे** = समवायेन रूपजचित्रत्वावच्छिन्नं प्रति **नीलादिजनकविजातीयसंयोगाभावानां** नील-पीत-रक्तादिजनक-विजातीयतेजःसंयोग-प्रतियोगिकाभावानां, **हेतुताकल्पनापेक्षया** = कारणत्वस्वीकारापेक्षया, **अग्निसंयोगजचित्रे** = समवायेन पाकजचित्रत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावस्य, **एकस्य तथात्वे** = कारणत्वकल्पने, **लाघवात्** अर्धकृत-शरीरकृतादिलाघवात् **इत्यपि** चित्ररूपस्थले **कश्चित्** आहेति गम्यते ।

केचित्त्विति । अस्य आहुरित्यनेनान्वयः । **नीलेतररूपाऽसमवायिकारणत्व-पीतेतररूपाऽसमवायिकारणत्वादिनैव** = नीलेतरस्वरूपचित्राऽसमवायिकारणत्वेन, पीतेतरात्मकचित्रासमवायिकारणत्वेन, आदिना रक्तेतरादिस्वरूपाऽसमवायिकारणत्वपरिग्रहः । एवकारेण नीलेतरत्वादिव्यवच्छेदः कृतः । समवायेन **चित्रं** = चित्रत्वावच्छिन्नं **प्रति हेतुता** । तत्फलमाचष्टे --> **इति**

अग्नि.इति । यहाँ अन्य विद्वानों का यह अभिप्राय है कि चित्र रूप के दो भेद हैं (१) पाकज और (२) रूपज। पाक का मतलब है विजातीय अग्निसंयोग । पाकज चित्र रूप के प्रति तीन कारणविशेष हैं (१) रूपजनक अग्निसंयोग, जो स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से पाकज चित्ररूप का कारण है । एवं (२) अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलादिजनकविजातीयाग्निसंयोगाभावादिषट्क भी हेतु है । अवयवी के अमुक अवयव में नीलजनक अग्निसंयोग न हो, अमुक अवयव में पीतजनक अग्निसंयोग न हो, अमुक अवयव में रक्तादिजनक अग्निसंयोग न हो तब अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलजनकाग्निसंयोगाभावादिषट्क की उपस्थिति रहती है, जो अवयवी में चित्र रूप को उत्पन्न करता है । नीलजनक अग्निसंयोगादि के होने पर तो अवयवी में नीलादि रूप की ही उत्पत्ति होती है, न कि चित्र रूप की । अतः नीलजनकाग्निसंयोगाभावादिषट्क को चित्र रूप का हेतु मानना आवश्यक है । (३) एवं अवयवी में स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव भी चित्र रूप का कारण है । अवयव में रूप का नाश होने पर ही अवयवी में चित्र रूप की उत्पत्ति होती है । इस तरह ये तीन चित्र रूप के कारण हैं । यदि रूपजन्य चित्र रूप के प्रति नीलादिजनक अग्निसंयोग के अभावों को हेतु माना जाय तब अनेक में चित्ररूपहेतुता की कल्पना का गौरव होता है । इसकी अपेक्षा पाकज चित्ररूप के प्रति रूपसामान्याभाव को ही स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से हेतु मानना मुनासिब है, क्योंकि वह एक होने से कारणता में लाघव होता है । पाक से अवयवरूपों का नाश होने पर ही अवयवी में पाकज चित्र रूप उत्पन्न हो सकता है- यही मानना संगत है । ऐसा भी किसी विद्वान का वक्तव्य है ।

केचि. इति । अमुक विद्वानों का यह कथन है कि --> 'समवाय सम्बन्ध से चित्र रूप के प्रति नीलेतररूपासमवायिकारणत्व

हेतुतेति पाकरूपयोर्न पार्थक्येन कारणतेत्याहुः । तच्चिन्त्यं असमवायिकारणत्वस्याऽननुगतत्वाद् गुरुत्वाच्च । नीलादिकं प्रति नीलेतररूपादेः प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धः स्वाऽसमवायिकारणसमवायिसमवेतत्वमेव । न चेतरत्वस्यापि सम्बन्धमध्ये प्रवेशाप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहः नीलेतररूपत्वादिना स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतिबन्धकतावा-

❊ जयलता ❊

हेतोः**पाक-रूपयोः** = विजातीयतेजःसंयोगावयवरूपयोः**न** चित्ररूपविशेषं प्रति **पार्थक्येन** = स्वातन्त्र्येण **कारणता** कल्पनीया । समवायेन चित्रं प्रति नीलेतरादेरेव कारणत्वं किन्तु कारणतावच्छेदको न नीलेतरत्वादिः परन्तु चित्राऽसमवायिकारणत्वधर्म एव । कारणतासामान्यस्य कारणस्वरूपत्वात् चित्राऽसमवायिकारणता क्वचित् नीलेतरस्वरूपा क्वचित् पीतेतरात्मिका क्वचिच्च रक्तेतरादि-स्वरूपा वा । समवेतकार्यमात्रस्य स्वाऽसमवायिकारणजन्यत्वनियमस्य सर्वैरेव स्वीकृतत्वान्न चित्रं प्रति पाकरूपयोः पृथक्कारणत्व-कल्पनमित्यतिलाघवमिति केचित्तुमताभिप्रायः ।

आहुरित्यनेनाऽस्वरसः प्रदर्शितः । तदेवाह **तच्चिन्त्यमिति** । चिन्ताबीजाविष्करणायाह —> **असमवायिकारणत्वस्य** असमवायिकारणस्वरूपस्य **अननुगतत्वात्** = सकलचित्रासमवायिकारणसङ्ग्राहकानतिप्रसक्तधर्मविरहितत्वात् नीलेतर-पीतेतरादीनां विजातीयत्वात् । न ह्यननुगतधर्मस्य कारणतावच्छेदकत्वं सम्भवति, व्यभिचारप्रसङ्गात् । असमवायिकारणतात्वेन रूपेण तदनुगतीकृत्य चित्रहेतुतासमर्थनेऽपि असमवायिकारणत्वस्य **गुरुत्वाच्च** न चित्रकारणतावच्छेदकत्वं सम्भवति । स्वसमवायिकारणसमवेतत्वे सति समवेतकार्यजनिनियामकत्वे सति समवेतकार्यस्थितिनियामकत्वस्वरूपाया असमवायिकारणताया नीलेतरत्वाद्यपेक्षया गुरुत्वं स्फुटमेव । अत एव न तस्याः चित्रकारणतावच्छेदकत्वं सम्भवति, सति लघुसमनियतधर्मे गुरौ तदयोगादिति दिक् ।

यस्य चित्रं प्रति हेतुत्वं तस्यैव नीलादिकं प्रति प्रतिबन्धकत्वम् । तत्र प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धमेवाऽऽदर्शयति **नीलादिकं** = समवायेन नीलत्वाद्यवच्छिन्नं **प्रति नीलेतररूपादेः प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धः स्वाऽसमवायिकारणसमवायिसमवेतत्वमेव ।** स्वपदेन चित्ररूपग्रहणम् । तस्याऽसमवायिकारणीभूतस्य नीलेतरादिरूपस्य समवायिनि अवयवे समवेतो योऽवयवी तत्र निरुक्तसम्बन्धेन नीलेतररूपादेः सत्त्वान्न समवायेन नीलाद्युत्पादप्रसङ्गः ।

ननु तथापीतरत्वं नीलादिनिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धशरीरकुक्षौ प्रवेशनीयं न वा ? इत्यत्राऽविनिगमात्रैतत्प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावस्योपादेयत्वं स्यादित्याशङ्कामपाकर्तुमुपक्रमते —> **न चेति** । 'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोःसम' इत्याशयेन प्रतिबन्द्या प्रत्युत्तरयति **नीलेतररूपत्वादिनेति** । नीलादिकं प्रति नीलेतरादेः त्वया नीलेतररूपत्वादिना प्रतिबन्धकत्वमुपेयते मया तु स्वाऽसमवायिकारणत्वेनेत्येवं विशेषेऽपि नीलादिप्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धशरीरे

पीतेतररूपासमवायिकारणत्व आदि रूप मे ही हेतुता है । कपाल में नीलेतररूप का असमवायिकारण, पीतेतररूप का असमवायिकारण होने पर घट में चित्ररूप उत्पन्न होता है । इस कार्य-कारणभाव का स्वीकार करने का लाभ यह है कि चित्र रूप के प्रति पाक और अवयवरूप में स्वतन्त्र कारणता की गुरुतर कल्पना करनी अनावश्यक होती है।' <— मगर विचार करने पर यह वक्तव्य असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि चित्र रूप की कारणतावच्छेदकीभूत असमवायिकारणता असमवायिकारणस्वरूप होने से अननुगत है । समवायिकारणवृत्तित्वे सति समवेतकार्यजनकत्वे सति समवेतकार्यस्थितिनियामकत्वस्वरूप असमवायिकारणता गुरुतरशरीरवाली है- यह तो स्पष्ट ही है । जो धर्म अननुगत (= अनेकत्र अवृत्ति) और गुरु हो वह कारणतावच्छेदक नहीं हो सकता है । अतः निरुक्त नीलेतरस्वरूपासमवायिकारणता, पीतेतरस्वरूपासमवायिकारणता आदि को चित्र रूप का कारणतावच्छेदक नहीं माना जा सकता-यह फलित होता है । यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि समवाय सम्बन्ध से नीलादि रूप के प्रति नीलेतररूपादि प्रतिबन्धक होने से नीलेतर-पीतेतरादि रूप से चित्र रूप की उत्पत्ति होने पर नीलादि रूप की उत्पत्ति का प्रसंग नहीं हो सकता । नीलादिरूपनिष्ठ प्रतिबध्यता से निरूपित नीलेतररूपादिनिष्ठ प्रतिबन्धकता का अवच्छेदकसम्बन्ध है स्वाऽसमवायिकारणसमवायिसमवेतत्व । स्वपद से चित्र रूप का ग्रहण करना अभिमत है । उसके असमवायिकारणीभूत नीलेतर आदि रूप चित्ररूप के समवायी कपालादि अवयव में अवयवी घटादि समवेत होने से घट में नीलादि रूप उत्पन्न नहीं हो सकता । यहाँ यह शंका हो कि —> 'नीलादिप्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धशरीर में इतरत्व का प्रवेश करना या नहीं ? इस विषय में कोई विनिगमक नहीं है । मतलब कि नीलेतरादि को स्वासमवायिकारणसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलादि का

दिनोऽपि तुल्यत्वात् । जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रति च रूपत्वेनैवाऽसमवायिकारणत्वं न तु नीलादौ नीलादेः, प्रयोजनाभावात् । न च प्राक्पक्षोक्तदोषानतिवृत्तिः, सम्बन्धाननुगमस्याऽदोषत्वात्, सम्बन्धनानात्वेऽपि तावत्सम्बन्धपर्याप्तप्रतियोगितावच्छेदकताकात्यन्ताभावघटि-

❀ जयलता ❀

इतरत्वप्रवेशाप्रवेशविनिगमनाविरहस्त्वावयोः समान एवेति यः परिहारस्तत्र त्वया दर्शयिष्यते स एव मयाऽपीत्यत्र मौनमेवावयोः श्रेयस्करमिति भावः ।

रूपत्वस्य कार्याऽकार्यसाधारणतया कार्यतावच्छेदकत्वाऽयोगादाह-**जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रतीति** । सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टरूपत्वस्योपाधितया गुरुत्वेन न कार्यतावच्छेदकत्वं सम्भवतीति प्रागुक्तदिशा जन्यरूपमात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं प्रतीत्यर्थः कार्यः । **रूपत्वेनैवेति** । एवकारेण नीलत्वादेर्व्यवच्छेदः कृतः । समवायेन जन्यरूपमात्रवृत्तिजातिविशेषावच्छिन्नं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपत्वावच्छिन्नस्याऽसमवायिकारणत्वमित्यर्थः । कण्ठत एवकारफलमाह —> **न तु नीलादौ** = समवायेन नीलत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन **नीलादेः** असमवायिकारणत्वमित्यत्रापि घण्टालोलान्यायेनानुषज्यते । अत्र हेतुमाह - **प्रयोजनाभावादिति** । नीलादौ नीलेतररूपादेः प्रतिबन्धकतयैवोपपत्तौ नीलादिकं प्रति नीलादेरसमवायिकारणत्वकल्पने प्रयोजनविरहादित्यर्थः ।

नन्वेवं सत्यवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलादौ समवायेन नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वे समवायेन नीलादौ च स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वमित्येवं प्रतिबन्धकतावच्छेदकादिसम्बन्धभेदे कारणताद्यवच्छेदकसम्बन्धेऽप्यननुगमप्रसङ्ग इत्याशङ्कां निराकर्तुमाह —> **न च प्राक्पक्षोक्तदोषानतिवृत्तिरिति** । यथा प्राक् प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धशरीरे इतरत्वप्रवेशाप्रवेशाविनिगमे उभयग्रहणप्राप्तौ प्रतिबन्धकाभावनिष्ठकारणतावच्छेदकसम्बन्धाननुगमदोषप्रसङ्गः तथा प्रकृते नानाप्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धप्राप्तौ प्रतिबन्धकाभावनिष्ठकारणतावच्छेदकसम्बन्धाननुगमप्रसक्तिरित्याशयः शङ्काकर्तुः । तत्र समाधत्ते - **सम्बन्धाननुगमस्य** = कारणतावच्छेदकादिसंसर्गनानात्वस्य, **अदोषत्वात्**, कारणतावच्छेदकधर्मादिकुक्षौ तदप्रवेशात् । 'सम्बन्धाननुगतौ कथं कारणताद्यभेदः ?' इत्याशङ्कामपाकर्तुमाह-**सम्बन्धनानात्वेऽपि तावत्सम्बन्धपर्याप्तप्रतियोगितावच्छेदकताकात्यन्ताभावघटितायाः** = स्वाश्रयत्व-स्वाश्रयसमवेतत्वादिसम्बन्धपर्याप्तायाः प्रतियोगितावच्छेदकताया निरूपकेणाऽ-

प्रतिबन्धक मानना या स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से ? इस विषय में कोई निर्णायक युक्ति नहीं है' <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से नीलादि के प्रति नीलेतरादि को नीलेतरत्वादिरूप से स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से प्रतिबन्धक माननेवाले वादी के मत में भी यह दोष समान ही है, क्योंकि 'नीलेतरादि रूप स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से नीलादि का प्रतिबन्धक है या स्वासमवायिकारणसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से ?' इस समस्या का कोई प्रत्युत्तर इस मत में भी नहीं है ।

◙ जन्यरूप के प्रति रूपसामान्य कारण ◙

जन्य.इति । **यहाँ यह ज्ञातव्य है कि समवाय सम्बन्ध से जन्यरूपत्वावच्छिन्न के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से रूप ही असमवायिकारण है । जब अवयव में रूप होगा तब स्वसामग्री से अवयवी में रूप उत्पन्न होगा । इस सामान्य कार्य - कारणभाव से ही निर्वाह हो जाने से समवाय सम्बन्ध से नीलादि के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलादि को असमवायिकारण मानने का कोई प्रयोजन नहीं होने की वजह तादृश अनेक कार्य-कारणभाव के स्वीकार की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि नीलादि के प्रति नीलेतरादि रूप को प्रतिबन्धक मानने से ही नीलेतराभावादिस्वरूप प्रतिबन्धकाभावात्मक कारण से नीलादि रूप की उत्पत्ति हो सकती है । अतएव नीलादि के प्रति नीलादि को स्वतंत्रतया कारण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । यहाँ यह शंका हो कि —> 'नीलादि के प्रति नीलादि को कारण न मान कर नीलेतरादि रूप को प्रतिबन्धक मानने पर समवाय सम्बन्ध से नीलादि के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलेतरादि को प्रतिबन्धक मानना होगा और अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवाय सम्बन्ध से नीलेतरादि को प्रतिबन्धक मानना होगा, अन्यथा नीलपीतकपालद्वयारब्ध घट में उत्पन्न होनेवाले नील रूप की नील कपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि अवच्छेदकतासम्बन्ध से नील रूप का तब कोई कारण न होगा। मगर ऐसा स्वीकार करने में प्रतिबन्धकाभावनिष्ठ कारणता का अवच्छेदक सम्बन्ध स्वाश्रयत्व और स्वाश्रयसमवेतत्व होने से कारणतावच्छेदक सम्बन्ध में अननुगम दोष आयेगा। जैसे पहले प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धशरीर में इतरत्व के प्रवेश - अप्रवेश से प्रयुक्त विनिगमनाविरह से दोनों का स्वीकार करने पर प्राप्त प्रतिबन्धकाभावनिष्ठ कारणता के अवच्छेदक सम्बन्ध में अननुगम दोष आता था' <— तो यह अनुचित है,**

तायाः तावत्सम्बन्धपर्याप्तप्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकताकान्योन्याभावघटिताया वा व्याप्तेरभेदेन कारणताया अभेदात् ।

❀ जयलता ❀

त्यन्ताभावेन गर्भितायाः, व्याप्तेः इदं विशेषणम् । लाघवानुरोधात् कल्पान्तरमाह-**तावत्सम्बन्धपर्याप्तप्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकताकान्योन्याभावघटितायाः** = निरुक्तसम्बन्धपर्याप्तायाः प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकताया निरूपकेणाऽन्योन्याभावेन घटितायाः, **व्याप्तेः अभेदेन** = भेदविरहेण, **कारणताया अभेदात्** । अयं भावः कार्यतावच्छेदकसम्बन्धेन स्वाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन यत्र कार्यं तत्र कारणतावच्छेदकसम्बन्धेन यावत्कारणतावच्छेदकावच्छिन्नसत्त्वमिति कार्ये कारणाभाववद्वृत्त्यभावप्रतियोगित्वाभावरूपा कारणवदन्यवृत्त्यभावप्रतियोगित्वाभावस्वरूपा वा व्याप्तिः वर्तते । तत्र कारणात्यन्ताभावश्च यावत्कारणतावच्छेदकसम्बन्धेषु पर्याप्ता या कारणनिष्ठप्रतियोगिताया अवच्छेदकता तन्निरूपको ग्राह्यः । द्वितीयव्याप्तिघटकः कारणवत्प्रतियोगिकभेदश्च सकलकारणतावच्छेदकसम्बन्धेषु पर्याप्ता या कारणवन्निष्ठभेदीयप्रतियोगिताया अवच्छेदकीभूतकारणनिष्ठावच्छेदकत्वस्यावच्छेदकता तन्निरूपको बोध्यः । यावन्तः कारणतावच्छेदकसम्बन्धाः तावत्सम्बन्धपर्याप्तायाः प्रतियोगितावच्छेदकतायाः प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकताया वा अभिन्नत्वेन तद्घटिता व्याप्तिरपि न भिद्यते । तदभेदे च कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्यतावच्छेदकसम्बन्धेन कार्याधिकरणवृत्त्यत्यन्ताभावनिरूपितप्रतियोगित्वाभावस्वरूपा व्याप्तिनिरूपिका व्यापकतात्मिका कारणताऽपि नैव विभिद्यते इति विभावनीयम् ।

यदि च कारणतावच्छेदकसम्बन्धाननुगतौ कारणताया अवश्यं भेदस्तर्हि चाक्षुषसामान्यं प्रति चक्षुष्ट्वेन कारणत्वाभिधानमपि कथं सङ्गच्छेत ? न हि चक्षुरेकयैव प्रत्यासत्त्या स्वविषयदेशे चाक्षुषं जनयति । विषयतासम्बन्धेन द्रव्यचाक्षुषं प्रति चक्षुषः स्वसंयोगसम्बन्धेन कारणत्वात्, रूपादिचाक्षुषं प्रति स्वसंयुक्तसमवायेन, रूपत्वादिचाक्षुषं प्रति स्वसंयुक्तसमवेतसमवायेन, द्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषं प्रति स्वसंयुक्तविशेषणतया, रूपादिवृत्त्यभावचाक्षुषं प्रति स्वसंयुक्तसमवेतविशेषणतया, रूपत्वादिवृत्त्यभावचाक्षुषं प्रति च स्वसंयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणतया । कारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तिभेदेऽपि निरुक्तरीत्या कारण-

---

क्योंकि सम्बन्धाननुगम वास्तव में दोष ही नहीं है । कारणतावच्छेदक धर्म आदि में ही अननुगम दोषस्वरूप है, न कि कारणतावच्छेदकादि सम्बन्ध में अननुगम। कारणतावच्छेदक आदि धर्म में अननुगम होने पर कारणता भी अननुगत = विभिन्न हो जाने से कारणतावच्छेदक धर्म में अननुगम दोषात्मक माना गया है । कारणताअवच्छेदक सम्बन्ध में अननुगम होने पर कारणता अननुगत = भिन्न होती नहीं है । अतएव वह दोषस्वरूप नहीं है । कारणतावच्छेदकसम्बन्ध में अननुगम होने पर भी कारणता अननुगत नहीं बनने का कारण क्या है ? इस समस्या का समाधान सुनिये, कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध से स्वाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन कार्य जहाँ रहता है वहाँ कारणतावच्छेदकसम्बन्ध से यावत् कारण रहते हैं । अतः कार्य व्याप्य है और कारण व्यापक है । कार्य में जो कारण या कारणता से निरूपित व्याप्ति रहती है वह द्विविध है (१) कारणाभाववद्वृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगिताऽभावात्मक एवं (२) कारणवदन्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावस्वरूप । कारणतावच्छेदकसम्बन्ध से कारण जहाँ रहते नहीं हैं वहाँ कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्य नहीं रहने से वहाँ रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी कार्य बनता नहीं है । अतएव तादृशप्रतियोगित्वाभावस्वरूप व्याप्ति कार्य में रहेगी । एवं कारणतावच्छेदकसम्बन्ध से कारणविशिष्ट से भिन्न में रहनेवाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता कार्य में रहती नहीं है । प्रथम व्याप्ति के घटक कारणात्यन्ताभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता (= अवच्छेदकसंसर्गता) यावत्कारणतावच्छेदकसम्बन्ध में पर्याप्त (= पर्याप्तिसम्बन्ध से रहनेवाली) हो वही अभिमत है, जो कारणतावच्छेदकसम्बन्ध अनेक होने पर भी एक ही है, जैसे घट और पट अलग होने पर भी उनमें पर्याप्त द्वित्व संख्या अभिन्न ही है । कारणाभावीयप्रतियोगिता-अवच्छेदकता अभिन्न होने से उससे घटित व्याप्ति भी भिन्न होती नहीं है । एवं दूसरी व्याप्ति के घटक कारणवदन्योन्याभाव (= कारणवदन्यत्व) के प्रतियोगी कारणविशिष्ट में रहनेवाली भेदप्रतियोगिता के अवच्छेदक = कारण में रहनेवाली भेदप्रतियोगितावच्छेदकता के अवच्छेदक सम्बन्ध में रहनेवाली भेदप्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकता भी यावत्कारणतावच्छेदकसम्बन्ध में पर्याप्त हो वही अभिप्रेत है । वह एक होने से उससे घटित उपर्युक्त द्वितीय व्याप्ति भी भिन्न होती नहीं है । इस तरह कारणतावच्छेदक सम्बन्ध में अननुगम होने पर भी द्विविध व्याप्ति विभिन्न होती नहीं है । व्याप्ति अभिन्न होने से व्याप्तिनिरूपित कारणता भी बदलती नहीं है । अतएव कारणतावच्छेदकसम्बन्ध में अननुगम दोषात्मक नहीं है ।

❀ कारणतावच्छेदक सम्बन्ध में अननुगम निर्दोष ❀

अत एव. इति । उपर्युक्त रीति से कारणतावच्छेदकसम्बन्ध में अननुगम कारणताभेदक न होने से ही संयोग आदि

अत एवाननुगताभिरपि संयोगादिप्रत्यासत्तिभिः चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति चक्षुष्ट्वेन कारणतोक्तिः प्राचां सङ्गच्छते । इत्थञ्च नानारूपवदवयवारब्धे नीलादिबाधाच्चित्ररूपसिद्धिर्निराबाधा । चित्रं प्रत्यपि प्रागुक्तदिशा नीलेतरपीतेतरत्वादिनैव हेतुता । नीलेतरत्वञ्च नीलतरेतरत्वादिकं बोध्यं, तेन नीलतर-नीलतमाभ्यामारब्धेऽपि तदुत्पत्तिर्निरपायेत्यादिकं न्यायवादार्थे प्रपञ्चितमस्माभिः ।

❀ जयलता ❀

तायां अभेदः स्वीक्रियेत तदैवेदं सुष्ठु सङ्गच्छेतेत्याशयेनाऽऽह - **अत एव** = सम्बन्धनानात्वेऽपि तावत्सम्बन्धपर्याप्तनिरूपकावच्छेदकत्वाऽभेदप्रयुक्तव्याप्त्यभेदप्रयुक्तकारणत्वाभेदाऽङ्गीकारादेव, **अननुगताभिः** = साधारणानतिप्रसक्तधर्मशून्याभिः **अपि संयोगादिप्रत्यासत्तिभिः** विषयतासम्बन्धेन **चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति** चक्षुषः **चक्षुष्ट्वेन कारणतोक्तिः प्राचां** नैयायिकानां **सुष्ठु सङ्गच्छते** ।

इत्थञ्च = नीलादौ नीलेतररूपादिप्रतिबन्धकत्वेनैवोपपत्तौ तत्र नीलादिहेतुतायां मानाभावेन च, **नानारूपवदवयवारब्धे** अवयविनि **नीलादिबाधात् चित्ररूपसिद्धिः निराबाधा** = रूपत्वावच्छिन्नसामग्र्याः सत्त्वात् नीलादिषट्कसामग्रीबाधाच्च चित्ररूपसिद्धेरेव प्रामाणिकत्वम्, व्याप्यवृत्तेरवच्छेदकाऽयोगात्, नीलेतरादौ नीलादेः प्रतिबन्धकत्वे विनिगमनाविरहाच्चाऽवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वापेक्षया समवायेन नीलादिकं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतररूपादेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया एव न्याय्यत्वात् । **न चैवं** रूपत्वावच्छिन्नसामग्र्या चित्ररूपोत्पादे स्वीक्रियमाणे चित्रत्वं तत्राऽऽकस्मिकं स्यात्, ततश्च नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा प्रसज्येतेति **शङ्कनीयम्**, नीलेतर-पीतेतरादेः तद्धेतुत्वाभ्युपगमादित्याशयेनाह —> **चित्रं प्रति** = समवायेन चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति **अपि प्रागुक्तदिशा** स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन **नीलेतर-पीतेतरत्वादिनैव हेतुता**, न तु रूपत्वादिना । अतो न नानारूपवदवयवारब्धेऽवयविनि चित्रत्वस्याकस्मिकत्वप्रसङ्ग इति भावः ।

नन्वेवं सति नीलतर-नीलतमावयवाभ्यामारब्धेऽवयविनि समवायेन चित्ररूपं न स्यात्, तदवयवयोः नीलेतरादेः पीतादिरूपस्य विरहेणाऽवयविनि स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतर-पीतेतरादिरूपविरहादित्याशङ्कायामाह- **नीलेतरत्वञ्च नीलतरेतरत्वादिकं बोध्यमिति**। न तु पीतत्वादिस्वरूपमिति गम्यम् । तत्फलमाह —> **तेन** = नीलतरेतरत्वादिस्वरूपनीलेतरत्वादिस्वीकारेण, **नीलतर-नीलतमाभ्यां** अवयवाभ्यां **आरब्धे** अवयविनि **अपि** किं पुनः नीलपीतारब्ध इत्यपिशब्दार्थः, **तदुत्पत्तिः** = समवायेन चित्ररूपजातिः, **निरपाया** अवयविनि स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलतर-नीलतमरूपस्वरूपनीलेतरादिषट्कसत्त्वात् । **न्यायवादार्थ** इति । साम्प्रतं नायं ग्रन्थ उपलभ्यत इति चेखिद्यतेऽस्मन्मनः ।

सम्बन्ध अननुगत होने पर भी यावत् चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुष्ट्वेन चक्षु की कारणता का प्रतिपादन करनेवाला प्राचीननैयायिकवचन भी संगत हो सकता है । आशय यह है कि विषयता सम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष के प्रति चक्षु संयोगसम्बन्ध से कारण है । रूपादिचाक्षुष के प्रति स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्ध से एवं रूपत्वादिचाक्षुष के प्रति स्वसंयुक्तसमवेतसमवाय आदि सम्बन्ध से कारण है । स्वसंयोग, स्वसंयुक्तसमवाय आदि सम्बन्ध अननुगत होने पर भी चाक्षुषकारणतावच्छेदकसम्बन्धविधया तभी मान्य हो सकते हैं, यदि प्रदर्शित रीति से कारणतावच्छेदकसम्बन्ध अननुगत होने पर भी कारणता का भेद न माना जाय । अब हम प्रस्तुत विषय की ओर चलते हैं । प्रदर्शित पद्धति से अवयविरूपसामान्य के प्रति अवयवरूप को असमवायिकारण मानने से एवं नीलादि के प्रति नीलेतरादि रूप को प्रतिबन्धक मानने से अनेकरूपवाले अवयवों से आरब्ध अवयवी में नीलादि रूप की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से नीलादि के अधिकरणविधया अभिमत अवयवी में स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से नीलेतरादि रूप रहते हैं । निरुक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की वजह अनेकरूपवाले अवयवों में समवेत अवयवी में नीलादि रूप बाधित होने से एवं रूपत्वावच्छिन्न की सामग्री विद्यमान होने से वहाँ समवाय से चित्र रूप की सिद्धि निराबाध होगी। हाँ, चित्र रूप की उत्पत्ति रूपत्वावच्छिन्न की सामग्री से नहीं होती है, किन्तु पूर्वदर्शित रीते से नीलेतर, पीतेतर आदि रूप से ही होती है । समवाय से चित्र रूप के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से नीलेतर - पीतेतरत्वादिरूप से असमवायिकारणता विवक्षित है । यहाँ कारणतावच्छेदकधर्मघटकीभूत नीलेतरत्व नीलतरेतरत्वादिस्वरूप अभिमत है, न कि पीतत्वादिस्वरूप । इसका लाभ यह होगा कि एक अवयव में नीलतर रूप एवं अन्य अवयव में नीलतम रूप होने पर भी अवयवी में समवाय सम्बन्ध से चित्र रूप की सिद्धि निराबाध होगी, क्योंकि नीलतर से अन्य नीलतम एवं नीलतम से इतर नीलतर रूप अवयवी में स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से रहते हैं । यदि नीलेतररूपपद से पीतादि रूप ही लिया जाय तब नीलतर - नीलतमरूपवाले

विजातीयचित्रं प्रति रूपविशिष्टरूपत्वेनैव हेतुत्वम् । वैशिष्ट्यञ्च स्वविजातीयत्व-स्वसंवलितत्वोभयसम्बन्धेन, स्ववैजात्यञ्च चित्रत्वातिरिक्तं यत् स्ववृत्ति तद्भिन्नधर्मसमवायित्वम् । स्वसंवलितत्वञ्च स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायिवृत्तित्वम् । विजातीयचित्रं प्रति च

❀ जयलता ❀

चित्ररूपं द्विविधं रूपमात्रजं रूपमात्रजाऽतिरिक्तञ्च । ते चित्रत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्ने परस्परं विजातीये च । तत्र प्रथममुद्दिश्याहुः —> **विजातीयचित्रं** = समवायेन रूपमात्रजन्यचित्ररूपमात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं **प्रति रूपविशिष्टरूपत्वेनैव हेतुत्वम्** । [illegible] । विजातीयचित्रकारणतावच्छेदकघटकीभूतं वैशिष्ट्यं केन सम्बन्धेन ग्राह्यं ? इत्याशङ्कायामाहुः —> **वैशिष्ट्यञ्च स्वविजातीयत्व-स्वसंवलितत्वोभयसम्बन्धेन** उपादेयम् । एतत्सम्बन्धमेव स्पष्टयति **स्ववैजात्यञ्च चित्रत्वातिरिक्तं यत् स्ववृत्ति तद्भिन्नधर्मसमवायित्वमिति** । यथा नीलपीतकपालद्वयारब्धघटस्थले स्वपदेन नीलरूपग्रहणे चित्रत्वभिन्नं यत् नीलरूपवृत्ति नीलत्व-रूपत्व-गुणत्वादिकं तद्भिन्नस्य पीतत्वधर्मस्य समवायेनाश्रयतायाः कपालपीतरूपे सत्त्वेन निरुक्तस्वविजातीयत्वसम्बन्धेन नीलरूपविशिष्टं पीतरूपं भवति । **स्वसंवलितत्वं च** = प्रकृते नीलरूपसंवलितत्वं हि पीतरूपनिष्ठं **स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायिवृत्तित्वमिति** । स्वपदेनाऽत्र कपालनीलरूपग्रहणं, तत्समवायिनि नीलकपाले समवेतं यत् घटद्रव्यं तस्य समवायेनाश्रयीभूते पीतकपाले वृत्ति = समवेतं पीतरूपमिति स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायिवृत्तित्व-सम्बन्धेनाऽपि नीलरूपविशिष्टं पीतरूपं भवति । यदि च द्वितीयसम्बन्धकुक्षौ द्रव्यपदनिवेशो न स्यात् तर्हि स्वसमवायिसमवेतविधया नीलकपालवृत्तिकपालत्व-द्रव्यत्व-नीलरूपादेरपि ग्रहणं प्रसज्येतेति तदपोहाय द्रव्यपदनिवेशः । द्वितीयसम्बन्धानुपादाने तु नील-कपालद्वयारब्धघटेऽपि समवायेन चित्रापत्तिः प्रसज्येत, स्वविजातीयत्वसम्बन्धेन पीतरूपविशिष्टनीलरूपस्य स्वसमवायिसम-वेतत्वसम्बन्धेन तत्र सत्त्वात् । केवलं स्वसंवलितत्वसम्बन्धेनैव रूपविशिष्टरूपत्वेन तथात्वेऽपि स एव दोषः, स्वसमवायिसम-वेतद्रव्यसमवायिवृत्तित्वलक्षण-स्वसंवलितत्वसम्बन्धेन नीलरूपविशिष्टनीलरूपस्य स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलकपालद्वयारब्धे घटे सत्त्वात् । अतः प्रकृते उभयसम्बन्धेन वैशिष्ट्योपादानम् । निरुक्तस्ववैजात्य-स्वसंवलितत्वोभयसम्बन्धेन रूपविशिष्टरूपं स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन यत्र तत्र समवायेन रूपमात्रजं विजातीयं चित्ररूपमुत्पद्यत इति कार्यकारणभावः । न च प्रकृते स्वत्वाननुगमस्य दोषत्वम्, सम्बन्धमध्ये तत्प्रवेशात् । सम्बन्धकुक्षिप्रविष्टानां केवलं परिचायकत्वं न तु विशेषणत्वमिति सम्बन्धान-नुगमस्याऽदोषत्वमित्यत्राऽभिप्रायः । द्वितीयचित्ररूपमुद्दिश्याह —> **विजातीयचित्रं प्रति च** = रूपमात्रजाऽतिरिक्तचित्रमात्रवृत्ति-

अवयवों से आरब्ध अवयवी में चित्र रूप की उत्पत्ति कथमपि संगत हो सकती नहीं है । इस विषय का अधिक विस्तार से निरूपण न्यायवादार्थ ग्रन्थ में प्रकरणकार ने किया है । अतः उस ग्रन्थ को देखने की सूचना अधिक जिज्ञासु को मिलती है । मगर खेद की बात यह है कि वर्तमानकाल में यह ग्रन्थरत्न उपलब्ध होता नहीं है ।

❀ विजातीय चित्र रूप की कारणता का विचार ❀

विजा.इति । यहाँ अमुक विद्वानों का यह मन्तव्य है कि 'चित्र रूप के दो प्रकार हैं-रूपज चित्ररूप और पाकज चित्ररूप, जो परस्पर विजातीय हैं । प्रथम चित्र रूप अर्थात् रूपमात्रजन्य विजातीय चित्र रूप के प्रति स्वविजातीयत्व-स्वसंवलितत्व उभय सम्बन्ध से रूपविशिष्टरूप कारण है । इन सम्बन्धों में स्वविजातीयत्वपद का अर्थ है चित्रत्वभिन्न स्ववृत्ति धर्मों से भिन्न धर्म का समवाय सम्बन्ध से आश्रयत्व और स्वसंवलितत्वपद का अर्थ है समवाय सम्बन्ध से स्व के आश्रय में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले द्रव्य का जो समवाय सम्बन्ध से आश्रय, उसमें वृत्तित्व । जैसे किसी घट की उत्पत्ति नील और पीत कपाल से होती है तब उस घट में विजातीय चित्र रूप की, जो रूपमात्रजन्य है, उत्पत्ति होती है; क्योंकि कपालगत नील रूप अन्यकपालगत पीत रूप से विशिष्ट बनता है । वह इस तरह-स्वपद से ग्राह्य कपालगत नील रूप, उसमें वृत्ति चित्रत्वभिन्न धर्म नीलत्व, रूपत्व आदि । उनसे भिन्न धर्म है पीतत्व, जिसका समवाय से आश्रय है अन्यकपालगत पीत रूप । अतः स्वविजातीयत्वसम्बन्ध से नीलरूपविशिष्ट पीत रूप बनता है । इस तरह दूसरे सम्बन्ध के घटकीभूत स्वपद से प्रतिपाद्य है कपालगत नील रूप, जिसका समवायसम्बन्ध से आश्रय नील कपाल है । उसमें समवाय सम्बन्ध से घट द्रव्य रहता है, जिसका समवाय सम्बन्ध से आश्रय है पीत कपाल । उस पीत कपाल में वृत्ति है पीत रूप । अतः स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायिवृत्तित्वसम्बन्ध से नीलरूपविशिष्ट पीत रूप हो सकता है । इस तरह उपर्युक्त दोनों सम्बन्धों से रूपविशिष्टरूप, जो कि समवाय से उत्पन्न

विजातीयतेजःसंयोगत्वेन हेतुतेत्यप्याहुः ।

चित्रत्वावच्छिन्नं प्रत्येव स्वविजातीयत्व-स्वसंवलितत्वोभयसम्बन्धेन रूपाऽसमवायिकारणविशिष्टरूपाऽसमवायिकारणत्वेन हेतुता । रूपासमवायिकारणत्वञ्च जनकताविशेषसम्बन्धेन रूपवत्त्वमेवेत्यपरेतु ।

मतद्वयमिदं स्फुटगौरवग्रस्तम् ।

❁ जयलता ❁

विजात्यवच्छिन्नं हि **विजातीयतेजःसंयोगत्वेन हेतुतेति** । समवायेन रूपमात्रजन्यातिरिक्तचित्रं प्रति समवायेन विजातीयतेजःसंयोगस्य कारणत्वमित्यर्थः । आहुरित्यनेनाऽस्वरसः प्रदर्शितः । तद्बीजञ्च वक्ष्यते ।

प्रकृते एकेषामभिप्रायमाह - **चित्रत्वावच्छिन्नं प्रत्येवेति** । एवकारेण विजातीयचित्रत्वावच्छिन्नं प्रतीत्यस्य व्यवच्छेदः कृतः । **स्वविजातीयत्व-स्वसंवलितत्वोभयसम्बन्धेन** निरुक्तस्वरूपेण रूपविशिष्टरूपस्य **रूपाऽसमवायिकारणविशिष्टरूपासमवायिकारणत्वेन हेतुता** । असमवायिकारणत्वस्य समवायिकारणवृत्तित्वे सति समवेतकार्यजनिनियामकत्वे सति समवेतकार्यस्थितिनियामकत्वरूपतया तद्घटितकारणतावच्छेदकस्वीकारे महागौरवमित्याशङ्कामपाकर्तुमाह **रूपाऽसमवायिकारणत्वञ्च जनकताविशेषसम्बन्धेन** = स्वाऽसमवायिकारणतासम्बन्धेन **रूपवत्त्वमेव** = अवयविरूपवत्त्वमेव ।

तद्दूषयितुमुपक्रमते —> **मतद्वयमिदं स्फुटगौरवग्रस्तमिति** । मतद्वयेऽपि निरुक्तोभयसम्बन्धेन रूपविशिष्टरूपस्य स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन तत्कारणत्वस्य तुल्यत्वेऽपि प्रथममते रूपविशिष्टरूपत्वस्य कारणतावच्छेदकधर्मत्वं द्वितीयकल्पे च

होनेवाले विजातीय चित्ररूप का कारण है, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से उस घट में रहता है । अतः उस घट में रूपमात्रजन्य चित्र रूप की समवाय सम्बन्ध से उत्पत्ति निराबाध है । दूसरे विजातीय चित्र रूप का, जो केवल पाकज है, कारण विजातीयतेजःसंयोग है। विजातीय अग्निसंयोग अवयवी में रहने पर वहाँ विजातीय (पाकज) चित्र रूप की समवाय सम्बन्ध से उत्पत्ति होती है । इस तरह चित्ररूपस्थल में द्विविध कार्य-कारणभाव का स्वीकार करने से ही व्यभिचार आदि का अवकाश न होने से अन्यविध कार्य-कारणभाव का स्वीकार असंगत है ।

❁ असमवायिकारणतागर्भित चित्ररूपसामान्यकारणता ❁

चित्रत्वा.इति । इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह वक्तव्य है कि —> 'चित्ररूपसामान्य के प्रति ही स्वविजातीयत्व और स्वसंवलितत्व दोनों सम्बन्ध से रूपाऽसमवायिकारणविशिष्टरूपाऽसमवायिकारणत्वस्वरूप धर्म से ही रूपविशिष्टरूप में कारणता है । रूपाऽसमवायिकारण में रहनेवाली रूपासमवायिकारणता जनकताविशेषसम्बन्ध से रूपवत्त्वस्वरूप ही है, न कि समवायिकारणसमवेतत्वे सति समवेतकार्योत्पत्तिनियामकत्वे सति समवेतकार्यस्थितिनियामकत्वस्वरूप । अवयवरूप अवयविरूप का जनक होने से जनकताविशेषसम्बन्ध से अवयविरूप अवयवरूप में रहेगा । अवयवरूप में जनकत्वविशेषसम्बन्ध = असमवायिकारणतासंबंध से रहनेवाला रूपवत्त्व ही अवयवरूपनिष्ठ रूपाऽसमवायिकारणता है । अतः असमवायिकारणता सम्बन्ध से अवयविरूपवत्त्वविशिष्ट = रूपासमवायिकारण जब स्वविजातीयत्व - स्वसंवलितत्वोभय सम्बन्ध से रूपाऽसमवायिकारण से, जो स्वयं भी जनकतासंसर्ग से रूपवत्त्वविशिष्ट है, विशिष्ट बनता है तब अवयवी में वह स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से रह कर वहाँ समवाय सम्बन्ध से चित्ररूप को उत्पन्न करता है' <— । उपर्युक्त मत में और इस मत में चित्र रूप का कारण स्वविजातीयत्व-स्वसंवलितत्व उभयसम्बन्ध से रूपविशिष्टरूप ही है । मगर प्रथम मत में कारणतावच्छेदक धर्म रूपविशिष्टरूपत्व है, जब कि दूसरे मत में कारणतावच्छेदक धर्म प्रदर्शित रूपाऽसमवायिकारणत्वविशिष्टरूपाऽसमवायिकारणत्व है । दूसरी विशेषता यह है कि प्रथम मत में चित्र रूप को द्विविध-रूपमात्रजन्य और पाकमात्रजन्य माना गया है। जब कि द्वितीय मत में चित्र रूप को केवल रूपजन्य ही माना गया है । मतलब कि विजातीय अग्निसंयोग प्रथमतः अवयव में ही रूप को उत्पन्न करेगा और पाकजन्य नील-पीतादि अवयवरूप ही निरुक्त उभयसम्बन्ध से रूपविशिष्टरूपात्मक बन कर निरुक्त रूपासमवायिकारणविशिष्ट-रूपासमवायिकारणत्वधर्म से स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से अवयवी में रह कर वहाँ समवाय सम्बन्ध से चित्र रूप को उत्पन्न करेगा । विजातीय अग्निसंयोग साक्षात् अवयवी में चित्र रूप को उत्पन्न नहीं करता है । अतः द्विविध कार्य-कारणभाव के स्वीकार की कोई आवश्यकता द्वितीय मत में नहीं है ।

मगर प्रकरणकार श्रीमद्जी उपर्युक्त दोनों मत गौरवदोषग्रस्त होने से मान्य करते नहीं हैं । कारणतावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणशरीर में गौरव तो दोनों मत में है । प्रथम मत में द्विविध कार्य-कारणभाव के स्वीकार का गौरव अधिक है । यद्यपि द्वितीय

ननु —> नीलपीतोभयाभाव-पीतरक्तोभयाभावादीनां स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धाव-च्छिन्नप्रतियोगिताकानां समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां च विजातीयविजातीयपाकोभयाभा-

❀ जयलता ❀

रूपाऽसमवायिकारणविशिष्टरूपासमवायिकारणत्वस्य तथात्वमिति विशेषस्तथापि कारणतावच्छेदकतावच्छेदकसंसर्गशरीरगौरवमुभयत्रैव, प्रथमकल्पे द्विविधकार्यकारणभावकल्पनं चित्ररूपवैजात्यद्वयकल्पनञ्चाधिकम् । यद्यपि द्वितीयकल्पेऽवयवेषु पाकात् नानारूपोत्पत्त्यनन्तरमेव निरुक्तोभयसम्बन्धेन रूपविशिष्टरूपादिमाऽवयविनि समवायेन चित्ररूपोत्पत्तिः स्वीक्रियत इति न द्विविधकार्यकारणभावकल्पनागौरवं तथापि द्वितीयकल्पे कारणतावच्छेदकशरीरे महागौरवम्, रूपासमवायिकारणविशिष्टासमवायिकारणत्वस्य रूपवत्त्वविशिष्टविशिष्टरूपवत्त्वविशिष्टत्वस्वरूपत्वाभ्युपगमात्, आद्यान्तिमवैशिष्ट्यं जनकताविशेषसम्बन्धेन मध्यमं च तत् निरुक्तोभयसम्बन्धेन बोध्यम् । अप्रामाणिकगौरवग्रस्तत्वेन मतद्वयमनुपादेयमेवेत्यभिप्रायः ।

ननु समवायेनाऽवयविनि चित्ररूपं क्वचित् स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलपीतोभयस्य पीतरक्तोभयादेर्वा सत्त्वे जायते, क्वचिच्च समवायेन विजातीयरूप-विजातीयरूपजनकपाकयोः सत्त्वे उपजायते । अतस्तदनुरोधेन लाघवात् स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां नीलपीतोभय-पीतरक्तोभयाभावादीनां समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां विजातीयरूप-विजातीयरूपजनकपाकोभयाभावादीनां स्वरूपसम्बन्धेन यावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक एक एवाभावः समवायेन चित्रसामान्यं प्रति हेतुरित्यपरेषां मतं खण्डयितुमुपदर्शयति —> **ननु** इति । तेनेत्यनेनाऽग्रेऽस्यान्वयः । उक्तप्रायमेतत् विशेषभावना त्वेवम् नीलपीतकपालद्वयारब्धे घटे स्वसमवायिसमवेतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य नील-पीतोभयाभावस्य स्वरूपसम्बन्धेन विरहात् निरुक्तयावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः स्वरूपसम्बन्धेन वर्तत इति तत्र समवायेन चित्रोत्पत्तिः सुघटा । नीलकपालद्वयारब्धे घटे तु स्वरूपसम्बन्धेन निरुक्ता नीलपीतोभयादयः विजातीयरूप-विजातीयरूपजनकपाकोभयाभावादयश्च वर्तन्त इति स्वरूपसम्बन्धेन निरुक्तयावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याऽभावस्य विरहेण चित्ररूपं नोपजायते, कारणविरहे कार्योत्पादाऽयोगात् । नीलकपालद्वयारब्धे घटे केवलं प्रथमनीलकपालावच्छेदेन समवायेन पीतरूपजनकविजातीयपाकसत्त्वदशायां तु समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य नीलरूपलक्षणविजातीयरूप-तद्विजातीयपीतरूपजनकपाकोभयाभावस्य स्वरूपसम्बन्धेन विरहेण निरुक्तयावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याभावस्य स्वरूपेण सत्त्वात् समवायेन चित्ररूपोत्पत्तिर्निराबाधा । ततश्च समवायेन चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति स्वरूपसम्बन्धेन निरुक्तयावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वेनैवैकस्याऽभावस्य हेतुतेति परमतानभिप्रायः ।

मत में द्विविध कार्य-कारणभाव के स्वीकार का गौरव तो नहीं है, मगर कारणतावच्छेदकधर्म रूपवत्त्वविशिष्टविशिष्टरूपवत्त्वविशिष्टत्व तो स्पष्टतया गुरुतर हो जाता है । यहाँ प्रथम और तृतीय वैशिष्ट्य जनकतासम्बन्ध से ग्राह्य है एवं द्वितीय वैशिष्ट्य स्ववैजात्य - स्वसंवलितत्व उभयसम्बन्ध से उपादेय है । मतद्वय अप्रामाणिक गौरव से ग्रस्त होने से अमान्य है- यह तात्पर्य है ।

❀ चित्ररूप का कारण यावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावविशेष - अन्यमत ❀

ननु, इति । अन्य विद्वानों का यह वक्तव्य है कि —> 'नील-पीत एवं पीत-रक्त आदि स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से जिसमें रहते हैं उसमें चित्र रूप की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार जिसमें विजातीय चित्ररूपजनक विजातीयपाक समवायसम्बन्ध से रहता है अथवा विजातीय रूप और विजातीयरूपान्तरजनक पाक समवाय सम्बन्ध से रहता है, उसमें भी चित्र रूप की उत्पत्ति होती है । वह इस तरह - नील कपालद्वय से उत्पन्न घट में विभिन्न अवयवावच्छेदेन विजातीयरूपद्वय का जनक पाक होने पर घट में चित्र रूप की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार नीलकपालद्वय से उत्पन्न घट में किसी एक कपालावच्छेदेन विजातीयरूपजनक पाक का सन्निधान होने पर भी चित्र रूप की उत्पत्ति होती है । इन सभी स्थितिओं के संग्रहार्थ स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलपीतोभयाभाव पीतरक्तोभयाभाव आदि अभाव और समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक विजातीयविजातीयपाकोभयाभाव - इन सब अभावों का जो स्वरूप सम्बन्ध से यावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव, वही एक अभाव सर्वत्र समवाय सम्बन्ध से चित्ररूपसामान्य का कारण है । मतलब यह है कि जहाँ समस्त ये अभाव रहेंगे वहाँ यावत् अभाव का अभाव नहीं होने की वजह कारण का बाध होने से समवाय सम्बन्ध से चित्र रूप की उत्पत्ति न होगी । जहाँ इन अभावों में से कोई एक अभाव न होगा जैसे नील - पीतकपाल से घटोत्पत्तिस्थल में घट में स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से नील-पीतोभयाभाव नहीं होगा । वहाँ उपर्युक्त सभी अभावों का यावत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव होने की वजह समवाय सम्बन्ध से चित्र रूप की उत्पत्ति होने में कोई बाधा होती नहीं है' । <—

वादीनां यावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एकश्चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुरिति <— तन्न, प्रतियोगिकोटावुदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहात् ।

चित्रत्वावच्छिन्ने रूपत्वेनैव हेतुता, नील-पीतोभयजन्यतावच्छेदकचित्रत्वाऽवान्तरजात्यवच्छिन्ने नील-पीतोभयत्वेनैव, त्रितयारब्धे तत्त्रितयत्वेन हेतुता, नील-पीतोभयाद्यारब्धचित्रे

❀ जयलता ❀

तदपाकरणे हेतुमाह —> **प्रतियोगिकोटौ** = समवायसम्बन्धावच्छिन्न-चित्रत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नकारणताश्रयीभूताभावप्रतियोगिकुक्षौ, **उदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहादिति** । इदमत्राकूतम् क्वचित् चित्ररूपस्य रूपजन्यत्वात् क्वचिच्च पाकरूपोभयजन्यत्वात् चित्रं प्रति क्वचित् नीलपीतोभयादेरुदासीनत्वं क्वचिच्च विजातीयरूप-विजातीयपाकयोरुदासीनत्वम् । अतः कारणीभूताभावप्रतियोगिकोटौ तदभावप्रवेशः कर्तव्य आहोस्वित् न ? इत्यत्राऽविनिगमः, उदासीनप्रवेशे तु नील-वायुसंयोगान्यतराभावादेरपि चित्रकारणीभूताऽभावप्रतियोगिकोटौ प्रवेशापातेन अप्रामाणिकगौरवात् तदप्रवेशे च विजातीयचित्रस्य कार्यत्वप्राप्तौ द्विविधकार्यकारणभावकल्पनागौरवादुभयतः पाशारज्जुरित्यखण्डाभावस्याऽहेतुत्वमिति भावः । किञ्च पाकमात्रजचित्रोत्पादे व्यतिरेकव्यभिचारस्य दुर्निवारत्वम् । न हि तत्र निरुक्तयावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः स्वरूपसम्बन्धेन वर्तते, निरुक्तानां नीलपीतोभयाभावादीनां विजातीयरूप-विजातीयरूपजनकपाकोभयाभावादीनां च तत्र स्वरूपसम्बन्धेन सत्त्वात् । कारणीभूताभावप्रतियोगिकोटौ चित्रजनकपाकाभावस्य प्रवेशे तु गौरवम्, समवायेन चित्रत्वावच्छिन्ने पाकजन्यत्वविरहात् । किञ्चैवं नील-पीतोभयाभावादीनां कारणीभूताभावप्रतियोगित्वप्राप्तौ चित्रं प्रति तेषां प्रतिबन्धकत्वकल्पनाप्रसङ्गो दुर्निवारः । न चेष्टापत्तिरिति वाच्यम्, तेषां कारणाभावत्वव्यवहारादिति । किञ्च प्रसिद्धान्वयव्यतिरेकग्रहविषयतावच्छेदकरूपेणैव कारणत्वौचित्यं, अन्यथा प्रायशोऽन्यत्राऽप्यभावविशेषस्यैव हेतुत्वप्रसङ्गादिति **दिक्** ।

अत्रैवान्येषां मतमाह —> **चित्रत्वावच्छिन्ने** = समवायेन चित्रसामान्यं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन **रूपत्वेनैव** यद्यपि **हेतुता** तथापि प्रसिद्धान्वयव्यतिरेकाभ्यां **नील-पीतोभयजन्यतावच्छेदकचित्रत्वावान्तरजात्यवच्छिन्ने** = समवायेन नीलपीतोभयमात्रजन्यचित्रमात्रवृत्तिचित्रत्व-व्याप्यजात्यवच्छिन्नं प्रति, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन **नीलपीतोभयत्वेनैव** हेतुतेत्यत्रानुपपद्यते । यत्र स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलपीतरक्तत्रितयं तत्र समवायेन तादृशत्रितयजचित्रोत्पत्तिः यत्र च तदभावस्तत्र तादृशत्रितयजचित्राभाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां **त्रितयारब्धे** = नील-पीत-रक्तादित्रितयमात्राऽसमवायिकारणकचित्र-मात्रवृत्तिचित्रत्वन्यूनवृत्तिजातिविशेषावच्छिन्नं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन **तत्त्रितयत्वेन** = नीलपीतरक्तादित्रिकत्वेन **हेतुता** = असमवायिकारणता । उपलक्षणात् चतुष्कारब्धे तच्चतुष्कत्वेन हेतुतेत्यादि गम्यम् ।

तन्न, प्र. । प्रकरणकार **श्रीमद्जी इस मत को यह कह कर असंगत बताते हैं कि चित्र रूप के कारणीभूत एक अभाव की प्रतियोगिकोटि में उदासीन के प्रवेश और अप्रवेश से विनिगमनाविरह है । मतलब यह है कि चित्ररूपसामान्य के प्रति नीलपीतोभय, पीतरक्तोभय, विजातीयरूप-विजातीयरूपजनकपाकोभय आदि सभी कारण नहीं हैं, किन्तु इनमें से कोई एक ही कारण होता है । अन्य तो उदासीन होते हैं । मगर यहाँ तो उपर्युक्त मत में कारणीभूत अभाव की प्रतियोगिकुक्षि में उदासीन और अनुदासीन दोनों का प्रवेश किया गया है । अतः यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कारणीभूतअभावप्रतियोगिशरीर में उदासीन का प्रवेश हो या नहीं ? इस विषय में कोई निर्णायक तर्क नहीं है, क्योंकि उदासीन अभाव का कारणीभूताभावप्रतियोगिकुक्षि में प्रवेश करने पर तो नील-वायुसंयोगान्यतराभाव आदि का भी वहाँ प्रवेश हो जायेगा और उदासीन अभाव का वहाँ प्रवेश न करने पर अनेकविध कार्य-कारणभाव की कल्पना का गौरव उपस्थित होता है । इसलिए अखंडाभाव हेतुतावाला उपर्युक्त मत अनादरणीय है - यह फलित होता है ।**

❀ विभिन्न चित्ररूप की विभिन्न कारणता - मतविशेष ❀

चित्रत्वाव. इति । **अन्य विद्वानों का यह मत है कि —> चित्रसामान्य के प्रति रूपत्वेन रूपसामान्य कारण है । मगर सब चित्र रूप समान होते नहीं हैं । जैसे नील-पीतकपाल से उत्पन्न घट के चित्र रूप में, रक्त-पीतकपालद्वय से आरब्ध घट के चित्र रूप में एवं नील-पीत-रक्तकपालत्रितय से जन्य घट के चित्र रूप में वैजात्य अनुभवसिद्ध है। अतः अन्वय-व्यतिरेक से नीलपीतउभयकपाल से जन्य घट में समवेत चित्रत्वव्याप्यजाति(चित्रत्वविशेष) से अवच्छिन्न के प्रति नील और**

च नील-पीतान्यतरादीतररूपं प्रतिबन्धकमिति न त्रितयारब्धेऽपि चित्रवति द्वितयारब्धचित्रापत्तिः । गौरवं तु प्रामाणिकत्वादिष्टमित्यन्ये । अत्र नीलतर-नीलतमोभयत्वादिना तदुभयजन्यचित्रं प्रत्यपि हेतुता वाच्या, तत्प्रति च नीलतर-नीलतमान्यतरेतररूपत्वेन प्रतिबन्धकता, तेन

❋ जयलता ❋

नन्वेवं सति नील-पीत-रक्तत्रितयजन्यतावच्छेदकचित्रत्वव्याप्यजातिविशेषावच्छिन्नचित्ररूपवति घटादौ नीलपीतोभयादि-जन्यचित्ररूपमुत्पद्येत, तत्र स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलपीतोभयादेः सत्त्वात् । न च रूपत्वावच्छिन्नस्य व्याप्य-वृत्तित्वेनैकचित्ररूपवत्यपरचित्ररूपाणामन्वययोगादिति वक्तव्यम्, तथापि उभयविधसामग्रीसत्त्वे प्रथमं उभयजन्यं चित्रमुत्पद्येत यद्वत त्रितयजन्यं ? इत्याशङ्कायां निरसितुमाह- नीलपीतोभयाद्यारब्धचित्रे च स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नील-पीतान्य-तरादीतररूपं प्रतिबन्धकमिति स्वीकारात् नील-पीत-रक्तकपालत्रितयजन्यघटे स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलपीतान्यतरेतरस्य रक्तरूपस्य द्वितयजचित्रप्रतिबन्धकस्य सत्त्वात् न त्रितयारब्धचित्रवति = समवायेन नील-पीत-रक्तादि-त्रिकोत्पन्नचित्ररूपविशिष्टे द्वितयारब्धचित्रापत्तिः = समवायसम्बन्धेन नीलपीतोभयादिमात्रजन्यतावच्छेदकीभूतचित्रत्वव्याप्यजातिविशिष्ट-चित्ररूपोत्पाद-प्रसङ्गः । न हि प्रतिबन्धकसत्त्वे कार्यमुत्पत्तुमर्हति । एवं नील-पीत-रक्तादित्रितयारब्धचित्रे च नील-पीत-रक्तान्यतमेतररूपस्य प्रतिबन्धकत्वान्न रूपचतुष्कारब्धचित्रविशिष्टेऽवयविनि समवायेन त्रितयमात्रजचित्ररूपोत्पादप्रसङ्ग इत्यादिकं स्वयं ऊहनीयम् ।

कश्चित्तु आधुनिकः —> ''अत्र 'नीलपीतादीतररूपं' इति पाठ एव समुचितः । मूलादर्शेन सम्भाव्यते च लेखनत्वरया कर्तनार्ह-'अन्यतर'शब्दस्य कर्तनं विस्मृतं'' <— इत्याह, तदज्ञानविलसितम्, एवं सति नीलपीतारब्धेऽपि द्वितयजं चित्रं न स्यात्, नीलपीतादीतरस्य नीलस्य पीतस्य च तत्र सत्त्वात् । न हि नीलं पीतं वा रूपं नीलपीतोभयात्मकं भवति । न च नयोपदेशे प्रकृते 'नीलपीतोभयादिमात्रारब्धे च नीलपीतादीतररूपत्वेन प्रतिबन्धकत्वात्' इतिपाठदर्शनेन विचारणा कार्या, प्रकृतप्रकरणपाठबलादेव 'अन्यतर'पदस्य तन्मध्ये प्रक्षेपार्हत्वात्, स्याद्वादकल्पलतायां चित्ररूपप्रकाशे च 'नीलपीतान्यतरा-दीतररूपत्वेन' इत्येवं पाठदर्शनाच्चेत्यलं विवादेन ।

न च चित्रत्वव्याप्यनानाजाति-तदवच्छिन्न-निरूपितानेकविधकारणता-प्रतिबन्धकतादिकल्पनागौरवान्नायं पक्षः समीचीन इति वक्तव्यम्, तस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वादित्याशयेनाह —> गौरवं = नानाजात्यादिकल्पनागौरवं, तु प्रामाणिकत्वात् = कार्यकारणभावादिनिश्चयानन्तरमुपस्थितत्वेन फलमुखत्वात्, इष्टमित्यन्ये वदन्तीति शेषः ।

नन्वेवं सति नीलतर-नीलतमोभयारब्धेऽवयविनि चित्रं न स्यात्, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन तत्र नीलातिरिक्तरूपस्य विरहादित्याशङ्कायामेतन्मतोपष्टम्भार्थं प्रकरणकृदाह अत्र = निरुक्तपक्षे, नीलतर-नीलतमोभयत्वादिना तदुभयजन्यचित्रं = नीलतर-नीलतमोभयजन्यतावच्छेदकचित्रत्वव्याप्यजातिविशेषावच्छिन्नं, प्रत्यपि हेतुता वाच्या = स्वीकार्या । अतः स्वसमवायि-समवेतत्वसम्बन्धेन नीलतर-नीलतमोभयवति न चित्रानुत्पत्तिप्रसङ्गः । तथापि नील-पीतोभयारब्धचित्ररूपवति नीलतर-नीलतमो-भयारब्धचित्रोत्पत्तिप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वमित्याशङ्कायामाह - तत् = समवायेन नीलतर-नीलतमोभयारब्धचित्रं, प्रति च नीलतर-नीलतमान्यतरेतररूपत्वेन प्रतिबन्धकता स्वीकार्या, तेन = निरुक्तप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावस्वीकारेण, न नीलपीतोभया-

पीत रूप की नीलपीतोभयत्वेन कारणता है । एवं नील-पीत-रक्तकपालत्रितय से आरब्ध घट में वृत्ति चित्रत्वव्याप्यजाति (चित्रत्व-विशेष) से अवच्छिन्न = विशिष्ट के प्रति नील-पीत-रक्त की नील-पीत-रक्तत्रितयत्वेन कारणता है । यहाँ यह शंका हो कि —> 'नील-पीत-रक्तकपालत्रिक से जन्य घट में नीलपीतोभयजन्य चित्र रूप भी क्यों उत्पन्न नहीं होता है ? <— तो इसका समाधान यह है कि नीलपीतोभयमात्रजन्य चित्ररूपविशेष के प्रति नील - पीतान्यतरादि से भिन्न रक्तादि रूप प्रतिबन्धक है। यद्यपि इस मत में गौरव प्रतीत होता है, क्योंकि चित्रत्वव्याप्य अनेक चित्रत्वविशेष की कल्पना करनी पड़ती है तथापि यह गौरव प्रामाणिक होने से दोषात्मक नहीं है । प्रामाणिकता इसलिए है कि नीलपीतोभयमात्रजन्य चित्र रूप और नील-पीत-रक्तत्रितयजन्य चित्र रूप में वैजात्य अनुभवसिद्ध है । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि नीलतर-नीलतमोभयकपालमात्रजन्य घट में समवेत चित्ररूपविशेष के प्रति नीलतर - नीलतमोभयत्वेन कारणता माननी होगी, जिससे नीलतर-नीलतमोभयकपालजन्य घट में समवेत चित्ररूप की उत्पत्ति निराबाध हो सके । यहाँ इस शंका का कि —> 'नील-पीतकपालजन्य घट में नीलतर-नीलतमजन्य चित्र रूप की भी उत्पत्ति क्यों होती नहीं हैं ? <— समाधान यह है कि नीलतर - नीलतमोभयमात्रजन्य

न नील-पीतोभयारब्धचित्रवति तदापत्तिः । रूपजरूपं प्रत्येव विजातीयाग्निसंयोगस्य प्रतिबन्धकत्वाच्च यत्रैकावयवे नीलमपरत्र पीतं तदन्यत्र च श्वेतजनकाग्निसंयोगस्तदवयविनि द्वितयारब्धचित्राद्यापत्तिर्नेति बोध्यम् ।

वस्तुतो द्वितयजचित्रादौ स्वपर्याप्त्यधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्वसम्बन्धेन द्वितयादेः का-

❋ जयलता ❋

रब्धचित्रवति = नीलपीतोभयसमवायिकारणकचित्ररूपविशिष्टे, तदापत्तिः = नीलतर नीलतमोभयजन्यतावच्छेदकचित्रत्वावान्तरजात्यवच्छिन्नचित्ररूपोत्पत्तिप्रसक्तिः, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन तत्र नीलतर-नीलतमान्यतरेतरस्य पीतरूपस्य सत्त्वात् ।

ननु तथापि नीलपीतोभयरूप श्वेतजनकपाकवति घटे नीलपीतोभयकार्यतावच्छेदकचित्रत्वावान्तरजात्यवच्छिन्नोत्पत्तिः दुर्वारा, तत्र स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलपीतोभयस्य स्वरूपसम्बन्धेन स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य नीलपीतरक्तरूपत्रितयाभावस्य च सत्त्वादित्याशङ्कायामाह —> **रूपजरूपं** = समवायेन रूपमात्रजन्यरूपमात्रवृत्तिविजात्यवच्छिन्नं **प्रत्येव विजातीयाऽग्निसंयोगस्य प्रतिबन्धकत्वाच्चेति** । एतत्कारणे पाकमात्रजरूपं रूपमात्रजातिरिक्तरूपं प्रति वा तस्य प्रतिबन्धकत्वं व्यवच्छिन्नम्; तथैवाऽन्वयव्यतिरेकसिद्धेः । प्रकृतप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावफलमाह **यत्र अवयविनि एकावयवे** = एकावयवावच्छेदेन **नीलं** रूपं तथा **अपरत्र** = अपरावयवावच्छिन्नसमवायेन **पीतं तदन्यत्र** = तदतिरिक्तावयवावच्छेदेन **च श्वेतजनकाग्निसंयोगः** तदवयविनि समवायेन **द्वितयारब्ध-चित्राद्यापत्तिः** = नीलपीतोभयमात्रजन्यतावच्छेदकावच्छिन्नचित्ररूपोत्पादप्रसक्तिः **नेति बोध्यम्**, तत्र विजातीयतेजःसंयोगस्य रूपमात्रजरूपप्रतिबन्धकस्य सत्त्वे रूपविशेषजन्यचित्ररूपविशेषापादनाऽयोगात् । न हि कार्यसामान्यप्रतिबन्धकसत्त्वे कार्यविशेषोत्पत्तिः सम्भवति ।

प्रकृतकल्पे चित्रत्वावच्छिन्नं स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपत्वेन हेतुत्वं, विजातीयचित्रत्वावच्छिन्ने नीलपीतोभयत्वेन हेतुत्वं तदन्यतरेतररूपत्वेन च प्रतिबन्धकत्वं, विजातीयचित्रत्वावच्छिन्ने तु नील-पीत-रक्तत्रितयत्वेन हेतुत्वं तदन्यतमेतररूपत्वेन च प्रतिबन्धकत्वं, विजातीयचित्रत्वावच्छिन्ने रूपचतुष्कत्वेन हेतुत्वं तदन्यतमेतररूपत्वेन च प्रतिबन्धकत्वं, विजातीयचित्रत्वावच्छिन्ने रूपपञ्चकत्वेन हेतुत्वं, तदन्यतमेतररूपत्वेन प्रतिबन्धकत्वं, विजातीयचित्रत्वावच्छिन्ने रूपषट्कत्वेन हेतुत्वं, रूपमात्रजरूपसामान्ये च विजातीयतेजःसंयोगस्य प्रतिबन्धकत्वमित्येवं गुरुतरकल्पनायाः प्रमाणप्रवृत्त्युत्तरमेवोपस्थितत्वेन निरुक्तगौरवस्य फलमुखत्वाऽदोषत्वादित्याशङ्कायामाह - **वस्तुत इति** । समवायेन **द्वितयजचित्रादौ** = रूपद्वितयमात्रजन्यचित्रादिकं प्रति, आदिपदेन त्रितयजन्यचित्रादिग्रहणम् । **स्वपर्याप्त्यधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्वसम्बन्धेन द्वितयादेः कारणतेति** । प्रकृते कारणतावच्छेदकं

चित्र रूप के प्रति नीलतर-नीलतमान्यतर से भिन्न पीतादि रूप प्रतिबन्धक है, जो नीलपीतोभयकपालजन्य घट में स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से रहता है । अतः वहाँ नीलतर - नीलतमोभयमात्रजन्य चित्र रूप का आपादन नहीं हो सकता ।

यहाँ यह शंका कि —> 'नीलपीतोभयमात्रजन्य चित्ररूप के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से नीलपीतोभयत्वेन कारणता का स्वीकार करने पर जो घट नील-पीतकपालद्वय से आरब्ध है, उसमें एक भाग में श्वेतरूपजनक विजातीय अग्निसंयोग होने पर भी नीलपीतोभयमात्रजन्य चित्र रूप की समवाय सम्बन्ध से उत्पत्ति होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि उस घट में स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से नीलपीतोभय विद्यमान है एवं नील - पीतान्यतर से भिन्न रक्तादिरूप, जो नीलपीतोभयमात्रजन्य चित्र रूप के प्रति प्रतिबन्धक है, अविद्यमान है' <— इसलिए असंगत है कि रूपमात्रजन्य रूप के प्रति विजातीयाग्निसंयोग प्रतिबन्धक है । प्रस्तुत स्थल में घट में श्वेतरूपजनक विजातीय अग्निसंयोग विद्यमान होने से रूपमात्रजन्य रूप की ही उत्पत्ति हो सकती नहीं है, तो फिर नीलपीतोभयरूपमात्रजन्य चित्र रूप की उत्पत्ति का आपादान करना कैसे संगत होगा ? अतः चित्रसामान्य के प्रति रूप की कारणता, रूपमात्रजन्य रूप के प्रति विजातीयअग्निसंयोग की प्रतिबन्धकता आदि की कल्पना संगत ही है' <— यह अन्य विद्वानों का अभिप्राय है ।

वस्तुत. इति । यदि त्रितयारब्ध चित्र रूप के आश्रय में द्वितयारब्ध (नीलपीतोभयादिजन्य) चित्र रूप के प्रति नील-पीतान्यतरादीतररूपत्वेन उपर्युक्त प्रतिबन्धकता की कल्पना के गौरव का परिहार ही अभीष्ट हो तो समवायसम्बन्ध से विजातीय-रूपद्वयजन्य चित्रादिरूप के प्रति विजातीय रूपद्वय को स्वपर्याप्त्यधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्वसम्बन्ध से कारण मानना चाहिए । ऐसा मानने पर विजातीयरूपत्रितयारब्ध चित्र रूप के आश्रयीभूत घट में विजातीयरूपद्वयारब्ध चित्र रूप की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि उक्त घट तीनरूपवाले तीन कपालों में पर्याप्तिसम्बन्ध से वृत्ति = रहता है । अतः उस घट में रूपद्वय

रणता, नाऽतो नीलपीतोभयजादौ नीलपीतान्यतरादीतररूपत्वेन प्रतिबन्धकताकल्पनगौरवम् । चित्रं प्रति चित्रेतरसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकत्वान्न नीलमात्रारब्धे चित्रापत्तिः ।

भरलता

द्वित्वत्वादिकं न तु प्रत्येकं नीलत्व-पीतत्वादिकं, नीलपीतकपालद्वयजन्यघटेऽपि द्वित्वस्याविशेषानुत्पादप्रसङ्गात्, घटे निरुक्तसम्बन्धेन प्रत्येकाऽवृत्तेः, घटस्य प्रत्येकं कपालेऽपर्याप्तत्वात् । रूपपदेन रूपद्वित्वादेः ग्रहणम् । तस्य पर्याप्तिसम्बन्धेनाऽधिकरणं कपालद्वयात्मा घटः पर्याप्तिसम्बन्धेन तत्रैव वर्तते, न तु कपालत्रितयादौ । अतो नीलपीतोभयकपालारब्धस्य घटस्य रूपद्वित्वपर्याप्त्यधिकरणीभूतकपालद्वयपर्याप्तवृत्तिकत्वात् नीलपीतद्वित्वं स्वपर्याप्त्यधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्वसम्बन्धेन तत्रैव घटे वर्तते न तु नील-पीत-रक्तकपालत्रितयारब्धघटेऽपि । **अत एव** नील-पीत-रक्तत्रितयारब्धचित्राश्रयीभूते घटे नीलपीतद्वित्वजचित्रोत्पादप्रसङ्गोऽपि **परिहृतः,** नील-पीत-रक्तकपालारब्धघटस्य त्रितयपर्याप्त्यधिकरणकपालत्रिकपर्याप्तवृत्तिकत्वेन नीलपीतद्वित्वस्य स्वपर्याप्त्यधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्वसम्बन्धेन तस्मिन् घटेऽवृत्तेः । **न अतः** = निरुक्तकार्यकारणभावोपगमात्, **नीलपीतोभयजादौ** = समवायेन नीलपीतद्वित्वमात्रजन्यचित्रादिकं प्रति, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन **नीलपीतान्यतरादीतररूपत्वेन प्रतिबन्धकताकल्पनगौरवम्,** निरुक्तरीत्या नील-पीत-रक्तकपालत्रितयाद्यारब्धघटे निरुक्तसम्बन्धेन द्वित्वादेरेव विरहेण तदप्रसक्त्या तादृशप्रतिबन्धकताकल्पनाया अनावश्यकत्वात् । न चैवमपि नीलकपालद्वयारब्धे घटे चित्रोत्पादस्य दुर्वारत्वं, स्वपर्याप्त्यधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्वसम्बन्धेन नीलद्वित्वस्य तत्र सत्त्वादिति वाच्यम्, समवायेन चित्रं प्रति **चित्रेतरसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकत्वात्,** चित्रातिरिक्तनीलमात्रसामग्र्याः सत्त्वात्. **न नीलमात्रारब्धे** = नीलेतररूपशून्यनीलकपालद्वयाद्यारब्धघटे, **चित्रापत्तिः** = समवायेन चित्रोत्पादप्रसङ्गः । **अत एव** नीलपीतकपालारब्धे घटे पीतकपालावच्छेदेन नीलजनककपालदशायां चित्रोत्पत्तिप्रसङ्गोऽपि **प्रत्युक्तः,** चित्रेतरसामग्र्यास्तत्र सत्त्वात् । नीलपीतोभयादेः समवायेनैकत्राऽवृत्तेः स्वाधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्वसम्बन्धेन कारणत्वोक्त्यावसम्भवः स्यादित्यतः पर्याप्तिपदनिवेशः कारणतावच्छेदकसम्बन्धकुक्षौ ।

कश्चित्तु आधुनिकः समवायेन नीलपीतोभयमात्रजचित्रं प्रति स्वाश्रयाधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्वसम्बन्धेन नीलत्व-पीतत्वगतद्वित्वस्य कारणत्वमिति व्याचष्टे, **तन्मन्दम्** गुणत्वाद्या द्रव्यमात्रवृत्तित्वेन नीलत्व-पीतत्वादेः द्वित्वाद्यनाश्रयत्वेनाऽसम्भवापातात् । अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपस्य द्वित्वादेः स्वीकारेऽपि न युक्तः, भ्रमात्मकापेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वमादायाऽतिप्रसङ्गात् । **न च** प्रमात्वविशेषणोपादानान्न दोष इति **वाच्यम्,** तथापि तादृशापेक्षाबुद्ध्यनुत्पाददशायां नीलपीतकपालारब्धघटे चित्रानुत्पादप्रसङ्गात्, विषयतायाः ज्ञानसमानकालीनत्वात् । न चानन्तरं तस्या ईश्वरबुद्धिमादाय न तदनापत्तिरिति **वक्तव्यम्,** तथापि प्रमात्वादिनिवेशेन गौरवात्, एतादृशकुसृष्टिकल्पनापेक्षया पर्याप्तिसम्बन्धेनैव स्वाधिकरणत्वनिवेशविवक्षौचित्यात्, येन कारणतावच्छेदकसम्बन्धशरीरलाघवलाभोऽपि स्यादिति विभावनीयं सुधीभिः ।

प्रकृतकल्पे च चित्रप्रतिबन्धकतावच्छेदक-चित्रेतररूपसामग्रीत्वस्याऽतिगुरुत्वम् । **न च** प्रतिबन्धकतावच्छेदकगौरवस्याऽदोषत्वमिति **वक्तव्यम्,** तथापि एककारणविशिष्टेतरसकलकारणात्मकत्वं सामग्रीत्वम् आहोस्वित् इतरसकलकारणविशिष्टैककारणत्वम् ? इत्यत्राऽविनिगमनात् । उभयरूपेण तद्ग्रहणे चाऽतिगौरवमिति ध्येयम् ।

नन्वेवमपि नीलपीतकपालद्वयजन्यघटे चित्ररूपस्य नीलरूपस्यापि समवायेनोत्पत्तिः, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलरूपस्य तत्र सत्त्वात् । अत एव समवायेन नीलं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतररूपस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनमावश्यकमिति पुनरपि

का स्वपर्याप्त्यधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्व सम्बन्ध बाधित है । वहाँ रूपद्वय का उक्त सम्बन्ध नील-पीतकपालद्वयजन्य घट में रहता है, न कि नील-पीत-रक्तकपालत्रितयसमवेत घट में । अतएव नील-पीतकपालमात्रजन्य घट में चित्ररूपोत्पत्ति की अनुपपत्ति और नील-पीत-रक्तकपालत्रितयजन्य घट में नील-पीतोभयमात्रजन्य चित्रोत्पत्ति की आपत्ति नहीं होगी । यहाँ यह शङ्का करना कि --> 'द्वित्व को उक्त सम्बन्ध से चित्र रूप के प्रति कारण मानने पर भी नीलकपालद्वय में समवेत घट भी समवाय सम्बन्ध से चित्ररूपवाला बन जायेगा, क्योंकि कपालद्वयगत नीलरूपद्वय उक्त सम्बन्ध से घट में रहता है' <— नामुनासिब है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से चित्र रूप के प्रति चित्रेतररूप की सामग्री प्रतिबन्धक है । नीलकपालद्वयमात्रजन्य घट में नील रूप की सामग्री रहने से वहाँ समवाय सम्बन्ध से चित्र रूप उत्पन्न हो सकता नहीं है ।

नील के प्रति कारणतावच्छेदक से नील की उत्पत्ति

नीलपीतोभयकपालारब्धघटे नीलानुत्पत्तिनिर्वाहाय तु स्वाश्रयसम्बन्धेन नीलं प्रति स्वव्यापकसमवायेनैव नीलादेर्हेतुत्वं वाच्यं, न तु नीलादौ नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वमिति । न च तथापि तत्र समवायेन नीलापत्तिः स्वाश्रयसम्बन्धेन नीलसामग्र्याः समवायेन नीलसामग्रीव्यापकत्वादिति वाच्यम् ।

❀ जयलता ❀

गौरवतादवस्थ्यात् 'खण्डितेऽपि शीले न शान्तः कामः' इति न्यायापातः इत्याशङ्कायामाह - **नीलपीतोभयकपालारब्धघटे नीलानुत्पत्तिनिर्वाहाय तु**रिति शेषः, तदेवाह - **स्वाश्रयसम्बन्धेनेति** स्वाश्रयसमवायसंसर्गेणेति यावत् । **स्वव्यापकसमवायेनैवेति** स्वं व्यापकं यस्य समवायस्य तेन स्वव्यापकसमवायेन, स्वविशिष्टसमवायेनेति यावत् । स्वपदेन नीलादेः ग्रहणम् । इदञ्च कारणतावच्छेदकसम्बन्धप्रदर्शनं, एवकारेण स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धव्यवच्छेदः कृतः । नीलमात्रारब्धघटस्थले स्वविशिष्टसमवायेन कपालनीलरूपं कपाले वर्तते । अत एव घटीयनीलरूपं स्वाश्रयसमवायेन तत्र कपाले जायते, तस्य नीलरूपाश्रयीभूतघटसमवायित्वात् । नील-पीतोभयकपालारब्धघटस्थले तु स्वाश्रयसमवायेन नीलरूपस्य पीतकपालेऽपि सम्भवात् निरुक्तसम्बन्धेन पीतकपाले नीलरूपं न वर्तत इति हेत्वभावात् न तत्र नीलरूपोत्पत्तिप्रसङ्गः । अत एव न तदनुरोधेन नीलादौ नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया आवश्यकत्वम् । **एतेन** गौरवतादवस्थ्यादिकमपि **प्रत्याख्यातम्** । **न च तथापि** = स्वाश्रयसमवायेन नीलं प्रति स्वव्यापकसमवायेन नीलस्य कारणत्वोपगमेन स्वाश्रयसमवायेन प्रकृते नीलरूपानुत्पादनिर्वाहेऽपि, **तत्र** = नील-पीतोभयकपालारब्धघटे, **समवायेन नीलापत्तिः** दुर्वारा, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलरूपस्य तत्र सत्त्वादिति **वक्तव्यम्, स्वाश्रयसम्बन्धेन नीलसामग्र्याः** = स्वाश्रयसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यताश्रयीभूतनीलरूपसामग्र्याः, **समवायेन नीलसामग्रीव्यापकत्वात्** = समवायसम्बन्धा-

वच्छिन्नो... इति । **यहाँ यह शंका हो सकती है कि —>** 'उपर्युक्त कार्य-कारणभाव और प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव का स्वीकार करने पर भी नील-पीतोभयकपालजन्य घट में चित्र रूप की भाँति नील रूप की भी समवाय सम्बन्ध से उत्पत्ति होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि उस घट में स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से नील रूप रहता है, जो कि समवाय सम्बन्ध से नील रूप के प्रति कारण है । इस आपत्ति का वारण तब हो सकता है यदि समवाय से नील के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से नीलेतर को प्रतिबन्धक माना जाय । मगर आप ऐसा कह सकते नहीं हैं, क्योंकि इन प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावों की कल्पना में गौरव होने से आपने इस पक्ष का त्याग कर के उक्त अभिनव कार्य-कारणभाव का स्वीकार किया है <— मगर यह शंका इसलिए निराधार हो जाती है कि हम स्वाश्रयसमवाय सम्बन्ध से नील रूप के प्रति स्वव्यापकसमवाय सम्बन्ध से नील रूप को कारण मानते हैं । मतलब यह है कि जब घट में समवाय सम्बन्ध से नील रूप उत्पन्न होता है तब वही नील रूप स्वाश्रय-समवायसम्बन्ध से घट के अवयव में उत्पन्न होता है । स्वपदार्थ है घटनीलरूप, जिसके आश्रय = घट का समवाय कपाल में रहने से घटीय नील रूप स्वाश्रयसमवाय सम्बन्ध से उस कपाल में रहेगा । नीलकपालद्वय से घट उत्पन्न होने पर स्वाश्रयसमवाय सम्बन्ध से घट के कपाल में नील रूप उत्पन्न होता है और उस कपाल में स्वव्यापकसमवाय सम्बन्ध से नील रूप भी रहता है । स्वव्यापकसमवाय का मतलब है —> स्व है व्यापक जिसका ऐसा समवाय यानी स्वविशिष्ट समवाय से कारणीभूत नील का सन्निधान अपेक्षित है । जब घट के जनक सभी कपाल में केवल नील रूप रहता है तभी कपाल में स्वव्यापकसमवाय सम्बन्ध से नील रूप रहता है । जब घटकारणीभूत एक कपाल नील और दूसरा कपाल रक्त होता है तब यदि उसमें नील रूप उत्पन्न होगा तो स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से नील रूप के प्रति स्वविशिष्टसमवाय से नील रूप की कारणता में व्यभिचार हो जायेगा, क्योंकि नील-रक्तकपालारब्धघटनिष्ठ वह नील रूप स्वाश्रयसमवाय सम्बन्ध से रक्तकपाल में भी रहेगा । किन्तु नील रूप स्वव्यापकसमवायसम्बन्ध से वहाँ नहीं रहने से नील रूप की उत्पत्ति का अनिष्ट प्रसंग नामुमकिन है । इसलिए यहाँ समवाय सम्बन्ध से नील रूप के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलेतररूप को प्रतिबन्धक मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । यहाँ यह शंका हो कि --> नीलपीतकपालद्वयजन्य घट में स्वाश्रयसमवाय सम्बन्ध से नील रूप की उत्पत्ति मत हो, क्योंकि स्वव्यापकसमवाय सम्बन्ध से नील रूप अनुपस्थित है । मगर उस घट में समवाय सम्बन्ध से तो नील रूप की उत्पत्ति होनी ही चाहिए, क्योंकि उस घट के अवयव में नील रूप रहता है' <— तो यह भी असंगत है, क्योंकि स्वाश्रयसम्बन्ध से नील की सामग्री स्वसमवायसम्बन्ध से नील की सामग्री की व्यापक होती है । मतलब कि स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले नील रूप की सामग्री कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से जहाँ रहती है वहाँ ही समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले नील रूप की सामग्री कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से रहती है । जहाँ व्यापक नहीं होता है वहाँ व्याप्य कभी रहता नहीं है । प्रस्तुत

केचित्तु नानारूपवदवयवारब्धो घटो नीरूप एव । न चैवमप्रत्यक्षः स्यात्, द्रव्यतत्समवेतचाक्षुषसाधारण्येन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन रूपस्य कारण-

❀ जयलता ❀

वच्छिन्नजन्यताश्रयीभूतनीलरूपकारणकलापव्यापकत्वात्, स्वाश्रयसमवायावच्छिन्नकार्यताश्रयीभूतनीलरूपसामग्रीविरहे समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यताश्रयनीलरूपसामग्रीविलयसिद्धेः समवायेन नीलरूपोत्पादापादनाऽयोगात् । 'सामग्री वै कार्यजनिका न त्वेकं कारणमि'ति किं न श्रुतं ? इत्यभिप्रायः । **अत एव** नीलादौ नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वमुताहो नीलेतरादौ नीलादेः प्रतिबन्धकत्वमिति विनिगमनाविरहोऽपि **न सावकाशः**; तादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावानभ्युपगमात्, देहो नास्ति कुतो दुःखम् ?

यद्यपि प्रकृतकल्पे नीलादौ नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वाऽकल्पनेन लाघवं तथापि स्वाश्रयसमवायेन नीलादिकं प्रति स्वव्यापकसमवायेन नीलादेः कारणत्वं, समवायेन नीलादिसामग्र्याः स्वाश्रयसमवायेन नीलादिसामग्रीव्याप्यत्वमित्यादिकल्पनागौरवमतिरिच्यत इति विभाव्य **'अपर'** इत्यनेनाऽस्वरसोद्भावनं कृतम् ।

ननु समवायेन नीलं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वात् पीतं प्रति पीतेतररूपादेः प्रतिबन्धकत्वात् शुक्लादिकं प्रति च शुक्लेतरादेः प्रतिबन्धकत्वात् विजातीयानेकरूपवदवयवसमवेतेऽवयविनि नैकमपि रूपमुपजायते किन्तु नीरूप एव स भवतीत्याशयवतां मतमाविष्करोति —> **केचित्त्विति** । **नानारूपवदवयवारब्धः** = विजातीयानेकरूपविशिष्टावयवजन्यः घटः स्वोत्पादानन्तरमपि **नीरूप एव** अवतिष्ठते । **न च एवं** = घटस्य स्वोत्पादोत्तरकालेऽपि नीरूपत्वोपगमे, स घटः **अप्रत्यक्षः** = चाक्षुषसाक्षात्काराऽगोचरः **स्यात्**, विषयतासम्बन्धेन द्रव्यचाक्षुषं प्रति स्वसमवायसम्बन्धेनोद्भूतरूपस्य हेतुत्वादिति **वाच्यम्, द्रव्य-तत्समवेतचाक्षुषसाधारण्येन** = द्रव्य-द्रव्यवृत्तिगोचरचाक्षुषसाक्षात्कारानुगतत्वेन, विषयतासम्बन्धेन **चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन एव रूपस्य कारणत्वात्** = कारणत्वाङ्गीकारात् । विषयतया घटचाक्षुषं यदा घटे वर्तते तदा स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन कपालिकारूपमपि तत्र वर्तत एव, घटस्य कपालिकारूपाश्रयीभूतकपालिकासमवेतकपालवृत्तित्वात् । यदा च विषयतया घटपरिमाणादिचाक्षुषं घटपरिमाणादौ वर्तते तदा स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन कपालरूपमपि तत्र वर्तत एव, घटपरिमाणादेः कपालरूपाश्रयीभूतकपालसमवेतघटवृत्तित्वात् । वाय्वादि-तद्वृत्तिपरिमाणादौ तु स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन रूपस्य विरहान्न तत्र विषयतया चाक्षुषोत्पाद इत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां विषयतासम्बन्धेन द्रव्य-द्रव्यवृत्तिगोचरचाक्षुषमात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन रूपस्य कारणत्वावधारणान्न नीरूपघटतत्परिमाणादेः चाक्षुषत्वानापत्तिः । **एतेन** विषयतया द्रव्यचाक्षुषं प्रति स्वसमवायेनोद्भूतरूपस्य कारणत्वं, द्रव्यवृत्तिपरिमाणादिचाक्षुषं प्रति च स्वसमवायिवृत्तित्वसम्बन्धेनोद्भूतरूपस्य कारणत्वमिति **निरस्तम्**, गौरवात् । प्रकृतकल्पे कारणतावाचकं रूपपदमुद्भूतपरं ज्ञेयम्, अन्यथा पिशाच-तत्परिमाणादिचाक्षुषापत्तेः । स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपस्य कारणत्वोक्तौ तु नानारूपवदवयवसमवेतपशुवृत्तिगुरुत्वादेरचाक्षुषत्वमापद्येत, तस्यापाधितया समवायातिरिक्तसम्बन्धेन वृत्तित्वादित्यतः स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन कारणत्वा-

में नीलपीतोभयकपालजन्यघटस्थल में स्वाश्रयसम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले नील रूप की सामग्री व्यापकतावच्छेदक सम्बन्ध से नहीं रहने की वजह समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले नील रूप की सामग्री भी व्याप्यतावच्छेदक सम्बन्ध से रहती नहीं है। सिर्फ एकाद कारण होने की वजह कार्योत्पत्ति की आपत्ति नहीं दी जा सकती किन्तु कार्यसामग्री रहने पर ही कार्योत्पाद की आपत्ति दी जा सकती है । प्रस्तुत में नीलपीतकपालद्वयजन्य घट में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले नील रूप की सामग्री ही नहीं होने से उसका आपादन नामुमकिन है <— ऐसा अपर विद्वानों का वक्तव्य है ।

❀ रूपविहीनघटवादी मतविशेष ❀

केचित्तु. इति । कुछ विद्वानों का यह **वक्तव्य** है कि —> **विभिन्नरूपवाले** अवयवों से उत्पन्न घट में कोई भी रूप उत्पन्न होता नहीं है । यहाँ यह शंका हो कि —> 'यदि उस घट में रूप ही नहीं है तब तो उस घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि रूपविहीन द्रव्य का कभी किसीको कहीं भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होता नहीं है' <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यविषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष में रूप को स्वतंत्र **कारण** न मान कर द्रव्य और द्रव्यसमवेत के चाक्षुष के प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से रूप को **कारण** मान लेने से नीरूप घट का भी **चाक्षुष** प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि नीरूप घट के चाक्षुष में कपालिकागत रूप स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से कारण होगा और नीलघटसमवेत परिमाण, संख्या, संयोगादि के प्रत्यक्ष में कपालगत रूप स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से कारण होगा । अतः नीरूप घट और उसमें समवेत

त्वात् । अत एव त्रुटिचाक्षुषानुरोधेन परमाणुद्व्यणुकयोरपि सिद्धिरित्याहुः ।

तच्चिन्त्यम्, चित्रकपालिकास्थले तदसम्भवात् । किञ्च, घटाकाशसंयोगाद्यचाक्षुषत्वानुरोधेन

❀ जयलता ❀

भिधानमिति । लाघवानुरोधादेतत्कल्पे द्रव्यतत्समवेतस्पार्शनसाधारण्येन स्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेनैव स्पर्शस्य हेतुत्वमिति चेतसि प्रणिधातव्यम् ।

प्रकृतकल्पस्वीकारनान्तरीयकफलविशेषमावेदयन्ति —> **अत एव** = द्रव्य-तद्वृत्तिसाधारणचाक्षुषं प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्व-सम्बन्धेन रूपस्य कारणत्वस्वीकारादेव, **त्रुटिचाक्षुषानुरोधेनेति,** उपलक्षणात् 'त्रुटिपरिमाणादिचाक्षुषानुरोधेन' इत्यपि द्रष्टव्यम्, **परमाणुद्व्यणुकयोरपि सिद्धिः,** विषयतया त्र्यणुकचाक्षुषाश्रये त्र्यणुके स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन परमाणुरूपस्यैव वृत्तित्व-सम्भवात्, त्र्यणुकस्य परमाणुरूपाश्रयपरमाणुसमवेतद्व्यणुकवृत्तित्वात्, विषयतया त्रसरेणुपरिमाणादिचाक्षुषाधिकरणे त्रसरेणुपरिमाणादौ च स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन द्व्यणुकरूपस्यैव वृत्तित्वसम्भवात्, त्रसरेणुपरिमाणादेः द्व्यणुकरूपाश्रयद्व्यणुकसमवेतत्रुटि-वृत्तित्वात् । परमाणु-द्व्यणुकानुपगमे तु गुणत्वावच्छिन्नस्य द्रव्यमात्रवृत्तित्वनियमेन त्रुटि-तत्परिमाणादिचाक्षुषकारणविरहसिद्धया त्रुटितत्परिमाणाद्यचाक्षुषमापद्येत । एतच्च प्रत्यक्षविरुद्धमिति निरुक्तकार्यकारणभावबलेन त्रुटितत्परिमाणादिचाक्षुषान्यथानुपपत्त्या परमाणुरूप-द्व्यणुकरूपयोः सिद्धौ तदाश्रयतया परमाणु-द्व्यणुकयोरपि सिद्धिरप्रत्यूहैवेति केषाञ्चिदभिप्रायः ।

आहुरित्यनेन प्रकरणकृता स्वकीयाऽस्वरसोद्भावनं कृतम् । तदेव कण्ठत आवेदयति - **तच्चिन्त्यमिति** । चिन्ताबीजमेव प्रदर्शयति - **चित्रकपालिकास्थले** नानारूपवदवयवारब्धकपालिकासमवेतकपालारब्धघटस्थले, **तदसम्भवात्** = घटतत्सम-वेतपरिमाण-संयोगैकत्वप्रभृतिचाक्षुषाऽनुपपत्तेः । नानारूपवदवयवारब्धघटस्येव तत्र कपालिकाया नानाजातीयरूपवदवयवारब्धत्वेन नीरूपत्वसिद्धेः तत्समवेतकपालनीरूपत्वसिद्धया न तत्र घटे स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन कपालिकारूपं वर्तते, न वा तद्घटसमवेतपरिमाणादौ स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन कपालरूपं वर्तते येन तच्चाक्षुषं सम्भवेत् । सार्वजनीनञ्च नानारूपवद-वयवारब्धकपालिकासमवेतकपालारब्धघट-तत्परिमाणादिगोचरं चाक्षुषम् । ततश्चैतादृशव्यतिरेकव्यभिचारादेव न विषयतया द्रव्य-तत्परिमाणादिचाक्षुषं प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन रूपस्य कारणत्वाभिधानं सङ्गतिमङ्गति ।

'इत्थञ्च तादृशघटस्य नीरूपत्वं तादृशघटवृत्तिसंयोगादिचाक्षुषं न स्यादि'ति वक्ष्यमाणग्रन्थप्रस्तावार्थमुपक्रमते - **किञ्चेति** । यदि विषयतया द्रव्य-तत्समवेतगोचरचाक्षुषं प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन रूपस्य कारणत्वं स्यात् तदा घटाकाशसंयोगादिचाक्षुष-मपि स्यादेव, कपालरूपस्य स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन घटाकाशसंयोगादौ सत्त्वात्, घटाकाशसंयोगादेः कपालरूपाश्रयकपाल-समवेतघटवृत्तित्वात् । न च तद् भवतीत्यतो **घटाकाशसंयोगाद्यचाक्षुषत्वानुरोधेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं** = द्रव्यसमवेतगोचर-

दोनों के चाक्षुष साक्षात्कार की अनुपपत्ति हो सकती नहीं है । ऐसा मानने से ही परमाणु और द्व्यणुक की भी सिद्धि हो सकती है, क्योंकि त्र्यणुक = त्रुटि के प्रत्यक्ष के प्रति परमाणुगत रूप स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से कारण होगा और त्रुटिसमवेत परिमाणादि के प्रति द्व्यणुकगत रूप स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से कारण बनेगा । परमाणु का स्वीकार किये बिना त्रुटि के चाक्षुष की उपपत्ति कथमपि संगत न होगी, क्योंकि स्व = परमाणुरूप के आश्रय = परमाणु में समवेत द्व्यणुक में त्र्यणुक वृत्ति होने से परमाणु का स्वीकार करने पर ही स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्व सम्बन्ध से परमाणुरूप के आश्रय त्र्यणुक के चाक्षुष की उपपत्ति होगी । एवं त्रुटिगत परिमाणादि के चाक्षुष की संगति द्व्यणुक के अङ्गीकार के बिना नामुमकिन है, क्योंकि स्व = द्व्यणुकरूप के आश्रय = द्व्यणुक में वृत्ति (समवेत) त्र्यणुक होने से द्व्यणुक को मान्य करने पर ही स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से द्व्यणुकरूप के आश्रय त्रुटि के चाक्षुष की उपपत्ति हो सकती है। इस तरह द्रव्य और द्रव्यसमवेत के चाक्षुष की साधारण कारणता का स्वीकार कर के स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से ही रूप को उसका कारण मानना सुसंगत है' । <—

◘ रूपविहीनघटवादी के मत की समालोचना ◘

तच्चिन्त्यम्, इति । मगर प्रकरणकार श्रीमद्जी का उपर्युक्त कथन के खिलाफ यह मन्तव्य है कि उक्त मत विचारणीय है, न कि बिना विचार किये स्वीकार्य । इसका कारण यह है कि चित्रकपालिका स्थल में उसका सम्भव नहीं है । अन्तर्निहितार्थ यह है कि जहाँ कपालिका ही विभिन्नरूपवदवयवों से उत्पन्न होगी वहाँ कपालिका भी नीरूप होगी । अतः उस स्थल में घट और घटसमवेत परिमाणादि के चाक्षुष साक्षात्कार की अनुपपत्ति होगी । कपालिका नीरूप होने से कपाल भी नीरूप ही होगा । तब कपालिकारूप स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से घट में और कपालरूप स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से घटसमवेत

चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनमेवोचितम् । स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावत्प्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमतः स्वावच्छिन्नाधेयतावद्गुणप्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमत्त्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वकल्पनेऽप्यव्यासज्यवृत्त्या-

❋ जयलता ❋

चाक्षुषमात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं **प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन** रूपाभावस्य **प्रतिबन्धकत्वकल्पनमेवोचितम्** । आकाशस्य नीरूपत्वेन घटाकाशसंयोगादौ रूपाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन सत्त्वात् तस्य रूपाभावाश्रयाकाशसमवेतत्वात् । ततश्च नानारूपवदवयवारब्धघटस्य नीरूपत्वोपगमे तत्समवेतपरिमाणसंयोगादेरचाक्षुषत्वमेव स्यादिति न नानारूपवदवयवारब्धघटस्य नीरूपत्वाभ्युपगमः श्रेयानिति निहितार्थः ।

ननु यावदाश्रयप्रत्यक्षे सत्येव व्यासज्यवृत्तिगुणप्रत्यक्षं भवति, न तु यत्किञ्चिदाश्रयप्रत्यक्षे सतीति व्यासज्यवृत्तिगुणप्रत्यक्षं प्रति यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात् न घटाकाशसंयोगादिप्रत्यक्षत्वापत्तिरित्याशयेन नीरूपघटवाद्याह **स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावत्प्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमत** इति। हेतुत्वकल्पने इत्यनेनाऽस्य सम्बन्धः । स्वपदेन पर्याप्तिग्रहणम् । तदवच्छिन्ना = पर्याप्तिविशिष्टा या गुणाऽधिकरणता = संयोगादिगुणनिष्ठाधेयतानिरूपिता अधिकरणता तद्वत् यत् घटपटादि वस्तुजातं तद्गोचरं प्रत्यक्षं स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावद्विषयकप्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमत् भवति । निरुक्तसम्बन्धेन पर्याप्तिमतः प्रत्यक्षस्यैव **स्वावच्छिन्नाधेयतावद्गुणप्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमत्त्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वकल्पने** नानारूपवदवयवारब्धघटपटसंयोगादिगोचरं चाक्षुषं निरातङ्कम् । तथाहि 'घटपटयोः संयोग' इत्याद्याकारकस्य कार्यभूतस्य प्रत्यक्षस्य पर्याप्त्यवच्छिन्ना या तादृशघटपटनिष्ठाधिकरणता तन्निरूपिता या तादृशघटपटसंयोगनिष्ठा आधेयता तद्वत्संयोगादिगोचरचाक्षुषत्वेन कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूतस्वावच्छिन्नाधिकरणतानिरूपिताधेयतावद्गुणविषयकप्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिविशिष्टतया कार्यतावच्छेदकीभूतविषयतासम्बन्धेन तादृशघटादिवृत्तित्वात् तादृशघटादावेव कारणतावच्छेदकीभूतविषयतासम्बन्धेन तादृशघटादिगोचरं तत् प्रत्यक्षं वर्तते यत् कारणतावच्छेदकतावच्छेदकीभूतेन स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावद्गोचरप्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमद्भवति । यदा च केवलं घटगोचरं पटगोचरं

परिमाणादि में न रहने से वहाँ विषयता सम्बन्ध से चाक्षुष साक्षात्कार की कथमपि सङ्गति न होगी । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि द्रव्य-द्रव्यसमवेतचाक्षुष के प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से रूप को कारण मानने पर तो घटाकाशसंयोगादि के भी प्रत्यक्ष की आपत्ति आयेगी, क्योंकि आकाश नीरूप होने पर भी कपाल रूपवान् होने से कपालरूप के आश्रय कपाल में समवेत घट में घटाकाशसंयोग आदि वृत्ति होने से उसमें स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से रूप रहता है । मगर घटाकाशसंयोगादि का चाक्षुष होता नहीं है - यह तो सर्वजनविदित है । अतः घटाकाशसंयोगादि के अचाक्षुष के अनुरोध से द्रव्यसमवेतगोचर चाक्षुष के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव को प्रतिबन्धक मानना ही पड़ेगा, चूँकि तभी रूपाभाव के आश्रय आकाश में समवेत घटआकाशसंयोग आदि में स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव रहने से विषयतासंबन्ध से वहाँ घटाकाशसंयोगादिगोचर चाक्षुष न हो सकेगा । इस तरह जब द्रव्यसमवेतविषयक चाक्षुष के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव को प्रतिबन्धक मानना आवश्यक ही है तब तो नानारूपवदवयवारब्ध घट को नीरूप मानने पर उस घट में समवेत संयोगादि का चाक्षुष न हो सकेगा, क्योंकि रूपाभाव के आश्रय उस घट में समवेत ऐसे संयोगादि में स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव रह जायेगा, जो वहाँ विषयता सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले तादृशघटसंयोगादिविषयक चाक्षुष का प्रतिबन्धक होता है ।

❋ घटाकाशसंयोगादि के अचाक्षुष की उपपत्ति का प्रयास ❋

स्वावच्छि. इति । यहाँ नीरूपघटवादी की ओर से यह कहा जा सकता है कि —> 'व्यासज्यवृत्ति गुण के प्रत्यक्ष के प्रति यावदाश्रयगोचर प्रत्यक्ष हेतु है। इसको नव्य न्याय की परिष्कृत शैली से बताना हो तो यह भी कहा जा सकता है कि स्वावच्छिन्नाधेयताविशिष्टगुणविषयकप्रत्यक्षत्व सम्बन्ध से पर्याप्तिविशिष्ट प्रत्यक्ष विषयतासम्बन्ध से कार्य है और स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावद्विषयकप्रत्यक्षत्व सम्बन्ध से पर्याप्तिविशिष्ट प्रत्यक्ष विषयतासम्बन्ध से कारण है । यहाँ कार्यतावच्छेदक धर्म पर्याप्ति है और कारणतावच्छेदक धर्म भी पर्याप्ति ही है । कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध है विषयता और कारणतावच्छेदकसम्बन्ध भी है विषयता । कार्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध यानी कार्य में कार्यतावच्छेदक का रहने का सम्बन्ध है स्वावच्छिन्नाधेयतावद्गुणगोचरप्रत्यक्षत्व संसर्ग और कारणतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध यानी कारणतावच्छेदकविधया अभिमत धर्म का कारण में रहने का नियामक सम्बन्ध है स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावद्विषयकप्रत्यक्षत्व संसर्ग । अवच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धघटकीभूत स्वपद से पर्याप्ति का ग्रहण अभिमत है । जैसे घटपटउभय का चाक्षुष होता है तब वह चाक्षुष स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावद्विषयकप्रत्यक्षत्वसम्बन्ध से पर्याप्तिविशिष्ट

त्वात् । अत एव त्रुटिचाक्षुषानुरोधेन परमाणुद्व्यणुकयोरपि सिद्धिरित्याहुः ।

तच्चिन्त्यम्, चित्रकपालिकास्थले तदसम्भवात् । किञ्च, घटाकाशसंयोगाद्यचाक्षुषत्वानुरोधेन

❀ जयलता ❀

भिधानमिति । लाघवानुरोधादेतत्कल्पे द्रव्यतत्समवेतस्पार्शनसाधारण्येन स्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेनैव स्पर्शस्य हेतुत्वमिति चेतसि प्रणिधातव्यम् ।

प्रकृतकल्पस्वीकारनान्तरीयकफलविशेषमावेदयन्ति --> **अत एव** = द्रव्य-तद्वृत्तिसाधारणचाक्षुषं प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्व-सम्बन्धेन रूपस्य कारणत्वस्वीकारादेव, **त्रुटिचाक्षुषानुरोधेनेति,** उपलक्षणात् 'त्रुटिपरिमाणादिचाक्षुषानुरोधेन' इत्यपि द्रष्टव्यम्, **परमाणुद्व्यणुकयोरपि सिद्धिः,** विषयतया त्र्यणुकचाक्षुषाश्रये त्र्यणुके स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन परमाणुरूपस्यैव वृत्तित्व-सम्भवात्, त्र्यणुकस्य परमाणुरूपाश्रयपरमाणुसमवेतद्व्यणुकवृत्तित्वात्, विषयतया त्रसरेणुपरिमाणादिचाक्षुषाधिकरणे त्रसरेणुपरिमाणादौ च स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन द्व्यणुकरूपस्यैव वृत्तित्वसम्भवात्, त्रसरेणुपरिमाणादेः द्व्यणुकरूपाश्रयद्व्यणुकसमवेतत्रुटि-वृत्तित्वात् । परमाणु-द्व्यणुकानुपगमे तु गुणत्वावच्छिन्नस्य द्रव्यमात्रवृत्तित्वनियमेन त्रुटि-तत्परिमाणादिचाक्षुषकारणविरहसिद्ध्या त्रुटितत्परिमाणाद्यचाक्षुषमापद्येत । एतच्च प्रत्यक्षविरुद्धमिति निरुक्तकार्यकारणभावबलेन त्रुटितत्परिमाणादिचाक्षुषान्यथानुपपत्त्या परमाणुरूप-द्व्यणुकरूपयोः सिद्धौ तदाश्रयतया परमाणु-द्व्यणुकयोरपि सिद्धिरप्रत्यूहैवेति केषाञ्चिदभिप्रायः ।

आहुरित्यनेन प्रकरणकृता स्वकीयाऽस्वरसोद्भावनं कृतम् । तदेव कण्ठत आवेदयति - **तच्चिन्त्यमिति** । चिन्तावीजमेव प्रदर्शयति - **चित्रकपालिकास्थले** नानारूपवदवयवारब्धकपालिकासमवेतकपालारब्धघटस्थले, **तदसम्भवात्** =. घटतत्सम-वेतपरिमाण-संयोगैकत्वप्रभृतिचाक्षुषाऽनुपपत्तेः । नानारूपवदवयवारब्धघटस्येव तत्र कपालिकाया नानाजातीयरूपवदवयवारब्धत्वेन नीरूपत्वसिद्धेः तत्समवेतकपालनीरूपत्वसिद्ध्या न तत्र घटे स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन कपालिकारूपं वर्तते, न वा तद्घटसमवेतपरिमाणादौ स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन कपालरूपं वर्तते येन तच्चाक्षुषं सम्भवेत् । सार्वजनीनञ्च नानारूपवद-वयवारब्धकपालिकासमवेतकपालारब्धघट-तत्परिमाणादिगोचरं चाक्षुषम् । ततश्चैतादृशव्यतिरेकव्यभिचारादेव न विषयतया द्रव्य-तत्परिमाणादिचाक्षुषं प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन रूपस्य कारणत्वाभिधाने सङ्गतिमङ्गति ।

'इत्थञ्च तादृशघटस्य नीरूपत्वे तादृशघटवृत्तिसंयोगादिचाक्षुषं न स्यादि'ति वक्ष्यमाणग्रन्थप्रस्तावार्थमुपक्रमते - **किञ्चेति** । यदि विषयतया द्रव्य-तत्समवेतगोचरचाक्षुषं प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन रूपस्य कारणत्वं स्यात् तदा घटाकाशसंयोगादिचाक्षुष-मपि स्यादेव, कपालरूपस्य स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन घटाकाशसंयोगादौ सत्त्वात्, घटाकाशसंयोगादेः कपालरूपाश्रयकपाल-समवेतघटवृत्तित्वात् । न च तद् भवतीत्यतो **घटाकाशसंयोगाद्यचाक्षुषत्वानुरोधेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं** = द्रव्यसमवेतगोचर-

दोनों के चाक्षुष साक्षात्कार की अनुपपत्ति हो सकती नहीं है । ऐसा मानने से ही परमाणु और द्व्यणुक की भी सिद्धि हो सकती है, क्योंकि त्र्यणुक = त्रुटि के प्रत्यक्ष के प्रति परमाणुगत रूप स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से कारण होगा और त्रुटिसमवेत परिमाणादि के प्रति द्व्यणुकगत रूप स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से कारण बनेगा । परमाणु का स्वीकार किये बिना त्रुटि के चाक्षुष की उपपत्ति कथमपि संगत न होगी, क्योंकि स्व = परमाणुरूप के आश्रय = परमाणु में समवेत द्व्यणुक में त्र्यणुक वृत्ति होने से परमाणु का स्वीकार करने पर ही स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्व सम्बन्ध से परमाणुरूप के आश्रय त्र्यणुक के चाक्षुष की उपपत्ति होगी । एवं त्रुटिगत परिमाणादि के चाक्षुष की संगति द्व्यणुक के अङ्गीकार के बिना नामुमकिन है, क्योंकि स्व = द्व्यणुकरूप के आश्रय = द्व्यणुक में वृत्ति (समवेत) त्र्यणुक होने से द्व्यणुक को मान्य करने पर ही स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से द्व्यणुकरूप के आश्रय त्रुटि के चाक्षुष की उपपत्ति हो सकती है। इस तरह द्रव्य और द्रव्यसमवेत के चाक्षुष की साधारण कारणता का स्वीकार कर के स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से ही रूप को उसका कारण मानना सुसंगत है' । <—

रूपविहीनघटवादी के मत की समालोचना

तच्चिन्त्यम्. इति । मगर प्रकरणकार श्रीमद्जी का उपर्युक्त कथन के खिलाफ यह मन्तव्य है कि उक्त मत विचारणीय है, न कि बिना विचार किये स्वीकार्य । इसका कारण यह है कि चित्रकपालिका स्थल में उसका सम्भव नहीं है । अन्तर्निहितार्थ यह है कि जहाँ कपालिका ही विभिन्नरूपवदवयवों से उत्पन्न होगी वहाँ कपालिका भी नीरूप होगी । अतः उस स्थल में घट और घटसमवेत परिमाणादि के चाक्षुष साक्षात्कार की अनुपपत्ति होगी । कपालिका नीरूप होने से कपाल भी नीरूप ही होगा । तब कपालिकारूप स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से घट में और कपालरूप स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से घटसमवेत

चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनमेवोचितम् । स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावत्प्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमतः स्वावच्छिन्नाधेयतावद्गुणप्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमत्त्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वकल्पनेऽप्यव्यासज्यवृत्त्या-

❀ जयलता ❀

चाक्षुषमात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं **प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनमेवोचितम्** । आकाशस्य नीरूपत्वेन घटाकाशसंयोगादौ रूपाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन सत्त्वात् तस्य रूपाभावाश्रयाकाशसमवेतत्वात् । ततश्च नानारूपवदवयवारब्धघटस्य नीरूपत्वोपगमे तत्समवेतपरिमाणसंयोगादेरचाक्षुषत्वमेव स्यादिति न नानारूपवदवयवारब्धघटस्य नीरूपत्वाभ्युपगमः श्रेयानिति निहितार्थः ।

ननु यावदाश्रयप्रत्यक्षे सत्येव व्यासज्यवृत्तिगुणप्रत्यक्षं भवति, न तु यत्किञ्चिदाश्रयप्रत्यक्षे सतीति व्यासज्यवृत्तिगुणप्रत्यक्षं प्रति यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात् न घटाकाशसंयोगादिप्रत्यक्षत्वापत्तिरित्याशयेन नीरूपघटवाद्याह **स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावत्प्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमत** इति । हेतुत्वकल्पने इत्यनेनाऽस्य सम्बन्धः । स्वपदेन पर्याप्तिग्रहणम् । तदवच्छिन्ना = पर्याप्तिविशिष्टा या गुणाधिकरणता = संयोगादिगुणनिष्ठाधेयतानिरूपिता अधिकरणता तद्वत् यत् घटपटादि वस्तुजातं तद्गोचरं प्रत्यक्षं स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावद्विषयकप्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमत् भवति । निरुक्तसम्बन्धेन पर्याप्तिमतः प्रत्यक्षस्यैव **स्वावच्छिन्नाधेयतावद्गुणप्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमत्त्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वकल्पने** नानारूपवदवयवारब्धघटपटसंयोगादिगोचरं चाक्षुषं निरातङ्कम् । तथाहि 'घटपटयोः संयोग' इत्याद्याकारकस्य कार्यभूतस्य प्रत्यक्षस्य पर्याप्त्यवच्छिन्ना या तादृशघटपटनिष्ठाधिकरणता तन्निरूपिता या तादृशघटपटसंयोगनिष्ठा आधेयता तद्वत्संयोगादिगोचरचाक्षुषत्वेन कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूतस्वावच्छिन्नाधिकरणतानिरूपिताधेयतावद्गुणविषयकप्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिविशिष्टतया कार्यतावच्छेदकीभूतविषयतासम्बन्धेन तादृशघटादिवृत्तित्वात् तादृशघटादावेव कारणतावच्छेदकीभूतविषयतासम्बन्धेन तादृशघटादिगोचरं तत् प्रत्यक्षं वर्तते यत् कारणतावच्छेदकतावच्छेदकीभूतेन स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावद्गोचरप्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमद्भवति । यदा च केवलं घटगोचरं पटगोचरं

परिमाणादि में न रहने से वहाँ विषयता सम्बन्ध से चाक्षुष साक्षात्कार की कथमपि सङ्गति न होगी । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि द्रव्य-द्रव्यसमवेतचाक्षुष के प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से रूप को कारण मानने पर तो घटाकाशसंयोगादि के भी प्रत्यक्ष की आपत्ति आयेगी, क्योंकि आकाश नीरूप होने पर भी कपाल रूपवान् होने से कपालरूप के आश्रय कपाल में समवेत घट में घटाकाशसंयोग आदि वृत्ति होने से उसमें स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से रूप रहता है । मगर घटाकाशसंयोगादि का चाक्षुष होता नहीं है - यह तो सर्वजनविदित है । अतः घटाकाशसंयोगादि के अचाक्षुष के अनुरोध से द्रव्यसमवेतगोचर चाक्षुष के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव को प्रतिबन्धक मानना ही पड़ेगा, चूँकि तभी रूपाभाव के आश्रय आकाश में समवेत घटआकाशसंयोग आदि में स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव रहने से विषयतासंबन्ध से वहाँ घटाकाशसंयोगादिगोचर चाक्षुष न हो सकेगा । इस तरह जब द्रव्यसमवेतविषयक चाक्षुष के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव को प्रतिबन्धक मानना आवश्यक ही है तब तो नानारूपवदवयवारब्ध घट को नीरूप मानने पर उस घट में समवेत संयोगादि का चाक्षुष न हो सकेगा, क्योंकि रूपाभाव के आश्रय उस घट में समवेत ऐसे संयोगादि में स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव रह जायेगा, जो वहाँ विषयता सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले तादृशघटसंयोगादिविषयक चाक्षुष का प्रतिबन्धक होता है ।

❀ घटाकाशसंयोगादि के अचाक्षुष की उपपत्ति का प्रयास ❀

स्वावच्छि.इति । यहाँ नीरूपघटवादी की ओर से यह कहा जा सकता है कि —> 'व्यासज्यवृत्ति गुण के प्रत्यक्ष के प्रति यावदाश्रयगोचर प्रत्यक्ष हेतु है। इसको नव्य न्याय की परिष्कृत शैली से बताना हो तो यह भी कहा जा सकता है कि स्वावच्छिन्नाधेयताविशिष्टगुणविषयकप्रत्यक्षत्व सम्बन्ध से पर्याप्तिविशिष्ट प्रत्यक्ष विषयतासम्बन्ध से कार्य है और स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावद्विषयकप्रत्यक्षत्व सम्बन्ध से पर्याप्तिविशिष्ट प्रत्यक्ष विषयतासम्बन्ध से कारण है । यहाँ कार्यतावच्छेदक धर्म पर्याप्ति है और कारणतावच्छेदक धर्म भी पर्याप्ति ही है । कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध है विषयता और कारणतावच्छेदकसम्बन्ध भी है विषयता । कार्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध यानी कार्य में कार्यतावच्छेदक का रहने का सम्बन्ध है स्वावच्छिन्नाधेयतावद्गुणगोचरप्रत्यक्षत्व संसर्ग और कारणतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध यानी कारणतावच्छेदकविधया अभिमत धर्म का कारण में रहने का नियामक सम्बन्ध है स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावद्विषयकप्रत्यक्षत्व संसर्ग । अवच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धघटकीभूत स्वपद से पर्याप्ति का ग्रहण अभिमत है । जैसे घटपटउभय का चाक्षुष होता है तब वह चाक्षुष स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावद्विषयकप्रत्यक्षत्वसम्बन्ध से पर्याप्तिविशिष्ट

काशादिगुणाऽचाक्षुषत्वोपपत्तये रूपवत्त्वस्य प्रत्यासत्तिघटकत्वे गौरवात् । न च स्पर्श-

❋ जयलता ❋

वा चाक्षुषं भवति तदा घटादौ कारणतावच्छेदकतावच्छेदकीभूतस्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावत्प्रत्यक्षत्वसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतावत्पर्याप्तिमतः प्रत्यक्षस्य कारणतावच्छेदकीभूतविषयतासम्बन्धेनाऽवर्तमानत्वान्न तत्र 'घटपटयोः संयोग' इत्याद्याकारकं चाक्षुषं कार्यतावच्छेदकीभूतविषयतासम्बन्धेनोपजायते यत् कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूतस्वावच्छिन्नाधेयतावद्गुणविषयकप्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन कार्यतावच्छेदकीभूतपर्याप्तिमद्भवति । **अत एव** घटाकाशसंयोगादिचाक्षुषापत्तिरपि निरवकाशा, आकाशस्याऽचाक्षुषत्वेन घटमात्रगोचरचाक्षुषस्य पर्याप्त्यवच्छिन्नघटाकाशसंयोगादिगुणाधिकरणताश्रयाविषयकत्वेन स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावत्प्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमत एवाऽप्रसिद्ध्या विषयतया तत्कारणाधिकरणस्याऽप्यप्रसिद्धत्वेनाऽऽपादनाऽसम्भवात् । विषयतया पर्याप्त्यवच्छिन्नगुणाधिकरणतावद्गोचरप्रत्यक्षस्य विषयतया पर्याप्त्यवच्छिन्नाधेयतावद्गुणविषयकप्रत्यक्षं प्रति हेतुत्वमित्युक्तौ कार्यतावच्छेदक-कारणतावच्छेदकधर्मगौरवमापद्येत । अतः स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावत्प्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमतः स्वावच्छिन्नाधेयतावद्गुणप्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमत्स्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वमित्युक्तम् । प्रकृते कारणतावच्छेदकं कार्यतावच्छेदकञ्च पर्याप्तिमत्त्वमेव, कारणतावच्छेदकतावच्छेदकः सम्बन्धः स्वावच्छिन्नाधारतावत्प्रत्यक्षत्वं, कारणतावच्छेदकसम्बन्धश्च स्वविषयवृत्तिता, कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकः सम्बन्धः स्वावच्छिन्नाधेयतावत्प्रत्यक्षत्वं कार्यतावच्छेदकसम्बन्धश्च विशेष्यतेति नाननुगमः । न चात्र कार्यताद्यवच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धगौरवमाशङ्कनीयम्, अवच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धगौरवस्याऽदोषत्वात् । एवञ्च नानारूपवदवयवारब्धघटादेः नीरूपत्वाभ्युपगमोऽपि निर्वहतीति प्रतिवादिनोऽभिप्रायः ।

प्रकरणकारः तन्निरासार्थमाह- **अपीति** । निरुक्तकार्यकारणभावस्वीकारेण घटाकाशसंयोगाद्यचाक्षुष-नीरूपघटतत्समवेतचाक्षुषाद्युपपादनेऽपि, **अव्यासज्यवृत्त्याकाशादिगुणाऽचाक्षुषत्वोपपत्तय** इति । विषयतासम्बन्धेन द्रव्यसमवेतविषयकं चाक्षुषं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वानुपगमे त्वाकाशादिगुणगोचरमपि चाक्षुषमुपजायेत, चक्षुषः स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्धेन शब्दादावाकाशादिगुणे सत्त्वात्, शब्दादेर्व्यासज्यवृत्तित्वाऽभावेन विषयतासम्बन्धेन तच्चाक्षुषं प्रति स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावत्प्रत्यक्षत्वसम्बन्धेन पर्याप्तिमतः प्रत्यक्षस्य विषयतासम्बन्धेनाऽहेतुत्वेन अनपेक्षणात् । **न च** विषयतासम्बन्धेन द्रव्यसमवेतगोचरचाक्षुषं प्रति चक्षुषो न स्वसंयुक्तसमवायेन हेतुत्वमपि तु स्वसंयुक्तरूपसमवायिद्रव्यसमवायसम्बन्धेनैव हेतुत्वमिति नाकाशादिगुणचाक्षुषापत्तिः, आकाशादेः नीरूपत्वादिति **वक्तव्यम्, अव्यासज्यवृत्त्याकाशादिगुणाऽचाक्षुषत्वोपपत्तये रूपवत्त्वस्य** = रूपप्रतियोगिकसमवायवत्त्वस्य **प्रत्यासत्तिघटकत्वे** = द्रव्यसमवेतचाक्षुषनिरूपितकारणतावच्छेदकसम्बन्धकुक्षिप्रविष्टत्वे, **गौरवात्** ।

बनता है; क्योंकि वह घटपटसंयोगात्मक गुण की अधिकरणता, जो घटपटउभय में पर्याप्त होने से पर्याप्तिविशिष्ट है, के आश्रय घटपटउभयविषयक है । निरुक्तसम्बन्ध से पर्याप्तिविशिष्ट घटपटउभयगोचरप्रत्यक्ष विषयतासम्बन्ध से घटादि में रहता है । अतः स्वावच्छिन्नाधेयतावद्गुणविषयकप्रत्यक्षत्वसम्बन्ध से पर्याप्तिविशिष्ट प्रत्यक्ष, जो पर्याप्त्यवच्छिन्नाधिकरणता से निरूपित आधेयता के आश्रय संयोग गुण को अपना विषय बनाने की वजह 'घटपटयोः संयोगः' इत्याकारक कार्यात्मक होता है, भी प्रकारतास्व्यविषयतासम्बन्ध से घटादि में ही रहेगा । इस तरह कार्य-कारण के समानाधिकरणत्व की भी उपपत्ति हो सकती है । इस कार्यकारणभाव को मान्य करने की वजह घटाकाशसंयोग आदि के चाक्षुष प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि आकाश नीरूप होने की वजह चाक्षुष का विषय न होने से केवल घट का ही चाक्षुष होगा, जो पर्याप्तिविशिष्ट घटाकाशसंयोगादिगुणनिरूपिताधिकरणता के आश्रय घटआकाशउभय को अपना विषय नहीं बनाने की वजह स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावद्विषयकप्रत्यक्षत्वसम्बन्ध से पर्याप्तिविशिष्ट नहीं है । इस तरह कारणतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्ध से कारणतावच्छेदकधर्मविशिष्ट घटाकाशसंयोगादिचाक्षुषकारण ही प्रसिद्ध नहीं है, तब घटाकाशसंयोगादि में विषयतासम्बन्ध से चाक्षुष की उत्पत्ति का आपादन करना कैसे संगत होगा ? निरुक्त कार्य-कारणभाव को मान्य करने से ही घटाकाशसंयोगादि के चाक्षुष की आपत्ति का परिहार हो जाता है तब द्रव्यसमवेतगोचरचाक्षुष के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव को प्रतिबन्धक मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। इस परिस्थिति में नानारूपवदवयवारब्ध घट को नीरूप मान कर द्रव्य - द्रव्यसमवेतचाक्षुष के प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से रूप को ही कारण मानने का जो पूर्व में प्रतिपादन किया गया था वही सुसंगत है' । <—

☰ रूपाभाव में द्रव्यसमवेतगोचरचाक्षुषप्रतिबन्धकता का समर्थन ☰

अपीत्या इति । **मगर प्रकरणकार श्रीमद्जी उपर्युक्त वक्तव्य के खिलाफ अपने मन्तव्य को व्यक्त करते हुए कहते हैं**

शब्दाद्यन्यतमभेदस्य चाक्षुषप्रयोजकत्वात् स्पर्शादेरिव शब्दादेरपि तत्त्वतत्त्वेन चाक्षुषाऽहेतुत्वादेव वा नाकाशादिगुणचाक्षुषापत्तिरिति तात्पर्यम्, उदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहेणाऽखण्ड-

❊ जयलता ❊

व्यासज्यवृत्तिगुणप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वकल्पनं, अव्यासज्यवृत्तिगुणचाक्षुषे च चक्षुषः स्वसंयुक्तरूपसमवायिसमवायसम्बन्धेन हेतुत्वकल्पनं; तदपेक्षया चाक्षुषं प्रति रूपाभावस्यैव प्रतिबन्धकत्वकल्पनैवोचिता । तथा च नानाविजातीयरूपवदवयवारब्धघटस्य नीरूपत्वे तत्समवेतसंयोगादिचाक्षुषं नैव स्यात्, तत्संयोगादौ स्वाश्रयसमवायेन रूपाभावस्य सत्त्वादिति निहितार्थः ।

ननु मया नानारूपवदवयवारब्धनीरूपघटादिना विषयतासम्बन्धेन द्रव्यसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुषः स्वसंयुक्तसमवायेनैव कारणत्वमुपेयते न तु स्वसंयुक्तरूपसमवायिसमवायेनेति न कारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तिगौरवम् । न चाकाशादिगुणगोचरचाक्षुषापत्तिर्दुर्निवारेवोपदर्शितरीत्येति **वाच्यम्**, विषयतासम्बन्धेन चाक्षुषं प्रति स्वरूपसम्बन्धेन स्पर्श-शब्दाद्यन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक-भेदस्य कारणत्वाभ्युपगमेनैव तत्प्रच्यवात्, शब्दादौ स्पर्श-शब्दाद्यन्यतमत्वस्य सत्त्वेन तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकान्योन्याभावस्य विरहात्, भेदस्य स्वप्रतियोगितावच्छेदकेन समं विरोधादित्याद्याशङ्कां निराकर्तुमुपक्षिपति —> **न चेति** । वाच्यमित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । **स्पर्श-शब्दाद्यन्यतमभेदस्य** = स्वरूपसंसर्गेण स्पर्श-शब्द-रस-गन्ध-गुरुत्व-ज्ञानेच्छा-कृति-गगनपरिमाणाद्यन्यतमत्वावच्छिन्न-तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य, **चाक्षुषप्रयोजकत्वात्** = विषयतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वात्, नाकाशादिगुणचाक्षुषापत्तिरित्यत्रान्वीयते । भावितार्थमेव । मतान्तरेण गगनादिगुणाऽचाक्षुषमुपपादयति - **स्पर्शादेरिव शब्दादेरपि तत्त्वतत्त्वेन** = शब्दत्व-गगनपरिमाणत्वादिना विषयविधया **चाक्षुषाऽहेतुत्वादेव** वेति । यथा स्पर्श-रस-गन्ध-गुरुत्वादि स्पर्शत्व-रसत्व-गन्धत्व-गुरुत्वत्वादिना विषयविधया चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति अहेतुः = प्रतिबन्धकः इति न स्पर्शादौ स्वसंयुक्तसमवायेन चक्षुषः सत्त्वेऽपि विषयतासम्बन्धेन चाक्षुषमुपजायते तथैव शब्द-गगनपरिमाणादिः विषयविधया शब्दत्व-गगनपरिमाणत्वादिना चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति अहेतुः = प्रतिबन्धक इति शब्दादौ स्वसंयुक्तसमवायेन चक्षुषः सत्त्वेऽपि न विषयतासम्बन्धेन चाक्षुषोत्पत्तिर्भवितुमर्हति। अत एव विजातीयानेकरूपवदवयवारब्धघटस्य नीरूपत्वेऽपि न तत्संयोगाद्यचाक्षुषत्वप्रसङ्गः सावकाशः, रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वाऽकल्पनादिति फक्किकार्थः ।

प्रकरणकारः तन्निराकुरुते - **उदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां** = चाक्षुषत्वावच्छिन्नकारणीभूतभेदप्रतियोगिकुक्षौ उदासीननिवेशा-

कि —> उपर्युक्त रीति से व्यासज्यवृत्तिगुणप्रत्यक्ष के प्रति यावदाश्रयगोचर प्रत्यक्ष को कारण मान कर घटाकाशसंयोगादि के चाक्षुष की आपत्ति का निवारण करने पर भी आकाशादि के अव्यासज्यवृत्ति शब्दादि गुण के चाक्षुष की आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहती है । मतलब कि स्वसंयुक्तसमवाय सम्बन्ध से चक्षु इन्द्रिय शब्द में, जो कि चक्षुसंयुक्त आकाश में समवेत है, रहने से उसमें विषयता सम्बन्ध से चाक्षुष प्रत्यक्ष उत्पन्न होना चाहिए । शब्द तो केवल आकाश में ही समवाय सम्बन्ध से रहने से अव्यासज्यवृत्ति गुण होने की वजह उसके प्रत्यक्ष के प्रति तो यावदाश्रयप्रत्यक्ष यानी स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणता-वत्प्रत्यक्षत्वसम्बन्ध से पर्याप्तिमत् प्रत्यक्ष विषयतासम्बन्ध से कारण ही नहीं होने से उसकी अपेक्षा नहीं रहेगी । यदि उक्त आपत्ति का वारण करने के लिए ऐसा कहा जाय कि —> 'द्रव्यसमवेतविषयक चाक्षुष के प्रति चक्षु स्वसंयुक्तसमवाय सम्बन्ध से कारण नहीं है किन्तु स्वसंयुक्त-रूपसमवायिद्रव्य समवाय सम्बन्ध से कारण है । आकाश रूपसमवायिद्रव्य नहीं होने चक्षु स्वसंयुक्त-रूपसमवायिद्रव्यसमवाय सम्बन्ध से शब्द में न रहने की वजह शब्दादि के चाक्षुष साक्षात्कार की आपत्ति को अवकाश नहीं है' <— तो यद्यपि शब्दादि के अचाक्षुष की तो उपपत्ति हो जायेगी मगर कारणतावच्छेदक प्रत्यासत्ति के मध्य में रूपवत्त्व = रूपसमवायित्व का प्रवेश होने की वजह गौरव दोष प्रसक्त होगा । स्वसंयुक्तसमवाय की अपेक्षा स्वसंयुक्तरूप-समवायिद्रव्यानुयोगिकसमवायसम्बन्ध को कारणतावच्छेदक मानने में गौरव तो स्पष्ट ही है । यदि यहाँ यह शंका हो कि —> "विषयतासम्बन्ध से द्रव्यसमवेतचाक्षुष के प्रति चक्षु तो स्वसंयुक्तसमवाय सम्बन्ध से ही कारण है मगर स्वरूपसम्बन्ध से स्पर्शशब्दादिअन्यतमप्रतियोगिक भेद भी विषयतासम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले द्रव्यसमवेतचाक्षुष का हेतु है । आकाशगुण शब्दादि तो स्पर्शशब्दादिअन्यतम होने से उसमें स्पर्शशब्दादिअन्यतमप्रतियोगिकभेद स्वरूपसम्बन्ध से नहीं रह सकता, क्योंकि भेद स्वप्रतियोगितावच्छेदक का असमानाधिकरण होता है । भेदप्रतियोगितावच्छेदक स्पर्शशब्दादिअन्यतमत्व के आश्रय शब्दादि में उक्त भेद नहीं होने से उसके चाक्षुष का आपादन असंगत है । अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि जैसे स्पर्शरूपादि स्पर्शत्व-रूपत्वादिरूप से विषयविधया चाक्षुष के हेतु नहीं है ठीक वैसे ही शब्द, आकाशपरिमाण आदि भी शब्दत्व- आकाश-परिमाणत्वादिरूप से विषयविधया चाक्षुष के हेतु नहीं है । इसलिए आकाशादिगुण के चाक्षुष का आपादन नहीं किया जा

भेदस्याऽहेतुत्वमित्युक्तत्वात्, रूपाभावस्य चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वे शब्दादीनां तत्त्वतत्त्वेन हेतुत्वाऽ-

❀ जयलता ❀

निवेशाभ्यां, **विनिगमनाविरहेण अखण्डभेदस्याऽहेतुत्वमिति** । स्पर्श-रस-गन्ध-गुरुत्वादेस्तु चाक्षुषकारणीभूतभेदप्रतियोगिकोटौ निवेशो निर्विवादसिद्धः । परं तत्र गगनगुणादेः प्रवेशः कार्यो न वा ? इत्यत्र न विनिगमकं किञ्चिल्लभ्यते, तस्योदासीनत्वात् । तथापि चेत् तत्र तस्य प्रवेशः स्वीक्रियेत, तद्वदेव परमाणु-द्व्यणुक-पिशाचादेरपि तत्र प्रवेशापत्तेः । यदि भेदप्रतियोगिकोटौ तन्निवेशो नाऽङ्गीक्रियेत तत एव मा भूत् शब्दादेरपि तत्र निवेशः, शब्दादेस्तत्र निवेशे च परमाणु-द्व्यणुक-पिशाचादेरपि निवेशस्य तत्र प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, अन्यथा अर्धवैशसप्रसङ्गात् । न च महत्त्वोद्भूतरूपादिविरहेणैव तदचाक्षुषोपपत्तेर्न तस्य प्रतियोगिकोटौ निवेश इति **वाच्यम्**, चाक्षुषप्रतिबन्धकीभूतरूपाभावविशिष्टत्वेन शब्दादेरप्यचाक्षुषोपपत्तेर्न तस्य प्रतियोगिकोटौ निवेशनीयत्वमित्यस्यापि सुवचत्वात् । एवञ्चोदासीनसमावेशाऽसमावेशाभ्यामविनिगमात् निरुक्तान्योन्याभावस्य न चाक्षुषहेतुत्वं सम्भवतीति भावः । **उक्तत्वादिति** 'प्रतियोगिकोटावुदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहादि'ति (दृश्यतां ५५८ तमे पृष्ठे) पूर्वमुक्तत्वात् । 'अस्तु तर्हि स्पर्श-शब्दादीनां तत्त्वतत्त्वेन चाक्षुषाऽहेतुत्वम् । एवमपि शब्दस्याचाक्षुषोपपत्तेः' इत्याशङ्कामपाकर्तुमाह **रूपाभावस्य चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वे** = चाक्षुषत्वावच्छिन्ननिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतावत्त्वे स्वीक्रियमाणे सति, **शब्दादीनां तत्त्वतत्त्वेन हेतुत्वाऽकल्पनलाघवात्** = चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वाकल्पनेन लाघवात् । अयं भावः विषयतया चाक्षुषं प्रति शब्दस्य शब्दत्वेन गगनपरिमाणस्य गगनपरिमाणत्वेन गगनैकत्वस्य च गगनैकत्वत्वेन प्रतिबन्धकत्वमित्यादिकल्पनायां गौरवं तदपेक्षया रूपाभावस्यैकस्यैव चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वकल्पनायां लाघवमिति रूपाभावस्यैव चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वे न्यायप्राप्ते नानारूपवदवयवारब्ध-नीरूपघट-तत्समवेतसंयोगाद्यचाक्षुषत्वं वज्रलेपायितमेवेति ध्वनितार्थः ।

ननु विषयतासम्बन्धेन द्रव्यसमवेतविषयकचाक्षुषं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन चाक्षुषाभावस्यैव प्रतिबन्धकत्वं न तु रूपाभावस्य । न च त्रसरेणुचाक्षुषे व्यभिचारः, तदाश्रयस्य द्व्यणुकस्याऽचाक्षुषत्वेऽपि त्रुटौ विषयतासम्बन्धेन चाक्षुषोदयस्योपलब्धेरिति वाच्यम्, प्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ त्रुटिद्रव्यान्यत्वस्य निवेशेनैव तत्प्रच्यवात् । त्रुटिभिन्नद्रव्यसमवेतगोचरचाक्षुषं प्रति स्वाश्रय-समवेतत्वसम्बन्धेन चाक्षुषविरहस्य प्रतिबन्धकत्वसिद्धौ न शब्दादिचाक्षुषत्वप्रसङ्गः, आकाशस्याऽचाक्षुषत्वेन स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन चाक्षुषाभावस्य शब्दादौ सत्त्वात् । इत्थञ्च रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वाऽस्वीकारेऽपि घटाकाशसंयोगाद्यचाक्षुषत्वोपपत्तौ नानारूप-वदवयवारब्धघटस्य स्वोत्पादकालाऽनन्तरमपि नीरूपत्वे दोषलेशगन्धोऽपि नास्तीति नीरूपघटवाद्यभिप्रायमपहस्तयितुमुपक्रमते

सकता । आकाशादिगुण विषयविधया चाक्षुष के हेतु ही नहीं है तब उसमें विषयविधया चाक्षुष की आपत्ति भी कैसे दी जा सकती ?' <— तो यह भी अयुक्त है । इसका कारण यह है कि स्पर्श-शब्दादिअन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद को स्वरूप सम्बन्ध से द्रव्यसमवेतविषयक चाक्षुष का, जो विषयतासम्बन्धावच्छिन्न कार्यता का आश्रय है, कारण मानने पर कारणीभूत भेद की प्रतियोगिकोटि में उदासीन के प्रवेशाऽप्रवेश का कोई विनिगमक नहीं है । अतः पूर्वोक्त रीति से अखण्डभेदविधया वह कारण नहीं हो सकता । मतलब यह है कि चाक्षुषकारणीभूतभेदप्रतियोगिकुक्षि में स्पर्श, रस, गन्ध, गुरुत्वादि धर्म का समावेश तो सर्वमान्य है । मगर शब्दादि का निवेश विवादग्रस्त है, क्योंकि वे चाक्षुष के प्रति उदासीन हैं । फिर भी भेदप्रतियोगिकोटि में शब्दादि का निवेश किया जाय तब तो परमाणु, द्व्यणुक, पिशाच आदि का भी भेदप्रतियोगिकोटि में निवेश हो जायेगा, जो नीरूपघटवादी को भी अभिमत नहीं है । अतः स्पर्श-रस-गन्ध-गुरुत्व-गगनगुणादि-परमाणु-द्व्यणुक -पिशाचादि अन्यतमप्रतियोगिक भेद को चाक्षुषकारण मानने की आपत्ति नीरूपघटवादी के मत में आयेगी । यदि कारणीभूतभेदप्रतियोगिकोटि में परमाणु-द्व्यणुकादि का निवेश अमान्य हो तब तो शब्दादि का निवेश भी अमान्य होने से केवल स्पर्श-रसादिअन्यतमप्रतियोगिकभेद को ही चाक्षुषकारण मानना होगा, जिसके फलस्वरूप में प्रतिवादी के मत में शब्दादि के चाक्षुष की पुनः आपत्ति आयेगी। इस तरह भेदप्रतियोगिकोटि में उदासीन के प्रवेशाऽप्रवेश का विनिगमक नहीं होने से उक्त अखण्ड भेद को चाक्षुष साक्षात्कार का कारण नहीं माना जा सकता तथा शब्दादि को तत्त्वतत्त्वरूप से विषयविधया कारण मानने की अपेक्षा उचित तो यही है कि रूपाभाव को ही चाक्षुष साक्षात्कार का प्रतिबन्धक माना जाय । रूपाभाव को ही चाक्षुषप्रतिबन्धक मान लेने पर शब्दादि में तत्त्वतत्त्वेन = शब्दत्व धर्म से विषयविधया चाक्षुष की प्रतिबन्धकता की कल्पना अनावश्यक होने से लाघव भी है । इस तरह जब रूपाभाव में प्रतिबन्धकता सिद्ध हो गई तब नानारूपवदवयवारब्ध घट को नीरूप मानने पर तत्समवेत संयोगादि धर्म का चाक्षुष साक्षात्कार कैसे सिद्ध हो सकेगा ? अतः नानाविजातीयरूपवदवयवारब्ध घट को नीरूप नहीं माना जा सकता - यह फलित होता है ।

कल्पनलाघवाच्च। न च चाक्षुषाभावस्यैवाऽस्तु द्रव्यान्यसच्चाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धकत्वं, आश्रयाऽचाक्षुषत्वेनैव द्व्यणुकाद्यचाक्षुषत्वोपपत्तौ महत्त्वस्यापि प्रत्यासत्त्यघटकत्वे लाघवादिति वाच्यम्, लौकिकविषयितावच्छिन्नचाक्षुषाभावापेक्षया समवायसम्बन्धावच्छिन्नरूपाभावस्य लघुत्वात् ।

❀ जयलता ❀

—> **न चेति** वाच्यमित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । स्वाश्रयसमवेतत्वसंसर्गेण **चाक्षुषाभावस्यैव** न तु रूपाभावस्य, **अस्तु द्रव्यान्यसच्चाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धकत्वमिति** । द्रव्यपदं त्रसरेणुपरं, अन्यथाऽनुपदं वक्ष्यमाणशङ्काग्रन्थाऽसङ्गतापत्तेरिति । सत्पदं च सत्ताजातिमतो द्रव्यसमवेतस्य बोधकम्, प्रतिबध्यतावच्छेदकशरीरलाघवानुरोधेन द्रव्यसमवेतपदं विहाय सत्पदोपादानमिति ध्येयम् । किञ्च त्रुटिभिन्नसच्चाक्षुषं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पने तु द्व्यणुकादिगोचरं चाक्षुषं दुर्निवारं, पार्थिवपरमाण्वादौ रूपस्य सत्त्वेन तत्समवेतद्व्यणुकादौ स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावस्य विरहात् । **न च** महत्त्वस्यापि चाक्षुषसहकारित्वात्रायं दोष इति **वाच्यम्,** तथा सति महत्त्वस्य पृथक्कारणत्वकल्पनागौरवात् । न च चाक्षुषकारणतावच्छेदकसम्बन्धकोटौ तत्प्रवेशान्न पृथक्कारणत्वकल्पनमिति **वक्तव्यम्,** तथापि मन्मते **आश्रयाऽचाक्षुषत्वेनैव द्व्यणुकाद्यचाक्षुषत्वोपपत्तौ,** आदिपदेन पार्थिवपरमाणुरूपादिग्रहणं, **महत्त्वस्यापि प्रत्यासत्त्यघटकत्वे लाघवात्** = कारणतावच्छेदकसम्बन्धशरीरलाघवात् । नानारूपवदवयवारब्ध-नीरूपघटवादिमते आश्रयचाक्षुषाभावस्यैव प्रतिबन्धकत्वस्वीकारात् विषयतासम्बन्धेन द्रव्यसमवेतचाक्षुषं प्रति स्वसंयुक्तसमवायेनैव चक्षुषः कारणत्वं परन्तु रूपाभावनिष्ठचाक्षुषप्रतिबन्धकतावादिमते तु द्रव्यसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुषः स्वसंयुक्तमहत्त्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन चक्षुषः कारणत्वमिति स्फुटमेव तदंशे गौरवम् । **न च** सम्बन्धगौरवस्याऽदोषत्वमिति **वाच्यम्,** सति लघौ गुरोः सम्बन्धत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति शङ्काग्रन्थतात्पर्यम् ।

प्रकरणकारः तन्निराकरोति —> **लौकिकविषयितावच्छिन्नचाक्षुषाभावापेक्षया** = स्वनिष्ठलौकिकविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकचाक्षुषाभावापेक्षया, **समवायसम्बन्धावच्छिन्नरूपाभावस्य** = समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकरूपाभावस्य चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वोपगमे लाघवात् = **लघुत्वात्** । अयं समाधानाशयः अलौकिकविषयितानिरूपितविषयतया यत्र चाक्षुषं नास्ति तत्समवेतरूपादीनां चाक्षुषत्वानुरोधात् लौकिकविषयितानिरूपितविषयतासंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकचाक्षुषाभावस्यैव स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वमभ्युपगन्तव्यं नीरूपघटवादिना । मया तु समवायावच्छिन्नरूपाभावस्यैव तथात्वमिति प्रतिबन्धकतावच्छेदकताघटकशरीरलाघवाद्रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वं युक्तिमदित्यभिप्रायः । न च सम्बन्धगौरवस्याऽदोषत्वमित्युद्गिरणीयम्, सति लघौ गुरोः सम्बन्धत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति त्वयैवोक्तत्वात् । किञ्च मया सच्चाक्षुषं प्रत्येव

न च चा.इति । यदि यहाँ नीरूपघटवादी ओर से शब्दादि के अचाक्षुष की उपपत्ति के लिए ऐसा कहा जाय कि —> 'विषयतासम्बन्ध से द्रव्यान्यसद्विषयक चाक्षुष के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से चाक्षुषाभाव प्रतिबन्धक होने से आकाशादि के गुण का, जो द्रव्यभिन्न होते हुए सत्ताजातिमान् है, चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सकता नहीं है, क्योंकि आकाशादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होने से स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से चाक्षुषाभाव आकाशादिगुण में रह जाता है । यह तो सर्वजनविदित है कि घटादि द्रव्य का चाक्षुष नहीं होने पर घटगत परिमाण, रूप आदि का भी चाक्षुष होता नहीं है । अतः आश्रयविषयक चाक्षुष का अभाव गुणादि के चाक्षुष में प्रतिबन्धक बनना न्यायप्राप्त है । द्व्यणुक का चाक्षुष नहीं होने पर भी त्र्यणुक का चाक्षुष होने से सद्विषयक चाक्षुष को प्रतिबध्य न कह कर द्रव्यान्य - सद्विषयक चाक्षुष को प्रतिबध्य कहा गया है । इस प्रतिबध्य - प्रतिबन्धकभाव का स्वीकार करने का लाभ यह है कि द्व्यणुक के आश्रय परमाणु का चाक्षुष नहीं होने से ही द्व्यणुक के अचाक्षुष की उपपत्ति हो जाने से महत्त्व को चाक्षुषकारणतावच्छेदक प्रत्यासत्ति का घटक मानने की आवश्यकता नहीं होने से लाघव भी है । मतलब कि चक्षु को स्वसंयुक्तमहत्त्ववद्द्रव्यसमवेतत्व सम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष का कारण मानने की आवश्यकता नहीं है । स्वसंयुक्तसमवाय सम्बन्ध से ही द्रव्यचाक्षुषकारणता की उपपत्ति हो जाती है । अतः शब्दादि के अचाक्षुष के अनुरोध से रूपाभाव को चाक्षुषप्रतिबन्धक मानने कि आवश्यकता नहीं है । इस परिस्थिति में नानारूपवदवयवारब्ध घटादि को नीरूप मानने पर भी तत्समवेत संयोगादि के अचाक्षुष की आपत्ति का भी कोई अवकाश नहीं है' <— तो यह कथन भी असंगत है । इसका कारण यह है कि यदि आप लाघव से ही चाक्षुषाभाव को चाक्षुषप्रतिबन्धक मानते हैं तब तो रूपाभाव को ही चाक्षुषप्रतिबन्धक मानना मुनासिब है । मतलब यह है कि चाक्षुषाभाव लौकिकविषयितावाला और अलौकिकविषयितावाला इस तरह द्विविध है । इनमें से अलौकिकचाक्षुषविषयितावाले चाक्षुष का अभाव तो आश्रितगोचर चाक्षुष का प्रतिबन्धक नहीं बन सकता है, क्योंकि अलौकिकविषयितावाले घटचाक्षुष का अभाव होने पर भी घट में आश्रित रूपादि

चाक्षुषलौकिकविषयत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षाभावादेरपि तथात्वे विनिगमकाभावोक्तिस्तु कस्यचिन्न शोभते, समनियताभावाऽभेदात् ।

❀ जयलता ❀

रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यते त्वया तु असरेणुद्रव्यान्यत्वस्य प्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ देयत्वेन प्रतिबन्धकाभावनिरूपितकार्यतावच्छेदकधर्मगौरवमप्यधिकम् । आश्रयाऽचाक्षुषत्वेनैव द्व्यणुकाद्यचाक्षुषत्वोपपादनेऽपि गगनादेरचाक्षुषत्वोपपादनं न कथमपि परस्य सङ्गच्छते, तत्र स्वाश्रयसमवायेन चाक्षुषाभावस्यैव विरहात् । न च द्रव्यपदं न त्रुटिद्रव्यपरमिति न तदनुपपत्तिरिति **वाच्यम्,** तथा सति द्व्यणुकादेरपि प्रतिबध्यताकुक्षिबहिर्भावापातेन महत्त्वस्य प्रत्यासत्त्यघटकत्वाभिधानाऽसङ्गत्यापत्तेः । ततश्च सच्चाक्षुषं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन समवायावच्छिन्नरूपाभावस्यैव प्रतिबन्धकत्वमर्हति । ततश्च नानावयवारब्धघटस्य नीरूपत्वे तत्समवेतसंयोग-परिमाणादीनां चाक्षुषं नैव स्यादिति प्रकरणकृतस्तात्पर्यम् ।

नीरूपघटवादिमतप्रतिक्षेपिणः कस्यचिन्मतं खण्डयितुमुपदर्शयति --> **चाक्षुषलौकिकविषयत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षाभावादेरपि** = चाक्षुषसाक्षात्कारनिष्ठलौकिकविषयितानिरूपितविषयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रत्यक्षात्यन्ताभावादेरपि **तथात्वे** = द्रव्यान्यसच्चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वे **विनिगमकाभावोक्तिरिति** । विषयतासम्बन्धेन द्रव्यान्यसच्चाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धकत्वं स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन लौकिकविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकचाक्षुषाभावस्य यद्वा चाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रत्यक्षाभावस्य ? इत्यत्र विनिगमनाविरहात् न लौकिकविषयतावच्छिन्नचाक्षुषाभावस्य प्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमः श्रेयानिति उक्तिः **तु कस्यचिन्न शोभते** ।

तदशोभनत्वे प्रकरणकारो हेतुमाह --> **समनियताभावाभेदात्** = समव्याप्यव्यापकाभावानामैक्यादिति । निरुक्तचाक्षुषाभावप्रत्यक्षाभावयोः समव्याप्तत्वेनाऽतिरिक्तत्वकल्पने गौरवात्, निरुक्तप्रत्यक्षाभावाधिकरणे लौकिकविषयतया चाक्षुषस्याऽनुपलब्धेः, निरुक्तचाक्षुषाभावाधिकरणे निरुक्तप्रत्यक्षाभावव्यवहाराच्च तयोरैक्यमेवेति । **एतेन** प्रदर्शितविनिगमनाविरहः **प्रत्युक्तः**, शब्दभेदऽ-

का चाक्षुष होता है । अतः लौकिकविषयतावाले चाक्षुषाभाव को ही स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से चाक्षुष का प्रतिबन्धक मानना होगा । अतः प्रतिबन्धकताअवच्छेदक धर्म का शरीर लौकिकविषयिताविशिष्टचाक्षुषप्रतियोगिकाभावत्व होगा । मगर रूपाभाव को चाक्षुष का प्रतिबन्धक मानने में रूप का कोई विशेषण आवश्यक नहीं है । केवल समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक रूपाभाव ही प्रतिबन्धक बन सकता है । अतः प्रतिबन्धकतावच्छेदकगौरव दोष हमारे पक्ष में अप्रसक्त है । अथवा यह भी कहा जा सकता है नीरूपघटवादी को लौकिकविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक चाक्षुषाभाव को स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से प्रतिबन्धक मानना होगा जब कि हमारे पक्ष में समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक रूपाभाव को ही स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से प्रतिबन्धक मानना होगा । स्पष्ट ही है कि नीरूपघटवादी के मत में प्रतिबन्धकतावच्छेदकताघटक सम्बन्ध में हमारे मत की अपेक्षा गौरव है । जब लघुसम्बन्ध सम्भव हो तब गुरुभूत सम्बन्ध की कल्पना करना एवं उसे मान्य करना अन्याय्य है । अतः रूपाभाव को ही चाक्षुषप्रतिबन्धक मानना होगा, जिसके फलस्वरूप नीरूपघटसमवेत संयोग - परिमाण आदि के अचाक्षुष की आपत्तिः पुनः मुँह फाड खडी रहेगी । अतः नानारूपवदवयवारब्ध घटादि को नीरूप नहीं माना जा सकता - यह फलित होता है ।

चाक्षुषलौ.इति । नीरूपघटवादी के प्रतिवाद में अन्य विद्वानों का यह वक्तव्य है कि --> 'विषयता सम्बन्ध से द्रव्यान्यसद्विषयक चाक्षुष के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से लौकिकविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक चाक्षुषाभाव को प्रतिबन्धक मानना या चाक्षुषलौकिकविषयितानिरूपित विषयता सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रत्यक्षाभाव को प्रतिबन्धक मानना ? इस विषय में किसी भी पक्ष की साधक युक्ति नहीं है । विनिगमनाविरह से दोनों को प्रतिबन्धक मानना होगा । अतः निरुक्त चाक्षुषाभाव को प्रतिबन्धक नहीं कहा जा सकता' <— मगर प्रकरणकार श्रीमद्जी इसके खिलाफ में यह कहते हैं कि नीरूपघटवादी के प्रति विनिगमनाविरह दोष का उद्भावन करना ठीक नहीं है, क्योंकि समनियताभाव परस्पर अभिन्न होते हैं । जहाँ जहाँ निरुक्त चाक्षुषाभाव स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रहता है वहाँ वहाँ निरुक्त प्रत्यक्षाभाव भी अवश्य रहता है और जहाँ जहाँ निरुक्त प्रत्यक्षाभाव उसी संबन्ध से रहता है वहाँ वहाँ निरुक्त चाक्षुषाभाव भी अवश्य रहता है । दोनों परस्पर समनियत = समव्याप्य-व्यापक होने से दोनों को परस्परभिन्न मानने में गौरव है । अतः समनियताभाव को परस्पर अभिन्न मानना ही संगत है । इस विषय का निरूपण पूर्व व्यवहारनय से ध्वंसनिरूपणावसर में किया गया है । जिज्ञासु वहाँ अपनी निपुण निगाह डाले यह विज्ञप्ति (देखिये प्रथम खंड पृष्ठ १९) । जब कि समनियताभाव परस्पर अभिन्न ही हैं

किञ्च त्रुटावेव विश्रामे महत्त्वस्योभयथा प्रत्यासत्त्यघटकत्वेन विनिगमनाविरहादपि रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वम् । रूपाद्युत्पत्तिक्षणे रूपचाक्षुषं तु पूर्वं विषयाभावादेव नेत्युभयत्र तुल्यम् । इत्थञ्च तादृशघटस्य नीरूपत्वे तादृशघटवृत्तिसंयोगादिचाक्षुषं न स्यात् ।

❀ जयलता ❀

पर्यायभेदात्, विनिगमनाविरहस्याऽर्थभेदव्याप्यत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति विभावनीयम् ।

प्रकरणकारः प्रासङ्गिकमुक्त्वा पूर्वं नानाविजातीयरूपवदवयवारब्धनीरूपघटवादिना स्वपक्षे त्र्यणुकाद्यचाक्षुषानुरोधेन महत्त्वस्य प्रत्यासत्त्यघटकत्वेन लाघवमुक्तं तत्त्वांशे साधयितुमुपक्रमते —> **किञ्चेति । त्रुटौ** = त्रसरेणौ एव, न तु परमाणौ, अवयविनः **विश्रामे** = पर्यवसाने स्वीक्रियमाणे, तु **महत्त्वस्य उभयथा** = चाक्षुषाभावनिष्ठप्रतिबन्धकत्वपक्षे रूपाभावनिष्ठप्रतिबन्धकत्वपक्षे च **प्रत्यासत्त्यघटकत्वेन** = चाक्षुषत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितायाः चक्षुर्निष्ठकारणतायाः अवच्छेदकत्वसम्बन्धकुक्षावप्रविष्टत्वेन, **विनिगमनाविरहादपि रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वं** = चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वं स्वीकर्तव्यम्, अन्यथा पक्षपातमात्रात् । वस्तुतस्तु परमाणावेवाऽवयविनो विश्रान्तत्वेन अस्मदुक्तदिशा चाक्षुषाभावस्य प्रतिबन्धकत्वाऽसम्भवेन रूपाभावस्यैव तथात्वमिति दृढतरमवधेयम् ।

ननु स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावस्यैव विषयतया सचाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धकत्वे रूपाद्युत्पत्तिक्षणेऽपि रूपादेः चाक्षुषं कुतो न भवति ? तदा रूपाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपादौ विरहात्, कार्यसहभावेनैव प्रतिबन्धकत्वस्वीकारादिति स्वाश्रयसमवेतत्वसंसर्गेण चाक्षुषाभावस्यैव प्रतिबन्धकत्वमभ्युपेयमिति नानारूपवदवयवारब्धनीरूपघटवाद्याशङ्कायामाह- **रूपाद्युत्पत्तिक्षणे रूपचाक्षुषं** = विषयतया रूपादौ चाक्षुषोत्पादः **तु पूर्वं** = रूपादिचाक्षुषलक्षणकार्योत्पादोत्पादनक्षणाऽव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन, **विषयाभावात्** = रूपादिस्वरूपस्वगोचरविरहात् **एव न** भवतीति **उभयत्र** = चाक्षुषाभावरूपाभावप्रतिबन्धकतावादिमतयोः **तुल्यमिति** । प्रत्युत तव मते पाकजनितरूपनाशक्षणावच्छेदेन घटसमवेतसंयोगादेः चाक्षुषं कुतो न भवति ? इति पर्यनुयोगस्याऽसमाधेयत्वम्, तत्र तदानीं स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन चाक्षुषसत्त्वे बाधकाभावात्, रूपाभावस्य तथा प्रतिबन्धकत्वानुपगमात् । न च तदानीं संयोगादिचाक्षुषं भवत्येवेति **वक्तव्यम्**, शपथमात्रश्रद्धेयत्वात् । ततश्च रूपाभावस्यैव चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वमभ्युपेयम् । निगमयति - **इत्थञ्च** = व्यावर्णितरीत्या स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावस्यैव विषयतासम्बन्धेन सचाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धकत्वसिद्धौ च, **तादृशघटस्य** = नानाविजातीयरूपवदवयवारब्धघटस्य स्वोत्पादानन्तरमपि **नीरूपत्वे** स्वीक्रियमाणे **तादृशघटवृत्तिसंयोगादिचाक्षुषं** विषयतासम्बन्धेन तत्संयोगादौ **न स्यात्**, तत्र स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावस्य सत्त्वात् । अतो न तादृशघटस्य नीरूपत्वं श्रद्धेयमिति निष्कर्षः ।

तब तो निरुक्त चाक्षुषाभाव को प्रतिबन्धक मानो या निरुक्त प्रत्यक्षाभाव को प्रतिबन्धक मानो - केवल शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं । अतः इस परिस्थिति में विनिगमनाविरह दोष प्रसक्त नहीं हो सकता, अन्यथा दण्ड को कुम्भ का कारण माना जाय या घट का ? ऐसा विनिगमनाविरह भी प्रसक्त होगा । अतः नीरूपघटवादी के मत का प्रत्याख्यान करना हो तो यही कहना चाहिए कि 'समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताक रूपाभाव को प्रतिबन्धक मानने की अपेक्षा लौकिकविषयितानिरूपित-विषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक चाक्षुषाभाव को प्रतिबन्धक मानने में गौरव है' । यही हमने पूर्व में कहा था । इस तरह प्रासंगिकरूप से नीरूपघटवादी के प्रतिवादी के मत का प्रत्याख्यान कर के पुनः नीरूपघटवादी के मत का उन्मूलन करने के लिए आगे कुछ कहते हैं ।

किञ्च त्रु.इति । इसके अतिरिक्त बात यह है कि अवयवी का परमाणु में विश्राम न मान कर त्रसरेणु में ही विश्राम माना जाय तब तो चाक्षुष के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से चाक्षुषाभाव को प्रतिबन्धक मानो या रूपाभाव को प्रतिबन्धक मानो, दोनों ही पक्ष में चाक्षुष के प्रति चक्षुनिष्ठकारणताअवच्छेदकसम्बन्ध की कुक्षि में महत्त्व का निवेश अनावश्यक होने से रूपाभाव को चाक्षुषप्रतिबन्धक मानने पर भी प्रत्यासत्तिगौरव दोष अप्रसक्त है । अतएव रूपाभाव को चाक्षुषप्रतिबन्धक मानना या चाक्षुषाभाव को ? इस विवाद का कोई अंत नहीं आने की वजह रूपाभाव को भी चाक्षुष का प्रतिबन्धक माना जा सकता है । यहाँ यह शंका हो कि —> 'रूपाभाव को चाक्षुष का प्रतिबन्धक मानने पर तो जब घटादि में रूपादि उत्पन्न होता है उसी समय रूपादि के चाक्षुष की आपत्ति आयेगी, क्योंकि उस समय रूप में स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव, जो आपके मतानुसार चाक्षुष का प्रतिबन्धक है, नहीं रहता है' <— तो इसका समाधान यह है कि किसी भी

एतेन उद्भूतैकत्वस्याऽयोग्यव्यावृत्तधर्मविशेषस्यैव वा द्रव्यचाक्षुषकारणत्वेन रूपं विनापि घटादिचाक्षुषत्वोपपादनेन तादृशघटस्य नीरूपत्वसमर्थनं नवीनानां प्रत्याख्यातमेव ।

❀ नयलता ❀

एतेन = विषयतासम्बन्धेन द्रव्यसमवेतचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वप्रतिपादनेन, अस्य चाऽग्रे 'प्रत्याख्यातमेव' इत्यनेनाऽन्वयः । **उद्भूतैकत्वस्येति** । पिशाचादेः चाक्षुषत्ववारणाय उद्भूतपदनिवेशः । विषयतासम्बन्धेन द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति स्वसमवायसम्बन्धेन उद्भूतैकत्वस्य कारणत्वमिति भावः । यद्यपि उद्भूतत्वं रूपस्पर्शादिष्वेव प्रसिद्धं न तु सङ्ख्यायां तथापि फलबलेन प्रकृते तत्कल्पनम् । परन्त्वेवं तत्कल्पनायामन्योन्याश्रयः एकत्वे उद्भूतत्वसिद्धौ उद्भूतैकत्वस्य द्रव्यचाक्षुषकारणत्वसिद्धिः तत्सिद्धौ चैकत्वे उद्भूतत्वसिद्धिरिति । **न च** पिशाचादिचाक्षुषत्वाभावान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पनम् इति **वाच्यम्,** उद्भूतरूपाभावादेव तदुपपत्तेः । **न चोद्भूतस्पर्शसमानाधिकरणैकत्वमेवोद्भूतैकत्वमिति वक्तव्यम्,** तथा सति वायोरपि चाक्षुषत्वापत्तेः, त्वन्मतेऽपि वायावुद्भूतस्पर्शाभ्युपगमात् । **न चोद्भूतरूपसमानाधिकरणमेकत्वमेवोद्भूतैकत्वपदार्थः. एतेन** पिशाचाद्यनुपलब्धिरपि **व्याख्याता इति वक्तव्यम्,** एवं सति नानाजातीयरूपवदवयवारब्धघटादेरचाक्षुषत्वापातेन नीरूपत्व-सिद्धिमनोरथ आयुष्मतां व्याहन्येत । **न च** प्रकृष्टमहत्त्वसमानाधिकरणमेकत्वमेवोद्भूतैकत्वपदेन ज्ञाप्यत इति **वाच्यम्,** तथा सति गगनादेरपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गात् । इत्थञ्चैकत्वे उद्भूतत्वस्यैवाऽसिद्धौ उद्भूतैकत्वस्य द्रव्यचाक्षुषकारणत्वाभिधानं वन्ध्यासुतस्य कुम्भकर्तृत्वाभिधानतुल्यमापद्येतेत्याशङ्कायां कल्पान्तरमाविर्भावयन्ति **अयोग्यव्यावृत्तधर्मविशेषस्य** = चक्षुरयोग्यद्रव्याऽवृत्तिधर्मविशेषस्य चक्षुर्योग्यद्रव्यमात्रनिरूपितवृत्तित्वविशिष्टद्रव्यत्वादिस्वरूपस्य **एव, वा** न तूद्भूतरूपस्य. **द्रव्यचाक्षुषकारणत्वेन** = विषयतासम्बन्धेन द्रव्यविषयकचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वेन. **रूपं विनाऽपि घटादिचाक्षुषत्वोपपादनेन** = निरुक्तधर्मविशेषबलेनैव घटादिद्रव्ये विषयतासम्बन्धेन चाक्षुषोदयसाधनेन, **तादृशघटस्य** = नानाजातीयरूपवदवयवारब्धघटस्य, स्वोत्पादानन्तरमपि **नीरूपत्वसमर्थनं नवीनानां प्रत्याख्यातमेव,** सिद्धप्रतिबन्धकतावद्रूपाभावे सति तादृशघटसमवेतचाक्षुषाऽसम्भवापत्तात्. द्रव्यचाक्षुषकारणीभूतधर्मविशेषनिष्ठाऽयोग्यद्रव्यव्यावृत्तिनियामकस्योद्भूतरूपस्यैव 'तद्धेतोरस्तु किं तेन ?' इतिन्यायेन चाक्षुषकारणत्वस्वीकारस्य न्याय्यत्वाच्चेति । **एतेन** घटाकाशसंयोगादीनां गुरुत्वादिवदयोग्यत्वादेव न तच्चाक्षुषत्वप्रसङ्ग इति प्रत्याख्यातम्, उदासीनप्रवेशाऽप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहस्योक्तत्वादिति **दिक्** ।

प्रत्यक्ष के प्रति अव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन विषय कारण होने की वजह रूपोत्पत्तिक्षण की पूर्व क्षण में रूपात्मक विषय ही नहीं होने से उसके चाक्षुष की आपत्ति नहीं दी जा सकती । यह प्रत्युत्तर तो आपके और हमारे मत में तुल्य है । अतः स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव को विषयतासम्बन्ध से सचाक्षुष का प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा । जब यह अनिच्छा से भी प्रतिवादी को स्वीकार्य होगा तब तो नानाविजातीयरूपवाले अवयवों से आरब्ध घट को अपनी उत्पत्ति के बाद भी नीरूप मानने पर उसमें समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले संयोगादि के अचाक्षुष की आपत्ति वज्रलेप हो जायेगी, क्योंकि उस संयोगादि में स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव रहता है । प्रतिबन्धक के रहने पर कार्य का जन्म कैसे हो सकता है ? इसी सबब नील, पीत आदि अनेकवर्णवाले अवयवों से आरब्ध घटादि को स्वोत्पत्ति के बाद नीरूप नहीं माना जा सकता <— यह फलित होता है' - ऐसा प्रकरणकार का अभिप्राय है ।

❋ नीरूपघटवादी नव्यनैयायिक के मत की समालोचना ❋

एतेन.इति । **यहाँ नव्य विद्वानों का यह वक्तव्य है कि —> 'समवाय सम्बन्ध से उद्भूत एकत्व अथवा अयोग्यव्यावृत्त धर्मविशेष अर्थात् चक्षुयोग्यवृत्तित्वविशिष्ट द्रव्यत्व - यह द्रव्यचाक्षुष के प्रति कारण है । अतः विभिन्नानेकरूपवाले अवयवों से आरब्ध घट में रूप उत्पन्न न होने पर भी उसका चाक्षुष साक्षात्कार हो सकता है, क्योंकि उसमें समवाय सम्बन्ध से उद्भूत एकत्व रहता है, जो पिशाचादि में रहता नहीं है । अथवा समवाय सम्बन्ध से वहाँ चक्षुयोग्यवृत्तित्वविशिष्ट द्रव्यत्व रहने से भी वहाँ विषयतासम्बन्ध से चाक्षुष साक्षात्कार की उत्पत्ति हो सकती है' <— ।**

मगर प्रकरणकार महोपाध्यायजी नव्य नैयायिकों को कहते हैं कि —> अब पछताये होत क्या जब चीर चोर गये खेत ! हमने अभी बता दिया है कि स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूपाभाव द्रव्यसमवेतविषयक चाक्षुष का, जो विषयतासम्बन्ध से स्वगोचर में उत्पन्न होता है, प्रतिबन्धक है तब तो तादृश नीरूप घट में रहनेवाले संयोग, परिमाण आदि का भी चाक्षुष साक्षात्कार न हो सकेगा, क्योंकि उन संयोग आदि में स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से रूपाभाव रहता है । नानाविजातीयरूपवाले

स्पार्शनं प्रति तु स्पार्शनाभावस्यैव प्रतिबन्धकत्वं न तु स्पर्शाभावस्य, त्रुटिसमवेताऽस्पार्शनानुरोधेन संयुक्तसमवायप्रत्यासत्तिमध्ये प्रकृष्टमहत्त्वस्य घटकत्वे गौरवात् । एवञ्च

❀ जयलता ❀

यथा नानारूपवदवयवारब्धनीरूपघटवादिना विषयतया द्रव्यसमवेतचाक्षुषं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन चाक्षुषाभावस्यैव प्रतिबन्धकत्वं स्वीक्रियते न तु रूपाभावस्य तथैव शक्यते मया वक्तुं नानारूपवदवयवारब्धनिःस्पर्शघटवादिना विषयतासम्बन्धेन **स्पार्शनं प्रति तु** स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन **स्पार्शनाभावस्यैव** = त्वगिन्द्रियजन्यसाक्षात्काराभावस्यैव, **प्रतिबन्धकत्वं न तु** स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन **स्पर्शाभावस्य** । इयांस्तु विशेषः नीरूपघटवादिमते उक्तदोषपरम्परायाः अनिर्वाल्यनीयत्वं मत्पक्षे तु नास्ति दोषगन्धलेशोऽपि । **न च** स्पार्शाभावस्य कुतो न तत्प्रतिबन्धकत्वमिति **वाच्यम्,** तथा सति त्रुटिस्पर्शस्पार्शनत्वापत्तेः सुरगुरुणाऽपि निराकर्तुमशक्यत्वात्, स्वसंयुक्तसमवायेन त्वगिन्द्रियस्य स्वसंयुक्तत्रुटिसमवेतस्पर्शे सत्त्वात्, त्रुटेः स्पर्शवत्त्वेन तत्स्पर्शे स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन स्पर्शाभावस्य च विरहात्, सति कारणकलापे कार्योत्पादस्य न्याय्यत्वात् । **न च** प्रकृष्टमहत्त्वस्याऽपि तत्र सहकारित्वान्नायं दोष इति **वक्तव्यम्,** तत्र पृथक्कारणत्वकल्पने गौरवात् । **न च** विषयतया द्रव्यसमवेतस्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रति त्वगिन्द्रियस्य विरहादेव न तत्स्पार्शनप्रसङ्ग इति **वाच्यम्, त्रुटिसमवेताऽस्पार्शनानुरोधेन संयुक्तसमवायप्रत्यासत्तिमध्ये** = त्वगिन्द्रियनिष्ठकारणतावच्छेदकीभूतस्वसंयुक्तसमवायसम्बन्धशरीरकुक्षौ, **प्रकृष्टमहत्त्वस्य घटकत्वे** = निरुक्तरीत्या निवेशे **गौरवात्** = कारणतावच्छेदकसंसर्गगौरवापातात् । **न च** सम्बन्धगौरवस्याऽदुष्टत्वमिति **वाच्यम्,** सति लघौ गुरोः सम्बन्धत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वात्, अन्यथा दण्डत्वस्याऽपि स्वाश्रयजन्यभ्रमिवत्त्वसम्बन्धेन घटकारणत्वप्रसङ्गात् । **न च** त्वन्मते कथं न त्रुटिसमवेतस्पर्श-परिमाणादिस्पार्शनत्वापत्तिरिति **साम्प्रतम्,** त्रुटेरुभयमते स्पार्शनत्वविरहात् स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन स्पार्शनसाक्षात्काराभावस्य त्रुटिस्पर्शादौ सत्त्वात्, सति प्रतिबन्धके कार्योत्पादाऽयोगात् । **अनेन** लौकिकविषयितावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्पार्शनाभावाऽपेक्षया समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्पर्शाभावस्य लघुत्वादिति विपरीतमेव गौरवमिति **निरस्तं,** त्रुटि-तत्समवेतस्पर्शादिस्पार्शनत्वस्य परमते दुर्वारत्वात् । न च द्व्यणुकाद्यस्पार्शनानुरोधेनोभयपक्षे महत्त्वस्य प्रत्यासत्तिमध्येऽवश्यं निवेशनीयत्वादिति **वाच्यम्,** त्रुटावेवाऽवयविनो विश्रान्तत्वमतमालम्ब्य प्रकृते स्पार्शनाभावप्रतिबन्धकत्वप्रतिपादनात् । अस्तु वा परमाणावेवाऽवयविनो विश्रान्तिः तथापि मन्मते केवलं त्वगिन्द्रियनिष्ठकारणताया अवच्छेदकत्वप्रत्यासत्तौ केवलं महत्त्वस्यैव निवेशः त्वं तु त्रुटिसमवेताऽस्पार्शनत्वोपपत्तये तत्राऽपि प्रकृष्टत्वदानावश्यकत्वादधिकगौरवमिति ध्येयम् । **न च** तथापि त्वन्मते वायुसमवेतस्पर्शाऽस्पार्शनत्वापत्तिर्दुर्निवारा, वायोरस्पार्शनत्वेन तत्स्पर्शे स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन स्पार्शनाभावस्य सत्त्वादिति

अवयवों से आरब्ध घटादि में समवेत संयोग परिमाण आदि का चाक्षुष तो अनुभवसिद्ध होने से समवाय सम्बन्ध से उद्भूत एकत्व को या अयोग्यद्रव्यव्यावृत्त धर्मविशेष को द्रव्यचाक्षुष का कारण नहीं माना जा सकता । इस विषय में अधिक विचार भी किया जा सकता है ।

❀ स्पर्शविहीन घट का समर्थन ❀

स्पा.इति । श्रीमद्जी एक नयी दिशा में अपनी कलम को चलाते हुए यह बताते हैं कि जैसे विभिन्नरूपवाले अवयवों से आरब्ध घटादि की उत्पत्ति के अनन्तर भी नीरूप माननेवाले प्रतिवादी ने कहा था कि स्वाश्रयससमवेतत्व सम्बन्ध से चाक्षुषाभाव ही विषयतासम्बन्ध से द्रव्यसमवेतचाक्षुष का प्रतिबन्धक है, न कि रूपाभाव । ठीक वैसे ही हम कह सकते हैं कि स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से स्पार्शनाभाव ही विषयतासम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले द्रव्यसमवेतगोचर स्पार्शन साक्षात्कार का प्रतिबन्धक है, न कि स्पर्शाभाव । इसका कारण यह है कि यदि विषयतासम्बन्ध से द्रव्यसमवेतविषयक स्पार्शन साक्षात्कार के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से स्पर्शाभाव को प्रतिबन्धक माना जाय तब तो त्रुटिसमवेत स्पर्श के स्पार्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति आयेगी, क्योंकि त्रसरेणु में स्पर्श होने से स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से त्रसरेणुसमवेतस्पर्श में स्पर्श ही रहेगा, न कि स्पर्शाभाव । जब कि कार्याधिकरणविधया अभिमत में प्रतिबन्धक ही रहता नहीं है तब तो स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्ध से त्वगिन्द्रिय, जो कि त्रसरेणु में संयुक्त है, त्रुटिस्पर्श में रह जाने की वजह त्रुटिस्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष होना ही चाहिए । मगर वह होता नहीं है - यह तो सर्व दार्शनिकों का एकमत है । यदि उसके निवारणार्थ यह कहा जाय कि —> 'स्पर्शनेन्द्रिय केवल स्वसंयुक्तसमवाय सम्बन्ध से द्रव्यसमवेतविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष का कारण नहीं है, किन्तु स्वसंयुक्त - प्रकृष्टमहत्त्ववद्द्रव्यसमवायसम्बन्ध से ही उसका कारण है । त्रसरेणु में स्पर्श अवश्य है मगर उसका महत्त्व = महत्परिमाण प्रकृष्ट नहीं होता है, अपकृष्ट होता है । अतएव

तादृशघटस्य निःस्पर्शत्वे तु न क्षतिरिति । विस्तरस्त्वत्रत्यो [१]मत्कृतचित्ररूपप्रकाशेऽवसेयः ।

ऋजवस्तु 'तादृशो घटो न नीरूपो रूपवत्त्वप्रतीतेः सार्वजनीनाया भ्रमत्वकल्पनाऽयोगादि'त्याहुः ।

❀ जयलता ❀

वक्तव्यम्, 'शीतलो वायुः वाति' इत्यादिप्रतीत्या तत्स्पार्शनत्वसिद्धेः । न च तस्या वायुस्पर्श एव विषयो न तु वायुरिति वक्तव्यम्, 'शीतलं वायुं स्पृशामी'त्यनुव्यवसायानुपपत्तेः । इत्थञ्च वायोः स्पार्शनत्वेन तत्स्पर्शे स्वाश्रयसमवेतत्वेन स्पार्शनाभावविरहान्न विषयतया स्पार्शनानुपपत्तिः । निगमयति —> एवञ्च = द्रव्यसमवेतस्पार्शनं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन स्पार्शनाभावस्यैव प्रतिबन्धकत्वं न तु स्पर्शाभावस्येत्येवं सिद्धे च, तादृशघटस्य = नानाजातीयरूपवदवयवारब्धघटस्य, निःस्पर्शत्वे तु न क्षतिः तत्कपालस्पार्शनत्वसिद्धेस्तत्र घटे स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन स्पार्शनाभावविरहात् स्वसंयोगसम्बन्धेन त्वचा स्पार्शनोत्पादे बाधकाभावात्। अत एव तादृशस्पर्शहीन-घटसमवेतपरिमाणादिस्पार्शनत्वानुपपत्तिरपि प्रत्याख्याता, तत्परिमाणादेः स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन स्पार्शनाभावाभावात् स्वसंयुक्तसमवायेन स्पर्शेन्द्रियद्वारा विषयतासम्बन्धेन स्पार्शनोत्पादे बाधकाभावात् । इत्थञ्च नानाजातीयरूपवदवयवारब्धघटस्य नीरूपत्वाऽभ्युपगमापेक्षया निःस्पर्शत्वाऽभ्युपगम एव श्रेयानिति तात्पर्यम् । इदञ्च प्रौढिवादेन बोध्यं, तेन नाऽपसिद्धान्तनिग्रहस्थानप्राप्तिरिति ध्येयम् । विस्तरस्तु अत्रत्यः = तादृशघटनिःस्पर्शत्वसमर्थकः मत्कृतचित्ररूपप्रकाशे' = प्रकृतप्रकरणकाररचितवादमालान्तर्गतचित्ररूपप्रकाशाभिधानवादे, अवसेयः । साम्प्रतं वादमालायां स उपलभ्यते परं न तत्राऽतोऽधिकविस्तर उपलभ्यते किन्तु अतोऽपि सङ्क्षेप एव । इदं सम्भवति - प्रकृतप्रकरणवत् सोऽपि जयन्त्यादिभेदेनाऽनेकधा कृतः स्यात् बृहच्चित्ररूपप्रकाशे चैतत्समर्थनमपि विस्तरेण प्रोक्तं स्यादिति । तत्त्वं तु केवलिगम्यम् ।

ऋजवस्त्विति । अस्य चाहुरित्यनेनाऽन्वयः । तादृशः = नानाजातीयरूपवदवयवारब्धः घटो न स्वोत्पादकालोत्तरक्षणावच्छेदेन नीरूपः तत्र रूपवत्ताधियः सार्वजनीनत्वात् । न च स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेनाऽवयवरूपमेव तत्राऽवयविनि भासत इत्यन्यथास्थितस्याऽन्यत्राऽऽरोपात् स्फटिके रक्ताधिय इव तत्र तस्या भ्रमत्वमेवेति वाच्यम्, सार्वजनीनाया रूपवत्त्वप्रतीतेः भ्रमत्वकल्पनाऽयोगात्, स्वानुभूतावविश्वासे सर्वत्राऽनाश्वासप्रसङ्गात्, तर्कस्य चाऽनवस्थानादनुभवबाधितं तन्नीरूपत्वमिति आहुः ।

स्पर्शन इन्द्रिय स्वसंयुक्तप्रकृष्टमहत्त्ववद्द्रव्यसमवेतत्व सम्बन्ध से स्वसंयुक्त त्रसरेणुस्पर्श में नहीं रहने की वजह उसमें विषयतासम्बन्ध से स्पार्शन साक्षात्कार उत्पन्न होने का अवकाश ही नहीं है' <— तो यह भी असंगत है, क्योंकि तब द्रव्यसमवेतविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष की कारणताअवच्छेदक प्रत्यासत्ति में प्रकृष्ट महत्त्व के निवेश का गौरव प्राप्त होता है । अतएव आपके वक्तव्य को मान्यता नहीं दी जा सकती । हमारे मत में तो त्रसरेणु के स्पर्श के स्पार्शन साक्षात्कार को कोई अवकाश ही नहीं है, क्योंकि त्रसरेणु का स्पार्शन साक्षात्कार नहीं होने से स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से स्पार्शनाभाव त्रसरेणुसमवेत स्पर्श में रहता है, जो विषयतासम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले द्रव्यसमवेतस्पार्शन का प्रतिबन्धक होता है। प्रतिबन्धक रहने पर कार्य को उत्पन्न होने का अवकाश कहाँ ? अतः विषयतासम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले द्रव्यसमवेतविषयक स्पार्शन के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से स्पार्शनाभाव को ही प्रतिबन्धक मानना चाहिए, न कि स्पर्शाभाव को । ऐसा सिद्ध होने पर विभिन्नरूपवाले अवयवों से आरब्ध घटादि को स्पर्शविहीन माना जा सकता है, क्योंकि उसके कारणभूत कपालों का स्पार्शन साक्षात्कार होने से उस घट में स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से स्पार्शनसाक्षात्काराभाव, जो द्रव्यसमवेतविषयक स्पार्शन साक्षात्कार का प्रतिबन्धक होता है, नहीं रहने से स्वसंयोगसम्बन्ध से त्वगिन्द्रिय द्वारा जन्य-स्पार्शन साक्षात्कार उसमें विषयतासम्बन्ध से उत्पन्न हो सकता है । अर्थात् उस स्पर्शविहीन घट का स्पार्शन प्रत्यक्ष हो सकता है । इस तरह नानाविजातीयरूपवाले अवयवों से आरब्ध घटादि को रूपविहीन नहीं माना जा सकता मगर स्पर्शविहीन माना जा सकता है, क्योंकि उक्त रीति से उसके स्वीकार में कोई बाधक नहीं है । इस विषय का विस्तार से निरूपण महोपाध्यायजी ने स्वरचित 'चित्ररूपप्रकाशवाद में किया है, जो वर्तमान काल में उपलब्ध होता है - यह एक सुखद सन्देश है । अधिक जिज्ञासु वहाँ अपनी निगाह डाल सकते हैं <— ऐसी अनुज्ञा एवं सूचना प्रकरणकार श्रीमद्जी ने दी है ।

✤ रूपवत्ताप्रतीति से नीरूपघटवादी का मत अप्रस्तुत ✤

ऋजवः इति । नानाजातीयरूपवाले अवयवों से आरब्ध घट को उत्पत्तिकाल के बाद भी नीरूप माननेवाले वादी के

१ देखिये दिव्यदर्शनट्रस्ट प्रकाशित वादमाला ग्रन्थ पृ. १ से ५४.

एकदेशिनस्तु- तत्राऽव्याप्यवृत्तीनि नानारूपाण्येव । न चावच्छेदकतया नीलाद्यभावादि-सामग्रीबलात्पीताद्यवयवावच्छेदेन नीलाद्यापत्तिः, अवच्छेदकतया जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रत्येवाऽवच्छेदकतया रूपत्वावच्छिन्नाभावस्य हेतुत्वात् । न चैवमपि नील-पीतावयवारब्धे पीतावयवा-

❋ जयलता ❋

एकदेशिनस्त्विति । शिरोमणिभट्टाचार्यमतानुयायिनस्त्वित्यर्थः तु पूर्वोक्तकल्पापेक्षया विशेषद्योतने । तदेवाह तत्र = नानाजातीयरूपवदवयवारब्धेऽवयविनि, अवच्छेदकतासम्बन्धेन **अव्याप्यवृत्तीनि नानारूपाणि एव** उत्पद्यन्ते । न च तर्हि 'एकं रूपं' इति प्रतीतिः कथं ? **इत्युद्भावनीयम्**, 'एको धान्यराशिः' इतिवत् तस्याः समूहैकत्वविषयत्वात् । **एतेन** अतिरिक्तैक-चित्ररूपकल्पनाऽपि **परास्ता**, गौरवात् । तथाहि चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति नीलत्वादिना हेतुत्वे व्यभिचारात्, रूपत्वेन तत्त्वे नील-मात्रारब्धेऽपि तदापत्तेः, नीलेतर-पीतेतरत्वादिनाऽपि न तथात्वं, पाकजचित्रे व्यभिचारात् । **न च** पाकजचित्रे मानाभाव इति **वाच्यम्**, तथापि चित्रस्थले नीलादिसामग्रीसत्त्वाद् नीलाद्युत्पत्तिवारणाय नीलादौ नीलेतरस्पर्शादेः प्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवात् ।

अथाऽव्याप्यवृत्तिनीलादिकल्पने एव गौरवम् । तथाहि अवच्छेदकतया नीलादौ रूपे उत्पन्ने पुनस्तेनैव सम्बन्धेनाऽवयवे नीलादिरूपोत्पत्तिवारणाय अवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलादिकं प्रति अवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलादेः प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयमिति गौरवम् । **न चाऽस्य** फलमुखत्वात् दुष्टत्वमित्युद्भावनीयम्, तथापि नीलाभावादिसामग्रयास्तत्र सत्त्वादित्याशङ्कामपाकर्तुमुपक्रमन्ते **न चेति** । समादधते —> **अवच्छेदकतया** = स्वनिरूपितावच्छेदकतासम्बन्धेन, **जन्यरूपत्वावच्छिन्नं** = पूर्वोक्तरीत्या जन्यरूपमात्रवृत्तिजात्यवच्छिन्नं, **प्रति एव**, न तु नीलत्व-रक्तत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति, **अवच्छेदकतया रूपत्वावच्छिन्नाभावस्य हेतुत्वात्** = प्रतिबन्धकाभावविधया कारणत्वाभ्युपगमात्, न तु नीलत्वाद्यवच्छिन्नाभावत्वेनापि, गौरवात् । रूपत्वस्य कार्यो कार्यसाधारणतया कार्यतावच्छेदकत्वाऽयोगात् जन्येत्युक्तम् । उपर्युक्तस्थले पीतादिरूपसत्त्वेनाऽवच्छेदकतासम्बन्धेन रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य विरहान्न पीताद्यवयवावच्छेदेन नीलाद्युत्पत्तिप्रसङ्गः । न हि सति प्रतिबन्धके कार्यमुत्पत्तुमर्हति ।

चित्ररूपवादी पुनरपि शङ्कते —> **न चेति** । एवमपि = गौरवात् अवच्छेदकतया नीलादौ अवच्छेदकतया नीलाभावादेः कारणत्वं परित्यज्याऽवच्छेदकतासम्बन्धेन जन्यरूपत्वावच्छिन्नेऽवच्छेदकतया रूपत्वावच्छिन्नाभावस्य कारणत्वाऽभ्युपगमेऽपि, **नीलपीतावयवारब्धे** घटादौ **पीतावयवावच्छेदेन पाके** = रक्तरूपजनकविजातीयतेजःसंयोगे सति, पीतावयवावच्छेदेन रक्तोत्पत्तिकाले

प्रतिवाद में अन्य प्राञ्चल विद्वानों का यह वक्तव्य है कि- तादृश = नानारूपवदवयवजन्य घट स्वोत्पादोत्तरकालअवच्छेदेन रूपविहीन तो नहीं हो सकता, क्योंकि सब लोगों को उसी घट में रूपवत्ता की जो बुद्धि होती है, उसे भ्रमात्मक नहीं कहा जा सकती । वह प्रतीति ही उस घट में रूप को सिद्ध करती है । हाथ कंगन को आरसी क्या ? प्रत्यक्षविरुद्ध होने से तादृश घट को नीरूप नहीं माना जा सकता ।

❖ अव्याप्यवृत्ति नानारूपवादिमत ❖

एकदे॰ इति । यहाँ नैयायिक एकदेशीय विद्वानों का यह वक्तव्य है कि अनेकरूपवाले अवयवों से आरब्ध घट में अव्याप्यवृत्ति अनेक रूप ही उत्पन्न होते हैं । चित्र घट में 'इह एकरूपं' यह प्रतीति 'एको धान्यराशिः' इस प्रतीति की भाँति समूहगत एकत्व के द्वारा उपपन्न होती है । यहाँ यह शंका हो कि —> 'जिस अवयवावच्छेदेन घट में पीत रूप रहता है वहाँ भी नील आदि रूप उत्पन्न होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि पीतावयवावच्छेदेन नीलाभाव, रक्ताभाव आदि विद्यमान है, जो नीलादि रूप का हेतु होता है' <— तो यह निराधार है, क्योंकि अवच्छेदकतासम्बन्ध से रूपाभाव जन्यरूपत्वादि-अवच्छिन्न के प्रति ही हेतु होता है, न कि नीलत्व-रक्तत्वादिअवच्छिन्न के प्रति । आशय यह है कि रूप के अव्याप्यवृत्तित्वपक्ष में अवच्छेदकतासम्बन्ध से रूप उत्पन्न हो जाने के बाद पुनः उसी सम्बन्ध से अवयव में रूप की उत्पत्ति का वारण करने के लिए अवच्छेदकतासम्बन्ध से जन्य रूप के प्रति ही अवच्छेदकतासम्बन्ध से रूप को प्रतिबन्धक मान कर अवच्छेदकता-सम्बन्ध से रूपाभाव को हेतु माना जाता है । अवच्छेदकतासम्बन्ध से नील के प्रति अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलाभाव को, पीत के प्रति पीताभाव को हेतु नहीं माना जाता, क्योंकि वैसा स्वीकार करने में गौरव है । अतः पीतावयवावच्छेदेन रूपाभाव केवल जन्य रूप का हेतु है, न कि नील रूप का । जन्य रूप तो वहाँ उत्पन्न हुआ ही है, क्योंकि घटोत्पत्तिक्षणावच्छेदेन घट में कपालावच्छेदेन रूपाभाव रहा हुआ था । अतः बाद में पीतावयवावच्छेदेन नीलादि की उत्पत्ति का आपादन नहीं

वच्छेदेन पाके रक्तोत्पत्तिकाले नीलाद्यापत्तिः, कार्यतानवच्छेदकावच्छिन्नस्याऽनापाद्यत्वात् । यदि तु नीलपीतश्वेतत्रितयकपालारब्धे पीतश्वेतयोः क्रमेण नाशे श्वेतनाशकाले तत्र जन्यरूपत्वावच्छिन्नापत्तिः सम्भाव्यते, तदाऽप्यवच्छेदकतया जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रत्येव समवायेन रूपस्य हेतुता कल्प्या, न तु नीलादौ नीलादेः, प्रयोजनाभावाद्, गौरवाच्च ।

❋ जयलता ❋

= रक्तरूपोत्पादक्षणावच्छेदेन **नीलाद्यापत्तिः** दुर्वारा, तत्पूर्वक्षणावच्छेदेन पाकेन पीतावयवरूपनाशात् रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य अवच्छेदकतासम्बन्धेन सत्त्वात् इति **वाच्यम्, कार्यतानवच्छेदकावच्छिन्नस्याऽनापाद्यत्वादिति** । नीलत्वादेः रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतानवच्छेदकत्वेनाऽवच्छेदकतया रूपत्वावच्छिन्नाभावाधिकरणे नीलत्वाद्यवच्छिन्नापादनस्याऽनर्हत्वात्, जन्यरूपत्वावच्छिन्नस्य रक्तरूपस्य तत्रोत्पादादेव व्यभिचाराऽयोगात् । **लघुस्याद्वादरहस्ये** तु प्रकृते 'कार्यसहभावेन तदभावादि'ति समाहितम् ।

यदि त्विति । अस्य चाऽग्रे सम्भाव्यत इत्यनेनाऽन्वयः । **नील-पीत-श्वेतत्रितयकपालारब्धे** घटे पाकेन **पीतश्वेतयोः** रूपयोः **क्रमेण नाशे** = नाशस्थले, **श्वेतनाशकाले** = श्वेतरूपनाशक्षणावच्छेदेन, **तत्र** घटे श्वेतरूपध्वंसाधिकरणकपालावच्छेदेन, **जन्यरूपत्वावच्छिन्नापत्तिः** अवच्छेदकतासम्बन्धेन रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसत्त्वबलात् **सम्भाव्यत** इति । अयमाक्षेपग्रन्थाशयोऽवयविनि समवायेन रूपोत्पत्त्यनन्तरमेवाऽवच्छेदकतासम्बन्धेनाऽवयवे रूपं उत्पद्यते । अतोऽवच्छेदकतासम्बन्धेन जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रत्यवच्छेदकतया रूपत्वावच्छिन्नाभावस्य हेतुत्वोपगमे प्रकृते श्वेतनाशक्षणे श्वेतकपालावच्छेदेन रूपाभावस्य सत्त्वेन रूपस्याऽवच्छेदकतासम्बन्धेनोत्पत्तिः दुर्वारा, तस्य रूपाभावकार्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वात् । न चैवं भवतीति व्यतिरेकव्यभिचार इति भावः । समाधानग्रन्थमवतारयति —> **तदाऽपीति** । निरुक्तापत्तिनिवारणे कृतेऽपि, **अवच्छेदकतया जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रत्येव, न तु** नीलत्वाद्यवच्छिन्नं प्रत्यपि, **समवायेन रूपस्य हेतुता कल्प्या** । श्वेतरूपनाशक्षणावच्छेदेन तत्र समवायेन रूपविरहादेव नाऽवच्छेदकतया रूपत्वावच्छिन्नस्योत्पत्तिः, आपादकविरहे आपादनाऽसम्भवात् । एवकारफलमाविष्कुर्वन्ति —> **न तु** अवच्छेदकतासम्बन्धेन **नीलादौ** समवायेन **नीलादेः** हेतुता कल्प्या इति आवर्तते । तत्र हेतुद्वयमाहुः **प्रयोजनाभावादिति** । अवच्छेदकतया जन्यरूपत्वावच्छिन्नं समवायेन रूपाभावस्यैव हेतुत्वस्वीकारेण प्रदर्शितापत्तिनिवारणलक्षणप्रयोजनसिद्धेः नीलादौ नीलादेः हेतुत्वकल्पनमनतिप्रयोजनम् । ननु प्रयोजनविरहेऽपि सामग्र्याः स्वकार्याऽर्जनेऽनलसत्वात्तत्कल्पने किं कच्छिन्नम् ? न हि प्रयोजनक्षतिभिया सामग्री कार्यं नार्जयतीत्याशङ्कायां हेत्वन्तरमावेदयन्ति —> **गौरवात्** = अप्रामाणिकगौरवात् । लघुना ऋजुमार्गेण सिध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनाऽयोगात् । ततश्च नानाजातीयरूपवदवयवारब्धेऽवयविनि अव्याप्यवृत्ति-

किया जा सकता । यहाँ यह शंका हो कि —> 'अवच्छेदकतासम्बन्ध से जन्य रूप के प्रति अवच्छेदकतासम्बन्ध से रूपाभाव को प्रतिबन्धकाभावविधया कारण मानने पर भी नील-पीतकपालद्वय से जन्य घट में जब पीतकपालअवच्छेदेन रक्तरूपजनक पाक = विजातीयाग्निसंयोग होने पर पीतकपालावच्छेदेन रक्त रूप उत्पन्न होता है तभी वहाँ नीलादि रूप उत्पन्न होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि रक्तोत्पत्ति के पूर्वक्षणावच्छेदेन वहाँ रूपाभाव रहता है' <— तो यह भी इसलिए निराकृत हो जाती है कि रूपाभाव का कार्यतावच्छेदक जन्यरूपत्व है, न कि नीलत्वादि । सामग्री के द्वारा स्वकार्यतावच्छेदकअवच्छिन्न का ही आपादन किया जा सकता है, न कि स्वकार्यतानवच्छेदकधर्मविशिष्ट का । नीलत्वादि तो रूपाभाव का कार्यतानवच्छेदक है। अतएव नीलत्वादिविशिष्ट की उत्पत्ति का वहाँ आपादन नहीं किया जा सकता । यदि यहाँ ऐसा उद्भावन किया जाय कि —> 'जब घट नील, पीत और श्वेत कपाल से उत्पन्न होता है और पाक द्वारा पहले पीतरूप का और श्वेतरूप का नाश होता है तब श्वेतनाशक्षणावच्छेदेन वहाँ जन्य रूप की उत्पत्ति की आपत्ति होगी, क्योंकि जन्यरूपत्व रूपाभाव का कार्यतावच्छेदक है और रूपाभाव भी वहाँ रहता है । मगर वस्तुस्थिति यह है कि अवयवी में समवाय सम्बन्ध से रूप की उत्पत्ति होने के बाद ही अवच्छेदकतासंबंध से रूप की उत्पत्ति होने से तब वहाँ कोई भी रूप उत्पन्न नहीं होता है' <— तो इस आपत्ति के निवारणार्थ यह कहा जा सकता है कि जन्यरूपत्वावच्छिन्न के प्रति ही समवायसम्बन्ध से रूप हेतु है । श्वेतनाशक्षण में यद्यपि अवच्छेदकतासम्बन्ध से घट में रूपाभाव विद्यमान है, मगर समवाय से रूप की अनुपस्थिति होने से उसमें अवच्छेदकतासम्बन्ध से जन्यरूपत्वावच्छिन्न की उत्पत्ति हो नहीं सकती । इस तरह अवच्छेदकतासम्बन्ध से जन्यरूपत्वविशिष्ट के प्रति समवाय सम्बन्ध से रूपसामान्य को ही कारण मान लेने से उपर्युक्त स्थल के अनुरोध से अवच्छेदकतासम्बन्ध से नील के प्रति समवाय सम्बन्ध

केचित्तु —> समवायस्येवाऽवच्छेदकताया अपि कारणनियम्यत्वादवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादेः कारणत्वम् । नन्वेवमपि घटादावप्यवच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिः स्यादिति चेत् ? अत्र केचित् अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेनाऽवयवनीलत्वादिना

❁ जयलता ❁

नानारूपाण्येवोत्पद्यन्ते लाघवात्, न त्वतिरिक्तं चित्रं गौरवादिति एकदेशीयानामभिप्रायः ।

अत्र मतविशेषमाविर्भावयन्ति —> **केचित्त्विति** । **समवायस्येव अवच्छेदकताया अपि कारणनियम्यत्वादिति** । नानाजातीयरूपवदवयवारब्धेऽवयविनि अव्याप्यवृत्तीनि नानारूपाण्येवोत्पद्यन्ते । ततश्च पीतावयवावच्छेदेन नीलोत्पत्तिप्रसङ्गवारणाय **अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादेः** कारणत्वमभ्युपगन्तव्यम् । न च समवायेन नीलं जायत एव, पीतावयवावच्छेदेनेत्यत्र चापादकाभाव इति **वक्तव्यम्**, समवायस्येवाऽवच्छेदकताया अपि कारणनियम्यत्वात् अवच्छेदकतया नीलोत्पादानङ्गीकारेऽवयविनि जायमानस्य नीलरूपस्य नीलावयवेऽवच्छेदकत्वासम्भवात् । **एतेन** नीलस्य स्वाश्रयावच्छेदेन नीलजनकत्वस्वाभाव्यादेव न पीतावयवावच्छेदेन तदापत्तिरिति **प्रत्याख्यातम्**, विनैतादृशकार्यकारणभावं तथास्वाभाव्याऽनिर्वाहात् । अवच्छेदकतया नीलादौ समवायेन नीलादेः कारणत्वाभ्युपगमेनैव पीतावयवावच्छेदेन नीलाद्युत्पत्तिप्रसङ्गवारणसम्भवेन अवच्छेदकतया नीलादौ न समवायेन नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया आवश्यकत्वम् । **अत एवा**ऽव्याप्यवृत्तिनानारूपपक्षे नीलादौ नीलेतरादेः नीलेतरादौ वा नीलादेः प्रतिबन्धकत्वे विनिगमनाविरहोऽपि **प्रत्युक्तः**, अनभ्युपगतोपालम्भदानात् । **एतेन** प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पनागौरवमपि **प्रत्याख्यातम्** ।

ननु एवमपि = अवच्छेदकतया नीलादौ समवायेन नीलादेः कारणत्वोपगमेऽपि, घटादौ अवयविनि **अपि अवच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिः स्यात्**, समवायेन नीलादेः सत्त्वादिति **चेत्** ? **अत्र** पर्यनुयोगे **केचित्** समाधानार्थं **अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन अवयवनीलत्वादिना** = अवयवनिरूपितवृत्तित्वविशिष्टनीलत्वादिना **द्रव्यविशिष्टनीलत्वादिना** = सामानाधिकरण्य-

से नीलरूप की कारणता, अवच्छेदकतासम्बन्ध से पीत रूप के प्रति समवायसम्बन्ध से पीत रूप की कारणता.. इत्यादि कार्य-कारणभावों की कल्पना करनी नहीं चाहिए, क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं है और अप्रामाणिक गौरव दोष भी है । इस तरह नील-पीतादि कपालों से आरब्ध घट में भिन्न भिन्न कपालअवच्छेदेन अव्याप्यवृत्ति नील, पीत आदि अनेक रूप की उत्पत्ति मानने में कोई दोष नहीं है - यह फलित होता है ।

❁ अवच्छेदकतया नीलादि के प्रति समवाय से नीलादिहेतुता - मतविशेष ❁

केचित् इति । यहाँ अन्य कुछ मनीषियों का यह वक्तव्य है कि —> नानाजातीयरूपवदवयवों से आरब्ध अवयवी में अव्याप्यवृत्ति विभिन्न रूप उत्पन्न होते हैं । —> 'अवयवी में नीलादि रूप केवल समवाय सम्बन्ध से ही उत्पन्न होता है, न कि अवच्छेदकतासम्बन्ध से' <— ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अवच्छेदकतासम्बन्ध से नील की उत्पत्ति न मानने पर अवयवी में उत्पन्न होनेवाले नील रूप की अवच्छेदकता अवयव में भी न होगी । अतएव यह कहना भी कि —> 'नीलपीतकपालारब्ध घट में नील समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता ही है किन्तु पीतभाग में अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलोत्पत्ति का कोई आपादक नहीं होने से पीतकपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलोत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं हो सकता' <— अनुचित है, क्योंकि समवाय जैसे कारण से नियम्य होता है ठीक वैसे ही अवच्छेदकता भी कारण से नियम्य होती है । अतः पीतकपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलरूप की उत्पत्ति का वारण करने के लिए यही मानना होगा कि —> अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवाय सम्बन्ध से नीलादि रूप कारण होता है । यहाँ यह शंका हो कि —> 'ऐसा कार्य-कारणभाव मानने पर घट में उत्पन्न होनेवाले नील रूप की घट में अवच्छेदकतासम्बन्ध से उत्पत्ति होने की आपत्ति होगी, क्योंकि वहाँ समवायसम्बन्ध से नील रूप रहता है' <— तो इसके समाधान में अन्य विद्वानों का यह कथन है कि अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवायसम्बन्ध से अवयवनीलआदि रूप ही कारण होता है या स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से द्रव्यविशिष्टनीलादि रूप ही समवाय सम्बन्ध से कारण होता है । ऐसा मानने पर उक्त आपत्ति का अवकाश नहीं है, क्योंकि घट में समवायसम्बन्ध से नील रूप ही रहता है, न कि अवयवनीलरूप अथवा यह भी कहा जा सकता है कि घट में कोई द्रव्य समवेत नहीं होने से घटसमवेत नीलरूप स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से द्रव्यविशिष्ट नहीं बनता है । अतएव उस घट में स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से द्रव्यविशिष्टनीलरूप की समवाय सम्बन्ध से उपस्थिति रहती नहीं है । इस परिस्थिति में घट में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नील रूप की उत्पत्ति का प्रसंग कैसे आयेगा ? कारण न होने पर कार्य का आपादन नहीं हो सकता । न रहेगा बांस,

द्रव्य-विशिष्टनीलत्वादिनैव वा हेतुत्वमित्याहुः ।

न च नीलविशिष्टद्रव्यत्वादिनापि तथात्वे विनिगमनाविरहो नीलविशिष्टद्रव्यस्य पीत-कपालेऽपि सत्त्वात् तत्राऽप्यवच्छेदकतया नीलापत्तेः विशिष्टाधिकरणतायास्तत्राऽभावात् ।

अन्ये त्ववच्छेदकतया जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रति एव समवायेन द्रव्यस्य हेतुत्वमित्यूचुः ।

❀ जयलता ❀

सम्बन्धेन स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन वा द्रव्यविशिष्टनीलत्वादिना एव वा, न तु नीलत्वादिना, **हेतुत्वमिति** । घटादौ समवायेन अवयविनीलादेः सत्त्वेऽपि अवयवनिरूपितवृत्तित्वविशिष्टनीलादेरसत्त्वात् नाऽवच्छेदकतासम्बन्धेन तत्र नीलादेरुत्पादप्रसङ्गः । यद्वा घटादौ समवायेन नीलादेरेव सत्त्वं न तु स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन द्रव्यविशिष्टनीलादेः सत्त्वमिति नाऽवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलादेरुत्पत्तिप्रसङ्गः, आपादकविरहे आपादनाऽयोगादिति **आहुः** ।

न च स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन द्रव्यविशिष्टनीलत्वादिवत् **नीलविशिष्टद्रव्यत्वादिनाऽपि तथात्वे** = अवच्छेदकता-सम्बन्धेन नीलादिकं प्रति हेतुत्वे, **विनिगमनाविरह** इति न कार्यकारणभावनिश्चय इति **वाच्यम्**, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन **नीलविशिष्टद्रव्यस्य** समवायसम्बन्धेन **पीतकपालेऽपि सत्त्वात्** नीलपीतकपालद्वयारब्धघटस्थले **तत्र** = पीतकपाले **अपि अवच्छेदकतया नीलापत्तेः** = नीलरूपोत्पादप्रसङ्गात् । अयं समाधानाशयः नीलपीतकपालद्वयारब्धघटस्थले नीलसमवायिनि कपाले घटस्य समवेतत्वेन स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलरूपविशिष्टघटद्रव्यस्य समवायसम्बन्धेन नीलकपाल इव पीतकपालेऽपि सत्त्वेन पीतकपालेऽप्यवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलरूपोत्पादप्रसङ्गात् नीलरूपविशिष्टद्रव्यस्य नावच्छेदकतया नीलं प्रति हेतुत्वं किन्तु द्रव्यविशिष्टनीलरूपस्यैवेति विनिगमनाविरहः दत्तोत्तर एव । न च स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन द्रव्यविशिष्टनीलस्याऽवच्छेदक-तया नीलं प्रति हेतुत्वे कथं न पीतकपाले नीलोत्पादः ? द्रव्यविशिष्टनीलस्य नीलविशिष्टद्रव्याभिन्नत्वेन नीलविशिष्टद्रव्यवति द्रव्य-विशिष्टनीलस्याऽपि न्यायप्राप्तत्वात्, अन्यथा भूतले संयोगेन घटविशिष्टपटसत्त्वदशायां पटविशिष्टघटाऽसत्त्वापत्तेरिति **वाच्यम्**, यथा विशिष्टस्य शुद्धानतिरेकेऽपि विशिष्टाधिकरणताया अतिरिक्तत्वं तथैव द्रव्यविशिष्टनीलस्य नीलविशिष्टद्रव्यानतिरेकेऽपि तदधि-करणतयोः नानात्वात् **विशिष्टाधिकरणतायाः** = द्रव्यविशिष्टनीलाधिकरणतायाः **तत्र** = पीतकपाले, **अभावात्** स्वनिरूपितसमवाय-सम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणतावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य द्रव्यविशिष्टनीलाभावस्य स्वरूपेण पीतकपाले सत्त्वान्न तत्राऽवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलरूपोत्पादप्रसङ्ग इति गूढार्थः ।

अव्याप्यवृत्तिनानारूपवादिनः **अन्ये त्विति** । अस्य चोचुरित्यनेनाऽन्वयः । अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादेः हेतुत्वमित्यत्राभ्युपगमे पृथक्कार्यकारणभावस्वीकारापातेन गौरवात् **अवच्छेदकतया जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रत्येव**, न तु

न बाजेगी बांसुरी !

❀ नीलविशिष्टद्रव्य अवच्छेदकतया रूप का हेतु नहीं है ❀

न च नील. इति । यहाँ यह शंका हो कि —> 'अवच्छेदकतासम्बन्ध से नील रूप के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से द्रव्यविशिष्टनीलरूप को समवाय सम्बन्ध से कारण माना जाय या स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलविशिष्टद्रव्य को समवाय-सम्बन्ध से कारण माना जाय ? इस विषय में कोई विनिगमक नहीं होने से दोनों को कारण मानना पड़ेगा, जिससे महागौरव दोष प्रसक्त होगा' <— तो यह इसलिए निराधार हो जाती है कि निरुक्त नीलविशिष्टद्रव्य को नील का कारण मानने पर जो घट नील-पीतकपालद्वय से उत्पन्न हुआ है वह पीत कपाल में समवेत है ठीक वैसे नील कपाल में भी समवेत होने से नील रूप स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से घटद्रव्य में रहेगा, जिसके फलस्वरूप स्वसमवायिसमवेतत्व संसर्ग से नीलरूपविशिष्टघटात्मक द्रव्य समवाय सम्बन्ध से पीत कपाल में रहने की वजह पीत कपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नील रूप की उत्पत्ति होने का अनिष्ट प्रसङ्ग आयेगा । इसी सबब अवच्छेदकतासम्बन्ध से नील के प्रति द्रव्यविशिष्ट नीलरूप की भाँति नीलविशिष्ट द्रव्य को समवाय सम्बन्ध से कारण नहीं माना जा सकता । अब तो विनिगमनाविरह दोष भी - दो - ग्यारह हो गया न ?! द्रव्यविशिष्ट नील रूप की अधिकरणता पीत कपाल में नहीं होने से स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से द्रव्यविशिष्ट नील रूप का वहाँ अभाव होने से अवच्छेदकतासम्बन्ध से वहाँ (=पीत कपाल में) नील रूप की उत्पत्ति को अवकाश नहीं है ।

❀ अवच्छेदकतया जन्यरूप के प्रति समवाय से द्रव्यहेतुता - मतविशेष ❀

अन्ये. इति । अवयवी में व्याप्यवृत्ति अनेक रूप की उत्पत्ति मानने वाले अन्य विद्वानों अवच्छेदकतासम्बन्ध से घट

तदपि न, **द्रव्यत्वेन वा हेतुत्वं मूर्त्तत्वादिना वा ? इति तथापि विनिगमनाविरहात् ।**
अपरे तु **केवलनीलादिकपालेऽवच्छेदकतया तद्वारणाय स्वाश्रयवृत्तिद्रव्यसमवायसम्बन्धे-**

❀ जयलता ❀

नीलत्वाद्यवच्छिन्नं प्रत्यपि, **समवायेन द्रव्यस्य हेतुत्वं** न तु रूपस्य नीलादेर्वा हेतुत्वम् । इत्थञ्च नानाजातीयरूपवद्द्रव्यवारब्धावयविन्यप्यव्याप्यवृत्तीनि नानारूपाण्युत्पद्यन्त इत्यभ्युपगमोऽपि निर्वहति घटादाववच्छेदकतया रूपोत्पत्तिप्रसङ्गश्च परिहृतो भवति, घटादौ समवायेन द्रव्यविरहात् । नीलादेः हेतुत्वानुपगमाददतिलाघवमेतत्कल्प **इत्यूचुः** ।

तदपि न चारु, अवच्छेदकतासम्बन्धेन जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रति समवायेन **द्रव्यत्वेन वा हेतुत्वं मूर्त्तत्वादिना वा ?** आदिपदेन भूतत्वादेर्ग्रहणम् **इति तथापि विनिगमनाविरहात् ।** न च मूर्त्तत्वस्याऽपकृष्टपरिमाणवत्त्वरूपतया कारणतावच्छेदकत्वे गौरवात् द्रव्यत्वेनैव तत्त्वमिति **वक्तव्यम्,** क्रियासमवायिकारणतावच्छेदकतया मूर्त्तत्वस्य जातित्वाङ्गीकारात् । **न च** भूतत्वादिना साङ्कर्यमिति **शङ्कनीयम्,** भूतत्वस्य जातित्वानुपगमात्। विनिगमनाविरहाच्चोक्तहेतुहेतुमद्भावोपगमो न्याय्य इति भावः ।

वस्तुतस्तु सम्भवति लघुनाऽगुरुविशेषधर्मे सामान्यधर्मस्य कारणतानवच्छेदकत्वात् सामान्यधर्मस्य द्रव्यत्वस्य न कारणताव-च्छेदकत्वं किन्तु लघुनो मूर्त्तत्वस्यैवेति अवच्छेदकतासम्बन्धेन जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रति समवायेन मूर्त्तत्वेन कारणत्वं वक्तुमर्हति। इदन्तु प्रकृतकल्पे दूषणं स्यात् अवच्छेदकतासम्बन्धेन रूपे उत्पन्ने तेनैव सम्बन्धेनाऽवयवे रूपोत्पत्तिवारणायाऽवच्छेदकतासंसर्गेण रूपं प्रति अवच्छेदकतया रूपं प्रतिबन्धकं कल्पनीयमिति गौरवम् । न चाऽवयविनि समवायेनोत्पद्यमानमेव रूपमवच्छेदकतयाऽवयवे उत्पत्तुमर्हतीत्यवयविनि रूपस्य प्रतिबन्धकस्य सत्त्वेन रूपसामग्रीविरहादेव नावयवेऽवच्छेदकतया तदा रूपोत्पत्त्यापत्तिरिति **वाच्यम्,** एवं ह्यवयविनिष्ठरूपाभावोऽवच्छेदकतया रूपं प्रति हेतुर्वाच्यः स्यात् । तथा च नानारूपवत्कपालारब्धघटस्य नील-रूपादेर्नीलकपालिकावच्छेदेनाऽनुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तदवयविनि कपाले रूपसत्त्वादिति दिक् ।

ननु अवच्छेदकतया नीलादौ समवायेन नीलादेः कारणत्वस्वीकारपक्षे तु केवलनीलादिकपालेऽपि अवच्छेदकतया नीलादिकं जायेत, समवायेन नीलादेस्तत्र सत्त्वात् । तन्निवारणकृतेऽवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलादौ स्वाश्रयवृत्ति-द्रव्यसमवायसम्बन्धेन नीलाभावादेरेव कारणत्वं कल्पनीयम् । यदि कपाले नीलपीतादिकपालिकारब्धं स्यात्तदैव स्वस्य = नीलाद्यभावस्य आश्रये = नीलपीतादिकपालिकासमवेतकपाले समवायेन वृत्ति यद् घटद्रव्यं तत्समवायस्य नीलपीतकपालिकारब्धकपाले सत्त्वेन तत्र स्वाश्रय-वृत्तिद्रव्यसमवायेन नीलाद्यभावस्य सत्त्वादवच्छेदकतया नीलादिकमुत्पद्येत । परं केवलनीलादिकपाले निरुक्तसंसर्गेण नीलाद्यभावविरहान्न तत्र नीलाद्युत्पत्तिरित्याशयवतामपरेषां अव्याप्यवृत्तिनानारूपवादिनां मतमाह **अपरे त्विति । केवलनीलादिकपाले अवच्छेदकतया तद्वारणाय** = नीलाद्युत्पत्तिनिवारणाय **स्वाश्रयवृत्ति-द्रव्यसमवायसम्बन्धेन** निरुक्तरीत्या **अवश्यकल्प्यहेतुताकस्य नीलाद्यभावस्यैव**

में नीलादि रूप की उत्पत्ति की आपत्ति का परिहार करने के लिए इस तरह कार्य-कारणभाव का स्वीकार करते हैं कि - --> अवच्छेदकता सम्बन्ध से जन्यरूपत्वावच्छिन्न के प्रति समवायसम्बन्ध से द्रव्यत्वेन द्रव्य हेतु बनता है। जैसे नील - पीतकपाल-द्वयारब्ध घटस्थल में कपाल में समवाय सम्बन्ध से घटात्मक द्रव्य रहने की वजह वहाँ अवच्छेदकता सम्बन्ध से रूप की उत्पत्ति हो सकती है - होती है । मगर घट में समवाय सम्बन्ध से कोई भी द्रव्य रहता नहीं है । अत एव घट में अवच्छेदकता सम्बन्ध से रूप की उत्पत्ति नहीं हो सकती है किन्तु समवायसम्बन्ध से ही उत्पत्ति हो सकती है, जिसका कारण है स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से कपालरूप । इस तरह घट में अवच्छेदकतासम्बन्ध से रूपोत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं हो सकता' <-- ।

तदपि. इति । मगर अमुक विद्वानों का इसके प्रतिवाद में यह कथन है कि --> अवच्छेदकतासम्बन्ध से जन्यरूप के प्रति समवाय सम्बन्ध को द्रव्य को द्रव्यत्वेन कारण मानना या मूर्त्तत्वेन ? इस विषय में कोई विनिगमक तर्क नहीं है। द्रव्यत्व की भाँति मूर्त्तत्व को भी कारणताऽवच्छेदक धर्म माना जा सकता है, क्योंकि अवच्छेदकतासम्बन्ध से जहाँ रूप उत्पन्न होता है वहाँ समवाय सम्बन्ध से द्रव्य की भाँति मूर्तपदार्थ भी अवश्य रहता ही है । कारणताअवच्छेदक धर्म में विनिगमनाविरह होने से उपर्युक्त कार्य-कारणभाव भी अश्रद्धेय है ।

❋ स्वाश्रयवृत्तिद्रव्यसमवाय से नीलाद्यभावहेतुता - अपरमत ❋

अपरे. । अवच्छेदकतासम्बन्ध से घटादि अवयवी में रूप की उत्पत्ति के प्रसङ्ग को हटाने के लिए अपर विद्वानों का यहाँ यह कथन है कि 'अवच्छेदकता सम्बन्ध से नील रूप के प्रति समवाय सम्बन्ध से नील को कारण मानने पर तो केवल नीलरूपवाले कपाल में भी अवच्छेदकता सम्बन्ध से नील रूप उत्पन्न होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि वहाँ समवाय सम्बन्ध

ताऽऽदृशाकल्प्यहेतुताकस्य नीलाद्यभावस्यैव तादृशघटादावभावात् नावच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिः।

*वस्तुतस्तु **अवच्छेदकतया जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रति द्रव्यविशिष्टसमवायेनैव रूपस्य हेतुत्वात् न घटादाववच्छेदकतया नीलाद्यापत्तिः ।***

*केचित्तु --> **केवलनीलकपालादिष्ववच्छेदकतया नीलादिवारणायाऽवयवान्तरवृत्तिनीलेतर-***

❀ जयलता ❀

तादृशघटादौ = नीलपीतकपालाद्यारब्धघटादौ **अभावात् न तत्र अवच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिः** । घटस्य स्वाश्रयत्वसम्बन्धेन नीलाद्यभावविशिष्टत्वेऽपि समवायेन द्रव्याऽविशिष्टत्वात् स्वाश्रयवृत्तिद्रव्यसमवायेन नीलाद्यभावविरहान्न तत्राऽवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलाद्युत्पत्तिरिति भावः ।

परन्त्वेतत्कल्पे नीलं प्रति नीलाभावस्य, पीतं प्रति पीताभावस्येत्येवं रीत्या पृथक्-फलवद्भावकल्पनागौरवं नीलपीत-कपालद्वितयारब्धघटस्थले च पीतकपालावच्छेदेन नीलाद्युत्पादापत्तिर्दुर्वारा नीलाद्यभावाश्रयपीतकपालवृत्तिघटद्रव्यसमवायित्वेन पीतकपाले स्वाश्रयवृत्तिद्रव्यसमवायेन नीलाद्यभावस्य सत्त्वादित्यस्वरसात्कल्पान्तरमाह --> **वस्तुत** इति तुर्विशेषद्योतनार्थः । प्रकृतकल्पे कार्यतावच्छेदकः जन्यरूपत्वधर्मः कार्यतावच्छेदकसम्बन्धोऽवच्छेदकत्वं कारणतावच्छेदकधर्मः रूपत्वं कारणतावच्छेदक-सम्बन्धश्च द्रव्यविशिष्टसमवायः । वैशिष्ट्यमपि समवायघटितसामानाधिकरण्येनैव बोध्यं, अन्यथा कालिकादिकमादाय पुनरपि घटेऽवच्छेदकतया रूपोत्पादापत्तेः । घटादावन्त्यावयविनि समवायेन रूपसत्त्वेऽपि द्रव्याऽसत्त्वेन समवायेन द्रव्यविशिष्टो यः समवायः तेन द्रव्यविशिष्टसमवायसम्बन्धेन रूपस्याऽसत्त्वात् **न घटादाववच्छेदकतया नीलाद्यापत्तिः** । **न च** नीलत्वादेः रूपकार्यतानवच्छेदकत्वेन न तदवच्छिन्नापादनं सम्भवति । अत एव तन्निवारणार्थो नायं यत्नः श्रेयानिति **वाच्यम्,** नीलपदस्य रूपपरत्वात् । न च तथा सति आदिशब्दनैरर्थक्यापत्तेः एकं नील्यतोऽपरप्रयुक्तिरिति **वाच्यम्,** आदीयते = गृह्यते वस्तु यतः प्रभृति स आदिरिति व्युत्पत्त्या आदिपदस्योत्पत्तिबोधकत्वाद्रूपोत्पत्त्यापत्तिरिति तदर्थसङ्गतेरिति भावनीयम् ।

केचित्त्विति । अस्य नाऽनुपगच्छन्तीत्यनेनान्वयः । **केवलनीलकपालादिषु** = नीलेतररूपशून्येषु नीलकपालादिषु **अवच्छेदकतया** = अवच्छेदकतासम्बन्धेन **नीलादिवारणाय** = नीलाद्युत्पादापत्तिनिराकरणकृते व्याप्यवृत्तिनीलस्थलेऽ-

से नील रूप रहता है । इस आपत्ति के निवारणार्थ यही कार्य-कारणभाव मानना होगा कि अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि रूप के प्रति स्वाश्रयवृत्तिद्रव्यसमवायसम्बन्ध से नीलाद्यभाव हेतु बनता है । इस जन्य-जनकभाव को मान्य करने पर केवल नीलरूपवाले कपाल में अवच्छेदकता सम्बन्ध से नील रूप की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि उस कपाल की कपालिका में नीलरूपाभाव नहीं होने से वह स्वाश्रयवृत्तिद्रव्यसमवाय से उस कपाल में नहीं रहता है । यदि वह कपाल नील-पीतकपालिका से जन्य होता तब उसमें अवच्छेदकता सम्बन्ध से नील रूप उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि वह कपाल स्व = नीलरूपाभाव के आश्रय = नीलपीतकपालिकाजन्य कपाल में वृत्ति = घट द्रव्य में समवेत होने से स्वाश्रयवृत्तिद्रव्यसमवायसम्बन्ध से नीलरूपाभाव का आश्रय बनता है । इस हेतु-हेतुमद्भाव का स्वीकार जब केवल नीलादिरूपवाले कपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि की उत्पत्ति के निवारणार्थ आवश्यक है तब घट में अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि रूप की उत्पत्ति का अनिष्ट प्रसङ्ग निरवकाश हो जायेगा, क्योंकि नीलपीतकपालद्वयारब्ध घट नीलादिअभाव का आश्रय होने पर भी उसमें कोई भी द्रव्य वृत्ति = आश्रित = समवेत नहीं होने से वह घट स्वाश्रयवृत्तिद्रव्यसमवाय सम्बन्ध से नीलाभाव का आश्रय नहीं है ।

⚓ द्रव्यविशिष्टसमवाय से रूपकारणता ⚓

वस्तुत. इति । **मगर वस्तुस्थिति यह है कि लाघवसहकार से अवच्छेदकता सम्बन्ध से जन्यरूपत्वावच्छिन्न के प्रति द्रव्यविशिष्ट-सम-वाय सम्बन्ध से रूप ही कारण होता है । इस कार्य-कारणभाव के स्वीकार में घट में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि रूप की उत्पत्ति का अनिष्ट प्रसङ्ग अनुपस्थित रहेगा, क्योंकि घट में समवाय सम्बन्ध से रूप होने पर भी घट में कोई द्रव्य नहीं होने से वहाँ द्रव्यविशिष्टसमवायसम्बन्ध से रूप नहीं रहता है । कारण नहीं होने पर कार्य का आपादन नहीं किया जा सकता । इस तरह इस सामान्य जन्य-जनकभाव का स्वीकार करने से ही घटादि अवयवी में अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि रूप की उत्पत्ति का वारण हो जाने से विशेष कार्य-कारणभाव की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है ।**

❀ स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायेन नीलेतरादिहेतुता - मतविशेष ❀

रूपादेः स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायसम्बन्धेन हेतुत्वमभ्युपगच्छन्ति ।

तन्नेत्यन्ये, ***कपालान्तरावच्छेदेन पाकाद्रक्तरूपोत्पत्तिकाले कपालान्तरविद्यमानान्नीलाद-व्याप्यवृत्तिनीलाऽनापत्तेः ।***

❀ नयलता ❀

व्याप्यवृत्तित्ववारणायेति यावत्, अवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलादिकं प्रति **अवयवान्तरवृत्तिनीलेतररूपादेः स्वसमवायिसमवेत-द्रव्यसमवायसम्बन्धेन हेतुत्वमिति** । अवच्छेदकतासंसर्गेण नीलादौ समवायेन नीलादेः हेतुत्वे तु केवलनीलकपालेऽप्यवच्छेदकतया नीलमुपजायेत तत्र समवायेन नीलरूपस्य सत्त्वात् । **एतेन** अवच्छेदकतया नीलादौ स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायेन नीलेतरादेः कारणत्वमित्यपि **प्रत्याख्यातम्,** नीलपीतकपालारब्धघटस्थले नीलेतररूपसमवायिपीतकपालसमवेतघटद्रव्यसमवायित्वेन केवलपीत-कपाले केवलनीलकपाले च स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायसम्बन्धेन नीलेतररूपसत्त्वादवच्छेदकतया नीलोत्पादप्रसङ्गात् । अतोऽ-वच्छेदकतया नीलादौ स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायित्वसम्बन्धेनाऽवयवान्तरवृत्तिनीलेतररूपादेरेव कारणत्वम् । **एतेन** केवलनील-कपालेऽवच्छेदकतया नीलोत्पादप्रसङ्गोऽपि **परास्तः,** केवलनीलकपालकारणीभूतकपालिकाया नीलेतररूपाऽसमवायित्वेन केवलनील-कपाले स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायेन नीलेतररूपविरहात् । नीलपीतकपालिकाद्वयारब्धकपालजन्यघटस्थले च नीलेतरपीतरूपसम-वायिकपालसमवेतघटद्रव्यसमवायिनि कपाले स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायसम्बन्धेन पीतेतररूपसत्त्वादवच्छेदकतया नीलोत्पत्तिरपि सङ्गच्छते । रूपत्व-गुणत्व-कर्मत्वादौ अवच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिवारणाय कारणतावच्छेदकसम्बन्धकुक्षौ द्रव्यपदनिवेशः । कारणतावच्छेदकीभूतं अवयवान्तरवृत्तित्वं च समवायेन ग्राह्यम् । अतो न कालिकादिक्रमादायाऽतिप्रसक्तादवस्थ्यम् । अवयवान्तरत्वञ्च अभिमतकार्याधिकरणापेक्षया बोध्यं, तेन न केवलनीलकपालावच्छेदकतया तदुत्पादप्रसङ्गः ।

तन्नेत्यन्ये । अवच्छेदकतया नीलादावयवान्तरसमवेतनीलेतरादेः स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायेन कारणत्वोपगमे नीलकपाल-द्वितयारब्धघटस्थले **कपालान्तरावच्छेदेन पाकात्** = विजातीयरक्तजनकतेजःसंयोगात् **रक्तरूपोत्पत्तिकाले** = पाकजरक्त-रूपोत्पादक्षणावच्छेदेन **कपालान्तरविद्यमानात्** = पाकशून्यकपालसमवेतात् **नीलाद्** = नीलरूपात् अवच्छेदकतासम्बन्धेन तत्र **अव्याप्यवृत्तिनीलाऽनापत्तेः** = स्वाभावसमानाधिकरणनीलरूपोत्पादानुपपत्तेः तदानीं रक्तरूपस्योत्पद्यमानत्वेन तत्पूर्वं स्वसमवायि-

कैचित्. इति । कुछ विद्वानों का यह अभिप्राय है कि —> ''अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवाय सम्बन्ध से नीलादि को कारण मानने पर केवल नीलरूपवाले कपाल आदि में भी अवच्छेदकता सम्बन्ध से नील रूप की उत्पत्ति का अनिष्ट प्रसङ्ग उपस्थित होगा, क्योंकि वहाँ समवाय सम्बन्ध से नील रूप रहता है । मगर वहाँ समवाय से नील रूप होने पर भी अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलरूप उत्पन्न होता नहीं है । अतः केवल नीलरूपवाले कपालादि में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलरूपोत्पत्ति के निवारणार्थ ऐसा जन्य-जनकभाव मानना आवश्यक है कि अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि रूप के प्रति अवयवान्तरवृत्ति नीलेतरादिरूप· स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवाय सम्बन्ध से हेतु होता है । जैसे नीलपीतकपालिकाजन्यकपालारब्ध घटस्थल में कपाल में नीलेतर (पीत) रूप स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवाय सम्बन्ध से रहता है, क्योंकि अपने अवयवान्तर के नीलेतर रूप के समवायी कपाल में समवेत घट द्रव्य का समवाय कपाल में रहता है । अतएव उस कपाल में अवच्छेदकता सम्बन्ध से नील रूप उत्पन्न हो सकता है । मगर जिस कपाल के अवयवान्तर में नीलेतर रूप नहीं है, केवल नील रूप ही है, उस कपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलेतर रूप की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायसम्बन्ध से नीलेतर रूप ही नहीं रहता है । ऐसा कार्य-कारणभाव मानने का लाभ यह है कि घट में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि रूप की उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं आयेगा, क्योंकि घट के अवयवान्तर में नीलेतर रूप होने पर भी घट में अन्य कोई द्रव्य समवेत नहीं होने की वजह स्वसमवायिसमवेतसमवायसम्बन्ध से नीलेतर रूप रहता नहीं है । इस तरह भी नील-पीतकपालद्वयारब्ध घट में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि रूप की उत्पत्ति का निवारण हो सकता है ।

तन्नेत्यन्ये. । मगर अन्य विद्वानों यह कह कर उपर्युक्त कार्य-कारणभाव का निराकरण करते हैं कि —> अवच्छेदकतया नीलादि के प्रति स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवाय सम्बन्ध से नीलेतर रूपादि को कारण मानने पर जिस नीलकपालद्वयारब्ध घट के एक कपाल में पाक से रक्त रूप की उत्पत्ति होती है उसी समय घट के नील कपाल में समवेत नील रूप से घट में अव्याप्यवृत्ति नील रूप उत्पन्न होता है वह उत्पन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसकी पूर्व क्षण में वहाँ स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायसम्बन्ध से नीलेतर (रक्त) रूप रहता नहीं है । नीलेतर रक्त रूप तो उस क्षण में उत्पन्न होता है । अतः उसकी पूर्व क्षण में नीलेतर

रक्तोत्पत्त्यनन्तरमेव तत्राऽप्यव्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिरित्यपरे ।

नन्वेवमपि नानारूपवत्कपालाद्यारब्धे घटे तत्कपालावच्छेदेन नीलाद्यापत्तिरिति चेत् ?

नीलकपालिकावच्छिन्नतदवच्छेदेनेष्टत्वमेव तस्याः ।

❀ जयलता ❀

समवेतद्रव्यसमवायसम्बन्धेन नीलेतररूपस्याऽसत्त्वात्, कार्योत्पादाऽव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणविधयाऽभिमते कारणता-वच्छेदकसम्बन्धेनाऽवृत्तेः कारणत्वाऽयोगात् । इत्थञ्च व्यतिरेकव्यभिचारकलङ्कपङ्किलत्वान्नावच्छेदकतया नीलादौ स्वसमवायि-समवेतद्रव्यसमवायसम्बन्धेन नीलेतररूपादेः कारणत्वमित्यन्येषामाशयः ।

पाकात् **रक्तोत्पत्त्यनन्तरमेव,** न तु पाकजरूपोत्पत्तिक्षणावच्छेदेन, **तत्र** नीलकपालद्वयारब्धघटे कपालान्तरावच्छेदेन रक्त-रूपजनकपाकस्थले, **अपि** अवच्छेदकतासम्बन्धेन **अव्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिरिति** न व्यतिरेकव्यभिचारो लब्धावकाशः, अवच्छेदक-तयाऽव्याप्यवृत्तिनीलोत्पादाऽव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायेनाऽवयवान्तरसमवेतनीलेतररक्तरूपस्य [illegible] **अपरे** वदन्ति । अपर इत्यनेनास्वरसोद्भावनं कृतम्, रक्तोत्पादानन्तरमेव तत्र नीलोत्पादो न रक्तोत्पत्तिक्षणाव[illegible] युक्त्यादिविकलत्वेन शपथमात्रश्रद्धेयत्वात् । **न च** निरुक्तकार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्ग एव रक्तोत्पादक्षणेऽवच्छेदकतया तत्र नी[illegible] बाधक इति **वाच्यम्,** परस्पराश्रयग्रस्तत्वप्रसङ्गात्, सिद्धे तादृशकार्यकारणभावे रक्तोत्पादानन्तरमव्याप्यवृत्तिनीलोत्पादसिद्धिः सिद्धे च तस्मिन् निरुक्तफल-फलवद्भावसिद्धेरिति **दिक्** ।

एकदेशिनस्तु नीलमात्रारब्धे कपालान्तरावच्छेदेन पाकेन रक्तरूपोत्पत्तिक्षण एव प्राक्तननीलरूपनाशादेवाऽव्याप्य-वृत्तिनीलोत्पत्तेः अवच्छेदकतया नीलादौ अवच्छेदकतया नीलाभावादेरेव हेतुत्वमिति **व्याचक्षते** ।

ननु एवमपि = अवच्छेदकतया नीलादौ समवायेन नीलादेः कारणत्वोपगमेऽपि, **नानारूपवत्कपालाद्यारब्धे** = नील-मात्र-पीतमात्रकपालिकाद्वयारब्धनीलपीतकपाल-कपालान्तरारब्धे, **घटे तत्कपालावच्छेदेन** = अवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलपीतो-भयाश्रयकपाले **नीलाद्यापत्तिः** समवायेन तत्र नीलादेस्सत्त्वादिति । न चावच्छेदकतया नीलादौ समवायेनाऽवयवनीलादेः स्वसम-वायिसमवेतत्वेन द्रव्यविशिष्टनीलादेर्वा समवायेन हेतुत्वाभ्युपगमेऽपि **तन्निस्तारः** । नानारूपवदवयवारब्धेऽवयविन्येव भवताऽव्याप्य-वृत्तिनानाजातीयरूपाभ्युपगमो न तु नानाजातीयरूपवदवयवारब्धेऽवयवेऽपीति **चेत् ? न,** नानाजातीय[illegible]वयवेऽप्य-वयविनीवाव्याप्यवृत्तिनानारूपोपगमात् । अत एव **नीलकपालिकावच्छिन्नतदवच्छेदेन** = स्वसमवेतत्व[illegible]नीलकपालिका-विशिष्टतत्कपालावच्छेदेन, स्वसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलकपालिकाविशिष्टतत्कपाले अवच्छेदकता[illegible] [illegible], **इष्टत्वमेव तस्याः** = तत्कपालगतनीलाद्युत्पत्तेः । यदि च नीलमात्र-पीतमात्रकपालिकाद्वयारब्ध-नीलपीतकपालाद्यारब्धघटगतनीलादौ नीलकपालिकाविशिष्टतत्कपालावच्छेद्यत्वमनुभवविरुद्धमित्युद्भाव्यते तदाऽवच्छेदकतया नीलादौ समवायेन नीलेतररूपादेरेव प्रतिबन्ध-

रूप की अनुपस्थिति है । कारण की उपस्थिति तो कार्याधिकरणविधया अभिमत में कारणतावच्छेदकसम्बन्ध से कार्योत्पत्ति की पूर्व क्षण में होनी ही चाहिए । इस व्यतिरेक व्यभिचार के प्रसंग से उपर्युक्त कार्यकारणभाव को मान्य नहीं किया जा सकता' । <— मगर यहाँ अपर विद्वानों का यह मन्तव्य है कि नीलकपालद्वयारब्ध घट के एक कपाल में पाक से रक्त रूप की उत्पत्ति होती है, न कि रक्तोत्पत्तिक्षण में । जब अव्याप्यवृत्ति नील रूप अवच्छेदकता सम्बन्ध से कपाल में उत्पन्न होता है उसकी अव्यवहित पूर्व क्षण में तो स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायसम्बन्ध से अवयवान्तरसमवेत नीलेतर = रक्त रूप उस कपाल में रहता ही है, क्योंकि तब वह पाक से उत्पद्यमान होता है । अतः अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि रूप के प्रति अवयवान्तरसमवेत नीलेतररूपादि को स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायसम्बन्ध से कारण मानने में कोई दोष नहीं है ।

नन्वेव. इति । यहाँ यह शंका हो सकती है कि —> 'अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवाय सम्बन्ध से नीलादि को कारण मानने पर भी नीलमात्र और पीतमात्र रूप से विशिष्ट कपालिकाद्वय से उत्पन्न होने वाले नीलपीतकपाल से घट उत्पन्न होने पर नील-पीतकपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से तत्कपालगत नील रूप की उत्पत्ति की आपत्ति आयेगी, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से नील रूप वहाँ रहता है । आपने तो अव्याप्यवृत्ति अनेक रूप का स्वीकार अवयवी में किया है, न कि अवयव में' <— मगर यह शंका इसलिए निराकृत हो जाती है कि नीलकपालिकाविशिष्टकपालावच्छेदेन तत्कपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से तत्कपालगत नील रूप की उत्पत्ति इष्ट ही है । अतः यह इष्टापत्ति है, न कि अनिष्टापत्ति । हमें अवयवी की भाँति अवयव में भी अव्याप्यवृत्ति अनेक विजातीय रूप को मान्य करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है।

यत्तु अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादिना न कारणत्वं किन्तु नीलेतरकपालादीनामेव प्रतिबन्धकत्वमिति न तन्नीलाद्यवच्छेदकं किन्तु नीलकपालिकैव तादृशीति, तत्तुच्छम्, कपालनीलाद्यवच्छेदिकायाः कपालिकाया घटनीलाद्यवच्छेदकत्वाऽयोगात्

❋ जयलता ❋

कल्पमङ्गीकृत्य नीलमात्र-पीतमात्रकपालिकाद्वयारब्धनीलपीतकपाले तदुत्पत्त्यापत्तिनिवारणीयेति विभावनीयम् ।

नीलमात्र-पीतमात्रकपालिकाद्वयारब्ध-नीलपीतकपालारब्धघटस्थले नीलपीतकपालावच्छेदेन नीलादिवारणाय मतविशेषं दर्शयति —> यत्त्विति । तत्तुच्छमित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । **अवच्छेदकतया नीलादिकं** = नीलत्वाद्यवच्छिन्नं **प्रति समवायेन नीलादीनां न कारणत्वं** नीलपीतकपालेऽवच्छेदकतया नीलाद्यापत्तेः **किन्तु नीलेतरकपालादीनामेव** तादात्म्येन **प्रतिबन्धकत्वमिति** अवच्छेदकतया नीलादौ स्वरूपेण तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतरकपालादिभेदस्य कारणत्वम् । **अनेन** नीलमात्र-पीतमात्रकपालिकाद्वयारब्धनीलपीतकपालेऽवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलाद्यापत्तिः **प्रत्युक्ता,** यतो नीलपीतकपालस्य नीलेतरकपाल-भिन्नत्वविरहात् **न तत्** = नीलपीतकपालं **नीलाद्यवच्छेदकम्** । तर्हि किं तदवच्छेदकं ? इत्याशङ्कायामाह —> **किन्तु नीलकपालिकैव तादृशी** = नीलपीतकपालारम्भिका नीलाद्यवच्छेदिका च, तत्र तादात्म्येन नीलेतरकपालादेरसत्त्वात् । ततः नीलमात्र-पीतमात्रकपालिकाद्वयारब्ध-कपालद्वयसमवेतघटनीलरूपस्यावच्छेदकतया नीलपीतकपालसमवायि-नीलमात्रकपालिकायामेवोत्पद्यते न तु नीलपीतकपाले, निरुक्तरीत्या आपादकविरहादित्यभिप्रायः ।

तत्तुच्छम्, कपालनीलाद्यवच्छेदिकायाः = नीलपीतकपालसमवेतनीलरूपादिनिष्ठावच्छेद्यतानिरूपिताऽवच्छेदकताविशिष्टायाः **कपालिकायाः** = नीलमात्रादिकपालिकायाः **घटनीलाद्यवच्छेदकत्वाऽयोगात्,** अवयविसमवेताऽव्याप्यवृत्तिपदार्थनिष्ठावच्छेद्यता-निरूपितावच्छेदकताया अवयविसमवायित्वगर्भे एव सत्त्वात् न त्ववयविसमवायिसमवायित्वगर्भेऽपीति नियमात् । अतो नील-मात्र-पीतमात्रकपालिकाद्वयारब्ध-नीलपीतकपालारब्धघटसमवेतनीलरूपस्यावच्छेदकतया न नीलमात्रकपालिकायामुत्पत्तुमर्हति किन्तु नीलपीतकपाल एवेति तत्प्रतियोगिकं नीलपीतकपालेऽवच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिः । **न चाऽवच्छेदकतया नीलादौ अवच्छेदकता-**सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य नीलाद्यभावस्य हेतुत्वमित्युक्तावपि **तन्निस्तारः,** नीलपीतकपाले पीतकपालिकावच्छेदेन नीलाद्य-भावस्याऽवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य सत्त्वात् । न चावच्छेदकतया नीलादौ समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकी-यो नीलेतराभावः सामानाधिकरण्येन तादृशावच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य नीलाद्यभावस्य स्वरूपसम्बन्धेन कारणत्वमिति स्वीक्रियते, नीलपीतकपाले स्वरूपेण सताऽवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य नीलाद्यभावस्य सामानाधि-करण्येन समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावविरहान्नीलपीतकपालेऽवच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिरिति वाच्यम्,

❋ तादात्म्यसम्बन्ध से नीलेतरकपालादि अप्रतिबन्धक ❋

यत्तु. इति । अन्य विद्वानों का यह मन्तव्य है कि —> 'अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवाय सम्बन्ध से नीलादि रूप कारण नहीं है किन्तु नीलेतरकपालादिअभाव ही कारण है, क्योंकि अवच्छेदकतया नीलादि के प्रति नीलेतरकपालादि प्रतिबन्धक है । इसलिए नील-पीलकपालादि में अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि रूप की उत्पत्ति की आपत्ति को अवकाश नहीं है, क्योंकि अवच्छेदकतासम्बन्ध से होनेवाले नीलादि का अवच्छेदक नील-पीतरूपवाला कपाल नहीं है किन्तु नीलकपालिका ही है । नीलकपालिका में तो अवच्छेदकतासम्बन्ध से घटगत नील रूप की उत्पत्ति होती ही है, क्योंकि अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि का प्रतिबन्धक नीलेतरकपालादि तादात्म्यसम्बन्ध से रहता नहीं है । इस तरह तादात्म्यसम्बन्ध से नीलेतरकपालादि को ही अवच्छेदकतासम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले नीलादि रूप का प्रतिबन्धक मानना समीचीन है' । <—

तत्तुच्छं. इति । मगर यह भी असङ्गत है, क्योंकि कपालिका तो कपालगत नीलादि रूप की अवच्छेदिका होने की वजह घटगत नीलादि रूप की अवच्छेदिका नहीं बन सकती । अवयवी में वृत्ति अव्याप्यवृत्ति पदार्थ का अवच्छेदक अवयवी का ही अवयव हो सकता है, न कि अवयवी के अवयव का अवयव भी । अतः नीलपीतकपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नील रूप की उत्पत्ति की आपत्ति ज्यों की त्यों बनी रहेगी । यदि उक्त आपत्ति के निवारणार्थ यह कहा जाय कि —> 'अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि रूप के प्रति अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्न नीलादिअभाव कारण है' <— तो भी नीलपीतकपाल में अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि रूप की उत्पत्ति होने की आपत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है, क्योंकि नीलपीतकपाल में पीतकपालिकावच्छेदेन नीलाभावादि रहता ही है । यदि उक्त आपत्ति के निवारणार्थ ऐसा कहा जाय कि —> 'अवच्छेदकता

अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य नीलेतराभावविशिष्टनीलाद्यभावस्याऽवच्छेदकतया नीलादौ हेतुत्वे गौरवात्, व्याप्यवृत्तिनीलवत्कपालेऽवच्छेदकतया घटनीलसत्त्वेऽप्यवच्छेदकतया तदापत्तेश्च । अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावविशिष्टनीलाद्य-

❋ जयलता ❋

अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य = अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्ननीलादिनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकस्य, **नीलेतराभावविशिष्टनीलाद्यभावस्य** = सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-नीलेतराभावविशिष्टस्य नीलादिरूपाभावस्य, **अवच्छेदकतया नीलादौ हेतुत्वे** स्वीक्रियमाणे **गौरवात्** = कारणतावच्छेदकधर्मादिगौरवात् । **न च** फलमुखत्वेन तस्याऽदोषत्वमिति वाच्यम्, प्रमाणात्फलफलवद्भावनिश्चयानन्तरमुपस्थितगौरवस्यैव फलमुखपदार्थत्वात् । प्रकृते तादृशजन्यजनकभावनिश्चयपूर्वमेवाऽन्वयव्यभिचारोपस्थितेः तथा वक्तुमशक्यत्वादित्याशयेन दोषान्तरमाह **व्याप्यवृत्तिनीलवत्कपाले** = नीलमात्रपीतमात्रकपालद्वितयारब्ध-घटसमवायिनि व्याप्यवृत्तिनीलरूपवति कपाले, **अवच्छेदकतया** = स्वनिष्ठावच्छेद्यतानिरूपितावच्छेदकतासम्बन्धेन **घटनीलसत्त्वे** = घटसमवेतनीलरूपस्य सत्त्वे **अपि अवच्छेदकतया तदापत्तेश्च** = कपालसमवेतनीलरूपोत्पत्त्यापत्तेश्च, तत्कपालवृत्तिनीलरूपस्य व्याप्यवृत्तित्वेनाऽवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलमात्रकपालेऽवर्तमानतयाऽवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य नीलाद्यभावस्य सामानाधिकरण्येन समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावविशिष्टस्य स्वरूपसम्बन्धेन नीलमात्रकपाले सत्त्वात् । न च नीलमात्रकपालेऽवच्छेदकतया कपालसमवेतव्याप्यवृत्तिनीलरूपमुत्पद्यते किन्तु घटवृत्त्यव्याप्यवृत्ति-नीलरूपमेवेत्यन्वयव्यभिचारानाय हेतु-हेतुमद्भावोऽभ्युपादेय इति तात्पर्यम् ।

ननु नीलमात्र-पीतमात्रकपालिकाद्वयारब्ध-नीलपीतकपालजन्यघटस्थले नील-पीतकपालेऽवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलाद्युत्पत्तिवारणायाऽवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलादौ अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य नीलाद्यभावस्य सामानाधिकरण्येनाऽवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावविशिष्टस्यैव हेतुत्वं स्वीक्रियते । न च नीलपीतकपाले नीलमात्रकपालिकावच्छेदेन नीलेतराभावस्य सत्त्वात् तत्र पीतमात्रकपालिकावच्छेदेन स्वरूपेण सतोऽवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य नीलाद्यभावस्य सामानाधिकरण्येन अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावविशिष्टत्वात्तदवस्थैवाऽवच्छेदकतया नीलाद्युत्पादापत्तिरिति **वक्तव्यम्**, नीलेतरसामानाधिकरण्याऽविशिष्टविशेषणस्वरूपस्यैवाऽवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य नीलाद्यभावस्य सामानाधिकरण्येनाऽवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावविशिष्टस्याऽवच्छेदकतया नीलादौ हेतुत्वाभ्युपगमात्, प्रकृतेऽवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य नीलेतराभावस्य नीलेतरसामानाधिकरण्याऽविशिष्टाऽवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलाद्यभावविशेषणत्वविरहात्, अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलाद्यभावस्य स्वरूपेण नीलपीतकपाले सत्त्वात् । इत्थं निरुक्तनीलेतराभावविशिष्टनीलाद्यभावस्याऽवच्छेदकतया नीलादौ कारणत्वं नीलेतरसामानाधिकरण्याऽविशिष्टविशेषणत्वस्य च कारणतावच्छेदकत्वमित्यङ्गीकारेणैव नीलपीतकपालेऽवच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिवारणसम्भव इत्याशङ्कामपाकर्तुमाह —> **अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावविशिष्टनीलाद्यभावस्य** व्यावर्णितविग्रहस्वरूपस्य **नीलेतरसामानाधिकरण्याऽविशिष्ट-**

सम्बन्ध से नीलादि के प्रति अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलेतराभावविशिष्ट नीलाद्यभाव कारण है' <— तब यद्यपि नीलपीतकपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि रूप की आपत्ति का निवारण हो सकता है, क्योंकि नीलपीतकपाल में पीतकपालिकावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलाद्यभाव रहने पर भी वह नीलेतराभावविशिष्ट नहीं है, क्योंकि नीलपीतकपाल में समवायसम्बन्ध से नीलेतर पीतरूप रहता है तथापि यह कार्यकारणभाव मान्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके स्वीकारपक्ष में कारणतावच्छेदक धर्म में गौरव प्रसक्त होता है ।

व्याप्य. इति । **इसके अतिरिक्त दोष यह है कि जहाँ नील-पीतरूपवाले घट के आरम्भक एक कपाल में व्याप्यवृत्ति नील रूप और दूसरे कपाल में पीतरूप होता है वहाँ व्याप्यवृत्तिनीलरूपवाले कपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से घटनीलरूप की उत्पत्ति होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि उस कपाल में समवायसम्बन्ध से नीलेतर रूप नहीं है और उसका नील रूप कपाल में व्याप्यवृत्ति होने की वजह समवाय सम्बन्ध से वहाँ रहता है, न कि अवच्छेदकतासम्बन्ध से । अतः समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलेतराभाव से विशिष्ट अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलाद्यभाव होने से व्याप्यवृत्तिनीलरूपवाले कपाल में भी अवच्छेदकता सम्बन्ध से कपालनीलरूप की आपत्ति अपरिहार्य बन जायेगी ।**

अव. इति । **यदि यहाँ ऐसा कहा जाय कि —> 'अभी जिस कार्य-कारणभाव का निरूपण किया गया है उसमें**

भावस्य नीलेतरसामानाधिकरण्याऽविशिष्टविशेषणतया तथात्वेऽप्यतिप्रसङ्गात् महागौरवाच्च ।

यत्तु नीलादीनामपि नीलेतररूपादिप्रतिबन्धकतायां विरह इति, तत्र, नीलत्वादिना प्रतिबध्य-

❁ जयलता ❁

विशेषणतया तथात्वे = अवच्छेदकतया नीलादौ हेतुत्वेऽङ्गीक्रियमाणे **अपि अतिप्रसङ्गात्** = नीलमात्रकपालेऽवच्छेदकतया कपालसमवेतनीलोत्पादापत्तेः । अयं भावः नीलमात्र-पीतमात्रकपालद्वितयारब्धघटस्थले व्याप्यवृत्तिनीलरूपवत्कपाले नीलरूपस्य समवायेनैव वृत्तित्वं न त्ववच्छेदकतया, अन्यथा व्याप्यवृत्तित्वानुपपत्तेः । अतः तत्राऽवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको नीलाद्यभावः स्वरूपेण वर्तते यः नीलेतरव्यधिकरणो भवति । नीलेतरसामानाधिकरण्याऽविशिष्टस्याऽवच्छेदकतावच्छिन्ननीलाद्यभावस्य विशेषणतयाऽभिमतोऽवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको नीलेतराभावोऽपि स्वरूपेण तत्रैव नीलमात्रकपाले वर्तते । अतः सामानाधिकरण्येनाऽवच्छेदकतावच्छिन्ननीलेतराभावविशिष्टस्य नीलेतरव्यधिकरणीभूतनिरुक्तनीलाद्यभावस्य स्वरूपेण नीलमात्रकपाले सत्त्वेन तत्राऽवच्छेदकतया घटसमवेतनीलरूपमिव नीलमात्रकपालसमवेतनीलरूपमपि जायेत, सामग्र्याः स्वकार्यजननेऽन्यानपेक्षणात् । प्रकृतातिप्रसङ्गकलङ्कितत्वादेव न तादृशकार्यकारणभावः श्रद्धेयः । दोषान्तरमाह —> **महागौरवाच्चेति** । अवच्छेदकतया नीलादौ नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनापेक्षया निरुक्तकार्यकारणभावे कारण-कारणतावच्छेदकधर्म - कारणतावच्छेदकताघटकसम्बन्धशरीर-गौरवाच्चेत्यर्थः । उपलक्षणाद् विनिगमनाविरहोऽपि द्रष्टव्यः निरुक्तनीलेतराभावविशिष्टनीलाद्यभावस्य नीलेतरव्यधिकरणविशेषणत्वेन कारणत्वं यद्वा अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्ननीलाद्यभावविशिष्टनीलेतराद्यभावस्य नीलेतरव्यधिकरणविशेष्यत्वेन ? इत्यत्राऽविनिगमादिति दिक् ।

यत्त्विति तत्रेत्यनेनाऽन्वेति । अवच्छेदकतया नीलादौ समवायेन नीलेतरादीनामिव समवायेन **नीलादीनामपि** अवच्छेदकतया **नीलेतररूपादिप्रतिबन्धकतायां** विनिगमनाया **विरह इति** द्विविधप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावकल्पनागौरवमापद्यत इति नावच्छेदकतया नीलादौ समवायेन नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वकल्पनमर्हतीति **तत्र** चारु दूषणाविर्भावनम्, नीलेतरत्वाद्यपेक्षया **नीलत्वादिना**

विशेषणविधया जिस नीलेतराभाव का ग्रहण किया है वह समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नहीं, किन्तु अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक ही ग्राह्य है और वह भी नीलेतरसामानाधिकरण्याऽविशिष्ट = नीलेतरव्यधिकरण नीलाद्यभाव का । कार्य-कारणभाव इस तरह होगा कि अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति नीलेतरव्यधिकरणविशेषणत्वेन = नीलेतरसामानाधिकरण्याऽ-विशिष्टविशेषणत्वेन अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावविशिष्टनीलाद्यभाव स्वरूपसम्बन्ध से कारण है । इस तरह जन्य-जनकभाव को मान्य करने पर जहाँ नीलमात्र - पीतमात्रकपालिकाद्वयारब्ध नीलपीतकपाल से घट की उत्पत्ति होती है वहाँ नीलपीतकपालावच्छेदेन यानी नीलपीतकपाल में अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि रूप की उत्पत्ति होने की आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि नीलपीतकपाल में अवच्छेदकतासम्बन्धअवच्छिन्न नीलेतराभाव = नीलकपालिकावच्छेदेन नीलेतराभाव एवं अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्न नीलाद्यभाव = पीतकपालिकावच्छेदेन नीलादिरूपाभाव दोनों होने से सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से नीलेतराभावविशिष्टनीलादिरूपाभाव होने पर भी तादृशनीलाद्यभाव नीलपीतकपाल में रहने की वजह नीलेतरव्यधिकरण नहीं होने से नीलेतरसामानाधिकरण्याऽविशिष्टविशेषणत्व निरुक्त नीलेतराभावविशिष्टनीलरूपादिअभाव में नहीं है । कारणतावच्छेदक धर्म से शून्य की उपस्थिति होने पर कार्य की उत्पत्ति का आपादन नहीं किया जा सकता' <— तो यह वक्तव्य भी असंगत है, क्योंकि तादृश जन्य-जनकभाव को मान्य करने पर भी नीलमात्रकपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से कपालनीलरूप की उत्पत्ति की आपत्ति आयेगी, क्योंकि उसमें रहनेवाला अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्न नीलेतराभावविशिष्टनीलादिरूपाभाव नीलेतरव्यधिकरण-विशेषणत्ववाला है । व्याप्यवृत्ति नील रूप वाले कपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से न तो नीलेतर रूप रहता है और न तो अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि रूप रहता है। इसलिए निरुक्तकारणतावच्छेदकधर्मविशिष्ट की नीलमात्रकपाल में उपस्थिति होने की वजह अवच्छेदकतासम्बन्ध से कपालनीलरूप की उत्पत्ति की आपत्ति वज्रलेप होगी जिसका प्रदर्शन प्रकरणकार ने 'अतिप्रसङ्गात्' ऐसा पदप्रयोग कर के किया है । दूसरी बात यह है कि अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति नीलेतरादि को प्रतिबन्धक मानने से ही उपर्युक्त अतिप्रसंग का वारण हो जाने से उपदर्शित रीति से गुरुतर कार्यकारणभाव का स्वीकार करने पर गौरव दोष भी मुँह फाड़े खड़ा रह जायेगा । अतः प्रदर्शित कार्यकारणभाव मान्य नहीं हो सकता - यह निष्कर्ष है ।

✧ नीलेतरत्वेन प्रतिबन्धकता में गौरव अनवकाश ✧

यत्तु. इति । यहाँ अमुक विद्वानों का यह मन्तव्य है कि —> 'अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवायसम्बन्ध

तायां लाघवाद् नीलेतरत्वादिना प्रतिबन्धकत्वे तु तदवच्छिन्नाभावस्याऽखण्डस्य कारणतायां गौरवाऽप्रतिसन्धा(ना)त् । प्रतिबन्धकतागौरवस्य पुनरनन्तरोपस्थितिकत्वेनाऽविरोधित्वात् ।

❀ जयलता ❀

प्रतिबध्यतायां कल्प्यमानायां **लाघवात्** = प्रतिबन्धकाभावनिष्ठकारणतानिरूपित-कार्यतावच्छेदकधर्मशरीरलाघवात् । **न च** नीलत्वादिना प्रतिबध्यतायां नीलेतरत्वादेः प्रतिबन्धकतावच्छेदकत्वं नीलेतरत्वादिना प्रतिबध्यतायां च नीलत्वादेः प्रतिबन्धकतावच्छेदकत्वमिति तुल्यमेव नीलत्वादिना प्रतिबध्यताकल्पे प्रतिबन्धकतावच्छेदकगौरवमिति **वाच्यम्**, अवच्छेदकतया नीलादौ समवायेन **नीलेतरत्वादिना प्रतिबन्धकत्वे** नीलत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रतिबन्धकाभावाऽपेक्षया नीलेतरत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रतिबन्धकाभावशरीरस्य गुरुतरत्वेऽपि **तदवच्छिन्नाभावस्य** = नीलेतरत्वाद्यवच्छिन्नाभावस्य, **अखण्डस्य कारणतायां** = अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्ननीलादिनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताकुक्षौ **गौरवाऽप्रतिसन्धानात्** = गौरवानुपस्थितेः अखण्डस्य तस्य तद्व्यक्तित्वेनैव कारणत्वसम्भवात् । प्रतिबन्धकतावच्छेदकस्य गुरुत्वे तु कार्याऽव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन प्रतिबध्यतावच्छेदकस्वरूपकार्यतावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावस्वरूपायां कारणतायां गुरुतरप्रतिबध्यतावच्छेदकनिवेशे कारणताशरीरगौरवमिति प्रतिसन्धानात् सति लघौ गुरौ प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वानभ्युपगमात् । प्रतिबन्धकतावच्छेदकस्य निरुक्तकारणताकुक्षावप्रवेशेन तस्य गुरुत्वेऽपि कारणताशरीरं न गुरुत्वापात इति अवच्छेदकतया नीलादौ समवायेन नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वसिद्धिः । **न च** प्रतिबन्धकतावच्छेदकस्य गुरुत्वे तदवच्छिन्नाधिकरणवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपायां प्रतिबध्यतायां गौरवमिति प्रतिसन्धानात् सति लघौ गुरौ प्रतिबन्धकतावच्छेदकत्वस्याऽन्याय्यत्वादिति **वाच्यम्**, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणभावनिश्चयानन्तरमेव कारणीभूताऽभावप्रतियोगित्वरूपायाः प्रतिबन्धकताया निर्णयसम्भवेन कार्यतावच्छेदकस्वरूपप्रतिबध्यतावच्छेदकस्य निश्चयः प्रथममेव, प्रतिबन्धकतावच्छेदकस्य तु तदनन्तरमेवेति न प्रतिबन्धकतावच्छेदकगौरवस्य पूर्वसिद्धकार्यकारणभावविघटकत्वं, अनन्तरोपस्थितिकत्वेन दुर्बलत्वादित्याशयेनाऽऽह - **प्रतिबन्धकतागौरवस्य** = प्रतिबन्धकतावच्छेदकगौरवस्य पुनर्विशिष्योक्तं **अनन्तरोपस्थितिकत्वेन** = प्रतिबध्यतावच्छेदकनिर्णयानन्तरमेवोपस्थितत्वेन **अविरोधित्वात्** = पूर्वसिद्धकार्यकारणभावविघटकत्वाभावात् अवच्छेदकतया नीलादौ समवायेन नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वसिद्धिरप्याहतैव । **एतेन** नीलमात्रपीतमात्रकपालिकाद्वयारब्धनीलपीतकपालेऽवच्छेदकतया तदापत्तिः **प्रत्युक्ता**, समवायेन नीलेतरस्य पीतरूपस्य तत्र सत्त्वादिति तात्पर्यम् ।

से नीलेतर रूपादि में प्रतिबन्धकता मानने पर विनिगमनाविरह से अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलेतर रूपादि के प्रति समवाय से नीलादि में भी प्रतिबन्धकता सिद्ध होगी । इसलिए इस मत में दो प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की कल्पना का गौरव है। अतः अवच्छेदकतया नीलादि के प्रति नीलेतर रूपादि को प्रतिबन्धक नहीं माना जा सकता' <— मगर यह भी असंगत है। इसका कारण यह है कि नीलत्वादि ही नीलेतर रूपादि का प्रतिबध्यताअवच्छेदक होगा, न कि नीलेतररूपत्वादि नीलादिरूप का प्रतिबध्यतावच्छेदक, क्योंकि नीलेतरत्वादि को नीलादि रूप का प्रतिबध्यतावच्छेदक मानने में लाघव है । यदि यहाँ यह शंका हो कि —> नीलत्वादि को प्रतिबध्यतावच्छेदक मानने पर नीलेतरत्वादि को प्रतिबन्धकताअवच्छेदक मानना होगा और नीलेतरत्वादि को प्रतिबध्यताअवच्छेदक मानने पर नीलत्वादि को प्रतिबन्धकताअवच्छेदक मानना होगा । अतः नीलत्वादि को प्रतिबध्यताअवच्छेदक मानने की अपेक्षा नीलेतरत्वादि को प्रतिबन्धकताअवच्छेदक मानने में गौरव होगा' <— तो यह भी इसलिए निराधार हो जाती है कि प्रतिबन्धकताअवच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव गुरुतर शरीरवाला होने पर भी उसे अखण्डरूप से = तद्व्यक्तित्वरूप से कारण मानने में कारणताशरीर में गौरव दोष का भान नहीं होता है, किन्तु प्रतिबध्यताअवच्छेदक के गुरुतर होने पर कार्यकारणभाव में गौरव होगा, क्योंकि तब प्रतिबन्धकाभाव का कार्यतावच्छेदक धर्म, जो प्रतिबध्यताअवच्छेदक धर्म होता है, गुरुतर होगा । दूसरी बात यह है कि अवच्छेदकतया नीलादि के प्रति नीलेतरादि की प्रतिबन्धकता अन्वयव्यतिरेक से निश्चित होने के बाद ही प्रतिबन्धकताअवच्छेदकधर्मशरीर में गौरव की उपस्थिति होने से वह गौरव दोष प्रतिबध्य - प्रतिबन्धकभाव का विरोधी नहीं हो सकता । पूर्व उपस्थित गौरव ही दोषात्मक होता है । अन्यथा लाघव तर्क से अद्वैतवाद की सिद्धि हो जायेगी - यह तो अनेक बार पहले बताया गया ही है । अतः नीलादि के प्रति नीलेतरादि को ही प्रतिबन्धक मानना न्याय्य है । अब नीलपीतकपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि की उत्पत्ति का कोई प्रसङ्ग नहीं होगा, क्योंकि वहाँ समवाय सम्बन्ध से नीलेतर पीत रूप रहता है ।

अवच्छे. इति । यहाँ अन्य मनीषियों का यह वक्तव्य है कि —> 'अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि रूप के प्रति समवाय

अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादिकं हेतुः अवच्छिन्ननीलादिकं प्रति च स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलाद्यभावो हेतुरित्याहुः ।

सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराद्यभावस्याऽवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति कारणतेति कश्चित् । तन्नेत्यन्ये सामानाधिकरण्यस्याऽव्याप्यवृत्तितया तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्र-

❋ जयलता ❋

अत्रैवेतरेषामभिप्रायमाह —> **अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादिकं हेतुः । अत एव** नीलमात्रक पालेऽवच्छेदकतया घटगतनीलमुत्पद्यते, समवायेन तत्र नीलस्य सत्त्वात् । **न च** व्याप्यवृत्तिनीलरूपवत्कपालेऽवच्छेदकतया घटीयनीलरूपसत्त्वेऽप्यवच्छेदकतया कपालीयनीलरूपापत्तिर्दुर्वारा, समवायेन नीलरूपस्य तत्र सत्त्वादिति **वाच्यम्, अवच्छिन्ननीलादिकं** = अवच्छेदकतासम्बन्धेन अवयवीयनीलादिकं **प्रति च स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलाद्यभावो हेतुरि**त्यभ्युपगमात् व्याप्यवृत्तिनीलवत्कपालसमवायिकपालिकायां नीलाभावस्याऽसत्त्वेन नीलमात्रकपाले स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलाद्यभावस्य विरहात् तत्राऽवच्छेदकतया कपालीयनीलरूपापत्तिः । **न च** नीलमात्र-पीतमात्रकपालिकाद्वयारब्धकपालेऽवच्छेदकतया कपाल-समवेतनीलापत्तिर्दुर्वारा, नीलाभावाश्रयपीतकपालिकासमवेते नीलपीतकपाले स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलाभावस्य सत्त्वादिति **वाच्यम्,** नीलकपालिकावच्छिन्ननीलपीतकपालेऽवच्छेदकतासम्बन्धेन घटीयनीलस्येव कपालीयनीलस्याभिमतत्वादित्य**प्याहुः** ।

नीलपीतकपालद्वयारब्धघटे पीतकपालावच्छेदेन नीलोत्पत्तिवारणाय समानावच्छेदकत्वप्रत्यासत्त्या **सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराद्यभावस्य अवच्छेदकतया, नीलादिकं प्रति कारणता** स्वीकार्या । नीलरूपसमानाधिकरणं नीलेतराभावः नीलकपाले एव वर्तते, न तु पीतकपालेऽपि । अतः सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक - नीलेतराभावस्याऽवच्छेदकता नीलकपाले एव, न तु पीतकपाले । इत्थञ्च समानावच्छेदकत्वप्रत्यासत्त्या सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावस्य पीतकपाले विरहात् तत्राऽवच्छेदकतया नीलापत्तिरिति **कश्चित्** ।

तन्नेत्यन्ये, 'द्रव्यत्वसमानाधिकरणायां सत्तायां गुणे न द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यमि'ति प्रतीत्या सत्तायां द्रव्यत्वसमानाधिकरण्य-तदभावौ सिध्यत इति **सामानाधिकरण्यस्य** अव्याप्यवृत्तितया = स्वाभावसमानाधिकरणतया **तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य** सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य **असम्भवात्** । न हि 'गुणे सत्तायां न द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यमि'ति प्रतीत्या गुणे सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको द्रव्यत्वाभावः सिध्यति । तद्वदेव 'नीलपीतकपालारब्धे घटे नीलकपाले न नीलेतरसामानाधिकरण्यमि'ति प्रतीत्या नीलकपाले सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको नीलेतराभावोऽपि नैव सिध्येत् । ततः सामानाधिकरण्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावस्याऽवच्छेदकतया नीलादौ

सम्बन्ध से नीलादि रूप हेतु है, फिर भी केवल नीलरूपवाले कपाल में अवच्छेदकता सम्बन्ध से कपालसमवेत नील रूप की उत्पत्ति का कोई प्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि सावच्छिन्न नीलादि रूप के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलाद्यभाव भी हेतु होता है । व्याप्यवृत्ति नीलरूपवाले कपाल में समवाय से नील रूप होने पर भी उसकी कपालिका में नीलाभाव नहीं होने से स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलादिरूपाभाव उस कपाल में नहीं रहता है । अब वहाँ अवच्छेदकतया नील रूप की उत्पत्ति को अवकाश कहाँ? कारण न रहने पर कार्य का आपादन नहीं हो सकता' <— ।

❋ सामानाधिकरण्यावच्छिन्न नीलेतराभावहेतुतामत ❋

सामाना. इति । कोई विद्वान् यह कहता है कि —> 'नीलपीतकपालारब्ध घट में उत्पन्न होनेवाले नील रूप की पीत कपाल में अवच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पत्ति का परिहार करने के लिए अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि रूप के प्रति सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलेतरादि अभाव को अवच्छेदकतासम्बन्ध से कारण मानना चाहिए । नीलपीतकपाल से उत्पन्न होनेवाले घट के नील रूप में नीलेतररूपाभाव का सामानाधिकरण्य नीलकपालावच्छेदेन होता है, न कि पीतकपालावच्छेदेन । अतएव उक्त घटगत नीलेतर रूप का सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव अवच्छेदकतासम्बन्ध से पीत कपाल में न हो कर नील कपाल में ही होता है । अतएव उक्त घट में नीलकपालावच्छेदेन अवच्छेदकतासम्बन्ध से नील कपाल में ही नील की उत्पत्ति होती है, पीतकपालावच्छेदेन = अवच्छेदकतासंसर्ग से पीत कपाल में नील रूप की उत्पत्ति होती नहीं है' <— ।

तन्नेत्यन्ये । मगर अन्य विद्वानों यह कह कर उपर्युक्त मत का निराकरण करते हैं कि —> 'सामानाधिकरण्य तो

तियोगिताकाभावस्याऽसम्भवादिति । तदसत् 'गुणे सत्तायां न द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यमि'ति प्रतीतेः 'गुणे पृथिवीत्वे न द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यमि'तिवद् गुणे द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यावच्छेदकत्वाभावाऽवगाहित्वेनैवोपपत्तौ तदव्याप्यवृत्तित्वस्याऽन्यत्र दूषितत्वात् । सामानाधिकरण्येन नीलेतरवद्भेदो यदवच्छेदेन तदवच्छेदेन नीलोत्पत्तिरित्यप्याहुः ।

❀ जयलता ❀

हेतुत्वमपि असम्भवकलङ्कपङ्किलमित्यन्येषामाकूतम् ।

तदसत्, 'गुणे सत्तायां न द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यं' इति प्रतीतेः न सामानाधिकरण्य-तदभावयोरेकत्र निवेशपरतया सामानाधिकरण्यस्याऽव्याप्यवृत्तित्वावगाहित्वेनोपपत्तिः कार्या **'गुणे पृथिवीत्वे न द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यमि'तिप्रतीतिवद् गुणे द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यावच्छेदकत्वाभावावगाहित्वेनैवोपपत्तौ तदव्याप्यवृत्तित्वस्य** = सामानाधिकरण्याऽव्याप्यवृत्तित्वस्य, **अन्यत्र दूषितत्वादिति** । यथा 'गुणे पृथिवीत्वे न द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यं' इति प्रतीतिः गुणे पृथिवीत्ववृत्तिद्रव्यत्वसामानाधिकरण्यावच्छेदकत्वाभावविषयिणी, न तु गुणे पृथिवीत्ववृत्तिद्रव्यत्वसामानाधिकरण्याभावावगाहिनी अनुभवबाधात्, त्वन्मते विशिष्टस्य शुद्धानतिरेकात्; तद्वदेव 'गुणे सत्तायां न द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यं' इति प्रतीतिः गुणे सत्तावृत्तिद्रव्यत्वसामानाधिकरण्यावच्छेदकत्वाभावावगाहिनी, न तु सत्तावृत्तिद्रव्यत्वसामानाधिकरण्याभावविषयिणी । इत्थमेव गुणपदोत्तरमवच्छेदकत्वार्थिका सप्तमी विभक्तिरपि घटामञ्चति । **न चैवं** सति समानावच्छेदकत्वप्रत्यासत्त्या सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्ननीलेतराभावादेरवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति कारणता सिद्धेति **वक्तव्यम्,** सामानाधिकरण्यस्य व्याप्यवृत्तित्वेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावस्याऽपि व्याप्यवृत्तित्वसिद्धौ नीलकपालेऽवच्छेदकतया तद्वृत्तित्वासम्भवात्, व्याप्यवृत्तेरवच्छेदकत्वे मानाभावात् । **न च** समवायस्य व्याप्यवृत्तित्वेऽपि तत्सम्बन्धावच्छिन्नकपिसंयोगाभावस्य वृक्षेऽव्याप्यवृत्तित्व**मुद्भावनीयम्,** तत्र मूलावच्छिन्नसमवायस्यैव कपिसंयोगाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वात्, तस्य च सावच्छिन्नत्वेनाऽव्याप्यवृत्तित्वादित्यादिकं सूक्ष्मेक्षिकया **निभालनीयम्** ।

अवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलत्वावच्छिन्नं प्रति समानावच्छेदकत्वप्रत्यासत्त्या नीलेतरवद्भेदस्य कारणत्वमित्यभिप्रायवतां मतमाह —> **सामानाधिकरण्येन नीलेतरवद्भेदो यदवच्छेदेन** वर्तते **तदवच्छेदेनैव नीलोत्पत्तिः** यथा नीलपीतकपालारब्ध-

अव्याप्यवृत्ति यानी स्वाभावसमानाधिकरण है । अतएव सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव भी असम्भवित है। जब कि तादृश अभाव ही नामुमकिन है तब अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलेतरादिअभाव को कैसे कारण माना जा सकता है ? अतः उपर्युक्त मत नितान्त अश्रद्धेय है' <— ।

❋ सामानाधिकरण्य अव्याप्यवृत्ति नहीं है ❋

तदसत्. इति । मगर सामानाधिकरण्य को अव्याप्यवृत्ति कहना भी असङ्गत है, क्योंकि वस्तुस्थिति यह है कि सामानाधिकरण्य व्याप्यवृत्ति ही होता है । आशय यह है कि 'गुणे सत्तायां न द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यं ' यह प्रतीति सत्ता में, जहाँ द्रव्यत्वसामानाधिकरण्य प्रसिद्ध है, द्रव्यत्वसामानाधिकरण्याभाव का अवगाहन करती नहीं है, किन्तु गुण में सत्तावृत्ति द्रव्यत्वसामानाधिकरण्य की अवच्छेदकता के अभाव का अवगाहन करती है । यह ठीक उसी तरह संगत हो सकता है, जैसे 'गुणे पृथिवीत्वे न द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यं ' यह प्रतीति गुण में पृथिवीत्वनिष्ठ द्रव्यत्वसामानाधिकरण्य की अवच्छेदकता के अभाव का अवगाहन करती है, न कि पृथिवीत्वनिष्ठ द्रव्यत्वसामानाधिकरण्य के अभाव का । इस तरह एक ही धर्मी में सामानाधिकरण्य एवं उसके अभाव के समावेश की प्रदर्शक प्रतीति की अन्यथा उपपत्ति हो जाने से सामानाधिकरण्य में अव्याप्यवृत्तित्व का अन्यत्र खण्डन किया गया है । अतः —> 'सामानाधिकरण्य अव्याप्यवृत्ति होने से तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलेतराभाव का नील कपाल में होना नामुमकिन है' <— ऐसा जो कहा गया था वह असत् = अनुचित है । हाँ, यह कहा जा सकता है कि सामानाधिकरण्य व्याप्यवृत्ति होने से तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलेतराभाव भी व्याप्यवृत्ति होगा और व्याप्यवृत्ति का अवच्छेदक होने में कोई प्रमाण नहीं होने से सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलेतराभाव को समानावच्छेदकत्वसम्बन्ध से कारण मानना असंगत है । इस तरह कथित्मत का निराकरण किया जा सकता है । इस विषय में अधिक जिज्ञासु जयलता पर दृष्टिपात करें - यह विज्ञप्ति ।

सामा. इति । यहाँ अन्य विद्वानों का यह वक्तव्य है कि —> 'सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से नीलेतररूपवान् का भेद

अव्याप्यवृत्तिरूपस्वीकार एव च 'मुखे पुच्छे च पाण्डुरः' इत्यादाववच्छेदकत्वार्थिका सप्तमी सङ्गच्छते । न चैवं नीलकपालावच्छेदेन सन्निकर्षे पीतादिग्रहापत्तिः अव्याप्यवृत्तिचाक्षुषं

❀ जयलता ❀

घटे नीलेतरपीतरूपवत्पीतकपालप्रतियोगिकान्योन्याभावः अवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलकपाले वर्तत इति नीलकपालावच्छेदेनैव नीलोत्पत्तिः न तु पीतकपालावच्छेदेन । **न च** भेदस्य व्याप्यवृत्तित्वान्नेदं समीचीनमिति **वाच्यम्,** 'नीलपीतकपालारब्धो घटः पीतकपालावच्छेदेन न नीलेतरवदि' इति प्रतीत्या भेदस्याऽव्याप्यवृत्तित्वसिद्धेः स्वरूपसम्बन्धेनेवाऽवच्छेदकतासम्बन्धेन तद्वृत्तित्वाऽव्याहतेरिति भावनीयम् ।

अव्याप्यवृत्तिरूपस्वीकार एव च, न तु व्याप्यवृत्तिरूपस्वीकारपक्षे, **'मुखे पुच्छे च पाण्डुर' इत्यादौ अवच्छेदकत्वार्थिका सप्तमी सङ्गच्छते** । अत्र सन्दर्भस्त्वेवं 'एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् । यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥ इत्यत्र वृषविशेषणीभूतं पारिभाषिकं नीलत्वं 'श्वेतः खुरविषाणाभ्यां मुखे पुच्छे च पाण्डुरः । लोहितो यस्तु वर्णेन स नीलो वृष उच्यते' ॥५६॥ इत्येवं **इतिहासोपनिषदि** प्रतिपादितम् । अत्र सप्तम्या अवच्छिन्नत्वार्थ एव सङ्गतिः न तु वृत्तित्वार्थे, एकस्मिन् परस्परविरोधेन व्याप्यवृत्तिश्वेतपाण्डुरादेरसम्भवात् । **एतेन** सविषयाऽवृत्ति-व्याप्यवृत्तिवृत्तिजातेरव्याप्यवृत्तिवृत्तित्वविरोधनियमोऽपि **प्रत्युक्तः, अप्रामाणिकत्वाच्च** । **एतेन** रूपस्य व्याप्यवृत्तित्वनियमादिति **अन्नम्भट्टवचनमपि प्रत्याख्यातम्,** श्वेतादीनां दैशिकव्याप्यवृत्तित्वस्य नीलवृष एव बाधात् शुक्लादीनां अव्याप्यवृत्तित्वं विना तत्समुदायस्यैकवृत्तित्वाऽसम्भवात् । **न च एवं** = शुक्लादीनामव्याप्यवृत्तित्वे नील-पीत-श्वेतकपालारब्धघटे **नीलकपालावच्छेदेन** = अवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलकपाले, **सन्निकर्षे** = चक्षुःसंयोगे सति, **पीतादिग्रहापत्तिः** = पीतादिरूपचाक्षुषप्रसङ्गः, पीतादेः नीलपीतशुक्लकपालारब्धघटे सत्त्वादिति **वाच्यम्,** लौकिकविषयतासम्बन्धेन **अव्याप्यवृत्तिचाक्षुषं** = अव्याप्यवृत्तिगोचरचाक्षुषसाक्षात्कारत्वाऽवच्छिन्नं

यदवच्छेदेन रहता है तदवच्छेदेन नील रूप की उत्पत्ति होती है । मतलब कि अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलेतररूपवान् का भेद कारण होता है । जैसे कि नीलपीतकपालारब्ध घट में नीलकपालावच्छेदेन नीलेतर पीतरूपवान कपाल का भेद रहने से घट में नीलकपालावच्छेदेन = अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलकपाल में नील रूप उत्पन्न होता है' <-- ।

अव्या. इति । इस तरह उपर्युक्त रीति से अनेक विद्वानों का यह कथन है कि नानारूपवाले अवयवों से आरब्ध अवयवी में अव्याप्यवृत्ति अनेक विजातीय रूप ही अवच्छेदकतासम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं, न कि एक अतिरिक्त चित्ररूप वहाँ समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता है । यह मानना मुनासिब भी है, क्योंकि नील, पीत आदि अनेक अव्याप्यवृत्ति रूप का एक धर्मी में स्वीकार करनेवालों के मत में ही 'मुखे पुच्छे च पाण्डुरः' इत्यादि आर्षवचन में अवच्छेदकत्व अर्थवाली सप्तमी विभक्ति भी संगत होती है । यहाँ सन्दर्भ इस प्रकार का है कि - 'अनेक पुत्र की इच्छा करनी उचित है, क्योंकि अनेक पुत्र होने पर यदि उनमें से कोई भी एक पुत्र गया तीर्थ में जाय, या अश्वमेध से यज्ञ करे या नील वृष का उत्सर्ग करे तो पिता को सद्गति मिलती है'। यहाँ जो नीलवृष पद है उसका पारिभाषिक अर्थ यह है कि वह वृषभ, जो रूप से लोहित = रक्तरूपवाला हो, मुख और पुच्छ में यानी मुखावच्छेदेन और पुच्छावच्छेदेन पांडुर = पीत वर्णवाला है तथा पाँव की खुर और शृंग की अपेक्षा श्वेतवर्णवाला होता है । यहाँ मुख और पुच्छ पद के उत्तर जो सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है उसका अर्थ वृत्तिता नहीं, बल्कि अवच्छेदकता ही अर्थ है । मुख और पुच्छ तो नैयायिक मत में वृषभ से सर्वथा भिन्न होने से वृषभवृत्ति पाण्डुर वर्ण मुख और पुच्छ में कैसे रह सकते ? अतः यही मानना होगा कि उस वृषभ में मुखावच्छेदेन और पुच्छावच्छेदेन पांडुर वर्ण रहता है । इसका अर्थ यही होता है कि वृषभ के मुख और पुच्छ में अवच्छेदकतासम्बन्ध से पाण्डुर वर्ण रहता है। इस तरह नानारूपवदवयवारब्ध अवयवी में अवच्छेदकता सम्बन्ध से अनेक अव्याप्यवृत्ति रूप का स्वीकार करना ही मुनासिब है - यह महसूस होता है ।

न चैवं. इति । यहाँ यह शंका हो सकती है कि --> 'एक ही धर्मी में अवच्छेदकतासम्बन्ध से अनेक रूप मानने पर तो नीलपीतश्वेतकपालारब्ध घट में नीलकपालावच्छेदेन चक्षुसन्निकर्ष होने पर पीतादि रूप के ग्रहण = चाक्षुष साक्षात्कार की आपत्ति आयेगी, क्योंकि घट में नील रूप की भाँति पीतादि रूप भी रहते हैं' <-- मगर यह शंका इसलिए निराकृत हो जाती है कि 'अव्याप्यवृत्ति पदार्थ के विषयतासम्बन्ध से चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुसंयोगअवच्छेदकावच्छिन्न अव्याप्यवृत्ति-

प्रति चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतायाः सन्निकर्षत्वस्य संयोगादिस्थले क्लृप्तत्वादित्याहुः ।

अत्र यद्यपि चित्ररूपवादिनां नीलादिकं प्रति नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वं नीलाभावादीनां

❀ जयलता ❀

प्रति चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतायाः = चक्षुःसंयोगस्याऽवच्छेदको यो विषयदेशः तदवच्छिन्नेन समवायसम्बन्धेनाऽवच्छिन्ना याऽव्याप्यवृत्तिनिरूपिता अधिकरणता तन्निरूपिताया आधेयतायाः **सन्निकर्षत्वस्य** = अव्याप्यवृत्तिविषयकचाक्षुषकारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तित्वस्य **संयोगादिस्थले** = संयोगादिचाक्षुषस्थले, आदिशब्देन विभागादिग्रहणं, **क्लृप्तत्वात्** = प्रमाणसिद्धत्वात् । यथा शाखायां कपिसंयोगवति वृक्षे मूलावच्छेदेन चक्षुःसंयोगदशायां कपिसंयोगे स्वसंयोगावच्छेदकदेशावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकपिसंयोगाधिकरणतानिरूपिताधेयतासम्बन्धेन चक्षुषोऽसत्त्वान्न कपिसंयोगचाक्षुषं लौकिकविषयतासम्बन्धेन तत्र जायते तद्वदेव नीलपीतारब्धघटे नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षदशायां पीतरूपे स्वसंयोगावच्छेदकदेशावच्छिन्नसमवायावच्छिन्नपीताधिकरणतानिरूपिताधेयतासम्बन्धेन चक्षुषोऽसत्त्वान्न लौकिकविषयतया पीतचाक्षुषप्रसङ्गः । निरुक्तसंसर्गस्य संयोगादिस्थले प्रमाणसिद्धत्वान्नाऽव्याप्यवृत्तिनीलपीतादिरूपकल्पे संसर्गगौरवमपीति नानारूपवदवयवारब्धघटेऽव्याप्यवृत्तीनि नानारूपाण्येवोत्पद्यन्ते न त्वतिरिक्तं चित्रं, गौरवात् । न च नीलकपालिकावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षस्य तत्संयोगनीलपीतोभयकपालावच्छिन्नत्वनियमात् तदवच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे पीतचाक्षुषप्रसङ्ग **इत्याशङ्कनीयम्**, संयोगव्यक्तिर्यद्देशव्यापिनी तत्र परम्परया तद्देश एवाऽवच्छेदको न तु सम्पूर्णोऽवयव इत्यभ्युपगमात्, चित्ररूपकल्पे च चित्रचाक्षुषे उक्तकार्यकारणभावकल्पनागौरवमिति अव्याप्यवृत्तिरूपवादिन **आहुः** । आहुरित्यनेनाऽस्वरसः प्रदर्शितः, चित्ररूपस्य प्रमाणसिद्धत्वे तादृशगौरवस्य फलाभिमुखत्वेनाऽदोषत्वादिति विभावनीयम् ।

अत्र = चित्ररूपस्थले **यद्यपी**त्यस्यान्वयोऽग्रे तुल्यमित्यनेन । **चित्ररूपवादिना** = अतिरिक्तचित्ररूपवादिना समवायेन **नीलादिकं प्रति** स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन **नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वं** कल्पनीयं, अन्यथा प्रागुक्तदिशा तत्र नीलादि-

पदार्थप्रतियोगिकसमवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न ऐसी आधारता ही सन्निकर्ष = चाक्षुषकारणतावच्छेदक सम्बन्ध है' - यह संयोगादि स्थल में क्लृप्त = आवश्यक होने से उसीसे इस आपत्ति का निराकरण हो जाता है । आशय यह है कि वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपिसंयोग होने पर भी मूलावच्छेदेन वृक्ष में चक्षुसन्निकर्ष होने पर कपिसंयोग का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता नहीं है । इसके अनुरोध से ऐसा कार्यकारणभाव माना जाता है कि विषयतासम्बन्ध से अव्याप्यवृत्तिविषयक चाक्षुष साक्षात्कार के प्रति चक्षुसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न ऐसे अव्याप्यवृत्तिपदार्थप्रतियोगिक समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न ऐसी आधारता से निरूपित आधेयता स्वरूप सम्बन्ध से चक्षु कारण है । कपिसंयोगप्रतियोगिकसमवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न आधारता मूलावच्छिन्न वृक्ष में नहीं है, बल्कि शाखावच्छिन्न वृक्ष में है। अतः वृक्ष में शाखावच्छेदेन चक्षुसंयोग होने पर ही चक्षुसंयोगावच्छेदकशाखावच्छिन्न ऐसे समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न आधारता वृक्ष में संभवित होगी । अतः स्वसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नआधारता निरूपिताधेयता सम्बन्ध से कपिसंयोग में चक्षु तो शाखावच्छेदेन वृक्ष में चक्षुसंयोग होने पर ही रहेगी । इस तरह नील-पीत-श्वेतकपालत्रितयारब्ध घट में नीलकपालावच्छेदेन चक्षुसंयोग होने पर चक्षु स्वसंयोगावच्छेदकीभूतनीलकपालावच्छिन्न नीलरूपप्रतियोगिक समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न आधारता निरूपितआधेयता सम्बन्ध से नील में रहने की वजह नील रूप का ही चाक्षुष होता है, न कि पीत रूप का । तादृशघटवृत्ति पीत रूप के चाक्षुष साक्षात्कार के प्रति चक्षु स्वसंयोगावच्छेदकपीतकपालावच्छिन्न ऐसे पीतरूपप्रतियोगिक समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न आधारतानिरूपितआधेयता सम्बन्ध से कारण है, जो पीतकपालावच्छेदेन घट में चक्षुसंयोग होने पर ही मुमकिन है । इस तरह संयोगादि अव्याप्यवृत्तिपदार्थ के चाक्षुष साक्षात्कार में अवश्यक्लृप्त कारणताअवच्छेदक सम्बन्ध से ही उपर्युक्त अतिप्रसङ्ग का वारण हो जाने से अव्याप्यवृत्ति अनेक रूप पक्ष में अतिरिक्त कारणता की कल्पना का गौरव निरवकाश है । अतः नानाजातीयरूपवाले अवयवों से आरब्ध अवयवी में अवच्छेदकतासम्बन्ध से अनेक रूप की कल्पना ही प्रामाणिक है - यह नव्य नैयायिकों का, जो अतिरिक्त चित्ररूप को मान्य करते नहीं हैं, अभिप्राय है ।

अव्याप्यवृत्तिरूपपक्ष और चित्ररूपपक्ष में तुल्य कार्यकारणभाव

अत्र यद्यपि.। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अतिरिक्तचित्ररूपवादी के मत में समवाय सम्बन्ध से नीलादि रूप के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से नीलेतर रूपादि को प्रतिबन्धक मानना होगा, अन्यथा चित्रघट में नीलादि रूप की समवाय

चित्रं प्रति हेतुता च कल्प्या, अव्याप्यवृत्तिरूपवादिनाऽपि अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वं, केवलनीलावयवेऽवच्छेदकतया नीलोत्पत्तिवारणाय प्रागुक्तद्रव्यघटितसम्बन्धेन नीलाभावादीनामवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति हेतुत्वं च कल्पनीयमिति तुल्यम् ।

यदि पुनरवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलादिकमनियम्यमेव तदा तु चित्रं प्रत्येव नानाकारण-

❀ जयलता ❀

सामग्रीसत्त्वान्नीलादिकमप्युत्पद्येत । स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन **नीलाभावादीनां** समवायेन **चित्रं प्रति हेतुता च कल्प्या** । वस्तुत एवं सति नाश्वादावपि समवायेन चित्ररूपोत्पादप्रसङ्गः, तत्र स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलाभावादिषट्कस्य सत्त्वात् । अतः समवायेन चित्रं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतरादिषट्कस्य हेतुता कल्पनीयेति ध्येयम् । तथा **अव्याप्यवृत्तिरूपवादिनाऽपि अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन** नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयं, अन्यथा नीलपीतकपालारब्धघटे पीतकपालावच्छेदेन नीलोत्पत्तिप्रसङ्गात् । **केवलनीलावयवे** = व्याप्यवृत्तिनीलवदवयवे **अवच्छेदकतया नीलोत्पत्तिवारणाय** = अवयवनीलोत्पत्तिनिराकरणाय, **प्रागुक्तद्रव्यघटितसम्बन्धेन** = स्वाश्रयसमवेतद्रव्यसमवायित्वसम्बन्धेन **नीलाभावादीनां** वस्तुतः स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायित्वसम्बन्धेन नीलेतररूपादीनां **अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति हेतुत्वं च कल्पनीयमिति** उभयत्र द्वादश कार्यकारणभावा इति **तुल्यम् । न च** चित्ररूपवादिनां समवायेन नीलादौ स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलादिषट्कस्य हेतुत्वकल्पनाधिक्यात्तन्मतेऽष्टादश कार्यकारणभावा इति गौरवमिति **वाच्यम्,** नीलादौ नीलेतरादिप्रतिबन्धकत्वेनैव शुक्लावयवमात्रारब्धे नीलाद्युत्पत्तिनिषेधात् चित्ररूपवादिना नीलादौ नीलादिहेतुत्वस्याऽकल्पनात् कार्यकारणभावसङ्ख्यासाम्यात् । **न चाऽव्याप्यवृत्तिरूपवादिमते** समवायेन नीलादौ स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलादिषट्कहेतुत्वस्याऽवश्यकल्पनीयतया तन्मते पञ्चदश कार्यकारणभावाः प्रसज्यन्त इति **वक्तव्यम्,** अवच्छेदकतया नीलादौ समवायेन नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वं स्वसमवायिसमवेत-द्रव्यसमवायित्वसम्बन्धेन नीलेतरादेः हेतुत्वञ्चेत्यनादृत्य वस्तुतोऽवच्छेदकतया नीलादौ हेतुत्वाऽभ्युपगमात् । न च नीलेतरत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति नीलविशिष्टनीलेतरत्वादिना हेतुत्वे विनिगमनाविरह इति **वाच्यम्,** नीलत्वाद्यपेक्षया नीलेतरत्वादेः कार्यतावच्छेदकत्वे गौरवादिति उभयमतेऽतिनिष्कर्षाद् द्वादश एव कार्यकारणभावा इति तुल्यम् ।

यदि समवायसम्बन्धेनैव नीलादिकं नियम्यं, **अवच्छेदकतासम्बन्धेन पुनः नीलादिकमनियम्यमेव** इत्यभ्युपगम्यते **तदा** अव्याप्यवृत्तिरूपवादिमते अवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलादिकं प्रति समवायेन नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम् । न च नीलपीतघटे पीतकपालावच्छेदेन नीलोत्पादप्रसङ्ग इति **वाच्यम्,** आपादकविरहात् नीलस्य स्वाश्रयावच्छेदेन नीलजनकत्वस्याभाव्या-

सम्बन्ध से उत्पत्ति की पूर्वोक्त रीति से आपत्ति आयेगी । अतः समवाय से नीलादि के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक नीलेतरादिअभावषट्क स्वरूप सम्बन्ध से कारण बनने से ये छ कार्य-कारणभाव कल्पनीय बनेंगे । एवं समवाय सम्बन्ध से चित्र रूप के प्रति नीलाभावादिषट्क को स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से कारण मानना होगा, अन्यथा केवल नीलरूपवाले दो कपालों से जन्य घट में भी चित्ररूप की आपत्ति आयेगी। इस तरह १२ कार्यकारणभाव की कल्पना अतिरिक्त चित्र रूप वादी के मत में आवश्यक है । तथा नानाजातीयरूपवदवयवारब्ध अवयवी में अव्याप्यवृत्ति अनेक रूप माननेवाले वादी के मत में भी १२ कार्यकारणभाव का अंगीकार आवश्यक होगा । देखिये, नीलपीतरूपवाले घट में पीतकपालावच्छेदेन नील रूप की उत्पत्ति के निवारणार्थ अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवाय सम्बन्ध से नीलेतरादिषट्क में प्रतिबन्धकता की कल्पना एवं व्याप्यवृत्तिनीलरूपवाले कपालादि अवयव में अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि रूप = कपालीय नीलादिरूप की उत्पत्ति के निवारणार्थ अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति स्वाश्रयसमवेतद्रव्यसमवायित्वसम्बन्ध से नीलाभाव आदि षट्क की हेतुता की कल्पना आवश्यक होने से द्वादश हेतुहेतुमद्भाव की कल्पना करनी होगी । अतः दोनों मत में कार्यकारणभाव की संख्या तुल्य ही है, हीनाधिक नहीं ।

यदि.। हाँ, यदि ऐसा माना जाय कि —> 'समवाय सम्बन्ध से ही नीलादि रूप की उत्पत्ति कारणनियम्य है, अवच्छेदकता सम्बन्ध से तो नीलादि रूप अनियम्य = कारण से अनियन्त्रित ही है । अतएव अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवाय सम्बन्ध से नीलेतरादि रूप को प्रतिबन्धक मानने की आवश्यकता अव्याप्यवृत्तिरूपवादी के मत में न रहेगी। नीलपीतघटस्थल में नील रूप का आपादन नामुमकिन ही रहेगा । अतः अव्याप्यवृत्तिरूपपक्ष में केवल षड्विध कार्यकारणभाव का ही स्वीकार आवश्यक बनेगा, जब कि चित्ररूपवादी के मत में बारह कार्यकारणभाव को मान्य करना होगा । तब तो अतिरिक्त चित्ररूप वादी मत में ही गौरव होगा' <— ऐसा भी कुछ विद्वानों का मन्तव्य है ।

कल्पते गौरवमिति ।

अव्याप्यवृत्तिरूपस्वीकारे नीलपीतवति अग्निसंयोगान्नीलनाशात्तदवच्छेदेन रक्तं न स्यात्, रूपं प्रति रूपस्य प्रतिबन्धकत्वादित्याहुः ।

अपरे तु तत्र व्याप्यवृत्तीन्येव नील-पीतादीन्युत्पद्यन्ते, नीलादिकं प्रति नीलेतरादिप्रति-

❀ जयलता ❀

देव न पीतकपालावच्छेदेन तदापत्तिः । एतेन विनैतादृशप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावं तथास्वाभाव्यादनिर्वाहादिति प्रत्युक्तम्, अवच्छेदकतायाः कारणाऽनियम्यत्वाऽभ्युपगमादिति विभाव्यते तदा तु चित्रं प्रत्येव एतत्प्रकरणप्रदर्शितरीत्या नानाकारणकल्पने चित्ररूपवादिमते गौरवमिति ।

अत्र अतिरिक्तचित्ररूपवादिनस्तु अव्याप्यवृत्तिरूपस्वीकारे = नानारूपवदवयवारब्धघटेऽव्याप्यवृत्तिनीलपीतादिनानारूपस्वीकारे नीलपीतवति घटे नीलकपालावच्छेदेन रक्तरूपजनकात् अग्निसंयोगात् नीलनाशात् = कपालनीलरूपनाशानन्तरं तदवच्छेदेन = पाकनाशितनीलकपालावच्छेदेन घटे समवायेन रक्तं रूपं न स्यात् = जायेत, समवायेन रूपं = रूपत्वावच्छिन्नं प्रति समवायेन रूपस्य प्रतिबन्धकत्वात् । घटे पीतकपालावच्छेदेन समवायेन पीतरूपस्य सत्त्वात् समवायेन रक्तरूपं नोत्पत्तुमर्हतीति भावः । न च तदवच्छिन्नरूपे तदवच्छिन्नरूपस्य प्रतिबन्धकत्वान्नायं दोष इति वाच्यम्, प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावावच्छेदककुक्षावच्छेदकविशेषप्रवेशे तद्भेदे प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावभेदान्महागौरवात् इत्याहुः ।

अथावच्छिन्ननीलादौ नीलाभावादिपदृक्समवयवगलमयविगतश्च हेतुः रक्तनीलारब्धे घटे रक्तनाशकपाकेन व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिदशायां चावयविनि न नीलाभाव इति न तत्रावच्छिन्ननीलोत्पत्तिः, नीलमात्रारब्धे पाकेन क्वचिद्रक्तोत्पत्तौ च प्राक्तननीलनाशादेवावच्छिन्ननीलोत्पत्तिरिति चेत् ? न, नील-पीत-श्वेताद्यारब्धे श्वेताद्यवच्छेदेन नीलजनकपाके सति प्राक्तननीलनाशेन तत्तदवच्छिन्ननानानीलकल्पनापेक्षया एकचित्रकल्पनाया एव लघुत्वात् । नीलकण्ठोऽपि 'एकैकचित्ररूपस्थलेऽनेकरूपाणामेकैकतत्प्रागभावादिस्थले चाऽनेकप्रागभावादीनां कल्पनेन, अनेकरूपेषु 'चित्र' इत्याकारकप्रतीतिविषयत्वकल्पनेन च गौरवमिति' (तर्कसंग्रहनीलकण्ठीयवृत्ति - पृ. २०८) वदन् चित्ररूपं प्रस्थापयति ।

अपरे इति । तुः पूर्वोक्तापेक्षया विशेषद्योतनार्थम् । तथाहि - तत्र = नीलपीतादिकपालारब्धघटे, समवायेन व्याप्यवृत्तीनि = स्वाभावाऽसमानाधिकरणानि एव, न त्वव्याप्यवृत्तीनि, नीलपीतादीनि रूपाणि उत्पद्यन्ते, समवायेन नीलादेः स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलादेः हेतुत्वकल्पनयैव तदुपपत्तौ नीलादिकं प्रति नीलेतरादिप्रतिबन्धकत्व-नीलाभावादिकार-

❀ अव्याप्यवृत्तिरूपमत में दोषोद्भावन ❀

अव्या. इति । मगर यहाँ अतिरिक्त चित्ररूप वादी का अव्याप्यवृत्तिरूपवादी के खिलाफ यह आक्षेप है कि --> 'नीलपीतकपाल से आरब्ध घट में यदि अतिरिक्त चित्ररूप का स्वीकार न कर के अव्याप्यवृत्ति नील और पीत रूप का स्वीकार करने पर उस घट में रक्तरूपजनक विजातीय अग्निसंयोग से नील रूप का नाश होने पर तत्कपालावच्छेदेन घट में समवाय से रक्त रूप की उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि समवाय से रूप के प्रति समवाय सम्बन्ध से रूप प्रतिबन्धक होता है । उक्त घट में समवाय से पीतकपालावच्छेदेन पीत रूप रहने से उस घट में समवाय से रक्त रूप की उत्पत्ति नामुमकिन हो जायेगी । अतः अवयवी में अव्याप्यवृत्ति अनेक रूप का स्वीकार करना असंगत है ।

❀ व्याप्यवृत्ति नील-पीतादिरूपवादी-अपरमत ❀

अपरे. इति । यहाँ अपर विद्वानों का इस सम्बन्ध में कुछ अलग ही मत है, वह यह कि नीलपीतादि कपालों से उत्पन्न घट में व्याप्यवृत्ति ही नील, पीत आदि रूप समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं । इसका कारण यह है कि चित्ररूपादिवादी के मतानुसार नीलपीतकपालादिआरब्ध घट में नील आदि रूप की उत्पत्ति के परिहारार्थ नीलादि के प्रति नीलेतरादि को प्रतिबन्धक मानना होगा और नीलपीतकपालारब्ध घट में अव्याप्यवृत्ति नीलादि की उत्पत्ति माननेवाले विद्वानों के मतानुसार अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति नीलाभावादि को कारण मानना होगा । इसकी अपेक्षा नीलपीतादिकपालारब्ध घट में व्याप्यवृत्ति नील, पीत आदि की उत्पत्ति की कल्पना करना ही लाघव से उचित है । यहाँ यह शङ्का हो कि --> 'नील-पीतादिकपालारब्ध घट में व्याप्यवृत्ति नील-पीतादि रूप की उत्पत्ति मानने पर तो नीलादिकपालावच्छेदेन घट में चक्षुसन्निकर्ष

बन्धकत्वनीलाभावादिकारणत्वाऽकल्पनया लाघवात् । न च नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे पीतादेरुपलम्भापत्तिः, पीतावयवावच्छिन्नचक्षुःसन्निकर्षस्य पीतादिग्राहकत्वकल्पनात्

यत्तु एतत्कपालावच्छिन्नसंयोगादिप्रत्यक्षानुरोधेनैतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकत्वे सति यत् तत्पीतान्यं तद्भिन्नं यद् एतद्घटसमवेतं तस्यैतत्कपालविषयकसाक्षात्कारं प्रति एत-

❀ जयलता ❀

णत्वाऽकल्पनया लाघवात् । चित्ररूपमते समवायेन नीलादौ स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वं प्रकल्प्य स्वरूपेण स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराद्यभावस्य कारणत्वकल्पनमावश्यकम्, अन्यथा तत्र नीलादिसामग्रीबलान्नीलाद्यापत्तेः । अव्याप्यवृत्तिरूपपक्षे च अवच्छेदकतया नीलादौ पूर्वोक्तसम्बन्धेन नीलाभावादीनां कारणत्वकल्पनं पूर्वोक्तरीत्या आवश्यकमिति गौरवम् । व्याप्यवृत्तिनीलपीतादिकल्पने च तदनावश्यकत्वेन लाघवान्न तत्राऽतिरिक्तचित्रं न वा अव्याप्यवृत्तिरूपवृन्दं कल्पयितुमर्हति । इत्थमेव च रूपस्य व्याप्यवृत्तित्वनियमोऽपि सङ्गच्छते । न चाऽप्रयोजकोऽयं नियम इति **वक्तव्यम्**, लाघवतर्कस्यैव प्रयोजकत्वात् । **न च** व्याप्यवृत्तिनीलपीतादिरूपवति घटे **नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे** सति **पीतादेः** रूपस्य **उपलम्भापत्तिः** = चाक्षुषसाक्षात्कारापत्तिः केवलनीलावयवारब्धे व्याप्यवृत्तिनीलवत्यवयविनि यत्किञ्चिदवयवावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे सर्वेषामेव नीलपीतादिरूपाणां चाक्षुषत्वस्य न्याय्यत्वादिति **वक्तव्यम्, पीतावयवावच्छिन्नचक्षुःसन्निकर्षस्य** = घटे पीतकपालावयवावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षस्य **पीतादिग्राहकत्वकल्पनात्** = पीतादिरूपविषयकलौकिकचाक्षुषप्रतीतिजनकत्वाभ्युपगमात्, केवलनीलवति यत्किञ्चिदवच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षस्य नीलग्राहकत्वेऽपि व्याप्यवृत्तिनीलपीताद्यनेकरूपवति निरुक्तप्रत्यासत्तेरेव चाक्षुषकारणतावच्छेदकसम्बन्धत्वान्न नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसंयोगे पीतादिचाक्षुषप्रसङ्गः, सामग्रीविरहे कार्यानुत्पादात् । गौरवपरिजिहीर्षया व्याप्यवृत्तिनानानील-पीतादिरूपस्वीकारेऽपि प्रदर्शितनवीनकार्यकारणभावावश्यकल्पनीयत्वापातेन 'गतेऽपि लङ्कां न दारिद्र्यनाश' इतिन्यायागमादस्वरसप्रदर्शन**मपर** इत्यनेन प्रथममेव कृतमिति तु ध्येयम् ।

पीतावयवावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षस्य विषयतया पीतादिचाक्षुषं प्रति कारणत्वकल्पने गौरवात्तत्परित्यज्य अन्यथैव नीलादिकपालावच्छेदेन नयनसन्निकर्षदशायां पीतादिचाक्षुषवारणाय व्याप्यवृत्तिनानारूपवादिमतविशेषमुपक्षिपति **यत्त्विति** । अस्य चाग्रे तदेत्यनेनान्वयः । **एतत्कपालावच्छिन्नसंयोगादिचाक्षुषानुरोधेनेति** । एतेन प्रकृतकार्यकारणभावस्याऽवश्यक्लृप्तत्वमावेदितम् । **एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकत्वे सति यत् तत्पीतान्यं तद्भिन्नं यद् एतद्घटसमवेतं तस्य** = एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकत्वविशिष्टतत्पीतान्यप्रतियोगिकभेदवदेतद्घटसमवेतस्य **एतत्कपालविषयकसाक्षात्कारं प्रति एतत्कपालावच्छेदेन एतद्घटचक्षुःसंयोगस्य**

होने पर भी पीतादि रूप के चाक्षुष साक्षात्कार की आपत्ति आयेगी, क्योंकि पीतादि रूप व्याप्यवृत्ति होने से संपूर्ण घट में रहता है' <— तो यह इसलिए निराधार हो जाती है कि पीतादिअवयवावच्छेदेन चक्षुसन्निकर्ष ही पीतादि रूप का ग्राहक = चाक्षुषसाक्षात्कारजनक होता है, न कि नीलादिअवयवावच्छेदेन भी चक्षुसन्निकर्ष पीतादि का ग्राहक होता है । इस कार्यकारणभाव के स्वीकार से ही पीतावयवावच्छेदेन घट में नेत्रसम्बन्ध होने पर घटगत व्याप्यवृत्ति नीलादि के चाक्षुष होने की आपत्ति को अवकाश नहीं है । कारण नहीं होने पर कार्य का जन्म कैसे हो सकता है ? अतः नानारूपवदवयवों से आरब्ध अवयवी में व्याप्यवृत्ति अनेक नील, पीत आदि रूप का स्वीकार निर्दोष है ।

नीलावयव में पीतचाक्षुषआपत्ति का निरास

यत्तु. इति । कुछ मनीषियों का यह मन्तव्य है कि नीलपीतकपालारब्ध घट में व्याप्यवृत्ति नीलादि रूप की उत्पत्ति मानने पर नीलावयवावच्छेदेन चक्षुसन्निकर्ष से पीतादि रूप के चाक्षुष साक्षात्कार के प्रसङ्ग के परिहारार्थ किसी नूतन कार्य - कारणभाव की कल्पना करनी आवश्यक नहीं है किन्तु एतत्कपालावच्छिन्न संयोग आदि का प्रत्यक्ष एतत्कपालावच्छेदेन नेत्रप्रत्यासत्ति से ही होने से एतत्कपालावच्छिन्न संयोग आदि के प्रत्यक्ष के प्रति जो एतत्कपालावच्छेदेन एतद् घट के साथ नयनसन्निकर्ष की कारणता होती है उस कारणता से निरूपित कार्यता के अवच्छेदक में किञ्चित् परिवर्तन करने से ही उक्त आपत्ति का परिहार हो सकता है । जैसे यह कहा जा सकता है कि एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिक जो तत्पीतान्य, उससे भिन्न जो एतद्घटसमवेत, तद्विषयक जो एतत्कपालविषयक प्रत्यक्ष, उसके प्रति एतत्कपालावच्छेदेन एतद्घटचक्षुसन्निकर्ष कारण है। कार्यकारणभाव को इस रूप में परिवर्तित कर देने पर नीलपीतकपालारब्ध घट में उत्पन्न होनेवाले व्याप्यवृत्ति पीत रूप का

त्कपालावच्छेदेन एतद्घटचक्षुःसंयोगस्य हेतुत्वान्न नीलाद्यवयवावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे पी-

❀ जयलता ❀

हेतुत्वात् = कारणत्वोपगमात्, **न नीलाद्यवयवावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे सति पीतादिचाक्षुषं** = व्याप्यवृत्तिपीतादिरूपचाक्षुषप्रसङ्गः, पीतादेः एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकं यत् तत्पीतान्यं तद्भिन्नत्वे सति एतद्घटसमवेतत्वेन तद्विषयकचाक्षुषस्य एतत्कपालावच्छिन्नैतत्कपालानवच्छिन्नैतद्घटनयनसंयोगजन्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वात्तमृते तदुत्पत्त्यनुपपत्तेः । **न च** कार्यतावच्छेदककुक्षौ एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तित्वस्य तत्पीतान्यविशेषणत्वं मास्तु गौरवादिति **वाच्यम्**, तथा सति एतत्कपालावच्छिन्नपटादिसंयोगस्य तत्पीतान्यत्वेन तत्पीतान्यभिन्नत्वविरहात् तद्विषयकचाक्षुषस्यैतत्कपालावच्छिन्नैतद्घटचक्षुःसन्निकर्षनिरूपितकार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वप्राप्तौ तमृतेऽपि तदुत्पादप्रसङ्गात् । **न च** एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकभिन्नैतद्घटसमवेतचाक्षुषत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकत्वमस्तु तत्पीतान्यापवेशेन लाघवादिति **वक्तव्यम्**, नीलपीतकपालारब्धघटीयपीतरूपस्यैतद्घटसमवेतत्वेऽपि व्याप्यवृत्तित्वेनैतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकत्वात् तद्विषयकचाक्षुषस्यैतत्कपालावच्छिन्नैतद्घटनयनसंयोगनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यत्वानाक्रान्तत्वापत्तौ पीतकपालावच्छेदेन नयनसंयोगविरहदशायामपि तदुत्पादस्य दुर्निवारत्वात् । **न** चैतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकपीतान्यप्रतियोगिको यो भेदः तद्वदेतद्घटसमवेतचाक्षुषत्वस्यैव तत्कार्यतावच्छेदकत्वमस्तु पीतविशेषणविधया तत्पदाऽनिवेशेन लाघवादिति **वाच्यम्**, व्यवहितनीलनाक्रकपालद्वयपीतमात्रकपालद्वयारब्धघटवृत्तिव्याप्यवृत्तिपीतद्वयस्य व्याप्यवृत्तित्वेनैतत्कपालानवच्छिन्नपीतान्यभिन्नैतद्घटसमवेतत्वेनाऽन्यकपालगतपीतरूपजन्यघटीयपीतरूपविषयकचाक्षुषस्य एतत्कपालावच्छिन्नैतद्घटनयनसंयोगकार्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वेनाऽन्यकपालावच्छिन्नैतद्घटनयनसंयोगविरहेऽपि एतत्कपालावच्छिन्नैतद्घटनयनसंयोगदशायामुत्पादापत्तेः । **न** चैतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकतत्पीतान्यभिन्नगोचरचाक्षुषत्वस्यैवैतत्कपालावच्छिन्नैतद्घटसन्निकर्षकार्यतावच्छेदकत्वमस्तु, एतद्घटसमवेतत्वाऽनिवेशेन लाघवादिति **वाच्यम्**, संयोगेन द्रव्यस्याऽव्याप्यवृत्तित्वमते एतत्कपालावारकवस्त्रस्याऽपि एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकतत्पीतान्यभिन्नत्वेन 'एतत्कपाले वस्त्रं' इत्याकारकस्य तद्विषयकचाक्षुषस्य एतत्कपालावच्छिन्नैतद्घटनयनसंयोगजन्यत्वाक्रान्तत्वेन व्यतिरेकव्यभिचारप्रसङ्गात् । न हि वस्त्रे स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन एतत्कपालावच्छिन्नैतद्घटनयनसंयोगो वर्तते । अतो लौकिकविषयतासम्बन्धेन एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकतत्पीतान्यभिन्नैतद्घटसमवेतस्यैतत्कपालविषयकचाक्षुषे स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन एतत्कपालावच्छिन्नैतद्घटचक्षुःसंयोगस्य कारणत्वमभ्युपगन्तव्यमिति न घटवृत्तिनीलपीतादेर्व्याप्यवृत्तित्वेऽपि नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे पीतादिचाक्षुषप्रसङ्ग इति भावः ।

नीलकपालावच्छेदेन घट के साथ नयन का सम्बन्ध होने पर चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रसक्त नहीं हो सकता, क्योंकि उस घट में विद्यमान पीत रूप एतत्कपालानवच्छिन्न जो तत्पीतान्य, उससे भिन्न एतद्घटसमवेत हो जाता है । अतएव एतत्कपाल के साथ उसका चाक्षुष साक्षात्कार तब हो सकता है जब एतत्कपालावच्छेदेन एतद्घट के साथ नयनसंयोग हो । अतः नीलावयवावच्छेदेन घट में नयनसन्निकर्ष रहने पर पीत रूप के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं होगी । उक्त कार्यतावच्छेदक के शरीर में एतत्कपालावच्छिन्न संयोग तत्पीतान्यभिन्न नहीं होगा । अतः इसका प्रत्यक्ष एतत्कपालावच्छेदेन एतद्घट के साथ नयनसन्निकर्ष के कार्यताअवच्छेदक से आक्रान्त नहीं होने की वजह उपर्युक्त सन्निकर्ष के बिना भी उसके प्रत्यक्ष की आपत्ति आयेगी । इसी तरह उक्त कार्यतावच्छेदक में तत्पीतान्यत्व का निवेश न करने पर एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकभिन्न एतद्घटसमवेत का ही प्रवेश होगा । फलतः नीलपीतकपालारब्ध घट में उत्पन्न पीत रूप व्याप्यवृत्ति होने की वजह एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिक होगा, क्योंकि व्याप्यवृत्ति का अवच्छेदक होने में कोई प्रमाण नहीं होने से वह सर्वदा निरवच्छिन्न ही होता है । अतः तद्भिन्न एतद्घटसमवेत में इसका समावेश नहीं होने के सबब उसका चाक्षुष साक्षात्कार भी उक्त सन्निकर्ष के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त न हो सकेगा । अतः उक्त सन्निकर्ष के बिना भी नीलावयवावच्छेदेन नयनसन्निकर्ष होने पर उसके चाक्षुष साक्षात्कार की आपत्ति दुर्वार हो जायेगी। एवं यदि उक्त कार्यतावच्छेदककोटि में तत्पीतान्य के स्थान में केवल पीतान्यमात्र का प्रवेश किया जायेगा तो परस्पर व्यवहित दो पीत और दो नील कपालों से उत्पन्न घट में जो दो पीत रूप उत्पन्न होंगे, दोनों ही एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिक पीतान्यभिन्न एतद्घटसमवेत होंगे । अतः अन्यकपालगत पीत रूप से उत्पन्न घटगत पीत रूप का चाक्षुष भी एतत्कपालावच्छिन्ननयनसन्निकर्ष के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त हो जायेगा । अतः अन्यकपालावच्छिन्न नयनसन्निकर्ष के विरह में भी एतत्कपालावच्छेदेन नयनसन्निकर्ष होने पर भी इसके चाक्षुष की आपत्ति आयेगी । इसी प्रकार उक्त कार्यतावच्छेदककोटि में यदि 'एतद्घटसमवेतत्व' का प्रवेश न किया जाय तब एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिक तत्पीतान्य से भिन्न एतत्कपाल का आवारक वस्त्र भी संयोग सम्बन्ध से

तादिचाक्षुषमिति, तत्र, तथापि नीलावयवावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे घटत्वादेरिव पीतादेरपि पीतादिकपालाऽविषयकसाक्षात्कारापत्तेर्दुर्वारत्वात् ।

व्याप्यवृत्त्याधारत्वस्याप्यवच्छेदकाभ्युपगमेन द्रव्यसमवेतचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव चक्षुः-

❋ जयलता ❋

यद्यपि तत्कपालावच्छिन्नप्रत्यक्षे एव तत्कपालावच्छिन्नसन्निकर्षस्य हेतुत्वात्प्रकृतहेतुतापक्षे कार्यतावच्छेदकोऽतिगौरवं तथापि स्फुटत्वात्तमुपेक्ष्य प्रौढिवादेन दोषान्तरमुपदर्शयितुमाह - **तत्रेति** । **तथापि** = निरुक्तकार्यकारणभावस्योपगमेऽपि, **नीलावयवावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे** सति **घटत्वादेः** पीतकपालाऽविषयकचाक्षुषं **इव** नीलकपालावच्छेदेन नयनसंयोगे सति व्याप्यवृत्तेः **पीतादेरपि पीतादिकपालाऽविषयकसाक्षात्कारापत्तेः दुर्वारत्वात्** । यथा घटत्वस्य व्याप्यवृत्तित्वेन पीतकपालानवच्छिन्नवृत्तिकघटत्वान्यभिन्नैतद्-घटसमवेतत्वात् तस्य पीतकपालविषयकचाक्षुषं पीतकपालावच्छिन्नैतद्घटचक्षुःसंयोगकार्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वेन नीलावच्छेदेन घटे चक्षुःसन्निकर्षे सति न भवितुमर्हति किन्तु घटत्वस्य पीतकपालाविषयकं नीलकपालविषयकं तु चाक्षुषं तदानीं भवत्येव, तस्य पीतकपालावच्छिन्नैतद्घटचक्षुःसन्निकर्षकार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वात् । तथैव पीतकपालानवच्छिन्नवृत्तिकपीतान्यभिन्नैतद्घटसमवेतत्वेन नीलपीतश्वेतकपालारब्धघटवृत्तिपीतादेः पीतकपालविषयकचाक्षुषं पीतकपालावच्छिन्नैतद्घटचक्षुःसंयोगकार्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वेन नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसंयोगदशायां न भवितुमर्हति तस्य पीतकपालावच्छिन्नैतद्घटचक्षुःसन्निकर्षकार्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वेन नीलकपालगोचरं तु चाक्षुषं तदानीं भवितुमर्हति, तस्य पीतकपालावच्छिन्नैतद्घटचक्षुःसन्निकर्षकार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वात् । न च तत्तदा भवतीत्यन्वयव्यभिचारग्रस्तत्वान्नायं कार्यकारणभावः श्रद्धेय इति व्याप्यवृत्तिनानारूपवादिनामपरेषां भावः ।

ननु अनुपदोक्तकार्यकारणभावानभ्युपगमे अन्यकपालावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे सति एतत्कपालावच्छिन्नघटसंयोगस्य चाक्षुषं प्रसज्येत इत्याशङ्कायामाह - **व्याप्यवृत्त्याधारत्वस्य** = व्याप्यवृत्तिवृत्त्याधेयतानिरूपिताधारताया **अपि अवच्छेदकाभ्युपगमेन**

द्रव्य के अव्याप्यवृत्तित्वपक्ष में एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिक तत्पीतान्य से भिन्न होगा । अतः तद्विषयक चाक्षुष प्रतीति भी एतत्कपालावच्छेदेन नयनसन्निकर्ष के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त हो जायेगी । तथा उसका 'एतत्कपाले वस्त्रं' इस प्रकार का चाक्षुष साक्षात्कार भी एतत्कपालावच्छेदेन एतद्घटनयनसंयोग के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त हो जायगा, किन्तु उक्त संयोग स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से वस्त्र में नहीं है । अतः वस्त्र के उक्त चाक्षुष प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति होगी' ✧—

✧ व्याप्यवृत्तिनानारूपमत में पीतकपालाविषयक पीतसाक्षात्कार की आपत्ति ✧

तत्र तथापि.। मगर अपर विद्वान इस मत का यह कह कर प्रतिक्षेप करते हैं कि यदि अभ्युपगमवाद से उपर्युक्त कार्यकारणभाव को मान्य किया जाय तो भी नीलकपालावच्छेदेन नीलपीतरक्त घट में नयनसन्निकर्ष होने पर घटत्वादि की भाँति पीतादि रूप का पीतादिकपालाऽविषयक चाक्षुष उत्पन्न होने की आपत्ति दुर्वार होगी । आशय यह है कि जैसे घटत्व जाति व्याप्यवृत्ति होने से पीतकपालानवच्छिन्नवृत्तिक घटत्वान्य से भिन्न एवं एतद्घटसमवेत है । अतः पीतकपालविषयक घटत्वचाक्षुष पीतकपालावच्छिन्न एतद्घटनयनसंयोग के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त होने से नीलकपालावच्छेदेन चक्षुसंयोग होने पर पीत-कपालविषयक घटत्वचाक्षुष की उत्पत्ति नहीं हो सकती मगर पीतकपालाविषयक यानी नीलकपालविषयक घटत्वचाक्षुष की तो तब उत्पत्ति होती ही है, क्योंकि वह पीतकपालावच्छिन्न एतद्घटनयनसंयोग के कार्यतावच्छेदक से अनाक्रान्त होता है । ठीक इसी तरह नीलकपालावच्छेदेन चक्षुसन्निकर्ष होने पर पीतादिकपालविषयक पीतादिरूपचाक्षुष की उत्पत्ति न होना संगत है, क्योंकि वह पीतकपालानवच्छिन्नवृत्तिक पीतान्य से भिन्न एतद्घटसमवेत को अपना विषय बनाने की वजह पीतकपालावच्छिन्न एतद्घटचक्षुसन्निकर्ष के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त है । मगर तब पीतादिकपालाविषयक पीतादिरूपचाक्षुष साक्षात्कार की आपत्ति तो अपरिहार्य ही होगी, क्योंकि वह पीतादिकपालविषयक न होने की वजह पीतादिकपालावच्छिन्न एतद्घटनयनसंयोग के कार्यतावच्छेदक से अनाक्रान्त है । मगर वस्तुस्थिति यह है कि नीलकपालावच्छेदेन घट में नयनसंयोग होने पर पीतादिकपालाविषयक पीतादिचाक्षुष साक्षात्कार होता नहीं है । इस दोष की वजह उपर्युक्त वक्तव्य भी अनादरणीय है ।

◙ व्याप्यवृत्त्याधारता सावच्छिन्न होती है - व्याप्यवृत्तिनानारूपवादी ◙

व्याप्य.इति । यहाँ व्याप्यवृत्तिरूपवादी का यह वक्तव्य है कि व्याप्यवृत्ति की आधारता सावच्छिन्न होती है न कि निरवच्छिन्न; क्योंकि व्याप्यवृत्ति की आधारता के अवच्छेदक की हमारे मत में स्वीकृति है । फिर भी एतत्कपालावच्छिन्न घटसंयोग के

संयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतायाः सन्निकर्षत्वेनैतत्कपालावच्छिन्नघटसंयोगस्याऽन्यकपालावच्छेदेन चक्षुःसंयोग - तच्चाक्षुषानुदयनिर्वाहात् अनुपदोक्तकारणत्वस्य निर्युक्तिकत्वाच्च ।

'मुखे पुच्छे च पाण्डुर' इत्यादौ तु मुखादिवृत्तिपाण्डुरत्वादिकमेवाऽवयविनि प्रतीयत

❀ जयलता ❀

द्रव्यसमवेतचाक्षुषत्वावच्छिन्नं = द्रव्यसमवेतगोचरचाक्षुषमात्रं **प्रत्येव चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतायाः** = चक्षुःसंयोगावच्छेदकविषयदेशावच्छिन्नो यः समवायसम्बन्धः तदवच्छिन्नाधारतानिरूपितायाः आधेयतायाः **सन्निकर्षत्वेन** = चक्षुःकारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तित्वोपगमेन **एतत्कपालावच्छिन्नघटसंयोगस्य** = एतत्कपालावच्छेदेन घटसमवेतो यो घटतत्पटादिसंयोगः तस्य **अन्यकपालावच्छेदेन चक्षुःसंयोगतच्चाक्षुषानुदयनिर्वाहात** = कारणतावच्छेदकसम्बन्धघटकीभूतचक्षुःसंयोगानुदयस्य तदानीमेतत्कपालावच्छिन्नघटसमवेतघटपटादिसंयोगगोचरचाक्षुषानुत्पत्तौ निर्वाहकत्वे(?)ऽपपत्तेः, **अनुपदोक्तकारणत्वस्य निर्युक्तिकत्वाच्चेति** । लौकिकविषयतया द्रव्यसमवेतचाक्षुषसामान्यं प्रति स्वसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतानिरूपिताधेयतासम्बन्धेन चक्षुषः कारणत्वस्याऽवश्यक्लृप्तत्वात् एतत्कपालावच्छिन्नघटादिसंयोगगोचरचाक्षुषं प्रति स्वसंयोगावच्छेदकतत्कपालावच्छिन्नसमवायावच्छिन्नाधारतानिरूपिताधेयतया चक्षुषः कारणत्वात् अन्यकपालावच्छेदेन चक्षुःसंयोगे सति निरुक्तसम्बन्धेन चक्षुषस्तत्राऽवर्तमानत्वात् स्वसंयोगावच्छेदकान्यकपालावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतानिरूपिताधेयतायाश्च तत्कारणतानवच्छेदकसंसर्गत्वाच्च तदानीमेतत्कपालावच्छिन्नघटादिसंयोगे विषयतया चाक्षुषोत्पत्तिः । **न चैवं** नीलपीतकपालारब्धघटे व्याप्यवृत्तिनीलपीतादिरूपाङ्गीकारेऽनुपपत्तिरिति **वाच्यम्**, कपिसंयोगस्याऽवच्छेदकाभावेऽपि कपिसंयोगस्याऽवच्छेदकाभ्युपगमवत् व्याप्यवृत्तेरवच्छेदकविरहेऽपि व्याप्यवृत्तिनिरूपिताधारतायाः सावच्छिन्नत्वाभ्युपगमात् । अतो नीलपीतादिरूपवद्घटसमवेतपीतादिचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति स्वावच्छेदकीभूतादिकपालावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतानिरूपिताधेयतासम्बन्धेन चक्षुषः कारणत्वात् नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षदशायां निरुक्तसम्बन्धेन चक्षुषः पीतादावसत्त्वान्न तदानीं पीतादिचाक्षुषप्रसङ्ग इति नानाजातीयरूपवदवयवारब्धावयविनि व्याप्यवृत्तीनि नीलपीतादीनि स्वीकुर्वतामपरेषामाशयः ।

ननु व्याप्यवृत्तिनानारूपाभ्युपगमे नीलवृषपरिभाषा कथं सङ्गच्छेत, श्वेतपाण्डुरादीनां व्याप्यवृत्तित्वेन सप्तम्या अवच्छिन्नत्वार्थे सङ्गत्यनुपपत्तेरित्याशङ्कायामाह - **'मुखे पुच्छे च पाण्डुर' इत्यादौ तु** सप्तम्या वृत्तित्वार्थे एव सङ्गतेः **मुखादिवृत्तिपाण्डुरत्वादिकमेव** = मुखादिनिष्ठाधारतानिरूपिताधेयताविशिष्टपाण्डुरत्वादिकमेव अवयविनि नीलवृषे स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन **प्रतीयते**, न तु मुखाद्यवच्छिन्नपाण्डुरत्वादिकमवयविनि समवायेन प्रतीयते । एतेनाऽवयविनोऽप्रत्य-

चाक्षुष की अन्य कपालावच्छेदेन चक्षुसंयोग होने पर आपत्ति नहीं आयेगी । इसका कारण यह है कि लौकिक विषयता सम्बन्ध से द्रव्यसमवेतचाक्षुषसामान्य के प्रति स्वसंयोगावच्छेदक विषयदेश से अवच्छिन्न समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न विषयाधारता से निरूपित आधेयतासम्बन्ध से चक्षु कारण है- ऐसा स्वीकृत है । अन्य कपाल में चक्षुसंयोग होने पर एतत्कपाल चक्षुसंयोग का अवच्छेदक नहीं होने से स्वसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायअवच्छिन्नाधारतानिरूपित आधेयतासम्बन्ध से चक्षु तब एतत्कपालावच्छिन्नघटसंयोग में नहीं रहने की वजह वहाँ लौकिकविषयतासम्बन्ध से चाक्षुष की अनुत्पत्ति का निर्वाह हो जाता है । अतएव अभी यत्नुमत में जिस गुरुतर कारणता की कल्पना की गई है वह युक्तिशून्य है । नीलपीतश्वेतादिकपालारब्ध घट में व्याप्यवृत्ति नील, पीत, शुक्ल आदि वर्ण होने पर भी नीलकपालावच्छेदेन चक्षुसंयोग होने पर घटगत पीतादि रूप के चाक्षुष की उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं होगा, क्योंकि व्याप्यवृत्ति की आधारता का अवच्छेदक हमारे मत में मान्य होने से तब स्वसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न समवायअवच्छिन्नाधारतानिरूपिताधेयतासम्बन्ध से चक्षु घटसमवेत नील रूप में रहती है, न कि घटसमवेत पीतादि रूप में । अतएव लौकिकविषयता सम्बन्ध से पीतादि रूप में द्रव्यसमवेतचाक्षुष की उत्पत्ति का कोई प्रसंग नहीं होगा। कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्याधिकरणतया अभिमत में कारणतावच्छेदकसम्बन्ध से कारण न रहने पर कार्य की उत्पत्ति का आपादन नहीं किया जा सकता । इस तरह दोनों दोष का परिहार प्रदर्शित एक कार्य-कारणभाव से हो जाने से या तो अन्यकपालावच्छेदेन नेत्रसंयोग होने पर एतत्कपालगतघटसंयोग के चाक्षुष के परिहारार्थ अवश्यक्लृप्त कार्यकारणभाव से ही नीलकपालावच्छेदेन चक्षुसंयोग होने पर व्याप्यवृत्ति पीतादि रूप के चाक्षुष की आपत्ति का वारण हो जाने से यत्नुमतप्रदर्शित अतिगुरु कार्यतावच्छेदकवाला कार्यकारणभाव मान्य नहीं किया जा सकता । इस तरह नील-पीत-श्वेतादिकपालारब्ध घट में व्याप्यवृत्ति नील, पीत, शुक्ल आदि अनेक रूप का स्वीकार ही उचित है । यहाँ यह शंका हो कि —> ''यदि नानारूपवदवयवों से आरब्ध अवयवी

इत्याहुः। इति न केषामप्येषामेकरूपानेकरूपोभयसमावेशः सम्मतः ।

तथापि ये नील-पीत-रक्ताद्यारब्धघटादौ नील-पीत-रक्तेभ्य एव नील-पीतोभयज-रक्त-पीतोभयज-त्रितयजचित्राणामुत्पत्तिः सर्वेषां सामग्रीसत्त्वात्, अनुभवसिद्धत्वाच्च । तत्र त्रित-

❀ जयलता ❀

क्षत्प्रसङ्गोऽपि **प्रत्युक्तः**, अवयविनो नीरूपत्वानभ्युपगमात् । इत्थञ्च व्याप्यवृत्तिनानारूपपक्षस्यैव निर्दोषत्वमित्याहुः । आहुरित्यनेनाऽस्वरसोद्भावनं कृतम् । तद्बीजञ्चेदम् व्याप्यवृत्त्याधारत्वस्य परम्परासम्बन्धेन तदुपपादने गौरवाच्च ।

रामरुद्रभट्टस्तु 'नील-पीतकपालारब्धे घटे पीतकपालावच्छेदेन नीलरूपोत्पत्तिवारणाय तत्तदवयवावच्छेदेन नीलादिरूपं प्रति भिन्नतदवयवगतनीलान्यरूपत्वेन प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम् । रूपस्य व्याप्यवृत्तितामते प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावो न कल्प्यत एव । किन्तु अवयविनि तत्तदवयवावच्छेदेन तत्तद्रूपं प्रति तत्तदवयवगततत्तद्रूपाणामेव हेतुत्वं कल्प्यत इति न गौरवमिति वाच्यम् व्याप्यवृत्तिशुक्लादिरूपस्थले शुक्लरूपादौ तत्तदवयवावच्छिन्नत्वस्य विरहेणोक्तरूपेण कार्यकारणभावकल्पनाप्रयुक्तगौरवाभावात् । न चैवमपि अतिरिक्तचित्ररूपं प्रति अवयवगतनानारूपाणां कारणत्वकल्पनमधिकमिति **वाच्यम्**, 'चित्रपट' इत्यादिप्रतीतेः नानारूपसमुदायविषयकत्वकल्पनामपेक्ष्य एकचित्ररूपविषयकत्वकल्पने लाघवस्यातिस्फुटत्वादिति' (त.सं.रा.पृ. २०५) इति वदन् अतिरिक्तचित्ररूपपक्षे पतति ।

समाधत्ते - **तथापीति** । एतच्छ्लोकविवरणगताद्येन 'यद्यपि' इतिपदेन सहास्यान्वयः कार्यः । **ये** नव्यनैयायिकादयः **नीलपीतरक्ताद्यारब्धघटादौ** = नीलपीतरक्तादिरूपवदवयवारब्धेऽवयविनि स्वावयवसमवेतेभ्यो **नील-पीत-रक्तेभ्य एव** स्वसमवायि-समवेतत्वसम्बन्धेन **नीलपीतोभयज-रक्तपीतोभयज-त्रितयजचित्राणां** = नीलपीतरूपोभयजन्यतावच्छेदकविलक्षणचित्रत्वावच्छिन्नस्य, रक्तपीतोभयजन्यतावच्छेदकविलक्षणचित्रत्वविशिष्टस्य, नीलरक्तोभयरूपजन्यतावच्छेदकचित्रत्वान्तरशालिनो नीलपीतरक्तरूपत्रितय-कार्यतावच्छेदकचित्रत्वविशेषविभूषितस्य च **उत्पत्तिः**, **सर्वेषां** निरुक्तचित्राणां **सामग्रीसत्त्वात्** । न चैकमेव तदस्त्विति **वाच्यम्**, तत्तदवयवद्वयमात्राद्यवच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षे सति विलक्षणविलक्षणचित्ररूपाणां **अनुभवसिद्धत्वात्** । इयांस्तु विशेषः **तत्र** = घटादौ

में व्याप्यवृत्ति अनेक रूप का स्वीकार करने पर 'मुखे पुच्छे च पाण्डुरः' इत्यादि में मुखादिपदोत्तर सप्तमी विभक्ति की अवच्छिन्नत्वार्थ में संगति नहीं हो सकेगी, क्योंकि व्याप्यवृत्ति रूप अवच्छेदकतासम्बन्ध से नहीं किन्तु समवाय सम्बन्ध से ही रहता है' <— तो यह इसलिए निराधार हो जाती है कि मुखादिपदोत्तर सप्तमी विभक्ति का अवच्छिन्नत्व अर्थ न मान कर वृत्तित्व अर्थ ही मानने से सप्तमी विभक्ति की उपपत्ति हो सकती है। अतः मुखादिनिरूपितवृत्तिताविशिष्ट पाण्डुर (= पीताभ शुक्ल रूप) आदि रूप की स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से अवयवी वृष में प्रतीति होती है - ऐसा माना जाता है । अतः व्याप्यवृत्ति अनेक रूप के स्वीकारमत में कोई दोष नहीं है - ऐसा अपर मनीषियों का वक्तव्य है । इस उपर्युक्त दीर्घ विचारविमर्श से यह फलित होता है कि कोई भी नैयायिक विद्वान् या दार्शनिक को एक धर्मी में एक रूप और अनेक रूप उभय का समावेश मान्य करते नहीं हैं । कोई अवयवी में केवल अतिरिक्त चित्र रूप को सम्मति देता है तो कोई व्याप्यवृत्ति अनेक रूप का एकत्र समावेश करता है तो अन्य अव्याप्यवृत्ति अनेक रूप का एकत्र अवच्छेदकता सम्बन्ध से अङ्गीकार करता है। मगर किसीको भी एक धर्मी में एक रूप और अनेक रूप दोनों का समावेश मान्य ही नहीं है तब मूलकार श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की यह उक्ति कि 'एक धर्मी में एक और अनेक चित्र रूपों को प्रामाणिक कहनेवाला नैयायिक या वैशेषिक अनेकान्तवाद का प्रतिक्षेप नहीं कर सकता' कैसे समीचीन होगी ?

तथापि.। यह वाणी आपकी कूपमंडुकवृत्तिता की द्योतक है । इसका कारण यह है कि मूलकारश्री की यह उक्ति उन नव्य नैयायिकों के प्रति है जो 'नील, पीत, रक्त आदि कपालों से आरब्ध घट में नीलपीतोभयजन्य, पीतरक्तोभयजन्य रक्तनीलोभयजन्य एवं नीलपीतरक्तत्रितयजन्य-इन सभी चित्र रूपों की उत्पत्ति होती है'- ऐसा मानते हैं । उन नव्य नैयायिकों का यह अभिप्राय है कि —> उक्त घट में इन सब चित्र रूपों की सामग्री विद्यमान है । अतः उक्त घट में किसी एक चित्र रूप की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि भिन्न भिन्न अवयवद्वयमात्रावच्छेदेन इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर विलक्षण विलक्षण चित्र रूप का अनुभव भी सब लोगों को निर्विवादरूप से होता है । अतः अनुभव के विरुद्ध केवल लाघवमात्र से वहाँ सिर्फ एक चित्ररूप का स्वीकार नहीं किया जा सकता । हाँ, इतनी विशेषता इस मत में अवश्य है कि उभयजन्य चित्र रूप अवयवी घट में अव्याप्यवृत्ति यानी किञ्चिदवच्छेदेन वृत्ति होता है और त्रितयरूपजन्य चित्र रूप घट में व्याप्यवृत्ति

यजचित्रं व्याप्यवृत्त्यन्यत्तु अव्याप्यवृत्ति, एकमेव वा तद्रूपमस्तु, जातेरव्याप्यवृत्तित्वोपगमेन तु किञ्चिदवच्छेदेन नीलत्व-पीतत्वादिकं विलक्षणचित्रत्वादिकञ्च व्यवह्रियत इति येऽनुमन्यन्ते तदभिप्रायेणेदम् । स्वयं हि ये एकत्र घटे व्याप्यवृत्त्येकं चित्रमव्याप्यवृत्ति चित्रान्तरं चाभ्युपगच्छन्ति तेषामनेकान्तवादानादरो न न्याय्याविति सर्वमवदातम् ।

❀ जयलता ❀

त्रितयजचित्रं = नीलपीतरक्तरूपत्रितयजन्यतावच्छेदकचित्रत्वविशेषविशिष्टं रूपं **व्याप्यवृत्ति** = निरवच्छिन्नवृत्तिताकं स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाऽप्रतियोगीति यावत्, **अन्यत्तु** उक्तादन्यत् उभयजचित्ररूपं तु **अव्याप्यवृत्ति** = सावच्छिन्नवृत्तिताकं स्वाभावसमानाधिकरणमिति यावत् । नीलपीतकपालावच्छेदेन नीलपीतोभयस्य सत्त्वात् तदतिरिक्तरूपस्य चाऽसत्त्वात् नीलपीतकपालावच्छेदेन घटे नीलपीतोभयजं चित्रमुपजायते पीतरक्तावयवावच्छेदेन पीतरक्तोभयस्य सत्त्वात् तद्व्यतिरिक्तस्य च विरहात् पीतरक्तकपालावच्छेदेन पीतरक्तोभयमात्रजन्यं चित्ररूपमुत्पद्यते, रक्तनीलकपालावच्छेदेन रक्तनीलोभयस्य वृत्तेः तदन्यरूपस्य चावृत्तेर्नीलरक्तकपालावच्छेदेन नीलरक्तमात्रजं चित्ररूपं जायते स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन घटे नीलपीतरक्तरूपाणां विद्यमानत्वात् तदपररूपस्य चाविद्यमानत्वात् व्याप्यवृत्तिः चित्रविशेषः सञ्जायतेऽनुभूयते चेत्यभिप्रायः । **न चैवं** नीलपीतादिविशिष्टचित्रेणावान्तरचित्ररूपप्रतीतिसम्भवान्न नानाचित्राभ्युपगमः श्रेयानिति **साम्प्रतम्**, अखण्डोपाधिसामान्यचित्रत्वेनाऽखण्डावान्तरचित्रत्वानां सामानाधिकरण्यप्रत्ययात् । न चैवं तदा नीलाद्यविशेषिता ये नीलादिभेदास्तन्नदाश्रयरूपसमुदायेनानुगतचित्रप्रतीतेश्चित्रत्वं नीलादिभेदसमुदायेन नीलाद्यनुगतप्रतीतिसम्भवान्नीलत्वादिकमपि च विलीयेत ।

नानाचित्ररूप-तत्प्रागभावादिकल्पनायां गौरवात्कल्पान्तरमाविर्भावयन्ति - **एकमेव वा तद्रूपं** = चित्ररूपं समवायेन घटे **अस्तु** । न चैवं किञ्चिदवच्छेदेन विलक्षण-विलक्षणचित्ररूपानुभवबाध इति **शङ्कनीयम्, जातेः अव्याप्यवृत्तित्वोपगमेन** = सावच्छिन्नवृत्तिताकत्वस्वीकारेण अवच्छेदकभेदेनैकत्रैव चित्ररूपे तत्समावेशसम्भवात् । न च जातेर्व्याप्यवृत्तित्वनियम एवं भङ्ग्येतेत्याशङ्क**रणीयम्,** अव्याप्यवृत्तिगुणविशेषाणामिव जातिविशेषाणामप्यव्याप्यवृत्तित्वे विरोधाभावात्, परस्परव्यभिचारिजात्योः सामानाधिकरण्यस्य बाधकविरहसत्तर्कप्रमाणसिद्धस्यानभ्युपगममात्रेण निराकरणाऽसम्भवात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अत एव तु **किञ्चिदवच्छेदेन नीलत्व-पीतत्वादिकं विलक्षणचित्रत्वादिकं च व्यवह्रियते** । नीलकपालावच्छेदेन चित्ररूपे नीलत्वस्य पीतकपालावच्छेदेन पीतत्वस्य रक्तकपालावच्छेदेन रक्तत्वस्य, नीलपीतकपालावच्छेदेन विलक्षणचित्रत्वस्य रक्तपीतकपालावच्छेदेन चित्रत्वविशेषस्य रक्तनीलकपालावच्छेदेन चित्रत्वान्तरस्य स्वरसवाह्यनुभवबलेन व्यवहारात् समवायेनैकमेव चित्ररूपं घटादाविति **येऽनुमन्यन्ते तदभिप्रायेण** = तन्मतानुरोधेन इदं = 'चित्रमेकमि'त्यादिश्लोकेनाऽनेकान्तवादसमर्थनं विज्ञातव्यम् । कुत एवं ? इति मुग्धाशङ्कायामाह - **स्वयं हि ये एकत्र घटे व्याप्यवृत्ति** = निरवच्छिन्नवृत्तिताकं **एकं चित्रं, अव्याप्यवृत्ति** = सावच्छिन्नवृत्तिताकं **चित्रान्तरं चाभ्युपगच्छन्ति तेषां** नव्यनैयायिकानां, **अनेकान्तवादानादरो न न्याय्यान्** = श्रेयान्, अनेकान्तवादस्य स्वमतोपजीव्यत्वात्, उपजीवकस्योपजीव्येन साकं विरोधाऽसम्भवात्, हीनबलत्वात्, तदुन्मूलने हि स्वमतोन्मूलनापत्तेः इति **सर्वं** मूलग्रन्थश्लोकप्रतिपादितं **अवदातं** = सुसङ्गतम् । योऽपि किल तत्र स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनाऽवयवरूपमेव प्रतीयत इति मन्यते सोऽपि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्, अन्यत्राऽप्यवयवगतरूपस्यैवैकत्वपरिणामाख्यसम्बन्धेनाऽवयविगततया प्रतीतावनेकान्तमतप्रवेशात् । न चान्यत्रावयवगतेभ्योऽनेकरूपेभ्य एकस्यावयविगतस्य विलक्षणस्यैव रूपस्यानुभवादयमदोष इति वक्तव्यम्, अत्रैव तत्रापि घटवृत्तित्वावच्छेदेनैकत्वस्य तदवयववृत्तित्वावच्छेदेन च नानात्वस्याऽविरुद्धत्वादित्यादिकं स्याद्वादकल्पलतादितोऽवसेयम् ।

= निरवच्छिन्नवृत्तिताक होता है । मगर जाति को यदि अव्याप्यवृत्ति मानी जाय तो इन सभी जातिओं से यानी नीलत्व पीतत्व, रक्तत्व आदि अव्याप्यवृत्ति जाति से युक्त एक चित्र रूप की उत्पत्ति मानी जा सकती है, क्योंकि एक ही रूप में अवच्छेदकभेद से उन सभी जातिओं का समावेश हो सकता है । जैसे नीलपीतकपालावच्छेदेन विलक्षण चित्रत्व का व्यवहार एवं नीलकपालावच्छेदेन नीलत्व का, पीतकपालावच्छेदेन पीतत्व का व्यवहार होता है' <— इन नव्य नैयायिकों के प्रति मूलकार श्रीमद् की उपर्युक्त उक्ति न्यायसंगत है, क्योंकि जो स्वयं एक ही घट में व्याप्यवृत्ति एक चित्र रूप एवं अव्याप्यवृत्ति अनेक विलक्षण चित्ररूपों को मान्य करते हैं, उनके लिए अनेकान्तवाद का अनादर नामुनासिब ही है । एकानेक रूपों का एक ही धर्मी में समावेश करना ही तो अनेकान्तवाद की स्वीकृति का प्रतिबिम्ब है । अतः वे कैसे अपने उपजीव्य अनेकान्तवाद

ननु तथापि भिन्नोपाधिकं विरुद्धधर्मद्वयमेकत्र समाविशतु तथापि येनाकारेण भेदः तेन भेद एव, येन चाऽभेदस्तेनाऽभेद एवेत्येकान्तोऽनेकान्तवादिनामपि दुर्वार इति चेत् ?

न, भेदाभेदयोरन्योन्यव्याप्तिभावेन 'तेन भेद एव' इत्यादेरर्थशून्यत्वात् एकाकारेणाभेदस्यैवाऽपराकारेण भेदरूपत्वात् । भेदावच्छेदकं यत्तन्नाभेदावच्छेदकमिति तु सम्मतमेवेति न दोषावहम्, अन्यथा तयोर्भिन्नोपाधिकत्वाऽसम्भवादित्याम्रेडितमेव ।

❀ जयलता ❀

तां नौमि शारदां नित्यं, काश्मीरपुरवासिनीम् ।
चित्ररूपविवेको व्याख्यातो यत्कृपयैव हि ॥१॥

ननु इति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वयः। **'तथापि'** इत्यस्य स्थाने 'एवं' इति पाठः समीचीनः । **भिन्नोपाधिकं विरुद्धधर्मद्वयं** एकानेकत्व - नित्यानित्यत्व - वाच्यावाच्यत्वादिलक्षणपरस्परविरुद्धधर्मयुगलं **एकत्र** धर्मिणि **समाविशतु** । इदमपि अभ्युपगमवादेन ननुवादिनोच्यते । **तथापि** = एकत्र यथाकथञ्चित् विरुद्धधर्मद्वितयसमावेशसमर्थनेऽपि, **येन आकारेण** धर्मस्य धर्मिणो **भेदस्तेन** आकारेण **भेद एव**, न त्वभेदोऽपि **येन** आकारेण **चाभेदः तेन** आकारेण **अभेद एव**, न तु भेदोऽपि इत्येवमेकान्तः **एकान्तः तु स्याद्वादिनामपि दुर्वार** एव । ततश्चापसिद्धान्त - प्रतिज्ञाहान्यादयो दोषाः दृढैकान्तानुपगमे च सङ्करव्यतिकरादिदोषा इत्युभयमुखी राक्षसी प्रादुर्भवतीति नन्वाशयः ।

प्रकरणकारस्तन्निराकरोति - **नेति** । **भेदाभेदयोरन्योन्यव्याप्तिभावेन** स्वीकारात् । न हि गुञ्जाफले रक्तत्व-श्यामत्वयोरिव भेदाभेदावेकत्र धर्मिणि पार्थक्येनाऽवस्थितौ किन्तु परस्परमनुविद्धत्वेनैव गुलिकायां गुडनागरयोरिव । ततश्च **'तेन भेद एव'** इत्यादेः दूषणोद्भावनस्य **अर्थशून्यत्वात्** = निरर्थकत्वात् । अन्योन्यव्याप्तिमेव समर्थयति - **एकाकारेण** ज्ञातस्य **अभेदस्य एव अपराकारेण** ज्ञातस्य **भेदरूपत्वात्**, दण्डाकारेण सर्पस्यैव कुण्डलाकारेण कुण्डलिरूपत्ववत् यद्वाऽवयव्याकारेणाऽनेकस्यैवाऽवयव्याकारेणैकत्ववदिति विमर्शनीयम् ।

भेदावच्छेदकं = भेदनियामकं भेदप्रतीतिनियामकं भेदव्यवहारनियामकं वा **यत्** रूपं **तत्** रूपमेव **नाभेदावच्छेदकं** = नाभेदनियामकं तत्प्रतीतिनियामकं तद्व्यवहारनियामकं वा - **इति तु** स्याद्वादिनामस्माकं **सम्मतमेव** अनेकान्तस्य सम्यगेकान्ताविनाभावित्वात्, अन्यथा प्रतीतिव्यवहारादीनां निरङ्कुशत्वापातात् । **इति** हेतोः अवच्छेदकभेदेनैवोभय भेदाभेदप्रवेशनं **न दोषावहं** = नापसिद्धान्तादिदूषणापादकम्। विपक्षबाधमाह - **अन्यथा** = अवच्छेदकभेदमृत एवैकत्र भेदाभेदसमावेशे, **तयोः** = भेदाभेदयोः **भिन्नोपाधिकत्वासम्भवादिति** ।

का तिरस्कार कर सकते हैं ? स्याद्वाद के उन्मूलन में अपने मन्तव्य का ही उन्मूलन हो जायेगा । इस तरह इन नव्य विद्वानों के प्रति मूलकारश्री की उपर्युक्त उक्ति नितान्त समीचीन है । इस तरह सब वक्तव्य संगत ही है - यह फलित होता है।

❋ भेदाभेद अन्योन्यव्याप्त है ❋

ननु इति । यहाँ यह वक्तव्य कि —> 'एक ही धर्मी में भिन्न उपाधिवाले दो धर्म का उपाधिभेद की अपेक्षा समावेश भले ही हो जाय फिर भी धर्म और धर्मी का जिस रूप से भेद होगा उस रूप से केवल भेद ही रहेगा और जिस रूप से अभेद होगा उस रूप से केवल अभेद ही रहेगा । यह स्वीकार तो अनेकान्तवादी के लिए भी आवश्यक है । मगर ऐसा स्वीकार करने पर अनेकान्तवादी का एकान्तवाद में प्रवेश हो जायेगा, जिसकी बदौलत अपसिद्धान्त निग्रहस्थान की प्राप्ति स्याद्वादी के मत में आयेगी <— भी इसलिए निराकृत हो जाता है कि भेद और अभेद परस्परव्याप्त हैं । अतः 'जिस रूप से भेद होगा उस रूप से केवल भेद ही होगा' इत्यादि वक्तव्य निरर्थक है । एकाकार से प्रतीत होता हुआ अभेद ही अपराकार से भेदस्वरूप है । दूसरा यह भी ज्ञातव्य है कि भेद और अभेद का अवच्छेदकभेद तो हमें मान्य ही है। भेद का जो अवच्छेदक है वह अभेद का अवच्छेदक नहीं है और अभेद जो अवच्छेदक है वह भेद का अवच्छेदक नहीं है - यह तो सम्यगेकान्तस्वरूप होने की वजह यथार्थ अनेकान्तवाद में स्वीकृत होने से हम स्याद्वादियों के पक्ष में दोषापादक नहीं बन सकता । यदि भेद और अभेद के अवच्छेदक में भेद न माना जाय तब तो 'भिन्न उपाधिवाले दो धर्म का उपाधिभेद की अपेक्षा एक धर्मी में समावेश भले ही हो जाय..'ऐसा जो कहा गया है वह भी नामुमकिन हो जायगा, चूँकि भिन्नोपाधिकत्व का अर्थ ही भिन्नावच्छेदकत्व है । केवल शब्दान्तर है, अर्थान्तर नहीं । अतः एक के अस्वीकार में दूसरा भी अस्वीकृत ही हो जायगा।

यत्तु अवच्छेदकभेदं विनैव भेदाभेदः स्याद्वादिनामभिमतो नान्यथा, परमतप्रवेशात् । तदुक्तं अनुमानखण्डे मणिकृता 'न चैवं भेदाभेदः अवच्छेकभेदेन तत्सत्त्वाभ्युपगमादि'ति, तद् अज्ञानविलसितम् 'उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च' इत्यादिना।

❀ जयलता ❀

यत्त्विति । तदज्ञानविलसितमित्यनेनास्याऽग्रेऽन्वयः । **अवच्छेदकभेदं विनैव** एकत्र **भेदाभेदः** = भेदाभेदसमावेशः **स्याद्वादिनामभिमतः, न अन्यथा** = अवच्छेदकभेदेन, **परमतप्रवेशात्** = एकान्तवादिदर्शनप्रवेशापातात् । किमत्र बीजं ? इत्याशङ्कायामाह - **तदुक्तमिति । अनुमानखण्डे मणिकृता** = तत्त्वचिन्तामणिकारेण, **'न च एवं भेदाभेदः** = भेदाभेदवादिमतप्रवेशः, **अवच्छेदकभेदेन तत्सत्त्वाभ्युपगमादिति** । श्यामावच्छिन्नस्य घटस्य भेदः तस्यैव रक्तावच्छिन्ने, तदन्योन्याभावश्च श्यामावच्छेदेन इत्येवमवच्छेदकभेदपुरस्कारेण तदभ्युपगमान्न भेदाभेदमतप्रवेश इत्यभिप्रायकं **गङ्गेशवचनं** तदेवोपपद्येत यदि स्याद्वादिमतेऽवच्छेदकभेदं निरस्कृत्यैकत्र भेदाभेदस्वीकारः स्यात्, अन्यथा मणिकारस्यापि स्याद्वादिमतप्रवेशः स्यादिति तन्निराकरणाभिप्रायप्रयुक्तगङ्गेशवचनान्यथानुपपत्त्या स्याद्वादेऽवच्छेदकभेदमपहायैवैकत्र भेदाभेदसमावेशः सम्मत इति यत्तुमताकूतम् ।

तदज्ञानविलसितम् । उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते चेत्यादिनेति । अत्रोत्तरार्द्धश्चैवं - 'इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीताः जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ।।' (अन्य.व्य.२४) **ग्रन्थकृता** कलिकालसर्वज्ञबिरुदवता **श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरेण, अपि उपाधिभेदेनैव**, न तूपाधिभेदं विहाय, एकत्र **सत्त्वासत्त्वसमावेशाभिधानात् अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकायामिति** गम्यते । ननूपाधिभेदेनैव सत्त्वासत्त्वादीनामेकत्र समावेशः प्रतिपादितः न त्ववच्छेदकभेदेनेति मुग्धाशङ्कायामाह - **अत्र** = एतत्कारिकायां **हि 'उपाधयोऽवच्छेदका अंशप्रकाराः'** (स्या.मं.का. २४ पृ.३०१) इति **व्याख्यातं स्याद्वादमञ्जर्यां श्रीमल्लिषेणसूरिवरेणे**ति गम्यते । अत्र सोपयोगित्वात् तदीया पूर्वार्द्धव्याख्या प्रदर्श्यते —> 'अर्थेषु = पदार्थेषु चेतनाचेतनेषु असत्त्वं = नास्तित्वं न विरुद्धं = न विरोधावरुद्धम् = अस्तित्वेन सह विरोधं नानुभवतीत्यर्थः । न केवलमसत्त्वं न विरुद्धं किन्तु सदवाच्यते च । सच्चावाच्यं च सदवाच्ये, तयोर्भावौ सदवाच्यते अस्तित्वाऽवक्तव्यत्वे इत्यर्थः । तेऽपि न विरुद्धे । तथाहि - अस्तित्वं नास्तित्वेन सह न विरुध्यते । अवक्तव्यत्वमपि विधिनिषेधरूपमन्योन्यं न विरुध्यते । अथवा अवक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वेन साकं न विरोधमुद्वहति । अनेन च नास्तित्वास्तित्वावक्तव्यत्वलक्षणभङ्गत्रयेण सकलसप्तभङ्ग्या निर्विरोधता उपलक्षिता । अमीषामेव त्रयाणां मुख्यत्वाच्छेषभङ्गानां च संयोगजत्वेनामीष्वेवान्तर्भावादिति ।

नन्वेते धर्माः परस्परं विरुद्धाः तत्कथमेकत्र वस्तुन्येषां समावेशः सम्भवतीति विशेषणद्वारेण हेतुमाह - उपाधिभेदोपहितमिति । उपाधयोऽवच्छेदका अंशप्रकारास्तेषां भेदो नानात्वं तेनोपहितमर्पितम् । असत्त्वस्य विशेषणमेतत् । उपाधिभेदोपहितं

❀ उपाधिभेद से सत्त्वासत्त्व का समावेश ❀

यत्तु.। **यहाँ एकान्तवादी की ओर से यदि ऐसा कहा जाय कि —> ''स्याद्वादी को अवच्छेदकभेद के बिना ही एक धर्मी में भेदाभेद का समावेश अभिमत है, न कि अवच्छेदकभेद से । यदि अवच्छेदकभेद से ही स्याद्वादी एकत्र भेदाभेद का समावेश करे तब तो एकान्तवाद में उसका प्रवेश हो जायगा । इसलिए तो तत्त्वचिन्तामणिग्रन्थकार गंगेशजी ने अनुमानखण्ड में कहा है कि 'श्याम का रक्त घट में भेद और अभेद मानने पर भी भेदाभेद, जो भेदाभेदवादी स्याद्वादी को अभिमत है, प्रसक्त नहीं है, क्योंकि अवच्छेदकभेद से ही एक धर्मी में भेद और अभेद का समावेश हमें अभिमत है'** । यदि अवच्छेदकभेद से ही स्याद्वादी को भेद और अभेद का एक धर्मी में समावेश अभिमत होता तब गंगेशजी ने ऐसा नहीं कहा होता । अतः गंगेश उपाध्याय के वचन की अन्यथा अनुपपत्ति से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि स्याद्वाद में अवच्छेदकभेद के बिना ही एकत्र भेदाभेद का समावेश अभिमत है'' <— तो यह एकान्तवादी के अज्ञान का ही विलास है, क्योंकि स्वयं ग्रंथकार श्रीकलिकालसर्वज्ञ भगवंत ने ही अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका में कहा है कि 'पदार्थों में उपाधिभेद से उपहित = अर्पित सत्त्व, असत्त्व और अवाच्यता परस्पर विरुद्ध नहीं है' । खुद मूलकार ने भी एकत्र उपाधिभेद से ही सत्त्व और असत्त्व आदि धर्मों के समावेश का प्रतिपादन किया है तब —> 'स्याद्वाद में बिना अवच्छेदकभेद के ही भेदाभेद का एकत्र समावेश मान्य है' <— ऐसा उद्भावन करना अपनी मूर्खता का ही केवल प्रदर्शन है । यहाँ यह शंका भी कि —> 'ग्रन्थकारश्री ने तो उपाधिभेद से सत्त्व, असत्त्व आदि का एक धर्मी में समावेश मान्य किया है, न कि अवच्छेदकभेद से' <— इसलिए निरस्त हो जाती है कि अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका की स्याद्वादमंजरी नामक व्याख्या में श्रीमल्लिषेणसूरिजी ने उपर्युक्त कारिका की

...कृतोऽप्युपाधिभेदेनैव सत्त्वासत्त्वादिसमावेशाभिधानात् । अत्र हि 'उपाधयोऽवच्छेदका अंशप्रकारा' (स्या. मं. का. २४. पृ. ३११) इति व्याख्यातम् । न चैवं ऋजुमतं कथमनुमतमिति वाच्यम्, परमतमनभ्युपगम्य समाधानमात्रेणैव ऋजुत्वमित्यभिप्रायात् ।

कार्यद्वारा उभयरूपवस्त्वप्रतीतेस्तदसिद्धिः, एकस्य करणाकरणविरोधादित्यपि मन्दम्,

❋ नयलता ❋

सदर्थेष्वसत्त्वं न विरुद्धम् । सदवाच्यतयोश्च वचनभेदं कृत्वा योजनीयम् । उपाधिभेदोपहिते सती सदवाच्यते अपि न विरुद्धे । अयमत्राभिप्रायः परस्परपरिहारेण ये वर्तेते तयोः शीतोष्णवत् सहानवस्थानलक्षणो विरोधः । न चात्रैवम्, सत्त्वासत्त्वयोरितरेतरमविष्वग्भावेन वर्तनात् । न हि घटादौ सत्त्वमसत्त्वं परिहृत्य वर्तते पररूपेणाऽपि सत्त्वप्रसङ्गात् । तथा च तद्व्यतिरिक्तार्थान्तराणां नैरर्थक्यम्, तेनैव त्रिभुवनार्थसाध्यार्थक्रियाणां सिद्धेः । न चासत्त्वं सत्त्वं परिहृत्य वर्तते, स्वरूपेणाऽप्यसत्त्वप्राप्तेः । तथा च निरुपाख्यत्वात्सर्वशून्यतेति । तदा हि विरोधः स्यात् यद्येकोपाधिकं सत्त्वमसत्त्वञ्च स्यात् । न चैवम्, यतो न हि येनैवांशेन सत्त्वं तेनैवाऽसत्त्वमपि, किन्त्वन्योपाधिकं सत्त्वम्, अन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम् । स्वरूपेण हि सत्त्वं पररूपेण चासत्त्वम् । दृष्टं ह्येकस्मिन्नेव चित्रपटावयविनि अन्योपाधिकं तु नीलत्वं अन्योपाधिकाश्चेतरे वर्णाः । नीलत्वं हि नीलीरागाद्युपाधिकं वर्णान्तराणि च तत्तद्रञ्जनद्रव्योपाधिकानि । एवं मेचकरत्नेऽपि तत्तद्वर्णपुद्गलोपाधिकं वैचित्र्यमवसेयम् । न चैभिः दृष्टान्तैः सत्त्वासत्त्वयोर्भिन्नदेशत्वप्राप्तिः चित्रपटाद्यवयविन एकत्वात्, तत्राऽपि भिन्नदेशत्वासिद्धेः । कथञ्चित्पक्षस्तु दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च स्याद्वादिनां न दुर्लभः । एवमप्यपरितोषश्चेदायुष्मतः तर्हि एकस्यैव पुंसस्तत्तदुपाधिभेदात् पितृत्व-पुत्रत्व-मातुलत्व-भागिनेयत्व-पितृव्यत्व- भ्रातृव्यत्वादिधर्माणां परस्परविरुद्धानामपि प्रसिद्धिदर्शनात् किं वाच्यम् ? एवमवक्तव्यत्वादयोऽपि वाच्या इति' (स्या. मं.२४ पृ.३०१) इति ।

न चेति । वाच्यमित्यनेनान्वयः । **एवं** = अवच्छेदकभेदेनैकत्र विरुद्धधर्मयुगलस्वीकारे 'अस्तु वस्तु सार्वजनीनप्रतीतिस्वारस्यादेव भेदाभेदयोरवच्छेदकभेदं विनापि न विरोधः' (दृश्यतां प्रथमः खण्डः पृ.१०४) इति पूर्वोक्तं **ऋजुमतं कथं अनुमतं ? इति वाच्यम्, परमतं** = एकान्तवादं **अनभ्युपगम्य, समाधानमात्रेणैव,** न तु स्वसिद्धान्ताविष्करणेनापि, तेषां **ऋजुत्वमित्यभिप्रायात्** ।

कार्यद्वारा उभयरूपवस्त्वप्रतीतेः करणाकरणोभयस्वरूपवस्तुनोऽननुभवात् **तदसिद्धिः** = भेदाभेदोभयात्मकवस्तुसिद्धिः, एकस्य एव वस्तुन एकदा **करणाकरणविरोधादिति** कस्यचिद् दूषणोद्भावनं **अपि मन्दम्** । ननु कारणं **पर्यायतया** कार्यं **करोति न तु द्रव्यत्वेन** इति करणाकरणविरोधपरिहारः सुकर एवेति चेत् ? न **अत्रापि द्वैरूप्यापातात्** =

व्याख्या करते हुए कहा है कि —> 'उपाधियाँ यानी अवच्छेदक अथवा अंश प्रकार' <— । यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि —> ''यदि स्याद्वाद में अवच्छेदकभेद से ही एकत्र भेद, अभेद आदि का समावेश संमत है तब पूर्व में (देखिये प्रथम खण्ड पृष्ठ-१०४) प्रदर्शित ऋजुमत कैसे स्याद्वादी को अभिमत होगा ? क्योंकि वहाँ तो बिना अवच्छेदकभेद के सार्वजनीन प्रतीति के स्वरस के बल पर ही भेद और अभेद का समावेश प्रतिपादित है'' <— यह शंका इसलिए असंगत है कि वहाँ जो कहा गया था वह स्याद्वाद के सिद्धान्त का प्रदर्शन नहीं है, केवल एकान्तवाद का स्वीकार किये बिना समाधान मात्र को बताने का प्रयास है कि प्रतीति के बल से ही भेदाभेद एकत्र समाविष्ट हो सकते हैं । इसलिए तो उस मत के प्रदर्शकों का 'ऋजु' ऐसा कह कर उल्लेख किया गया था ।

✦ करणाकरणद्वैरूप्य सिद्धि विचार ✦

कार्य. इति । यहाँ कुछ विद्वानों का स्याद्वाद के खिलाफ यह वक्तव्य है कि —> 'कार्य के द्वारा वस्तु के करण-अकरण उभयस्वभाव की प्रतीति नहीं होती है, केवल करणस्वभाव की ही प्रतीति होती है । बिना अनुभव के करण- अकरण उभयस्वभाव की सिद्धि कैसे हो सकती है ? क्योंकि एक ही धर्मी में करण और अकरण का एक काल में समावेश करने में विरोध भी जागृत है । अतः करणाकरण-उभयस्वभाव की एक धर्मी में सिद्धि करने का मनोरथ केवल मनोरथ ही रहेगा' <— मगर यह कथन आगे बताये जानेवाली युक्ति से निरस्त हो जाने से मन्द = तथ्यहीन है । अन्य विद्वानों की इसके समाधान में यह उक्ति है कि —> 'कारण पर्यायात्मना कार्य को उत्पन्न करता है और द्रव्यात्मना कार्य को उत्पन्न करता

पर्यायतया करोति न तु द्रव्यत्वेनेत्यत्रापि द्वैरूप्यावतारात् । 'पर्यायत्वेन कर्तृत्वमेव, द्रव्यत्वेनाऽकर्तृत्वमि'ति असारम् स्वभावसाङ्कर्याऽऽपातात्, विनिगमनाविरहाच्च । किञ्च स्वकार्यकर्तृत्व-परकार्याऽकर्तृत्वाभ्यामप्येकस्य करणाकरणद्वैरूप्यम् ।

करोति न करोति वा जगति कारणं कार्यमप्यकारणहितार्थिनो भगवतः श्रुते युज्यते।
करोति यदि सर्वथा ननु कपालमालाऽपि तत्पटं जनयितुं प्रभुर्भवतु तन्तुसौभाग्यभूः ॥९॥

❀ जयलता ❀

वक्ष्यमाणविकल्पद्वितयापातात् । अत एव कारणस्य **पर्यायत्वेन कर्तृत्वमेव, द्रव्यत्वेन** पुनः **अकर्तृत्वमिति** न करणाकरणयोरेकत्र विरोधः अवच्छेदकभेदेनैकत्रोभयरूपसमावेशसम्भवादिति अपि समाधानं **असारम्, स्वभावसाङ्कर्यापातात्** = एकदैव कार्यद्वारा उभयस्वरूपवस्तुप्रतीतौ कार्यजननाजननोभयस्वभावसाङ्कर्यप्रसङ्गादित्यर्थः । **एतेन** कार्यद्वारोभयरूपवस्त्वप्रतीतेस्तदसिद्धिरिति **प्रत्युक्तम्, विनिगमनाविरहात्** = 'द्रव्यत्वेन करोति पर्यायतया तु न' इत्यविनिगमात्, 'द्रव्यं कारणं' इति वचनात् । एतेन पर्यायतया करोति, न तु द्रव्यत्वेनेति करणाकरणविरोधपरिहार इत्यपि **प्रत्याख्यातम्** । यद्वा द्रव्यार्थिकनयमतेन 'द्रव्यत्वेन कर्तृत्वमेव, पर्यायतयाऽकर्तृत्वमि'त्यविनिगमादित्यर्थः । **अनेन** पर्यायत्वेन कर्तृत्वमेव द्रव्यत्वेनाऽकर्तृत्वमित्यपि **निरस्तम्** । तर्हि स्याद्वादे कथं करणाकरणद्वैरूप्यमेकत्र सिध्येत् ? इत्याशङ्कायामाह **किञ्चेति । स्वकार्यकर्तृत्व-परकार्याकर्तृत्वाभ्यां** = स्वनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकावच्छिन्नजनकत्व-स्वेतरनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकावच्छिन्नजनकत्वाभावाभ्यां, **अपि एकस्य** वस्तुनः **करणा-करणद्वैरूप्यं** सिध्यति ।

यच्चोक्तं 'पर्यायतया करोति न तु द्रव्यत्वेन' तत्र विकल्पद्वैरूप्यमेवमवतरति —> किं पर्यायतया सर्वथा करोति न वा ? द्रव्यत्वेनाऽपि सर्वथाऽकरणं न वा ? <— इति । पर्यायतया सर्वथा करणे कपालपर्यायतया मृद्द्रव्यस्य घटवत् पटादिकरणप्रसङ्गात्, पर्यायतया सर्वथाऽकरणे पटादिवत् घटाऽकरणप्रसङ्गात् । द्रव्यत्वेन सर्वथाऽकरणस्वभावे द्रव्यस्य गुणपर्यायाऽकरणप्रसङ्गात् । द्रव्यत्वेन सर्वथाऽकरणस्वभावानभ्युपगमे नञ्द्वयस्य प्रकृतार्थगमकत्वात्परनये द्रव्यत्वेन सर्वथा-करणस्वभावापत्तौ स एव प्रसङ्गः । इत्थञ्चैकान्तवादाद् व्यावर्तमानः करणाकरणद्वैरूप्यस्वभावोऽनेकान्तवाद एव विश्राम्यतीत्याशयेन पद्यद्वयमारचयति - **करोतीति** । संक्षेपस्त्वेवम् - **जगति कारणं कार्यं करोति न वा ? इति** मीमांसाऽपि **अकारणहितार्थिनः**

नहीं है । अतः एक धर्मी (= कारण) में करणाकरण उभयस्वरूप की सिद्धि हो सकती है' <— मगर यह उक्ति भी आगे दिखाये जानेवाले दो विकल्पों से ग्रस्त होने से अनादरणीय है । अन्य किसीका यह कथन भी कि —> 'कारण में पर्यायात्मना कर्तृत्व ही है और द्रव्यात्मना अकर्तृत्व । मतलब कि कपाल, तन्तु आदि पर्यायों की अपेक्षा कारण में कर्तृत्व = कार्यजनकत्व ही है । सिर्फ द्रव्य होने के नाते उसमें कर्तृत्व नहीं रह सकता, अन्यथा सब द्रव्यों में द्रव्यत्व समान होने की वजह सर्वकार्यकर्तृत्व की आपत्ति आयेगी । अतः पर्याय की अपेक्षा कर्तृत्व और द्रव्यत्व की अपेक्षा अकर्तृत्व एक धर्मी में सिद्ध होने से करण - अकरण उभयस्वभाव की सिद्धि हो सकती है' <— असार है । इसका कारण यह है कि इस पक्ष में विनिगमनाविरह दोष प्रसक्त होता है । मतलब कि - 'कारण में द्रव्यात्मना ही कर्तृत्व है, पर्यायात्मना अकर्तृत्व ही है' ऐसा भी माना जा सकता है । अतः 'पर्यायत्वेन कर्तृत्व ही है और द्रव्यत्वेन अकर्तृत्व' यह एकान्त स्वीकार्य नहीं हो सकता । इस तरह 'कारण पर्यायविधया कार्य को उत्पन्न करता है, न कि द्रव्यविधया'- यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि - 'कारण द्रव्यविधया कार्य को उत्पन्न करता है, न कि पर्यायविधया' । अतः उपर्युक्त द्वितीय मत भी अनादरणीय ही है । तथा जो पूर्व में कहा गया था कि —> 'एकदा कार्य के द्वारा करणाकरण उभयस्वभाव की प्रतीति नहीं होती है' <— वह भी असंगत ही है, क्योंकि वैसा होने पर जननाजनन स्वभाव में सांकर्य का प्रसंग होता है । यहाँ यह शंका हो कि —> तब तो कारण में करणअकरणोभयस्वभाव की सिद्धि ही न हो सकेगी' <— तो यह इसलिए निराधार हो जाती है कि कारणमात्र में स्वकार्य का कर्तृत्व और परकीय कार्य का अकर्तृत्व होता है। कपाल में घटकर्तृत्व ही होता है, न कि पटादिकर्तृत्व। अतः स्वकार्यकर्तृत्व और परकार्याकर्तृत्व इन दो धर्मों की अपेक्षा भी एक ही कारणात्मक धर्मी में करणाकरणद्वैरूप्य की सिद्धि हो सकती है ।

❀ एकान्तवाद में करणाकरणस्वभाव की अनुपपत्ति ❀

करोति. । कारण इस जगत में कार्य को उत्पन्न करता है या नहीं ? यह विचारविमर्श भी अकारण परहितरसिक

न कुरुते करणं यदि सर्वथा, स्मरणमेव तदस्य न युज्यते ।
अजनयत्परकार्यमिह स्वयं न जनयेदपि किञ्चन तद्यतः ॥२॥

अनास्वादितस्वभावभेदयोः कथं धर्मधर्मिभाव इति चेत् ? न, धर्मधर्मिणोर्मिथोभेदात्, प्रतिनियतधर्म्याश्रितत्वेनैव केवलमभेदात् ।

❀ जयलता ❀

= तीर्थकरनामोदयात् तथास्वाभाव्याच्च निरुपाधिपरकल्याणपरस्य **भगवत** एव **श्रुते** = प्रवचने **युज्यते, न तु** मायावितीर्थे, यतः **यदि कारणं सर्वथा** कार्यं **करोति** इत्येवं कक्षीक्रियते, **ननु कपालमालाऽपि तत्** = तस्मात् प्रकृताभ्युपगमबलादिति यावत्, घटमिव **पटं जनयितुं प्रभुः** = अलं **भवतु तन्तुसौभाग्यभूः** = तन्तुनिष्ठपटजननस्वभावलक्षणसौभाग्यभूमिः कपालमालेति घण्टालोलान्यायेनाऽत्राप्यन्वीयते ॥१॥ **यदि करणं** = कारणं **सर्वथा** = सर्वप्रकारैः कार्यं **न कुरुते** इत्येवमङ्गीक्रियते, **तत्** = ततः **अस्य** = कारणत्वेनाभिमतस्य **स्मरणमेव** = स्मृतिरपि न **युज्यते, यतः** = यस्मात्कारणात् **तत्** = करणं **इह** = जगति **परकार्यमजनयत्** तद्वदेव **स्वयं न किञ्चनापि** कार्यं **जनयेत्** ॥२॥ तस्मात् करणाकरणद्वैरूप्यमपि स्याद्वादाभिधानं कथञ्चित्पक्षमेव समाश्रयति । **एतेन** कारणस्य कर्तृत्वस्वभाव एव, न तु स्वकार्यकर्तृत्वस्वभावो गौरवादित्यपि **पराकृतमिति दिक्** ।

ननु अनास्वादितस्वभावभेदयोः = अभिन्नस्वभावयोः तयोः **कथं धर्मधर्मिभावः** सम्भवेत् । न हि स्वमेव स्वस्य धर्मो भवितुमर्हतीति **चेत् ? न, धर्म-धर्मिणोः मिथो भेदात्** = परस्परं भेदाभ्युपगमात् तयोर्धर्मधर्मिभावोऽनपाय एव । 'कथं तर्हि तयोरभेदोक्तिः सङ्गच्छेत ?' इत्याशङ्कायामाह - **प्रतिनियतधर्म्याश्रितत्वेनैव केवलमभेदात्,** न तु सर्वथा । यदि धर्मधर्मिणोः सर्वथा भेद एव स्यात्, तर्हि पृथिव्यादेरिवाकाशादेरपि गन्धो धर्मः स्यात्, भिन्नत्वाऽविशेषात् । न चैवमस्ति, पृथिव्यादिप्रतिनियतधर्मिण्येव गन्धादेराश्रितत्वोपलम्भात् । अतः **प्रतिनियतधर्मिसमाश्रितत्वापेक्षयैव** तयोः केवलमभेद एवाभ्युपगम्यते । न चैतावतैव प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धः तयोर्भेदः पलायितो भवति किन्त्ववच्छेदकभेदेन तत्रैव प्रवेशयितुमर्हतीति न तयोर्धर्मधर्मिभावानुपपत्तिरित्यभिप्रायः ।

जिनेश्वर भगवंत के शासन = अनेकान्तवाद में ही संगत होता है, न कि एकान्तवादी परतीर्थिक के दर्शन में । इसका कारण यह है कि यदि एकान्तवाद के अनुरोध से विचार किया जाय तब दो विकल्प उपस्थित होते हैं कि - 'कारण क्या कार्य को सर्वथा उत्पन्न करता है ? या सर्वथा उत्पन्न करता नहीं है ?' इन दो विकल्पों में से प्रथम विकल्प को मान्य करने पर कपालावली घट की भाँति पट को भी उत्पन्न करेगी और तन्तु का पटजननस्वभावात्मक जो स्वभाव है उसका आश्रय भी वही बन जायेगी, क्योंकि 'उनका सर्व प्रकार से कार्यजननस्वभाव है' इस पक्ष का यहाँ आश्रय किया गया है । यदि इस आपत्ति को हटाने के लिए दूसरे विकल्प का स्वीकार किया जाय तब तो कारणत्वेन अभिमत कपालादि का स्मरण करना भी असंगत हो जायेगा, क्योंकि कपालावली का सर्वथा अजननस्वभाव मानने पर तो जैसे उससे पट की उत्पत्ति नहीं होती है ठीक वैसे ही घट की भी उत्पत्ति नहीं होगी । कुछ भी कार्य न करने पर तो उसको कौन याद भी करेगा ? निकम्मे नर के नामस्मरण को तो दूर से ही सलाम ! इस तरह विचारविमर्श करने पर एकान्तवाद में अनुपपन्न करणाकरणस्वभाव स्वरूप कन्या अंत में जा कर अनेकान्तवाद के पक्ष में बैठ कर वाद में अनेकान्तवादी के गले में ही विजयमाला डालेगी। मतलब कि कारणमात्र करणाकरण उभयस्वभाव से युक्त है - यह सिद्ध होता है ।

❀ धर्मधर्मिभावविचार ❀

अना० । यहाँ यह शंका करना कि —> 'धर्म और धर्मी में केवल अभेद मानने पर तो उनके बीच धर्म-धर्मिभाव ही न बन सकेगा, क्योंकि धर्मधर्मिभाव स्वभावभेदनियत = स्वभावभेद का व्याप्य है' <— ठीक नहीं है, क्योंकि धर्म और धर्मी में परस्पर भेद है ही, जिसका अपलाप हम करते नहीं हैं । फिर भी धर्म और धर्मी में अभेद मानने का कारण यह है कि प्रतिनियत धर्मी में धर्म आश्रित है । मतलब यह है कि गन्ध पृथ्वी से भिन्न हो, तब तो पृथ्वी की भाँति जल, तेज आदि में भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिए, क्योंकि गन्ध और जलादि के बीच भिन्नत्व है ही । मगर गन्ध की उपलब्धि पृथ्वी में ही होती है, न कि जलादि में । इस दृष्टि से गन्ध और पृथ्वी में केवल अभेद माना गया है ।

'धर्मधर्मिभावः काल्पनिक एव न तु वास्तव' इति चेत् ? न, कल्पनाया अपि विकल्पग्रासात्, असत्ख्यातिनिरासाच्च । न हीन्द्रियवृत्त्यादिकं विनाऽसतो ज्ञानं सम्भवति । न च वासनयैवाऽसतो भानं, तादृशवासनायां मानाभावात्, भावे वा तस्याः शाश्वतिकत्वे

❀ जयलता ❀

माध्यमिकः शङ्कते - **धर्मधर्मिभावः काल्पनिकः** = सांवृतिक **एव न तु वास्तवः**, बाह्यार्थस्यैवाऽभावात्, तदुत्पत्त्याद्यसङ्गतेः। तदुक्तं **नागार्जुनेन माध्यमिककारिकायां** 'न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः । उत्पन्ना जातु विद्यन्ते, भावाः क्वचन केचन ।। (मा.का.प्रत्ययपरीक्षा. श्लो.१) इति । ततो बाह्यमाध्यात्मिकं वा रूपं न तत्त्वं किन्तु सांवृतमेव। संवृतिश्च त्रिधा १ आलोकसंवृतिः शुक्त्यादौ रजतभ्रान्तिरूपा, २ तत्त्वसंवृतिः सत्यनीलादिप्रतीतिस्वरूपा, ३ अभिसमयसंवृतिः योगिप्रतिपत्तिलक्षणा, तस्या अपि ग्राह्य-ग्राहकाकारतया प्रवृत्तेरिति **चेत् ? न, कल्पनायाः** = संवृतेः **अपि विकल्पग्रासात्** = विमलविकल्पयुगलकवलितत्वात् । तथाहि कल्पना किं पारमार्थिकी तुच्छा वा ? **तस्याः** पारमार्थिकत्वे किमपराद्धमपरेण ? तत्तुच्छत्वे कथं धर्मधर्मिभावस्य काल्पनिकत्वसिद्धिः ? न ह्यसता केनचित् **किञ्चित्साध्यते** । हेत्वन्तरमाह - **असत्ख्यातिनिरासाच्च** । तथाहि - **न हि इन्द्रियवृत्त्यादिकं** = इन्द्रियसन्निकर्षादिकं **विना असतः** = ज्ञाननिरूपितप्रकारतावच्छेदकरूपेण अविद्यमानस्यार्थस्य **ज्ञानं** प्रत्यक्षादिकं **सम्भवति**, तथाऽननुभवात् । न हि निमिलितनयनस्य पुंसः रजतत्वादिरूपेणाऽसतः शुक्त्यादेः चाक्षुषं दृष्टचरं कदापि केनाऽपि क्वचित् । **न च** नेत्रोन्मिलनेऽपि **वासनयैव असतो भानं** भवति न त्विन्द्रियसन्निकर्षादिनेति **वाच्यम्**, अनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकप्रतियोगिनि कारणत्वप्रतिक्षेपस्यान्याय्यत्वात् । **न च** स्वप्नावस्थायां वासनाविशेषसामर्थ्यवशादसत्करि-तुरगाद्याकारप्रतिपत्तिनियमवत् जाग्रद्दशायामपि तत एव प्रतिनियतप्रतीत्युपपत्तिरिति **वाच्यम्**, जाग्रद्दशायामनुभूतस्यैव करितुरगादेस्तदा सन्निहितत्वेन दोषमहिम्ना भानात्, **तादृशवासनायां** च **मानाभावात्, भावे** = वासनासाधकप्रमाणसत्त्वे **वा तस्याः** = वासनायाः **शाश्वतिकत्वे** = प्रवाहापेक्षया सार्वदिकत्वे, **सर्वदा अखण्डशशशृङ्गाद्यलीकभानापत्तेः** । **न च सद्भानसामग्र्याः** = घटेन्द्रियसन्निकर्षादिकारणकलापस्य **असद्भाने** = शशशृङ्गाद्यसद्विषयकज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति, **प्रतिबन्धकत्वं** इति तत्सत्त्वदशायां न तद्भानापत्तिरिति **वाच्यम्**, तादृशप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावकल्पने **गौरवात्** । **एतेन** वासना घटपटाद्याकारमेवोपलम्भं आधातुमलमित्यपि **प्रत्याख्यातम्**, असत्त्वाऽविशेषे शशविषाणाद्याकाराणां प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात् । न ह्यत्र न पर्यनुयोग इति राज्ञामाज्ञाऽस्ति । 'प्रतिनियतशक्तिविशेषश्च तत्रैव न तु शशविषाणादौ' इत्यस्य शपथमात्रश्रद्धेयत्वात् । **न च** वासनायाः क्रमिकत्वेन सदा नाऽखण्डशशविषाणादिभानं इति **वाच्यम्**, वासनाहेतोः वासनात्वे जगतोऽपि तद्वदेव पारमार्थिकत्वापत्तेः अलीकस्यैव वासनाहेतुत्वस्याऽभ्युपगन्तव्यतया खरविषाणादेरिव तस्याऽपि शाश्वतिकत्वे वासनाया अपि शाश्वतिकत्वस्य न्यायप्राप्तत्वादित्याशयेनाह - **अलीकस्यैव स्ववासनाहेतोः** = शशविषाणादिगोचर-ज्ञानजनकवासनाहेतोः, **शाश्वतिकत्वेन तस्याः** = वासनायाः **क्रमिकत्वाशङ्का पुनरनुत्थानोपहतैवेति** ।

धर्म. । **इस दृष्टि से यहाँ बौद्ध की यह शङ्का कि —> 'गन्ध और पृथ्वी आदि के बीच धर्मधर्मिभाव काल्पनिक ही है, न कि वास्तविक; क्योंकि वास्तविकता यह है कि जगत में कोई भी चीज वास्तविक = सत् = पारमार्थिक नहीं है' <— भी इसलिए निराधार हो जाती है कि - बौद्ध की यह कल्पना, जो कि 'धर्मधर्मिभाव वास्तविक नहीं है' इत्याकारक है, भी काल्पनिक है या वास्तविक ? ये दो विकल्प उपस्थित होते हैं । यदि वह कल्पना भी काल्पनिक है, तब तो जगत में काल्पनिकता की सिद्धि या धर्मधर्मिभाव में काल्पनिकता की सिद्धि हो सकती नहीं है, क्योंकि काल्पनिक चीज से किसीकी सिद्धि हो नहीं सकती । क्या काल्पनिक गाय कभी दूध दे सकती है ? यदि वह कल्पना वास्तविक यानी पारमार्थिक है - ऐसा मान जाय तब तो कल्पना की भाँति सकल विश्व भी पारमार्थिक सिद्ध हो जायेगा । फलतः विश्वान्तर्गत धर्मधर्मिभाव भी पारमार्थिक सिद्ध होगा । दूसरी बात यह है कि हम असत्ख्याति यानी जगत में अविद्यमान पदार्थ की ख्याति = ज्ञान मानते नहीं हैं । इस विषय का विस्तार से निरसन स्याद्वादरत्नाकर, सम्मतितर्क, स्याद्वादकल्पलता आदि में किया गया है । अतएव यहाँ प्रकरणकार ने असत्ख्याति का निरास किया नहीं है । फिर भी संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इन्द्रिय की वृत्ति आदि के बिना असत् = मिथ्या पदार्थ की ख्याति = बुद्धि हो सकती नहीं है । कल्पना = वासना से भी केवल असत् यानी सर्वथा मिथ्या पदार्थ का भान हो सकता नहीं है, क्योंकि तादृश वासना में ही कोई प्रमाण नहीं है । सर्वथा असत् का भान करानेवाली वासना में कोई प्रमाण हो तब भी वह वासना शाश्वतिक होगी तो सर्वदा और सर्वत्र अखंड शशशृङ्ग आदि मिथ्या पदार्थ के भान की आपत्ति आयेगी, क्योंकि सद्विषयक ज्ञान की सामग्री असद्विषयक**

सर्वदाऽखण्डशशशृङ्गाद्यलीकभानापत्तेः । न च सद्भानसामग्र्या असद्भाने प्रतिबन्धकत्वं, गौरवात् । अलीकस्यैव स्ववासनाहेतोः शाश्वतिकत्वेन तस्याः क्रमिकत्वाशङ्का पुनरनुत्थानोपहतैव । असदलीकं न वासनाहेतुरिति चेत् ? तदा सदा भावाऽभावान्यतरापत्तिः, 'नित्यं सत्वमसत्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्' (प्र.वा.३/३४) इति वचनात् ।

किञ्च सेयं वासना प्रमाणमप्रमाणं वा ? उभयथाऽप्यसतः सत्वापत्तिः । न हि प्रामाणिकमसत्, न वाऽसतः सत्वं विना तद्ग्राहकस्याऽप्रमाणत्वम् । न च प्रमाऽजनकत्वमेवाऽप्रमाणत्वमिति न वासनाया भ्रमजनकत्वेनाऽसतः सत्वापत्तिरिति वाच्यम्, प्रमाऽजनकत्वे

❀ जयलता ❀

ननु असदलीकं इति **न वासनाहेतुः** सम्भवति किन्तु सदेव वासनाकारणम् । तस्य कादाचित्कत्वेन वासनायाः क्रमिकत्वमिति न सर्वदा शशविषाणादिभानप्रसङ्ग **इति चेत् ? न,** तद्वदेव जगतोऽपि सत्त्वप्रसङ्गाद् धर्मधर्मिभावस्य वास्तवत्वमनिराकार्यं स्यात् । **न** चात एव वासनाया निर्हेतुकत्वमभ्युपगम्यत इति **वाच्यम्, तदा** = वासनाया अहेतुकत्वाभ्युपगमे, वासनायाः **सदा भावाऽभावान्यतरापत्तिः,** निरपेक्षत्वात् । यन्निरपेक्षं तत् सर्वदा सदऽसदऽन्यतरत् भवति यथा गगनं खरविषाणं वा । अत्रैव **धर्मकीर्ति**रचित**प्रमाणवार्तिक**वचनसम्वादमाह- **'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्'** । इति । 'अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः' इत्युत्तरार्धः । वासनायाः नित्यं सत्त्वे तद्वदेव जगतोऽपि नित्यत्वप्रसङ्गात्, सदा अखण्डशशविषाणादिभानप्रसङ्गाच्च । तस्या नित्यमसत्त्वे च स एव दोष आपद्यत इत्यलं विवादेन ।

प्रकारान्तरेण वासनामपाकर्तुमुपक्रमते - **किञ्चेति** । **सा** सुगतसुताभिमता **इयं वासना प्रमाणं** = प्रमाकरणं, **अप्रमाणं** = अप्रमाकरणं **वा** ? इति विमलविकल्पयामलमनिवारितप्रसरम् । **उभयथा** = उभयप्रकारेण, **अपि असतः सत्त्वापत्तिः ।** तथाहि वासनायाः प्रमाणत्वे असत्या वासनायाः सकाशात् सती प्रमा उत्पद्यत इति प्राप्तम् । तथा च स्पष्टमेवाऽसतः सत्त्वप्रसञ्जनम् । तदेवाह - **न हि प्रामाणिकं** = प्रमाणेन सिद्धं **असद्** भवति । यदि च वासनाया अप्रमाणत्वं कक्षीक्रियते तदाऽपि असत्या वासनया अप्रमाया जननेनाऽसतः सदुत्पत्तिः समायातैव । न ह्यप्रमाया अभावात्मकत्वं, भावत्वेनाऽनुभूयमानत्वात् । तदेवाह - **न वाऽसतः** सकाशात् **सत्त्वं** = सत्त्वोत्पादं विना, **तद्ग्राहकस्य** = असदाकारज्ञानजनकस्य **अप्रमाणत्वं** = अप्रमाकरणत्वं सम्भवति ।

न चेति वाच्यमित्यनेनान्वेति । **प्रमाऽजनकत्वमेव** = प्रमाऽकरणत्वमेव अप्रमाणत्वं, न तु अप्रमाकरणत्वं **इति** हेतोः **न वासनाया भ्रमजनकत्वेन** अप्रमाणत्वापत्त्या **असतः सत्त्वापत्तिरिति वाच्यम्, प्रमाऽजनकत्वे सति ज्ञानजनकत्वेन तस्याः**

ज्ञान में प्रतिबन्धक होती नहीं है । सद्विषयक ज्ञान की सामग्री को असद्विषयक भान के प्रति प्रतिबन्धक मानने में गौरव है । यहाँ यह शंका कि —> 'वासना क्रमिक होने से असद् का भान भी क्रमशः होता है, न कि सर्वदा' <— तो उत्पन्न ही नहीं हो सकती, क्योंकि वासना की भाँति वासना का हेतु भी काल्पनिक होने से शाश्वतिक = नित्य होने से वासना क्रमिक नहीं हो सकती । यहाँ यह कहना कि —> 'असत् पदार्थ तो अलीक यानी सर्वथा मिथ्या होने की वजह वासना का हेतु ही होता नहीं है । अतः वासना निर्हेतुक ही है, जो कभी होती है और कभी नहीं' <— भी इसलिए निराधार हो जाता है कि वासना का कोई हेतु न होने पर या तो गगनादि की भाँति वासना सदा विद्यमान रहेगी या तो खरशृङ्ग आदि की भाँति सर्वदा अविद्यमान रहेगी, न कि कभी विद्यमान और कभी अविद्यमान । कादाचित्क स्थिति तो उसीकी होती है, जिसको अपनी उत्पत्ति में किसीकी अपेक्षा हो । निरपेक्ष की कादाचित्क और काचित्क स्थिति हो सकती नहीं है । धर्मकीर्ति ने, जो बौद्ध दर्शन के महनीय विद्वान् थे, भी प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ में कहा है कि —> 'अहेतुक पदार्थ या तो नित्य सत् = विद्यमान होगा या तो नित्य असत् = अविद्यमान होगा, क्योंकि उसको किसीकी अपेक्षा नहीं है' <— । अतः वह निरपेक्ष नहीं मानी जा सकती ।

❀ वासना की अनुपपत्ति ❀

किञ्च सेयं । इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि आपकी यह वासना प्रमाण = प्रमाजनक है या अप्रमाण = अप्रमाजनक ? दोनों तरह असत् से सत् की आपत्ति आयेगी । वह इस तरह-यदि वासना को प्रमाण मानी जाय तब तो उसके द्वारा सिद्ध वस्तु असत् यानी काल्पनिक अर्थात् तुच्छ नहीं होगी । प्रामाणिक = प्रमाण के द्वारा सिद्ध चीज

सति ज्ञानजनकत्वेन तस्या भ्रमजनकत्वसिद्धेः । 'भ्रमो नान्यथाख्यातिः किन्तु असत्ख्यातिरि'ति चेत् ? न, असन्निकृष्टस्यासाक्षात्कारादित्यन्यत्र विस्तरः ।

*एतेन **अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि । अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम् । (खं.खं.खा. १/१)** इत्यपि निरस्तम्, **योग्यताज्ञानं विना तत्र शाब्दबोधानुदयात् ।***

❀ जयलता ❀

= वासनायाः **भ्रमजनकत्वसिद्धेः** निरुक्तप्रमाणत्वापातेन असतः सत्त्वापत्तिर्दुर्वारैव । न च केवलं प्रमाऽजनकत्वमेवास्त्वप्रमाणत्वं लाघवादिति **वाच्यम्,** उदासीनस्याऽप्यप्रमाणत्वापत्तेः। अस्तु वा तथा तथापि त्वया वासनाया भ्रमजनकत्वाभिधानात्सिद्धमेवाऽसतः सत्त्वमित्युभयतः पाशारज्जुः ।

ननु भ्रमो नान्यथाख्यातिः = नाऽन्यथास्थितस्यार्थस्याऽन्यथाभानं, **किन्तु असत्ख्यातिः** = सर्वथाऽसतो भानमिति न जगतः पारमार्थिकत्वसिद्धिर्न वा धर्मधर्मिभावस्याऽपि वास्तवत्वसिद्धिरिति **चेत् ? न, असन्निकृष्टस्य** = इन्द्रियाऽसम्बद्धस्य, **असाक्षात्कारात्** = प्रत्यक्षविषयत्वविरहात्, अन्यथा सर्वदा सर्वेषां सर्वत्र सर्वसाक्षात्कारप्रसङ्गात्, असन्निकृष्टत्वाऽविशेषात् । **न चैवं** 'रूवं पुण पासइ अपुट्ठं' (आ.नि.गो.५) इत्यस्य भङ्गप्रसङ्ग इति **वक्तव्यम्,** चक्षुषः संयोगसम्बन्धेन स्वविषयाऽसम्बद्धत्वेऽपि आभिमुख्यसम्बन्धेन तत्सम्बद्धत्वात् । अत एव 'रूवं पुण पासइ अणभिमुहं तु' इति नोक्तम् । न हि शुक्त्यनभिमुखस्य पुंसः 'इदं रजतमि'ति चाक्षुषं कदापि जायते, इन्द्रियसन्निकृष्टस्यैव व्यावहारिकसाक्षात्कारविषयत्वात् भ्रमस्थलेऽपि येन केनचिदिन्द्रियसन्निकर्षस्याऽवश्यमभ्युपगन्तव्यतया तदाश्रयविधया बाह्यार्थसिद्धेः असत्ख्यातिस्थानेऽन्यथाख्यातिरेवात्मलाभं लभत इति सिद्धम् । **अन्यत्र = सम्मतितर्क-स्याद्वादरत्नाकर-स्याद्वादकल्पलतादौ विस्तरः।**

एतेन = असत्ख्यातिनिरासेन, अस्य च निरस्तमित्यनेनाऽन्वयः । **खण्डनखण्डखाद्यकारिकामावेदयति दूषयितुं - अत्यन्तेति** । संक्षेपार्थश्चास्या एवम् - **शब्दः** श्रूयमाणः **अत्यन्तासति** = सर्वथाऽसति **अपि अर्थे** शशशृङ्गादिलक्षणे **ज्ञानं** = शाब्दबोधं, **करोति** = विषयतासम्बन्धेन जनयति **हि** = एव । विषयस्य **अबाधात् तु अत्र स्वतः प्रामाण्यनिश्चलां प्रमां** करोति । तन्निरासे हेतुमाह - **योग्यताज्ञानं** = बाधाभावज्ञानं, **विना तत्र** = शशशृङ्गादौ विषये, **शाब्दबोधानुदयात्,** तद्-

कभी भी मिथ्या होनी नहीं है । अतः मिथ्या = असत् वासनात्मक हेतु से सत् = प्रमा की उत्पत्ति को मान्य करनी होगी । यदि वासना को अप्रामाणिक = प्रमाण से असिद्ध मानी जाय तो भी असत् से सत् बनने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि असत् से सत् का जन्म न मानने पर असदाकार ग्राहक को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता । रजतात्मना असत् शुक्ति का सदात्मना = रजतात्मना ज्ञान करानेवाला ही तो अप्रमाण कहा जाता है । यहाँ यह कथन कि --> "वासना को अप्रमाण कहने का मतलब यह है कि वह प्रमा = सत्य ज्ञान को उत्पन्न नहीं करती है । मगर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह भ्रम = मिथ्या बुद्धि को उत्पन्न करती है । इसलिए 'वासना भ्रमजनक होने की वजह असत् का सत्त्व बनने की आपत्ति आयेगी' इस आपत्ति को अवकाश नहीं है" <-- भी असंगत है, क्योंकि जो प्रमा का जनक नहीं होते हुए ज्ञान का जनक हो वह भ्रम का ही जनक होता है - यह तो अन्यथा अनुपपत्ति से सिद्ध होता है । अतः भ्रमात्मक सत् का सर्वथा तुच्छ वासना से जन्म होगा-यह मान्य करना होगा ।

❤ असत्ख्यातिनिराकरण ❤

यहाँ यह कहना कि --> 'भ्रमपद का अर्थ है असत्ख्याति, न कि अन्यथाख्याति । अतः वासना से भ्रम का जन्म होने पर भी सारा जगत् मिथ्या सिद्ध हो जाने से आखिर में तो हमारे बौद्धमत की ही सिद्धि हुई न ?' <-- भी निराधार है, क्योंकि इन्द्रिय से असन्निकृष्ट का कभी भी प्रत्यक्ष होता नहीं है । 'इदं रजतं' इत्याकारक भ्रम भी शुक्ति के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर ही उत्पन्न हो सकता है । हाँ, शुक्ति के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने से वह भ्रम कहा जाता है और रजत के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर वह प्रमाशब्द से व्यवहार्य बनता है -यह एक अलग बात है । मगर इन्द्रिय का किसी न किसी पदार्थ के साथ सम्बन्ध तो जरूर होना चाहिए । अतः प्रत्यक्षकारणीभूत सन्निकर्ष का आश्रय होने की वजह भी बाह्य पदार्थ में पारमार्थिकता अबाधित ही है । विषयभूत बाह्य पदार्थ काल्पनिक = असत् होने पर उसके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष भी काल्पनिक हो जायेगा । इस परिस्थिति में भ्रमात्मक वास्तविक = विद्यमान प्रत्यक्ष की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी ? अतः अन्यथाख्याति यानी अन्यस्वरूप से रही हुई चीज का अन्यरूप से भान होना ही भ्रम है यह मानना होगा। इस विषय

तदिदमुक्तं 'तत्र सचेतसां मूकतैवोचिते'ति । अत एवालीकस्य विधिनिषेधव्यवहाराऽभाजनत्वम् । 'शशशृङ्गं न सत्' इत्यादिबुद्धिस्तु शृङ्गे शशीयत्वादेरेवाऽसत्त्वमवगाहते । एवञ्चाऽसत्कल्पनावादिनां 'असत्ख्यात्यनभ्युपगमो न श्रेयान्' इति प्रलापमात्रमेव, असत्कल्पनायामपि प्रसिद्धानामेव खण्डानां मिथोऽन्यथासंसृष्टानां भानाभ्युपगमात् ।

❋ जयलता ❋

पलम्भकातिरिक्तसामग्रीकल्पने गौरवाच्च । **अत एव** = योग्यताज्ञानस्य शाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वादेव, **अलीकस्य** = सर्वथाऽसतः, **विधिनिषेधव्यवहाराऽभाजनत्वं** = विधि-प्रतिषेधप्रकारकव्यवहाराविषयत्वं सङ्गच्छते । **एतेन** सर्वथाऽसतः काममस्तु विधिव्यवहारबहिर्भूतत्वं, निषेधव्यवहारानन्तर्भूतत्वं तु कथं? इत्यपि **निरस्तम्** 'असओ नत्थि निसेहो' (वि.आ.भा. १५७४) इति **महाभाष्यवचनाच्च** । 'तर्हि 'शशशृङ्गं सदसद् वा ?' इति पर्यनुयोगे कः प्रत्युत्तरः ?' इति **चेत्** ? मौनमेव तत्राश्रयणीयम् । 'पार्षदिकानां मध्ये मौढ्यप्रसङ्ग' इति चेत् ? तर्हि 'शशशृङ्गं न सत्' इत्येव प्रत्युत्तरः । 'तर्हि अत्यन्तासत्यप्यर्थे शब्दाज्ज्ञानमभ्युपगतं भवद्भिरि'ति **चेत्** ?, न, **'शशशृङ्गं न सत्' इत्यादिबुद्धिस्तु शृङ्गे शशीयत्वादेरेवाऽसत्त्वमवगाहते,** न तु शशशृङ्गं सद्भेदम्, अन्योन्याभावप्रतीतौ अनुयोगिज्ञानस्य हेतुत्वात् । **अनेन** 'शशशृङ्गं न सदि'त्यतो वाक्यात् 'शृङ्गवृत्तिः शशसम्बद्धत्वाभाव' इत्येवमाकारकः शाब्दबोधो न भवितुमर्हति, अत्यन्ताभावबोधेऽनुयोगिनि सप्तम्या नञ्समभिव्याहृतताया अपेक्षणादिति 'शशशृङ्गं सद्भेदवदि'त्येव प्रतीतिर्भवतीति **प्रत्याख्यातम्,** शृङ्गविशेष्यके शशीयत्वाभावप्रकारकशाब्दविकल्पे एव तत्तदानुपूर्व्याः सामर्थ्यकल्पनात् । **एतेन** विधिव्यवहारविषयत्वाभावप्रतिपादनेनार्थतो निषेधव्यवहारविषयत्वमेव स्वीकृतमेकान्ताऽसत्यपीति **पराकृतम्,** अखण्डस्यैव तस्य निषेधव्यवहारागोचरत्वाभिधानात्, खण्डशः प्रसिद्धया तु निषेधशाब्दव्यवहारप्रतीतिविषयत्वस्येष्टत्वात् । **अत एव** शशशृङ्गादेरेकान्ततो निषेधव्यवहारधीविषयत्वाभावेऽनेकान्तवादव्याहतिरित्यपि **प्रत्याख्यातम्,** शशशृङ्गादेः सखण्डत्वेन निषेधगोचरत्वम्, अखण्डत्वेन तदभावः, क्रमेण सखण्डाखण्डत्वाभ्यां तदुभयं, युगपत्तदुभयार्पणायामवक्तव्यत्वमित्येवं सप्तभङ्ग्या अव्याहतप्रसरात् । **अनेन** 'शशशृङ्गं नास्ती'त्यत्र 'शशशृङ्गाभावोऽस्ती'त्येवंधीव्यवहाराविति सत्ख्यातिसिद्धिरित्यपि **निराकृतम्,** अनुभवव्यवहारप्रातिकूल्येन कल्पनाया अन्याय्यत्वात् । निगमयति - **एवञ्चेति** । प्रलापत्वमेव समर्थयति - **असत्कल्पनायां** = एकान्ततोऽसत्त्वेनाभिमतविषयिण्यां ख्यातौ, **अपि प्रसिद्धानामेव खण्डानां** = खण्डशः प्रसिद्धानामेव, न त्वप्रसिद्धानां, **मिथोऽन्यथासंसृष्टानां** = परस्परमन्यप्रकारेणाऽवस्थितानां सतामन्यप्रकारैः सम्बद्धत्वेन, **भानाभ्युपगमात्** । शशशृङ्गादि-राजपुरुषादिस्थले इयांस्तु विशेषः, एकत्राऽखण्डत्वेनाऽप्रसिद्धानां खण्डशः प्रसिद्ध्यैव निषेधधीव्यवहारविषयत्वम्, अन्यत्र चाखण्डत्वेन प्रसिद्धिमुपागतानामेवाऽखण्डत्वेन विधिप्रतिषेधधीव्यवहारविषयत्वमिति ।

का विस्तार अन्यत्र प्राप्य है । इसीलिए कवि हर्ष की खंडनखंडखाद्य ग्रंथ में यह पंक्ति कि —> 'अर्थ = विषय अत्यंत = सर्वथा असत् = तुच्छ होने पर भी शब्द तो ज्ञान को उत्पन्न करता ही है । हाँ, वहाँ कोई बाध न हो तो स्वतः प्रामाण्य से पुष्ट प्रमा को ही शब्द उत्पन्न करता है' <— भी निरस्त हो जाती है, क्योंकि योग्यताज्ञान शाब्दबोध का कारण है और योग्यता का अर्थ है बाधाभाव । अतः बाधाभावज्ञान होने पर ही शब्द से शाब्दबोध का जन्म हो सकता है। विषय को सर्वथा तुच्छ मानने पर तो बाधज्ञान हो जाने से शाब्दबोध का ही उदय न हो सकेगा। इसलिए इस विषय में तो मौन का ही आलम्बन करना चाहिए । कहा भी गया है कि 'उस विषय में बुद्धिशाली को मूकता ही मुनासिब है' । इसीलिए तो सर्वथा असत् का न तो विधान हो सकता है और न तो निषेध । यहाँ यह शंका हो कि —> ''सर्वथा तुच्छ वस्तु विधिव्यवहार का भाजन = विषय नहीं बनती है - यह तो ठीक है, क्योंकि 'शशशृङ्ग है' ऐसा शाब्दिक विधानात्मक व्यवहार नहीं होता है । मगर 'निषेधव्यवहार का भाजन = विषय सर्वथा तुच्छ नहीं बनता है' यह नहीं मान्य हो सकता, क्योंकि 'शशशृङ्गं नास्ति' ऐसा प्रत्युत्तर, 'शशशृङ्गमस्ति न वा ?' यह प्रश्न उपस्थित होने पर, देना ही पडता है । अतः सर्वथा तुच्छ विषय में भी निषेधव्यवहार की भाजनता = विषयता माननी चाहिए'' <— तो यह इसलिए निराधार हो जाती है कि - 'शशशृङ्गं नास्ति', 'शशशृङ्गं न सत्' इत्यादि निषेधव्यवहारजन्य बुद्धि अखण्ड शशशृङ्ग को निषेध का विषय नहीं करती है किन्तु शृङ्ग में शशीयत्व = शशसमवाय के निषेध = अभाव को अपना विषय बनाती है । इसलिए —> 'असत्ख्याति का अनङ्गीकार श्रेयस्कर नहीं है' <— ऐसा असत्ख्यातिवादियों (बौद्धों) का कथन प्रलापमात्र है, क्योंकि असत्कल्पना = असद्विषयक बुद्धि में भी खण्डशः प्रसिद्ध विषयों का ही अन्यथा भान माना गया है । 'इदं रजतं' बुद्धि भी हट्टस्थ रजत

'धर्म्येव सन् धर्मास्तु परिकल्पिता' इति चेत् ? तर्हि 'धर्मा एव सन्तो, धर्मी तु परिकल्पित' इति विपरीतमेव किं न रोचये: ? किञ्चैवं क्षणस्थितिधर्मकत्वेऽपि निमज्जति वस्तुनो नीरूपाख्यत्वापत्त्या क्षणिकत्वसिद्धान्तहानेः किं न बिभेषि ?

स्यादेतत् - 'धर्मधर्मिणावेव धर्मधर्मिभावो न तु कश्चिदतिरिक्त इति 'घटो नीलो', 'नीलघटौ' इति प्रतीतेरविशेषापातात् तद्विशिष्टबुद्धावतिरिक्तसमवायभानमावश्यकमिति स

❀ जयलता ❀

ततश्चासत्ख्यातिरपि वस्तुगत्या न सर्वथाऽसत्ख्यातिरपि तु कथञ्चिदसत्ख्यातिः स्याद्वाद्यभिमताऽन्यथाख्यातिपर्यवसितैव मिथ्येति तात्पर्यार्थः सूक्ष्मेक्षिकया भावनीयः ।

पुनः बौद्धः शङ्कते —> **धर्म्येव सन् धर्मास्तु परिकल्पिता** इति धर्मधर्मिभावस्य काल्पनिकत्वमेव, कल्पितघटितस्याऽकल्पितत्वाऽयोगात् **इति चेत् ? तर्हि** धर्मधर्मिभावस्य सांवृतिकत्वसाधनार्थं **'धर्मा एव सन्तो, धर्मी तु परिकल्पित'** इति **विपरीतमेव किं न रोचये: ?** एकान्तद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयानुसारिणावुभावपि पक्षौ मिथ्यैव तु ध्येयम् । **किञ्च,** एवं क्षणिकत्वव्यतिरिक्तधर्माः कल्पिता आहोस्वित् सर्वे एव ? इति पक्षाभयी परिपीडयितुं परिस्फुरति। तत्र नाद्योऽनवद्यः, क्षणिकत्ववत् तदतिरिक्तधर्माणामपि वास्तवत्वप्रसङ्गात्, धर्मत्वाऽविशेषात् । अतः कोशपानप्रत्यायनीयोऽयमाद्यः पक्षः। द्वितीयपक्षे आह - **क्षणस्थितिधर्मकत्वेऽपि निमज्जति** = विलीयमाने सति क्षणिकत्ववत् सर्वेषु तदितरेषु धर्मेषु निवर्तमानेषु सत्सु **वस्तुनो निरुपाख्यत्वापत्त्या** = निःस्वभावत्वापत्त्या **क्षणिकत्वसिद्धान्तहानेः** सौगतसुत ! **किं न बिभेषि ?**

साम्प्रतं नैयायिकः प्रत्यवतिष्ठते - **स्यादेतदिति । धर्म-धर्मिणौ एव धर्मधर्मिभावः** लाघवात्, **न तु कश्चित् अतिरिक्तः** = धर्मधर्मिव्यतिरिक्त इत्यभ्युपगमे **'घटो नीलः' 'नीलघटौ' इति प्रतीतेः,** जातिविवक्षयैकवचनमन्यथा द्विवचनमेवाऽत्र साधु. **अविशेषापातात्** धर्मधर्मिणोरेव तत्र भानात्, तदन्यस्य कस्यचिदभानात् । उभयत्र द्वयोरवगाहनेऽपि प्रथमैव वैशिष्ट्यावगाहिनी, न त्वपरा । **तत्** = तस्मात् दर्शितप्रतीत्योः साम्यप्रसङ्गात्, तन्निराकरणाय **विशिष्टबुद्धौ अतिरिक्तसमवायभानं** = धर्मधर्मिव्यतिरिक्तसमवायसम्बन्धावगाहनं, **आवश्यकं इति** अवश्यक्लृप्तत्वात् **सः** = समवाय एव **धर्मधर्मिभावः** यः 'घटो नील' इति विशिष्टबुद्धौ प्रतीयत इति तत्र धर्मधर्मिभावावगाहनं 'नील-घटौ' इत्याद्यविशिष्टप्रतीतौ च न ज्ञायत इति तत्र न

में रहे हुए रजतत्व का पुरोवर्ती शुक्तिपदार्थ में संसृष्टत्व = सम्बद्धत्वरूप से अवगाहन करती है, न कि सर्वथा तुच्छ पदार्थ का । अतः असत्ख्याति के स्थान में अन्यथाख्याति अभिषिक्त होती है - यह सिद्ध हुआ ।

❀ धर्मधर्मिभावविचार में बौद्धमतखण्डन ❀

धर्म्ये. । **यहाँ यह कहना भी योग्य नहीं है कि —> 'धर्मी ही सत् है,** धर्म तो परिकल्पित ही है', **<— क्योंकि विनिगमक न होने की वजह 'धर्म ही वास्तविक है, धर्मी तो कल्पित है' यह भी कहा जा सकता है । अतः यही आपको क्यों पसंद नहीं आया ? इस प्रश्न का आपके पास कोई प्रत्युत्तर नहीं होगा । इसके अतिरिक्त यह भी ध्यातव्य है कि - यदि सब धर्मों को सर्वथा काल्पनिक माने जाय और धर्मी को ही वास्तविक माना जाय तब तो आप क्षणिकवादी के सिद्धान्तानुसार सब धर्मी में रहनेवाला क्षणस्थितिधर्मकत्व = क्षणिकत्व भी काल्पनिक हो जायेगा । अतः 'सर्वं क्षणिकं' यह सिद्धान्त भी भग्न हो जायेगा । तथा क्षणिकत्व की भाँति कोई भी धर्म आपके इस सिद्धान्तानुसार धर्मी में न रह सकेगा, तब तो धर्मी निरुपाख्य = अनिर्वचनीय बन जायेगा तब 'क्षणिकं सर्वं' ऐसा निर्वचन भी कैसे हो सकेगा ? आपको इस नवीन कल्पना के अनुसार तो क्षणिकत्वसिद्धान्त भी पलायन हो जाता है । क्या आपको इसका कोई खौफ नहीं है ?**

❀ धर्मधर्मिभावमीमांसान्तर्गत नैयायिकदर्शननिराकरण ❀

स्यादेतत. । **धर्मधर्मिभाव को अतिरिक्त मानने पर गौरव दोष प्रसक्त होने की वजह धर्मी और धर्म ही धर्मधर्मिभाव है, न कि उनसे अतिरिक्त - ऐसा माना जाय तब तो 'घटो नीलः' और 'नीलघटौ' ये दोनों ही प्रतीति समान बनने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि धर्म और धर्मी से अतिरिक्त अन्य किसीका वहाँ भान नहीं होता है । मगर उक्त दो प्रतीति समान नहीं मानी जाती हैं । प्रथम प्रतीति में धर्मिविधया केवल एक का ही भान होता है, जब कि दूसरी प्रतीति में धर्मिविधया दो व्यक्तियों का भान होता है । इसलिए उक्त प्रतीति में भेद की उपपत्ति के लिए धर्म और धर्मी से अतिरिक्त**

एव धर्मधर्मिभावः। तथा च धर्मधर्मिणोर्भेद एव युज्यते इति।' मैवम्, 'नीलघटसमवाया' इतिबुद्धेस्तथाऽप्यविशेषस्योक्तत्वात्, विवक्षाभेदेनैव तद्भेदात्।

स्यादेतत् – 'सामान्यविशेषयोरपि मिथः कथञ्चित्तादात्म्यात्मोदकाऽभिन्नसामान्याभिन्न-विशेषात्मकं विषमपि मोदक एव स्यात् मोदको वा विषाऽभिन्नसामान्याऽभिन्नविशेषात्मा

❀ जयलता ❀

धर्मधर्मिभावावगाहनम्। समवायश्चाऽयुतसिद्धभावेष्वेव। तथा च धर्म-धर्मिणोः भेद एव = केवलं भेदो **युज्यते** इति नैयायिकाशयः।

नन्निराकुरुते - **मैवम्। 'नील-घट-समवाया' इति बुद्धेः तथापि** = समवायावगाहनेऽपि, **अविशेषस्य** = धर्मधर्मिभावानवगाहनस्य, **उक्तत्वात्**। 'केवलं भेदेऽभेदे वा धर्म-धर्मिभावस्य वैशिष्ट्यनियामकस्य चानङ्गीकारे कथं विशिष्टाविशिष्ट-बुद्ध्योर्विशेषः ?' इत्याशङ्कायामाह - **विवक्षाभेदेनैव तद्भेदात्** = विशिष्टाऽविशिष्टबुद्ध्योः विशेषात्, प्रयोगस्य विवक्षाधीनत्वात्। उक्तञ्च च **वाचकमुख्यः** 'अर्पितानर्पितसिद्धेः' (त.सू. ५/३१) इति। समवायानवगाहनेऽपि तथाविधविवक्षायां सत्यां धर्मधर्मिभावभानं, यथा 'घटवद् भूतलमि'त्यादौ। समवायावगाहनेऽपि तथाविधविवक्षायामसत्यां न धर्मधर्मिभावभानं यथा 'घट-घटत्व-समवाया' इत्यादौ। ततश्चान्वयव्यतिरेकाभ्यां विवक्षाविशेषस्यैव धर्मधर्मिभावनियामकत्वं, न तु समवायस्य, प्रोक्तान्वय-व्यतिरेकव्यभिचाराभ्याम्। **एतेन** धर्मधर्मिणोः केवलं भेद इति **प्रत्युक्तम्**, समवायस्याऽसिद्धेश्च। तादृशविवक्षा च समीचीना ग्राह्या, न तु मिथ्या। ततो नातिप्रसङ्गः इति भावनीयम्।

अभिनिविष्टो मत्सरी परः शङ्कते - **स्यादेतदिति। सामान्यविशेषयोरपि** स्याद्वादे **मिथःकथञ्चित्तादात्म्यात्** = स्यादभेदात्, **मोदकाभिन्नसामान्याऽभिन्नविशेषात्मकं** = मोदकादभिन्नं यत्सामान्यं तद्यथा मोदके वर्तते तथैव विषेऽपि वर्तते तदभिन्नो यो विशेषः तत्स्वरूपं, **विषमपि मोदक एव स्यात्**। प्रयोगस्त्वेवं विषं मोदकात्मकं तदभिन्नाभिन्नात्मकत्वात्, मोदकस्वरूपवत्। तुल्ययुक्त्या व्यत्यासेन **मोदको वा विषाभिन्नसामान्याभिन्नविशेषात्मा** = विषाभिन्नं यत्सामान्यं तद्यथा

धर्मधर्मिभाव का स्वीकार आवश्यक है, जो विशिष्टबुद्धिस्थल में क्लृप्त समवायात्मक ही होगा। समवाय सम्बन्ध सर्वथा भिन्न अयुतसिद्ध पदार्थ में ही होता है। अतः धर्म और धर्मी में केवल भेद ही होगा, न कि अभेद या भेदाभेद <— ऐसा नैयायिक मनीषियों का वक्तव्य है।

मैवं.। **मगर यह कथन भी असंगत है, क्योंकि 'नीलघटसमवायाः' यह प्रतीति विशिष्टविषयक न होने पर भी समवाय का अवगाहन करती है। अतः समवाय को विशिष्टप्रतीति का नियामक नहीं माना जा सकता - यह तो पहले ही (देखिये प्रथम खंड पृष्ठ ४९) कहा गया है। समवाय का अवगाहन करती हुई बुद्धि भी वैशिष्ट्य अवगाही नहीं होने से समवाय को विशिष्टविषयक बुद्धि नियामक न मान कर विवक्षाविशेष को ही उसका नियामक मानना उचित महसूस होता है। जहाँ वैसी विवक्षा होगी वहाँ विशिष्टविषयकत्व रहेगा, चाहे उस प्रतीति के विषय में समवाय का भान हो या न हो, जैसे 'घटवत् भूतलम्' यह विशिष्ट बुद्धि। जहाँ वैसी विवक्षा न होगी वहाँ विशिष्टविषयकत्व न रहेगा, भले ही वह प्रतीति समवाय को अपना विषय बनाती हो, जैसे 'घट-घटत्व-समवायाः' ऐसी परस्पर विशेषणविशेष्यभावानापन्न अविशिष्टविषयक बुद्धि। अतः विशिष्टप्रतीति के नियामकविधया समवाय का स्वीकार श्रेयस्कर नहीं है। अतएव धर्म और धर्मी में सर्वथा भेद मानना भी असंगत ही है, यह ध्वनित होता है।**

❈ अत्यन्तभिन्न पदार्थों में अनुगत एक सामान्य नहीं है ❈

स्यादे.। **यहाँ यह शंका हो सकती है कि —> स्याद्वादियों के मत में तो सामान्य और विशेष कथंचित् अभिन्न होते हैं। अतः मोदक भी विष बन जायेगा और विष भी लड्डु बन जायेगा। वह इस तरह - सामान्य जैसे मोदक में रहता है ठीक वैसे ही विष में भी रहता है, इसलिए मोदकाभिन्न जैसे मोदकवृत्ति सामान्य है ठीक वैसे ही विषवृत्ति सामान्य भी बन जायगा। उससे अभिन्न विषवृत्ति विशेष, जो विषात्मक है, बन जायगा। अतः मोदक में विषात्मकता प्रसक्त होगी। इसी तरह विष भी मोदकात्मक बन जायगा। देखिये, सामान्य जैसे विष में रहता है ठीक वैसे ही मोदक में भी रहता है। इसलिये विषाभिन्न जैसे विषवृत्ति सामान्य है ठीक वैसे ही मोदकवृत्ति सामान्य भी बन जायगा। उससे अभिन्न मोदकवृत्ति**

विषमेव स्यात् । तथा च प्रतिनियतप्रवृत्तिनियमोच्छेदप्रसङ्ग इति,' मैवम्, मोदकविषसाधारणैकसामान्यानभ्युपगमात् । एवञ्च मोदकविशेषा एव मोदकसामान्याभिन्ना इति न विषं विषतां जह्यान्न वा मोदकतामनुभवेत् । विषविशेषा एव च विषसामान्याऽभिन्ना इति न मोदकाः मोदकतां जह्युः विषात्मकतां वाऽनुभवेयुः । वस्तुनः समानः परिणामो हि सामान्यमसमानश्च विशेषः । न च विषमोदकयोः समानः परिणामः, अत्यन्तभिन्ने तदभावात् । असमानस्तु भवत्येव, तद्भिन्नमात्रनिरूप्यत्वात्तस्येति ।

❀ जयलता ❀

विषे वर्तते तथैव मोदकेऽपि वर्तते तदभिन्नो यो विशेषः तदात्मकः. **विषमेव स्यात्** । प्रयोगस्त्वेवं मोदको विषात्मकः तदभिन्नाभिन्नात्मकत्वात्, विषस्वरूपवत् । ततः किं ? इत्याशङ्कायामाह - **तथा च** = विषस्य मोदकात्मकत्वे मोदकस्य च विषात्मकत्वे, **प्रतिनियतप्रवृत्तिनियमोच्छेदप्रसङ्गः** = विषार्थिनो मोदके मोदकार्थिनश्च विषे प्रवृत्त्यापातेन --> मोदकार्थिनो मोदक एव प्रवृत्तिः न तु विषे, विषार्थिनो विष एव प्रवृत्तिः न तु मोदके <-- इति प्रतिनियतप्रवृत्तिनियमनं न स्यादिति न सामान्यविशेषयोः कथञ्चिद्भेदो युक्त इति पराभिप्रायः ।

तन्निरस्यति - **मैवमिति । मोदकविषसाधारणैकसामान्याऽनभ्युपगमादिति** । इदमत्राकूतम् स्याद्वादे सर्वे पदार्थाः सामान्यविशेषोभयात्मकाः परं एकपदप्रवृत्तिनिमित्तं यावत्सु तावत्सु यदेकं सामान्यं तत् नान्यपदप्रवृत्तिनिमित्तवत्स्वपरेष्वपि वर्तते किन्तु तदन्यदेव । ततश्च मोदकपदप्रयोगप्रवृत्तिनिमित्तवत्सु यावत्सु यदेकं सामान्यं वर्तते तत्र मोदकपदप्रवृत्तिनिमित्तविकलेषु विषादिपदप्रवृत्तिनिमित्तवत्सु वर्तते किन्त्वन्यदेव । यच्च तत्र वृत्ति तन्न मोदकवृत्ति । घटकुम्भादिपदप्रवृत्तिनिमित्तं त्वभिन्नमेवेति न कोऽपि दोषः । **एवञ्च** व्यवस्थिते **मोदकविशेषा एव मोदकसामान्याभिन्ना न** तु विषविशेषा अपि, **इति** हेतोः **न विषं विषतां जह्यात् न वा मोदकतामनुभवेत्**, मोदकसामान्याभिन्नविशेषानात्मकत्वात् । तथा **विषविशेषा एव च विषसामान्याभिन्ना** न तु मोदकविशेषा अपि, **इति** हेतोः **न मोदका मोदकतां जह्युः, विषात्मकतां वाऽनुभवेयुः**, विषसामान्याभिन्नविशेषानात्मकत्वात् । 'कथं मोदकविषसाधारणैकसामान्यानभ्युपगमः स्याद्वादिनां ?' इत्याशङ्कामपाकर्तुं स्वयमेवोपक्रमते - **वस्तुनः समानो हि परिणामः सामान्यमसमानश्च विशेष इति । न च विषमोदकयोः समानः परिणामः** सम्भवति, व्यवहारतोऽपेक्षाविशेषाद् वा **अत्यन्तभिन्ने तदभावात्** = समानपरिणामविरहात् । तर्हि कथञ्चिद्भिन्ने विशेषोऽपि न स्यादित्याशङ्कायामाह - **असमानस्तु** परिणामः तत्र **भवत्येव तद्भिन्नमात्रनिरूप्यत्वात्** = तद्भिन्नत्वावच्छिन्ननिरूप्यत्वात् **तस्य** = असमानत्वस्य, न तु अत्यन्तभिन्ननिरूप्यत्वं तस्य, सङ्कोचे मानाभावात्, निरूपकतावच्छेदकगौरवाच्च । ततश्च मोदकयोरपि परस्परमसमानपरिणामरूपविशेषोऽनपाय

विशेष, जो मोदकात्मक (= मोदकाभिन्न) है, बन जायगा । अतः विष में मोदकात्मकता की आपत्ति आएगी ।

इस तरह मोदक में विषात्मकता एवं विष में मोदकात्मकता आने पर मोदक की मोदकता चली जायेगी और विष की विषात्मकता पलायन हो जायेगी । तब तो विषार्थी की मोदक में प्रवृत्ति होगी और मोदकार्थी की विष में । अतः मोदकार्थी की मोदक में ही प्रवृत्ति और विषार्थी की विष में ही प्रवृत्ति होने का जो नियम है वही लुप्त हो जायेगा । इस तरह प्रतिनियत प्रवृत्ति के नियमन के उच्छेद की आपत्ति स्याद्वाद में बाधक होती है' <--

मैवं । मगर यह शंका इसलिए निरस्त हो जाती है कि स्याद्वादी ने विष और मोदक में अनुगत एक सामान्य का स्वीकार किया नहीं है । मोदक में जो सामान्य है वह विष में नहीं है और विष में जो सामान्य है वह मोदक में नहीं है । अतः मोदकविशेष ही मोदकसामान्य से अभिन्न होगा, न कि विषविशेष भी । अतः मोदक में विषात्मकता की प्राप्ति और मोदकात्मकता का परित्याग नामुमकिन है । इस तरह विषविशेष ही विषसामान्य से अभिन्न होगा, न कि मोदकविशेष भी । अतः विष में मोदकात्मकता की आपत्ति को और विषात्मकता के त्याग को अवकाश नहीं है । मतलब यह है कि वस्तु का समान परिणाम ही सामान्य है और असमान परिणाम ही विशेष है । मोदक और विष में तो कोई समान परिणाम है ही नहीं, क्योंकि अत्यन्त भिन्न पदार्थों में समान परिणाम होता नहीं है । मोदक जीवनदाता है और विष है प्राणनाशक । अतः वे परस्पर अत्यन्त भिन्न ही हैं । इस विषय में तो कोई विवाद ही नहीं है । अतः मोदक और विष में साधारण एक सामान्य नहीं होता है । यहाँ यह शंका हो कि --> 'यदि अत्यन्त भिन्न पदार्थ में सामान्य अनुगत नहीं होता है तब तो विशेष अत्यन्त भिन्न पदार्थ में ही रह सकेगा, न कि कथंचित् भिन्न में । अतः एक मोदक की अपेक्षा

नव्यानुयायिनस्तु - इष्टसाधनताज्ञानप्रवृत्त्योः समानप्रकारकत्वेनैव कार्यकारणभावान्न प्रागुक्तः प्रवृत्त्यनियमः । तेन द्रव्यत्वादिसामान्यस्य विषमोदकोभयसाधारण्येऽपि न क्षतिरित्याहुः ।

स्यादेतत् - अमृत्स्वभावेभ्यो व्यावृत्तिरेव मृत्सामान्यं, न तु समानः परिणाम इति ।

❀ जयलता ❀

एवेति । सामान्यविशेषगोचरविचारविशेषः सङ्क्षेपेण प्राक् प्रदर्शित एवेति नेह तन्यते । एतद्विस्तरस्तु **स्याद्वादरत्नाकरा**दितोऽवसेयः ।

नव्यानुयायिन इति आहुरित्यनेनान्वेति । तुः पूर्वोक्तापेक्षया विशेषद्योतनार्थः । तमेवाविष्करोति - **इष्टसाधनताज्ञान-प्रवृत्त्योः समानप्रकारकत्वेनैव कार्यकारणभावा**दिति । यद्धर्मावच्छिन्ने यदर्थिप्रवृत्तिः तद्धर्मावच्छिन्ने तत्प्रकारकत्वेन ज्ञानस्य हेतुत्वादित्यर्थः । मोदकत्वप्रकारकप्रवृत्तिं प्रत्येव विषत्वप्रकारकेष्टसाधनताज्ञानस्य हेतुत्वं न तु विषत्वप्रकारकप्रवृत्तिं प्रत्यपि । एवं विषत्वप्रकारकप्रवृत्तिं प्रत्येव विषत्वप्रकारकेष्टसाधनताज्ञानस्य हेतुत्वमिति **न प्रागुक्तः प्रवृत्त्यनियमः । तेन** = समानप्रकारकत्वेन तयोर्जन्यजनकभावस्वीकारेण, न क्षतिरित्यनेनास्यान्वयः । **द्रव्यत्वादिसामान्यस्य विषमोदकोभयसाधारण्येऽपि** विषमोदकयोः तत्प्रयुक्तेतरेतरात्मकत्वोद्भावनेऽपि **न क्षतिः**; विषे मोदकत्वप्रकारकेष्टसाधनताज्ञानविरहात्, मोदके च विषत्वप्रकारकेष्टसाधन-ताज्ञानविरहान्न मोदकार्थिनो विषे न वा विषार्थिनो मोदके प्रवृत्तिप्रसङ्ग इत्यत्र तात्पर्यम् ।

बौद्धः शङ्कते - **स्यादेतदिति - अमृत्स्वभावेभ्यः** घटादिभ्यः **व्यावृत्तिरेव मृत्सामान्यं** = मृद्वृत्तिसामान्यं, **न तु** तदन्यः

अन्य मोदक में असमानपरिणामात्मक विशेष न रह सकेगा' <— तो यह भी अनुचित है, क्योंकि अत्यन्त भिन्न पदार्थों से ही असमानता निरूपित होती है-ऐसा नहीं है किन्तु भिन्न = अपने से भिन्न पदार्थ से निरूपित होती है । मतलब कि भेदसामान्य की अपेक्षा ही वस्तु में विशेष = असमान परिणाम होता है, न कि भेदविशेष की अपेक्षा । एक मोदक का अन्य मोदक में अवयव आदि की अपेक्षा भेद तो है ही । अतएव अन्यमोदकनिरूपित असमानता विवक्षित मोदक में रहेगी । इसलिए एक मोदक में मोदकान्तर की अपेक्षा भी असमानपरिणामात्मक विशेष ठीक वैसे रहता है जैसे कि विष की अपेक्षा । इस तरह कोई दोष सावकाश नहीं होने से सामान्य और विशेष में कथञ्चित् तादात्म्य माना जा सकता है - यह स्याद्वादियों का आशय है ।

❀ प्रतिनियतप्रवृत्तिनियमभंग के उच्छेद का परिहार - नव्यमत से ❀

नव्या. । प्रतिनियत प्रवृत्ति के नियम के उच्छेद के परिहारार्थ नव्यों के अनुयायिओं का यह कथन है कि -> 'इष्टसाधनता का ज्ञान और प्रवृत्ति के बीच समानप्रकारकत्वरूप से कार्यकारणभाव होता है । यद्धर्मप्रकारक इष्टसाधनताज्ञान होता है उससे तद्धर्मप्रकारक ही प्रवृत्ति होती है, न कि अन्यधर्मप्रकारक । जैसे दण्डत्वेन दण्ड में इष्टघटसाधनताज्ञान होने पर दण्डत्वरूप से ही दण्ड में प्रवृत्ति होती है, न कि द्रव्यत्वादिरूप से । इसी तरह मोदक में मोदकत्वरूप से इष्टसाधनताज्ञान होने की वजह मोदकत्व के आश्रय में ही मोदकत्वप्रकारक प्रवृत्ति होगी, न कि विष में, क्योंकि विष कथंचित् मोदकाभिन्न होने पर भी मोदकत्व धर्म से शून्य है । एवं विषत्वरूप से इष्टसाधनताज्ञान होने पर विषत्व के आश्रय में ही विषत्वप्रकारक प्रवृत्ति होगी; न कि मोदक में, क्योंकि मोदक कथंचित् विषाभिन्न होने पर भी विषत्व से रहित है । इस तरह मोदकार्थी की विष में और विषार्थी के मोदक में प्रवृत्ति का कोई प्रसंग न होने की वजह मोदकार्थी की मोदक में और विषार्थी की विष में ही प्रवृत्ति होगी । अतः प्रतिनियत प्रवृत्ति के अनियम का कोई अवकाश नहीं है । अतएव यहाँ यह कहा जाय कि —> 'विष और मोदक परस्पर अत्यन्त भिन्न होते हुए भी द्रव्यत्व आदि धर्म तो उनमें अनुगत ही है । अतः मोदकाभिन्न द्रव्यत्वसामान्य जैसे मोदकवृत्ति है वैसे विषवृत्ति भी बन जायगा । उससे अभिन्न विषवृत्ति विशेष, जो विषाभिन्न है, बन जायगा। जिससे मोदक विषात्मक हो जायेगा । एवं विष भी मोदकात्मक हो जायेगा' <— तो भी प्रवृत्ति के नियमन के उच्छेद को कोई अवकाश नहीं होगा, क्योंकि मोदक विषात्मक बनने पर भी मोदकार्थी का इष्टसाधनताज्ञान मोदकत्वप्रकारक होने से मोदकत्वप्रकारक ही प्रवृत्ति होगी न कि विषत्वप्रकारक भी, क्योंकि विषत्वप्रकारकप्रवृत्ति मोदकत्वप्रकारक-इष्टसाधनताज्ञान की कार्यता के अवच्छेदक धर्म से रहित है । एवं विषत्वप्रकारक इष्टसाधनताज्ञान से मोदक में प्रवृत्ति की भी आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि मोदकत्वप्रकारक प्रवृत्ति उसकी कार्यता के अवच्छेदक से शून्य है' <— ।

❀ अतद्व्यावृत्ति सामान्य नहीं है ❀

स्यादे० । यहाँ बौद्ध मनीषियों का यह वक्तव्य है कि —> 'सामान्य समान परिणामात्मक नहीं है, क्योंकि सर्व

नैवम् मृदोऽमृत्स्वभावेभ्य इव मृत्स्वभावेभ्योऽपि व्यावृत्तत्वात् सङ्कीर्णोभयसामान्यस्वभावतापत्तेः । तथा च मृद् मृदिवाऽमृदपि स्यात्, अमृदेव वा मृदपि न स्यात् ।

अथ मृदि अमृत्स्वभावकूटव्यावृत्तिरिव मृत्स्वभावकूटव्यावृत्तेरभावान्नोक्तदोष इति चेत् ? तथापि मृत्समानपरिणाम एवाऽमृत्स्वभावकूटव्यावृत्तिरित्येव किं न रोचयेः ? तथा चाऽत्यन्ताऽ-

❋ जयलता ❋

समानः परिणामः सर्वेषामेव स्वलक्षणत्वात्, 'सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणं' इति वचनादिति **चेत् ? नैवम्**, बौद्धनये **मृदः** = विवक्षितमृद्द्रव्यस्य, **अमृत्स्वभावेभ्यः** पटादिभ्यः **इव मृत्स्वभावेभ्यः** = विवक्षितमृदन्यमृत्स्वभावेभ्यः अन्यमृद्द्रव्येभ्यः **अपि व्यावृत्तत्वात् सङ्कीर्णोभयसामान्य-स्वभावतापत्तेः** = सङ्कीर्णमृत्पटाद्युभयसामान्यात्मकत्वप्रसङ्गात् । यथा अमृत्स्वभावव्यावृत्तिः मृत्सामान्यं तथा मृत्स्वभावव्यावृत्तिरिव पटादिसामान्यं, मृत्स्वभावानामन्यद्रव्याणामपटात्मकत्वात् । **तथा च** मृदि अमृत्स्वभावव्यावृत्ति-स्वरूपमृत्सामान्यस्य मृत्स्वभावव्यावृत्तिलक्षणपटादिसामान्यस्य च सत्त्वात्, **मृद् मृदिवाऽमृदपि** = पटाद्यात्मिकाऽपि **स्यात्**, **अमृदेव** = पटादिवत् वा **मृदपि न स्यात्** । अमृत्स्वभावव्यावृत्तिलक्षणमृत्सामान्यस्य सत्त्वात् तत् मृद्द्रव्यं भवति तथैवापटादि-स्वरूपमृत्स्वभावव्यावृत्तिलक्षणपटादिसामान्यस्य सत्त्वात् तत् पटादिस्वरूपमपि स्यात्, यद्वा अपटादिस्वरूपमृत्स्वभावव्यावृत्तिलक्षणस्य पटादिसामान्यस्य सत्त्वेऽपि तत्र पटादिस्वरूपममृद्द्रव्यं भवति तद्वदेव अमृत्स्वभावव्यावृत्त्यात्मकस्य मृत्सामान्यस्य सत्त्वेऽपि तत् मृद्द्रव्यात्मकमपि न स्यात्, अन्यथा पक्षपातमात्रादिति तात्पर्यम् ।

बौद्धः स्वाशयं प्रकटयति- **अथे**ति चेदित्यनेनाऽस्यान्वयः । **मृदि** = विवक्षितमृद्द्रव्ये, **अमृत्स्वभावकूटव्यावृत्तिरिव** मृत्स्वभावकूटव्यावृत्तिर्न वर्तते, तत्र स्वेतरसकलमृत्स्वभावद्रव्यव्यावृत्तेः सत्त्वेऽपि स्वात्मकमृत्स्वभावाद् व्यावृत्तेः विरहात् । न हि स्वमेव स्वस्माद्भिन्नं भवति । तत्राऽमृत्स्वभावकूटव्यावृत्तेरसत्त्वात्तस्य मृदात्मकत्वमेव, न तु पटाद्यात्मकत्वं; अपटाद्यात्मक-मृत्स्वभावकूटव्यावृत्तेरसत्त्वात् । इत्थञ्च विवक्षितमृद्द्रव्ये **मृत्स्वभावकूटव्यावृत्तेरभावात् न उक्तदोषः** = सङ्कीर्णोभयसामान्यस्वभाव-तापत्तिलक्षणो दोष इति सौगतसुताशयः ।

अभ्युपगमवादेन प्रकरणकारः समाधत्ते - **तथापि** = अमृत्स्वभावकूटव्यावृत्तेः मृत्सामान्यत्वाभ्युपगमेऽपि, **मृत्समानपरिणामः** = सकलमृत्साधारणपरिणामः **एव अमृत्स्वभावकूटव्यावृत्तिः** न तु तुच्छैकस्वरूपा **इत्येव किं न रोचयेः** ? घट एव कम्बुग्रीवाद्याकारवत्त्वेन प्रतीतिविषयीभवन् सन् अन्यानपि तदाकारभृतः पदार्थान् घटरूपतया घटशब्दवाच्यतया प्रत्याययतीत्येव स्वरस-वाहिलोकानुभवो न तु अघटकूटव्यावृत्तिमत्त्वेन स प्रतीतिविषयीभवन् सन् अन्यानपि अघटकूटव्यावृत्तिमन्तः पदार्थान् घटात्मकतया घटशब्दवाच्यतया प्रत्याययतीत्येवम्रूपः । विवक्षितावयवजन्यत्वादिलक्षणाऽसमानपरिणामेनैव घटः स्वेतरेभ्यः सजातीयविजातीयेभ्य

पदार्थ विलक्षण ही होते हैं । अतः अतद्व्यावृत्ति ही सामान्य है । जैसे अमृत्स्वभाववाले पदार्थों की व्यावृत्ति ही मृत्सामान्य है, न कि सकल मिट्टी में अनुगत ऐसा समान परिणाम' <— मगर यह बौद्धकथन भी असंगत है । इसका कारण यह है कि जैसे मिट्टी अमृत्स्वभाववाले पट, मठ आदि पदार्थों से व्यावृत्त होती है ठीक वैसे ही अन्य मृत्स्वभाववाली मिट्टिओं से भी व्यावृत्त होती है । अतः विवक्षित मिट्टी में अमृत्स्वभाववाले पदार्थों की व्यावृत्ति की भाँति अन्यमृत्स्वभाववाले पदार्थों की व्यावृत्ति भी रह जाने से मिट्टी में मृत्सामान्य की तरह अमृत्सामान्य भी रहने लगेगा । अमृत्स्वभाववाले पदार्थों की व्यावृत्ति ही मृत्सामान्य है और अपटादिस्वरूप मृत्स्वभाववाले पदार्थों की व्यावृत्ति ही तो अमृत्सामान्य = पटादिसामान्य है । अतः एक ही विवक्षित मिट्टीद्रव्य में मृत्सामान्य और अमृत्सामान्य उभयस्वभाव की प्राप्ति होगी । तब तो मिट्टी जैसे मृत्सामान्य का आश्रय होने से मिट्टीस्वरूप है ठीक वैसे ही अमृत्सामान्य का आश्रय होने की वजह मिट्टीभिन्नद्रव्यात्मक भी बन जायेगी अथवा यह आपादन भी किया जा सकता है कि अमृत्सामान्य का आश्रय होने पर भी वह मिट्टीभिन्नद्रव्यात्मक नहीं है ठीक वैसे ही मृत्सामान्य का आश्रय होने पर भी वह मिट्टीद्रव्यस्वरूप नहीं हो सकेगी । अतः अमृत्स्वभाववाले द्रव्यों की व्यावृत्ति को मृत्सामान्य नहीं माना जा सकता किन्तु सकल मिट्टी में अनुगत समान परिणाम को ही मृत्सामान्य कहना संगत है।

❋ अमृत्स्वभावकूटव्यावृत्ति मृत्समानपरिणामात्मक ही है ❋

अथ. । यहाँ बौद्ध की ओर से बचाव के लिए यह कहा जा सकता है कि —> 'मिट्टी में अमृत्स्वभाववाले सब द्रव्यों की व्यावृत्ति रहती है । अतः मिट्टी में मृत्सामान्य माना जा सकता है । मगर अमृत्सामान्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि विवक्षित मिट्टीद्रव्य में अन्य मृत्स्वभाववाले मिट्टी द्रव्यों की व्यावृत्ति होने पर भी अपनी व्यावृत्ति नहीं होने की वजह

सङ्कीर्णस्वभावसामान्यविशेषोभयात्मकं वस्तु स्वसंवेद्यसंवेदनसिद्धमपि कः कुधीरपह्नुवीत ? संवेद्यते हि स्थास-कोश-कुशूलादिषु सर्वत्राऽनुगतो मृदन्वयः प्रतिविशेषं च पर्यायव्यावृत्तिरिति ।

अथैवं सर्वत्राऽन्वितमृदः सकाशादूर्ध्वतामृदोऽप्यत्यन्तभिन्नत्वाऽभावात्तस्या अप्यन्वयापत्तिः । तथा च स्थासादिमृत्स्वपि घटादिव्यवहारापत्तिरिति चेत् ? न, येन रूपेण समानता तेन रूपेणाऽन्वयस्वीकारात् । 'मृत्सामान्यमेव मृदो विशेष' इत्यपि न वाच्यम्, तावताऽमृदो

❀ जयलता ❀

आत्मानं व्यावर्तयतीत्यपि प्रतीतिसिद्धमेव । स चाऽसमानपरिणामोऽपि न समानपरिणामाभावस्वरूपः तुच्छः किन्तु भावान्तरात्मक एव । तथा **चात्यन्तासङ्कीर्णस्वभावसामान्यविशेषोभयात्मकं वस्तु** प्रदर्शितरीत्या **स्वसंवेद्यसंवेदनसिद्धमपि कः कुधीः** = मत्सरी **अपह्नुवीत** ? स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः कां दिशमाश्रयतु कान्दिशीकः शुद्धोदनितनयः ? **संवेद्यते हि स्थासकोशकुशूलादिषु सर्वत्रानुगतः मृदन्वयः** = मृदनुवृत्तिः **प्रतिविशेषं** च पाटलिपुत्रकत्व-कान्यकुब्जत्वाद्यालिङ्गितेषु घटेषु **पर्यायव्यावृत्तिः अपि** इति । तथा चोक्तं ग्रन्थकृद्भिरेव **अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकायां** 'स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपाः । परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद् द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥४॥' इति ।

अथ एवं = समानपरिणामस्यैव सामान्यत्वोपगमे, **सर्वत्र** = पाटलिपुत्रीय-कान्यकुब्जीय-वासन्तिक-शैशिर-श्यामरक्तादिघटेषु **अन्वितमृदः** = तिर्यग्मृद्व्यक्तेः **सकाशात्** स्थास-कोश-कुशूलाद्यनुगताया **ऊर्ध्वतामृदः अपि अत्यन्तभिन्नत्वाभावात्** = सर्वथाभेदविरहात्, **तस्याः** – तिर्यग्मृदः **अपि** स्थास-कोश-कुशूलादिषु **अन्वयापत्तिः**, पूर्वं 'अत्यन्तभिन्ने तदभावादि'त्येवोक्तत्वात् न तु 'भिन्ने तदभावादि'ति, अन्यथा वासन्तिकशैशिरादिघटेष्वपि तदभावप्रसङ्गात् । स्थासादिषु तिर्यग्मृदोऽन्वयापादनेन किमन्यदापादनीयं ? इत्याशङ्कायामाह - **तथा च स्थासादिमृत्स्वपि घटादिव्यवहारापत्तिः**, रक्तश्यामघटादिद्रव्यात्मकमृत्सु घटादिव्यवहारवदित्याशयः ।

तन्निराकुरुते - **नेति** । **येन** मृत्त्वादिना **रूपेण समानता** = सादृश्यं **तेन** मृत्त्वादिनैव **अन्वयस्वीकारात्** । ततश्च श्याम-रक्तादिघट स्थास-कोश-कुशूलादिषु मृत्त्वेनैव सादृश्यात्तेनैवान्वयात् सर्वत्र तेषु 'इयं मृदियं मृदि'त्येवं व्यवहारस्तु स्यादेव । श्यामरक्तादिघटानां स्थास-कोशादिषु घटत्वेन समानताया विरहान्न स्थासादिषु घटव्यवहारप्रसङ्गः । श्यामरक्तादिघटेषु घटत्वेन समानतायाः सत्त्वात् तत्रैव घटव्यवहार इति समाधानाशयः ।

मृत्सामान्यमेव स्वाश्रयमितरेभ्यो व्यावर्तयत् लाघवात् **मृदो विशेषः** न तु तदतिरिक्त **इत्यपि न वाच्यम्, तावता**

मृत्स्वभाववाले सब मिट्टी द्रव्यों की व्यावृत्ति रहती नहीं है । मृत्स्वभाववाले सब द्रव्यों की व्यावृत्ति विवक्षित मिट्टीद्रव्य में न होने पर अमृत्सामान्य वहाँ कैसे माना जा सकता ? अतः संकीर्ण उभय स्वभाव की आपत्ति को अवकाश नहीं है' <— मगर यह भी इसलिए निराधार हो जाता है कि - अमृत्स्वभावकूटव्यावृत्ति को अत्यन्त तुच्छ मानने की अपेक्षा उसे सकल मिट्टी में अनुगत समान परिणामात्मक मानना ही मुनासिब है । इस तरह विशेष भी असमान परिणामात्मक ही है । अतः अत्यन्त असङ्कीर्ण स्वभाववाले सामान्य और विशेष उभयात्मक ही वस्तु का, जो अपने से संवेद्य अनुभव से ही सिद्ध है, कौन दुष्टबुद्धिवाला अपलाप कर सकता है ? सब लोगों को स्थास, कोश, कुशूल आदि अवस्थावाले सब द्रव्य में अनुगत मिट्टी द्रव्य का अनुभव एवं प्रत्येक विशेष घट यानी रक्त घट, श्याम घट आदि में पर्याय की व्यावृत्ति का भी अनुभव होता ही है । क्या रक्त घट और श्याम घट में कुछ भी भेद (=व्यावृत्ति) का अनुभव नहीं होता है? अतः प्रत्येक वस्तु को सामान्य-विशेषोभयात्मक मानना ही समुचित है ।

◙ स्थास, कोश आदि में घटव्यवहारापत्ति का निरास ◙

अथैवं । यहाँ यह आपादन किया जाय कि —> 'रक्त, श्याम आदि सब घट में मिट्टी का अन्वय आप स्याद्वादी मानते हैं । एवं स्थास, कोश आदि पूर्वापरकालीन अवस्थावाले एक ही द्रव्य में ऊर्ध्वतासामान्यात्मक मिट्टी अनुगत होती है - ऐसा भी आप मानते हैं । तब तो ऊर्ध्वतासामान्यात्मक मिट्टीद्रव्य में रक्त, श्याम आदि घट में अनुगत तिर्यक्सामान्यात्मक मिट्टी का अन्वय होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि उनमें परस्पर अत्यन्तभिन्नत्व नहीं है । इसके फल में जैसे रक्त, श्याम आदि घट में घटव्यवहार होता है ठीक वैसे ही स्थास, कोश आदि में भी घटव्यवहार होने लगेगा, क्योंकि अनुगत मिट्टीद्रव्य तो उभयत्र समान ही है <— तो यह भी असंगत है, क्योंकि अनेक पदार्थों में जिस रूप से समानता होती है उसी रूप

व्यावृत्तावपि मिथो मृद्व्यावृत्त्यसिद्धेः ।

स्यादेतत् - वस्तुनः सामान्यविशेषोभयात्मकत्वे दर्शनं सामान्यमिव विशेषमपि गृह्णीयात्, ज्ञानं वा विशेषमिव सामान्यमपि गृह्णीयात्, सामग्रीसत्त्वादिति चेत् ? गृह्णतः किं ग्रहणापादनम् ? जीवस्वाभाव्यात्तु दर्शनं विशेषान् ज्ञानञ्च सामान्यमुपसर्जनीकृत्य गृह्णातीति विशेषः ।

❋ जयलता ❋

लाघवसहकृताभ्युपगमेन **अमृदः** सकाशात् मृदो व्यावृत्तौ सम्भाव्यमानायां **अपि मिथो मृद्व्यावृत्त्यसिद्धेः** = मृदः सकाशात् मृदो व्यावर्तनाऽसम्भवात्, तत्र मृदि मृत्सामान्यस्यैव सत्त्वात्, तदतिरिक्तस्य च मृद्विशेषस्य भवता अनभ्युपगमात् । ततश्च विवक्षितमृदः सकाशाद् मृदन्तरव्यावृत्त्यन्यथानुपपत्तेः मृत्सामान्यव्यतिरिक्तो भावात्मक एव मृदो विशेष इति स्वीकर्तव्यम् ।

ज्ञानदर्शनयोरभेदं दूषयितुमुपक्षिपति - **स्यादेतदिति** । प्रदर्शितरीत्या **वस्तुनः सामान्य-विशेषोभयात्मकत्वे** स्याद्वाद्यभिमतं दर्शनावरणविलयजन्यं **दर्शनं सामान्यमिव विशेषमपि गृह्णीयात्,** वस्त्वंशत्वाऽविशेषात् दर्शनं यथा सामान्यं गृह्णाति तथैव विशेषमपि विषयीकुर्यात् । कल्पान्तरमाह - **ज्ञानं वा** ज्ञानावरणविलयजन्यं **विशेषमिव सामान्यमपि गृह्णीयात्, सामग्रीसत्त्वात्** ज्ञानं यथा विशेषांशं गोचरीकुरुते तथैव सामान्यांशमप्यवगाहेत । ततश्च ज्ञानमेव दर्शनं दर्शनमेव वा ज्ञानं स्यात्र त्वतिरिक्तमित्य-आपादनतात्पर्यम् ।

तदपहस्तयति - **गृह्णत एव** = उभयं विषयीकुर्वत एव ज्ञानस्य दर्शनस्य वा **किं ग्रहणापादनं** = उभयग्रहणविषयकं आपादनं क्रियते ? अभ्युपगतस्यापादनाऽयोगात्, आपादनेऽपीष्टत्वात् । ननु गृह्णतः प्राधान्येन सामान्यविषयकस्य दर्शनस्य प्राधान्येन विशेषविषयकत्वमापाद्यते प्राधान्येन विशेषविषयकस्य च ज्ञानस्य प्राधान्येन सामान्यविषयकत्वमापाद्यत इत्याशङ्कायामाह **जीवस्वाभाव्यात्तु** प्राधान्येन सामान्यगोचरं **दर्शनं विशेषान् उपसर्जनीकृत्य गृह्णाति** प्राधान्येन विशेषविषयं **ज्ञानञ्च सामान्य-मुपसर्जनीकृत्य गृह्णाति इति विशेषः** । न च स्वभावे पर्यनुयोगो युज्यते 'अग्निर्दहति किं नाकाशं ?' इत्यत्राऽपि तदनिवृत्तेः । **एतेन** दर्शनं सामान्यगोचरं ज्ञानञ्च विशेषविषयमिति प्रवादोऽपि **व्याख्यातः** । तदुक्तं **स्याद्वादमंजर्यां** 'य एव ह्यभ्यन्तरीकृत-समतालक्षधर्मा विषमताविशिष्टा ज्ञानेन गम्यन्तेऽर्थाः त एव हि अभ्यन्तरीकृतविषमताधर्माः समताधर्मविशिष्टाः दर्शनेन गम्यन्ते, जीवस्वाभाव्यात् । सामान्यप्रधानमुपसर्जनीकृतविशेषमर्थग्रहणं दर्शनमुच्यते, तथा विशेषप्रधानमुपसर्जनीकृतं च ज्ञानमिति (स्या. म.श्लो-१ पृ. १५) ।

से अन्वय होता है, न कि अन्य रूप से भी- ऐसा हम स्याद्वादी मानते हैं । रक्त, श्याम आदि घट में घटत्व धर्म की अपेक्षा समानता होने की वजह उसमें घटव्यवहार हो सकता है, मगर स्थास, कोश आदि में घटत्व की अपेक्षा समानता नहीं होने की वजह घटव्यवहार नहीं हो सकता है । हाँ, मिट्टीव्यवहार यानी मिट्टीशब्द का प्रयोग उनमें जरूर हो सकता है, क्योंकि उनमें मृत्त्वरूप से समानता होती है । यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि मृत्सामान्य को ही मृद्द्रव्य का विशेष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैसा मानने पर मिट्टी द्रव्य से भिन्न पट आदि में मृत्सामान्य नहीं होने की वजह अमृद्द्रव्य से मिट्टीद्रव्य की व्यावृत्ति मुमकिन होने पर भी अन्य सजातीय मिट्टीद्रव्य से विवक्षित मिट्टीद्रव्य की व्यावृत्ति सिद्ध नहीं हो सकेगी, क्योंकि अन्य सजातीय मिट्टीद्रव्य में भी मृत्सामान्य रहता ही है । अतः मृद्विशेष को मृत्सामान्य से अतिरिक्त मानना ही मुनासिब है ।

❦ दर्शन और ज्ञान में उपसर्जनभाव से विषयप्राधान्यनियमन ❦

स्यादे० । यहाँ यह शंका हो सकती है कि —> 'यदि वस्तुमात्र सामान्य-विशेषउभयात्मक है तब तो दर्शन सामान्य की भाँति विशेष का भी ग्रहण करेगा और ज्ञान विशेष की भाँति सामान्य का भी ग्रहण करेगा, क्योंकि तद्ग्राहक सामग्री तो वहाँ रहती है' <— मगर यह निराधार होने का कारण यह है कि सामान्य के ग्राहक दर्शन और विशेष के ग्राहक ज्ञान में भी उभयग्राहकता तो हम मानते ही हैं । अतः जो हमें अभिमत है, उसका आपादन तो इष्ट आपादन ही होगा, न कि अनिष्ट आपादन । अतः उपर्युक्त आपादन तथ्यहीन है । हाँ, इतनी विशेषता उभयग्राहक ज्ञान और दर्शन में जरूर है कि तथाविध जीवस्वभाव से दर्शन विशेष को गौण कर के ग्रहण करता है = अपना विषय बनाता है, जब कि ज्ञान सामान्य को गौण कर के ग्रहण करता है। सामान्य को प्राधान्येन और विशेष को उपसर्जनत्वेन = गौण रूप से ग्रहण करने की वजह 'दर्शन सामान्यग्राहक है' ऐसा प्रवाद प्रसिद्ध है । एवं 'ज्ञान विशेषग्राहक है' ऐसी प्रसिद्धि होने का कारण

केचित्तु - उन्मिलितस्वग्राहकनयविषयत्वं मुख्यत्वं, तद्विपरीतत्वमुपसर्जनत्वम् । न च विशेषग्राहकनयोन्मिलनेनाऽपि कुतो न दर्शनोदय इति वाच्यम्, जीवस्वाभाव्यादेव व्यवस्थोपपत्तेः । न चैवं प्रमाणज्ञानेऽपि युगपदुभयनयोन्मिलनेन प्रवृत्ते दर्शनलक्षणगमनं, मुख्यतः सामान्यमात्रग्राहकत्वस्यैव तल्लक्षणत्वादित्याहुः ।

❀ जयलता ❀

अवग्रहस्याऽप्रमात्वेन तथाविधवैशद्यानवगाहित्वेन वैशद्यस्य काल्पनिकत्वापत्तेः । एवञ्च स्वविषयेऽसता वैशद्यलक्षणोपसर्जनत्वेन स्वविषयावगाहनाज्ज्ञानदर्शनयोरप्रामाण्यापत्तिः, अवग्रहस्याऽप्रमाणत्वापत्तौ तदवस्थाविशेषाणामीहादीनामप्यप्रामाण्यप्रसङ्गस्य न्यायप्राप्तत्वात् । अतो विषयतासम्बन्धेन विषयनिष्ठं वैशद्यं नोपसर्जनत्वं भवितुमर्हतीत्यभिप्रायः ।

अत्र केषाञ्चिन्मतं दूषयितुमुपन्यस्यति - केचित्त्विति, आहुरित्यनेनान्वेति । **उन्मिलितस्वग्राहकनयविषयत्वं मुख्यत्वं तद्विपरीतत्वं** = अनुन्मिलितस्वग्राहकनयविषयत्वं **उपसर्जनत्वम्** । नयनिष्ठं उन्मिलितत्वञ्च स्वविषयग्रहणप्रवणत्वरूपं, ग्रहणप्रवृत्तत्वलक्षणं, प्रकटीभूतत्वरूपं वा ग्राह्यम् । ज्ञानविषये विशेषे दर्शनविषयीभूते च सामान्ये एव उन्मिलितो यः स्वग्राहको नयः अभिप्रायविशेषस्वरूपः तद्विषयत्वलक्षणं मुख्यत्वं वर्तते एव । एवं ज्ञानगोचरीभूते सामान्ये दर्शनगोचरे विशेषे चानुन्मिलितो यः स्वग्राहको नयः तद्विषयत्वलक्षणमुपसर्जनत्वं वर्तते एव । अतो नाऽव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवसम्भवः । **न च** यथा सामान्यग्राहकनयोन्मिलनेन दर्शनोदयो भवति तथैव **विशेषग्राहकनयोन्मिलनेनाऽपि** = विशेषांशगोचरज्ञानजनकनयप्रकटनेऽपि, कुतो हेतोः **न दर्शनोदयः** भवति ? तत्सामग्रीसत्त्वादिति **वाच्यम्, जीवस्वाभाव्यादेव व्यवस्थोपपत्तेः** । जीवस्य तथाभूत एव स्वभावविशेषो यदुत सामान्यग्राहकनयप्रादुर्भावे एव दर्शनमेवोपजायते विशेषग्राहकनयस्फुरणे चैव ज्ञानमेव प्रादुर्भवति । **एतेन** सामान्यग्राहकनयोन्मिलनेनाऽपि कुतो न ज्ञानोत्पाद इति **समाहितम्**, सामान्यबोधसत्त्वेऽपि विशेषबोधानुदयस्याऽऽनुभविकत्वेन तस्य तदपेक्षकत्वाऽयोगात् । **न च एवं** = उन्मिलितस्वग्राहकनयविषयत्वस्य मुख्यत्वे, **प्रमाणज्ञानेऽपि** हेतुगर्भं विशेषणमाह - **युगपदुभयनयोन्मिलनेन प्रवृत्ते** = युगपत्सामान्यविशेषग्राहकनयाविर्भावप्रवृत्तत्वेन **दर्शनलक्षणगमनं** = दर्शनलक्षणातिव्याप्तिः स्यात्, यथोन्मिलितविशेषग्राहकनयविषयत्वाश्रयविषयकत्वेन प्रमाणस्य ज्ञानत्वं तथोन्मिलितसामान्यग्राहकनयविषयत्वशालिविषयकत्वेन तस्य दर्शनत्वमपि स्यादेवेति **वाच्यम्, मुख्यतः** = उन्मिलितस्वग्राहकनयविषयत्वेन **सामान्यमात्रग्राहकत्वस्यैव** = केवलं सामान्यं अवगाहमानत्वस्य एव, **तल्लक्षणत्वात्** = दर्शनलक्षणत्वात्, मात्रपदेन मुख्यत्वेन सामान्यग्राहकत्वं न दर्शनलक्षणमिति

उपसर्जनत्व नहीं हो सकता, क्योंकि अवग्रहविषयीभूत सामान्य में तथाविध वैलक्षण्य का दर्शन = उपलब्धि नहीं होने से वह उपसर्जनत्ववाला नहीं हो सकेगा । वहाँ तो कल्पनामात्र का हि वैशद्य विषय बनेगा । मतलब कि तादृश वैशद्य वहाँ कल्पित ही होगा, न कि वास्तविक । काल्पनिक वैशद्य से अवग्रहविषयीभूत सामान्य में वास्तविक उपसर्जनत्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी । फलतः उस सामान्य में अविद्यमान उपसर्जनत्वरूप से उसका अवगाहन करने से अवग्रह ज्ञान भ्रमात्मक हो जायेगा । अतः वैशद्य को भी उपसर्जनत्व नहीं कहा जा सकता ।

❀ उन्मिलितस्वग्राहकनयविषयत्व मुख्यत्व नहीं हो सकता ❀

केचित्तु. । अन्य कुछ विद्वानों का यह वक्तव्य है कि 'सामान्य और विशेष में रहनेवाला मुख्यत्व उन्मिलित = प्रकट ऐसे स्वग्राहक नय की विषयतास्वरूप है और उपसर्जनत्व अनुन्मिलित ऐसे स्वग्राहक नय की विषयतात्मक है । दर्शन के विषयभूत सामान्य में प्रकट ऐसे सामान्यग्राहक नयविशेष की विषयतारूप मुख्यत्व होता है और विशेष में अप्रकट ऐसे विशेषग्राहक नयविशेष की विषयतारूप उपसर्जनत्व रहता है । इसी तरह ज्ञान के विषयभूत विशेष अंश में जो उन्मिलित ऐसे विशेषग्राहक नयविशेष की विषयता रहती है वही तन्निष्ठ मुख्यत्व है और ज्ञान के विषयभूत सामान्य अंश में जो अनुन्मिलित ऐसे सामान्यग्राहक नयविशेष की विषयता रहती है वही तन्निष्ठ उपसर्जनत्व है । यहाँ ऐसा प्रश्न हो कि —> 'विशेषग्राहक = विशेषांशविषयक ज्ञान के जनक नयविशेष का प्राकट्य होने पर ज्ञान की भाँति दर्शन का उदय क्यों नहीं होता है ?' <— तो इसका समाधान यह है कि जीव का स्वभाव ही ऐसा है कि उन्मिलितविशेषग्राहक नय के समय ज्ञान का ही उदय और उन्मिलितसामान्यग्राहक नय के समय दर्शन का ही उदय हो । जीव का यह स्वभाव ही ज्ञान, दर्शन के उदय और अनुदय का व्यवस्थापक है । यहाँ ऐसी शङ्का हो कि —> 'एक साथ में सामान्यग्राहक एवं विशेषग्राहक नय का प्राकट्य होने पर प्रमाणात्मक ज्ञान प्रवृत्त होता है, तब उसमें दर्शन के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह उन्मिलित सामान्यग्राहक है ही' <— तो

*तच्चिन्त्यं, **एवं सति केवलज्ञानदर्शनयोः सामान्यविशेषयोरुपसर्जनाऽनुपसर्जनत्वानुपपत्त्या तत्र ज्ञानदर्शनलक्षणाऽव्याप्तेः । न हि केवलिनां संवेदने क्रमैकतरप्रवृत्तिनियामके नयोन्मिलनानुन्मिलने सम्भवतः, अभिप्रायविशेषरूपस्य नयस्य छद्मस्थज्ञान एवोपयुक्तत्वात् ।***

❀ जयलता ❀

लभ्यते । प्रमाणज्ञाने तु मुख्यत्वेन विशेषग्राहकत्वस्याऽपि सत्त्वात्र मुख्यत्वेन सामान्यमात्रग्राहकत्वस्वरूपं दर्शनलक्षणं वर्तत इति न दर्शनलक्षणातिव्याप्तिः । यद्वा विशेषग्राहकनयानुन्मिलनप्रवृत्तबोधत्वं दर्शनलक्षणं विशेषग्राहकनयोन्मिलनप्रवृत्तबोधत्वं ज्ञानलक्षणं, तेन न मानदर्शनविशेषगौरवम् ।

समालोचयति **तच्चिन्त्यमिति** । छाद्मस्थिकज्ञानदर्शनापेक्षया प्रकृतलक्षणयोः समीचीनत्वेऽप्यव्यापकत्वाच्चिन्त्यत्वबीजमाविष्करोति - **एवं सति** = उन्मिलितस्वग्राहकनयविषयत्वस्य मुख्यत्वं तद्विपरीतत्वस्य चोपसर्जनत्वमित्येवमभ्युपगमे सति, **केवलज्ञानदर्शनयोः सामान्यविशेषयोः** = केवलज्ञानदर्शनविषयीभूतसामान्यविशेषांशयोः, **उपसर्जनानुपसर्जनत्वानुपपत्त्या तत्र** = केवलज्ञानदर्शनयोः, **ज्ञानदर्शनलक्षणाऽव्याप्तेः** । केवलज्ञानविषयीभूतविशेषे उन्मिलितस्वग्राहकनयविषयत्वलक्षणमुख्यत्वस्य केवलज्ञानविषयीभूतसामान्ये चानुन्मिलितस्वग्राहकनयविषयत्वस्वरूपोपसर्जनत्वस्याऽसत्त्वात् विशेषग्राहकनयोन्मिलनप्रवृत्तबोधत्वरूपस्य सामान्यग्राहकनयानुन्मिलन-प्रवृत्तबोधत्वस्वरूपस्य वा ज्ञानलक्षणस्य केवलज्ञानेऽव्याप्तिः । एवं केवलदर्शनगोचरीभूते सामान्ये उन्मिलितस्वग्राहकनयविषय-त्वात्मकमुख्यत्वस्य विशेषे चानुन्मिलितस्वग्राहकनयविषयत्वस्वरूपोपसर्जनत्वस्य विरहात् विशेषग्राहकनयानुन्मिलनप्रवृत्तबोधत्वात्मकस्य सामान्यग्राहकनयोन्मिलनप्रवृत्तबोधत्वस्वरूपस्य वा दर्शनलक्षणस्य केवलदर्शनेऽव्याप्तिः । तामेव स्पष्टयति **न हि केवलिनां संवेदने क्रमैकतरप्रवृत्तिनियामके नयोन्मिलनानुन्मिलने सम्भवतः, अभिप्रायविशेषरूपस्य नयस्य छद्मस्थज्ञान एवोपयुक्तत्वा-दिति** । नयोन्मिलनं तदनुन्मिलनञ्च क्रमेण ज्ञानदर्शनान्यतरप्रवृत्तिं व्यवस्थापयतः । परन्तु नयस्याभिप्रायविशेषरूपत्वेनाऽसर्वज्ञबोध

यह असंगत है, क्योंकि दर्शन का लक्षण केवल इतना ही नहीं है कि मुख्यतः सामान्यग्राहकबोधत्व किन्तु मुख्यतः सामान्यमात्र का ग्राहक बोधत्व ही दर्शन का लक्षण है । प्रमाण तो सामान्य और विशेष दोनों का प्राधान्येन ग्राहक है, न कि प्राधान्येन सामान्यमात्र का । अतः प्रमाण में दर्शन के लक्षण की अतिव्याप्ति को अवकाश नहीं है' <— ।

तच्चिन्त्यम्. । मगर यह वक्तव्य भी आँखें मूँद कर बिना सोच समझ के उपादेय नहीं है, किन्तु विचारणीय है । इसका कारण यह है कि उसको मान्य करने पर केवलज्ञान में ज्ञान के लक्षण की एवं केवलदर्शन में दर्शन के लक्षण की अव्याप्ति आयेगी। वह इस तरह-केवलज्ञान विशेष का अनुपसर्जनत्व से और सामान्य का उपसर्जनत्वेन ग्रहण करता है । फिर भी केवलज्ञानविषयीभूत विशेष में उन्मिलितविशेषग्राहकनयविषयता नहीं होने से तत्स्वरूप मुख्यत्व नहीं है । एवं केवलज्ञान-विषयीभूत सामान्य में अनुन्मिलितसामान्यग्राहक नय की विषयता नहीं होने से तत्स्वरूप उपसर्जनत्व नहीं है । जब कि केवलज्ञान-विषयीभूत सामान्य और विशेष में क्रमशः उपसर्जनत्व और अनुपसर्जनत्व ही नहीं है तब उपसर्जनत्वेन सामान्यग्राहकत्व एवं अनुपसर्जनत्वेन विशेषग्राहकत्वस्वरूप ज्ञान का लक्षण ही कैसे रहेगा ? अतः केवलज्ञान में ज्ञानलक्षण की अव्याप्ति आयेगी। इस तरह केवलदर्शन के विषयभूत सामान्य में उन्मिलितसामान्यग्राहक नय की विषयतास्वरूप मुख्यत्व एवं केवलदर्शन के विषयभूत विशेष में अनुन्मिलित विशेषग्राहक नय की विषयतात्मक उपसर्जनत्व नहीं होने की वजह प्राधान्येन सामान्यमात्रग्राहकत्वस्वरूप दर्शनलक्षण ही नहीं रहेगा । अतः केवलदर्शन में भी दर्शन के लक्षण की अव्याप्ति आयेगी । यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि —> 'केवलज्ञानविषयीभूत विशेष और केवलदर्शनविषयीभूत सामान्य में उन्मिलित स्वग्राहकनय विषयता एवं केवलज्ञान-विषयीभूत सामान्य और केवलदर्शन विषयीभूत विशेष में अनुन्मिलितस्वग्राहकनयविषयता क्यों रहती नहीं है ?' <— इसका कारण यह है कि क्रमिक ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति के नियामक नय के उन्मिलन और अनुन्मिलन केवलिसंवेदन में नहीं होते हैं.। नय तो अभिप्रायविशेषात्मक है । अतएव छद्मस्थों के ज्ञान में ही दृष्टिकोणविशेषात्मक नय का उपयोग होता है, केवली के ज्ञान में नहीं । अतः नय के उन्मिलन और अनुन्मिलन से घटित अनुपसर्जनत्व और उपसर्जनत्व; केवलज्ञानदर्शन के विषयभूत सामान्यविशेष में नामुमकिन होने से तद्घटित ज्ञानदर्शन के लक्षण भी केवल ज्ञान और केवल दर्शन में संगत नहीं हो सकेंगे । अतः उपसर्जनत्व और अनुपसर्जनत्व की तादृश व्याख्या समीचीन नहीं है - यह फलित होता है । अन्य रीति से भी उपसर्जनत्व और अनुपसर्जनत्व की निरुक्ति नहीं हो सकती है - यह हम अभी विवेचन कर आये हैं । अतः उपसर्जनत्वेन सामान्यग्राहक को ज्ञान कहना और उपसर्जनत्वेन विशेष के ग्राहक को दर्शन कहना भी असंगत है ।

अत्राहुः - आभिमुख्येन ग्रहणं मुख्यत्वं तद्विपरीतत्वमुपसर्जनत्वम् । विषयप्रतिनियमस्तु स्वभावादेव, सामान्योपयुक्तो हि जीवः पश्यति विशेषोपयुक्तस्तु संवित्ते इति । यद्यप्युपलिप्सो- राभोगकरणमुपयोगः इति केवलिनां तदसम्भवः तथापि चिन्तानिरोधाभावेऽपि कर्मदहन- सामान्याद्यथा तेषां निश्चलता ध्यानमित्युच्यते तथा तेषामाभोगकरणमुपलिप्सां विनाऽपि

❀ जयलता ❀

प्रत्येकमुपयोगित्वं न तु केवलिबोधं प्रत्यपि । अत एव नयोन्मिलनानुन्मिलनघटिते ज्ञानदर्शनलक्षणे केवलज्ञानदर्शनयोः क्रमेण न सम्भवतः । उभयत्रोपसर्जनत्वानुपसर्जनत्वं दुर्वचं इति पूर्वपक्षाशयः ।

उत्तरपक्षयति - **अत्राहुरिति । आभिमुख्येन** = अभिमुखत्वेन **ग्रहणं** – बोधविषयत्वं **मुख्यत्वं, तद्विपरीतं** = अनभि- मुखत्वेन बोधविषयत्वं **उपसर्जनत्वम्** । तथापि दर्शनोदये मुख्यत्वेन विशेषग्रहणं कुतो न ? इत्याशङ्कायामाह - **विषयप्रतिनियमस्तु स्वभावादेव** = जीवस्वभावविशेषादेव, प्राधान्येन **सामान्योपयुक्तो हि जीवः पश्यति** = दर्शनवानित्यभिधीयते, प्राधान्येन **विशेषोपयुक्तस्तु संवित्ते** = ज्ञानवानित्यभिधीयते । इयांस्तु विशेषः केवली प्रथमं संवित्ते ततः पश्यति, छद्मस्थजीवश्च प्रथमं पश्यति ततो जानाति, तथास्वभावादेव । उपसर्जनानुपसर्जनत्वयोः प्रकृतलक्षणे नयोन्मिलनाऽनुन्मिलनाघटितत्वेन केवलिछद्मस्थो- भयज्ञानदर्शनविषयनिष्ठे इति न क्वाऽपि ज्ञानदर्शनलक्षणाऽव्याप्तिः मुख्यत्वेन विशेषग्राहकत्वस्य ज्ञानलक्षणत्वात् उपसर्जनत्वेन विशेषग्राहकत्वस्यैव दर्शनलक्षणत्वात् । **एतेन** युगपन्मुख्यत्वेन सामान्यविशेषग्राहके प्रमाणज्ञाने दर्शनलक्षणाऽतिव्याप्तिरपि **प्रत्युक्ता**, उपसर्जनत्वेन विशेषग्राहकत्वविरहात् । एवञ्च मात्रपदानिवेशेन लाघवमपि । **अत एव मुख्यतः** सामान्यमात्रग्राहकत्वमेव दर्शनलक्षणमित्यपि **प्रत्युक्तम्**, मुख्यत्वेन सामान्यग्राहकत्वे सति तदितराऽग्राहकत्वापेक्षयाऽस्य तस्य गुरुत्वात् ।

यद्यपि उपलिप्सोः = बुभुत्सोः **आभोगकरणमुपयोग इति वादिदेवसूरिवचनात् केवलिनां** उपलिप्सारहितत्वेन **तदसम्भवः** – उपलिप्साप्रयुक्ताऽऽभोगकरणलक्षणोपयोगाऽसम्भवः **तथापि चिन्तानिरोधाभावेऽपि कर्मदहनसामान्यात्** उपलक्षणात् पूर्वप्रयोगादितः **यथा तेषां** = भवस्थकेवलिनां **निश्चलता** = कायसुनिश्चलत्वं **ध्यानमित्युच्यते** । तदुक्तं **श्रीजिनभद्रगणिभिः ध्यानशतके** 'जह छउमत्थस्स मणो झाणं भण्णइ सुनिच्चलो संतो । तह केवलिणो काओ, सुनिच्चलो भण्णए झाणं ।। पुव्वप्पओ- गओ च्चिय, कम्मविणिज्जरणहेउतो यावि । सद्दत्थबहुत्ताओ, तह जिणचंदागमाओ य ।। चित्ताभावेवि सया सुहुमोवरयकिरियाइ भण्णंति । जीवोवओगसब्भावओ, भवत्थस्स झाणाइं ।।८४-८५-८६।। सोपयोगित्वात् **श्रीमाणिक्यशेखरसूरिकृतव्याख्या प्रदर्श्यते** । तदुक्तम**वश्यकदीपिकायां** 'यथा सुनिश्चलं मनः छद्मस्थस्य ध्यानं तथा केवलिनः सुनिश्चलकायो ध्यानं भण्यते, तुर्ये तु ध्याने रुद्धत्वात्काययोगोऽपि नास्ति ।।८४।। तत्र नु ध्यानत्वमेव काययोगनिरोधियोगिनोऽयोगिनो वा चित्ताभावेऽपि सति

उपसर्जनत्व का सम्यग् निर्वचन

उत्तरपक्ष :- अत्राहुः । वस्तुतः मुख्यत्व का लक्षण है अभिमुखतया बोध की विषयता और उपसर्जनत्व का लक्षण है अनभिमुखतया बोध की विषयता । आभिमुख्येन ज्ञान की विषयता विशेष में रहने से ज्ञान की अपेक्षा विशेष में अनुपसर्जनत्व रहेगा और सामान्य में अनभिमुखत्वेन ज्ञान की विषयता रहने की वजह ज्ञान की अपेक्षा सामान्य में उपसर्जनत्व रहेगा। एवं अभिमुखत्वेन दर्शन की विषयता सामान्य में रहने से दर्शन की अपेक्षा सामान्य में अनुपसर्जनत्व रहेगा और विशेष में अनभिमुखत्वेन दर्शनात्मक बोध की विषयता रहने से दर्शन की अपेक्षा विशेष में उपसर्जनत्व रहेगा । यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि —> 'ज्ञान का उदय होने पर सामान्य में क्यों प्राधान्येन ज्ञानात्मक बोध की विषयता होती नहीं है ? एवं दर्शन का उदय होने पर विशेष में प्राधान्य से दर्शनात्मक बोध की विषयता क्यों नहीं होती है ?' <— इसका कारण यह है कि जीव का स्वभावविशेष ही प्रतिनियत विषय के नियम का नियामक है । प्रधानतया सामान्य में उपयुक्त जीव दर्शनवाला कहा जाता है एवं मुख्यत्वेन विशेष में उपयुक्त जीव ज्ञानवाला कहा जाता है । अलबत्त, उपयोग का लक्षण है उपलिप्सु = जिज्ञासु का आभोगकरण । अतएव केवली के ज्ञान एवं दर्शन में उपयोग का लक्षण ही नहीं घटेगा, क्योंकि केवली उपलिप्सा = जिज्ञासा से रहित होने से जिज्ञासाप्रयुक्त आभोगक्रियात्मक केवलज्ञान या केवलदर्शन होता नहीं है । फिर भी केवली में उपलिप्सा = जिज्ञासा के बिना हि आभोगक्रिया उपयोगविधया अभिमत है, क्योंकि वह बोध सामान्यात्मक है । यह ठीक उसी तरह संगत होता है जैसे केवली में चिन्तानिरोधस्वरूप ध्यान नहीं होने पर भी केवलिकाया की निश्चलता ही ध्यानविधया शास्त्रकारों को अभिमत है, क्योंकि ध्यान का कर्मनिर्जरास्वरूप कार्य तो तादृशशरीरस्थिरता से भी होता ही है । अतः उपलिप्सा

संवित्तिसामान्यादुपयोग इत्युच्यत इति न कोऽपि दोषः । अत एव ग्रहणपरिणामस्योपयोगप्रतिपाद्यताऽविशेषतः तत्र तत्र सङ्गच्छते ।

ननु तथापि वस्त्वनभिलाप्यमेवेत्येकान्तः कान्तः, शब्दात् स्वलक्षणप्रतिपत्त्यभावात्, शब्दार्थयोर्वास्तविकसम्बन्धाभावाद् विकल्पजननेनैव शब्दस्य कृतार्थत्वात् । अत एव शशविषाणपदादपि वैकल्पिकार्थप्रतिपत्तिर्निराबाधा । न हि शशविषाणादिपदमबोधकमेव,

जयलता

सूक्ष्मोपरतक्रिये ध्यानभेदौ भण्येते, पूर्वप्रयोगादिति हेतुः, चक्रभ्रमवदिति दृष्टान्तोऽभ्यूह्यः, यथा चक्रं भ्रमहेतुदण्डादिक्रियाऽभावेऽपि पूर्वप्रयोगाद् भ्रमति तथाऽस्य द्रव्यमनोयोगापरमेऽप्यात्मोपयोगसद्भावात् भावमनोभावाद्भवस्थध्याने इति । अपि निर्णये हेत्वन्तरमप्याह- 'कम्मवि' यथा क्षपकश्रेणौ कर्मनिर्जराभावात् ध्यानं तथाऽत्रापि । 'सद्दत्थ' ध्यानशब्दस्याऽर्थबहुत्वात्, यथा हरिशब्दोऽनेकार्थः तथा ध्यानशब्दोऽपि, 'ध्यै चिन्तायां', 'ध्यै कायनिरोधे अयोगित्वे' इत्यपि । तथा जिनचन्द्रागमाज्जिनोक्तत्वादित्यर्थः । जीवोपयोगसद्भावतः सदेहजीवज्ञानभावाद्भवस्थस्य ध्यानं स्तः ॥८५-८६॥ (आ.दी.पृ.५६) **तथा तेषां** = केवलिनां **आभोगकरणं उपलिप्सां विनाऽपि संवित्तिसामान्यात्** = बोधसामान्यत्वात्, **उपयोग इत्युच्यते इति न कोऽपि दोषः** उपलिप्सायाः छद्मस्थोपयोगलक्षण एव प्रवेशात् यद्वा उपलिप्सायाः तत्र उपलक्षणत्वं न तु विशेषणत्वमितितोऽपि न दोषः, व्यावर्तकस्यैव लक्षणे प्रवेशसम्भवादित्यादिकमूहनीयम् । तदेव समर्थयति - **अत एव** = संवित्तिसामान्यस्यैवोपयोगलक्षणत्वात्, **ग्रहणपरिणामस्य** = बोधपरिणामस्य, **उपयोगपदप्रतिपाद्यता अविशेषतः** = सामान्यतः, विशेषणविनिर्मुक्तत्वेनेति यावत्, **तत्र तत्र** स्थलविशेषे **सङ्गच्छत** इति । उपलिप्साया उपयोगसामान्यलक्षणप्रवेशे तु एकेन्द्रियादिज्ञानादावपि तल्लक्षणाऽव्याप्तिः सुरगुरुणाऽपि पराकर्तुं न शक्येति ध्येयम् ।

बौद्धमुपक्षिपति - **नन्विति** । चेदित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । **तथापि** = निरुक्तरीत्या वस्तुतः सामान्यविशेषोभयात्मकत्वेऽपि, **वस्तु** = वस्तुमात्रं, **अनभिलाप्यमेव** = शब्दाऽवाच्यमेव, **इत्येकान्तः कान्तः** न त्वभिलाप्यानभिलाप्योभयात्मकमित्यनेकान्तः, **शब्दात्** = शब्दमवलम्ब्य, **स्वलक्षणप्रतिपत्त्यभावात्** वस्तुत्वावच्छिन्नस्य स्वलक्षणत्वात् तत्र शब्दसङ्केताऽसम्भवात्, यत्र शब्दसङ्केतः क्रियते तस्य स्वोत्पादानन्तरमेव विनष्टत्वात्, शब्दप्रयोगकाले सर्वथा तद्भिन्नस्यैव सत्त्वात् । इदमेवाह - **शब्दार्थयोः वास्तविकसम्बन्धाभावात्** । अर्थमृतेऽपि 'धावत बालाः ! नद्यास्तीरे फलानि सन्ती'त्यादिरूपस्य शब्दप्रयोगस्य दर्शनादपि न तयोः सत्यः सम्बन्धः । तर्हि कथं ततोऽर्थबोधः तदबोधे वा कथं न शब्दस्य वैफल्यमित्याशङ्कायामाह - **विकल्पजननेन** = शब्दानुपातिवस्तुशून्यकल्पनोत्पादनेन, **एव शब्दस्य कृतार्थत्वात्** = चरितार्थत्वात् । शब्दविकल्पयोरेव वस्तुतः कार्यकारणभावः, तदुक्तं 'विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः । कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि ॥ ( ) इति ।

अत एव = शब्दस्य काल्पनिकार्थबोधकत्वादेव, **शशविषाणपदादपि वैकल्पिकार्थप्रतीतिः** = कल्पितार्थगोचरमतिः, **निराबाधा** । शब्दार्थयोः वास्तविकसम्बन्धस्य सत्त्वे तु शशविषाणपदजन्यप्रतीतिर्बाधपथेन, तद्वाच्यस्य वास्तविकस्याऽर्थस्य विरहात् । **न च** शशविषाणपदस्याऽर्थासम्बद्धत्वादबोधकत्वमेवेति वाच्यम्, यतो **न हि शशविषाणादिपदमबोधकमेव**, व्युत्पन्ना-

के विरह से केवलज्ञान और केवलदर्शन में उपयोगलक्षण की अव्याप्ति का उद्भावन नामुनासिब है, क्योंकि आभोगक्रिया ही उपयोग है । इसलिए तो शास्त्रों में अनेकशः ग्रहणपरिणाम का ही उपयोगशब्द से प्रतिपाद्यविधया सामान्यतः उल्लेख किया गया है, वह सङ्गत हो सकता है । यदि उपलिप्सा का निवेश उपयोगसामान्यलक्षण में प्रवेश आवश्यक हो तब तो तथाविध शास्त्रवचन भी अनुपपन्न ही रह जाते । अतः आभोगपरिणाम ही उपयोग का लक्षण है - यह फलित होता है ।

अर्थ एकान्ततः शब्दाऽवाच्य है - बौद्ध

बौद्धः - ननु त. । भले ही वस्तु आपके सिद्धान्त से सामान्य-विशेषोभयात्मक हो, मगर --> 'वस्तु अभिलाप्य-अनभिलाप्य उभयात्मक है' <-- ऐसा अनेकान्त ठीक नहीं है । उचित तो यही है कि वस्तु अनभिलाप्य ही है - ऐसा एकान्तवाद माना जाय । इसका कारण यह है कि सर्व वस्तु स्वलक्षणात्मक यानी स्वेतरसकल से विलक्षण है । कोई भी चीज अन्य किसी चीज के सदृश नहीं ही होती है । अतः शब्द से स्वलक्षण में कैसे संकेतज्ञान हो सकता है ? वस्तु मात्र क्षणिक होने से जिसमें संकेत किया गया है वह नष्ट हो गई है एवं अन्य चीज तो उसके सदृश ही नहीं है । अतः शब्द से स्वलक्षण का बोध हो सकता नहीं है । वस्तुस्थिति तो यह है कि शब्द और अर्थ के बीच कोई सत्य सम्बन्ध ही नहीं है । शब्द तो केवल विकल्प = अर्थाकारकल्पना को उत्पन्न करने से ही चरितार्थ हो जाता है । शब्द से अर्थाकार

व्युत्पन्नाऽव्युत्पन्नौ प्रति ततो बोधवैचित्र्यदर्शनात् । 'विषाणे शशीयत्वं नास्ति' 'शशविषाणं नास्ति' इति प्रतीत्योर्वैलक्षण्याच्चेति चेत् ? न, शब्दाद्विकल्पप्रतिपत्तावपि प्रवृत्तिप्रतिनियमाऽसम्भवात् ।

अथ शब्दाद् विकल्पं प्रतिपद्य ततो दृश्यविकल्पा(ल्प्या)र्थावेकीकृत्य नियमतः प्रवर्तत इति चेत् ? कोऽयमेकीकारः ? अभेदो वा (१) सादृश्यं वा (२) मिथःसंसर्गो वा (३) ? न त्रितयमपीदं विकल्पादुपजायते, भिन्नानामसदृशानां मिथोऽसंसृष्टानां चाऽभेदसादृश्यमिथः-

❀ जयलता ❀

ऽव्युत्पन्नौ प्रति ततः = शशविषाणादिपदात् **बोधवैचित्र्यदर्शनात्** = बोधे नानात्वस्योपलब्धेः । शशविषाणादिपदं श्रुत्वा व्युत्पन्नस्य सखण्डकारा प्रतीतिर्जायतेऽव्युत्पन्नस्य चाऽखण्डाकारेति विशेषः । —> एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः । शशशृङ्गधनुर्धारी, ब्रह्मचारिपितासुतः ॥ <— इत्यादिवाक्याद् व्युत्पन्नाव्युत्पन्नयोर्बोधवैचित्र्यं प्रसिद्धमेव । तथाहि 'शशविषाणं नास्ति' इति वाक्यात् व्युत्पन्नाव्युत्पन्नयोः **'विषाणे शशीयत्वं नास्ति' 'शशविषाणं नास्ति'ति प्रतीत्योः वैलक्षण्याच्च** = वैलक्षण्यस्य सिद्धत्वाच्चेति बौद्धाशयः ।

ग्रन्थकारः प्रकरणकारः तन्निराकुरुते - **नेति** । **शब्दात्** = शब्दं श्रुत्वा, **विकल्पप्रतिपत्तावपि** = काल्पनिकार्थप्रतीतिस्वीकारेऽपि, **प्रवृत्तिप्रतिनियमाऽसम्भवात्** = प्रवृत्तौ नैयत्यस्याऽसम्भवात् । दृश्यस्य पारमार्थिकस्याऽर्थस्य स्वलक्षणात्मकस्य शब्देनाऽप्रतिभासनात्, प्रतीते वैकल्पिकेऽर्थे च प्रवृत्त्यसम्भवान्न प्रतिनियतेऽर्थे प्रवृत्तिः सम्भवतीति तात्पर्यम् ।

सौगतः स्वाभिप्रायमाविष्करोति - **अथेति** । **शब्दात्** = शब्दं श्रुत्वा, **विकल्पं** = वैकल्पिकार्थं, **प्रतिपद्य** = ज्ञात्वा, तदनन्तरं **ततः** = विकल्पात् श्रोता **दृश्यविकल्पार्थौ** = दृश्यार्थविकल्पगोचरार्थौ, **नियमतः** = व्याप्तितः **एकीकृत्य प्रवर्तते** । वैकल्पिकार्थप्रतिभासस्य दृश्यार्थं विनाऽनुपपत्तेः वैकल्पिकार्थं दृश्यार्थेन साकं विकल्प एकीकरोति । ततो येन दृश्यार्थेन समं विकल्पितार्थो विकल्पेनैकीकृतस्तत्रैव दृश्यार्थे प्रवृत्तिरिति शब्दात्कल्पितार्थप्रतिभासेऽपि न प्रवृत्तौ नैयत्याऽसङ्गतिरिति शुद्धोदनितनयाभिप्रायः ।

सुगतकदाग्रहज्वरं मन्त्र-यन्त्र-तन्त्रविकल्पभागोपविकल्पत्रितयेनाऽपाकर्तुमुपक्रमते - **कोऽयमेकीकारः** ? दृश्यविकल्पितार्थयोरेकीकरणं किं **अभेदो वा सादृश्यं वा मिथःसंसर्गो वा ? न त्रितयमपीदं** तयोः **विकल्पादुपजायते** । **भिन्नानामिति** ।

विकल्प होने से बाह्य अर्थ की सिद्धि होती नहीं है । शब्द और अर्थ के बीच व्याप्यव्यापकभाव नहीं होने से ही तो शशविषाण आदि पद से भी वैकल्पिक = काल्पनिक अर्थ की प्रतीति निराबाध हो सकती है । जगत में शशशृङ्ग नहीं होने पर भी शशशृङ्ग पद से कल्पितार्थ की प्रतीति होती ही है । अतएव शशविषाणादि पद को अबोधक तो नहीं माना जा सकता । व्युत्पन्न व्यक्ति एवं अव्युत्पन्न व्यक्ति को शशविषाणादि पद से विचित्रबोध अनुभवसिद्ध ही है। 'विषाण में शशीयत्व = शशसम्बन्धित्व नहीं है' ऐसे व्युत्पन्न पुरुष को होने वाले 'शशविषाणं नास्ति' वाक्यजन्य बोध एवं अव्युत्पन्न पुरुष को होनेवाले 'शशविषाण नहीं है' ऐसे बोध में भी वैचित्र्य प्रसिद्ध ही है । अतः 'वस्तु एकान्ततः शब्द से अनभिलाप्य = अवाच्य है' ऐसा एकान्तवाद ही रम्य है ।

❖ बौद्धमत में शब्द से प्रतिनियत प्रवृत्ति की अनुपपत्ति ❖

स्याद्वादी :- न, श. । जनाब ! आपका यह वक्तव्य समीचीन नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध वास्तविक है । फिर भी आपके मतानुसार शब्द से विकल्प = वस्तुशून्य अर्थाकार कल्पना का स्वीकार किया जाय तो भी प्रवृत्ति के नैयत्य की अनुपपत्ति होगी, क्योंकि बाह्य दृश्य पदार्थ अलग है और काल्पनिक अर्थ अलग है । कल्पित अर्थ का भान होने पर दृश्य = वास्तविक अर्थ में प्रवृत्ति हो सकती नहीं है । यदि बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि - --> 'शब्द से तो कल्पितार्थाकारवाला विकल्प ही उत्पन्न होता है । बाद में विकल्प से व्याप्ति के सबब दृश्यार्थ और विकल्पार्थ = कल्पितार्थ को एक कर के श्रोता प्रवृत्त हो सकता है' <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि बौद्धसम्मत दृश्य और कल्पित अर्थ का एकीकरण क्या है ? उसका ही सम्यग् निर्वचन हो सकता नहीं है । एकीकरण को (१) अभेदात्मक या (२) सादृश्यस्वरूप या (३) परस्पर संसर्गरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये तीन विकल्प से उत्पन्न हो सकते नहीं हैं। दृश्य अर्थ और कल्पित अर्थ सर्वथा भिन्न होने से विकल्प से उनके बीच अभेद करना नामुमकिन है । वे परस्पर सर्वथा असदृश = विलक्षण होने से विकल्प उनके बीच सादृश्य का आपादन करने में असमर्थ है । एवं वे परस्पर सर्वथा असम्बद्ध

संसर्गाणामुपायसहस्रेणाऽपि कर्तुमशक्यत्वात्, अन्यथा जगद्व्यवस्थाविप्लवात् । दृश्यविकल्पार्थयोः तत्प्रतीतिरपि न विकल्पाधीना, दृश्यस्य विकल्पाऽस्पर्शित्वात्, संहृतसकलविकल्पावस्थायामेव तत्प्रतिभासात् ।

किञ्च, उत्पत्त्यनन्तरापवर्गिणो वस्तुनः कथमेकीकरणं युज्यते ? 'विकल्पितयोरेवैकीकार'

❀ जयलता ❀

यथाक्रममग्रेऽन्वयः । तथाहि दृश्यार्थानां पारमार्थिकत्वात् कल्पितार्थानाञ्चाऽपारमार्थिकत्वात् भिन्नानां तेषां न विकल्पादभेदः कर्तुं शक्यते, न वाऽसदृशानां तेषां सादृश्यमपि विकल्पः कर्तुं क्षमः । दृश्यार्थानां बहिरवस्थितत्वात् विकल्पितार्थानां चान्तःप्रतिभासमात्रत्वात्परस्परमसंसृष्टानां तेषां न मिथःसंसर्गमपि धातुं विकल्पः प्रत्यलः । विपक्षबाधमाह - **अन्यथेति** । भिन्नाऽसदृशाऽसंसृष्टानामभेदसादृश्यमिथःसम्बन्धकरणे, **जगद्व्यवस्थाविप्लवात्** = घटपटादीनां स्वलक्षणानां विन्ध्यहिमाचलादीनामपि क्रमेण तत्प्रसङ्गेन प्रसिद्धतद्व्यवस्थोच्छेदापत्तेः । प्रकरणकारः प्रकारान्तरेण तदेकीकरणाऽसम्भवमुद्भावयति **दृश्यविकल्पार्थयोः तत्प्रतीतिः** = अभेदादिप्रतीतिः **अपि न विकल्पाधीना** = शब्दजन्यकल्पनोपजीविका, **दृश्यस्य** = पारमार्थिकस्याऽर्थस्य **विकल्पाऽस्पर्शित्वात्** = विकल्पाऽगोचरत्वात् । अत्राऽपि हेतुमाह - **संहृतसकलविकल्पाऽवस्थायां** = विकल्पमात्ररहितदशायां, **एव तत्प्रतिभासात्** = दृश्यार्थप्रत्ययात् इति । बौद्धशास्त्रसिद्धान्ते यावद्विकल्पविलये एव दृश्यार्थप्रतीतिः प्रतिपादिता । ततो दृश्यस्याऽर्थस्य विकल्पाऽविषयत्वमेव । तथा च कथं तदग्राहिणा विकल्पेन दृश्यविकल्पितार्थानामभेदादिप्रतिभासः सम्भवेत् ? न हि घटाऽग्राहकेनाऽवबोधेन घटकुम्भाभेदस्य घटशरावसादृश्यस्य घटाऽरण्यसंसर्गस्य वा प्रतिभासः सम्भवति । अतो विकल्पेन तदभेदाद्यसम्भवान्न तदेकीकरणसम्भव इति शब्दाद् विकल्पितार्थभाने प्रतिनियतप्रवृत्त्यसम्भवदोषतादवस्थ्यमेवेति प्रकरणकृदाकूतम् ।

प्रकारान्तरेण दृश्यविकल्पितार्थयोरेकीकरणमपहस्तयति - **किञ्चेति** । बौद्धमते सर्वस्य क्षणिकत्वव्याप्यत्वेन **उत्पत्त्यनन्तराऽपवर्गिणः** = उत्पत्तिक्षणाऽनन्तरोत्तरक्षणे ध्वंसशीलस्य **वस्तुनः कथं** विकल्पेन **एकीकरणं युज्यते** ? तावन्तं कालं वस्तुन एवाऽसत्त्वात् । न **चोत्पत्तिक्षण** एव तदेकीकरणमिति **वक्तव्यम्**, तदानीं स्वोत्पत्तावेव व्यग्रत्वेनाऽर्थस्याऽन्यार्थाऽनिशयत्वात् । मायावाद्याह - **विकल्पितयोः** अर्थयोः **एव** विकल्पेन **एकीकारः**, न तु दृश्यविकल्पितार्थयोरिति नानुपपत्तिरिति बौधिसत्त्वानुयायिन

होने की वजह विकल्प उनका सम्बन्ध कराने में भी शक्तिमान् नहीं है। यदि सर्वथा भिन्न में विकल्प से अभेद हो जाय या असदृश में सादृश्य हो जाय या असम्बद्ध का सम्बन्ध बन जाय तब तो जगत की व्यवस्था का ही विलोप हो जायेगा। अतः विकल्प से दृश्य और विकल्पविषयीभूत काल्पनिक अर्थ का एकीकरण असम्भवित है । दूसरी बात यह है कि दृश्यार्थ और विकल्पविषयीभूत अर्थ के अभेदादि की प्रतीति भी विकल्प के आधीन नहीं है, क्योंकि पारमार्थिक दृश्य अर्थ तो विकल्प को छूता भी नहीं है । जब सकल विकल्पों का उच्छेद हो जाता है उसी अवस्था में दृश्य = तात्त्विक अर्थ का भान होता है, न कि विकल्पावस्था में । अतः एक काल में दृश्य अर्थ और विकल्पगोचर अर्थ की एक विकल्प से प्रतीति ही नहीं हो सकती, तब उन दोनों का एकीकरण विकल्प से कैसे हो सकेगा ? अपने अविषय में तो कोई भी कुछ भी नहीं कर सकता । इस तरह दृश्य और विकल्पित अर्थ का एकीकरण विकल्प से नामुमकिन होने की वजह शब्द से प्रतिनियत प्रवृत्ति की उपपत्ति नहीं हो सकती है ।

❀ अर्थ में एकीकरण नामुमकिन ❀

किञ्च. । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि - बौद्धमत में सभी पदार्थ क्षणिक होने से उत्पत्ति के अनन्तर उत्तर क्षण में ही सर्वथा विनष्ट हो जाते हैं तब तो दृश्य और विकल्पित अर्थ में एकीकरण कैसे शक्य होगा ? यदि यहाँ बौद्ध की ओर से यदि कहा जाय कि —> 'दृश्य और विकल्पित अर्थ में विकल्प से भले ही एकीकरण न हो सके । किन्तु विकल्पित अर्थ और विकल्पित अर्थ में तो विकल्प से एकीकरण हो सकता है और वैसे भी शब्द से प्रतिनियत प्रवृत्ति की उपपत्ति हो सकती है' <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि विकल्पित अर्थ भी चिरस्थायी कैसे हो सकेंगे? वक्ता शब्द का प्रयोग करता है, बाद में श्रोता सुनते हैं, बाद में विकल्पित अर्थ का बोध होता है और बाद में तद्विषयक इच्छा और प्रयत्न होते हैं, बाद में प्रवृत्ति होती है । तब तक विकल्पित अर्थ स्थिर ही नहीं रहते हैं । तब उनमें प्रवृत्ति ही कैसे हो सकेगी ? अतः बौद्धमत में शब्द से प्रतिनियत प्रवृत्ति अनुपपन्न ही रहेगी ।

शब्द और अर्थ के बीच वास्तविक सम्बन्ध मुमकिन

इति चेत् ? तयोरपि कथं चिरस्थायिता ? शब्दार्थयोर्वास्तविकसम्बन्धं विना च कथं शब्दश्रवणादर्थस्मरणम् ? अत्र हि एकसम्बन्धिज्ञानादपरसम्बन्धिस्मरणमिति स्थितिः, हस्तिपकज्ञानाद्धस्तिस्मरणवत् । तादात्म्य-तदुत्पत्तिभ्यामन्यः सम्बन्धो न वास्तविक इति तु स्वाभिमानविजृम्भितम् । सम्बद्धव्यवहारजनकतया संयोगादीनामपि पारमार्थिकसम्बन्धत्वात्, अन्यथा

❀ जयलता ❀

आशयः । प्रकरणकारः तन्निरस्यति --> **तयोः** = विकल्पितार्थयोः **अपि कथं चिरस्थायिता** ? प्रथमं जानाति, तत इच्छति, ततो यतते, तदनन्तरं प्रवर्तते इति न्यायात् विकल्पितार्थयोरपि प्रवृत्त्यर्थं जघन्यतः चतुःसमयावस्थायित्वमपेक्षितम् । विकल्पेन स्वगोचरविकल्पितार्थयोरेकीकरणेऽपि क्षणिकत्वेन प्रवृत्तिपर्यन्तमस्थायित्वाच्च तत्र श्रोतृप्रवृत्त्युपपत्तिः । **न च** विकल्पितार्थस्याऽपारमार्थिकत्वेन न क्षणिकत्वमिति **वाच्यम्**, तथापि शब्दात् शशविषाणादिवत् तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेस्तादवस्थ्यात् ।

यच्चोक्तं क्षणिकवादिना 'शब्दार्थयोर्वास्तविकसम्बन्धाभावादि'ति तन्मनसिकृत्याऽऽह - **शब्दार्थयोः वास्तविकसम्बन्धं विना च कथं शब्दश्रवणात्** = शब्दश्रवणमवलम्ब्य, **अर्थस्मरणम्** ? यथा धूमं दृष्ट्वा न कस्यचित्समुद्रादेः तदसम्बन्धिनः स्मरणं जायते किन्तु धूमध्वजस्यैव, तत्सम्बन्धित्वात् । असम्बद्धस्याऽपि स्मरणे त्रैलोक्यान्तर्गतसकलार्थजातगोचरस्मरणापत्तेः । एवमेव शब्दश्रवणादपि प्रतिनियतार्थस्मरणान्यथानुपपत्तेः शब्दार्थयोर्वास्तविकः कश्चित्सम्बन्धोऽवश्यमभ्युपेयः, अन्यथाऽश्रुतदृष्टाननुभूतार्थगोचरस्मरणापत्तेः, असम्बद्धत्वाऽविशेषात् । न चैवमिति तयोः पारमार्थिकसम्बन्धसिद्धिरित्याशयेनाऽऽह- **अत्र** = शब्दश्रुतेरर्थस्मरणस्थले, **हि** = निश्चितं, **एकसम्बन्धिज्ञानात्** = अर्थसम्बन्धित्वेन शब्दज्ञानात्, **अपरसम्बन्धिस्मरणं** = अर्थस्मरणं **इति स्थितिः, हस्तिपकज्ञानाद्धस्तिस्मरणवदिति** । ततः शब्दार्थयोः पारमार्थिकः सम्बन्धः सिध्यति ।

ननु शब्दार्थयोः किं तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा संसर्गत्वेनाऽभिमन्यते ? इति पद्महृदनिर्गलगङ्गासिन्धुवत् सुगतसंज्ञानसरोविनिर्गतनिर्मलविकल्पनायुगली समुपतिष्ठते । नाद्याऽऽद्याऽवस्था, क्षुरादिशब्दोच्चारणेन मुखच्छेदादिप्रसङ्गात् । तदुक्तं **सङ्घदासगणिक्षमाश्रमणैः बृहत्कल्पभाष्ये** 'खुरअग्गिमोयगुच्चारणम्मि जम्हा उ वयणसवणाणं । नवि छेओ नवि दाहो ण पूरणं तेण भिन्नं तु ॥ (बृ.क.भा. ५८) । नाऽपि द्वितीया क्षोदक्षमा, शब्दस्याऽर्थजनकत्वे विश्वदारिद्र्यविलयापत्तेः, अर्थस्य शब्दजनकत्वे सदा कोलाहलप्रसङ्गात्, करभसरभाद्यर्थजातस्य सर्वदा जगति सत्त्वात् । न च ताभ्यामन्यः कश्चित्सम्बन्धः कयोश्चिदपि वर्तते इति विशेषकूटासम्भवेन सामान्याभावसिद्धेर्नार्थशब्दयोरस्ति कश्चित् सम्बन्धो वास्तविक इत्याशङ्कां चेतसिकृत्याऽऽह प्रकरणकारः - **तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां अन्यः सम्बन्धो न वास्तविक इति तु स्वाभिमानविजृम्भितम्** = सौगतमिथ्याहङ्कारमात्रविलसितम् । अत्र हेतुमाह- **सम्बद्धव्यवहारजनकतया** = सम्बद्धत्वप्रकारकधीव्यवहारयोः संसर्गविधया जनकत्वेन **संयोगादीनामपि पारमार्थिकसम्बन्धत्वात्** । यथोत्तरक्षणे पूर्वक्षणोत्पाद्यत्वधीव्यवहारजनकतया पूर्वोत्तरक्षणयोः तदुत्पत्तिसम्बन्धः पारमार्थिकः

शब्दा. इति । इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि शब्द और अर्थ के बीच वास्तविक सम्बन्ध ही न हो तो शब्द को सुन कर लोगों को अर्थ का ज्ञान कैसे हो सकता ? जैसे पीलवान का ज्ञान होने पर तत्सम्बन्धी होने की वजह हस्ती का स्मरण होता है ठीक वैसे ही शब्द का श्रवण होने पर तत्सम्बन्धी होने की वजह अर्थ का स्मरण होता है । एक सम्बन्धी का ज्ञान अपरसम्बन्धी का स्मारक होता है । शब्द से अर्थ का स्मरण होने की वजह अवश्य उनके बीच वास्तविक सम्बन्ध को स्वीकार करना चाहिए । यहाँ बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि --> 'शब्द और अर्थ के बीच तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर तो मोदकशब्द के उच्चारण से ही मुँह लड्डू से भर जायेगा और अग्निपद को बोलने पर मुख में दाह होने लगेगा । यदि उनके बीच तदुत्पत्ति सम्बन्ध माना जाय तो शब्द को अर्थजनक मानने पर लक्ष्मीपद को बोलने से लक्ष्मी पैदा हो जायेगी, बाजार में जाने की जरूरत नहीं होगी । एवं अर्थ को शब्दजनक मानने पर सदा कोलाहल ही होता रहेगा, क्योंकि इस जगत में अर्थ तो विद्यमान = रहते ही हैं । इस तरह उनके बीच न तो तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है और न तो तदुत्पत्ति सम्बन्ध माना जा सकता है । इन दो सम्बन्धों से अतिरिक्त तो अन्य कोई सम्बन्ध है ही नहीं । अतः शब्द और अर्थ के बीच कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है' <— तो यह बौद्ध मनीषियों के अभिमानमात्र का ही विलास है, क्योंकि संयोग आदि भी सम्बद्ध व्यवहार के जनक होने की वजह पारमार्थिक है । यदि सम्बद्धत्वप्रकारक व्यवहार का जनक होने पर भी संयोग आदि को पारमार्थिक सम्बन्ध न माना जाय तब तो हम यह भी कह सकते हैं कि तदुत्पत्तिनामक कोई सम्बन्ध ही पूर्वोत्तर क्षणों के बीच नहीं है, भले ही उनके बीच जन्यत्वादिप्रकारक व्यवहार हो, तब बौद्ध महाशय क्या

विपर्ययस्यापि सुवचत्वात् ।

स्यादेतत् - एवं सति सङ्केत एव शब्दार्थयोः सम्बन्धः स्यान्न तु शक्तिः, गृहीतसङ्केतादेव पदार्थस्मरणादिति चेत् ? न, प्रकरणाद्यभिव्यक्तक्षयोपशमानां केषाञ्चित् सङ्केतग्रहं विनाऽपि पदादर्थप्रत्ययात् । सङ्केतो हि तपश्चरण-दान-प्रतिपक्षभावनावज्ज्ञानावरणक्षयोपशमाभिव्यञ्जकतया

ॐ नयलता ॐ

त्वयेष्यते तद्वदेव संयुक्तघटपटादौ संबद्धत्वप्रकारकधीव्यवहारजनकतया तयोः संयोगः पारमार्थिकः संसर्ग इत्यकामेनाऽपि स्वीकर्तव्यमिति भावः । विपक्षबाधमाह- **अन्यथा** = तथाविधधीव्यवहारजनकत्वेऽपि संयोगस्याऽपारमार्थिकत्वोपगमे, **विपर्ययस्याऽपि** = 'तादात्म्यसंयोगाभ्यामन्यः सम्बन्धो न पारमार्थिक' इत्यस्याऽपि, **सुवचत्वात्**, समाधानं तूभयत्र तुल्यम्, 'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः' इति वचनात् । तस्मात्तादात्म्यतदुत्पत्तिभिन्नानामपि संयोगादीनां पारमार्थिकसम्बन्धत्वमेष्टव्यमेव । **न च** तथापि शब्दार्थयोः संयोगस्य बाधः 'द्रव्ययोः संयोगः' इति वचनादिति **वाच्यम्**, शक्तिनाम्नः शब्दार्थसम्बन्धस्य तत्र लब्धावकाशत्वात् । ततः शक्त्यैवाऽर्थं शब्दः प्रत्याययतीति सिद्धमिति प्रकरणकृदाशयः ।

लब्धावकाशः परः शङ्कते- **स्यादेतदिति** । एवं **सति** = तादात्म्य-तदुत्पत्त्यतिरिक्तसम्बन्धस्य असम्बद्धत्वाऽविशेषात् पारमार्थिकत्वे सति, **सङ्केत एव शब्दार्थयोः सम्बन्धः स्यान्न तु शक्तिः**, हेतुमाह **गृहीतसङ्केतादेव पदात् अर्थस्मरणात्** = अर्थस्मरणोपलब्धेः, न तु शक्तिमत्पदात् । यथा चौरशब्दः तस्करे प्रसिद्धोऽपि दाक्षिणात्यानां सङ्केतवशादोदने प्रत्याययति, कुमारशब्दश्च सङ्केतबलेन पूर्वदेशे आश्विनमासं बोधयति । इत्थं सङ्केतानां पुरुषेच्छाधीनतयाऽनियतत्वमेव । लोकव्यवहारापेक्षयेव शास्त्रापेक्षयाऽपि सङ्केतवशेनैवाऽर्थज्ञानं यथा **त्रिपुरार्णवे** अलिशब्दः मदिराभिधायकतया मैथुनशब्दश्च मधुभगिनीः सङ्केतितः । ततः सङ्केत एव शब्दार्थसम्बन्धो न तु शक्तिरिति पूर्वपक्षाशयः ।

प्रकरणकारः तन्निराकुरुते - **नेति** । व्यतिरेकव्यभिचारमाविष्करोति - **प्रकरणाद्यभिव्यक्तक्षयोपशमानां केषाञ्चित्** पुंसां तथाविधशब्दे **सङ्केतग्रहं विनाऽपि** प्रकरणादिबलेन **पदात्** – तथाविधशब्दात्, **अर्थप्रत्ययात्** = अर्थबोधस्याऽनुभवसिद्धत्वात् । यदि सङ्केतादेवाऽर्थबोधस्तर्हि कथमसङ्केतितात्पदात्प्रकरणसामर्थ्यव्यञ्जनाभिव्यक्तक्षयोपशमानां पुरुषाणामर्थबोधः ? ततः स्वाभाविकसामर्थ्यसाचिव्यादेव पदाच्छाब्दबोधः स्वीकर्तव्यः, सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् । तर्हि किं सङ्केतस्य सर्वथा शाब्दबोधेऽनुपयोगित्वं ? इति मुग्धाशङ्कायामाह - **सङ्केतो हि तपश्चरणदानप्रतिपक्षभावनावत्** = तपोज्ञानदानकषायादिप्रतिपक्षभावनादिकमिव, **ज्ञानावरणक्षयोपशमाभिव्यञ्जकतया** = शाब्दबोधानुकूलश्रुतज्ञानावरणीयक्षयोपशमाधायकत्वेन, शाब्दबोधे

समाधान देंगे ? जो समाधान उनके लिए होगा वही हमारे लिए भी समान रहेगा। अतः शब्द से प्रतिनियत अर्थप्रतीति की अनुपपत्ति की वजह शब्द और अर्थ के बीच तादात्म्य-तदुत्पत्तिभिन्न शक्तिनामक सम्बन्ध को मानना आवश्यक है ।

ॐ सङ्केत शब्दार्थसम्बन्ध नहीं हो सकता ॐ

स्यादे. । यहाँ यह शङ्का हो कि —> 'शब्द और अर्थ के बीच संकेत ही सम्बन्ध हो सकता है, न कि शक्ति। इसका कारण यह है कि शब्द और अर्थ के बीच शक्तिनामक सम्बन्ध मानने पर भी जिस पुरुष को शब्द के संकेत का ज्ञान नहीं है, उसे तत्पदश्रवण से भी अर्थबोध होता नहीं है । और जिसे संकेतज्ञान है उसे शब्दश्रवण से तुरन्त ही अर्थबोध हो जाता है । अतः अन्वय-व्यतिरेक से शब्द और अर्थ के बीच पूर्व पुरुषादि से किया गया सङ्केत ही सम्बन्ध है, न कि अनादिसिद्ध शक्ति । सङ्केत तो पुरुष के अधीन है' <— तो यह भी असंगत है, क्योंकि संकेतज्ञान के बिना ही पुरुषविशेष को प्रकरण आदि से अभिव्यक्त क्षयोपशम की वजह शब्द से अर्थ का बोध होता है । पद में यदि अर्थप्रत्यायन शक्ति न मानी जाय तब संकेतज्ञान के बिना भी स्थलविशेष में पद से उत्पन्न होने वाला अर्थबोध असङ्गत हो जायेगा। शक्ति तो अनादि काल से सिद्ध ही है, न कि आधुनिक पुरुषों से कल्पित । अतः शक्ति का स्वीकार आवश्यक ही है । केवल शक्ति अर्थबोधजनक नहीं है किन्तु शक्ति का ज्ञान अर्थबोध में सहकारी है । अतः प्रदर्शित व्यतिरेक व्यभिचार का कोई अवकाश नहीं है । सङ्केत का उपयोग शाब्दबोध में शब्दार्थसम्बन्धविधया नहीं है किन्तु ज्ञानावरणक्षयोपशम के अभिव्यञ्जकविधया है । जैसे तपश्चर्या, दान, क्रोधादि की प्रतिपक्ष भावना आदि ज्ञानावरणक्षयोपशम में हेतु है ठीक वैसे ही संकेत भी ज्ञानावरण-क्षयोपशम का हेतु है । लोकव्यवहार भी ऐसा होता है कि - 'शब्द अर्थवाचक है एवं अर्थ शब्दवाच्य है' । इस प्रसिद्ध व्यवहार से भी शब्द और अर्थ के बीच वाच्य-वाचकभाव नाम का ही सम्बन्ध सिद्ध होता है, न कि सङ्केतसम्बन्ध । इस

सङ्केततयोपयुज्यते, न तु शब्दार्थसम्बन्धतया । व्यवहारादपि वाच्यवाचकभाव एव शब्दार्थयोः सम्बन्धः । तदेवं शबलवस्त्वभ्युपगम एव स्याद्वादिनां श्रेयानिति प्राचां पद्धतिः ॥९॥

अथानेकान्तवादप्रामाणिकतां कापिलमतेनाऽपि संवादयति —> 'इच्छन्नि'ति ।

इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः ।

साङ्ख्यः सङ्ख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥१०॥

सत्त्वाद्यैः = **सत्त्वरजस्तमोभिः**, *विरुद्धैः* **प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकतया लाघवोपष्टम्भ-गौरवधर्मतया च विलक्षणस्वभावैः**, *गुणैः गुम्फितं* = **तत्साम्यावस्थात्वमापन्नं**, *प्रधानं (इच्छन्=)* **अङ्गीकुर्वन्**

❀ जयलता ❀

उपयुज्यते, न तु शब्दार्थसम्बन्धतया । अतो न सङ्केतस्य शब्दार्थसम्बन्धत्वम् । तदुक्तं **प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे** 'स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः' (प्र.न.त. परि ४/सू.११) इति ।

ननु शक्ति-सङ्केतयोः को विशेषः ?, उच्यते, सङ्केतविशेष एव शक्तिः, न तु शक्तिमात्रम् । तदुक्तं प्रकरणकृतैव **भाषारहस्यस्वोपज्ञविवरणे** 'शक्तिर्हि न सङ्केतमात्रं किन्त्वनादिः शास्त्रीयोऽबाधितः सङ्केतः' (भा.र.गा.२४ टीका. पृ.९१) इति । अवशिष्टं तत्त्वञ्च मत्कृतमोक्षरत्नातोऽवसेयम् ।

प्रकारान्तरेण शब्दार्थसम्बन्धं दर्शयति - **व्यवहारादपि**, = 'इदं पदमस्यार्थस्य वाचकं अयञ्चार्थ एतच्छब्दवाच्य' इत्याद्याकारकलोकव्यवहारादपि, **वाच्यवाचकभाव एव शब्दार्थयोः सम्बन्धः**, न त्वपोहादिः । उपसंहरति - **तदेवं** = शब्दार्थयोः तात्त्विकसम्बन्धसिद्धेः विवक्षितवाचकापेक्षया पदार्थेऽभिलाप्यत्वं तदन्याभिधानापेक्षया चानभिलाप्यत्वमिति **शबलवस्त्वभ्युपगमः** = एकत्वाऽनेकत्वाऽभिलाप्यत्वाऽनभिलाप्यत्वादिनानाधर्मकर्बुरितपदार्थस्वीकारः, **एव स्याद्वादिनां श्रेयानिति प्राचां** = पूर्वाचार्याणां, **पद्धतिः** । एतद्विस्तरस्तु **स्याद्वादरत्नाकर-कल्पलतादितो**ऽवसेयः ॥९॥

तां नौमि शारदां नित्यं, यत्प्रसादात् स्फुरन्ति हि ।
विभास्वन्ते यशोऽभोजे सूरीशं महाशैली ॥९॥

दशमकारिकाप्रस्तावार्थमुपक्रमते - अथेति । व्याख्यानयति **सत्त्वाद्यैः = सत्त्वरजस्तमोभिरिति । विरुद्धैः = प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकतया लाघवोपष्टम्भगौरवतया च विलक्षणस्वभावैरिति** । सत्त्वं प्रीत्यात्मकं कार्यहेतुद्गमनहेतुलाघवसमेतञ्च, रजोऽ-

तरह शब्द और अर्थ के बीच पारमार्थिक सम्बन्ध सिद्ध हो गया तब तो घटादि अर्थ में प्रतिनियत घटादिपद की अपेक्षा अभिलाप्यत्व एवं पटादिपद की अपेक्षा अनभिलाप्यत्व धर्म रहेगा ही । अतः वस्तु में एकान्त से अनभिलाप्यत्व का बौद्धसिद्धान्त अप्रामाणिक सिद्ध होता है । एवं अभिलाप्य-अनभिलाप्य उभयात्मक होने से वस्तुमात्र शबल = चित्र यानी अनेक परस्पर विरुद्धतया भासमान धर्मों से व्याप्त है - यही स्याद्वादियों का सिद्धान्त प्रामाणिक है । कर्बुर वस्तु सिद्ध करने की यह प्राचीन जैनाचार्यों की एक अनोखी निजी पद्धति है ॥९॥

इस तरह ९ वीं कारिका का विवेचन पूर्ण हुआ, जिसमें मुख्यतया नैयायिक और वैशेषिक की चित्ररूपानुरोध से स्याद्वाद में सम्मति का प्रदर्शन किया गया है । यह अभी हम देख चुके हैं । अब मूलकार श्रीमद् हेमचन्द्रसूरिजी महाराजा कापिलमत यानी सांख्यदर्शन के पुरस्कार से भी अनेकान्तवाद की प्रामाणिकता को सुसंवादित करते हैं । देखिये दसवीं कारिका का सामान्य अर्थः-

❀ अनेकान्त में सांख्यसम्मति - १० वीं कारिका ❀

सत्त्व आदि विरुद्ध गुणों से व्याप्त ऐसे प्रधान तत्त्व का अभिलाप करनेवाला बुद्धिशालिओं में मुख्य सांख्य मनीषी भी अनेकान्तवाद का प्रतिषेध कर सकता नहीं है ॥१०॥

व्याख्यार्थ । प्रकरणकार महोपाध्यायजी महाराज १० वीं कारिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि - सांख्य विद्वान् प्रधाननामक एक तत्त्व का स्वीकार करता है जो सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण की साम्य अवस्था स्वरूप है । सत्त्वगुण प्रीत्यात्मक एवं लघु है । रजोगुण अप्रीतिस्वरूप एवं उपष्टम्भक=निष्क्रिय ऐसे सत्त्व और तमोगुण को अपने कार्य में उत्साह

साङ्ख्यो यद्यनेकान्तं प्रतिक्षिपेत्, तदा न सङ्ख्यावतां = परीक्षाणां मुख्यः, तत्प्रतिक्षेपे स्वाभिमतप्रधानस्यैव विलयेन स्वाधिरूढशाखाच्छेदनकौशलशालित्वात्तस्य । 'सङ्ख्यावतां' इति निर्धारणे षष्ठी । यदि तु सङ्ख्यावतां मध्ये मुख्यः तदाऽनेकान्तं न प्रतिक्षिपेदेव ॥१०॥

अथ लोकायतिकानां व्यवहारदुर्नयावलम्बिनां सकलतान्त्रिकबाह्यानां किं सम्मत्याऽसम्मत्या वा ? इति तेषामवग(ण)नामेवाऽऽविष्कुर्वन्ति —> 'विमति'रिति ।

विमतिः सम्मतिर्वाऽपि चार्वाकस्य न मृग्यते ।
परलोकात्ममोक्षेषु यस्य मुह्यति शेमुषी ॥११॥

❁ मोदलता ❁

प्रीतिस्वरूपं सत्त्वतमोगुणकार्योत्साहकत्वकश्च । सत्त्वतमसी स्वयमक्रिये रजसोपष्टम्भेन = स्वकार्ये उत्साहं = प्रयत्नं कार्येते । तमोगुणस्तु विषादरूपोऽधोगमनहेतु-गौरवकलितश्च । तदुक्तं **साङ्ख्यकारिकायां** 'सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः । गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः' ॥१३॥ इति । **परीक्षाणामि**त्यत्र 'परीक्षकाणामि'ति पाठः श्रेयान् यद्वा परीक्षन्ते इति परीक्षाः = परीक्षका इति व्युत्पत्त्यैवं व्याख्येयम् । **निर्धारणे** = अवधारणार्थे । 'इष्टतोऽवधारणमि'ति न्यायेनाऽवधारणं योजयति - **यदि तु सङ्ख्यावतां मध्ये** साङ्ख्यो **मुख्यः तदाऽनेकान्तं न प्रतिक्षिपेदेवे**ति । स्वाभिमतप्रकृतितत्त्वस्य स्याद्वादोपजीवकत्वात्, उपजीवकस्योपजीव्याऽपेक्षया हीनबलत्वात् तत्प्रतिक्षेपो न्याय्य इति भावः । शेषमतिरोहितार्थमिति न तन्यते । सोपयोगित्वाद् **वीतरागस्तोत्रविवरण**मुपदर्शयते - 'तथा कापिलोऽपि न स्याद्वादापलापचापलमाचरितुमर्हतीत्येतदेव स्तुतिकृत्प्रकटयन्नाह —> 'इच्छन्नि'ति । हे वीतराग ! सङ्ख्यावतां मुख्यो मुख्याभिधेयनामधेयः साङ्ख्यः प्रधानं = प्रकृतिं, महदादिसृष्टिमूलहेतुं सत्त्वरजस्तमोभिः गुणैरन्योन्यविरोधदुर्धरैरपि ग्रथितमविरुद्धतयाऽभिदधानः स्वात्मनो नाऽनेकान्तमपगुणमाख्याति । तन्मते हि प्रकृतिरेका सत्त्वाद्यात्मिका अभ्युपगम्यते । ततः सांख्योऽनेकान्तवादसंमुख एव' <— इति ॥१०॥

[illegible] ॥११॥

एकादशकारिकोपन्यासमाह - **अथे**ति । **लोकायतिकानामि**ति । लोके आयतं = विस्तीर्णं प्रसिद्धमिति यावत् प्रत्यक्षं प्रमाणं तदेवाऽभ्युपगच्छन्तीति लोकायतिकाः नास्तिका इति यावत् तेषाम् । **व्यवहारदुर्नयावलम्बिनां** = अविनिश्चितव्यवहारनयाभासा-भ्युपगन्तॄणाम् । तथाहि - लोकग्राह्यमेवाऽस्तु वस्तु, किमनया अदृष्टाऽव्यवह्रियमाणवस्तुपरिकल्पनकष्टोपसृष्टिकया । यदेव लोकव्यवहार-पथमवतरति तस्यैवाऽनुग्राहकं प्रमाणमुपलभ्यते, नेतरस्य, अप्रत्यक्षे प्रमाणप्रसराभावात् । प्रमाणमन्तरेण च विचारस्य कर्तुमशक्यत्वात् । प्रत्यक्षागोचरस्य लोकव्यवहारानुपातित्वादेव कल्पितत्वमित्येवमभ्युपगन्तॄणामित्यभिप्रायः । न चैषां व्यवहारदुर्नयावलम्बित्वं स्वमनी-

देनेवाला है । जब कि तमोगुण विषादात्मक एवं गुरुभूत है, जिसकी वजह जड़ता उत्पन्न होती है। परस्पर विरुद्ध ऐसे गुणों की साम्य अवस्था को भजनेवाली प्रकृति का स्वीकार करनेवाला सांख्य यदि अनेकान्तवाद का उन्मूलन करेगा तब तो वह बुद्धिशालिओं में मुख्य न होगा, क्योंकि अनेकान्तवाद का उच्छेद करने पर स्वाभिमत प्रधानतत्त्व (=प्रकृति) का विलय हो जायेगा । एकान्तवाद में विरुद्ध सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण का एक धर्मी में समावेश ही कैसे हो सकता है ? विरुद्ध धर्मों का एक धर्मी में समावेश करना ही तो अनेकान्तवाद का प्रतिबिम्ब है । अतः अनेकान्तवाद का उच्छेद करने पर प्रधान तत्त्व का ही उच्छेद हो जाने से जिस शाखा पर चढे हैं उसीको काटने की कुशलता सांख्य को प्राप्त हो जायेगी ! मूलकारिका में 'सांख्यवतां' पद में जो षष्ठी विभक्ति है उसका अर्थ है निर्धारण । अर्थात् बुद्धिशालिओं की मध्य में सांख्य यदि मुख्य होगा, तब अनेकान्तवाद का प्रतिक्षेप नहीं ही करेगा ॥१०॥

इस तरह १० वी कारिका के द्वारा अनेकान्तवाद में सांख्य की सम्मति बता कर मूलकार श्रीमद्जी 'व्यवहारनयाभास के अनुसारी एवं सकल आस्तिक दर्शनवादिओं से बाह्य लोकायतिक = नास्तिकों की अनेकान्तवाद में संमति या असंमति से क्या?' इस आशय से उनकी अवगणना का ११ वी कारिका से आविष्कार करते हैं । कारिका का अर्थ निम्नोक्त है।

❁ ११ वीं कारिका का शब्दार्थ ❁

परलोक, आत्मा, मोक्ष के विषय में ही जिसकी बुद्धि मूढ बनी हुई है ऐसे चार्वाक = नास्तिक की सम्मति या विप्रतिपत्ति को ढूंढने की आवश्यकता ही नहीं है ॥११॥

येषां परलोकात्ममोक्षेष्वेव मोहः तैः सह विचारान्तरविमतिसंमती अपर्यालोचितमूलारोपण-कप्रासादकल्पनसङ्कल्पकल्प इति भावः ।

ते हीत्थं सङ्गिरन्ते --> न खलु निखिलेऽपि भुवनगोले भूतचतुष्टयातिरिक्तं किमप्यात्मादि वस्तु विद्यते, अनुपलब्धेः । किन्तु कायाकारपरिणतं भूतचतुष्टयमेव चैतन्यमाबिभर्ति ।

❀ जयलता ❀

पिकाकल्पितम् । तदुक्तं **प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे** - 'यः पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः यथा चार्वाकदर्शनम् । (प्र.न.त.परि.७ - सू.-२५/२६) इति । शिष्टं स्पष्टम् ।

मूलग्रन्थे --> चार्वाकस्येति । चार्वी = आपातरम्या विपाकदारुणा वाक् यस्य स चार्वाकः, तस्य ।

चार्वाकान् पूर्वपक्षयति --> **ते हीत्थं सङ्गिरन्ते** इति । न खलु = नैव, **निखिलेऽपि भुवनगोले** इति । अधुनातनानां नास्तिकानां मते भुवनस्य = पृथिव्या गोलकात्मकत्वात् भुवनगोले इत्युक्तं, न तु भुवनवलय इति ध्येयम् । भूगोलमतखण्डनं तु **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकाद**वसेयम् । **भूतचतुष्टयातिरिक्तं** = पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणभूतचतुष्कव्यतिरिक्तं, यद्यपि गगनस्यापि भूतत्वमेव तथापि तस्यातीन्द्रियत्वेन चार्वाकैरनभ्युपगमाद् भूतपञ्चकातिरिक्तमित्यनुक्त्वा भूतचतुष्टयातिरिक्तमित्युक्तम् । **किमपि आत्मादि वस्तु विद्यते अनुपलब्धेः** = प्रमाणत उपलब्धिविरहात् । तथाहि न तावत् प्रत्यक्षेण तत्सिद्धिः, इन्द्रियगोचरातिक्रान्तत्वात् । न च 'अहं सुखी' इत्यादिमानससाक्षात्कारविषयत्वेन तत्सिद्धिरिति **वाच्यम्**, तस्य 'अहं गौरः श्यामो वा' इत्यादिप्रतीतिवत् शरीरविषयतयाऽप्युपपत्तेः । किञ्चाऽहङ्कारप्रत्ययः परमार्थेन आत्मगोचरः स्यात् तदा न कादाचित्कः स्यात्, आत्मनः सदा सन्निहितत्वात् । कादाचित्कं हि ज्ञानं कादाचित्ककारणपूर्वकं दृष्टं यथा सौदामिनीज्ञानमिति व्यापकाभावाद् व्याप्याभावसिद्धिः । नाप्यनुमानेन तत्सिद्धिः अव्यभिचारिलिङ्गाऽग्रहणात् । नापि आगमतः, तेषां परस्परविरुद्धार्थानां नास्त्येव प्रामाण्यम् । एकेन योगिना व्यवस्थापितार्थस्याऽभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैव व्यवस्थापनात् । स्वयमव्यवस्थितप्रामाण्यानाञ्च तेषां कथमन्यव्यवस्थापने सामर्थ्यम् ? नाऽप्युपमानेन, तत्सदृशस्याऽन्यस्य विरहात् । नाप्यर्थापत्त्या, तदभावेऽप्येकस्या अप्यनुपपत्तेर्विरहात् । तस्मादभाव-प्रमाणैकगम्यता तस्य । तदुक्तं **श्लोकवार्तिके कुमारिलेन** 'प्रमाणपञ्चकं यत्र, वस्तुरूपे न जायते, भावसत्त्वावबोधार्थं, तत्राभाव-

येषां. । अब प्रकरणकार महोपाध्यायजी महाराजा वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की ११ वीं कारिका की व्याख्या का श्रीगणेश करते हैं कि जिनको परलोक, आत्मा एवं मोक्ष के बारे में ही मूढता है उनके साथ अन्य विचार = अनेकान्तवाद के बारे में विप्रतिपत्ति या सम्मति की खोज करना बिना मूलविचार के महल को बनाने के संकल्प के तुल्य होने से चार्वाक के साथ चर्चा करना अर्थशून्य है - यह कारिका का भावार्थ है । अब उपाध्यायजी महाराजा नास्तिकों की युक्तियों को खंडनार्थ विस्तार से बता रहे हैं । यह रहा दीर्घ पूर्वपक्ष ।

❀ भूतचतुष्क से अन्य आत्मा नहीं है - नास्तिक ❀

'पूर्वपक्ष :- सकल भूवलय में पृथ्वी, जल, तेज, वायु-इन चार भूतों को छोड कर उससे भिन्न कोई आत्मा नाम की चीज ही नहीं है, क्योंकि वह प्रमाण से उपलब्ध नहीं होती है । पृथ्वी, जल, तेज और वायु से बनी हुई काया से अतिरिक्त आत्मा चाक्षुष, स्पार्शन आदि प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात नहीं होने से कायाकार में परिणत पृथ्वी आदि भूतचतुष्क चैतन्य को धारण करता है । अतः तादृश शरीर ही आत्मा है, जिसका जन्म एवं मरण यहाँ ही होते हैं । श्मशान में शरीर को जलाने के बाद कोई परलोक जैसी चीज नहीं है, जहाँ यह कायात्मक आत्मा जा सके; क्योंकि कायारूपी आत्मा का यहाँ ही विनाश हो जाता है । यहाँ यह प्रश्न हो कि --> 'पृथ्वी आदि प्रत्येक भूत अचेतन होने से उनके समुदाय में भी चैतन्य कैसे उत्पन्न हो सकता है ?' <-- तो इसका यह समाधान है कि प्रत्येक क्रमुक फल, पत्र, चूर्ण आदि मादकता से रहित होने पर भी सम्मिलित होने पर उनमें जैसे मादकताशक्ति उत्पन्न होती है ठीक वैसे ही प्रत्येक पृथ्वी आदि चैतन्यशून्य होने पर भी उसके समुदाय में चैतन्य उत्पन्न हो सकता है । यह कोई बडी समस्या नहीं है । यहाँ यह शंका हो कि --> 'प्रत्येक क्रमुकफल आदि में भी मादकता होती है । हाँ, वह अल्पमात्रा में होती है, यह एक अलग बात है । यदि उनमें से प्रत्येक को सर्वथा मादकताशक्तिविकल माना जाय तब तो वे कितने भी इकट्ठे हों मगर उनमें मादकताशक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती । जो सर्वथा अशक्त हैं वे परस्पर मीलित भी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकते । बालू के प्रत्येक कण

१ इसका उत्तरपक्ष ६४४ पृष्ठ पर है ।

न च प्रत्येकमचेतनानां समुदायेऽपि कथं चैतन्यमिति वाच्यम्, प्रत्येकममादकानामपि मीलितानां क्रमुकफल-पत्रचूर्णादीनां मादकत्ववदुपपत्तेः ।

अथ प्रत्येकमपि तेषां मादकताशक्तिरस्त्येव, अशक्तानां मीलितानामपि कार्याऽजनकत्वात् । न हि वालुकासहस्राद् यन्त्रनिष्पीडितादपि तैलोद्भव इति चेत् ? न, स्वभावेनैव व्यवस्थोपपत्तौ शक्तौ मानाभावात् ।

❀ जयलता ❀

प्रमाणता' (श्लो.वा) इति । 'तर्हि प्रतिप्राणिसंसिद्धं चैतन्यं कथं सङ्गच्छते ?' इत्याशङ्कायामाह- **किन्तु कायाकारपरिणतं भूतचतुष्टयमेव चैतन्यं** = ज्ञानादिकं **आविर्भर्ति** । तस्माच्छरीराकारपरिणतो भूतचतुष्क एवात्मपदप्रतिपाद्यः । **एतेन** शुद्धपदत्वेनाऽर्थवत्-त्वेनाऽऽत्मसिद्धिरित्यपि **प्रत्याख्यातम्** शरीरातिरिक्तस्य तस्योपगमे गौरवाच्च । **अत एव** चैतन्यमेवात्मनः शरीरातिरिक्ते क्रमायां पुत्रीगे गर्भवत् मानमित्यपि **निराकृतम्** । **न** च प्रत्येकं **अचेतनानां** = चैतन्यशून्यानां सतां पृथिव्यादीनां **समुदायेऽपि कथं चैतन्यं** सम्भवेत् ? इति वाच्यम्, **प्रत्येकं अमादकानां** = मादकताविकलानां **अपि मीलितानां सतां क्रमुकफलपत्रचूर्णादीनां मादकत्ववदुपपत्तेः** । यथा तेषां प्रत्येकं मादकता नास्ति तथापि तत्समुदाये सा जायते तद्वदेव प्रकृतेऽपि बोध्यमिति चार्वाकाशयः ।

आस्तिकः शङ्कते **अथेति** चेदित्यनेनाऽन्वेति । **प्रत्येकमपि** किमुत मीलितानामित्यपिशब्दार्थः **तेषां** = क्रमुकफलपत्रादीनां **मादकताशक्तिरस्त्येव**, विपक्षबाधमाह - **अशक्तानां मीलितानामपि कार्याऽजनकत्वात्** = कार्यजननाऽसम्भवात् । दृष्टान्तमाह **न हीति**। प्रयोगस्त्वेवं - विवादापन्नानि प्रत्येकं विवक्षितशक्तिसमेतानि सम्भूय तत्कार्यकारित्वात् तिलादिवत् । यन्नैवं तन्नैवं यथा वालुकाराशिः । न चैतानि तथेति तत्र प्रत्येकमंशतो मादकताशक्तिसिद्धिः । पृथिव्यादिषु च प्रत्येकं चैतन्यानुपलब्धेः न तत्समुदाये चैतन्यं भवितुमर्हति। प्रयोगस्त्वेवं पृथिव्यादीनि न चैतन्योपादानानि प्रत्येकं चिच्छक्तिशून्यत्वात् वालुकाराशिवत् । ततश्च कायातिरिक्ततयाऽऽत्मन एव चैतन्योपादानत्वमित्यास्तिकाशयः ।

चार्वाकस्तन्निराकुर्वन्ति - **नेति** । **स्वभावेनैव व्यवस्थोपपत्तौ शक्तौ मानाभावादिति** । क्रमुकफलपत्रचूर्णादीनामेव स्वभावविशेषोऽयं यदुत तेभ्यो मीलितेभ्यो मादकतोपलम्भः न तु शाकापूपादिभ्यो मीलितेभ्य इत्येवमप्युपपत्तौ प्रत्येकं तेषु मादकताशक्तिकल्पना न युक्ता, गौरवात् । अत एव प्रत्येकमचेतनानामपि पृथिव्यादीनां स्वभावविशेषबलेन चैतन्योपादानत्वमनपायम्। दृश्यते हि प्रत्येकं मृत्तिकाकणेषु असतोऽपि घटसंस्थानस्य मीलितेषु तत्सम्भव इति । अतो न तत्र शक्तिकल्पना सङ्गतिमङ्गतीति प्राचीननास्तिकाशयः ।

नन्वात्मविभुत्ववादे घटाद्यवच्छेदेन ज्ञानाद्युत्पत्तिनिर्वाहाय 'अवच्छेदकतासम्बन्धेन ज्ञानादौ तादात्म्येन शरीरस्य कारणत्वम्'-वश्यमेवाऽभ्युपगन्तव्यम् । तथाऽऽत्मनो ज्ञानादिसमवायिकारणत्वमपि स्वीकर्तव्यम् । इत्थं कार्यकारणभावद्वयकल्पनापेक्षया लाघवात् समवायेन ज्ञानादौ तादात्म्येन शरीरस्यैव कारणत्वमभ्युपगन्तव्यम् । अत एव शरीरातिरिक्तात्मकल्पनाया अप्यनावश्य-

में अंशतः भी तैल नहीं होने की वजह हजारों और लाखों की संख्या में रेत को इकट्ठी करने पर भी उनके यन्त्रपीलन से तैल का एक बूंद भी नहीं निकलता है । अतः पृथ्वी आदि प्रत्येक भूत के अचेतन होने की वजह उनके समुदाय में भी चैतन्य उत्पन्न हो नहीं सकता' ← तो यह भी निराधार है, क्योंकि वालू का स्वभाव ही ऐसा है कि उनमेंसे कभी भी तैल नहीं निकलता । तिल का ऐसा स्वभाव है जिसकी वजह उनसे तैल निकलता है । एवं क्रमुकफल आदि का भी ऐसा स्वभाव है कि वे सम्मीलित होने पर उनमें मादकता उत्पन्न होती है । रोटी, दाल, भात आदि का स्वभाव ही ऐसा है कि वे परस्पर मीलित होने पर भी उनमें मादकता उत्पन्न नहीं होती । इस तरह स्वभावविशेष की कल्पना करने से ही उपपत्ति हो जाने से प्रत्येक में मादकताशक्ति की कल्पना करने में यानी शक्तिरूप से प्रत्येक में कल्पित मादकता में कोई प्रमाण नहीं है । अतः प्रत्येक पृथ्वी आदि में चैतन्य न होने पर भी तत्समुदाय में स्वभावविशेष की वजह चैतन्य की उत्पत्ति होती है । अतः प्रत्येक में शक्तिरूप से चैतन्य नहीं होने की बदौलत कायाकारपरिणत पृथ्वीआदि भूतचतुष्क में चैतन्य की उत्पत्ति की अनुपपत्ति की कोई सम्भावना नहीं है । अतः कायाकारपरिणत भूतचतुष्क से व्यतिरिक्त आत्मा की कल्पना करना अप्रामाणिक होने से अन्याय्य है, पक्षपातमात्र है, शास्त्र के प्रति अन्धश्रद्धामात्र है, विशेष कुछ नहीं ।

❀ समवाय से ज्ञान का कारण शरीर - नव्यनास्तिक ❀

नव्य.। नवीन नास्तिकों का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि → 'शरीरावच्छेदेन आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति हो

नव्यचार्वाकास्तु —> **अवच्छेदकतया ज्ञानादिकं प्रति तादात्म्येन क्लृप्तकारणताकस्य शरीरस्यैव समवायेन ज्ञानादिकं प्रति हेतुत्वकल्पनमुचितम् ।** न चैवं **शरीरात्मपदयोः पर्यायतापत्तिः, इष्टत्वात् । अत एव 'पृथिवीमय' इत्यादिश्रुतिः सङ्गच्छते । न चैवं परात्मन इव तत्समवेतज्ञानादीनामपि चाक्षुष-स्पार्शने स्यातामिति** वाच्यम्, **रूपादिषु जातिविशेषमभ्युपगम्य रूपान्यतद्वत्त्वेन चाक्षुषं प्रति स्पर्शान्यतद्वत्त्वेन च स्पार्शनं प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पनात् ।**

❋ जयलता ❋

कल्पमित्याशयवतां नव्यचार्वाकाणां मतमाह - **नव्यचार्वाकाः** = नैयायिकैकदेशीयाः **तु अवच्छेदकतया ज्ञानादिकमिति** । भावितार्थमेव । **न च एवं** = शरीरातिरिक्तात्माऽस्वीकारे, **शरीरात्मपदयोः पर्यायतापत्तिः**, एकस्मिन्नेवार्थे प्रवृत्तत्वादिति वाच्यम्, **इष्टत्वात्** । अत एव = पृथिव्यादिभूतचतुष्कनिर्मितशरीरस्यैवाऽऽत्मपदप्रतिपाद्यत्वात्, **'पृथिवीमय** आत्मा' **इत्यादिश्रुतिः** अपि **सङ्गच्छते** । आदिपदेन 'अन्नमय आत्मा, प्राणमय आत्मा' इत्यादिश्रुतिग्रहणम् । तदुक्तं **शरीरकारणतावादे** —> शरीरातिरिक्तस्य ज्ञानाद्यवच्छेदकत्वेऽतिप्रसङ्गस्तद्वारणायाऽवच्छेदकतासम्बन्धेन जन्यज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति आत्मसमवेतजन्यविशेषगुणत्वावच्छिन्नं प्रति वा शरीरत्वेन शरीरस्य तादात्म्यप्रत्यासत्त्या हेतुत्वं कल्प्यते । अथाप्यनुमित्यादौ परामर्शादीनां विशिष्टबुद्धौ विशेषणधियः सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्त्या इव समानावच्छेदकत्वप्रत्यासत्त्यापि हेतुत्वं व्यवस्थापनीयम् । निर्विकल्पस्याऽवच्छेदकता नियमार्थमेव तादृशकल्पनम् । शरीरत्वादिकन्तु न जातिविशेषः पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यात् । नापि ज्ञानावच्छेदकत्वं, तस्यैव नियामकत्वे आत्माश्रयप्रसङ्गात्, अपि तु चेष्टावदन्त्याऽवयवित्वम् । चेष्टात्वञ्च प्रयत्नाधीनक्रियानिष्ठजातिविशेषः । शरीरावयवस्य ज्ञानावच्छेदकत्वोपगमे तु ज्ञानजनकतावच्छेदककोटौ अन्त्यावयवित्वं न निवेशनीयम् । अत एव स्वप्नशरीरसंतापिकालेऽपि महाशरीरावयवावच्छेदेन ज्ञानाद्युत्पद्यते । चेष्टावत्त्वमुपलक्षणतया जनकतावच्छेदकमतो ज्ञानाव्यवहितप्राक्काले नियमतः शरीरे चेष्टाया असत्त्वेऽपि न क्षतिः ।

केचित्तु नव्या उपाधिसाङ्कर्यस्येव जातिसाङ्कर्यस्याऽपि निर्दोषत्वात् शरीरत्वादेरपि जातित्वमेव । **एतेन** पृथिवीत्वाना साङ्कर्यादात्मत्वं जातिर्न स्यात् शरीरात्मवादिमते इत्यपि **प्रत्युक्तमिति वदन्ति** ।

न च एवं = ज्ञानादेः शरीरसमवेतत्वेऽभ्युपगम्यमाने, **परात्मन इव** परात्मसमवेतरूपस्पर्शादीनामिव **तत्समवेतज्ञानादीनामपि** = परात्मत्वेनाऽभिमते परकीयशरीरे समवेतानां ज्ञानेच्छाकृत्यादीनामपि, **चाक्षुषस्पार्शने** = चक्षुःस्पर्शनेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षे स्यातां, स्वसंयुक्तसमवेतत्वप्रत्यासत्त्या चक्षुःस्पर्शनेन्द्रिययोः तत्र सत्त्वादिति **वक्तव्यम्, रूपादिषु** = रूपस्पर्शरसगन्धज्ञानादिषु **जातिविशेषं** = वैजात्यं **अभ्युपगम्य रूपान्यतद्वत्त्वेन** = रूपान्यत्वे सति प्रदर्शितवैजात्यवत्त्वेन विषयतासम्बन्धेन **चाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पनादि**त्यत्राऽप्यन्वीयते । **स्पर्शान्यतद्वत्त्वेन** = स्पर्शान्यत्वविशिष्टवैजात्यवत्त्वेन रूपेण च विषयतया **स्पार्शनं प्रति**

और घटादिअवच्छेदेन न हो-इसकी उपपत्ति के लिए समवाय सम्बन्ध से ज्ञान के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से आत्मा को कारण मान कर भी अवच्छेदकता सम्बन्ध से ज्ञानादि के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से शरीर को कारण मानना जब आवश्यक ही है तब समवाय सम्बन्ध से ही ज्ञानादि के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से शरीर को कारण मानना उचित है । इससे भिन्न आत्मा की कल्पना करना अनावश्यक है । इस पक्ष में उपर्युक्त दो कार्य-कारणभाव के स्वीकार का गौरव भी अप्रसक्त है। यहाँ इस शंका का कि —> 'समवाय से ज्ञानादि के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से शरीर को कारण मानने पर तो आत्मा पदार्थ और शरीरपदार्थ एक ही हो जायेगा, क्योंकि समवायअवच्छिन्न ज्ञानादिनिष्ठ कार्यता से निरूपित तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न कारणता के आश्रय को आस्तिक आत्मा कहते हैं और नास्तिक शरीर कहते हैं । एक ही अर्थ में प्रवृत्त होने की वजह घट और कुम्भ पद की भाँति आत्माशब्द और शरीरपद भी पर्यायशब्द बन जायेंगे' <— समाधान यह है कि यह तो हमें इष्ट ही है । शरीर ही आत्मा है, न कि शरीरातिरिक्त - यह तो हमारे लिए इष्टापत्ति है । इसीकी सिद्धि के लिए तो हम यह प्रयास करते हैं । शरीर और आत्मा एक ही होने की वजह तो उपनिषदों में भी कहा है कि - 'आत्मा पृथिवीमय है..' इत्यादि । यदि पृथ्वी आदि भूतसमुदायात्मक शरीर से आत्मा भिन्न होती तब तो उसके बारे में पृथिवीमय, अन्नमय इत्यादि कहना कैसे संगत होगा ?

न चैवं प.। शरीर को ही आत्मा मानने पर एवं ज्ञान आदि को शरीरगत = शरीरधर्म मानने पर यह समस्या मुँह फाड़े खड़ी रहती है कि —> 'जैसे एक व्यक्ति को अन्य व्यक्ति के शरीर का एवं परकीय शरीर में रहनेवाले रूप, स्पर्श आदि का चाक्षुष एवं स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है ठीक उसी प्रकार उसमें रहनेवाले ज्ञान, इच्छा आदि का भी चाक्षुष एवं स्पार्शन

इत्थमेव रसादीनामचाक्षुषाऽस्पार्शनत्वनिर्वाहात् । अस्तु वा ज्ञानादीनां चक्षुराद्ययोग्यत्वमेव । न चैवं स्वज्ञानादीनामपि प्रत्यक्षं न स्यादिति वाच्यम्, तेषामचाक्षुषत्वेऽपि मनसा प्रत्यक्षसम्भवात् ।

❀ जयलता ❀

प्रतिबन्धकत्वकल्पनादिति । अयं भावः विषयतासम्बन्धेन चाक्षुषं प्रति तादात्म्येन रूपान्यवैजात्यवतः प्रतिबन्धकत्वं विषयतासंसर्गेण स्पार्शनं प्रति च तादात्म्येन स्पर्शान्यवैजात्यवतः प्रतिबन्धकत्वमिति प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावोऽभ्युपगम्यते नवीननास्तिकमते । ज्ञानादिषु शरीरसमवेतेषु निरुक्तवैजात्यस्यैव रूपान्यत्वस्य सत्त्वेन चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वं स्पर्शान्यत्वस्य सत्त्वेन च स्पार्शनप्रतिबन्धकत्वमिति तत्र स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्धेन चक्षुःस्पर्शनेन्द्रियसत्त्वेऽपि न विषयतया चाक्षुषस्पार्शनोत्पत्तिः सम्भवति, प्रतिबन्धकसत्त्वदशायां कार्यानुत्पादाऽभ्युपगमात् । वैजात्यस्य सत्त्वेऽपि रूपान्यत्वस्य विरहाद्विषयतया चाक्षुषं निराबाधम्, विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टप्रतिबन्धकाभावसत्त्वात् । एवं स्पर्शे शरीरसमवेते वैजात्यस्य सत्त्वेऽपि स्पर्शान्यत्वस्य विरहेण विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टप्रतिबन्धकाभावसत्त्वात् स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्धेन स्पर्शेन्द्रियसत्त्वदशायां विषयतया स्पार्शनमपि अनपायम् । **इत्थमेव** = प्रदर्शितप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावस्वीकारे एव, **रसादीनामचाक्षुषाऽस्पार्शनत्वनिर्वाहात्** । रसादिषु वैजात्यस्यैव रूपान्यत्वस्य स्पर्शान्यत्वस्य च सत्त्वेन तादात्म्येन तेषां चाक्षुषस्पार्शनप्रतिबन्धकत्वात् कथं विषयतया चाक्षुषस्पार्शने सम्भवतः । प्रकृतप्रतिबध्य - प्रतिबन्धकभावानङ्गीकारे तु तत्र स्वसंयुक्तसमवेतत्वसंसर्गेण चक्षुःस्पर्शनयोः सत्त्वेन विषयतया चाक्षुषस्पार्शने रूपस्पर्शादाविव स्यातामेव । रसाद्यचाक्षुषाऽस्पार्शनत्वानुरोधेनाऽवश्यक्लृप्तप्रतिबन्धकतयैव ज्ञानाद्यचाक्षुषत्वाऽस्पार्शनत्वे उपपद्येते इति न ज्ञानादेः शरीरसमवेतत्वे किञ्चिद्बाधकमस्तीति नूतननास्तिकाकूतम् ।

ननु रूपरसादिषु वैजात्यमुपकल्प्य रूपान्यतद्वत्त्वादिना प्रतिबन्धकत्वकल्पनापेक्षया रसगन्धज्ञानादेरेव तादात्म्येन चाक्षुषादिप्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयं यद्वा गुरुत्वादिवत् ज्ञानादेरपि चक्षुराद्ययोग्यत्वमभ्युपगन्तव्यं लाघवादित्यत आह - **अस्तु वा ज्ञानादीनां चक्षुराद्ययोग्यत्वमेवेति** । चक्षुःस्पर्शनाद्ययोग्यत्वादेव न तेषां चाक्षुषस्पार्शनादिप्रसङ्ग इत्याशयः ।

न च एवं = ज्ञानादीनां चक्षुराद्ययोग्यत्वोपगमे, **स्वज्ञानादीनां** = स्वशरीरसमवेतज्ञानेच्छाकृत्यादीनां, **अपि प्रत्यक्षं** 'अहं जानामि इच्छामि' इत्याद्याकारो मानससाक्षात्कारो **न स्यादिति वाच्यम्, तेषां** = ज्ञानादीनां **अचाक्षुषत्वेऽपि** = चक्षुराद्ययोग्यत्वेऽपि **मनसा प्रत्यक्षसम्भवात्** = मानससाक्षात्कारविषयत्वसम्भवे बाधकविरहात् तन्मानसमनपायमेव । न हि

प्रत्यक्ष होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान, इच्छा आदि शरीर का धर्म होने पर रूप - स्पर्श आदि के समान ज्ञान - इच्छा आदि के साथ भी चक्षु एवं स्पर्शन इन्द्रिय का स्वसंयुक्तसमवेतत्व सम्बन्ध रहता है' <— किन्तु इसमें कोई खौफ रखने की जरूरत नहीं है, क्योंकि इसका सीधा ही समाधान यह दिया जा सकता है कि रस, जो रूप आदि की भाँति शरीर का धर्म है ही, उसके चाक्षुष एवं स्पार्शन लौकिक साक्षात्कार को रोकने के लिए जो उपाय किया जायेगा उसीसे ज्ञानादि के चाक्षुष एवं स्पार्शन प्रत्यक्ष का परिहार हो जायेगा और वह उपाय यही है कि रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, ज्ञान, इच्छा आदि विशेष गुणों में एक जाति का स्वीकार कर के विषयता सम्बन्ध से चाक्षुष के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से रूपान्यतज्जातिमान् को प्रतिबन्धक मान लिया जाय । इसी प्रकार विषयतासम्बन्ध से स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति भी स्पर्शान्यतज्जातिमान् को तादात्म्य सम्बन्ध से प्रतिबन्धक मान लिया जाय । ऐसा प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव मान लेने पर ज्ञान, इच्छा आदि के चाक्षुष या स्पार्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि ज्ञानादि में उक्त जातिविशेष रहने से ज्ञानादि भी रूपान्यतज्जातिमान् एवं स्पर्शान्यतज्जातिमान् हो जायेगा। तादात्म्यसम्बन्ध से इस तरह ज्ञानादि ही रसादि की भाँति चाक्षुष एवं स्पार्शन साक्षात्कार का प्रतिबन्धक हो जाने से उनमें विषयतासम्बन्ध से चाक्षुष या स्पार्शन की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं आयेगी । मतलब कि ज्ञानादि को शरीरधर्म मानने पर भी उक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव को स्वीकार कर के उनके चाक्षुष एवं स्पार्शन प्रत्यक्ष का निवारण हो सकता है ।

❀ ज्ञानादि चक्षुआदि के अयोग्य हैं - नव्यनास्तिक ❀

अस्तु.। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञानादि शरीरधर्म होने पर भी रस, गन्ध, आदि की भाँति चक्षु, स्पर्शन आदि इन्द्रिय के ग्रहणाऽयोग्य हैं । अतएव रसादि की भाँति ज्ञानादि का चाक्षुष या स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । अपने अविषय में इन्द्रिय की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि —> 'ज्ञान, इच्छा, आदि को चक्षु आदि इन्द्रिय के अयोग्य मानने पर तो गुरुत्व आदि की भाँति उनका भी प्रत्यक्ष ही नहीं होगा । तब तो परकीय ज्ञानादि की भाँति स्वकीय ज्ञान आदि का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा । इस परिस्थिति में लोकव्यवहार, प्रवृत्ति आदि

मनःसिद्धावेव किं मानं ? इति चेत् ? अनुमानमेव । न चानुमानोपगमेऽपसिद्धान्तः, अनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वाऽभ्युपगमात्, प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणाभ्युपगम एवाऽपसिद्धान्त-

❀ जयलता ❀

यदं तेषां चक्षुराद्ययोग्यत्वमिव मनोऽयोग्यत्वं स्वीकुर्मः । **न चैवं** स्वात्मन इव परात्मनोऽपि मानसप्रत्यक्षप्रसङ्गो दुर्वारः, न चेष्टापत्तिः कर्तुं युज्यते, परात्मप्रत्यक्षे तद्गतज्ञानादेरपि मानसत्वापातात्, ज्ञानादिकमूर्ते तन्मानसस्याऽसम्भवादिति **वाच्यम्,** तत्तदात्ममानसे तत्तदात्मत्वेन हेतुत्वोपगमात् । परेषां तु अवच्छेदकतया तत्तदात्ममानसत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्येन तत्तच्छरीरस्य कारणत्वं आहोस्वित् समवायेन तत्तदात्ममानसत्वावच्छिन्नं प्रति समवायेन विजातीयतत्तन्मनःसंयोगस्य कारणत्वं ? इत्यत्र विनिगमनाविरहात् । **न चैवं** बालशरीरानुभूतस्य युवाऽस्मरणप्रसङ्गः, बालशरीरस्य विनष्टत्वादिति **शङ्कनीयम्,** पूर्वघटनाशानन्तरं खण्डघटे कारणगुणप्रक्रमेण तद्गुणसङ्क्रमवत् पूर्वशरीरनाशोत्तरमुत्तरशरीरे पूर्वशरीरगुणसङ्क्रमात् । **न चैवमवयविज्ञानादावयवज्ञानादि-**हेतुताकल्पने गौरवमिति **वाच्यम्,** फलमुखत्वेन तस्याऽदोषत्वात् । मास्तु वाऽवयवी विजातीयसंयोगेनैव तदन्यथासिद्धेः । तथा च शरीरान्तर्गतशरीरेऽपि शरीरत्वघटकविजातीयसंयोगविशिष्टाणुवृत्तिसंस्कारात् मनसा तादृशस्मरणोपपत्तिः ।

ननु मनःसिद्धावेव किं मानं ? प्रत्यक्षेण तस्याऽग्रहणात् अनुपलब्धेरिति **चेत् ? तर्हि तत्र अनुमानमेव** मानं किं न स्यात् ? युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेर्मनसो लिङ्गत्वात् । ततश्च तत्र तत्सिद्धौ च तन्मतेऽपसिद्धान्तोऽपि लब्धावकाशः स्यादित्या-शङ्कायां नव्यनास्तिका आहुः **न च अनुमानोपगमेऽपसिद्धान्तः** सावकाशः, **अनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वाभ्युपगमात्** । मानसप्रत्यक्षविशेष एवाऽनुमितिज्ञानं, न तु परोक्षम् । **प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणाभ्युपगम एवापसिद्धान्तशङ्कावकाशात्** । शब्द-तदुपजीविप्रमाणयोरवाऽस्वीकारोऽस्मन्मते, तन्मूलभूतासिद्धेश्चरात् । अनुभवसिद्धस्त्वर्थो नाऽपह्नोतुं शक्यः । आबालगोपालसाधारणा-ऽनाद्यादिप्रतिपत्तिरूपानुमित्यनङ्गीकारे व्यवहाराऽनिर्वाहात् । न हि धूमपरामर्शाद् 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारं 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारं वा ज्ञानं जायमानं संशयरूपं स्मृतिरूपं वा, 'सन्देह्मि', 'स्मरामि' इत्याद्यननुव्यवसायात् । परामर्शस्य निश्चय-सामग्रीत्वेन न संशयहेतुत्वं, 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यननुभवाच्च न तादृशी स्मृतिः किन्तु मानससाक्षात्कारात्मिकाऽनुमितिरेवोपजायते । न चैवं 'वह्निं न साक्षात्करोमि' इत्यादिप्रतीत्यनुपपत्तिरिति **वाच्यम्,** गुरुत्वादाविव तत्र लौकिकविषयत्वाभावादेव तदुपपत्तेः । एकत्रैतत् अनुमितित्वावच्छिन्नं प्रति चाक्षुषादिसामग्रीनिष्ठतया प्रतिबन्धकत्वाऽकल्पने लाघवात् । **अनेन** अनुमितित्वस्य मानस-

की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी?' <— इसका कारण यह है कि ज्ञानादि चक्षु आदि बहिरिन्द्रिय के ग्रहणाऽयोग्य होने पर भी मन के ग्रहण योग्य होते हैं । अतः स्वकीय ज्ञान आदि का भले ही चाक्षुष, स्पार्शन आदि प्रत्यक्ष नामुमकिन हो, मानस साक्षात्कार मुमकिन हो सकता है । यहाँ इस प्रश्न का कि —> 'आप नास्तिक के मत में मन की सिद्धि में प्रमाण क्या है ? क्योंकि वह चक्षु आदि इन्द्रिय से तो उपलब्ध होता नहीं है <— उत्तर यही है कि अनुमान ही मन की सिद्धि में प्रमाण है । अनेक ज्ञान की युगपत् = एक काल में उत्पत्ति न होने की वजह मन की अनुमिति की जाती है । अतः अनुमितिजनक अनुमान ही मन की उपलब्धि में प्रमाण है । यहाँ यह शंका हो कि —> ''यदि अनुमिति एक अतिरिक्त प्रमा है तब तो उसके अनुरोध से अनुमान नामक अतिरिक्त प्रमाण को भी स्वीकार करना पड़ेगा और उसे यदि मान्यता दी जायेगी तो उस अवस्था में 'एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अन्य कोई प्रमाण नहीं है' - इस चार्वाकसिद्धान्त का भङ्ग हो जाने से अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान की प्राप्ति होगी'' <— तो उसके समाधान में नव्य नास्तिकों की ओर से यह कहा जा सकता है कि —>

❀ अनुमितित्व मानसत्वव्याप्य है - नूतन नास्तिक ❀

अनुमितित्वस्य.। अनुमिति कोई अतिरिक्त प्रमा नहीं है किन्तु वह एक प्रकार का मानस प्रत्यक्ष है । इस प्रकार अनुमितित्व मानसत्व का व्याप्य धर्म है, न कि मानसत्व का विरोधी धर्म । यदि अनुमिति को अतिरिक्त प्रमा मानी जाय तब अतिरिक्तप्रमा-जनकत्वेन अनुमाननामक अतिरिक्त प्रमाण की सिद्धि की आपत्ति होगी । मगर उक्त रीति से अनुमान का मानस प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव हो जाने से अपसिद्धान्त दोष की शङ्का को भी अवकाश नहीं है । यहाँ यह शंका हो कि —> 'शरीर को ही आत्मा मानने पर तो मृत देह में भी ज्ञान की उत्पत्ति होगी, जैसे जीवन्त शरीर में होती है ठीक उसी तरह'<— तो इसके समाधानार्थ यह कहा जा सकता है कि ज्ञान का समवायिकारण शरीर होता है तो ज्ञान का असमवायिकारण विजातीयमनःसंयोग होता है, जो जीवन्त देह में होने से उसमें ज्ञान की उत्पत्ति होती है और मृत देह में ज्ञानजनक विजातीय

शङ्काऽवकाशात् । न च शरीरस्याऽऽत्मत्वे मृतकलेवरेऽपि ज्ञानोत्पत्तिः स्यादिति वाच्यम्, ज्ञानजनकविजातीयमनःसंयोगापगमात् । आत्मनः शरीरातिरेके संयोगस्य पृथक्प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनलाघवमपि ।

अथ **द्व्यणुकपरमाणुरूपाद्यप्रत्यक्षाय चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवायत्वादिना प्रत्या-**

❀ जयलता ❀

त्तित्वमपि **परास्तम्** । **न च शरीरस्य आत्मत्वे** स्वीक्रियमाणे देहस्य ज्ञानसमवायिकारणत्वात् **मृतकलेवरेऽपि**, किमुत निद्रायां देहे इत्यपिशब्दार्थः, **ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्**, तत्सामग्रीसत्त्वादिति **वाच्यम्**, यदानीं **ज्ञानजनकविजातीयमनःसंयोगापगमात्** = ज्ञानाऽसमवायिकारणस्य विजातीयमनःसंयोगस्य शरीरे विनाशात् तत्र न ज्ञानोत्पत्तिः, कृत्स्नसामग्र्या एव कार्यजनकत्वात् ।

आत्मशरीरवादी स्वमते गुणं दर्शयति - **आत्मनः शरीरातिरेके** = देहाभिन्नत्वे स्वीक्रियमाणे, **संयोगस्य पृथक्प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनलाघवमपि** । इदमत्राकूतम् - आत्मशरीरवादिमते आत्ममानससाक्षात्कारं प्रति मनसः स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्धेन कारणत्वं सम्भवति, देहस्वरूपस्याऽऽत्मनः मनःसंयुक्तावयवसमवेतत्वात् । परं शरीरातिरिक्तात्मवादिमते आत्मनो निरवयवत्वेन तत्र मनसः स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्धो न सम्भवतीति स्वसंयोगसम्बन्धस्य तत्प्रत्यक्षकारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तिविधया कल्पनीयत्वम् । शरीरात्मवादिमते तु लौकिकविषयतया द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्धेनेन्द्रियस्य कारणत्वमभ्युपगम्यते । तथाहि घटस्य चक्षुःसंयुक्तकपालसमवेतत्वेन घटरूपादेश्च चक्षुःसंयुक्तघटसमवेतत्वेन चक्षुषः तत्र स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्धेन सत्त्वात् तत्र लौकिकविषयतया चाक्षुषोपपत्तिः सुकरा । अतो नात्मशरीरवादिना संयोगस्य स्वातन्त्र्येण लौकिकविषयतावच्छिन्नद्रव्यप्रत्यक्षनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तित्वं कल्पनीयमिति लाघवम् । **कश्चित्तु** आधुनिकः शरीरातिरिक्तात्मानुरोधेन शरीरात्मनोः संयोगाकल्पनलाघवमित्याचष्टे, तन्न, अक्षरस्वरस्याऽलभ्यमानत्वात् ।

अतिरिक्तात्मवादी शङ्कते **अथेति** चेदित्यनेनान्वयि । **द्व्यणुकपरमाणुरूपाद्यप्रत्यक्षाय** = द्व्यणुक - परमाणुरूपादीनामप्रत्यक्षत्वोपपत्तये **चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवायत्वादिना प्रत्यासत्तित्वे** = चक्षुषः स्वसंयुक्तसमवेतत्वस्य स्वसंयुक्त-

---

मनःसंयोग नहीं होने की वजह उसमें ज्ञान की उत्पत्ति होती नहीं है । अतः शरीर को ज्ञान = चैतन्य का उपादान कारण मानने में कोई दोष नहीं है ।

❀ शरीरात्मवादी को प्रत्यासत्तिलाघव ❀

आत्मनः.। शरीर को ही आत्मा मानने में एक लाभ यह है कि संयोग को प्रत्यक्ष जनकप्रत्यासत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहने से साक्षात्कारजनकतावच्छेदक सम्बन्ध के शरीर में भी लाघव होता है । देखिये, आत्मशरीरवादी के मत में आत्मा के मानस प्रत्यक्ष की कारणतावच्छेदक प्रत्यासत्ति होगी स्वसंयुक्तसमवेतत्व । स्व = मन, उससे संयुक्त शरीरावयव, उसमें समवेत है शरीर । शरीर में स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्ध से मन रहने से वहाँ विषयतासम्बन्ध से शरीरस्वरूपात्मगोचर मानस साक्षात्कार उत्पन्न होगा । शरीरातिरिक्तात्मवादी नैयायिकादि के मत में आत्मा निरवयव होने से मन का आत्मा के साथ स्वसंयुक्तसमवेतत्व सम्बन्ध नहीं हो सकता । अतः आत्ममानसप्रत्यक्ष के अनुरोध से स्वसंयोगसम्बन्ध को ही आत्ममानसप्रत्यक्ष की कारणतावच्छेदकप्रत्यासत्ति माननी होगी । स्व = मन, उसका संयोग आत्मा में होने से मन स्वसंयोगसम्बन्ध से आत्मा में रह कर वहाँ विषयता सम्बन्ध से आत्ममानससाक्षात्कार को उत्पन्न करेगा । इस तरह शरीरातिरिक्तात्मवादी के मत में आत्ममानस के अनुरोध से संयोग को स्वातन्त्र्येण प्रत्यक्षकारणतावच्छेदक सम्बन्ध मानना आवश्यक होता है । जब कि शरीरात्मवादी के मत में किसी भी प्रत्यक्ष की कारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तिविधया संयोग का स्वतन्त्र स्वीकार करना आवश्यक नहीं है । सभी द्रव्यों का स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्ध से ही प्रत्यक्ष हो सकता है । जैसे चक्षुसंयुक्त कपाल में समवेत घट में स्वसंयुक्तसमवेतत्व सम्बन्ध से चक्षु रहने से वहाँ विषयता सम्बन्ध से घटगोचर चाक्षुष साक्षात्कार होता है । एवं अन्यत्र भी स्वसंयुक्तसमवेतत्व सम्बन्ध से ही द्रव्य और द्रव्यसमवेत के प्रत्यक्ष की उपपत्ति हो जाने से संयोग को पृथक् प्रत्यक्षकारणतावच्छेदक सम्बन्ध मानने की शरीरात्मवादी के मत में आवश्यकता न होने से लाघव है ।

अथ.। यदि यह कहा जाय कि —> 'द्व्यणुक, परमाणु एवं चक्षु आदि के रूप के चाक्षुष के परिहारार्थ चक्षुःसंयुक्तसमवाय को चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवायत्वरूप से ही चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध मानना पड़ेगा जिसके फलरूप में द्व्यणुक और परमाणु में महत्त्व एवं चक्षु आदि में उद्भूत रूप नहीं होने से द्व्यणुक एवं चक्षु - परमाणु आदि के रूप

सतित्वे त्रुटिग्रहार्थं प्रत्यासत्तित्वमावश्यकमेवेति चेत् ? न, द्रव्यतत्समवेतप्रत्यक्षे महत्त्वस्य समवाय-सामानाधिकरण्याभ्यां पृथक् कारणत्वात् । न च परमाणौ पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षापत्ति-

❀ जयलता ❀

महदुद्भूतरूपवत्समवेतत्वत्वादिना प्रत्यासत्तित्वस्वीकारावश्यकत्व इति । अयमत्राशयः स्वसंयुक्तसमवेतत्वस्य स्वसंयुक्तसमवेतत्वत्वादिना प्रत्यक्षकारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तित्वस्वीकारे द्व्यणुकपरमाणुरूपयोः चाक्षुषं स्यात्, चक्षुषः स्वसंयुक्तसमवेतत्वसंसर्गेण तत्र सत्त्वात् । न च तत्प्रत्यक्षं भवति । अतः चाक्षुषकारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तिमध्ये महत्त्वस्य प्रवेशः शरीरात्मवादिनाऽवश्यं कर्तव्यः । तथापि इन्द्रियरूपादेः चाक्षुषं दुर्निवारं, तत्र स्वसंयुक्तमहत्त्ववत्समवेतत्वसंसर्गेण चक्षुषः सत्त्वात् । अतः तदप्रत्यक्षत्वानुरोधेनोद्भूतरूपस्यापि तत्र निवेशः कार्यः । ततश्च विषयतासम्बन्धेन द्रव्यतत्समवेतप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति स्वसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवेतत्वसंसर्गेण मनःचक्षुःस्पर्शनेन्द्रियान्यतमस्य कारणत्वं शरीरात्मवादिना स्वीकर्तव्यम् । तथा च त्रसरेणुप्रत्यक्षानुपपत्तिः, तत्समवायिनो द्व्यणुकस्य महत्त्वहीनत्वेन तत्र स्वसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवेतत्वसन्निकर्षेण चक्षुषोऽसत्त्वात् । अतः **त्रुटिग्रहार्थं** = त्रसरेणुचाक्षुषोपपत्तये **संयोगस्य** स्वातन्त्र्येण **प्रत्यासत्तित्वं** = प्रत्यक्षकारणतावच्छेदकसन्निकर्षत्वं **आवश्यकमेव** । इत्थञ्च त्रसरेणुचाक्षुषानुरोधेन चक्षुषः स्वसंयोगसम्बन्धेन प्रत्यक्षकारणत्वाभ्युपगमे शरीरात्मवादिनः 'संयोगस्य पृथक्प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनलाघवमि'ति वचनं त्यक्तव्यम् इति तुल्यगौरवमुभयमते इति शरीरातिरिक्तात्मवादिनस्तात्पर्यम् ।

नव्यनास्तिकास्तदपाकुर्वन्ति - नेति । लौकिकविषयतासम्बन्धेन **द्रव्यतत्समवेतप्रत्यक्षे महत्त्वस्य** उपलक्षणात् उद्भूतरूपस्य च **समवायसामानाधिकरण्याभ्यां पृथक् कारणत्वादिति** । अयं शरीरात्मवाद्यभिप्रायो लौकिकविषयतया द्रव्यप्रत्यक्षं प्रति महत्त्वोद्भूतरूपयोः समवायेन द्रव्यसमवेतसाक्षात्कारं प्रति च तयोः सामानाधिकरण्येन कारणत्वम् । ततश्च द्रव्यतत्समवेतप्रत्यक्षं प्रति स्वसंयुक्तसमवेतत्वत्वेन प्रत्यासत्तित्वमनपायम् । स्वसंयुक्तसमवेतत्वसन्निकर्षेण नेत्रवति द्व्यणुके समवायेन परमाणुरूपे च सामानाधिकरण्येन महत्त्वस्य इन्द्रियपिशाचादौ समवायेन तदीयरूपादौ च सामानाधिकरण्येनोद्भूतरूपस्य विरहान्न तत्साक्षात्कारापत्तिः । एवं प्रत्यक्षप्रत्यासत्तिमध्ये महत्त्वोद्भूतरूपयोरप्रवेशेन न त्रुटिचाक्षुषानुरोधेन संयोगस्य पृथक्प्रत्यासत्तित्वं कल्पनीयम्, चक्षुःसंयुक्त-द्व्यणुकसमवेते त्रसरेणौ स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्धेन चक्षुषः सत्त्वात् ।

अतिरिक्तात्मवादिशङ्कामपाकर्तुमुपक्रमन्ते - न चेति वाच्यमित्यनेनान्वेति । **परमाणौ पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षापत्ति-**

के साथ चक्षु का स्वसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवाय सम्बन्ध नामुमकिन बनने से आपादित चाक्षुष का परिहार हो सकेगा। मगर इस परिस्थिति में एक नयी समस्या खड़ी होगी कि त्रसरेणु का चाक्षुष न हो सकेगा, क्योंकि त्रसरेणु के अवयव द्व्यणुक में महत्त्व नहीं होने से स्वसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवेतत्वसम्बन्ध से चक्षु की त्रसरेणु में उपस्थिति नहीं है । अतः त्रसरेणु के चाक्षुष की उपपत्ति के लिए तो संयोग को स्वतन्त्र प्रत्यक्षकारणतावच्छेदक सम्बन्ध मानना ही होगा । तभी स्वसंयोग सम्बन्ध से त्रसरेणु में चक्षु के होने की वजह उसमें विषयता सम्बन्ध से चाक्षुष उत्पन्न हो सकेगा । इस तरह त्रुटिचाक्षुष के अनुरोध से संयोग में पृथक् प्रत्यक्षकारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तित्व की कल्पना आवश्यक ही है तब शरीरात्मवादी के मत में प्रत्यासत्तिलाघव कैसे मुमकिन होगा ? <--

❋ महत्त्व और उद्भूतरूप में स्वतन्त्रकारणता ❋

न.ट.। तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि लौकिकविषयता सम्बन्ध से द्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति समवाय सम्बन्ध से महत्त्व एवं उद्भूत रूप में स्वतन्त्र कारणता मान लेने पर एवं लौकिकविषयता सम्बन्ध से द्रव्यसमवेतविषयक प्रत्यक्ष में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से महत्त्व एवं उद्भूत रूप को स्वतन्त्रतया कारण मान लेने से चक्षुःसंयुक्तसमवाय को स्वसंयुक्तसमवेतत्वरूप से भी कारण मानने में परमाणुरूप, द्व्यणुक, चक्षु आदि के रूप के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती है । द्व्यणुक में समवायसम्बन्ध से महत्त्व ही नहीं रहता है एवं परमाणु, चक्षु आदि के रूप में सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से क्रमशः महत्त्व एवं उद्भूत रूप ही नहीं रहते हैं । कारणान्तरविरह की वजह उनके प्रत्यक्ष की आपत्ति को अवकाश कहाँ ? त्रसरेणु में तो समवाय सम्बन्ध से महत्त्व रहता है । अतः द्व्यणुक के महत्त्वहीन होने पर भी स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्ध से त्रुटि में चक्षु रहने की वजह त्रसरेणु का चाक्षुष निराबाध है । इस तरह त्रसरेणु का चक्षुसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्ध से ही प्रत्यक्ष सम्भव होने से संयोग को पृथक् प्रत्यक्षकारणतावच्छेदक प्रत्यासत्ति मानने की शरीरात्मवादी के मत में आवश्यकता नहीं है ।

❋ अयोग्यवृत्तिधर्मयोग्यसाक्षिकप्रतिभासविरुद्ध प्रत्यक्षमात्र का कारण ❋

न च प.। यहाँ यह भी कहना कि --> 'स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्ध को प्रत्यक्षकारणतावच्छेदकप्रत्यासत्ति मानने पर तो

वारणायोद्भूतरूप-महत्त्वयोः प्रत्यासत्तिमध्ये निवेशनमेवोचितमिति वाच्यम्, परमाणौ पृथिवीत्व-प्रत्यक्षस्याऽनापाद्यत्वात् घटादौ तस्य तु जायमानत्वादेव । न च परमाणुघटितसन्निकर्षात् पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षापत्तिः, अयोग्यवृत्तिधर्माऽयोग्यसन्निकर्षाद्यभावकूटस्य सामान्यत एव प्रत्यक्षहेतुत्वात् ।

अस्तु वा स्वविशिष्टस्वविषयसमवायित्वसम्बन्धेन जातिचाक्षुषं प्रति विषयतासम्बन्धेनाश्रयचाक्षुषस्य हेतुत्वम्, तेन नाऽयं दोषः । एतेन स्वविषयसमवेतत्वसम्बन्धेनाऽऽश्रयचाक्षुषस्य

❋ जयलता ❋

वारणाय = पृथिवीत्व - द्रव्यत्वादिजातिगोचरसाक्षात्कारापाकरणकृते **उद्भूतरूपमहत्त्वयोः प्रत्यासत्तिमध्ये** = प्रत्यक्षकारणतावच्छेदकसन्निकर्षकुक्षौ **निवेशनमेवोचितं**, तथा च पुनः त्रुटिसाक्षात्कारोपपत्तये संयोगस्य पृथक्प्रत्यासत्तित्वमावश्यकमेवेति वाच्यम् । महत्त्वघटनेन परमाणौ **पृथिवीत्वप्रत्यक्षस्यानापाद्यत्वात्** । द्रव्यसमवेतसाक्षात्कारं प्रति सामानाधिकरण्येन महत्त्वस्य कारणत्वात् । ततश्चाऽयोग्यवृत्तिधर्मत्वात् न परमाणुवृत्तिपृथिवीत्वादिजातिप्रत्यक्षम् । **घटादौ तस्य** = पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षस्य **तु जायमानत्वादेव** अनापाद्यत्वम् । महत्त्वोद्भूतरूपसमवायिघटसमवेतपृथिवीत्वादौ स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्धेन चक्षुषः सत्त्वात् । **न च परमाणुघटितसन्निकर्षात् पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षापत्तिरिति** वक्तव्यम्, **अयोग्यवृत्तिधर्मायोग्यसन्निकर्षाद्यभावकूटस्य सामान्यत एव प्रत्यक्षहेतुत्वात्** = प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नकारणत्वात्, परमाणुघटितसन्निकर्षस्याऽयोग्यत्वादेव तेन तस्याऽनापाद्यमानत्वमिति नवीननास्तिकाभिप्रायः ।

निरुक्ताभावकूटस्य प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नकारणत्वे गौरवात्कल्पान्तरमाह - **अस्तु वेति । स्वविशिष्टस्वविषयसमवायित्वसम्बन्धेनेति** अनेन कार्यतावच्छेदकसम्बन्धप्रदर्शनं कृतम् । स्वपदेन जातिचाक्षुषग्रहणम् । वैशिष्ट्यञ्च विषयतासम्बन्धेन बोध्यम् । ततश्च विषयतासम्बन्धेन स्वविशिष्टो यः स्वविषयसमवायी तस्मिन् स्वविशिष्टस्वविषयसमवायित्वं, तेन सम्बन्धेन **जातिचाक्षुषं** = जाति-चाक्षुषत्वावच्छिन्नं **प्रति विषयतासम्बन्धेन** = स्वनिष्ठलौकिकविषयितानिरूपितविषयतासन्निकर्षेण **आश्रयचाक्षुषस्य** = जाति-समवायिगोचरचाक्षुषस्य, **हेतुत्वम्** । मुद्गरप्रहारादिविरहदशायां घटचाक्षुषस्य लौकिकविषयतासम्बन्धेन घटे सत्त्वात् स्वविशिष्टस्वविषय-समवायित्वसम्बन्धेन तत्रैव घटत्व-पृथिवीत्वादि-चाक्षुषमुत्पद्यते घटत्वचाक्षुषविषयघटत्वसमवायिनो घटस्यैव विशेष्यताभिधानविषयता-सम्बन्धेन 'घटोऽयमि'त्याकारकघटत्वचाक्षुषविशिष्टत्वात् । **तेन** = निरुक्तकार्यकारणभावस्वीकारेण **न अयं** = परमाणुसमवेत-पृथिवीत्वचाक्षुषप्रसङ्गलक्षणोऽनुपदोक्तो **दोषः**, परमाणौ लौकिकविषयतासम्बन्धेन पृथिवीत्वाश्रयगोचरचाक्षुषस्य स्वविशिष्टस्वविषय-समवायित्वसम्बन्धावच्छिन्नपृथिवीत्वचाक्षुषनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताश्रयस्य विरहात् ।

एतेन = निरुक्तकार्यकारणभावाभ्युपगमेन, असारमित्यनेनाऽस्यान्वयः । **स्वविषयसमवेतत्वसम्बन्धेन आश्रयचाक्षुषस्य**

परमाणु में रहनेवाले पृथिवीत्वादि का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा, क्योंकि चक्षुसंयुक्तपरमाणुसमवेत पृथिवीत्वादि में स्वसंयुक्तसमवेतत्व सम्बन्ध से चक्षु उपस्थित है । अतः तन्निवारणार्थ प्रत्यक्षकारणतावच्छेदकप्रत्यासत्ति में उद्भूत रूप एवं महत्त्व का निवेश करना उचित है । स्वसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवेतत्व सम्बन्ध को प्रत्यक्षकारणतावच्छेदक प्रत्यासत्ति मानने पर ही परमाणुवृत्ति पृथिवीत्व आदि के अचाक्षुष की उपपत्ति हो सकती है, क्योंकि परमाणु में महत्त्व न होने से महत्त्वघटित उक्त सम्बन्ध से परमाणुगत पृथिवीत्वादि में इन्द्रिय रहती नहीं है । तब तो पुनः पूर्वोपदर्शित रीति से त्रुटिप्रत्यक्ष के अनुरोध से संयोग को पृथक् प्रत्यक्षकारणता-वच्छेदकप्रत्यासत्तिविधया मानना आवश्यक होगा' <— भी ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यसमवेतप्रत्यक्ष में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से महत्त्व कारण है, जो परमाणुसमवेत पृथिवीत्वादि में नहीं रहने से परमाणु में पृथिवीत्वादि के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं दी जा सकती । घटादि में रहनेवाले पृथिवीत्वादि का तो चाक्षुष होने से ही उसका आपादान नहीं हो सकता । —> 'फिर भी परमाणुघटित सन्निकर्ष से पृथिवीत्वादि के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी' <— इस शंका के समाधानार्थ यह कहा जा सकता है कि लौकिकविषयता सम्बन्ध से प्रत्यक्षसामान्य के प्रति अयोग्यवृत्तिधर्म, अयोग्यसन्निकर्ष आदि के अभाव का समुदाय स्वरूपसम्बन्ध से कारण होता है । परमाणुघटित-प्रत्यासत्ति अयोग्य होने से उसके द्वारा पृथिवीत्वादि का साक्षात्कार नहीं हो सकता । अतः त्रुटिप्रत्यक्ष के लिए संयोग में पृथक् प्रत्यासत्तित्व की कल्पना अनावश्यक है-यह नवीन चार्वाकों का वक्तव्य है ।

अस्तु । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि स्वविशिष्टस्वविषयसमवायित्व सम्बन्ध से जातिचाक्षुष के प्रति विषयता सम्बन्ध से आश्रयचाक्षुष कारण है । घटत्वादि के आश्रय घटादि का चाक्षुष होने पर ही घटत्वादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, न कि उसके बिना भी । कार्यतावच्छेदक प्रत्यासत्ति के घटक स्वपद से जातिचाक्षुष का ग्रहण अभिमत है । उससे विशिष्ट

जातिचाक्षुषं प्रति हेतुत्वेऽपि विनश्यदवस्थसन्निकर्षेण घटादिचाक्षुषोत्तरं परमाणौ पृथिवीत्वादि-प्रत्यक्षापत्तिरित्यपास्तम् ।

ननु 'मम शरीरमि'त्यादिप्रतीत्याऽऽत्मनोऽतिरेकः सेत्स्यतीति चेत् ? न, उक्तलाघव-बलेनेदृशप्रतीतेर्भ्रमत्वकल्पनात्, 'श्यामोऽहं गौरोऽहमि'त्यादिसामानाधिकरण्यानुभवाच्च ।

❀ जयलता ❀

= जातिसमवायिचाक्षुषस्य लौकिकविषयतया **जातिचाक्षुषं प्रति हेतुत्वे** स्वीक्रियमाणे घटत्वसमवायिघटगोचरचाक्षुषस्य स्वविषय-समवेतत्वसम्बन्धेन घटत्वे सत्त्वेन तत्र लौकिकविषयतया घटत्वचाक्षुषोत्पादस्योपपादने **अपि विनश्यदवस्थसन्निकर्षेण** = विनश्यदवस्थो यो घटादिः तद्विषयकचक्षुःसन्निकर्षेण, **घटादिचाक्षुषोत्तरं** = घटादिगोचरचाक्षुषोत्पादाव्यवहितोत्तरक्षणावच्छेदेन, **परमाणौ पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षापत्तिः** दुर्वारा, घटस्य परमाणुसमूहात्मकत्वेन घटचाक्षुषस्य स्वविषयसमवेतत्वसम्बन्धेन परमाणुगत-पृथिवीत्वादावपि सत्त्वात् **इत्यपास्तम्**, स्वविशिष्टस्वविषयसमवायित्वसम्बन्धेनैव जातिचाक्षुषं प्रति विषयतया जात्याश्रयचाक्षुषस्य हेतुत्वस्वीकारेण प्रकृतापत्तेरयोगात्, एतदर्थमेव कार्यतावच्छेदकप्रत्यासत्तौ 'स्वविशिष्टे'त्युक्तम् ।

ननु 'मम शरीरं' इत्यादिप्रतीत्या आत्मनः शरीरात् **अतिरेकः सेत्स्यति** देहात्मनोरभेदे तु 'अहं शरीरमि'त्येव प्रतीतिः स्यान्न तु 'ममेदं शरीरमि'ति । यथा 'ममेदं पुस्तकं' इति प्रतीत्या आत्मनः पुस्तकादतिरेकः तथैव 'ममेदं शरीर'मित्याकारकप्रतीत्या शरीरादतिरेकः । यद्यपि षष्ठ्याः सम्बन्धमात्रमर्थः तथापि तस्य भेदनियतत्वेन शरीरेऽहन्त्ववद्भेदस्य शाब्दबोधोत्तरमाक्षेपलभ्यत्व-सत्त्वादहन्त्वभिति नन्वाशयः ।

नव्यनास्तिकास्तन्निराकुर्वन्ति - **नेति** । **उक्तलाघवबलेन** = संयोगस्य पृथक्प्रत्यक्षकारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तित्वाऽ-कल्पनलाघवानुरोधेन, **इदृशप्रतीतेः** = 'ममेदं शरीरमि'त्यादिप्रतीतेः **भ्रमत्वकल्पनात्** । वस्तुतस्तु षष्ठ्या न भेदनियतत्वं, 'राहोः शिरः' इत्यादावभेदेऽपि तद्दर्शनात् । एतेन भेदविशिष्टः सम्बन्ध एव षष्ठ्यर्थ' इत्यपि **प्रत्युक्तम्** । किञ्च तस्या भेदनियत्वे 'ममाऽयमात्मा' इत्यादेः का गतिः ? तत्राऽभेदोपगमे प्रकृते 'ममेदं शरीरमि'त्यत्र किं बद्धिलत्वं ? **'श्यामोऽहं' 'गौरोऽहं' इत्यादिसामानाधिकरण्यानुभवाच्च** । यथा 'नीलो घट' इत्यादौ समान-विभक्तिकत्वलक्षणस्य भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तशब्दानामेकार्थ-बोधकत्वस्वरूपस्य वा सामानाधिकरण्यस्य बलात् 'नीलरूपवदभिन्नो घटः' इत्यङ्गीक्रियते तद्वदेव 'श्यामोऽहं' इत्यादौ 'श्याम-

है उसके विषय का समवायी घटादि धर्मी । विषयता सम्बन्ध से आश्रयचाक्षुष घटादि में रहने से स्वविशिष्टस्वविषयसमवायित्व सम्बन्ध से घटत्वादिचाक्षुष भी वहीं उत्पन्न होता है । परमाणु का तो चाक्षुष ही नहीं होने से विषयता सम्बन्ध से आश्रयचाक्षुष परमाणु में नहीं रहने से परमाणुसमवेत पृथ्वीत्वादि का चाक्षुष वहाँ स्वविशिष्टस्वविषयसमवायित्वसम्बन्ध से उत्पन्न हो सकता नहीं है । अतएव यहाँ यह शंका भी कि --> विषयता सम्बन्ध से जातिचाक्षुष के प्रति स्वविषयसमवेतत्व सम्बन्ध से आश्रयचाक्षुष को कारण मानने पर चाक्षुषविषयभूत घट में समवेत घटत्वादि में स्वविषयसमवेतत्व सम्बन्ध से आश्रयचाक्षुष के रहने से विषयता सम्बन्ध से घटत्वादिचाक्षुष की उत्पत्ति तो हो सकती है मगर विनश्यदवस्थावाले घट के चक्षुसन्निकर्ष से घटचाक्षुष होने के बाद परमाणु में पृथिवीत्वादि के चाक्षुष की आपत्ति आयेगी, क्योंकि परमाणुसमूहात्मक घट प्रत्येक परमाणु से अतिरिक्त न होने से घटचाक्षुष-विषयीभूत परमाणु में समवेत पृथिवीत्वादि में स्वविषयसमवेतत्व सम्बन्ध से आश्रयचाक्षुष रहता है' <— निरस्त हो जाती है, क्योंकि तब घट ही विनष्ट होने से परमाणुवृत्तिपृथिवीत्वादिप्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं है । अतएव तब स्वविशिष्ट स्वविषयसमवायित्व का आश्रय न रहने की वजह उस सम्बन्ध से परमाणुसमवेत पृथिवीत्वादि के चाक्षुष की उत्पत्ति की कोई संभावना नहीं है। यह आपत्ति तब आती यदि विषयता सम्बन्ध से जातिचाक्षुष के प्रति स्वविषयसमवेतत्व सम्बन्ध से आश्रयचाक्षुष को कारण माना जाय । मगर हम तो पूर्वोक्त स्वविशिष्टस्वविषयसमवायित्व सम्बन्ध से जातिचाक्षुष के प्रति स्वविषयता सम्बन्ध से आश्रयचाक्षुष को कारण मानते हैं जिससे अनुपदोक्त पद्धति से परमाणुसमवेत पृथिवीत्वादि के चाक्षुष का परिहार हो सकता है ।

ननु मम.। यहाँ यह शंका हो कि —> ''आत्मा को शरीर से अतिरिक्त न मानने पर 'मम शरीरं' = 'यह मेरा शरीर है' इत्यादि प्रतीति कैसे हो सकेगी ? शरीर एवं आत्मा परस्पर अभिन्न होने पर तो ' मैं शरीर हूँ ' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। जैसे पुस्तक अपने से भिन्न होने की वजह 'मैं पुस्तक हूँ' ऐसी प्रतीति न होकर 'यह मेरा पुस्तक है' इत्याकारक प्रतीति होती है ठीक वैसे ही 'मैं शरीर हूँ' ऐसी प्रतीति न होकर 'यह मेरा शरीर है' ऐसी प्रतीति होने से शरीर से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि होती है'' <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वह प्रतीति भ्रमात्मक होती है । इसका कारण

ननु तथापि भूतचतुष्कप्रकृतित्वेन शरीरस्य पृथिव्यादिभिन्नत्वात्पृथिव्यादिचतुष्टयमेव तत्त्वमिति प्रतिज्ञासन्न्यास इति चेत् ? न, स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन गन्धाभावस्य गन्धं प्रति प्रतिबन्धकत्वेन तस्य भूतचतुष्कप्रकृतित्वाऽयोगात्, पार्थिवशरीरे जलादिधर्मस्यौपाधिकत्वात् ।

दिक्कालयोश्च मानाभावः दिक्कृत-कालिकविशेषणताभ्यां जन्यमूर्त्ताभ्यामेव तत्कार्यसम्भवात् ।

❋ जयलता ❋

रूपवदभिन्नोऽहमि'त्येवमनुभवत्वादुपगन्तव्यम्, स्वरसवाहिस्वानुभवबलापन्नस्याऽनभ्युपगममात्रेण प्रतिक्षेपाऽयोगात् । आत्मनश्चास्तिकमते नीरूपत्वेन नैवाक्तानुभवोपपत्तिः शक्या । आदिपदेन 'अहं गुरुः' इत्यादिसमानाधिकरणप्रतीतेर्ग्रहणम् । किञ्च शरीरात्मवादिमते उद्भूतरूपकार्यतावच्छेदकं द्रव्यप्रत्यक्षत्वमेव न त्वात्मेतरत्वमपि तत्र निविशत इति लाघवमपि ।

ननु तथापि = आत्मनः शरीरानतिरिक्तत्वेऽपि, **भूतचतुष्कप्रकृतित्वेन** पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणभूतचतुष्कोपादेयत्वेन, शरीरस्य **पृथिव्यादिभिन्नत्वात्,** प्रत्येकमविनिगमात्, विभिन्नभूतचतुष्काभिन्नत्वस्य च युक्तिविरुद्धत्वात् शरीरस्य भूतचतुष्टयातिरिक्तत्वमेवोपेयं, तथा च **'पृथिव्यादिचतुष्टयमेव तत्त्वं' इतिप्रतिज्ञासंन्यासः** भूतचतुष्टयातिरिक्तशरीरतत्त्वोपगमादिति **चेत् ? न, स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन गन्धाभावस्य** समवायेन **गन्धं प्रति प्रतिबन्धकत्वेन** नरादिशरीरस्य भूतचतुष्कसमवायिकारणत्वे गन्धाभाववज्जलादिसमवेतत्वेन स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन गन्धाभाववत्त्वान्मनुष्यादिशरीरे समवायेन गन्धोत्पादः न स्यात् । ततश्च निर्गन्धत्वापातेन **तस्य** = शरीरस्य **भूतचतुष्कप्रकृतित्वाऽयोगात्** = पृथिव्यादिचतुष्टयसमवायिकारणकत्वाऽसम्भवात्, पृथिव्यादिचतुष्कान्यतमसमवायिकारणकत्वमेव । **न च** विनिगमनाविरह **उद्भावनीयः,** यस्य प्राधान्यं तस्यैव शरीरोपादानकारणत्वोपगमात् यथा मनुष्यशरीरे पृथिवीतत्त्वस्य प्राधान्यात् पार्थिवत्वम् । **न चैवं** मनुष्यशरीरे क्लेदनाद्यनुपपत्तिः, तस्य जलादिधर्मत्वादिति वाच्यम्, **पार्थिवशरीरे जलादिधर्मस्य औपाधिकत्वादिति** । पार्थिवशरीरोपष्टम्भकस्य जलानलादिसंयोगस्य सत्त्वात् सर्वदा मनुष्यदेहे क्लेदनोष्मााद्युपलब्धिरिति न 'भूतचतुष्कमात्रं तत्त्वमि'ति प्रतिज्ञात्यागप्रसङ्ग इति तात्पर्यम् ।

ननु मास्तु आत्मनः शरीरातिरिक्तत्वं शरीरस्य वा भूतचतुष्टयव्यतिरिक्तत्वं तथापि दिक्कालयोस्तु भूतचतुष्टयातिरिक्तः

यह है कि शरीर को ही आत्मा मानने में उपर्युक्त प्रत्यासत्तिलाघव होता है जब कि शरीरातिरिक्त आत्मा का स्वीकार करने में प्रत्यक्षकारणतावच्छेदक प्रत्यासत्ति में गौरव होता है । दूसरी बात यह है कि 'मैं श्याम हूँ' 'मैं गौर हूँ' इत्यादि शरीर के समानाधिकरण भी प्रतीति होती है जिससे शरीर और आत्मा में अभेद सिद्ध होता है, क्योंकि आस्तिक की अभिमत आत्मा तो अरूपी होने से श्याम, श्वेत आदि रूप से शून्य होती है ।

ननु त.1 —> ''शरीर को आत्मा मानने पर भी यह समस्या तो अपरिहार्य रहेगी । वह यह कि पृथ्वी आदि चार भूत शरीर के उपादान कारण हैं । उनमें से किसी एक में शरीर का अन्तर्भाव मानने में कोई विनिगमना नहीं है और एक ही शरीर का परस्पर भिन्न चार भूतों से अभेद युक्ति आदि से विरुद्ध होने से चारों में शरीर का अन्तर्भाव हो नहीं सकता । अतः शरीर भी पृथ्वी आदि चार भूतों की भाँति एक स्वतन्त्र तत्त्व हो जायेगा । तब तो 'पृथ्वी आदि चार भूत ही तत्त्व हैं, उनसे अतिरिक्त इस जगत में कुछ भी नहीं है'- इस चार्वाकसिद्धान्त का भङ्ग हो जायेगा'' <— इस शङ्का का सीधा समाधान यही है कि स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से गन्धादि का अभाव समवाय सम्बन्ध से गन्ध की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होने से यदि पृथ्वी आदि चारों भूतों से अतिरिक्त शरीर की उत्पत्ति मानी जायेगी तो जलादि में, जो अतिरिक्त शरीर का अवयव बनता है, रहने वाला गन्धाभाव स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से शरीर में रहने से शरीर में समवाय सम्बन्ध से गन्ध की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध कर देगा । फलतः शरीर निर्गन्ध हो जायेगा । इसलिए पृथ्वी आदि चारों भूतों को शरीर का उपादान कारण नहीं माना जा सकता । —> 'मनुष्य आदि के शरीर को जलादिप्रकृतिक न मानने पर उसमें जलादि के भीनापन आदि धर्म की प्रतीति नहीं हो सकेगी' <— इस शंका का समाधान यह है कि मनुष्यादि के पार्थिव शरीर में जलादि का उपष्टम्भक = धारक संयोग सदैव रहने से जलादिस्वरूप उपाधि के कारण उसमें जलादि धर्म की औपाधिक प्रतीति होने में कोई बाधा हो सकती नहीं है ।

⇝ दिशा एवं काल में कोई प्रमाण नहीं है ⇜

दिक्. । भूतचतुष्क से अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं है -उसके खिलाफ यह भी वक्तव्य कि —> 'दिशा एवं काल भूतचतुष्क

सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टत्वाभ्यामेव पराऽपरव्यवहारोत्पत्तौ परत्वाऽपरत्वयोर्गुणत्वे मानाभावात् । आकाशोऽपि नातिरिच्यते, निमित्तपवनस्यैव शब्दसमवायिकारणत्वात् । अत एव कर्ण-

❀ जयलता ❀

स्यादेव, भूतानां मूर्तत्वात् तयोश्चामूर्तत्वात् । एवमपि 'पृथिव्यादिचतुष्टयमेव तत्त्वमि'ति प्रतिज्ञासंन्यासस्य दुर्निवारत्वमित्याशङ्कायामाह - **दिक्कालयोश्च मानाभाव** इति । **न च** दैशिककालिकपरत्वापरत्वाऽसाधारणकारणत्वाश्रयविधया तयोः सिद्धिरिति **वक्तव्यम्, दिक्कृतकालिकविशेषणताभ्यां** = दैशिककालकृतविशेषणताभ्यां **जन्यमूर्ताभ्यामेव** = मूर्तेन जन्येन चैव **तत्कार्यसम्भवात्** = क्रमेण दैशिककालिकपरत्वापरत्वसम्भवात् । नैयायिकाद्यभिमतदैशिककालिकविशेषणतयोः जन्यमूर्तस्वरूपत्वाभ्युपगमेऽपि दिक्कालकार्योत्पादोपपत्तेर्नातिरिक्तदिक्कालकल्पनाया न्याय्यत्वम्, दैशिककालिकपरत्वापरत्वयोर्गुणे चैवोत्पन्नत्वेन तत्र देशकालयोः साधारणकारणत्वे मानाभावात्, अन्यथा मूर्तादौ उत्पन्नकार्यान्तरेऽपि तथा असाधारणकारणत्वापत्तेः । **एतेन** ज्येष्ठे परत्वप्रत्ययः कनिष्ठेऽपरत्वप्रत्ययः स च परत्वापरत्वगुणविशेषाधीनः परत्वापरत्वे च सासमवायिकारणके भावकार्यत्वात् असमवायिकारणञ्च तयोः कालपिण्डसंयोग एवेति परत्वापरत्वयोरसमवायिकारणसंयोगाश्रयतया कालसिद्धिरिति (मु.का.४६.दि. पृ.३४३) **मुक्तावलीदिनकरीयवचनं प्रतिषिद्धम्,** परत्वापरत्वयोर्गुणत्वाभावाच्च । तदेवाविष्कुर्वन्ति - **सन्निकृष्टविप्रकृष्टत्वाभ्यामेव** क्रमेण **परापरव्यवहारोत्पत्तौ** = परत्वापरत्वप्रकारकधीव्यवहारोत्पादसम्भवे **परत्वापरत्वयोः** नैयायिकाद्यभिमतयोः **गुणत्वे मानाभावा-दिति** । अल्पसंयोगान्तरितत्वलक्षणसन्निकृष्टत्वविषयकापेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वस्यैवाऽपरत्वपदार्थत्वं बहुतरसंयोगान्तरितत्वलक्षणविप्र-कृष्टत्वविषयकापेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वस्यैव परत्वपदार्थत्वमिति न तयोर्गुणातिरिक्तगुणत्वकल्पनाया न्याय्यत्वम् । यद्वा बहुतर-तपनसंयोगान्तरितोत्पन्नत्वं कालिकपरत्वं तदल्पतरसंयोगान्तरितोत्पन्नत्वमेव कालिकापरत्वं, बहुतरदेशसंयोगान्तरितत्वमेव दैशिक-परत्वमल्पतरसंयोगान्तरितत्वमेव तदपरत्वमस्तु लाघवात्, न तु तज्ज्ञानजन्यातिरिक्तगुणरूपं, तादृशापेक्षाबुद्धिव्यक्तिभेदेनाऽनन्तपरत्वा-दिकल्पने तत्सामग्रीकल्पने तत्नाशकल्पने चातिगौरवादित्याशयः प्रतिभाति ।

तथापि शब्दसमवायिकारणत्वेनाकाशस्य भूतचतुष्कातिरेकाद् भूतचतुष्टयमेव तत्त्वमिति प्रतिज्ञासंन्यास इत्याशङ्कायामाह **आकाशोऽपि** भूतचतुष्कात् **नातिरिच्यते निमित्तपवनस्यैव** = शब्दनिमित्तकारणत्वेन क्लृप्तस्य पवनस्यैव, **शब्दसमवायिका-रणत्वादिति** । **न चैवं** कर्णशष्कुलीविवरावच्छिन्नाकाशस्य श्रोत्रत्वं न स्यादिति **वाच्यम्,** इष्टापत्तेः । **अत एव** = पवनस्यैव

से अतिरिक्त हैं <— इसलिये निरस्त हो जाता है कि अतिरिक्त दिशा एवं काल में कोई प्रमाण ही नहीं है । यहाँ यह शंका हो कि —> 'दिशा एवं काल को न मानने पर दैशिकविशेषणता एवं कालिकविशेषणता से जो परत्व, अपरत्व आदि व्यवहार होता है वह नहीं हो सकेगा' <— तो यह इसलिए निराधार हो जाती है कि दिक्कृत = दैशिक विशेषणता एवं कालकृत = कालिक विशेषणता दिशा एवं कालस्वरूप न हो कर क्रमशः मूर्तपदार्थस्वरूप एवं जन्यपदार्थरूप ही है। जैसे मीमांसकमत में अभाव अधिकरणस्वरूप होता है ठीक वैसे ही दैशिकविशेषणता एवं कालिकविशेषणता को भी मूर्तपदार्थस्वरूप एवं जन्यस्वरूप मानी जा सकती है । एवमपि दिशा और काल का परत्व - अपरत्व आदि कार्य उत्पन्न हो सकता है। अतः उसके अनुरोध से दिशा और काल को अतिरिक्त मानने की आवश्यकता नहीं है । वास्तविक विचार किया जाय तो परत्व और अपरत्व भी गुणस्वरूप नहीं है किन्तु तत्तत् पदार्थस्वरूप ही है । जिस पदार्थ की अपेक्षा जो सन्निकृष्ट होता है उसमें अपरत्व का व्यवहार एवं जिस पदार्थ की अपेक्षा जो विप्रकृष्ट = दूर होता है उसमें परत्व का व्यवहार हो सकता है । अतः परापरत्वव्यवहार के अनुरोध से परत्व एवं अपरत्व को अतिरिक्त गुणस्वरूप नहीं माना जा सकता। अतः परत्व एवं अपरत्व के ज्ञान एवं व्यवहार के उपपादनार्थ अतिरिक्त दिशा एवं काल का स्वीकार अनावश्यक है । अतः 'भूतचतुष्क से भिन्न कोई तत्त्व नहीं है'- यह सिद्धान्त सुरक्षित रहता है ।

❀ आकाश अतिरिक्त द्रव्य नहीं है - भूतवाद नास्तिक ❀

आका.। यदि कहा जाय कि —> 'भूतचतुष्क से अतिरिक्त पञ्चम आकाश नामक भूत का स्वीकार तो चार्वाक को करना ही पड़ेगा, क्योंकि आकाश के अस्वीकार में शब्द गुण की उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी । अतः शब्दसमवायिकारणविधया आकाश का स्वीकार करना पड़ेगा' <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि निमित्तभूत पवन ही शब्द का समवायिकारण हो सकता है। मतलब कि नैयायिकादि आकाश को शब्द का समवायिकारण मान कर भी पवन को शब्द का निमित्त कारण मानते हैं तब उचित तो यही है कि क्लृप्त पवन को ही शब्द का समवायिकारण माना जाय । इस कल्पना में दूसरा लाभ

संयुक्तसमवायात्तद्ग्रह इति न समवायादेः प्रत्यासत्तित्वम् ।

मनोऽपि चाऽसमवेतं भूतम् । न च पृथिवीत्वादौ विनिगमकाभावादतिरेको युक्तः, पार्थिवादित्वेऽपि तत्तदात्माकृष्टत्वेन विशेषसम्भवादिति दिग् ।

इत्थश्च शरीराद्यतिरिक्तस्यात्मनः एवाऽसिद्धौ कस्य नाम परलोकः ? कस्य वा मोक्षः ? इत्याहुः ।

❀ नयलता ❀

शब्दसमवायिकारणत्वात् **कर्णसंयुक्तसमवायात् एव तद्ग्रहः** = शब्दसाक्षात्कार इति हेतोः **न समवायादेः** = स्वसमवाय-स्वसमवेतसमवायादेः **प्रत्यासत्तित्वं** = शब्द-शब्दत्वादि-प्रत्यक्षकारणतावच्छेदकसन्निकर्षत्वम् । रूप - रूपत्वादिसाक्षात्कारानुरोधेन क्लृप्तसंयुक्तसमवायसंयुक्तसमवेतसमवायाभ्यामेव शब्द-शब्दत्वादिसाक्षात्कारोदयसम्भवेन स्वसमवायस्वसमवेतसमवायादेः पृथक् प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनलाघवमपि शब्दस्य वायुसमवेतत्वपक्षे । एतेन शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सत्यकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात् सुखवत् । पाकजरूपादौ व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम् । पटरूपादौ व्यभिचारवारणायाऽकारणगुणपूर्वकेति । जलपरमाणुरूपादौ व्यभिचारवारणाय प्रत्यक्षेति (का.४४.मु.पृ.३६७) मुक्तावलीकारवचनं प्रत्युक्तम् वाय्ववयवे सूक्ष्मशब्दक्रमेण वायौ कारणगुणपूर्वकशब्दोत्पत्तेः सम्भवाच्च । वायुविशेषगुणस्य यावद्द्रव्यभावित्वनियमस्तु [illegible] तर्कविग्रहादनुपादेय एव । अतो न भूतचतुष्कमात्रतत्त्वप्रतिज्ञाव्याहतिरिति नूतननास्तिकाशयः ।

तथापि मनसो भूतचतुष्कातिरिक्तत्वेन तदवस्थ एव प्रतिज्ञाव्याघात इत्याशङ्कायामाहुः **मनोऽपि चाऽसमवेतं भूतं** एव, न तु तदतिरिक्तम् । भौतिका एव परमाणवो मनांसि अनन्तधर्मिणामतिरिक्तानाञ्च जातेः कल्पनामपेक्ष्य क्लृप्तधर्मिष्वेव धर्मिणां क्लृप्तेन रूपेण ज्ञानादिहेतुताया न्याय्यत्वात् । **न च पृथिवीत्वादौ विनिगमकाभावात्** = मनसो भौतिकत्वे पृथिवीत्वं जलत्वादिकं वा ? इत्यत्राऽविनिगमात्, उभयकल्पने च जातिसाङ्कर्यात् तस्य **अतिरेक** एव युक्त इति वाच्यम्, **पार्थिवादित्वेऽपि तत्तदात्माकृष्टत्वेन** = तत्तच्छरीरस्वरूपात्मसम्बद्धत्वेन तत्र **विशेषसम्भवात्** । वस्तुतस्तु पृथिवी-जल-तेजो-वाय्वन्यतमत्वेन मनस्त्वनिर्णयादुक्तविनिगमकचिन्तानौचित्यमित्यादिसूचनार्थं **दिगित्युक्तम्** । शिष्टं स्पष्टम् ।

यह है कि शब्दआदिप्रत्यक्षकारणतावच्छेदक प्रत्यासत्तिविधया स्वसमवाय-स्वसमवेतसमवाय नामक अतिरिक्त सम्बन्ध की कल्पना भी अनावश्यक बन जाती है, क्योंकि स्वसंयुक्तसमवाय सम्बन्ध से ही शब्द का श्रावण साक्षात्कार हो सकता है। स्व = कर्ण से संयुक्त पवन में शब्द का समवाय होने से कर्णेन्द्रिय स्वसंयुक्तसमवाय = स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्ध से शब्द में रह कर विषयता सम्बन्ध से वहाँ शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष उत्पन्न कर सकती है । एवं शब्दत्व का प्रत्यक्ष स्वसंयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध से हो सकता है । स्वसंयुक्तसमवाय एवं स्वसंयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध का तो रूप एवं रूपत्व आदि के प्रत्यक्षकारणतावच्छेदक सन्निकर्षविधया स्वीकार उभयमत में अवश्य क्लृप्त ही है । अतः शब्द को पवनसमवेत मानने में प्रत्यासत्ति का लाघव है, जब कि आकाशसमवेत मानने में प्रत्यासत्ति का गौरव है । अतः आकाशनामक पञ्चम भूत का स्वीकार नहीं किया जा सकता । अतः भूतचतुष्कसिद्धान्त की सुरक्षा सुकर है ।

◫ मन असमवेत भूत है - नवीन नास्तिक ◫

मनो.। इस तरह मन भी अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि मन अणुस्वरूप होने से पार्थिवादि परमाणु की भाँति वह असमवेत भूतस्वरूप माना जा सकता है । यहाँ यह शङ्का हो कि —> 'मन को असमवेत भूतात्मक मानने पर भी उसे पार्थिव मानना या जलीय या तैजसीय या वायवीय ? इसमें कोई विनिगमक नहीं होने से उसको पृथ्वी आदि चार भूतों से अतिरिक्त पञ्चम भूत मानना ही युक्त है' <— तो इसके समाधानार्थ यह कहा जा सकता है कि मन पार्थिव आदि स्वरूप होने पर भी तत् तत् शरीरस्वरूप आत्मा से आकृष्ट = सम्बद्ध होने की वजह मन में विशेषता सम्भवित है । अतः मन को अतिरिक्त भूत मानने की जरूरत नहीं है । पृथिवी आदि चारों में ही उसका यथासम्भव समावेश हो सकता है । इस तरह कायाकारपरिणत भूतसमुदाय से अतिरिक्त आत्मा की ही जब सिद्धि नहीं होती है तब किसका परलोक होगा ? एवं किसका मोक्ष होगा ? काया तो यहाँ ही जल कर खाक हो जाती है । फिर कायस्वरूप आत्मा का परलोक गमन नामुमकिन है । एवं काया का नाश ही आत्मा की मुक्ति है, न कि उससे भिन्न अनन्त सुखस्वरूप । इसलिए यहाँ खाओ, पिओ और मौज करो। परलोकादि में सुखी बनने के एवं मोक्षप्राप्ति के उद्देश से दीक्षा, तप आदि कष्टानुष्ठान की कोई आवश्यकता नहीं है <— यह नवीन नास्तिकों का मत है ।

तेऽतिपापीयांस, सर्वापलापित्वात् । तत्र यत्तावदुक्तं 'भूतचतुष्टयातिरिक्तमात्मादि वस्तु नास्त्येव, अनुपलब्धेरिति - तत्र केयमनुपलब्धिः ? (१) स्वभावानुपलब्धिर्वा, (२) व्यापकानुपलब्धिर्वा, (३) कार्यानुपलब्धिर्वा, (४) कारणानुपलब्धिर्वा, (५) पूर्वचरानुपलब्धिर्वा, (६) उत्तरचरानुपलब्धिर्वा, (७) सहचरानुपलब्धिर्वा ? तत्र न तावदाद्या, यतः स्वभावानुपलब्धिर्हि उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्याऽनुपलम्भः । भवति चैतादृशो मुण्डभूतले घटादेरनुपलम्भो न तु पिशाचादेः, तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाऽभावात् । न च सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातः, आरोप्य तद्रूपनिषेधात् । न चादृश्यस्याऽपि दृश्यतयाऽऽरोप्य प्रतिषेधो युक्तः,

❀ जयलता ❀

उत्तरपक्षयति **ते** = द्विविधा नास्तिकाः, **अतिपापीयांसः, सर्वापलापित्वात्** = सर्वमूलभूतात्मतत्त्वप्रतिषेधेऽर्थतः सर्वापलापित्वं स्पष्टमेव । प्राचीननास्तिकमतमपाकर्तुमुपक्रमते- **तत्र यत् तावत्** = प्रथमं **उक्तम्** । अनुपलब्धिं सप्तधा विकल्पयति **स्वभावे**ति । अत्र सोपयोगित्वात् **प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार**सूत्राणि प्रदर्श्यन्ते । तथाहि- तत्राऽविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधाऽवबोधे सप्तप्रकारेति । प्रतिषेध्येनाऽविरुद्धानां स्वभाव-व्यापक-कार्य-कारण-पूर्वचरोत्तरचर-सहचराणामनुपलब्धिरिति । स्वभावानुपलब्धिर्यथा नास्त्यत्र भूतले कुम्भः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलम्भादिति । व्यापकानुपलब्धिर्यथा नास्त्यत्र प्रदेशे पनसः, पादपानुपलब्धेरिति । कार्यानुपलब्धिर्यथा नास्त्यत्राऽप्रतिहतशक्तिकं बीजं, अङ्कुरानवलोकनादिति । कारणानुपलब्धिर्यथा न सन्त्यस्य प्रशमप्रभृतयो भावाः, तत्त्वार्थश्रद्धानाभावादिति । पूर्वचरानुपलब्धिर्यथा नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते स्वातिनक्षत्रं चित्रोदयाऽदर्शनादिति । उत्तरचरानुपलब्धिर्यथा नोदगमत्पूर्वभद्रपदा मुहूर्तात् पूर्वमुत्तरभद्रपदोद्गमानवगमादिति । सहचरानुपलब्धिर्यथा नास्त्यस्य सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनानुपलब्धेरिति । (प्र.न.त. परि.३ । सू. ९०-९८)

तत्र = दर्शितविकल्पसप्तके, **न तावत्** = प्रथमं **आद्या** स्वभावानुपलब्धिः सम्भवति, **यतः** = यस्मात्कारणात् **स्वभावानुपलब्धिर्हि उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्ये**ति । उपलब्धिः = ज्ञानं तस्य लक्षणानि = कारणानि चक्षुरादीनि, तैः ह्युपलब्धिर्लक्ष्यते = जन्यत इति यावत्तानि प्राप्तः जनकत्वेनोपलब्धिकारणान्तर्भावादुपलब्धिलक्षणप्राप्तो दृश्य इत्यर्थः । तथाविधस्य दृश्यस्य **तत्स्वभावस्य** = तत्स्वरूपस्य **अनुपलम्भः** = ज्ञानाभावः । **भवति चैतादृशः** = उपलब्धिलक्षणप्राप्तप्रतियोगिकः, **मुण्डभूतले** = शुद्धभूतले, **घटादेः अनुपलम्भः, न तु पिशाचादेः** तादृशाऽनुपलम्भः, **तस्य** = पिशाचादेः अदृश्यत्वेन **उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाभावात्** । पिशाचात्मादेः स्वभावो नोपलभ्यतेऽतस्स चक्षुरादिभिः नास्तित्वेनाऽवगन्तुं न शक्यते । **न च सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातः**, यदि घटादिरुपलब्धिलक्षणप्राप्तः कथं तर्हि तन्निषेधस्तत्र, तत्र तत्प्रतिषेधे च कथं तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वमित्युपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वस्य सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघात इति **वाच्यम्, आरोप्य** एव घटादौ **तद्रूपनिषेधा**दिति मुण्डभूतलनिरूपितवृत्तित्वादिकं निषिध्यत इत्यर्थः, सर्वत्रारोपितरूपविषयत्वान्निषेधस्य । यथा नायं गौर इति । न ह्येतच्छक्यं वक्तुं 'सति गौरत्वे न निषेधो निषेधे वा न गौरत्वमि'ति । **न चादृश्यस्याऽपि** पिशाचात्मादेः **दृश्यतया आरोप्य** = समारोपविषयीकृत्य **प्रतिषेधो युक्तः**, अदृश्यमपि पिशाचादिकं दृश्यरूपतयाऽऽरोप्य प्रतिषिध्यतामित्याक्षेपग्रन्थाशयः । तन्निराकुरुते

❀ स्वभाव अनुपलब्धि से आत्मा की असिद्धि नामुमकिन - उत्तरपक्ष ❀

उत्तरपक्ष :- तेऽति.। ये नास्तिक लोग अत्यन्त पापी हैं, क्योंकि वे आत्मा का ही बहिष्कार कर के फलतः परलोक, पुण्य, पाप आदि सब चीज का अपलाप कर रहे हैं । उनकी रामकहानी नितान्त असत्य है । वह इस तरह, पहले हम प्राचीन नास्तिकों के मत की समालोचना करते हैं, बाद में नव्य नास्तिकों के मत की । देखिये, प्राचीन नैयायिक मत की समालोचना की कमाल! प्राचीन नास्तिकों ने जो कहा था कि --> 'भूतचतुष्क से अतिरिक्त आत्मादि वस्तु नहीं है, क्योंकि उनकी अनुपलब्धि है' <-- यहाँ सप्तर्षि की भाँति ये सात विकल्प उपस्थित होते हैं कि - वह अनुपलब्धि क्या (१) स्वभावानुपलब्धिस्वरूप है, या (२) व्यापकानुपलब्धिरूप है, या (३) कार्यानुपलब्धिलक्षण है, या (४) कारणानुपलब्ध्यात्मक है, या (५) पूर्वचरानुपलब्धिरूपी है, या (६) उत्तरचरानुपलब्धिस्वरूपी है, या (७) सहचरानुपलब्धिआत्मिका है ? इन सात विकल्पों में से एक भी विकल्प मान्य नहीं किया जा सकता एवं इन सात विकल्पों से अतिरिक्त अन्य अनुपलब्धि का उद्भावन नामुमकिन है । अतः अनुपलब्धि प्रमाण से आत्मा आदि की असिद्धि असंगत है - यह तात्पर्य है । यहाँ प्रथम अनुपलब्धि

आरोपयोग्यस्यैवाऽऽरोपसम्भवात् । उपलम्भकारणसाकल्ये सति हि य उपलभ्यते स एव दोषवशात् क्वचित् कदाचिदारोप्यते, तादृशश्च घटादिरेव न तु पिशाचादिः, एकज्ञानसंसर्गिणि प्रदेशादौ घटादेः प्रागनुभूयमानत्वात्पिशाचादेः पुनरतथात्वादिति स्पष्टं स्याद्वादरत्नाकरे ।

❋ जयलता ❋

- **आरोपयोग्यस्यैवारोपसम्भवादिति**। आरोपयोग्यत्वं यस्याऽस्ति तस्यैवारोपः सम्भवति, नान्यस्य । पश्चार्धं विवृणोति नियमेनोपलभ्यते स एवारोपयोग्यो, न तु पिशाचादिः। एतदेव भावयति - **उपलम्भकारणसाकल्ये सति** = ज्ञानसामग्रीसत्त्वे **हि** = नियमेन **यः** पीतत्वादिगुण **उपलभ्यते** = ज्ञायते **स एव दोषवशात्** पित्तादिदोषमहिम्ना **क्वचित्** शङ्खादौ **कदाचिदारोप्यते**। **तादृशश्च घटादिरेव** तदुपलम्भकसामग्रीसत्त्वे तत्सत्त्वेऽवश्यं तदुपलम्भात्, **न तु पिशाचादिः** चक्षुस्सन्निकर्षादिसत्त्वे तत्सत्त्वेऽपि तदनुपलम्भात् । प्रागनुभूतस्यैव क्वचित् पश्चादारोपो भवति, न त्वननुभूतस्य । तदेवाऽऽह **एकज्ञानसंसर्गिणि प्रदेशादौ घटादेः प्राक्** = पूर्वकालावच्छेदेन, **अनुभूयमानत्वात्, पिशाचादेः पुनरतथात्वात्** = प्रागेकज्ञानसंसर्गिणि प्रदेशादावननुभूयमानत्वात्, **इति स्पष्टं स्याद्वादरत्नाकरे** । तदनुसारेणैवात्रास्माभिर्विभावितमधिकञ्च तत्रैवं निरूपितम् - 'घटस्योपलम्भकारणसाकल्यं चैकज्ञानसंसर्गिणि प्रदेशादावुपलभ्यमाने निश्चीयते घटप्रदेशयोरुपलम्भकारणान्यविशिष्टानीति कृत्वा। यश्च तद्देशाधेयतया कल्पितो घटः स एव तेनैकज्ञानसंसर्गी, न देशान्तरस्थः । एकेन्द्रियग्राह्यं हि लोचनादिप्रणिधानाभिमुखवस्तुद्वयमन्योन्यापेक्षमेकज्ञानसंसर्गि कथ्यते । तयोर्हि सतोर्नैकनियताभावप्रतिपत्तिः, योग्यतायाः द्वयोरप्यविशिष्टत्वात् । ततश्चैकज्ञानसंसर्गिणि प्रदेशादावुपलभ्यमानेऽप्यनुपलम्भात् । तदयुक्तम्, यतः प्रदेशादिना एकज्ञानसंसर्गिण एव घटस्याभावः साध्यते स्वभावानुपलम्भाच्चान्यस्य' (प्र.न.त.परि.३- सू. ९२, स्या.र.पृ.६१०) इति । नव्यन्यायपरिभाषया चैवमुच्यते -

= स्वभावानुपलब्धि का स्वीकार असंगत है, क्योंकि स्वभाव अनुपलब्धि का मतलब है उपलब्धिलक्षणप्राप्त आत्मस्वभाव की अनुपलब्धि = ज्ञप्ति का अभाव। मुण्डभूतल = शुद्धभूतल = घटशून्य भूतल में घटादि की अनुपलब्धि ठीक ऐसी ही अनुपलब्धि होती है, क्योंकि वहाँ घट होने पर तो उसकी ज्ञप्ति ही हो जाती । चारों ओर निगाह फैलाने पर भी मुण्ड भूतल में घट की अनुपलब्धि उपलब्धिलक्षण प्राप्त घट की अनुपलब्धि रूप होने से स्वभाव अनुपलब्धि कही जाती है । मगर मुण्डभूतल में पिशाच आदि की अनुपलब्धि स्वभाव अनुपलब्धि नहीं कही जा सकती, क्योंकि पिशाच उपलब्धिलक्षणप्राप्त नहीं है । भूतलादि में पिशाच आदि होने पर भी उसकी उपलब्धि = ज्ञप्ति होती नहीं है, भले ही हम चारों ओर गौर से अपनी निगाह फैलायें। इन्द्रियसन्निकर्षादि होने पर जिसका ज्ञान अवश्य हो वही उपलब्धिलक्षणप्राप्त कहा जा सकता है । आत्मा भी अमूर्त होने की वजह उपलब्धिलक्षणप्राप्त नहीं है । अतएव आत्मा की अनुपलब्धि स्वभावानुपलब्धि नहीं कही जा सकती । यहाँ इस समस्या का कि —> 'घट आदि की सत्ता प्रत्यक्ष से सिद्ध हो तब उसका निषेध नहीं किया जा सकता और जब वही असिद्ध हो तब भी उसमें निषेध की सिद्धि नहीं होगी। अतः घट आदि का सिद्धि-असिद्धि से उभयमुखी व्याघात होता है' <— समाधान यह है कि आरोप्य में ही तद्रूप = उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्व या अधिकरणनिरूपितवृत्तिता का हम निषेध करते हैं। वह इस तरह कि यदि भूतल में घट आदि होते तो जरूर चक्षुसन्निकर्ष आदि होने की वजह उपलब्ध = प्रत्यक्ष होते। मगर चाक्षुषादिसामग्री होने पर भी उनकी उपलब्धि होती नहीं है । अतएव वे ही उपलब्धिलक्षणप्राप्त हैं, पिशाच आदि नहीं। इस तरह आरोप्य घटादि में ही मुंडभूतलवृत्तिता का निषेध किया जा सकता है । पिशाच, आत्मा, परमाणु आदि में नहीं- यह स्याद्वादी का तात्पर्य है ।

❋ आरोपयोग्य में ही आरोप मुमकिन ❋

न चाद्. । यहाँ इस आक्षेप का कि —> 'यदि प्रत्यक्ष से असिद्ध का आरोप कर के उसमें उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्व का निषेध किया जा सकता है तब तो अदृश्य में भी दृश्यत्व का आरोप कर के अदृश्य का प्रतिषेध हो जायेगा । इस परिस्थिति में पिशाच, आत्मा आदि की सिद्धि नहीं हो सकेगी' <— समाधान यह है कि आरोपयोग्य में ही आरोप हो सकता है, न कि आरोप के अयोग्य में भी । अतः अदृश्य का दृश्यविधया आरोप नहीं किया जा सकता । जिसकी ज्ञानसामग्री विद्यमान होने पर जो अवश्य ज्ञात होता है उसीका कदाचित् दोषवश अन्यत्र आरोप हो सकता है । तादृश तो घटादि ही है, क्योंकि चक्षुसन्निकर्ष आदि साक्षात्कारसामग्री होने पर एक ही ज्ञान में प्रदेश-पर्वतादि में पूर्व में घटादि का चाक्षुष साक्षात्कार हुआ ही है । अतएव मुण्डभूतलादि में कदाचित् घट का आरोप किया जा सकता है । मगर पिशाच, आत्मा आदि का एकज्ञानसंसर्गी प्रदेश, पर्वतादि में पहले कभी भान नहीं हुआ है । अतएव मुण्ड भूतल आदि में पिशाच, आत्मा

अथैवं स्तम्भे पिशाचस्वभावानुपलब्धिः कथं ? तत्रैकज्ञानसंसर्गितया पिशाचस्य पूर्वमननुभूतत्वेनाऽनारोप्यत्वादिति चेत् ?, न, कथमपि तस्याः, सहचराद्यनुपलब्ध्यैव प्रतिषेधव्यवहारात् । इत्थञ्चात्मनि चक्षुरादिना स्वभावानुपलब्धिर्नास्त्येव, आत्मनश्चक्षुराद्ययोग्यत्वात् । मनसा तूपलब्धिर्बाढमस्त्येव, 'अहं सुखी' इत्याद्यनुभवस्य सार्वजनीनत्वात् ।

❀ जयलता ❀

प्रतियोगिनश्चाऽन्यत्रावस्थितिर्योग्यानुपलम्भाऽवधारणोपायः तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपाया वा योग्यताया अभावात् योग्यानुपलब्ध्यसम्भवान्न पिशाचादेः स्वभावानुपलब्धिः, तत्सहकृतस्यैव तस्य तदभावग्राहकत्वनियमादिति शङ्काशयः ।

अथ एवं = आरोपयोग्यस्यैवारोपसम्भवेऽभ्युपगते सति, **स्तम्भे पिशाचस्वभावानुपलब्धिः** = पिशाचतादात्म्यानुपलम्भः **कथं ? तत्र** = प्रदेशादौ **एकज्ञानसंसर्गितया पिशाचस्य पूर्वं अननुभूतत्वेन अनारोप्यत्वात्** = आरोपानर्हत्वात् । न हि एकज्ञानसंसर्गिणि प्रदेशादावनुभूयमाने पिशाचादिः प्रागनुभूतः । अननुभूतस्य च कथमारोपसम्भवः ? तदसम्भवे च कथं तत्तादात्म्यप्रतिषेधः सम्भवेदित्यभिप्रायः ।

यद्यपि प्रकृते **लघुस्याद्वादरहस्ये** 'योग्यसहकारिसम्पन्नत्वपर्यन्तस्य विवक्षणादत्राऽधिकरणयोग्यताया एव नियामकत्वादिति दिग्' (ल.स्या.र.पृ.२८)ति समाहितम् । **स्याद्वादरत्नाकरे** च 'भवतु पिशाचादिना प्रतिबन्धबलतोऽन्यत्वमापादितः कुम्भः स नैव निषिध्यते । इह चैकज्ञानसंसर्गी भासमानोऽर्थस्तज्ज्ञानञ्च दृश्यतामन्तुत्वा यस्याऽसत्त्वानुपलब्धिश्चोच्यते' (स्या. र. ३/ ९२/पृ. ६११) इत्युक्तं **तथापि** प्रकारान्तरेण प्रकरणकारोऽत्र समाधत्ते - **न कथमपि तस्याः** इति । स्वभावानुपलब्धितः स्तम्भे पिशाचानुपलब्धिर्नैव स्वीक्रियत इत्यर्थः । तर्हि कथं स्तम्भे पिशाचादिनिषेधव्यवहारः ? इत्याशङ्कायामाह - **सहचराद्यनुपलब्ध्यैव** तत्र पिशाचादेः **प्रतिषेधव्यवहारादिति** । यथा नास्त्यस्मिन् सन्तज्ञाने सम्यग्दर्शनमनुपलब्धेरिति सहचरानुपलब्धिरुच्यते तथैव नास्ति स्तम्भे पिशाचादितादात्म्यं तत्सहचरपिशाचीय-रूपाद्यनुपलब्धेरिति सहचरानुपलब्ध्यैव निषेधधीव्यवहारोपपत्तिः । सहचरानुपलब्धिग्रहणादेशतः सन्निहिता प्रकृते अर्थतस्तु सहचरव्यापकानुपलब्धिसहचरव्यापककारणानुपलब्ध्यादिग्रहणमवगन्तव्यम् ।

उपसंहरति - **इत्थञ्च** = स्वभावानुपलब्ध्या उपलब्धिलक्षणप्राप्तिघटितत्वे च, **आत्मनि चक्षुरादिना** बहिरिन्द्रियेण **स्वभावानुपलब्धिः नास्त्येव, आत्मनश्चक्षुराद्ययोग्यत्वात्** । यो यदिन्द्रियग्राह्यस्तस्य तदिन्द्रियापेक्षयैव तत्स्वभावानुपलब्धिर्वक्तुमर्हति, अन्यथा घ्राणादितोऽपि रूपादीनां स्वभावानुपलब्धिप्रसङ्गात् । आत्मनि रूपविरहेण न चक्षुर्योग्यत्वं स्पर्शविरहेण च न स्पर्शनेन्द्रिय-ग्रहणयोग्यत्वम् । बहिरिन्द्रियाऽग्राह्यत्वाच्च तस्य तदपेक्षया स्वभावानुपलब्धिः सम्भवति । 'अस्तु तर्हि मनसैवात्मनः स्वभावानुपलब्धिः, एवमपि नः समीहितसिद्धे'रित्याशङ्कायामाह - **मनसा तूपलब्धिः** आत्मनः **बाढमस्त्येव, 'अहं सुखी' इत्याद्यनुभवस्य सार्वजनीनत्वात्** । **न च** सुखादेः चक्षुराद्याश्रितत्वमाशङ्कनीयम्, जात्यन्धादीनामपि तथानुभवात् । **न च** शरीरस्यैव सुखाश्रयत्वमारेकणीयम्, व्यरशाखादिर्दीर्घ छिन्नदेहानामपि योगि-सेनापतिप्रभृतीनां सुखसंवेदनस्य सिद्धत्वात् । अत इन्द्रियशरीरातिरिक्तस्य आत्मन एव सुखादिसमाश्रयत्वं युक्तं वक्तुमित्यात्मसिद्धिरनाविला ।

आदि का आरोप किया नहीं जा सकता । यह बात स्याद्वादरत्नाकर ग्रन्थरत्न में स्पष्ट ही बताई गई है ।

अथै. । —> 'यदि एक ज्ञान में संसर्गी=भासमान प्रदेश, स्थल, पर्वतादि में पूर्व में अनुभूत की ही अन्यत्र स्वभाव अनुपलब्धि मान्य हो तब स्तम्भ में पिशाचस्वभाव की अनुपलब्धि यानी पिशाचस्वरूप = पिशाचतादात्म्य का निषेध कैसे हो सकेगा ? क्योंकि किसी स्थल में एक ज्ञान के संसर्गिविषया पिशाच का पहले तो अनुभव ही नहीं हुआ है' <— इस प्रश्न का सीधा प्रत्युत्तर यह दिया जा सकता है कि 'स्तम्भो न पिशाचः' ऐसा पिशाचतादात्म्यनिषेधव्यवहार स्वभाव अनुपलब्धि से नहीं होता है किन्तु सहचर अनुपलब्धि से ही होता है । अतः यहाँ दोष का उद्भावन करना ठीक नहीं है । इस तरह आत्मा में चक्षु आदि इन्द्रियों से स्वभाव अनुपलब्धि नहीं ही है - यह सिद्ध होता है, क्योंकि आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों के अयोग्य है । मगर इससे ही आत्मा का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि मन के द्वारा तो आत्मा का ज्ञान होता ही है । 'अहं सुखी, अहं दुःखी, अहं जाने' इत्यादि ज्ञान तो सर्व जन को होने से मन के द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है । मतलब कि मन के द्वारा आत्मा ग्राह्य होने से मनस्वरूप अभ्यन्तर इन्द्रिय से आत्मा की स्वभाव अनुपलब्धि कही जा सकती है । मगर मन के द्वारा एक बार भी आत्मा की सिद्धि होने से 'आत्मा अनुपलब्ध है' ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः प्रथम विकल्प आत्मप्रतिषेध में असमर्थ है ।

न द्वितीय-तृतीये, व्यापककार्यज्ञानाद्युपलम्भादेव । कारणाद्यनुपलम्भस्तु कार्यपूर्वोत्तरनिषेधकत्वात् आत्मनश्चानीदृशत्वान्न बाधकः । सहचरानुपलब्धिरपि नास्ति, आत्मसहचराणां चेष्टादीनां बाढमुपलम्भादेव ।

किञ्च परस्परसाङ्कर्यस्याऽन्योन्याभावानभ्युपगमे दुःपरिहरत्वात् भूतचतुष्टयमपि लोकायतिकानां कथङ्कारमुपपादनीयम् ? मिथोव्यावृत्त्यसिद्धेः ।

❁ जयलता ❁

अस्तु तर्हि व्यापकानुपलब्ध्या कार्यानुपलब्ध्या वा तदनुपलब्धिरित्याशङ्कायामाह - **न द्वितीय-तृतीये, व्यापककार्यज्ञानाद्युपलम्भादेव** तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नात्मनिष्ठव्याप्यतानिरूपितायाः समवायावच्छिन्नाया अपृथग्भावसम्बन्धावच्छिन्नाया वा व्यापकतया आश्रयस्य ज्ञानेच्छा-कृति-सुखादिकालम्भान्न व्यापकानुपलब्ध्या आत्मानुपलब्धिः शक्या । तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नात्मत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यतथ्यभूतस्य ज्ञानादेरेवोपलम्भान्न कार्यानुपलब्ध्या तदनुपलब्धिः साधनार्हा । **कारणाद्यनुपलम्भः** = कारणानुपलब्धि-पूर्वचरानुपलब्धि-उत्तरचरानुपलब्धिरिति त्रिकः **तु कार्यपूर्वोत्तरनिषेधकत्वात्** = स्वप्रतियोगिविषयककार्योत्तरचरपूर्वचरप्रतिषेधकत्वात् **आत्मनश्च अनीदृशत्वात्** = अकार्योत्तरपूर्वचरत्वात् **न बाधकः** । आत्मनोऽकार्यत्वात्कारणस्यैव विरहान्न कारणानुपलब्ध्या तदनुपलब्धिः सिध्यति । तस्य कस्यचिदप्यपेक्षयोत्तरचरत्वाभावेन न कस्यापि तत्पूर्वचरत्वमिति न पूर्वचरानुपलब्ध्या तदनुपलब्धिः सम्भवति । एवं तस्य कस्यचिदप्यपेक्षया पूर्वचरत्वविरहेण न कस्यापि तदुत्तरचरत्वमिति नोत्तरचरानुपलब्ध्या तदनुपलब्धिः साधयितुं शक्या । सप्तमविकल्पोऽपि नात्मप्रतिषेधक इत्याविष्करोति - **सहचरानुपलब्धिरपि नास्तीति** । इत्थञ्च सप्तविधदुरन्तविकल्पसम्भवेऽप्यात्मनिषेधकत्वविरहात् 'भूतचतुष्टयव्यतिरिक्तं किमप्यात्मादि नास्ति, अनुपलब्धेरि'ति चार्वाकवचनं प्रलपन एव । ततश्च 'पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि' इति सूत्रस्याघातः ।

प्रकरणकारः प्रकारान्तरेणोक्तसूत्रव्याघातापादनार्थमुपक्रमते **किञ्चेति** भूतानां **परस्परसाङ्कर्यस्य** = परस्परात्मकत्वस्य, **अन्योन्याभावानभ्युपगमे** = भूतचतुष्कातिरिक्तभेदपदार्थानुपगमे, **दुःपरिहरत्वात्** । पृथिव्यप्तेजोमरुतां भूतमात्रत्वे युक्तितः स्वभावो नैव भिद्यते, विशेषाभावात् । ततश्चैकमेव तत्त्वं स्यान्न तु चत्वारि तत्त्वानि इति **भूतचतुष्टयमपि लोकायतिकानां कथङ्कारं उपपादनीयम् ?** भेदकविशेषणाभावेन **मिथो व्यावृत्त्यसिद्धेः** । ततश्च भूतस्य भूतान्तरभेदो न वस्तुतः किन्तु विभिन्नधर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्वलक्षणो भाक्त एव, विशेषणावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदात्मको वा । न च विभिन्नधर्मं विना तद्धटिततद्भेदसम्भव इति भूताद्वैतवादप्रसङ्गेन चार्वाकस्याऽपसिद्धान्तप्रसङ्गो दुर्वार एवेति तात्पर्यम्

न द्वि. । इस तरह द्वितीय विकल्प 'व्यापकानुपलब्धि' भी असंगत है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से आत्मा के व्यापक ज्ञान, इच्छा आदि का उपलम्भ = ज्ञान होता ही है । तादात्म्य से जहाँ आत्मद्रव्य होता है वहाँ समवाय से ज्ञानादि होते हैं । व्यापक की अनुपलब्धि नहीं होने से व्याप्य आत्मा का निषेध नहीं किया जा सकता । एवं कार्यानुपलब्धिस्वरूप तृतीय विकल्प से भी आत्मा का प्रतिषेध नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मकार्य ज्ञान, इच्छा आदि की उपलब्धि ही होती है । कार्य की उपलब्धि होने पर तो उसके कारण आत्मा का निषेध कैसे किया जा सकता है ? अतः तृतीय विकल्प से आत्मप्रतिषेध असङ्गत है । एवं चतुर्थ विकल्प 'कारणानुपलब्धि' से भी आत्मा का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मा अकार्य है । कारणानुपलम्भ से कार्याभाव की सिद्धि हो सकती है, न कि अकार्याभाव की । एवं पञ्चम विकल्प 'पूर्वचर अनुपलब्धि' से भी आत्मा का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मा किसी की उत्तरचर नहीं है । पूर्वचरानुपलब्धि से उत्तरचर का ही निषेध हो सकता है, जैसे 'आज मंगलवार नहीं है, क्योंकि कल सोमवार नहीं था' । एवं षष्ठ विकल्प 'उत्तरचर अनुपलब्धि' से भी आत्मा का इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मा किसी की पूर्वचर नहीं है । उत्तरचर अनुपलब्धि से केवल पूर्वचर का ही निषेध किया जा सकता है, जैसे 'आज मंगलवार नहीं है, क्योंकि कल बुधवार नहीं है' । एवं सप्तम विकल्प 'सहचर अनुपलब्धि' भी आत्मनिषेध में अकिञ्चित्कर है, क्योंकि आत्मा के सहचर चेष्टा आदि का स्पष्ट रूप से उपलम्भ होता ही है । सहचर उपलब्धि होने पर कैसे आत्मा का निषेध हो सकता है ?

❁ चार्वाक मत में भूतचतुष्क की अनुपपत्ति ❁

किञ्च प. । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि भूतचतुष्क के अतिरिक्त भेद-नामक पञ्चम पदार्थ का स्वीकार

वैधर्म्यमथ भेदो नो नाभाव इति धीःपुनः । भेदाभेदविकल्पाभ्यां ग्रस्तेयं धर्मधर्मिणोः ॥१॥
भेदे ह्यर्थान्तरापत्तिरभेदे त्वेकशेषिता । पक्षान्तरस्पृहा कक्षाप्रवेशे नो न चान्यथा ॥२॥
स्वतो व्यावृत्तिरेषां चेदनुवृत्तिर्न किं स्वतः । एवं चेज्जैनसिद्धान्तस्पर्शिने भवते नमः ॥३॥

एतेन शक्तिं विना स्वभावतः कार्यप्रतिनियमोऽपि परास्तः, प्रातिस्विकरूपेण कारणत्वस्याऽप्ययोगात्, तृणारणिमणिन्यायेन कारणतास्थले व्यभिचाराद् वैजात्यत्रयकल्पनात एक-

❀ जयलता ❀

मुदा पद्यत्रितयेन तन्मतमपाकर्तुमुपक्रमते - वैधर्म्यमिति । मङ्क्षेपतस्तदर्थ एवं योज्यः **अथ नः** = अस्माकं चार्वाकाणां मते **वैधर्म्यं** = भूतान्तरानिष्ठकार्यजनकातिशयान्यातिशयशालित्वरूपं **भेदः** = अन्योन्याभावः न तु भूतचतुष्कातिरिक्तः **अभाव इतीयं धीः** = नास्तिकमतिः **पुनः धर्मधर्मिणोः भेदाऽभेदविकल्पाभ्यां ग्रस्ता** ॥१॥ तथाहि तादृशवैधर्म्यलक्षणधर्मस्य भूतादिधर्मिणः **भेदे** स्वीक्रियमाणे **अर्थान्तरापत्तिः** = तत्त्वान्तरप्रसङ्गः **हि** = एव, तस्य ततः **अभेदे** = अनतिरिक्तत्वे **तु एकशेषिता** = भूतमात्रत्वमेव, ततश्च न स्वभावभेदोपपत्तिः । **पक्षान्तरस्पृहा** = चार्वाकस्य भेदाभेदपक्षाभिलाषः **नः** = अस्माकं स्याद्वादिनां **कक्षाप्रवेशे** = मते प्रवेश एव पूर्यते **न च अन्यथा** = स्याद्वादापलापे ॥२॥ **एषां** = भूतानां **स्वत** एव मिथो **व्यावृत्तिः** चार्वाकैरिष्यते तर्हि **एषां** = भूतानां **अनुवृत्तिः** अपि **किं न स्वत** एवेष्यते भवता । **एवं** = अभ्युपगम्यत एवैषां स्वतोऽनुवृत्तिरिति **चेत्** ? तर्हि स्वतोऽनुवृत्तिव्यावृत्तिशालितायाङ्गीकारेण **जैनसिद्धान्तस्पर्शिने** = अनेकान्तराद्धान्तप्रविष्टाय **भवते** चार्वाकाय **नमः** अस्तु, साधर्मिकत्वात् ॥३॥

एतेन = भूतचतुष्कातत्त्वराद्धान्तकोपेन, **शक्तिं** = मादकतादिजनकशक्तिं विना **स्वभावत** एव **कार्यप्रतिनियमः** = नियत-कारणात्तत्तत्कार्यव्यवस्थापनप्रकारः **अपि परास्तः प्रातिस्विकरूपेण** = प्रत्येकमात्रवृत्तिधर्मेण, **कारणत्वस्यापि** चार्वाकमते **अयोगात्** = असम्भवात्, पृथिव्यादीनां क्रमुकफल-पत्र-वालुकादीनां च भूतमात्रत्वे तत्र प्रातिस्विकरूपस्यैव विरहात्, तथा च क्रमुकफलपत्रादिषु इव वालुकाशाककुङ्कुमादिष्वपि मादकतोत्पद्येत, न वा तत्राऽप्यविशेषात् । ततश्च व्यवहारबाधः । अतिरिक्तप्रातिस्विकरूपाऽभ्युपगमे च तत्त्वान्तरप्रसङ्गेन प्रतिज्ञासन्न्यासः । वस्तुतःप्रत्येकमपि क्रमुकादिषु मदशक्तिरस्त्येवेत्यस्माभिः स्वीक्रियते, त्वया पुनरनुमानापलापिना प्रत्येकं भूतेषु ज्ञानशक्तेः स्वीकर्तुमशक्यत्वमेव, स्वीकारेऽपि वा शक्तेः तत्त्वान्तरत्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वम् । शक्तिपक्षं प्रसङ्गतः स्थापयति - **तृणारणिमणिन्यायेन कारणतास्थले व्यभिचारात् वैजात्यत्रयकल्पनात** इति ।

न किया जाय तब तो पृथ्वी, जल आदि में भेद सिद्ध नहीं होने की वजह पृथ्वी, जल आदि परस्पर संकीर्ण हो जायेंगे, क्योंकि परस्पर भिन्नता उनमें असिद्ध है तब तो चार भूत न होकर केवल एक ही भूत रहेगा । यदि भेद का स्वातन्त्र्येण स्वीकार किया जाय तब 'भूतचतुष्क ही पारमार्थिक है' इस चार्वाकसिद्धान्त का भङ्ग हो जायगा । अतः चार्वाकमत में केवल चार भूत की सिद्धि ही नामुमकिन है । यदि चार्वाक की ओर से यह कहा जाय कि —> हमारा अभिमत भेद वैधर्म्यस्वरूप है, न कि अतिरिक्त अभावस्वरूप <— तो यह कल्पना(धीः) भी धर्म-धर्मी के भेदाऽभेदविकल्प से ग्रस्त हो जायेगी ॥१॥ वह इस तरह-यदि भूतस्वरूप धर्मी से वैधर्म्यस्वरूप धर्म भिन्न होगा तब पुनः पञ्चम तत्त्व की कल्पना की आपत्ति चार्वाक के पक्ष में आयेगी और अभिन्न मानने पर तो एक ही शेष रहेगा यानी या तो केवल भूत = धर्मी रहेगा या केवल वैधर्म्य, क्योंकि दोनों परस्पर अभिन्न हैं । भूत एवं वैधर्म्य दोनों की पृथक् सत्ता न रहेगी । पक्षान्तर यानी भेदाभेद पक्ष की स्पृहा करने पर तो चार्वाक का हमारे मत में ही प्रवेश हो गया, अन्यथा आपकी उपदर्शित कल्पना की उपपत्ति नहीं हो सकती ॥२॥ भूतों में स्वतो व्यावृत्ति = भेद मानेंगे अर्थात् भेदक धर्मान्तर के बिना ही एक भूत स्वयं दूसरे भूत से व्यावृत्त हो जायेगा - व्यावृत्तिबुद्धि एवं व्यावृत्तिव्यवहार को करेगा- ऐसा चार्वाक मानेंगे तब तो चारों भूत अनुवृत्तिबुद्धि एवं अनुवृत्तिव्यवहार भी स्वतः ही करेंगे - यह भी क्यों न माना जाय ? यदि एवं मानने के लिए चार्वाक तैयार हो जायेगा कि- भूत स्वतः अनुवृत्ति एवं व्यावृत्ति करते हैं- तब तो चार्वाक जैनसिद्धान्त का स्पर्श = स्वीकार करने की वजह हमारा साधर्मिक बन जायेगा । साधर्मिक चार्वाक भैया ! आपको नमस्कार !

❀ स्वभावनियमपक्ष कारणता में व्यभिचार - स्याद्वादी ❀

एतेन. । यदि यहाँ यह शङ्का हो कि —> 'अतिरिक्त शक्ति के स्वीकार के बिना ही स्वभावविशेष से पृथ्वी आदि भूतों के कार्य गन्ध आदि का प्रतिनियम = नियमन होगा' <— तो यह भी इसलिए निराधार हो जाती है कि चारों भूतों

शक्तिमत्त्वेन कारणताकल्पनाया लघुत्वात्, साङ्कर्यस्याऽदोषत्वे वैजात्येन हेतुत्वेऽप्यभावकार-

जयलता

तार्णवह्निं प्रति तृणस्य, आरणेयवह्निं प्रति अरणेः, माणेयवह्निं प्रति च मणेः कारणत्वं; न तु वह्नित्वावच्छिन्नं प्रति तृणादेः कारणत्वं, परस्परव्यभिचारात् । इत्थञ्च तार्णत्वारणेयत्वमाणेयत्वलक्षणजातित्रयकल्पनामपेक्ष्य, **एकशक्तिमत्त्वेन** - वह्निजनकैकशक्तिमत्त्वेन, वह्नित्वावच्छिन्नं प्रति **कारणताकल्पनाया एव लघुत्वात्** ।

नन्वस्माभिर्न वह्निनिष्ठतया जातित्रिकं कल्प्यते किन्तु तृणारणिमणिष्वेवैका जातिः कल्प्यते । वह्नित्वावच्छिन्नं प्रति तृणारणिमणीनामेकवैजात्यमत्त्वेन कारणत्वमङ्गीक्रियते इति नैकशक्तिमत्त्वेन कारणताकल्पनाया युक्तत्वम् । **न च** रत्नादिषु तादृशवैजात्यविरहितेषु तेजस्त्वस्य तेजस्त्वशून्येषु च तृणादिषु निरुक्तवैजात्यस्य सत्त्वमिति परस्परव्यधिकरणयोस्तयोः सूर्यकान्तमणौ सत्त्वेन साङ्कर्यमिति **वाच्यम्** उपाधिसाङ्कर्यस्येव जातिसाङ्कर्यस्याऽप्यदोषत्वादित्याशङ्कायां प्रकरणकारः प्राह —> **साङ्कर्यस्य** = जातिसाङ्कर्यस्य, **अदोषत्वे** स्वीक्रियमाणे पुनः तृणारणिमणिवृत्तिना **वैजात्येन** = जातिविशेषेण, **हेतुत्वे** = वह्नित्वावच्छिन्नहेतुत्वसम्भवे **अपि अभावकारणस्थले** = नानाविधाऽभावनिष्ठकारणतास्थले, **तदयोगात्** = कारणतावच्छेदकतया वैजात्यकल्पनाया असम्भवात्, जातेः द्रव्यगुणकर्ममात्रवृत्तित्वात्, अभावस्य च समवायाननुयोगित्वात् । **न च** प्रतिबन्धकाभावत्वेनानुगतरूपेण कारणत्वमिति न तत्र शक्तिकल्पनावतारो न वा तत्र वैजात्यासम्भवेऽपि क्षतिरिति **वाच्यम्**, कार्यजननशक्तिविघटकत्वरूपस्य प्रतिबन्धकत्वस्यैव शक्तिसाधकत्वात्, प्रतिबन्धकतायाः कारणीभूताभावप्रतियोगित्वेऽपि कारणीभूताभावभेदेन भेदात् । कारणीभूताभावप्रतियोगितात्वेनानुगमे तु महागौरवम्, कारणीभूताभावप्रतियोगिवृत्तित्वे सति तदितरावृत्तित्वस्वरूपत्वात्तस्य । **न चा**ऽखण्डत्वेनैव नानाऽभावानां कारणत्वमिति **वक्तव्यम्**, उदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यामविनिगमेन तथात्वाऽसम्भवादिति दिक् ।

अत्र सोपयोगित्वात् **प्रभानन्दसूरिव्याख्या प्रदर्श्यते** —> 'ननु भोः । क एष आर्हतमतपण्डितविशेषमर्यादिकुर्वन्दुर्गतसौगताद्यङ्गीकृत-चित्रज्ञानादिदृष्टान्तावष्टम्भेन स्याद्वादवादं स्पष्टयन्नाचष्टे ? प्रथमं तावज्जीव एव नास्ति, क्व तदाश्रितश्रेयोऽश्रेयोऽनेकान्तमतस्वर्गापवर्गसर्गसङ्कथा । तथाहि सकलेऽप्यस्मिन्नविकले जीवलोके न खलु भूतचतुष्टयव्यतिरिक्तं किमपि वस्त्वन्तरमस्ति, प्रत्यक्षप्रमाणगोचरातिक्रान्तत्वात् । यदेवं तत्तन्नास्ति यथा तुरङ्गमोत्तमाङ्गशृङ्गम् । न च वाच्यम् प्रतिप्राणिप्रसिद्धस्य चैतन्योपलम्भस्याऽन्यथाऽनुपपत्त्या तद्धेतुः कश्चिदन्वयं परिकल्पनीयः, भूतचतुष्टयस्यैव तद्धेतुत्वेनाऽभिमतत्वात् । अथेत्थमाचक्षीथाः 'कथं जडात्मकानि भूतानि तद्विलक्षणं बोधरूपं चैतन्यं जनयेयुरिति, तदपि न, न खल्वेकान्ततः कारणानुरूपमेव कार्यमुत्पद्यते, अननुरूपस्यापि दर्शनात् यथा मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिः । एवञ्च वपूरूपपरिणतानि महद्भूतान्येव स्वस्वरूपजडस्वभावव्यतिरिक्तं चैतन्यमुद्बोधयन्ति, तच्च कायाकारविवर्तेष्ववतिष्ठते, तदभावे पुनर्भूतेष्वेव लीयते इति न कश्चिद्भूताद्भूतचैतन्यव्यतिरिक्तः चैतन्यहेतुतया परिकल्प्यमानः परलोकयायी जीवोऽस्ति, दृष्टहान्यदृष्टपरिकल्पनाप्रसङ्गात् । एवं च सति परलोकोऽपि प्रत्युक्त एवावगन्तव्यः, परलोकयायिनोऽभावे परलोकस्यानुपपन्नत्वात्, सति हि धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यमानाः समीचीनतामुपचिन्वन्ति ।

किञ्च परलोकयायिजीवसुख-दुःखनिबन्धनौ धर्माधर्मावप्याकाशकुशेशयविकासनौकाशौ तथा तत्फलभोगभूमिप्रतिमस्वर्गनरका-

---

में प्रातिस्विकरूप से = मात्रप्रत्येक में रहनेवाले धर्म की अपेक्षा कारणता भी असंगत है, क्योंकि प्रातिस्विक धर्म को प्रत्येक से अतिरिक्त मानने पर भूतचतुष्टयमात्र तत्त्व का उच्छेद हो जायेगा । इसी तरह तृणारणिमणिस्थल में वैजात्य = जातिविशेष की कल्पना करने में भी अतिरिक्त जाति कल्पना का गौरव होगा एवं भूतचतुष्टय से अतिरिक्त तत्त्व के स्वीकार से अपसिद्धान्त भी प्रसक्त होगा । इसकी अपेक्षा उचित यह है कि वहाँ एकशक्तिमत्त्वेन ही कारणता की कल्पना की जाय, क्योंकि इस पक्ष में अतिरिक्त अनेक जातिविशेष की कल्पना नहीं होने से लाघव है । यदि चार्वाक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'जातिसांकर्य दोषात्मक नहीं होने से तृणारणिमणिस्थल में एक ही जातिविशेष की कल्पना न करने पर भी गौरव दोष का परिहार हो सकता है' <— तो भी तृणारणिमणिस्थल की भाँति अनेक अभाव में कारणता माननी आवश्यक होने पर तादृश वैजात्य की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि अभाव में जाति नहीं रहती है । अतः वहाँ शक्तिविशेष की ही कल्पना करनी होगी । इस तरह जब अभावकारणता स्थल में वैजात्य के स्थान में शक्तिविशेष की कल्पना आवश्यक है

णस्थले तदयोगादित्यन्यत्र विस्तरः ।

❀ जयलता ❀

दिकल्पनमप्यलीकसङ्कल्पविलसितम् । विना हि धर्माधर्मौ कुतः तत्फलभोगभूमिसम्भवः । यच्चैवमप्यैकान्तिकपुण्यपापक्षयोत्थ-
मोक्षपक्षपातिता सा विगलितदृशः चित्रशालोपवर्णनमिव कस्य नाम न हास्यावहेति यत्किञ्चिदेतत् ।

अत्र प्रतिविधीयते - योऽयमतिप्रमाणप्रवीणेन भवताऽऽत्मनिरासाय प्रत्यक्षप्रमाणगोचरातिक्रान्तत्वादिति हेतुरुपन्यस्तः
स एव तावदसिद्धः, जीवस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षविषयत्वात् । तथाहि 'सुख्यहं, दुःख्यहं' इत्यादिस्वसम्बद्धस्वसंवेदनप्रत्यक्षेणाऽवगम्यते
जीवः । सर्वकालं निर्बाधत्वेन च नायं प्रत्ययो भ्रान्तः । ''चैतन्यान्वितदेहलक्षणपुरुषगोचरत्वेऽपि 'गौरोऽहं स्थूलोऽहमि'त्यादिप्रत्यय:
सङ्गच्छते । अतः कृतं कायातिरिक्तात्मकल्पनाक्लेशेनेति'' चेत् ? न, भूतानां स्वसंवेदनगोचरत्वे बहिर्मुखैव स्वसंवित्तिर्भवेत्,
यथा 'घटोऽयमि'ति बहिर्मुखः प्रत्ययः । तथा 'सुख्यहं' इत्यादिरपि यदि शरीरगोचरो भवेत् ततः 'अयं सुखी' इत्येवं बहिर्मुखः
स्यात्, अन्तर्मुखश्चानुभूयते । न हि कोऽपि 'अहं सुखी' इत्यादिप्रत्ययं देहे विधत्ते किन्तु देहातिरिक्ते कस्मिंश्चित्, इत्यतः
प्रतीयते 'सुख्यहं' इत्याद्यन्तर्मुखप्रत्ययो जीवगोचर एव, न भूतगोचरः, बहिर्मुखत्वेनानवभासनात् । यच्चोक्तं 'वपूरूपपरिणतानि
महद्भूतान्येव चैतन्यमुद्बोधयन्ती'त्यादि, तदप्यविकलविकलताविलसितम् । यतः यदि हि महद्भूतेभ्य एव चैतन्यमुन्मीलतीत्या-
ग्रसङ्गतिसङ्गतमपि स्वेच्छाचलनाद्यन्यथाऽनुपपत्तिप्रतिहतेन भवता कल्पनीयम्, तदा चैतन्यमेव जन्मान्तरादुत्पत्तिस्थानमागतं
चतुर्भूतभ्रमाधायिदेहमुत्पादयेत्, भूयो भवान्तरगामुकं सत्त्यजेत्, तेन चाधिष्ठितं स्वेच्छाविहारादिक्रियां कुर्यात्, तद्विनिर्मुक्तं भूयो
दारुवदासीत इत्यात्मजन्यमेव वपुः न पुनरात्मा भूतसमुदयसंयोगजन्यदेहजन्य इत्यकाल्पनिकमेवादरितुमुदारतरं विभावयामः ।
सचेतनस्यात्मनः कर्मावष्टब्धतयाऽन्यान्यभवभ्रमान्यान्यदेहसम्पादनपर्यटनाघटितत्वात् । अथेत्थमभिदधीथाः 'जन्मान्तरादुत्पत्तिप्रदे-
शमागच्छन्नात्मा न प्रत्यक्षेण लक्ष्यते । नन्वेवं वपूरूपधारणद्वारेण भूतान्यपि चैतन्यमुन्मीलयन्ति न साक्षाल्लक्ष्यन्ते इति भवतोऽपि
पक्षपातं विना सामान्यम् । भूतेषु वपूरूपपरिणतेष्वेव चैतन्यमुपलभामहे नान्यदेत्यन्यथानुपपत्त्या भूतजन्यमेव चैतन्यं कल्पयाम
इति चेत् ? तर्हि कथं मृतावस्थायां भूतेषु तदवस्थेष्वेव चैतन्यं नोपलभ्यते । वपूरूपविवर्तश्च कादाचित्कत्वान्यथानुपपत्त्याऽवश्यं
कारणान्तरापेक्षीत्यतस्तत्सम्पादनसमर्थं जन्मान्तरायातात्मलक्षणं चैतन्यमेव मन्महे । अन्यच्च, आत्मा तावत्पूर्वशुभाशुभचैतन्ययो-
गाद्देहसम्पादनायोत्तिष्ठते इति सौष्ठवप्रष्ठमेव । महद्भूतानि पुनः किंरूपाणि चैतन्यं कर्तुमारभेरन्, चैतन्यवन्ति तद्विनाकृतानि
वा ? यदि प्रथमः पक्षस्तदा विकल्पद्वयमुदयते, तेभ्यस्तच्चैतन्यं व्यतिरिक्तमव्यतिरिक्तं वा ? व्यतिरिक्तं चेत् ? ततो न शरीरव्यति
महद्भूतेष्वप्यवस्थितं भूतविसदृशमेव स्वहेतुमवस्थापयति इति स्ववचसैवात्मानमनुमन्यमानः किमिति कुविकल्पकल्पनेन स्वं
क्लेशयति ? अथाऽव्यतिरिक्तम्, एवं सति सर्वमहद्भूतान्येकतां धारयन्ति, एकचैतन्याभिन्नत्वान्निजस्वरूपवत् । **अथ पृथक्तत्स्व-**
चैतन्याभिन्नानां तेषां नायं प्रेरणावकाश इति मन्येथाः, **तदपि न,** यतस्तज्जन्यनरशरीरेऽपि भूतोत्पाद्यचैतन्यचतुष्टयप्रसङ्गः ।
अथ सत्यार्थ्येकीभूय बहवस्तन्तव इव पटं महत्तरचैतन्यमुत्पादयेयुरिति ब्रूषे, तदा तच्चैतन्यं किं भूतसंयोग उत तज्जन्यमन्यदेव
किञ्चिदिति वाच्यम् । भूतसंयोगश्चेत् ? तदयुक्तम्, चैतन्यानामन्योन्यसंयोगाऽसिद्धेः, अन्यथा प्रचुरतरचैतन्यान्येकीभूय महत्तमं
चैतन्यं जनयेयुः, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा । अथ भूतोत्पाद्यमन्यदेव किञ्चिदित्येतस्मिन्नपि किं तेषामन्वयोऽस्ति न वा ? अस्ति
चेत् ? तदा पूर्ववत् भूतजन्यचैतन्यचतुष्टयतापत्तिः । अथ नास्ति, तदप्यसङ्गतम्, निरन्वयोत्पत्तेर्युक्तिरिक्तत्वात् । तस्मात्र
सचैतन्यानि चैतन्यमुत्पादयेयुर्भूतानि । न च तद्विनाकृतानि, तेषामत्यन्तविसदृशत्वेन चैतन्योत्पत्तिविरुद्धत्वात्, अन्यथा सिकताभ्योऽपि
तैलमुत्पद्येत । अन्यच्च भूतनिचयमात्रजन्यं चैतन्यं तत्परिणतिविशेषजन्यं वा स्यात् ? न तावत्प्रथमः पक्षः क्षोदक्षमः,
अवनिजीवनपवनदहनयोजनेऽपि चैतन्यानुपलम्भात् । द्वैतीयिकपक्षे पुनः कः परिणामविशेष इति पृच्छामः । वपूरूपपरिणतिरिति
चेत् ? ततः सा सर्वकालं कस्मान्न स्यात् ? किमपि कारणान्तरमाश्रित्योत्पद्यते चेत् ? तदा तत्कारणान्तरं जन्मान्तरागतात्मचैतन्यमिति
वितर्कयामः, तस्यैव वपूरूपपरिणतिजन्यचैतन्यानुरूपोपादानकारणत्वात्, तदभावे वपूरूपपरिणतौ सत्यामपि मृतदशायां भूतसद्भावेन

तब तृणारणिमणिस्थल में भावकारणता के अवच्छेदकधर्मविधया शक्तिविशेष की कल्पना ही न्याय्य है, न कि वैजात्य की, क्योंकि तब गौरव दोष प्रसक्त होता है । इस तरह अतिरिक्त शक्ति की कल्पना आवश्यक ही है तब तो 'भूतचतुष्टय से अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं है' - इस चार्वाकसिद्धान्त का भङ्ग ही हो जायगा । अतः भूतचतुष्टयवादी प्राचीन चार्वाक का मत अश्रद्धेय है ।

यदपि तत्त्वतार्किकमतानुयायिभिः न्यगादि - 'अवच्छेदकतये'त्यादिना तदपि नैयायिकादि-

❀ जयलता ❀

चलनादिक्रियानुपलम्भात् । तत्र वपूरूपपरिणतिजन्यं चैतन्यं किन्तु सैव तज्जन्येति क्षोदक्षमं लक्षयामः ।

अथ न प्रत्यक्षादन्यत् प्रमाणम् । न च तेनागमनगमनादिकं भवान्तराच्चैतन्यस्योपलभामहे । तेन तल्लक्ष्याण्येव भूतानि तद्धेतुतया निर्दिशाम इति, **तदप्यसत्**, यतः केवलप्रत्यक्षाश्रयेण देशकालस्वभावविप्रकृष्टानां मेरुभवत्पितामहपरमाण्वादीना-मप्यभावप्रसङ्गः, तेन च भवदादीनामप्यनुत्पत्तिः, इत्यतो बलात्कारेणैवानुमानादीनि प्रमाणानि प्रतिपत्तव्यानि । सन्ति चानुमा-नान्यनेकशः, तथाहि अस्ति कश्चिद्देहे तदतिरिक्तश्चेतनः, 'सुख्यहं दुःख्यहं' इत्याद्यनुभवस्यान्यथानुपपत्तेः । यदि च स न स्यात्, तदा सुखाद्यनुभवोऽपि न भवेत्, यथा मृतशरीरे । तथा हिताहितप्राप्तिपरिहारचेष्टा प्रयत्नपूर्विका विशिष्टक्रियात्वात् रथक्रियावत् । यश्चास्य प्रयत्नस्य कर्ता सोऽस्मदभिमतश्चेतनः । न च निरुक्तियुक्तिप्रतिहतेन भवतेह भव एव देहातिरिक्तः कश्चिदस्ति न त्वमुष्मिन्निति विप्रतिपत्तव्यम्, जन्मान्तरागामुकस्यैवास्य प्रमाणप्रतिष्ठितत्वात् । तद्यथा तदहर्जातबालकस्याद्यस्त-न्याभिलाषः पूर्वाभिलाषपूर्वकः, अभिलाषत्वात् द्वितीयदिवसादिस्तन्याभिलाषवत् । तदिदमनुमानमाद्यस्तन्याभिलाषस्याभिलाषान्त-रपूर्वकत्वमनुमापयदर्थापत्त्या परलोकागामिजीवमाक्षिपति, तज्जन्मन्यभिलाषान्तराभावात् ।

किञ्च, यदुक्तम्, एतावता धर्माधर्मावपि नभोऽम्भोजनिभौ मन्तव्याविति, तदप्यपाकृतम्, तदभावे सुखदुःखयो-र्निर्हेतुकत्वादनुत्पाद एव स्यात् । स च प्रत्यक्षविरुद्धः । तथाहि मनुजत्वे समानेऽपि दृश्यन्ते केचन स्वामित्वमनुभवन्तोऽपरे पुनस्तत्प्रेष्यभावमाबिभ्राणाः । एके च लक्षम्भरयोऽन्ये तु स्वोदरदरीपूरणेऽप्यनिपुणाः, एके देवा इव निरन्तरसरसविलाससुखशालिन इतरे च नारका इवोद्विग्नदुःखविद्राणचित्तवृत्तयः इत्यतोऽनुभूयमानसुखदुःखनिबन्धनौ धर्माधर्मौ स्वीकर्तव्यौ तदङ्गीकरणे च विशिष्टयोः तत्फलयोर्भोगभूमी स्वर्गनरकावपि प्रतिपत्तव्यौ, अन्यथाऽर्धजरतीयन्यायप्रसङ्गः स्यात् । एवञ्च पुण्यपापकर्मक्षयोत्थ-मोक्षपक्षोक्तदूषणमप्यननुगुणं गणनीयम् । **न च वाच्यम्** ''यदुत 'बन्धः कर्म-जीवसंयोगलक्षणः' स आदिमान् आदिरहितो वा ? तत्र यदि प्रथमो विकल्पः, ततो विकल्पत्रयप्रसङ्गः, किं पूर्वमात्मनः प्रसूतिः पश्चात्कर्मणः ? यदि वा पूर्वं कर्मणः पश्चादात्मनः ? आहोस्वित् युगपदुभयस्येति ? किञ्चातः ? सर्वत्रापि दोषः । तथाहि न तावदात्मनः पूर्वं प्रसूतिः, निर्हेतुकत्वात् व्योमकुसुमवत्, नाऽपि कर्मणः प्राक् प्रसूतिः कर्तुरभावात् । न चाकृतं कर्म भवति । युगपत्प्रसूतिरप्ययुक्ता कारणाभावात् । न चानादिमत्यात्मनि बन्धो घटामटाट्यते, बन्धकारणाभावात्, गगनस्येव । इत्थञ्चैतदङ्गीकर्तव्यमन्यथा मुक्तस्यापि बन्धप्रसङ्गो विशेषाभावात् । तथा च सति नित्यमुक्तत्वात् मोक्षानुष्ठानवैयर्थ्यमिति । अथ द्वितीयः पक्षः तर्हि नात्मकर्मवियोगो भवेदना-दित्वादात्माकाशसंयोगवदिति मोक्षानुपपत्तिरिति'' - **यतो** जीवोऽनादिनिधनः सत्त्वे सत्त्वहेतुकत्वात्, कर्माऽपि प्रवाहतोऽनादिमत्, ततो जीवकर्मणोरनादिमानेव संयोगो धर्मास्तिकायाकाशसंयोगवदिति प्रथमपक्षोक्तदूषणानवकाशः । योऽपि द्वितीयपक्षेऽभिहितोऽ-नादित्वात्संयोगस्य विभागाभाव इति सोऽप्यसमीचीनः, तथाऽदर्शनात् । यथा च काञ्चनोपलयोः संयोगोऽनादिसन्ततिगतोऽपि क्षारमृत्पुटपाकादिद्रव्यसंयोगोपायतो विघटमानो दृष्टस्तथा जीवकर्मणोरपि(संयोगस्य) ज्ञानदर्शनचारित्रोपायतो वियोग इति न कश्चिद्दोषः । अथ यद्यनादि सर्वं कर्म ततस्तस्य जीवकृतत्वानुपपत्तिः, जीवकृतत्वेऽनादित्वविरोधात् । **तदसम्यक्**, वस्तुगत्यनवबोधात् । तथाहि जीवेन तथा तथा मिथ्यादर्शनादिसव्यपेक्षेण तदा तदुपादीयते कर्म यथा तेन जीवेन कृतमित्युच्यते । तच्च तथाप्रवाहापेक्षया चिन्त्यमानमादिविकलमित्यनादि । निदर्शनञ्चात्र कालः । यथाहि यावान् अतीतकालः तेनाऽशेषेण वर्तमानत्वमनुभूतम्, अथ चासौ प्रवाहतोऽनादिः, एवं कर्मापीति ।

यदप्युक्तम् - मुक्तस्यापि बन्धप्रसङ्गो विशेषाभावादिति, तदप्ययुक्तम्, विशेषाभावासिद्धेः । तथाहि संसारी जीवः कषायादिपरिणामविकलः, शुक्लध्यानमाहात्म्यतस्तेषां समूलमुन्मूलितत्वात् । ततः मुक्त्यवस्थायां कर्मबन्धाप्रसङ्गः । न च वाच्यमेवं सति तर्हि निरन्तरमुक्तिगमनतो भव्यानामुच्छेदप्रसङ्गोऽनन्तानन्तसङ्ख्योपेतत्वात् । इह यद्यदनन्तसङ्ख्योपेतं तत्तत्प्रति-समयमेकद्वित्र्यादिसङ्ख्यया्ऽपगच्छदपि न कदाचन निर्लेपीभवति, यथाऽनागतकालः । तथा चानन्तानन्तसङ्ख्योपेता भव्या इत्यनुच्छेदः । एवञ्च सत्प्रमाणप्रतिष्ठितस्यात्मतत्त्वस्य तदाश्रितश्रेयोऽश्रेयोऽनेकान्तमत-स्वर्गापवर्गादिषु कुग्रहग्रहिलतयैवाऽप्रतिपद्यमानं चार्वाकमवज्ञोपहतमेव कुर्वाणः स्तुतिकृदाह - विमतिरिति । तस्य सर्वापलापलोलुपस्य चार्वाकस्य विप्रतिपत्तिः सम्प्रतिपत्तिर्वा न विलोक्यते यस्य परभवभवभृदपुनर्भवेषु सर्वमतसम्मतेष्वपि मतिर्मुह्यति । मीमांसामांसलमतिर्मीमांसकोऽपि सर्वज्ञापलापं प्रलपन् संशयज्ञानमेकमनेकाकारं प्रतिजानानो नानेकान्तं प्रतिक्षिपति । नास्तिकस्तु महापापी, तत्कथयाऽप्यलं कलाकौशलशालिनाम् ॥ (वी.स्तो.वि.प्र. ८/११ प्र.वि.)

र्थेऽप्येव पराकृतमस्माभिः । तथाहि शरीरं न ज्ञानाश्रयः, स्तनन्धयानां स्तनपानादिप्रवृत्तिजनकेष्टसाधनताज्ञानस्य स्मृतिरूपतया पर्यवस्यतो हेतुभूतस्याऽऽमुष्मिकानुभवस्यैहिकशरीरेऽसम्भवात् । तदिदमाह - 'वीतरागजन्माऽदर्शनात्' (गौ.न्या.सू. ३/१/२४) इति । तथा चैको नित्योऽनुभविता स्मर्ता च यः स एव भगवानात्मेति ।

❀ जयलता ❀

प्रकृतं प्रस्तुमः । महोपाध्यायोऽत्र उत्तरपक्षयितुमुपक्रमते - **यदपीति । न्यायवादार्थेष्विति** । न्यायवादार्थदर्शनमपि प्रमरहस्यादिदर्शनवद् दुर्लभमधुना । सङ्क्षेपेण नैयायिकरीत्या प्रकृतं दूषयितुमाह - **तथाहीति** । शरीरं = पक्षनिर्देशः । साध्यमाह - **न ज्ञानाश्रय** इति । ज्ञानसमवायिकारणत्वाभावः साध्यः । हेतुस्तु स्तनपानादिप्रवृत्तत्वेऽपि तत्कारणीभूतेष्टसाधनताधीशून्यत्वात्, यद्यदिति स्वयं बोध्यमित्याशयेन स्वरूपाऽसिद्धिवारणायाह - **स्तनन्धयानामिति** । अयं भावः बालकस्य स्तन्यपानप्रवृत्तिरिष्टसाधनताधी-साध्या । सा चानुमितिरूपा । सा च व्याप्त्यादिस्मृतिसाध्या । व्याप्त्यादिस्मृतिश्च प्राग्भवीयानुभूतिसाध्या । ततः शरीरस्य चैतन्ये बालकस्य स्तन्यपाने प्रवृत्तिर्न स्यात्, इष्टसाधनताज्ञानस्य इच्छाद्वारा तद्धेतुत्वात्, स्तन्यपानप्रवृत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणे इष्टसाधनत्वानुभावकाविरहात् । अतिरिक्तात्मवादिमते तु जन्मान्तरानुभूतेष्टसाधनत्वस्य तदा स्मरणादेव प्रवृत्तिः सम्भवति । न च जन्मान्तरानुभूतमन्यदपि स्मर्यतामिति **वाच्यम्,** उद्बोधकाभावात्, अत्र तु जीवनादृष्टस्यैवोद्बोधकत्वात् । प्रकृत एव **अक्षपादसम्मतिमाह तदिदमाह - वीतरागजन्माऽदर्शनादिति । वात्स्यायनेन न्यायभाष्ये** प्रकृते "सरागो जायते इत्यर्थादापद्यते । अयं जायमानो रागानुबद्धो जायते, रागस्य पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनं योनिः । पूर्वानुभवश्च विषयाणामन्यस्मिन् जन्मनि शरीरमन्तरेण नोपपद्यते । सोऽयमात्मा पूर्वशरीरानुभूतान् विषयान् अनुस्मरन् तेषु तेषु रज्यते । तथा चायं द्वयोर्जन्मनोः प्रतिसन्धिः । एवं पूर्वशरीरस्य पूर्वतरेण, पूर्वतरस्य पूर्वतमेनेत्यादिनाऽनादिश्चेतनस्य शरीरयोगः, अनादिश्च रागानुबन्ध इति सिद्धं नित्यत्वमिति" (न्या.भा. ३/१/२४) इत्येवं व्याख्यातम् । सूत्रफलितार्थमाविष्करोति - **तथा चेति** । निगदितार्थमेतदिति न पुनः प्रतन्यते ।

❀ नव्यनास्तिकमतखण्डन ❀

यदपि. । **प्राचीन नास्तिक के सिद्धान्त का खण्डन कर के अब प्रकरणकार पूर्वोक्त** (देखिये पृष्ठ से पृष्ठ) **नव्यनास्तिकमत** का निराकरण कर रहे हैं । **नवीननास्तिकों** ने जो कहा था कि 'अवच्छेदकतासम्बन्ध से ज्ञानादि के प्रति तादात्म्य से'... उसका **अपाकरण** तो हमने (प्रकरणकार महोपाध्यायजी ने) न्यायवादार्थ में ही कर दिया है । वह इस तरह ज्ञातव्य है - शरीर तो ज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता है, क्योंकि जन्मे हुए बालक जन्म के बाद स्तनपान आदि प्रवृत्ति करते हैं वह इष्टसाधनता के ज्ञान के बिना, जो स्मृतिस्वरूप होता है, नहीं हो सकती और तादृश प्रवृत्ति के हेतुभूत स्मरणात्मक इष्टसाधनताज्ञान का आधार बालक का इस जन्म का शरीर तो नहीं हो सकता है । इसका कारण यह है कि स्मृति का कारण अनुभव है । अनुभव के बिना स्मरण नहीं होता । बालक जब पहली बार स्तनपान की प्रवृत्ति करता है उसके पहले तो उसने कभी भी स्तनपान का अनुभव ही नहीं किया है । बिना अनुभव के बाल शरीर में कैसे तादृश स्मृतिरूप इष्टसाधनताज्ञान हो सकेगा ? मगर स्तनपानप्रवृत्ति बिना इष्टसाधनताज्ञान के, जो 'स्तनपानं मदीयमिष्टसाधनं' इत्याकारक स्मरणात्मक है, नहीं हो सकता है और तादृश स्मरण भी बिना स्तनपानविषयक अनुभव के नहीं हो सकता । यह तो सर्वविदित है कि इस दुनिया में जन्म लेकर प्रथम बार स्तनपान करने वाले बालक ने पहले कभी स्तनपान नहीं किया था । अतः मानना पड़ेगा कि अगले जन्म के स्तनपानविषयक अनुभव से बालकों को इस जन्म में तादृश स्मरण होता है जिससे वे स्तनपानप्रवृत्ति करते हैं । मौत के बाद तो शरीर जलाया जाता है या दफनाया जाता है । अतः पूर्व जन्म का शरीर लेकर यहाँ कोई जन्म नहीं पाता है । इसलिए मानना होगा कि पूर्वभव के शरीर में रहनेवाली और शरीर से भिन्न कोई चीज इस जन्म के शरीर में आती है, जो अनुभव एवं स्मरण को करती है । वही आत्मा है, अन्य कोई नहीं । गौतमीय न्यायसूत्र में भी आत्मसिद्धि के उद्देश से कहा गया है कि 'कोई जन्मा हुआ वीतरागी नहीं दिखता है' । इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि राग रागान्तरपूर्वक होता है । राग का मतलब है इच्छा । कोई भी नयी इच्छा उत्पन्न होती है वह अन्यइच्छापूर्वक ही होती है । जन्म लेने पर स्तनपान की इच्छा बालक को होती है । अतः वह भी अन्यइच्छापूर्वक होनी चाहिए । मगर

ज्ञानमानसमपि दुरभ्युपगमं, मनसोऽनुमानापलापेऽभ्युपगन्तुमशक्यत्वात्, अन्यथा 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणमि'ति प्रतिज्ञासन्न्यासात् । 'परामर्शजन्यज्ञानाभ्युपगमेऽपि तत्रानुमितित्वे

❀ जयलता ❀

किञ्च मैत्रीयचक्षुःसंयोगादितो यदा मैत्रात्मनि चाक्षुषादिके समवायेनोत्पन्ने तदा चैत्रशरीरं कथमवच्छेदकतया तन्नोत्पद्यते ? न चावच्छेदकतासम्बन्धेन तदात्मसमवेतज्ञानं प्रति तन्मनःसंयोगस्यापि हेतुत्वान्न तदापत्तिः, मैत्रीयमनःसंयोगस्य चैत्रशरीरेऽसत्त्वादिति **वाच्यम्**, यतो ज्ञानत्वावच्छिन्नोत्पत्तौ चैत्रीयमनोयोगरूपविशेषसामग्र्यां समवहितशरीरघटात्मकसामान्यसामग्र्या अपि नियामकत्वात्, तस्याश्च तदानीं चैत्रशरीरे सत्त्वादुक्तापत्तिर्दुर्वारैव । तस्मात् तत्पुरुषीयचक्षुर्विषयसंयोगादेर्जन्यतावच्छेदककोटौ चाक्षुषाद्यंशे तत्तदात्मसमवेतत्ववत् तच्छरीरावच्छिन्नत्वमपि निवेश्यं, तथा च शरीरहेतुत्वं निर्युक्तिकम् ।

अथ चक्षुःसंयोगजन्यतावच्छेदककोटौ तत्तदात्मसमवेतत्ववत्तच्छरीरावच्छिन्नत्वनिवेशे आत्मभेदेन शरीरभेदेन च तद्धेतुताबाहुल्यमिति अविशेषितचक्षुःसंयोगत्वादिनैव हेतुता कल्प्यते, यथा च विषयनिष्ठावच्छेदकतासमवाययोः कार्यकारणप्रत्यासत्तित्वं तथाऽऽत्मनिष्ठसमवायस्वजनकादृष्टसमवाययोः शरीरनिष्ठावच्छेदकतास्वजनकादृष्टावच्छेदकत्वयोरपि तथात्वमभ्युपेयते । अतो नातिप्रसङ्ग इति **चेत् ? तथापि** शरीरहेतुत्वमकिञ्चित्करमेव, शरीराभेदे स्वजनकादृष्टावच्छेदकत्वसम्बन्धेन तादृशकारणविरहादेवातिप्रसङ्गनिरासात् ।

यदि च स्वजनकादृष्टावच्छेदकत्वस्य जनकतावच्छेदकत्वेनाऽतिगुरुशरीरतया तदपेक्ष्य स्वसमवायिसंयुक्तमनःसंयोगसम्बन्धेनैव चक्षुःसंयोगादेर्हेतुता स्वीक्रियते तदापि शरीरस्य स्वतन्त्रहेतुताकल्पनमपेक्ष्य शरीरमनोयोगवृत्तिजातिविशेषं स्वीकृत्य तेन रूपेण तस्य सम्बन्धता स्वीकरणीया, तादृशसंयोगस्य शरीराभिन्नेऽसत्त्वान्नातिप्रसङ्गः । **न च** तादृशसंयोगस्य शरीर इव मनस्यपि सत्त्वात्तत्राऽवच्छेदकतया ज्ञानापत्तिर्दुर्वारैवेति शरीरहेतुताकल्पनमावश्यकमेवेति **वाच्यम्**, शरीरत्वात्मकोपाधिपुरस्कारेण शरीरहेतुताकल्पनमपेक्ष्य तादृशापत्तिवारणाय संयोगसम्बन्धेन मनस्त्वजात्यवच्छिन्नस्यैवाऽवच्छेदकतासम्बन्धेन ज्ञानं प्रति हेतुतायाः कल्पयितुमुचितत्वादित्यपि **वदन्ति** ।

वस्तुतस्तु मनआदिकल्पनमेव तन्मते न सङ्गच्छते । तथाहि ज्ञानादेः प्रत्यक्षं तावत् सर्वजनीनमेव । तच्च न चाक्षुषादिकं, चक्षुराद्यव्यापारेऽपि जायमानत्वात् । न च मानसमेव तत्, त्वया मनस एवाऽभ्युपगन्तुमशक्यत्वादित्याशयेनाह - **ज्ञानमानसं** = ज्ञानादिगोचरमानसप्रत्यक्षं **अपि** चार्वाकमते **दुरभ्युपगमम्, मनसोऽनुमानापलापेऽभ्युपगन्तुमशक्यत्वात्, अन्यथा** = अनुमानस्य प्रमाणान्तरत्वस्वीकारे, **'प्रत्यक्षमेव प्रमाणमि'ति प्रतिज्ञासन्न्यासात्** ।

ननु परामर्शस्य प्रमाणान्तरत्वमेव न मन्यामहे, तज्जन्यायामनुमितौ मानसत्वस्यैव स्वीकारादिति 'सुखसाक्षात्कारः सकरणकत्वाविनाभाविजन्यसाक्षात्कारत्वानि'ति परामर्शान्मनसः सिद्धिर्निराबाधेत्याशयेन चार्वाकः शङ्कते - **परामर्शजन्यज्ञानाभ्युपगमेऽपि तत्र** = परामर्शजन्यज्ञाने, **अनुमितित्वे** = प्रत्यक्षत्वविलक्षणानुमितित्वस्वत्वे प्रत्यक्षत्वानुमानानुमितित्वस्य

बालक तो अभी ही पैदा हुआ है । अतः मानना चाहिए कि बालक में वर्तमान इच्छा पूर्वभवीयइच्छापूर्वक है । पूर्व भव की प्रथम इच्छा भी उसके अगले भव की इच्छापूर्वक सिद्ध होती है । इस तरह अगले अनन्त भव सिद्ध होने से आत्मा नित्य सिद्ध होती है, जो अनंत शरीर में क्रमशः रहनेवाली एक ही है । इस तरह एक, नित्य, अनुभव करनेवाली एवं स्मृति करनेवाली जो चीज है वही भगवान् आत्मा है ।

❀ मानस प्रत्यक्ष नव्यनास्तिकमत में नामुमकिन ❀

ज्ञानमा. । नव्यनास्तिकों ने पूर्व में जो कहा था कि —> 'अपने ज्ञान आदि का चाक्षुष नहीं होने पर भी मानस प्रत्यक्ष = मन के द्वारा तत्साक्षात्कार मुमकिन है' (पृष्ठ) <— यह भी उनके मतानुसार नामुमकिन है, क्योंकि प्रत्यक्षातिरिक्त अनुमान प्रमाण का अपलाप करने पर तो मन की ही सिद्धि नहीं हो सकेगी । अनुमिति का मानस प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव तब हो सकता है यदि पहले मन की सिद्धि हो जाय । मगर मन की सिद्धि ही अनुमिति पर अवलम्बित है । अतः अनुमिति को मानस प्रत्यक्ष मानने पर अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा । यदि अनुमिति को प्रत्यक्षविलक्षण प्रमा मान कर अतिरिक्त प्रमा के अनुरोध से अतिरिक्त अनुमान प्रमाण का स्वीकार किया जाय तब तो 'प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' इस चार्वाकप्रतिज्ञा का त्याग हो जायेगा । अतः ज्ञानादि का मानस प्रत्यक्ष नव्य नास्तिकों के मतानुसार भी नामुमकिन है । यदि इसके बचाव

मानाभावात्, सर्वप्रमायाः प्रत्यक्षरूपत्वान्न प्रमाभेदाधीनः प्रमाणभेद इति न प्रतिज्ञासंन्यास' इति चेत् ? न, 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत' एतादृशनिश्चयस्यैतदुत्तरानुमितित्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वेन प्रमाविशेषसिद्धौ प्रमाणविशेषसिद्धेः । न चैतदुत्तरज्ञानत्वमेव तज्जन्यतावच्छेदकं एतदव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्वमेव वा संस्कारव्यावृत्तं तथा; गृहीताप्रामाण्यकाहार्य-

❋ जयलता ❋

ना गौरवेण **मानाभावात्** । परामर्शजन्यज्ञाने प्रत्यक्षत्वातिरिक्तप्रमात्वकल्पनपूर्वमेव गौरवज्ञानोपस्थितेर्नं परामर्शस्यानुमानत्वमि-त्याशयः । अत एव न प्रतिज्ञासंन्यास इति दर्शयति - **सर्वप्रमायाः** = प्रमात्वावच्छिन्नायाः **प्रत्यक्षरूपत्वात्** = साक्षात्कार-त्वाभ्युपगमात् **न प्रमाभेदाधीनः प्रमाणभेदः** सिध्यतीति **न प्रतिज्ञासंन्यासः**। प्रमाभेदे सिद्धे सति प्रमाणान्तरं सिध्यति नान्यथा, तस्य तदुपजीवकत्वात् । लाघवसहकारेण प्रमात्वावच्छिन्ने प्रत्यक्षत्वनिर्णयान्न परामर्शजन्यप्रमायाः प्रत्यक्षप्रमाभिन्नत्वसम्भवः । अतो न प्रमाणान्तरप्रसङ्गेन प्रतिज्ञासंन्यास इति चार्वाकाशयः ।

प्रकरणकारस्तमपाकुरुते - **नेति । 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत' एतादृशनिश्चयस्य** = प्रदर्शितप्रमापरामर्शस्य **एत-दुत्तरानुमितित्वस्य** = एतदुत्तरदहनानुमितित्वस्य **जन्यतावच्छेदकत्वेन प्रमाविशेषसिद्धौ प्रमाणविशेषसिद्धेरिति** । निरुक्त-परामर्शजन्यज्ञानविषयकानुव्यवसायस्य 'पर्वते दहनं न साक्षात्करोमि किन्त्वनुमिनोमी'त्याकारकत्वात् तद्विषयीभूतव्यवसाय-ज्ञानस्य प्रदर्शितपरामर्शजन्यस्य न प्रत्यक्षत्वं किन्त्वनुमितित्वमेव; विलक्षणप्रतीतिसिद्धाया विलक्षणप्रमायाः करणस्य न प्रत्यक्षत्वं किन्त्वनुमानत्वमेवेत्येवं धर्मविशेषसिद्धया धर्मिविशेषसिद्धिः । अत एव 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणमि'ति प्रतिज्ञासंन्यासोऽपि परस्य दुरुद्धरः । न च एतद्दोषापाकरणाय नौर्वाणिगुरुः महाप्राज्ञो वा तत्साहाय्यं कर्तुं समर्थः, तेन परलोकस्यैवाऽनभ्युपगमात् ।

ननु निरुक्तनिश्चयकार्यतावच्छेदकविधया एतदुत्तरज्ञानत्वमेवाभ्युपगन्तव्यम्, लाघवात् तत्र मानाभावात् । ततश्च न प्रतिज्ञा-संन्यासप्रसङ्गो न वा मतक्षतिरिति नव्यचार्वाकशङ्कामपाकर्तुमुपदर्शयति - **न चेति । एतदुत्तरज्ञानत्वमेव** न तु एतदुत्तरानु-मितित्वं, **तज्जन्यतावच्छेदकं** = अप्रामाण्यग्रहशून्यतादृशनिश्चयनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकम् अपेक्षाबुद्ध्यात्मकपरामर्श-द्वितीयक्षणोत्पन्नतदात्मकानुमितिसङ्ग्रहाय कल्पान्तरमाह **एतदव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्वमेव वा संस्कारव्यावृत्तं तथा** = तादृश-निश्चयकार्यतावच्छेदकम् । अप्रामाण्यग्रहशून्यतादृशनिश्चयं विनाऽपि तथाविधसंस्कारोत्पादेन व्यतिरेकव्यभिचारवारणाय संस्कार-व्यावृत्तमित्युक्तम् । ततश्च प्रमाणान्तरसाधनेन न प्रतिज्ञासंन्यास इति नूतननास्तिकचार्वाकैकदेशीयानामाशयः ।

नन्वेवमपि यदाऽप्रामाण्यग्रहशून्यतादृशनिश्चयो नास्ति तदाऽपि गृहीताप्रामाण्यकपरामर्शोत्तरमव्यवहितोत्तरक्षणावच्छेदेन तादृशाहार्यपरामर्शोत्तरमव्यवहितोत्तरक्षणावच्छेदेन तदवच्छिन्नदहनस्मृतिसंशयविपर्ययोत्पादेन व्यतिरेकव्यभिचारस्तादवस्थ्यमेवेत्याशयेन प्रकरणकारस्तन्निराकुरुते **गृहीताप्रामाण्यकाहार्यपरामर्शविशिष्टस्मृतिसंशयादिषु** = सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन गृहीताप्रामाण्यप-

में नव्य नास्तिकों की ओर से यह कहा जाय कि —> 'हम परामर्शजन्यज्ञान का तो स्वीकार करते ही हैं, मगर उसमें प्रत्यक्षत्वभिन्न अनुमितित्व नहीं मानते हैं, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । सब प्रमा प्रत्यक्षस्वरूप ही होती है, न कि अप्रत्यक्ष । अन्य प्रमाण की सिद्धि तब होती यदि प्रत्यक्ष प्रमा से भिन्न प्रमा की सिद्धि हो, क्योंकि प्रमाणभेद = अतिरिक्त-प्रमाणसिद्धि प्रमाभेद की सिद्धि के अधीन है। अतः परामर्शजन्य ज्ञान से मत की सिद्धि भी होगी एवं 'प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' इस प्रतिज्ञा की भी सुरक्षा होगी' <—

❋ परामर्शकार्यतावच्छेदक अनुमितित्व ही है - स्याद्वादी ❋

न.व. । तो यह कथन भी ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इत्याकारक परामर्श निश्चय का कार्यतावच्छेदक एतदुत्तर दहनानुमितित्व है, क्योंकि 'पर्वते वह्निं अनुमिनोमि' ऐसा अनुमितिविषयक अनुव्यवसाय होता है । अतः प्रत्यक्ष से विलक्षण प्रमा का स्वीकार आवश्यक ही है, जिसके फलस्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न अनुमान प्रमाण की सिद्धि अनिवार्य होगी, क्योंकि प्रमाभेद प्रमाणभेद का साधक है । यहाँ बचाव के लिए यह वक्तव्य भी कि —> 'तादृश परामर्शनिश्चय का कार्यतावच्छेदक एतदुत्तरदहनानुमितित्व नहीं किन्तु एतदुत्तरज्ञानत्व ही है अथवा संस्कारव्यावृत्त एतदव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्व को ही उसका कार्यतावच्छेदक माना जा सकता है । संस्कार की प्रस्तुत परामर्श के बिना भी उत्पत्ति हो सकती है । अतः 'संस्कार में न रहनेवाला' ऐसा एतदव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्व का विशेषण लगाया गया है । ऐसा

परामर्शविशिष्टस्मृति-संशयादिषु व्यभिचारवारणाय तत्तदप्रामाण्यग्रहाभाव-तत्तदाहार्यभेदादीनां जन्यतावच्छेदके निवेशे गौरवात् । न चाप्रामाण्यप्रकारतानिरूपितसामानाधिकरण्यविशिष्ट-विशेष्यतासम्बन्धेन ज्ञानाभावत्वेनाऽप्रामाण्यग्रहाभावानामाहार्यभेदस्य चानुगतस्यैव निवे-

❀ जयलता ❀

रामर्शविशिष्टस्मरणसंशयविपर्ययेषु आहार्यपरामर्शविशिष्टस्मरण-संशय-विपर्ययेषु च निरुक्तकार्यतावच्छेदकावच्छिन्नेषु अप्रामाण्य-ग्रहशून्यतादृशनिश्चयमृते उत्पन्नेषु व्यतिरेकव्यभिचारस्य दुर्वारत्वम् । तत्र **व्यभिचारवारणाय** – व्यतिरेकव्यभिचारापाकरणकृते **तत्तदप्रामाण्यग्रहाभावतत्तदाहार्यभेदादीनां जन्यतावच्छेदके** = अप्रामाण्यग्रह-शून्यतादृशनिश्चयकार्यतावच्छेदककोटौ **निवेशे गौरवात्** = महागौरवात् । तत्तत्पदानिवेशेऽप्रामाण्यग्रहशून्यालोकपरामर्शादपि गृहीताऽप्रामाण्यकधूमपरामर्शसत्त्वे दहनानुमित्य-नापत्तिः । अतः तत्तत्पदनिवेशस्यावश्यकत्वम् । तदपेक्षयैतदव्यवहितोत्तरदहनानुमितित्वस्यैव तत्कार्यतावच्छेदकत्वे लाघवमिति प्रकरणकृदाशयः ।

नव्यनास्तिकशङ्कामपाकर्तुं दर्शयति - **न चेति** वाच्यमित्यनेनान्वयोऽस्य । अप्रामाण्यग्रहाभावानामाहार्यभेदस्य चानुगतत्वमुपपादयन्ति नव्यनास्तिकाः **अप्रामाण्यप्रकारतानिरूपितसामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेनेति** । 'अयं परामर्शोऽप्रामाण्यवानि'ति ज्ञाने परामर्शो विशेष्योऽप्रामाण्यञ्च प्रकारः । अतोऽप्रामाण्यनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेनाऽ-प्रामाण्यविज्ञानविशिष्टः परामर्शनिश्चयः । एवं बाधकालीनेच्छाजन्यज्ञानलक्षणाहार्यपरामर्शोऽपि स्वनिरूपिताप्रामाण्यनिष्ठप्रकारता-निरूपितविशेष्यतासम्बन्धेनाऽप्रामाण्यज्ञानवान् । यस्मिन्नेवात्मनि समवायेन तादृशपरामर्शो विद्यते तस्मिन्नेव समवायेनाऽप्रामाण्य-ग्रहोऽपि वर्तत इत्यतः स्वप्रकारीभूताऽप्रामाण्यनिष्ठप्रकारतानिरूपितसामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेनाऽप्रामाण्यग्रहो गृहीता-प्रामाण्यकपरामर्शे आहार्यपरामर्शे वा वर्तते । स्वनिरूपिताप्रामाण्यनिष्ठप्रकारतानिरूपित-सामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेन परामर्शनिष्ठानां तत्तदप्रामाण्यग्रहाभावानां तत्तदाहार्यभेदानां च तत्कार्यतावच्छेदककोटावनुप्रवेशनीयत्वे तेषां **ज्ञानाभावत्वेनैव**

स्वीकार करने पर अतिरिक्त प्रमा की सिद्धि नहीं होगी । अतएव अतिरिक्त अनुमान प्रमाण की भी सिद्धि अप्रसक्त रहेगी' <— असंगत है । इसका कारण यह है कि जिसमें अप्रामाण्य का ज्ञान हो गया है ऐसे परामर्श या आहार्य (=बाधकालीनेच्छाजन्य) परामर्श की उत्पत्ति के अव्यवहितोत्तर क्षण में दहन की स्मृति, संशय आदि हो सकते हैं, जो गृहीताऽप्रामाण्यक परामर्श या आहार्यपरामर्श से विशिष्ट होते हैं । विवक्षित परामर्शात्मक कारण के बिना भी प्रकृत कार्यतावच्छेदक से विशिष्ट की उत्पत्ति होने से व्यतिरेक व्यभिचार प्राप्त होता है । यदि इस व्यभिचार को हटाने के लिए नव्य नास्तिकों की ओर से यह कहा जाय कि —> ''हमें जो 'पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्' इस परामर्श का कार्यतावच्छेदक अभिमत है वह केवल एतदुत्तरज्ञानत्व नहीं है किन्तु उसमें तत् तत् अप्रामाण्यज्ञानाभाव एवं तत् तत् आहार्य भेद भी निविष्ट ही है । गृहीताऽप्रामाण्यकपरामर्शविशिष्टस्मरण-संशयादि या आहार्यपरामर्शविशिष्टस्मरण-संशयादि कार्य में तत्तदप्रामाण्यज्ञान का अभाव या आहार्यभेद नहीं रहता है । अतः विवक्षित कार्यतावच्छेदकावच्छिन्न की उत्पत्ति नहीं होने से व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश नहीं है'' <— तो यह भी असंगत है, क्योंकि तब कार्यतावच्छेदककोटि में गौरव दोष प्रसक्त होता है । तत्तत् अप्रामाण्यग्रहाभाव एवं तत् तत् आहार्यभेद का कार्यतावच्छेदककुक्षि में प्रवेश करने की अपेक्षा एतदव्यवहितोत्तरानुमितित्व को ही तादृश परामर्श का कार्यतावच्छेदक मानना उचित है, जिसके फलरूप में अतिरिक्त प्रमा की सिद्धि होने से प्रमाणान्तर की सिद्धि अनायास हो जायेगी।

न चापि. । यदि गौरव दोष के परिहारार्थ नव्य नास्तिकों की ओर से बचाव रूप में यह कहा जाय कि —> 'विवक्षित परामर्श के कार्यतावच्छेदक शरीर में तत् तत् अप्रामाण्यज्ञानाभावों का तत्तदप्रामाण्यज्ञानाभावत्वेन एवं, तत् तत् आहार्यभेदों का आहार्यभेदत्वेन निवेश नहीं किया जायेगा किन्तु ज्ञानाभावत्वेन ही प्रवेश किया जायेगा, जो कि इनमें अनुगत धर्म है। यद्यपि ज्ञानाभावत्व तो अप्रमाण परामर्श की भाँति प्रमाण परामर्श में भी रहता है । अतः उसकी व्यावृत्ति के लिए ऐसा कहा जा सकता है कि स्वनिरूपिताप्रामाण्यनिष्ठप्रकारतानिरूपितसामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासम्बन्ध से ज्ञानाभावत्व एतत्कार्यताव-च्छेदकधर्म कोटि में निविष्ट है । इसकी स्पष्टता इस तरह है - 'अयं परामर्शः अप्रामाण्यवान्' इस ज्ञान में प्रकार है अप्रामाण्य और विशेष्य है परामर्श । एवं जिस आत्मा में समवाय सम्बन्ध से परामर्श ज्ञान रहता है उसीमें समवाय से उपर्युक्त अप्रामाण्यज्ञान भी समवाय सम्बन्ध से रहता है । मतलब कि दोनों समानाधिकरण हैं। अतः अप्रामाण्यज्ञान स्वनिरूपितअप्रामाण्यनिष्ठप्रकारतानिरूपित-सामानाधिकरण्यविशिष्ट-विशेष्यतासम्बन्ध से परामर्श में रहेगा । जब परामर्श गृहीताऽप्रामाण्यक या आहार्य न होगा तब उस परामर्श में स्वनिरूपिताऽप्रामाण्यनिष्ठप्रकारतानिरूपितसामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यता सम्बन्ध से ज्ञानाभाव रहेगा । अतः निरुक्त सम्बन्ध से ज्ञानाभावत्व का विवक्षितपरामर्शकार्यतावच्छेदक कोटि में समावेश हो सकता है । अतः गौरव दोष का अवकाश

शङ्क्यायं दोष इति वाच्यम्, न ह्यप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टधूमपरामर्शाव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्वं अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनाऽप्रामाण्यग्रहविशिष्टान्यधूमपरामर्शाव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्वं वा तथा, यत्र धूमपरामर्शद्वितीयक्षणे धूमज्ञानाप्रामाण्यावगाही आलोकपरामर्शः तदुत्तरानुमितौ व्यभिचारात्, यत्र च पूर्वं धूमपरामर्शनिष्ठेदन्त्वधर्मितावच्छेदककाप्रामाण्यग्रहस्ततश्च धूमपरा-

❋ जयलता ❋

रूपेणाऽनुगमः कर्तुं शक्यते । अतो **नायं** गौरवलक्षणो **दोषः** । सामानाधिकरण्यविशिष्टत्वानुक्तौ चैत्रस्याऽप्रामाण्यग्रहसत्त्वे मैत्रस्याऽपि 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत' इतिपरामर्शाद्दहनानुमितिर्न स्यात् । अतस्तन्निवेशः कृतः । ततो नैतदव्यवहितोत्तर-दहनानुमितित्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वमिति नवीननास्तिकाभिप्रायः ।

प्रकरणकारो व्यभिचारोद्भावनेन तमपहस्तयति - **न हीति** तथेत्यनेनान्वेति । **अप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टधूमपराम-र्शाऽव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्वं** = अव्यवहितोत्तरत्वसंसर्गेण अप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टो यो धूमपरामर्शः तदव्यवहितोत्तरकालावच्छेदेन जायमानत्वम् । अत्यन्ताभावाऽपेक्षयाऽन्योन्याभावस्य लघुशरीरकत्वात्कल्पान्तरमाह - **अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन अप्रामाण्यग्रह-विशिष्टान्यधूमपरामर्शाव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्वं** = निरुक्तसम्बन्धेनाऽप्रामाण्यज्ञानविशिष्टो यः तदन्यस्य धूमलिङ्गकपरामर्शस्याऽ-व्यवहितोत्तरकालावच्छेदेन जायमानत्वं **वा तथा** = एतत्कार्यतावच्छेदकं सम्भवति । तदसम्भवमेव भावयति - **यत्र** स्थले प्रथम-क्षणे धूमपरामर्शो जातः **धूमपरामर्शद्वितीयक्षणे** = धूमपरामर्शस्य द्वितीयक्षणावच्छेदेन **धूमज्ञानाप्रामाण्यावगाही** = धूमलिङ्ग-कपरामर्शनिष्ठाऽप्रामाण्यगोचरः **आलोकपरामर्शः** = 'पर्वतो दहनव्याप्यालोकवान् न तु दहनव्याप्यधूमवानि'त्याकारकः सञ्जातः **तदुत्तरानुमितौ** = तदव्यवहितोत्तरक्षणावच्छेदेन = तृतीयक्षणावच्छेदेन अनुमितौ = दहनानुमितौ जायमानायां **व्यभिचारात्** = व्यतिरेकव्यभिचारात् । धूमपरामर्शनिष्ठाप्रामाण्यगोचरज्ञानस्य धूमपरामर्शानन्तरजातत्वेन धूमपरामर्शस्य स्वाव्यवहितोत्तरत्व-सम्बन्धेनाऽप्रामाण्यग्रहविशिष्टत्वाऽभावः । तथाऽऽलोकपरामर्श एव स्वाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनाऽप्रामाण्यग्रहविशिष्टो धूमपरामर्शस्तु स्वाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनाऽप्रामाण्यग्रहाभाववान् । ततश्चालोकलिङ्गकपरामर्शजन्यानुमितौ स्वाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनाप्रामाण्यग्रहा-भावविशिष्टो यो धूमपरामर्शस्तदव्यवहितोत्तरक्षणावच्छेदेन जायमानत्वस्य यद्वा स्वाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनाऽप्रामाण्यग्रहविशिष्टो य आलोकपरामर्शस्तदन्यधूमपरामर्शाऽव्यवहितोत्तरकालावच्छेदेन जायमानत्वस्य सत्त्वात् व्यतिरेकव्यभिचारस्य दुर्वारत्वम् । न हि तस्या धूमलिङ्गकपरामर्शजन्यत्वं किन्त्वालोकलिङ्गकपरामर्शजन्यत्वम् । कार्यतावच्छेदकं तु तत्रालोकलिङ्गकपरामर्शस्य नास्ति किन्तु धूमपरामर्शस्यैवाऽस्तीत्यतो व्यभिचारः ।

ननु यल्लिङ्गकानुमितिः तल्लिङ्गकपरामर्शनिष्ठतयाऽप्रामाण्यग्रहाभावस्य निवेशविवक्षणान्न दोष इत्याशङ्कायां दोषान्तरमाह **यत्र स्थले च पूर्वं** = पूर्वक्षणावच्छेदेन **धूमपरामर्शनिष्ठेदन्त्वधर्मितावच्छेदककाप्रामाण्यग्रहः** = 'अयं धूमलिङ्गकपरामर्शोऽ-प्रामाण्यवानि'तिस्वरूपोऽप्रामाण्यप्रकारकनिश्चयः **ततः** = तदनन्तरक्षणावच्छेदेनाऽन्यः प्रमाणीभूतो धूमपरामर्शः = **धूमपरामर्शान्तरं**,

नहीं है' ⟵ तो यह भी अकिञ्चित्कर है । इसका कारण यह है कि अप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टधूमपरामर्शाव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्व अर्थात् जिसमें अप्रामाण्य का भान नहीं हुआ है ऐसे धूमपरामर्श के अव्यवहितोत्तरक्षण में जायमानत्व धर्म या तो अव्यवहितोत्तरत्व-सम्बन्ध से, जो अप्रामाण्यग्रहविशिष्ट है, उससे भिन्न ऐसे धूमपरामर्श के अव्यवहितोत्तरक्षण में जायमानत्व धर्म भी आपसे प्रदर्शित रीति के अनुसार स्वनिरूपिताप्रामाण्यनिष्ठप्रकारतानिरूपितसामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासम्बन्ध से ज्ञानाभाव से विशिष्ट या घटित करने पर भी परामर्शकार्यतावच्छेदक नहीं बन सकता है । इसका कारण यह है कि जब प्रथम क्षण में धूमपरामर्श उत्पन्न होता है । उसकी द्वितीय क्षण में उसमें अप्रामाण्य का अवगाहन करता हुआ आलोकलिङ्गक परामर्श होता है और तृतीय क्षण में वह्नि की अनुमिति होती है । यह सर्वमान्य है या उभयपक्षमान्य है । मगर उसमें अप्रामाण्यग्रहाभाव-विशिष्ट-धूमपरामर्शाव्यव-हितोत्तरजायमानत्व या अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्ध से अप्रामाण्यग्रहविशिष्टभिन्न धूमपरामर्शाव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्व धर्म भी रहता है, क्योंकि वह अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से अप्रामाण्यज्ञानाभाव के आश्रय ऐसे धूमपरामर्श के अव्यवहितोत्तर काल में जायमान है । मतलब कि उसमें नव्यनास्तिक प्रदर्शित कार्यता अवच्छेदक धर्म रहता है । अतः व्यभिचार का प्रसङ्ग उपस्थित होता है । एवं जब पहले धूमपरामर्श में इदन्त्वधर्मिता अवच्छेदकक ऐसा अप्रामाण्यज्ञान यानी 'अयं धूमपरामर्शोऽप्रामाण्यवान्' ऐसा ज्ञान होने के बाद उसकी दूसरी क्षण में पुनः 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत' इत्याकारक धूमलिङ्गक प्रमा परामर्श हुआ हो वहाँ तृतीय क्षण में दहनानुमिति होती है । मगर इस अनुमिति में नव्यनास्तिकप्रदर्शित कार्यता अवच्छेदक धर्म रहता नहीं है, क्योंकि प्रथम क्षण में अप्रामाण्य का धूमपरामर्श में अवगाहन हो जाने से द्वितीय क्षण में अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से

मर्शान्तरं तदुत्तरानुमितेश्चाऽसङ्ग्रहात् । किन्तु अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनाऽप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टपरामर्शाधिकरणक्षणविशिष्टत्वं, तत्र च शुद्धाधिकरणतानामतिप्रसञ्जकत्वेन विशिष्टाधिकरणतात्वेन निवेशे प्रागुक्तस्मृतिसंशयादिस्थलीयपरामर्शविशिष्टाधिकरणतानां निवेशे तद्दोषानुद्धारात् । अप्रामाण्यस्याऽननुगमेनैकाभावनिवेशाऽसम्भवाच्च ।

❀ जयलता ❀

तदुत्तरानुमितेः = द्वितीयधूमपरामर्शोत्पादानन्तरोत्तरक्षणावच्छेदेन जायमानाया दहनानुमितेः **च असङ्ग्रहात्** = तत्कार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वेनाऽनुपग्रहप्रसङ्गात् । तत्रानुमितिस्तु भवत्येव द्वितीयपरामर्शबलात् किन्तु तादृशदहनानुमितौ अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनाऽप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टधूमपरामर्शाव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्वं अप्रामाण्यग्रहविशिष्टान्यधूमपरामर्शाव्यवहितोत्तरजायमानत्वं वा नास्ति, तदव्यवहितपूर्वक्षणवर्तिधूमपरामर्शस्य स्वाऽव्यवहितोत्तरवर्तित्वसम्बन्धेनाऽप्रामाण्यग्रहविशिष्टत्वात् । ततश्चान्वयव्यभिचारस्य दुर्वारत्वम्, द्वितीयधूमपरामर्शलक्षणकारणसत्त्वेऽपि तदुत्तरं तत्कार्यतावच्छेदकविशिष्टस्यानुत्पत्तेरित्येकं गौरवतोऽपरप्रच्युतिः ।

तर्हि व्यभिचारनिवारणकृते किं कर्तव्यं ? इति किङ्कर्तव्यतामूढाशङ्कायामाह - **किन्तु अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन** = स्वाव्यवहितोत्तरक्षणनिरूपितसामानाधिकरण्यविशिष्टवृत्तित्वसम्बन्धेन, **अप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टपरामर्शाधिकरणक्षणविशिष्टत्वं** = निरुक्तसम्बन्धेनाऽप्रामाण्यप्रकारकनिश्चयप्रतियोगिकाभावविशिष्टो यः परामर्शः तदधिकरणीभूतक्षणविशिष्टत्वं यद्वा स्वाऽव्यवहितोत्तरक्षणत्वसम्बन्धेनाऽप्रामाण्यप्रकारकज्ञानाभावविशिष्टो यः परामर्शाधिकरणक्षणः तद्विशिष्टत्वमेतत्कार्यतावच्छेदकमिति वाच्यम् । ततश्च यत्र धूमपरामर्शद्वितीयक्षणे धूमज्ञानाप्रामाण्यावगाही आलोकपरामर्शस्तदव्यवहितोत्तरक्षणजायमानानुमितौ न व्यतिरेकव्यभिचारः, तस्याः स्वाव्यवहितोत्तरक्षणत्वसम्बन्धेनाऽप्रामाण्यप्रकारकज्ञानाभावविशिष्टो यो धूमपरामर्शाधिकरणक्षणः तद्विशिष्टत्वविरहात् । नाऽपि यत्र पूर्वं धूमलिङ्गकपरामर्शनिष्ठदन्त्वधर्मितावच्छेदककाप्रामाण्यग्रहस्ततो धूमपरामर्शान्तरं तदव्यवहितोत्तरानुमितेरसङ्ग्रहः, तस्यां द्वितीयधूमपरामर्शकार्यतावच्छेदकस्य स्वाऽव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनाऽप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टो यो द्वितीयपरामर्शोत्पादद्वितीयक्षणः तद्विशिष्टत्वस्य सत्त्वात् । इत्थञ्च व्यभिचारावकाशो यद्यपि नास्ति तथापि **तत्र शुद्धाधिकरणतानां** = स्वाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनाप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टो यः क्षणः तन्निष्ठाधिकरणतानां, **अतिप्रसञ्जकत्वेन** = स्वाऽव्यवहितोत्तरक्षणत्वसम्बन्धेन 'वह्निव्याप्यालोकवान् पर्वत' इत्याकारालोकलिङ्गकपरामर्शधर्मिकाऽप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टेन गृहीताऽप्रामाण्यकाहार्यधूमलिङ्गकपरामर्शनिरूपिताधिकरणताश्रयीभूतक्षणे विशिष्टायामनलानुमितौ व्यभिचारापादकत्वेन, तदपाकरणाय **विशिष्टाधिकरणतात्वेन** रूपेण, परामर्शाधिकरतायाः तत्कार्यतावच्छेदकधर्मशरीरकुक्षौ **निवेशे** = अवश्यनिवेशनीयत्वे प्राप्ते, **प्रागुक्तस्मृतिसंशयादिस्थलीयपरामर्शविशिष्टाधिकरणतानां** = गृहीताऽप्रामाण्यकाहार्यपरामर्शविशिष्टदहनस्मरणसन्देहादिस्थलीयगृहीताप्रामाण्यकाहार्यपरामर्शविशिष्टाधिकरणतानां, **निवेशे** = कार्यतावच्छेदकघटकनिवेशे, **तद्दोषानुद्धारात्** = व्यभिचारदोषतादवस्थ्यात्, तद्भेदनिवेशे च महागौरवात् । **न च** गृहीताऽप्रामाण्यकभेदविशिष्टपरामर्शनिरूपिताधिकरणतात्वेनानुगताधिकरणतानिवेशे न व्यभिचारो न वा गौरवमिति **वाच्यम्,** तदभाववति तत्प्रकारकत्वरूपस्याऽप्रामाण्यस्य तद्भेदेन भेदात् **अप्रामाण्यस्याऽननुगमेन एकाभावनिवेशाऽसम्भवात्** गृहीताऽप्रामाण्यकपरामर्शप्रतियोगिकस्यैकस्य भेदस्य तत्र प्रवेशाऽसम्भवात् । ततश्चैतदुत्तरदहनानुमितिनित्यस्यैव

तो अप्रामाण्यग्रहविशिष्ट ऐसे धूमपरामर्श की अव्यवहितोत्तर क्षण में वह अनुमिति जायमान है । इस तरह नव्यनास्तिकअभीष्ट कार्यतावच्छेदक नहीं होने की वजह इस अनुमिति का उनके मतानुसार संग्रह नहीं हो सकेगा । मतलब कि उसमें द्वितीय धूमलिङ्गक परामर्श का जन्यताअवच्छेदक नहीं रहेगा किन्तु प्रथम धूमलिङ्गक परामर्श का कार्यताअवच्छेदक धर्म रहेगा । द्वितीय धूमपरामर्शात्मक कारण उपस्थित होने पर भी उसके कार्यताअवच्छेदक धर्म से विशिष्ट अनुमिति का उदय न होने से अन्वय व्यभिचार दोष स्पष्ट ही है ।

किन्तु. । अतः उपर्युक्त दोषों के निरासार्थ नव्य नास्तिकों को यही कहना पड़ेगा कि —> धूमपरामर्श का कार्यतावच्छेदक है स्वाऽव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से अप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्ट ऐसी परामर्शाधिकरणक्षण का वैशिष्ट्य । अब उपर्युक्त दोषों को अवकाश नहीं है, क्योंकि धूमपरामर्शधर्मिकाऽप्रामाण्याऽवगाही आलोकपरामर्श से जन्य दहनानुमिति में स्वाऽव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से अप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्ट धूमलिङ्गकपरामर्शाधिकरणीभूत क्षण का वैशिष्ट्य नहीं रहेगा । इसी तरह प्रथम धूमपरामर्श में अप्रामाण्य का अवगाहन करने के बाद द्वितीय धूमलिङ्गक परामर्श की अव्यवहितोत्तर क्षण में उत्पन्न होनेवाली दहनानुमिति में भी स्वाऽव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्ध से अप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्ट द्वितीय धूमपरामर्शाधिकरणीभूत क्षण, जो द्वितीय धूमपरामर्श की उत्पत्ति की द्वितीयक्षणस्वरूप

यत्तु -> ***अप्रामाण्यज्ञानाभावस्य पृथक्कारणत्वादेतदुत्तरज्ञानत्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वे नोक्तो दोष इति*** <- तन्न, ***तत्तद्व्यक्तित्वेनाऽप्रामाण्यग्रहाभावानां तत्तदप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्ट-धूमादिलिङ्गकानुमितिं प्रति हेतुत्वकल्पनापेक्षया सामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यता-***

❀ जयलता ❀

कार्यतावच्छेदकत्वमभ्युपेयम् । ततश्चातिरिक्तप्रमाजनकत्वेन परामर्शस्य प्रमाणान्तरत्वापादनात् प्रतिज्ञासन्न्यासो दुर्वार एव नव्यनास्तिकानामित्यत्र प्रकरणकृत् तात्पर्यम् ।

मतान्तरं दूषयितुमुपन्यस्यति - **यत्तु** इति तन्नेत्यनेनान्वेति । समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य **अप्रामाण्यज्ञानाभावस्य** = परामर्शधर्मिकाऽप्रामाण्यप्रकारकज्ञानाभावस्य, परामर्शजन्यबुद्धिं प्रति **पृथक्कारणत्वात्** = स्वातन्त्र्येण हेतुत्वाभ्युपगमात्, **एतदुत्तरज्ञानत्वस्य** = एतदव्यवहितोत्तरज्ञानत्वस्य, **जन्यतावच्छेदकत्वे** = एतत्परामर्शकार्यतावच्छेदकत्वस्वीकारेऽपि, **न उक्तः** व्यभिचारादिलक्षणो **दोषः**, गृहीताप्रामाण्यकधूमपरामर्शविशिष्टदहनस्मृत्यादौ आहार्यपरामर्शविशिष्टदहनसंशयादौ चाऽप्रामाण्यज्ञाना-भावजन्यत्वविरहात् ।

प्रकरणकारस्तद्दूषयति - **तन्नेति** । 'दहनव्याप्यालोकवान् पर्वतः' इत्याकारकपरामर्शधर्मिकाऽप्रामाण्यप्रकारकज्ञानाभावमादाय अगृहीताऽप्रामाण्यकधूमलिङ्गकपरामर्शजन्यदहनज्ञाने व्यभिचारवारणाय **तत्तद्व्यक्तित्वेन** = यद्यदप्रामाण्यग्रहसत्त्वे न धूमादि-लिङ्गकानुमितिः तत्तदप्रामाण्यज्ञानाभावत्वेन **अप्रामाण्यग्रहाभावानां** = समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽप्रामाण्यप्रकारकग्रहाभावानां, **तत्तदप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टधूमादिलिङ्गकानुमितिं** = धूमादिलिङ्गकपरामर्शविशेष्यकाऽप्रामाण्यप्रकारकज्ञानाभावविशिष्टधूमादि-लिङ्गकदहनज्ञानं, **प्रति हेतुत्वकल्पनापेक्षया** = स्वरूपेण कारणत्वाभ्युपगमापेक्षया, **सामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यता-**

है, का वैशिष्ट्य रहता है । अतः अव्याप्ति का या अन्वय व्यभिचार का अवकाश नहीं रहेगा <— मगर फिर भी कार्यतावच्छेदकीभूत वैशिष्ट्य की प्रतियोगी क्षण में रही हुई शुद्ध अधिकरणता का निवेश करने पर आलोकलिङ्गकपरामर्शधर्मिक अप्रामाण्यग्रहाभाव **से विशिष्ट ऐसी आहार्यधूमपरामर्शाधिकरण क्षण के वैशिष्ट्यवाली अग्निसाध्यक अनुमिति में अतिप्रसङ्ग आयेगा। अतः विशिष्टाधिकरणतात्व रूप से अधिकरणता का निवेश करना होगा । उसमें यदि पहले बताई हुई गृहीताऽप्रामाण्यक या आहार्यपरामर्श से विशिष्ट अग्निस्मृति या अग्निसंशय आदि स्थल के गृहीताऽप्रामाण्यक परामर्श या आहार्य परामर्श से विशिष्ट अधिकरणता का निवेश करेंगे तब तो व्यतिरेक व्यभिचार दोष तदवस्थ रहेगा और तादृशाधिकरणता से भिन्नाधिकरणता का निवेश करेंगे तो महा गौरव दोष प्रसक्त होगा । दूसरी बात यह है कि अप्रामाण्य तो तदभाववति तत्प्रकारकत्वस्वरूप है । तत का वाच्यार्थ बदलने पर उससे घटित अप्रामाण्य भी भिन्न होगा । भ्रमात्मक रजतज्ञान में 'रजतत्वाभाववति शुक्तिपदार्थे रजतत्वप्रकारकत्वस्वरूप' अप्रामाण्य है । अप्रमाण सर्पज्ञान में सर्पत्वाभाववद्रज्जुविशेष्यक - सर्पत्वप्रकारकत्वरूप अप्रामाण्य है। मतलब सब अप्रमाण ज्ञान में रहने वाला अप्रामाण्य एक - अनुगत - साधारण नहीं है, किन्तु अननुगत है । अतएव गृहीताप्रामाण्यकपरामर्शप्रतियोगिक एक अभाव (=भेद) का निवेश भी कार्यताअवच्छेदकधर्मशरीरकुक्षि में नामुमकिन है । अतः तादृश अव्यवहितोत्तरज्ञानत्व या अव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्व, जो संस्कार में न रहता हो, को कार्यताअवच्छेदक न मान कर एतदुत्तरानुमितित्व को ही एतत्परामर्श का कार्यताअवच्छेदक मानना संगत है, जिसके फलस्वरूप परामर्श प्रत्यक्ष से अतिरिक्त अनुमान नामक प्रमाण सिद्ध हो जाने से नव्य नास्तिक के मत पर प्रतिज्ञासन्न्यास नामक दोष का प्रसङ्ग तदवस्थ ही रहेगा - यह तात्पर्यार्थ है ।**

❀ अप्रामाण्यज्ञानाभाव की स्वतन्त्रकारणता नामुमकिन ❀

यत्तु । उपर्युक्त दोष के निवारणार्थ अन्य अभिनव नास्तिक का यह वक्तव्य है कि —> 'धूमपरामर्श की अव्यवहितोत्तर में होने वाली अग्निविषयक बुद्धि के प्रति अप्रामाण्यग्रहाभाव को भी स्वतन्त्र कारण मानने पर तो एतदुत्तरज्ञानत्व को परामर्शकार्यता-वच्छेदक माना जा सकता है, क्योंकि तब पूर्वोक्त व्यभिचार आदि दोष का अवकाश नहीं है । गृहीताऽप्रामाण्यक या आहार्य धूमपरामर्श से विशिष्ट अग्निस्मरण - संशय आदि की अव्यवहित पूर्व क्षण में अप्रामाण्यज्ञानाभाव ही नहीं रहता है । अतएव अप्रामाण्यबोधाभाव, धूमपरामर्श आदि से वह जन्य ही नहीं है, तब व्यभिचार को अवकाश कैसे ?' <— मगर यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तब भी अन्यलिङ्गकपरामर्शधर्मिक अप्रामाण्यज्ञानाभाव को लेकर गृहीताऽप्रामाण्यकधूमपरामर्शीय अग्निबुद्धि की उत्पत्ति की आपत्ति तो दुर्वार बनेगी, क्योंकि तब अप्रामाण्यग्रहाभाव, धूमपरामर्श आदि उपस्थित हैं । अतः इसके निवारणार्थ नवीन नास्तिकों को यही मान्य करना होगा कि —> 'तत् तत् धूमादिपरामर्शविशेष्यक अप्रामाण्यप्रकारक ज्ञान के अभाव से विशिष्ट धूमादिलिङ्गकानुमिति के प्रति तत् तत् व्यक्तित्वेन यानी धूमादिलिङ्गकपरामर्शविशेष्यक अप्रामाण्यज्ञानप्रतियोगिकत्वेन

सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽप्रामाण्यग्रहाभावानामवच्छेदकत्वकल्पनौचित्यात् ।

❀ जयलता ❀

सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽप्रामाण्यग्रहाभावानां = स्वनिष्ठप्रकारता- निरूपितसामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासंसर्गावच्छिन्ना या अप्रामाण्यप्रकारकज्ञाननिष्ठप्रतियोगितास्तन्निरूपकानामभावानां, एव **अवच्छेदकत्वकल्पनौचित्यात्** = परामर्शनिष्ठकारणता- वच्छेदकत्वकल्पनाया औचित्यात् । अयमभिप्रायः समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकधूमपरामर्शधर्मिकाप्रामाण्यज्ञानाभावानां धूमपरामर्श- विशेष्यकाऽप्रामाण्यप्रकारकग्रहाभावविशिष्टधूमलिङ्गकानुमितिं प्रति स्वातन्त्र्येण हेतुत्वकल्पने तदभाववति तत्प्रकारकत्वरूपस्याऽ- प्रामाण्यस्याननुगमेन तत्प्रतियोगिकतया मिथो भिन्नानां नानाविधाप्रामाण्यग्रहाभावानां तत्तद्व्यक्तित्वेन कारणत्वकल्पनागौरवम् । तदपेक्षयाऽप्रामाण्यग्रहाभावानामनुमितिकारणतावच्छेदकत्वकल्पनमेव युक्तम् । तथैवम् धूमलिङ्गकानुमितिं प्रति स्वनिष्ठप्रकारतानि- रूपितविशेष्यतासम्बन्धेनाऽप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टधूमपरामर्शस्य कारणत्वम् । यदा च 'अयं धूमपरामर्शोऽप्रामाण्यवानि'तिज्ञान- मुपजायते तदा धूमपरामर्शस्य स्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेनाऽप्रामाण्यग्रहविशिष्टत्वेन दहनानुमितिकार्यतावच्छेदकशून्य- त्वान्न दहनानुमितिरुपजायते । तादृशज्ञानविरहविशिष्टपरामर्शदशायां तु तस्य कारणतावच्छेदकविशिष्टत्वादनलानुमितिर्जायत एव । न चैवं सति मैत्रीयधूमपरामर्शनिष्ठाप्रामाण्यग्रहाभावमादाय चैत्रस्य गृहीताप्रामाण्यकधूमपरामर्शाद् धूमध्वजानुमितिः स्यात् इति वक्तव्यम्, सामानाधिकरण्यविशिष्टाया एव विशेष्यतायाः कारणतावच्छेदकतावटकसम्बन्धकुक्षौ प्रवेशात् । चैत्रीयधूमपरामर्शस्य स्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितसामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेनाऽप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टत्वविरहाच्चैत्रस्य तदानीमनलानुमितेरयोगात् । एतेन चैत्रीयधूमपरामर्शवृत्त्यप्रामाण्यग्रहमादाय मैत्रस्याऽपि धूमपरामर्शादनलानुमितिर्न स्यात् इदन्त्वधर्मितावच्छेदकानवगाहिनो 'धूमपरामर्शोऽप्रामाण्यवान्' इत्याकारकचैत्रीयग्रहस्य विशेष्यतासम्बन्धेन मैत्रीयप्रामाणिकधूमपरामर्शे सत्त्वादित्यपि **प्रत्युक्तम्**, मैत्रीययथार्थधूमपरामर्शवृत्तिविशेष्यताया अप्रामाण्यग्रहनिरूपित-समवायगर्भित-सामानाधिकरण्याऽविशिष्टत्वात् । नाऽपि गृहीताऽ- प्रामाण्यकधूमपरामर्शविशिष्टदहनस्मृतौ व्यभिचारः, दहनानुमितित्वस्यैव तत्कार्यतावच्छेदकत्वात् । **एतेन** गृहीताऽप्रामाण्यकधूमपरामर्श- विशिष्टदहनसंशये व्यभिचारोऽपि **प्रत्याख्यातः**, रत्नकोशकारसम्मतसांशयिकानुमितेरनभ्युपगमाच्च । नापि यत्र धूमपरामर्शद्वितीयक्षणे धूमज्ञानाऽप्रामाण्यावगाही आलोकपरामर्शस्तदुत्तरदहनानुमितौ व्यभिचारः अप्रामाण्यज्ञानीयविशेष्यताया आलोकपरामर्शेऽसत्त्वेन तादृशदहनानुमितेः स्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितसामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टा- लोकपरामर्शजन्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वेऽपि धूमपरामर्शकार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वात्, धूमपरामर्शस्य स्वनिरूपितसामानाधिकरण्यविशिष्ट- विशेष्यतासम्बन्धेनाऽप्रामाण्यग्रहविशिष्टतया तत्कारणतावच्छेदकशून्यत्वात् । **एतेन** यत्र प्रथमधूमपरामर्शनिष्ठेदन्त्वधर्मितावच्छेदकका- ऽप्रामाण्यग्रहानन्तरं यथार्थधूमलिङ्गकपरामर्शोत्पादस्तदव्यवहितोत्तरानुमितेरसङ्ग्रहोऽपि **निराकृतः**, द्वितीयधूमपरामर्शस्याऽप्रामाण्य- ग्रहनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यताविकलतया तादृशानलानुमितेः स्वसामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽ- प्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टधूमपरामर्शान्तरजन्यतावच्छेदकविशिष्टत्वेऽपि प्रथमधूमपरामर्शकार्यतावच्छेदकानालिङ्गितत्वात्, तस्य निरुक्त- संसर्गेणाऽप्रामाण्यग्रहविशिष्टतया दहनानुमितिकार्यतावच्छेदकरहितत्वात् । अत एव यथार्थालोकलिङ्गकपरामर्शसत्त्वदशायां गृहीता- प्रामाण्यकधूमपरामर्शीयदहनानुमित्युत्पादप्रसङ्गोऽपि **परास्तः**, धूमपरामर्शस्य तत्कारणतावच्छेदकापेतत्वात् । इत्थञ्चानुमितित्वस्यैव तत्कार्यतावच्छेदकत्वेऽतिरिक्तप्रमासिद्धयः परामर्शस्य प्रमाणान्तरत्वमनपायमेव । ततश्च दुर्वार एव प्रतिज्ञासन्न्यासो नवीननास्तिकानामिति गम्भीराशयः प्रकरणकृतः ।

अप्रामाण्यग्रहाभाव कारण है' ऐसा मानने से यद्यपि उपर्युक्त व्यभिचार दोष का निरास तो हो जायेगा, क्योंकि उपर्युक्त अभाव का प्रतियोगी अप्रामाण्यग्रह धूमादिलिङ्गकपरामर्शविशेष्यक नहीं है, किन्तु अन्यलिङ्गकपरामर्शविशेष्यक है तथापि तादृशाऽ- प्रामाण्यग्रह अननुगत होने से उसके भेद से तत्प्रतियोगिक अभाव = अप्रामाण्यग्रहाभाव भी भिन्न बन जाने से अलग अलग अप्रामाण्यज्ञानाभाव का तत्तत्लिंगकपरामर्शजन्य लिङ्गिज्ञान के प्रति कारण मानने पर अनेकविध कार्य - कारणभाव की कल्पना करनी होगी, जो गौरवग्रस्त होने के सबब त्याज्य है । इसकी अपेक्षा यही कल्पना लाघव सहकार से उचित है कि अप्रामाण्यज्ञानाभाव स्वतन्त्र कारण न बन कर परामर्शनिष्ठ हो कर उसे तत्कारणतावच्छेदक ही माना जाय । तब कारणताअवच्छेदकताअवच्छेदक सम्बन्ध होगा स्वनिरूपितसामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यता । जब 'धूमपरामर्शोऽप्रामाण्यवान्' इत्याकारक अप्रामाण्यग्रह होता है तब धूमलिङ्गक दहनानुमिति नहीं हो सकती, क्योंकि तब धूमपरामर्श अप्रामाण्यप्रकारक ज्ञान का विशेष्य एवं अप्रामाण्यज्ञान के अधिकरण आत्मा में ही समवेत होने से अप्रामाण्यज्ञान का समानाधिकरण भी होने की वजह स्वनिरूपितसामानाधिकरण्य विशिष्टविशेष्यतासम्बन्ध से अप्रामाण्यग्रहवाला है, न कि तादृशसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अप्रामाण्यप्रकारकग्रहाभाववाला । मगर

यत्तु - 'वह्निमनुमिनोमि' इत्यनुव्यवसायेनानुमितित्वसिद्धिरिति, तन्न, तत्र विधेयताविशेषस्यैव विषयत्वात्, अन्यथा 'पर्वतमनुमिनोमि' इत्यपि स्यात् ।

❀ जयलता ❀

नैयायिकमतमपाकर्तुमुपक्रमते - यत्तु इति तदन्त्येनाऽन्वेति । धूमादिलिङ्गकपरामर्शजन्यदहनज्ञानानन्तरं **'वह्निमनुमिनोमि' इत्यनुव्यवसायेन** परामर्शजन्यदहनबुद्धौ **अनुमितित्वसिद्धिः** = प्रत्यक्षत्वविलक्षणानुमितित्वस्य सिद्धिः । व्यवसायस्वरूपविवादेऽनुव्यवसाय एव शरणं तत्स्वरूपनिर्णयकृते, तस्य व्यवसायज्ञानविषयकत्वात् । यथाऽनलस्पर्शविप्रतिपत्तौ तत्स्पार्शनमेव शरणं तत्स्वरूपविनिश्चयाय, तस्याऽनलस्पर्शविषयकत्वात् तथैव प्रकृतेऽपि । इन्द्रियसन्निकर्षादिविरहदशायामपि 'अनलमनुमिनोमि न साक्षात्करोमी'ति विलक्षणप्रतीतिसिद्धाया विलक्षणव्यवसायप्रतीतेर्न साक्षात्कारत्वं किन्त्वनुमितित्वमिति तत्करणस्य परामर्शस्यानुमानत्वमेव न त्विन्द्रियत्वमिति अतिरिक्तानुमानप्रामाण्यवादिनां नैयायिकानामभिप्रायः ।

प्रकरणकारोऽनुमानस्य प्रमाणान्तरत्वमङ्गीकुर्वन्नपि प्रोक्तरीत्याऽनुमितेः प्रमान्तरत्वमसहमानो नैयायिकमतं प्रत्याचष्टे - तन्नेति । **तत्र** = 'दहनमनुमिनोमी'त्यनुव्यवसाये, दहननिष्ठस्य **विधेयताविशेषस्यैव विषयत्वात्,** न तु धूमपरामर्शजन्यानलज्ञाननिष्ठतया प्रमात्वविशेषस्य । विपक्षबाधमाह - **अन्यथा** = दर्शितानुव्यवसाये व्यवसायनिष्ठतया प्रमात्वविशेषस्यैव गोचरत्वस्वीकारे, **'पर्वतमनुमिनोमी'त्यपि** अनुव्यवसायज्ञानं **स्यात्,** तस्यानुव्यवसायस्य परेण व्यवसायनिष्ठविलक्षणप्रमात्वगोचरकत्वाभ्युपगमात्, तस्य चाऽबाधितत्वाद् व्यवसाये । न च त्वन्मते कथं न तादृशानुव्यवसायापत्तिरिति **वाच्यम्,** पर्वतस्यानुमितावुद्देश्यतया विधेयताविशेषस्य तत्र बाधात्, न 'पर्वतमनुमिनोमी'त्यनुव्यवसायापत्तिः, अनुव्यवसायत्वावच्छिन्नस्य प्रमात्वनियमात् । **न चानुव्यवसायस्य** व्यवसायविषयकत्वात् व्यवसायनिष्ठप्रमात्वविशेषस्यैव साधकत्वं न तु विषयनिष्ठविधेयताविशेषस्योपपादकत्वमित्यु**द्भावनीयम्,** व्यवसायग्राह्यस्याऽप्यनुव्यवसायग्राह्यत्वात्, स्वग्राहकग्राहकत्वस्य स्वग्राहकत्वव्याप्यत्वात् । **न च** तथापि साक्षात्सम्बन्धसम्भवे परम्परया तत्कल्पनानौचित्यादिति **वाच्यम्,** आश्रयतया विधेयताविशेषस्य दहननिष्ठत्वेऽपि निरूपकतया व्यवसायनिष्ठत्वात् ।

वस्तुतस्तु प्राधान्येन व्यवसायविषयकत्वमेवाऽनुव्यवसायस्य न तु व्यवसायविषयविषयकत्वमित्यत्र मानाभावः यथायथमुभयोरनुव्यवसाये विशेष्यतयोल्लेखात्, 'दहनमनुमिनोमी'तिवत् 'दहनोऽनुमितो मये'त्यस्यापि स्वारसिकत्वात् । विधेयताविशेषत्वञ्चात्र पक्षादिनिरूपितविधेयताऽपेक्षया बोध्यम् । **एतेन** 'उपमिनोमी'ति प्रतीतेरपि प्रमित्यन्तरमेवोपमितिरिति (का.८० मु.रा.पृ. ...४) **रामरुद्रभट्टवचनमपि निरस्तम्** । तत्राऽपि विधेयताविशेषस्यैव विषयत्वात्, अन्यथा 'गवयमुपमिनोमी'तिवत् 'गामुपमिनोमी'त्यस्याऽपि प्रसङ्गात् । **न चेष्टापत्तिरिति वक्तव्यम्,** तथा सति मीमांसकमतप्रवेशप्रसङ्गेन सत्यनैयायिकत्वं तव विलीयेत ।

जब 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इस परामर्श में अप्रामाण्य का अवगाहन नहीं होगा तब अव्यवहितोत्तर क्षण में अग्नि की अनुमिति हो सकती है, क्योंकि तब धूमपरामर्श स्वसामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्न अप्रामाण्यग्रहाभाव से, जो दहनानुमिति का कार्यताअवच्छेदक है, विशिष्ट होता है । इस तरह लाघव सहकार से अप्रामाण्यग्रहाभाव को कारणताअवच्छेदक मानना ही युक्तिसंगत है । मगर तब कार्यताअवच्छेदकताअवच्छेदक एतदुत्तरानुमितित्व होगा जिसके फलस्वरूप अतिरिक्त अनुमितिस्वरूप प्रमा सिद्ध होने से अनुमाननामक स्वतन्त्र प्रमाण की सिद्धि अनिवार्य होगी । अतः 'प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है' ऐसी नास्तिक प्रतिज्ञा का संन्यास = त्याग हो जायेगा ।

❀ 'अनुमिनोमि' का विषय विधेयताविशेष ही है ❀

यत्तु। अन्य विद्वान प्रत्यक्ष से अतिरिक्त अनुमिति नामक प्रमा की सिद्धि करने के लिए यह प्रतिपादन करते हैं कि --> ''परामर्श के उत्तर होने वाली अग्निबुद्धि का अनुव्यवसाय 'वह्निं अनुमिनोमि' ऐसा होता है, न कि 'वह्निं साक्षात्करोमि'। अतः यह अनुव्यवसाय ही दहनगोचर व्यवसाय ज्ञान में अनुमितित्व की सिद्धि करता है । अतः 'सभी प्रमा केवल प्रत्यक्षात्मक है' यह नहीं कहा जा सकता'' <-- मगर यह निरूपण भी अयुक्त है, क्योंकि 'वह्निं अनुमिनोमि' इत्याकारक अनुव्यवसाय का विषय व्यवसायज्ञाननिष्ठ प्रमात्वान्तर नहीं है किन्तु दहननिष्ठ विधेयताविशेष ही है । अतः उक्त अनुव्यवसाय के बल पर विषयनिष्ठतया विधेयताविशेष की सिद्धि हो सकती है, न कि व्यवसायनिष्ठतया प्रमात्वविशेष की । यदि ऐसा न माना जाय अर्थात् विषयनिष्ठ धर्मविशेष को उसका विषय न मान कर व्यवसायज्ञानवृत्ति प्रमात्वविशेष (=प्रत्यक्ष प्रमा में न रहनेवाले प्रमात्व) को ही उसका विषय माना जाय तब तो 'दहनमनुमिनोमि' इत्याकारक अनुव्यवसाय की भाँति 'पर्वतमनुमिनोमि' इत्याकारक अनुव्यवसाय की आपत्ति आयेगी, क्योंकि उसका विषय पर्वतनिष्ठतया विधेयताविशेष न होकर व्यवसायनिष्ठ प्रमात्वविशेष ही

'परामर्शजन्यतायामपि स एव प्रवेश्यतामि'ति चेत् ? न, तदीयसम्बन्धापेक्षयाऽनुमितित्वीयसम्बन्धस्य समवायरूपस्य कार्यतावच्छेदकत्वे लाघवात्, अव्यवहितोत्तरत्वेनैवानतिप्रसङ्गे वह्निविधेयकत्वादेर्निवेशानावश्यकत्वादिति दिक् ।

❋ जयलता ❋

ननु **परामर्शजन्यतायां** = परामर्शनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदककोटौ **अपि सः** = निरुक्तानुव्यवसायगोचरः साध्यनिष्ठो विधेयताविशेष एव **प्रवेश्यतां** ततश्च निरूपकतासम्बन्धेन दहननिष्ठविधेयताविशेषावच्छिन्नज्ञानमेव धूमपरामर्शजन्यं न तु तदुत्तरदहनानुमितिः । कार्यतावच्छेदकसम्बन्धः समवायः, कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धो निरूपकत्वं, कार्यतावच्छेदकश्च विधेयताविशेषः । ततश्चानुमितिसिद्धिमनोरथः स्याद्वादिनां पलायित एव **इति चेत् ? न, तदीयसम्बन्धापेक्षया** = साध्यनिष्ठविधेयताविशेषप्रतियोगिकस्य निरूपकत्वसम्बन्धस्यापेक्षया, **अनुमितित्वीयसम्बन्धस्य** – अनुमितित्वप्रतियोगिकस्य **समवायरूपस्य** सम्बन्धस्य **कार्यतावच्छेदकत्वे** = परामर्शजन्यतावच्छेदकतावच्छेदकत्वे **लाघवात्** = कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धशरीरकल्पनेलाघवात् । शुद्धाया निरूपकताया अतिप्रसञ्जकत्वेन स्वनिष्ठनिरूपितता-निरूपित-निरूपकताया एव परामर्शनिरूपितकार्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धत्वमुपगन्तव्यमिति सम्बन्धशरीरकृतं गौरवम् । विधेयताविशेषाणामपि विधेयभेदेन भिन्नत्वात्कार्यतावच्छेदकधर्माननुगमः । विधेयताविशेषस्याऽप्यन्ततोऽनुमितित्वोपजीवकतयाऽवश्यक्लृप्तलघुनोऽनुमितित्वस्यैव परामर्शकार्यतावच्छेदकत्वं युक्तम् । तस्य जातिरूपतया लघोः समवायस्यैव परामर्शकार्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धत्वम् । अत एव न कार्यतावच्छेदकाननुगमोऽपि सावकाशः । ततश्च लाघवसहकारेणानुमितिसिद्धिर्न दुर्लभा स्याद्वादिनाम् ।

नन्वनुमितित्वस्यैव 'पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवानि'तिपरामर्शकार्यतावच्छेदकत्वे तादृशपरामर्शाज्जलादिसाध्यकानुमितेः प्रसङ्गः । न च वह्निविधेयकानुमितित्वस्यैतत्कार्यतावच्छेदकत्वान्नायं दोष इति **वक्तव्यम्**, तथापि जलह्रदादिपक्षकानुमितेर्दुर्वारत्वात् । न च पर्वतपक्षकवह्निसाध्यकानुमितित्वस्यैतत्कार्यतावच्छेदकत्वमिति **वाच्यम्**, तथापि तदानीमालोकादिलिङ्गकानलानुमित्युत्पादप्रसङ्गस्यापरिहार्यत्वात् । न च धूमलिङ्गकत्वस्यापि तत्र निवेशेनैवाऽनतिप्रसङ्ग इति **वक्तव्यम्**, तथापि समवायसंसर्गकानलानुमित्यापत्तेर्दुष्परिहार्यत्वात् । न च संयोगसंसर्गकत्वमपि तत्र निवेशनीयमिति **भाषितव्यम्**, पर्वतपक्षक-संयोगसंसर्गक-वह्निविधेयक-धूमलिङ्गकानुमितित्वस्यैतत्कार्यतावच्छेदकत्वे महागौरवादित्याशङ्कां मनसिकृत्याऽऽह - **अव्यवहितोत्तरत्वेनैव** = एतदव्यवहितोत्तरानुमितित्वस्यैवैतत्कार्यतावच्छेदकत्वाऽभ्युपगमेन, **अनतिप्रसङ्गे** = दर्शितातिप्रसङ्गविरहे, **वह्निविधेयकत्वादेः** आदिपदेन पर्वतपक्षकत्वादेः एतत्कार्यतावच्छेदककोटौ **निवेशानावश्यकत्वात्** । जलह्रदादिपक्षक-समवायसंसर्गक-जलादिसाध्यकालोकादिलिङ्गकानुमितिषु 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत' इत्याकारकपरामर्शाव्यवहितोत्तरत्वस्य विरहेण तदापादनाऽयोगात् ।

होगा, जो कि अनुमानप्रमाणवादी के मतानुसार बाधित नहीं हो सकता । मगर ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता है । अतएव उस अनुव्यवसाय के बल से अनुमितिनामक प्रमाविशेष की सिद्धि नहीं हो सकती ।

❋ एतदुत्तरानुमितित्व ही एतत्परामर्शकार्यतावच्छेदक ❋

परा.। यदि नूतन नास्तिकों की ओर से यह कहा जाय कि —> ''आप स्याद्वादी 'दहनमनुमिनोमि' इस अनुव्यवसाय के विषयविधया अभिनिष्ठ विधेयताविशेष का ही स्वीकार करते हैं वह ठीक है । मगर 'पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्' इस परामर्श के कार्यतावच्छेदकधर्मविधया अनुमितित्व का स्वीकार करते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि परामर्शकार्यतावच्छेदकधर्म शरीर में विधेयताविशेष का ही प्रवेश हो सकता है । इस परिस्थिति में अनुमिति की सिद्धि ही दुर्घट हो जायेगी । तब प्रतिज्ञासंन्यास को अवकाश कहाँ ?'' <— तो यह असंगत है । इसका कारण यह है कि विधेयताविशेष का 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक ज्ञान में रहनेवाली परामर्शकार्यता के अवच्छेदक शरीर में प्रवेश माना जाय तब धूमपरामर्श का कार्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध होगा विधेयताविशेषप्रतियोगिकनिरूपकत्व, क्योंकि कार्यभूत दहनानुमिति में वह स्वप्रतियोगिकनिरूपकतासम्बन्ध से रहता है । जब कि जातिरूप अनुमितित्व को कार्यतावच्छेदक धर्म मानने पर परामर्शकार्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध समवाय होगा जो एक और अखण्ड होने से कार्यताघटकसम्बन्ध का शरीर लघु बनेगा । विधेयताविशेष की अपेक्षा अनुमितित्व का कार्यतावच्छेदक में प्रवेश मानने पर परामर्शकार्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध में लाघव होता है । अतः लाघवसहकार से अनुमितिस्वरूप प्रमाविशेष की सिद्धि हो जायेगी । यहाँ इस समस्या का कि —> 'यदि अनुमितित्व को ही धूमपरामर्शकार्यतावच्छेदक धर्म माना जाय तब तो जलादिसाध्यक अनुमिति के निवारणार्थ वह्निविधेयकत्वादि का कार्यताअवच्छेदकधर्मकुक्षि में निवेश करना होगा । मतलब

ननु तथाप्यनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वमेवेति प्राक् प्रत्यपीपदाम । न चानुमितेः साक्षात्कारत्वे 'वह्निं न साक्षात्करोमी'ति प्रतीतिः कथमिति वाच्यम्, तत्र लौकिकविषयतया साक्षात्काराभावादेव गुरुत्वादाविव तदुपपत्तेः । अत एव लौकिकविषयतावत्येव 'साक्षात्करोमि'

❋ जयलता ❋

लब्धावकाशो नूतननास्तिकः पुनःशङ्कते - ननु इति चतुर्थचरणेनान्वेति (पृष्ठ ६७२) । **तथापि** = एतदव्यवहितोत्तरानुमितित्वस्य तत्परामर्शकार्यतावच्छेदकत्वस्वीकारेऽपि, **अनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वमेव** न तु मानसत्वविरोधित्वमिति **प्राक्** = (पृष्ठ ६४८) समवायावच्छिन्नज्ञानादिनिष्ठकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नशरीरनिष्ठकारणताप्रतिपादनावसरे **प्रत्यपीपदाम** । ततश्च तदुत्तरज्ञानत्वस्य तत्कार्यतावच्छेदकत्वाऽसम्भवेऽपि न प्रमाणान्तरापत्तिः, प्रमित्यन्तराऽसिद्धेः । **न च अनुमितेः** = अनुमितित्वावच्छिन्नस्य **साक्षात्कारत्वे** = प्रत्यक्षत्वोपगमे, 'पर्वतो दहनव्याप्यधूमवानि'तिपरामर्शजन्यदहन-व्यवसायविषयिणी **'वह्निं न साक्षात्करोमि' इति प्रतीतिः** = अनुव्यवसायबुद्धिः **कथं** ? दहनव्यवसायस्य त्वन्मते प्रत्यक्षत्वात्तदभावावगाहिनोऽनुव्यवसायस्याऽसम्भवात् अनुव्यवसायस्य प्रमात्वनियमादिति स्याद्वादिना **वाच्यम्, तत्र** = अनुमितिविषयीभूते दहने, **लौकिकविषयतया** = स्वनिष्ठविषयितानिरूपितलौकिकत्वाख्यविषयतासम्बन्धेन, **साक्षात्काराभावादेव गुरुत्वादाविव तदुपपत्तेः** 'न साक्षात्करोमि' इत्यनुव्यवसायसङ्गतेः । यद्यपि लौकिकविषयता एव साक्षात्कारत्वव्यञ्जिका तथापि तस्याः स्वातन्त्र्येण कारणत्वे गौरवात् विषयतया स्वगोचरव्यवसायविषयकानुव्यवसायबुद्धिं प्रति स्वनिरूपितविषयतया क्लृप्तकारणताकस्य व्यवसायात्मकस्य प्रत्यक्षस्यैव स्वनिरूपितलौकिकविषयतासम्बन्धेन हेतुत्वकल्पनमुचितम् । घटे स्वनिरूपितलौकिकविषयतासन्निकर्षेण प्रत्यक्षात्मकव्यवसायस्य सत्त्वात् तत्र विषयतया 'घटं पश्यामि' इति धीरुत्पद्यते । मनसस्तु बहिर्विषये लौकिकसन्निकर्षाभावेन लौकिकविषयत्वाभावादनुमितेर्मानसप्रत्यक्षत्वेऽपि तदुत्तरं 'दहनं न साक्षात्करोमी'त्यनुव्यवसायः सञ्जायते न तु 'दहनं प्रत्यक्षीकरोमि' इत्याकारकः, तत्कारणाभावात्, अन्यथा गुरुत्वादिगोचराऽलौकिकमानसोत्तरमपि 'गुरुत्वमहं साक्षात्करोमी'ति प्रतीत्यापत्तेः । इत्थञ्चानुमिनोमीतिप्रतीतेरपि दहनादिगोचरमानसप्रत्यक्षमेव विषयोऽस्तु, न तु विजातीयप्रमितिरिति । **अत एव** = लौकिकविषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षस्य तत्कारणत्वादेव, **लौकिकविषयतावति** विषये एव **'साक्षात्करोमी'तिप्रतीत्युत्पत्तेः** उपलक्षणात् 'पश्यामी'-

कि वह्निविधेयकानुमितित्व को धूमपरामर्श का कार्यताअवच्छेदक मानना होगा तब तो कार्यताअवच्छेदक धर्म ही गौरवग्रस्त हो जायेगा । यह तो बकरे को निकालने पर आँगन में ऊँट घुस गया' <— समाधान यह है कि धूमपरामर्श का कार्यतावच्छेदक धर्म एतदव्यवहितोत्तरानुमितित्व है । जलादिसाध्यकानुमिति में धूमपरामर्शोत्तरव्यवहितोत्तरत्व ही नहीं होने से उसका आपादन नामुमकिन है । इस तरह पर्वतपक्षकत्व आदि का निवेश भी अनावश्यक है, क्योंकि एतदव्यवहितोत्तरत्व के निवेश से ही अतिप्रसङ्ग का निवारण हो जाता है । इस सम्बन्ध में काफी अधिक विचारविमर्श किया जा सकता है - इस बात की सूचना दिग् शब्द से ज्ञात होती है ।

▣ अनुमिति मानसप्रत्यक्षविशेष है - नव्य नास्तिक ▣

पूर्वपक्ष :- ननु.। आप स्याद्वादी के कथनानुसार हम परामर्श का कार्यतावच्छेदक अव्यवहितोत्तरानुमितित्व का स्वीकार करते हैं फिर भी हमने पहले ही साफ साफ बता दिया है कि अनुमितित्व मानसत्वव्याप्य धर्म है यानी अनुमिति भी मानसविशेषात्मक ही है, न कि मानसप्रत्यक्षविलक्षण । तब अतिरिक्त प्रमा का अवकाश नहीं होने से प्रमाणान्तरापत्ति को अवकाश कहाँ ? इसलिए प्रतिज्ञासन्न्यास दोष भी नामुमकिन है । ऐसा मानने पर यदि यह शंका की जाय कि —> 'यदि अनुमिति मानस प्रत्यक्ष स्वरूप है तो धूमपरामर्श से वह्नि का मानस प्रत्यक्ष होने पर 'अग्निं साक्षात्करोमि' = 'मैं अग्नि का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ' इस रूप में उस मानस प्रत्यक्ष का संवेदन होना चाहिए । मगर वस्तुस्थिति यह है कि वैसी अनुव्यवसाय बुद्धि न हो कर उसके विपरीत यह संवेदन होता है कि 'वह्निं न साक्षात्करोमि' = 'मैं अग्नि का प्रत्यक्ष नहीं कर रहा हूँ' । यह नहीं होना चाहिए' <— तो इसका समाधान केवल इतना ही है कि 'पश्यामि','साक्षात्करोमि' इत्यादिरूप से उसी वस्तु के प्रत्यक्ष का संवेदन = अनुव्यवसाय होता है जिसमें उस प्रत्यक्ष की लौकिक विषयता होती है, क्योंकि स्वनिरूपितलौकिकविषयतासम्बन्ध से प्रत्यक्ष उसका कारण होता है, जैसे 'घटं साक्षात्करोमि', 'घटं पश्यामि' इत्यादि बुद्धि । मगर जिस वस्तु में प्रत्यक्ष की लौकिक विषयता नहीं होती है उस वस्तु में स्वलौकिकविषयतासम्बन्ध से प्रत्यक्ष (=व्यवसाय बुद्धि) नहीं रहने की वजह उस

इति प्रतीत्युत्पत्तेः 'पीतं शङ्खं साक्षात्करोमी'त्यादिप्रतीतिबलाद्दोषविशेषनियम्यामपि लौकिकविषयतां कल्पयन्ति ग्रान्थिकाः ।

युक्तञ्चैतत्, चाक्षुषादिसामग्रीसत्त्वे मानसत्वरूपव्यापकधर्मावच्छिन्नसामग्र्यभावादेवानुमित्यनुदयोपपत्तौ अनुमितित्वादेः तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वाऽकल्पने लाघवात् ।

❀ जयलता ❀

त्याद्यनुव्यवसायोत्पादस्य ग्रहणं, **'पीतं शङ्खं साक्षात्करोमी'त्यादिप्रतीतिबलात्** = एतदनुव्यवसायोत्पादान्यथानुपपत्तिवशात्, **दोषविशेषनियम्यां** नेत्रगतपित्तादिदोषविशेषनियम्यत्वेन **अपि लौकिकविषयतां कल्पयन्ति** = स्वीकुर्वन्ति **ग्रान्थिकाः** = प्राचीननैयायिकाः । अयमभिप्रायः शङ्खस्य शुक्लत्वेन शङ्खेन सह चक्षुःसन्निकर्षदशायां पीतरूपे इन्द्रियलौकिकसन्निकर्षाभावेनेन्द्रियकलौकिकविषयत्वाभावात् 'पीतं शङ्खं साक्षात्करोमी'ति धीर्न सम्भवेत् । जायते च सा । अतः तदुत्पादानुरोधेन इन्द्रियनियम्यलौकिकविषयत्वाभाववति पीतरूपे दोषविशेषनियम्यां लौकिकविषयतां प्राञ्चः कल्पयन्ति येन लौकिकविषयतया तत्र व्यवसायप्रत्यक्षसत्त्वेन 'पश्यामि साक्षात्करोमी'त्याद्यनुव्यवसायोत्पत्तिर्निरर्गला ।

किञ्चानुमितेः प्रमित्यन्तरत्वेऽनुमितिचाक्षुषोभयसामग्रीसत्त्वदशायामनुमित्युत्पादवारणायानुमितिं प्रति चाक्षुषसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वमङ्गीकर्तव्यं स्यादिति गौरवम् । अनुमितेर्मानसत्वे तु नैतत्कल्पनावश्यकी, मानसेतरप्रत्यक्षसामग्र्यपेक्षया मानससामग्र्या दुर्बलत्वान्मानसं प्रति चाक्षुषादिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वस्य सर्वसम्मतत्वादिति लाघवमित्याशयेन नव्यनास्तिका ब्रुवते-**युक्तञ्च एतत्** = अनुमितेर्मानसत्वकल्पनं, **चाक्षुषादिसामग्रीसत्त्वे** मानसत्वावच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकताश्रयप्रतियोगिकाभावविरहेण **मानसत्वरूपव्यापकधर्मावच्छिन्नसामग्र्यभावादेव अनुमित्यनुदयोपपत्तौ अनुमितित्वादेः तत्प्रतिबध्यत्वावच्छेदकत्वाऽकल्पनं** = चाक्षुषादिसामग्रीनिष्ठप्रतिबन्धकतानिरूपितप्रतिबध्यतावच्छेदकत्वकल्पनानावश्यकत्वे, **लाघवात्** । विभावितार्थमेतदम्

वस्तु के प्रत्यक्ष का प्रत्यक्षात्मक संवेदन नहीं होता, जैसे न्यायादि दर्शनों में गुरुत्व आदि का मानस प्रत्यक्ष होने पर भी गुरुत्व अलौकिक विषय होने के सबब स्वलौकिकविषयता सम्बन्ध से उसका व्यवसायात्मक साक्षात्कार न होने से 'गुरुत्वं साक्षात्करोमि' ऐसा न होकर 'गुरुत्वं न साक्षात्करोमि' ऐसा ही संवेदन = अनुव्यवसाय होता है । ठीक ऐसे ही धूमपरामर्श से अग्नि का मानसप्रत्यक्षात्मक अनुमिति ज्ञान होने पर भी अग्नि के साथ मन का लौकिक सन्निकर्ष न होने से लौकिकविषयतासम्बन्ध से व्यवसाय प्रत्यक्ष नहीं रहने की वजह 'वह्निं साक्षात्करोमि' ऐसा न होकर 'दहनं न साक्षात्करोमि' इसी प्रकार का संवेदन होता है । जिस विषय में लौकिक विषयता होती है उसी वस्तु के प्रत्यक्ष की 'साक्षात्करोमि' इस रूप से अनुव्यवसाय बुद्धि उत्पन्न होती है - इस नियम की प्रामाणिकता होने की वजह ही तो प्राचीन नैयायिक भी 'पीतं शङ्खं साक्षात्करोमि' इस प्रतीति (=अनुव्यवसाय बुद्धि) की अन्यथा अनुपपत्ति से दोषविशेषनियन्त्रित लौकिक विषयता का स्वीकार करते हैं । आशय यह है कि शङ्ख तो श्वेत होता है, न कि पीत । अतः वहाँ पीत रूप में चक्षुसन्निकर्ष से नियम्य लौकिकविषयता नहीं हो सकती है । मगर तब शङ्खविषयक प्रत्यक्ष के अनुव्यवसाय में उसका अवगाहन नामुमकिन बनने की आपत्ति आती है, क्योंकि तब लौकिक विषयता सम्बन्ध से उस पीत रूप में प्रत्यक्ष ही नहीं रहता है। अतः वहाँ पित्त आदि दोषविशेष से नियम्य लौकिक विषयता की कल्पना की जाती है, जिसके फलरूप में लौकिक विषयता सम्बन्ध से पीत रूप में व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष रह जाने से 'पीतं शङ्खं साक्षात्करोमि' इत्याकारक प्रतीति की उत्पत्ति सङ्गत हो जाती है ।

❀ अनुमिति को मानस प्रत्यक्ष मानने में लाघव - नव्यनास्तिक ❀

युक्त.। विचार करने पर उक्त कल्पना युक्तियुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि अनुमिति को यदि मानस प्रत्यक्ष न मान कर अतिरिक्त प्रमा मानी जाय तो तब जिस विषय की अनुमितिसामग्री के साथ उस विषय के चाक्षुषादि प्रत्यक्ष की भी सामग्री होती है तब उस विषय की अनुमिति के प्रति उस विषय के चाक्षुषादिप्रत्यक्ष की सामग्री को प्रतिबन्धक मानना होगा, अन्यथा उस समय उस विषय की अनुमिति भी उत्पन्न होने की आपत्ति आयेगी । किन्तु अनुमिति को अतिरिक्त प्रमा न मान कर मानसप्रत्यक्षरूप मानी जाय तो उक्त रीति से प्रतिबन्धक की कल्पना आवश्यक न होगी, क्योंकि अन्य प्रत्यक्ष की सामग्री की अपेक्षा मानस प्रत्यक्ष की सामग्री के दुर्बल होने से मानस प्रत्यक्ष के प्रति चाक्षुषादि प्रत्यक्ष की सामग्री की प्रतिबन्धकता सर्वसम्मत है। अतः चाक्षुषसामग्री सन्निहित होने पर अनुमितित्व की अपेक्षा व्यापक मानसत्व धर्म से अवच्छिन्न (=विशिष्ट) की सामग्री ही नहीं रहने से अनुमिति की अनुत्पत्ति की सङ्गति हो सकती है । इसके लिये अतिरिक्त प्रतिबध्य - प्रतिबन्धकभाव की कल्पना आवश्यक नहीं है । इस प्रकार प्रतिबन्धक की कल्पना में लाघव के अनुरोध से भी परामर्श

अथ **समानविषयत्वाऽन्तर्भावेनानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति पृथक्प्रतिबन्धकत्वकल्पनमेवावश्यकमिति** चेत् ? न, **भिन्नविषयकानुमितेरपि चक्षुर्मनोयोगादिविगमोत्तरमभ्युपगमात् ।**

❀ जयलता ❀

ननु अनुमितेर्मानसत्वाभ्युपगमे घटं पश्यतो घनगर्जितेन मेघानुमितिर्न भवेत्, मानससामग्र्याः सर्वतो दुर्बलत्वात् । परं तत्र 'उपरि देशो मेघवान् अवच्छेदकतासम्बन्धेन विजातीयशब्दवत्त्वादि'त्यनुमानादनुमितिः सञ्जायत एव । अतः समानविषयकानुमितिं प्रति समानविषयकचाक्षुषादिसामग्र्या एव स्वातन्त्र्येण कल्पनमावश्यकमित्याशयेन अतिरिक्तानुमानप्रमाणवादी शङ्कते **अथे**ति । दहनगोचरचाक्षुषसामग्रीसत्त्वे दहनविषयिण्या एवानुमितेरनुदयात् **समानविषयत्वान्तर्भावेनानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति** समानविषयकचाक्षुषादिसामग्र्याः **पृथक्प्रतिबन्धकत्वकल्पनमेवावश्यकं**, न तु समानाऽसमानोभयानुमितिं प्रति, तथा सति विभिन्नविषयकानुमित्यनुदयप्रसङ्गात् । अनुमितेर्मानसत्वे तु नेदं सम्भवति । न हि समानविषयकमानसं प्रति समानविषयकचाक्षुषादिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वं युज्यते, घटचक्षुःसन्निकर्षे सति कृत्यादिमानसापत्तेः । ततश्चातिरिक्तप्रमात्वेनाऽनुमितेः स्वीकारो न्याय्य इत्यभिप्रायः ।

नवीननास्तिकास्तमपाकुर्वन्ति - नेति । भिन्नविषयकानुमितिचाक्षुषादिसामग्रीसत्त्वदशायां प्रथमं भिन्नगोचरचाक्षुषादिस्वीकारेऽपि **भिन्नविषयकानुमितेरपि चक्षुर्मनोयोगादिविगमोत्तरं** = चक्षुर्मनःसन्निकर्षादिनाशानन्तरक्षणे, **अभ्युपगमात्** घटं पश्यतः घटचक्षुःसन्निकर्षसत्त्वेऽपि मेघध्वनिश्रवणे मेघसाधकपरामर्शसत्त्वदशायां चक्षुर्मनोयोगस्य नाशात् तदुत्तरं मेघानुमितेर्निराबाधत्वान्न समानविषयकानुमितिं प्रति चाक्षुषादिसामग्र्याः पृथक्प्रतिबन्धकत्वकल्पनमावश्यकमिति नाऽनुमितेः प्रमित्यन्तरत्वप्रसङ्गो येन प्रतिज्ञासन्न्यासः सावकाशः स्यादिति नव्यचार्वाकाकूतम् ।

पुनर्लब्धावकाशो नैयायिकः शङ्कते - **तथापि** = मानसत्वावच्छिन्नं प्रति मानसेतरसामग्रीप्रतिबन्धकत्वाऽभ्युपगमेन निरुक्तरीत्या भिन्नविषयकानुमितेरुपपादनेऽपि, **अनुमित्साद्युत्तेजकभेदेन** = अनुमित्सोपमित्साशाब्दबोधेच्छालक्षणोत्तेजकविभेदेन **विभिन्नरूपेण प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव आवश्यकः** । अनुमित्युपमित्यादीनां मानसत्वपक्षे मानसत्वावच्छिन्नं प्रति चाक्षुषादिसामग्रीप्रतिबन्धकत्वकल्पने दहनानुमित्सासत्त्वे धूमपरामर्शात् चाक्षुषसामग्रीसत्त्वदशायामनलानुमितिर्न स्यात् । अतो मानसत्वावच्छिन्नं प्रति अनुमित्साविरहविशिष्टमानसेतरसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वमुपेयम् । परन्त्वेवं सति अनुमित्साविरहविशिष्टघटचक्षुःसन्निकर्षसत्त्वे उपमित्सासमवधाने सादृश्यज्ञानादपि मानसोपमितिर्न स्यात् । ततश्चानुमितिं प्रति अनुमित्साविरहविशिष्टचाक्षुषादिसामग्र्याः, उपमितिं प्रत्युपमित्साशून्यचाक्षुषादिसामग्र्याः शाब्दबोधं प्रति च शाब्दबोधेच्छाविरहविशिष्ट-चाक्षुषादिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वमङ्गीकर्तव्यमेव । ततश्च विलक्षणप्रमासिद्धिप्रयुक्तप्रमाणान्तरापातेन प्रतिज्ञासन्न्यासस्य दुर्वारत्वमिति नैयायिकाशयोऽभिनवनास्तिकान्प्रति ।

के अनन्तर होनेवाली साध्यबुद्धिस्वरूप अनुमिति को मानस प्रत्यक्षात्मक मानना ही उचित है ।

अथ स.। अनुमिति को विजातीय प्रमा माननेवाले नैयायिक आदि की ओर से यह आक्षेप किया जाय कि —> 'अनुमिति को मानस प्रत्यक्ष मानने पर तो मानस मात्र की सामग्री चाक्षुषादिसामग्री से दुर्बल होने की वजह जैसे अग्नि के साथ चक्षुसन्निकर्ष होने पर अग्नि की अनुमिति धूमपरामर्श होने पर भी नहीं होती है ठीक वैसे ही घटचक्षुसन्निकर्ष होने पर भी धूमलिङ्गक परामर्श से अग्नि की अनुमिति भी नहीं हो सकेगी । मगर वस्तुस्थिति यह है कि तब अग्नि की अनुमिति होती है, न कि घटचाक्षुष । इसके अनुरोध से नव्य नास्तिकों को समानविषयक अनुमिति के प्रति चाक्षुषादिसामग्री को प्रतिबन्धक मानना होगा, जिसकी वजह घटचक्षुसन्निकर्ष होने पर भी धूमपरामर्श से अग्नि की उत्पत्ति निराबाध हो सके । मगर ऐसा मानने पर आपत्ति यह आयेगी कि अनुमिति तब मानसप्रत्यक्षरूप न हो कर प्रत्यक्षविजातीय प्रमास्वरूप हो जायेगी जिसके फलस्वरूप प्रमाणान्तर की सिद्धि हो जाने से प्रतिज्ञासंन्यास निग्रहस्थान की पुनः प्राप्ति होगी' <—

न.।। तो इसके परिहारार्थ नव्य नास्तिक की ओर से सिर्फ इतना कहना उचित हो जायेगा कि विभिन्नविषयक अनुमिति एवं चाक्षुष आदि की सामग्री उपस्थिति होने पर चक्षु और मन का सन्निकर्ष ही नष्ट हो जायेगा जो चाक्षुष की सामग्री का घटक है । अतएव उसके अनन्तर घटचाक्षुष आदि की उत्पत्ति न हो कर अग्निगोचर अनुमिति की ही उत्पत्ति होगी । अतः समानविषयक अनुमिति के प्रति चाक्षुषादिसामग्री को प्रतिबन्धक मानना आवश्यक बनने से विजातीय प्रमा की सिद्धि को अवकाश नहीं होने से तब 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणं' इस प्रतिज्ञा के सन्न्यास = त्याग का अवकाश कैसे ? यदि यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'समान - असमान उभयविषयक अनुमिति स्वरूप मानसबुद्धि के प्रति चाक्षुषसामग्री को उपर्युक्त रीति से प्रतिबन्धक मानने पर भी अनुमित्सा = अनुमितिविषयक इच्छा, उपमितिविषयक इच्छा, शाब्दबोधविषयक इच्छा

तथाप्यनुमित्साद्युत्तेजकभेदेन विभिन्नरूपेण प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव आवश्यक इति चेत् ? न, तत्तदिच्छानन्तरोपजायमानभिन्नमानसे जातिविशेषं स्वीकृत्य तदवच्छिन्नं प्रति मानसान्यसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वकल्पनादनुमितित्वादेर्मानसवृत्तित्वकल्पनौचित्यात् । न च तत्तदिच्छानन्तरोपजायमानमानसापत्तिः, तादृशमानसं प्रति तत्तदिच्छानां हेतुत्वात् । न चैवं गौरवं, फलमुखत्वात् ।

❋ जयलता ❋

अर्वाचीननास्तिकास्तमपनोदयन्ति - नेति । **तत्तदिच्छानन्तरोपजायमानभिन्नमानसे** = तत्तद्बुभुत्सानन्तरक्षणे जायमाना ये मानससाक्षात्काराः तद्भिन्ने मानसे, **जातिविशेषं स्वीकृत्य तदवच्छिन्नं** = जिज्ञासाऽव्यवहितोत्तरकालिकमानसभिन्नमानसमात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं **प्रति मानसान्यसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वकल्पनादिति** । इत्थञ्च चाक्षुषादिसामग्रीसत्त्वेऽपि दहनबुभुत्साबलाद् धूमपरामर्शेन दहनमानसानुमितेरुपमित्सामहिम्नः सादृश्यज्ञानेन मानसोपमितेः शाब्दबोधेच्छावशात्पदज्ञानेन मानसशाब्दप्रतीतेश्चोत्पत्तिः सङ्गच्छते, तासां मानसेतरसामग्रीनिष्ठप्रतिबन्धकतानिरूपितप्रतिबध्यतावच्छेदकशून्यत्वात् । एवमनुमित्यादीनां मानसत्वपक्षे एकेनैव प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावेन सर्वसामञ्जस्ये प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावत्रितयकल्पनागौरवमनवकाशम् । प्रतिबन्धकताऽधिक्यज्ञानादेवानुमित्यादीनां प्रमित्यन्तरत्वं न कल्पयितुमर्हति । ततश्च न प्रतिज्ञासन्न्यास इति नवीननास्तिकतात्पर्यम् ।

नैयायिकशङ्कामपाकर्तुमभिनवनास्तिकाः प्रक्रमन्ते - न चेति । **तत्तदिच्छाविरहकाले** = अनुमित्सादिविरहकाले अपि **तत्तदिच्छानन्तरजायमानमानसापत्तिः**, तस्य चाक्षुषादिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वात् । अयं नैयायिकाशयः चाक्षुषादिसामग्रीसमवधाने अनुमित्साविरहे परामर्शात् तत्तदिच्छानन्तरजायमानमानसभिन्नमानसप्रत्यक्षं मा भवतु, तस्य चाक्षुषादिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वात् किन्तु तादृशवैजात्यानाक्रान्तमानसोत्पादो दुर्वार एव, तस्य तत्तदिच्छाविरहविशिष्टचाक्षुषादिसामग्रीप्रतिबध्यताकोटिविनिर्मुक्तत्वादिति । नूतननास्तिकास्तदपाकरणे हेतुमाहुः **तादृशमानसं** = तत्तदिच्छाशून्यचाक्षुषादिसामग्रीनिरूपितप्रतिबध्यतावच्छेदकवैजात्यविकलमानसं **प्रति तत्तदिच्छानां** स्वातन्त्र्येण **हेतुत्वात्** = कारणत्वकल्पनात् । ततश्च तत्तदिच्छाविरहविशिष्टमानसेतरसामग्रीसमवधानदशायां परामर्शादिसत्त्वेऽपि तत्तदिच्छास्वरूपकारणान्तरवैकल्यान्न निरुक्तमानसापत्तिः । **न च एवं** = तत्तदिच्छानन्तरजायमानमानसं प्रति तत्तदिच्छानां पृथक्कारणत्वकल्पने **गौरवं** इति **वाच्यम्**, तादृशगौरवज्ञानस्य **फलमुखत्वात्**, **फलं** = कार्यकारणभावज्ञानं **तन्मुखं** = तदधीनं, कार्यकारणभावज्ञानाधीनत्वात्तस्याऽदोषत्वमित्यर्थः । **न चैतादृश-**

स्वरूप उत्तेजक के भेद से विभिन्नरूप से प्रतिबध्य - प्रतिबन्धकभाव तो मानना ही होगा, क्योंकि उत्तेजकाभावविशिष्ट प्रतिबन्धक का अभाव कार्यजनक होता है । घट की चाक्षुषसामग्री होने पर भी अग्नि की अनुमित्सा होने पर अनुमिति ही उत्पन्न होती है, क्योंकि तब उत्तेजकाभावविशिष्ट प्रतिबन्धक नहीं है । इस तरह अनुमिति के प्रति अनुमित्साविरहविशिष्ट चाक्षुषादिसामग्री को प्रतिबन्धक माननी होगी एवं उपमिति के प्रति उपमित्साविरहविशिष्ट चाक्षुषादिसामग्री को प्रतिबन्धक माननी होगी और शाब्दबोध के प्रति शाब्देच्छाविरहविशिष्ट चाक्षुषादिसामग्री को प्रतिबन्धक माननी होगी । तब तो 'प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' इस प्रतिज्ञा का सन्न्यास हो जायेगा' । <—

न त. । तो इसके समाधानार्थ हम नव्य नास्तिकों का यह वक्तव्य है कि हम अनुमिति आदि बुद्धि का विजातीय प्रमाणरूप में स्वीकार न कर के तत् तत् बोधविषयक इच्छा के अनन्तर होने वाले मानस प्रत्यक्ष से भिन्न मानस प्रत्यक्ष में एक जातिविशेष का स्वीकार करते हैं और तादृश जाति से विशिष्ट मानस प्रत्यक्ष के प्रति मानसेतरसामग्री को प्रतिबन्धक मानते हैं । अतः धूमपरामर्श एवं अग्निअनुमित्सा होने पर चक्षुसन्निकर्षदशा में भी अग्नि की अनुमिति ही होती है तथा सादृश्यज्ञान एवं गवयउपमित्सा होने पर चक्षुसन्निकर्षदशा में भी गवय की उपमिति ही होती है और घटपदज्ञान एवं घटशाब्दबोधेच्छा होने पर चक्षुसन्निकर्ष अवस्था में घट का शाब्दबोध ही होता है, क्योंकि वे सभी चाक्षुषादिसामग्री की प्रतिबध्यतावच्छेदक जाति से शून्य है । इस तरह सिर्फ एक जाति की कल्पना कर लेने पर नैयायिकप्रदर्शित तीन प्रतिबध्य - प्रतिबन्धकभाव की कल्पना का गौरव भी परिहृत हो सकता है । केवल एक प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव को मान्य करने से ही सब सङ्गत हो सकता है तो फिर क्यों अनुमिति आदि को अतिरिक्त प्रमा मानी जाय ? अतः अनुमितित्व को मानसवृत्ति मानना यानी अनुमिति को मानसप्रत्यक्षरूप मानना ही समीचीन है । अतः प्रतिज्ञासन्न्यास की आपत्ति निरवकाश है । इसके खिलाफ इस समस्या का कि --> 'मानसेतरज्ञानसामग्री यदि तादृशवैजात्यावच्छिन्न की प्रतिबन्धक मानी जायगी तो भी तत्तदिच्छा के अभाव की उपस्थिति में मानसेतरसामग्री होने पर भी धूमपरामर्श आदि से वह्नि की अनुमिति के, जो तत्तदिच्छानन्तर

अथ **सुस्मूर्षाद्यनन्तरोपजायमानभिन्नज्ञाने जातिविशेषं स्वीकृत्य तदवच्छेदेन चाक्षुषादि-सामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वेऽनुमित्यादेः (१ तित्वादेः) परोक्षवृत्तित्वमेवास्त्विति** चेत् ? न, **तद-वच्छेदेन स्मृत्यन्यज्ञानसामग्र्या एव प्रतिबन्धकत्वात् जातिविशेषस्य स्मृतित्वव्याप्यस्यैव युक्तत्वात्** ।

❀ जयलता ❀

पृथक्कार्यकारणभावकल्पनायाः पूर्वमेवोपस्थितेर्न फलमुखगौरवावकाश इति **वाच्यम्**, प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावभिन्नयाऽकल्पन-लाघवसहकारेण तादृशवैजात्यावच्छिन्नं प्रति मानसेतरसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वस्य पूर्वमेव निर्णीतत्वात् तदनन्तरं तत्तदिच्छानां पृथक्कारणत्वकल्पनोपस्थितेः फलमुखत्वमेवेति दृढतरमवधेयम् ।

अतिरिक्तानुमानप्रामाण्यवादी शङ्कते - **अथेति** । चाक्षुषादिसामग्रीसमवधानेऽपि सुस्मूर्षानन्तरं स्मृत्युदयदर्शनात् **सुस्मूर्षाद्य-नन्तरोपजायमानभिन्नज्ञाने जातिविशेषं** = बुभुत्साविरहकालीनानुमित्युपमितिशाब्दबोधस्मृतिसाधारणवैजात्यं **स्वीकृत्य तदवच्छेदेन** = तादृशवैजात्यावच्छिन्नं प्रति **चाक्षुषादिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वे** = प्रतिबन्धकत्वकल्पनावश्यकत्वे, अनुमित्यादेरिति पाठः प्रामादिकः अनुमितित्वादेरित्येव सम्यक्पाठः [1]**न्यायालोके**ऽपि इत्थमेव पाठदर्शनात् । **परोक्षवृत्तित्वं** = प्रत्यक्षभिन्नज्ञानवृत्तित्वं एवास्तु । यदि चानुमित्यादेः साक्षात्कारत्वमुपेयते तर्हि सुस्मूर्षाविरहकालीनस्मृतिवृत्तिवैजात्यं तद्वृत्ति न स्यात्, स्मृतेः परोक्षत्वात्, ज्ञानत्वव्याप्यजातेः विजातीयप्रमानिरूपितवृत्तित्वशून्यत्वनियमात् । ततश्च नानुमित्यादेः प्रत्यक्षत्वकल्पनमर्हति ।

नव्यनास्तिकास्तदपहस्तयन्ति - **नेति** । **तदवच्छेदेन स्मृत्यन्यज्ञानसामग्र्या एव प्रतिबन्धकत्वादिति** । बुभुत्साविरह-कालीनानुमित्युपमितिशाब्दबोधस्मृतिचतुष्टयसाधारणं वैजात्यं नोपेयते किन्तु जिज्ञासाविरहकालीनमानसप्रत्यक्षात्मकानु-मित्युपमितिशाब्दबोधानुगतमेकं वैजात्यं स्वीकृत्य तदवच्छिन्नं प्रति मानसेतरज्ञानसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वम् । चाक्षुषादिसामग्रीसत्त्वेऽपि सुस्मूर्षासमवधानदशायां स्मृत्युत्पत्तिर्निराबाधा, तस्याः स्मृत्यन्यज्ञानसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकजातिशून्यत्वात् । इत्थञ्च स्मृतीतर-ज्ञानसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकस्य **जातिविशेषस्य स्मृतित्वव्याप्यस्यैव** स्वीकर्तुं **युक्तत्वात्** । ततश्च नानुमितित्वादेः परोक्षधीवृत्तित्वा-

उत्पन्न होनेवाली होने से मानसेतरसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदक से शून्य है, उदय की आपत्ति का परिहार न हो सकेगा । अतः अनुमिति को मानस प्रत्यक्षस्वरूप न मान कर अतिरिक्त प्रमात्मक मानना ही मुनासिब है' <— समाधान केवल यही है कि तत्तदिच्छा के अनन्तर उत्पन्न होनेवाले मानस प्रत्यक्ष के, जो मानसेतरसामग्री-प्रतिबध्यतावच्छेदकशून्य है, प्रति तत्तदिच्छा भी स्वतन्त्र हेतु है । अतः मानसेतर सामग्री की प्रतिबध्यता से विनिर्मुक्त होने पर भी तत् तत् इच्छा = दहनबुभुत्सा आदि के न होने से धूमपरामर्श से मानस प्रत्यक्षात्मक दहनानुमिति की उत्पत्ति को अवकाश नहीं है । कार्य की उत्पत्ति किसी एक कारण से नहीं होती है, सब कारणों की उपस्थिति होने पर ही होती है । तत् तत् इच्छा के अनन्तर होनेवाले मानस के प्रति तत् तत् इच्छा को पृथक् कारण मानने पर गौरव दोष का उद्भावन करना असङ्गत है, क्योंकि तादृश कार्य - कारणभाव के निश्चय के अनन्तर वह उपस्थित = ज्ञात हुआ है । दर्शितवैजात्यावच्छिन्न के प्रति मानसेतरसामग्रीअभाव में लाघव सहकार से कारणता का निश्चय हो जाने के बाद उसके निर्वाहार्थ तत् तत् इच्छा में कारणता की कल्पना की जाती है । अतएव वह निर्दोष है - यह नवीन नास्तिकों का अभिप्राय है ।

अथ सु.। यहाँ अतिरिक्तप्रमाणवादी की यह शङ्का कि —> 'चाक्षुषादिसामग्री को तादृशवैजात्यावच्छिन्न मानस प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धक मानने पर सुस्मूर्षा = स्मरणेच्छा होने पर चाक्षुषादिसामग्रीसमवधानदशा में स्मृति का उदय न हो सकेगा, क्योंकि स्मृति प्रत्यक्ष नहीं किन्तु परोक्ष है । अतः अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोध एवं स्मृति से भिन्न ज्ञान में एक जातिविशेष की चाक्षुषादिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकविधया कल्पना करनी होगी और तदवच्छेदेन यानी तादृशवैजात्यावच्छिन्न के प्रति चाक्षुषादिसामग्री को प्रतिबन्धक माननी होगी । तब तो अनुमितित्व आदि धर्म को परोक्षज्ञानवृत्ति ही मानना पड़ेगा । अनुमिति को मानस प्रत्यक्ष मानने पर तत् तत् जिज्ञासा के बिना होनेवाली अनुमिति, स्मृति आदि में चाक्षुषादिसामग्रीप्रतिबध्यताअवच्छेदक अनुगत वैजात्य नहीं रह सकेगा, क्योंकि ज्ञानत्वव्याप्य जाति के आश्रय विजातीय नहीं होते हैं । स्मृति तो निर्विवादरूप से परोक्ष ही है । अतः तद्गत ज्ञानत्वव्याप्य जाति का आश्रय होने से अनुमिति भी परोक्ष ज्ञानात्मक बन सकेगी' <—

न.तद.। इसलिए निराधार हो जाती है कि हम नव्य नास्तिक तत् तत् जिज्ञासा के अनन्तर होनेवाली स्मृति से भिन्न ज्ञान में जिस वैजात्य का स्वीकार करते हैं उससे अवच्छिन्न = विशिष्ट ज्ञान के प्रति स्मृतिभिन्नज्ञान की सामग्री को ही

१. दृश्यतां दिव्यदर्शनट्रस्टप्रकाशिते न्यायालोके व्याख्याद्वयोपेते प्रथमप्रकाशे १४१ तमे पृष्ठे ।

तज्जातिवदन्यज्ञानसामग्रीत्वादिना प्रतिबन्धकत्वेऽपि विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान-जन्यतावच्छेदकतया सिद्धस्य प्रत्यक्षत्वस्यैवानुमितौ युक्तत्वात् । विशेषणतावच्छेदकाभावाऽ-प्रकारकत्वे सति विशेषणतावच्छेदकप्रकारकत्वेन विशिष्टवैशिष्ट्यविषयित्वावच्छिन्नं प्रत्येव

❀ जयलता ❀

पत्तिः । न चैवं प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावद्वितयकल्पनागौरवमतिरिच्यत इति **वाच्यम्**, तथापि त्वन्मतापेक्षया तत्र लाघवात् । ततो न प्रतिज्ञासन्न्यासापत्तिरिति नवीननास्तिकाकूतम् ।

ननु जिज्ञासाविरहकालीनानुमित्युपमितिशाब्दबोधवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं प्रति मानसेतरसामग्र्याः सुस्मूर्षाविरहकालिकस्मृतिमात्र-वृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं प्रति च मानसान्यज्ञानसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वमित्येवं कल्पनापेक्षया बुभुत्साविरहकालीनानुमित्यादिचतुष्टय-साधारणमेकमेव वैजात्यं कल्पयित्वा तदवच्छिन्नं प्रति तज्जातिमदन्यज्ञानसामग्र्या एव प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयं लाघवात् । ततश्च स्मृतिवृत्तिज्ञानत्वव्याप्यजातिमत्त्वेनाऽनुमित्यादीनामपि परोक्षत्वमेवेति नैयायिकाशङ्कामपाचिकीर्षवो नूतननास्तिका वदन्ति- **तज्जाति-वदन्यज्ञानसामग्रीत्वादिना प्रतिबन्धकत्वे** = प्रतिबन्धकत्वस्वीकारे **अपि विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानजन्यतावच्छेदकतया** = विशेषणतावच्छेदकांशो यस्य प्रकारस्तज्ज्ञाननिष्ठा या जनकता तन्निरूपिताया जन्यताया अवच्छेदकत्वेन **सिद्धस्य प्रत्यक्षत्वस्यैव अनुमितौ** = अनुमित्युपमित्यादौ स्वीकर्तुं **युक्तत्वात्** । विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वनियमो 'दण्डी पुरुष' इत्यादिप्रत्यक्षे प्रसिद्ध एव, पुरुषनिष्ठविशेष्यतानिरूपितदण्डनिष्ठविशेषणतानिरूपितावच्छेदकताश्रयदण्डत्वाऽसाक्षात्कारे सति 'दण्डी पुरुष' इति साक्षात्कारानुदयात् । 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याद्यनुमितेरपि स्वनिरूपितपर्वतनिष्ठविशेष्यतानिरूपितदहननिष्ठविशेषण-तावच्छेदकवह्नित्वप्रकारकेण 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत' इत्याकारकपरामर्शज्ञानेन जन्यत्वात् प्रत्यक्षत्वमेव । अनुमितेः परोक्षत्वे तादृशनियमभङ्गप्रसङ्ग एव बाधक इति न प्रमाणान्तरसिद्धिरिति नूतननास्तिकाशयः ।

ननु विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रत्येव कारणत्वं न तु विशिष्टवैशिष्ट्य-प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति । ततश्चानुमितेर्विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानजन्यत्वेऽपि न साक्षात्कारत्वापत्तिः, कार्यतानवच्छेदकावच्छिन्न-स्याऽनापाद्यत्वादिति नैयायिकाशङ्कामपाकर्तुमभिनवचार्वाका व्याचक्षते - **विशेषणतावच्छेदकाभावाऽप्रकारकत्वे सति विशेषणता-वच्छेदकप्रकारकत्वेन** रूपेण विशेषणतावच्छेदकप्रकारकस्य **विशिष्टवैशिष्ट्यविषयित्वावच्छिन्नं** = विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि-

प्रतिबन्धक मानते हैं । मतलब यह है कि स्मृति द्विविध होती है, इच्छा के बिना होनेवाली एवं इच्छा के अनन्तर होनेवाली। जो स्मृति इच्छा के बिना होती है उसमें हम एक जातिविशेष का स्वीकार करते हैं, जो स्मृतित्व की व्याप्य = न्यूनवृत्ति है और तदवच्छेदेन = उक्तवैजात्यावच्छिन्न के प्रति स्मृतिभिन्नज्ञानसामग्री को प्रतिबन्धक मानते हैं । अतः जब स्मरणाभिलाप और चाक्षुषादिसामग्री दोनों की उपस्थिति होती है तब उक्तवैजात्यशून्य इच्छा के अनन्तर होने वाली स्मृति का उदय हो सकता है । इस तरह मानस अनुमिति, उपमिति, शब्दबोध में एक जातिविशेष का स्वीकार कर के तदवच्छिन्न के प्रति मानसेतर-ज्ञानसामग्री को प्रतिबन्धक मानने से एवं इच्छा के बिना होनेवाली स्मृति में अन्य जातिविशेष का अङ्गीकार कर के तदवच्छिन्न के प्रति स्मृतिभिन्नज्ञानसामग्री की प्रतिबन्धकता मान्य करने से ही सब कुछ सङ्गत हो सकता है तब क्यों अनुमिति को अतिरिक्त प्रमा मानी जाय ? अतिरिक्त अनुमिति प्रमा के स्वीकार पक्ष में तीन प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की कल्पना का गौरव है जब कि मानस अनुमिति पक्ष में केवल दो प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की कल्पना करने से लाघव है । अतएव अनुमिति आदि को मानस प्रत्यक्षात्मक मानना ही मुनासिब है ।

ननु । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> जिज्ञासाविरहकालीन अनुमिति आदि तीन और तादृश स्मृति में भिन्न भिन्न वैजात्य का स्वीकार करने पर दो प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की कल्पना पड़ती है । इसकी अपेक्षा उचित यही है कि इन चारों में एक ही वैजात्य की कल्पना की जाय और तदवच्छिन्न के प्रति तज्जातिमान् ज्ञान से भिन्न ज्ञान की सामग्री को प्रतिबन्धक माना जाय । एक ही प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की कल्पना करने से सब सङ्गति हो सकती है । तो फिर क्यों द्विविध प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की गौरवग्रस्त कल्पना की जाय ? मगर तब नास्तिक के सर पर अनुमिति को भिन्न प्रमा मानने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि परोक्ष स्मृति में रहनेवाली ही ज्ञानत्वव्याप्य जाति अनुमिति में रहती है । अतः अनुमिति को प्रत्यक्ष नहीं मानी जा सकती' <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिज्ञासाविरहकालिक अनुमिति-उपमिति-शाब्दबोध-स्मृति में एक जाति मान कर तदवच्छिन्न के प्रति तज्जातिमदन्य ज्ञान की सामग्री में प्रतिबन्धकता की

तथात्वे तत्संशयेऽप्यनुद्बुद्धसंस्काराद् विशिष्टवैशिष्ट्यप्रत्यक्षापत्तेरिति चेत् ?

अत्र केचित्, अनुमितेर्मानसत्वव्याप्यत्वे चाक्षुषादिसामग्र्यां सत्यां भिन्नविषयकानुमितिर्न स्यात्, भोगान्यमानसं प्रति चाक्षुषादिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वात् । न च चक्षुर्मनोयोगादिविगमो-

❀ जयलता ❀

विवक्षितावच्छिन्नं प्रत्येव **तथात्वे** = कारणत्वाभ्युपगमे । अनेनापादकग्रन्थः प्रदर्शितः । कार्यतावच्छेदकघटकीभूतं विशिष्टवैशिष्ट्यं (१) विशेष्ये विशेषणं तत्राऽपि विशेषणान्तरमिति रीत्या (२) एकत्र द्वयमितिरूपेण (३) विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमित्येवं प्रकारेण (४) एकविशिष्टेऽपरवैशिष्ट्यमिति न्यायेन चाऽवगन्तव्यम् । आपादकमुक्त्वाऽऽपाद्यमाह - **तत्संशये** = दहनादिसन्देहे सति अपि **अनुद्बुद्धसंस्कारात्** परामर्शादिविरहदशायां **विशिष्टवैशिष्ट्यप्रत्यक्षापत्तेः** । संस्कारोद्बोधविरहेण विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि-स्मृतेस्तदानीमसम्भवः परामर्श-सादृश्यज्ञान-पदज्ञानाभावेन च तादृशानुमित्युपमितिशाब्दबोधानुत्पाद इति पारिशेष्यन्यायेन विशिष्ट-वैशिष्ट्यप्रत्यक्षापत्तिः । **एतेन** कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्य... इत्युक्तम् । ...तमनुमितेर्मानसत्वमेवाभ्युपेयमिति नव्यनास्तिकमतोपसंहारः ।

नूतनचार्वाकमतनिराकरणाय ब्रुवते **अत्र केचित्** - तादात्म्येन **अनुमितेः** यद्वा समवायेन अनुमितित्वादेः **मानसत्वव्याप्यत्वे** = मानससाक्षात्कारवृत्तित्वे स्वीक्रियमाणे तु **चाक्षुषादिसामग्र्यां सत्यां** तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकालिङ्गितत्वेन समानविषयकानुमितिरिव **भिन्नविषयकानुमितिः** अपि **न स्यात्** = जायेत, **भोगान्यमानसं** = सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारान्यमानसत्वावच्छिन्नं **प्रति चाक्षुषादिसामग्र्याः** = मानसेतरज्ञानसामग्र्याः **प्रतिबन्धकत्वात्** । चाक्षुषादिसामग्रीसमवधानेऽपि सुखादिमानससाक्षात्कारो-दयदर्शनात् 'भोगान्ये'त्युक्तम् । भवति च घटचक्षुःसन्निकर्षदशायामपि धूमादिपरामर्शादनलानुमित्याद्युत्पत्तिः । ततश्चानुमितित्वस्य परोक्षसमवेतत्वमेवाऽर्हति । **न च चक्षुर्मनोयोगादिविगमोत्तरं** = चक्षुर्मनःसन्निकर्षादिध्वंसाव्यवहितोत्तरकालावच्छेदेन, एव

कल्पना करने पर भी अनुमिति को प्रमित्यन्तर मानने की आपत्ति नहीं आयेगी । वह इस तरह - 'दण्डवान् पुरुषः' इत्याकारक प्रत्यक्ष में विशेष्य है पुरुष और विशेषण है दण्ड तथा विशेषणतावच्छेदक है दण्डत्व । जिसको दण्डत्वप्रकारक ज्ञान होता नहीं है उसको कभी भी 'दण्डी पुरुष' ऐसा साक्षात्कार नहीं हो सकता, क्योंकि विशिष्ट वैशिष्ट्यअवगाही प्रत्यक्ष के प्रति विशेषणतावच्छेद-कप्रकारक ज्ञान कारण होता है । विशेषणतावच्छेदकीभूतदण्डत्वप्रकारक ज्ञान से जन्य होने से जैसे 'दण्डी पुरुषः' यह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक है ठीक वैसे ही 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति भी स्वनिरूपितविशेषणतावच्छेदकीभूतवह्नित्वप्रकारक 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इस परामर्श ज्ञान से जन्य होने की वजह प्रत्यक्ष ही है, न कि प्रत्यक्षभिन्न प्रमा । अतः अनुमिति में विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान-जन्यतावच्छेदकविधया सिद्ध प्रत्यक्षत्व का ही स्वीकार सङ्गत है । अतः अतिरिक्त प्रमा की सिद्धि को अवकाश नहीं है ।

विशे. । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान का कार्यतावच्छेदक प्रत्यक्षत्व नहीं है किन्तु विशिष्टवैशिष्ट्यविषयित्व(ज्ञानत्व) ही है । कारणतावच्छेदक धर्म केवल विशेषणतावच्छेदकप्रकारकत्व नहीं है किन्तु विशेषणतावच्छेदकाभावाऽप्रकारकत्वविशिष्ट विशेषणतावच्छेदकप्रकारकत्व है । अतः संशय की उत्पत्ति की भी आपत्ति न आयेगी और विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान से जन्य होने पर भी अनुमिति में प्रत्यक्षत्व की आपत्ति नहीं होगी' <— तो यह भी असंगत है, क्योंकि वैसा मानने पर तो परामर्शादिविरहकाल में अग्नि का सन्देह होने पर भी अनुद्बुद्ध संस्कार से विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष की आपत्ति आयेगी, क्योंकि परामर्शादि न होने से अनुमिति आदि का एवं संस्कार उद्बुद्ध न होने से स्मृति की उत्पत्ति की तब सम्भावना न होने से पारिशेष न्याय से तादृश प्रत्यक्ष की ही आपत्ति आयेगी । अतः प्रत्यक्षत्व को ही विशेषणताअवच्छेदकप्रकारक ज्ञान का कार्यताअवच्छेदक मानना सङ्गत है । तब तो अनुमिति को मानस प्रत्यक्ष मानना ही सङ्गत होता है । अतः 'प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' इस प्रतिज्ञा का त्याग नहीं होगा ।

▣ अनुमिति परोक्ष ही है - समाधान ▣

एकदेशीय उत्तरपक्ष :- अत्र केचि. । यहाँ अनुमानपरोक्षवादी कुछ विद्वानों का यह कथन है कि अनुमितित्व को मानसत्वव्याप्य मानने पर यानी अनुमिति को मानस प्रत्यक्षस्वरूप मानने पर तो चाक्षुषादिसामग्री होने पर भिन्नविषयक अनुमिति ही उत्पन्न न हो सकेगी, क्योंकि भोगान्य मानस प्रत्यक्ष के प्रति चाक्षुषादिसामग्री प्रतिबन्धक होती है । आशय यह है कि घटचक्षुसन्निकर्ष होने पर भी धूमपरामर्श से अग्नि की अनुमिति होती है, क्योंकि समानविषयकानुमिति के प्रति ही चाक्षुषादिसामग्री प्रतिबन्धक होती है । मगर अनुमिति को मानस प्रत्यक्षात्मक मानने पर तो उस अवस्था में अग्नि की अनुमिति नहीं हो सकेगी, क्योंकि भोगान्य मानस साक्षात्कार के प्रति चाक्षुषादिसामग्री प्रतिबन्धक होती है । यहाँ यह कथन कि —> 'भिन्नविषयक

तस्मैवाऽनुमित्यभ्युपगमः, त्वङ्मनोयोगादिविगमस्य कल्पयितुमशक्यत्वात् ।

तच्चिन्त्यमित्यपरे, अनुमितित्वस्य भोगत्वव्याप्यत्वाभ्युपगमेन तद्दोषाननुवृत्तेः । न च वह्न्यादेः कथं भोगविषयत्वं, चन्दनादिवदुपपत्तेः ।

अन्ये तु - तदानीं वह्निमानसस्वीकारे लिङ्गादीनामपि मानसापत्तिः । न च आचार्यमत

❀ जयलता ❀

परामर्शात् **अनुमित्यभ्युपगमः** = भिन्नविषयकानुमितिस्वीकारः प्राच्याचार्यैरितो (**पृष्ठ ६६८**) **युक्तः**, मनसः चक्षुर्घ्राण-श्रोत्र-रसनेन्द्रियैः साकं संयोगनाशसम्भवेऽपि मनसो जाग्रद्दशायां सर्वदा त्वक्संयुक्तत्वेन तदानीं **त्वङ्मनोयोगादिविगमस्य कल्पयितुमशक्यत्वात्** । ततश्च घटनयनसन्निकर्षस्थले दहनानुमित्युपपादनेऽपि घटस्पर्शनेन्द्रियसंयोगस्थले धूमपरामर्शादनलानुमितिर्नैव भवेत् यदि मानसवृत्तित्वमनुमित्यादेः स्यात् । न च तदानीमनलानुमित्यनुदयो भवतीति तदनुरोधेनानुमितेः प्रमित्यन्तरत्व-मेवाऽभ्युपेयमिति केषाञ्चिदाकूतम् ।

तच्चिन्त्यमित्यपरे नव्यनास्तिका वदन्ति । चिन्तावीजमेवोपदर्शयन्ति - **अनुमितित्वस्य भोगत्वव्याप्यत्वाऽभ्युपगमेन** 'अनुमितिः भोगविशेषरूपैवे'त्यङ्गीकारेण, **तद्दोषाननुवृत्तेः** = घटचाक्षुषादिसामग्रीसत्त्वे धूमादिपरामर्शात् दहनाद्यनुमित्यनुत्पादलक्षण-दोषस्य प्रच्यवात्, दहनाद्यनुमितेर्भोगविशेषात्मकत्वेन चाक्षुषादिसामग्रीप्रतिबध्यताकोटिबहिर्भावात्, चाक्षुषादिसामग्र्याः भोगान्यमानस-मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं प्रति प्रतिबन्धकत्वात् । **न च वह्न्यादेः कथं भोगविषयत्वं** सम्भवति ? येनानुमित्यादेर्भोगत्वमुपपद्येत इति **शङ्कनीयम्, चन्दनादिवदुपपत्तेः** । सुख-दुःखयोरेव भोगविषयत्वेऽपि चन्दनादिकण्टकादिनिमित्तकसुख-दुःखमानससाक्षात्कारोत्पत्तेः चन्दनादेर्भोगविषयत्वं व्यवह्रियते तद्वदेवानलादिनिमित्तकसुखादिमानससाक्षात्कारोदयादनलादौ भोगविषयत्वमुपपद्यते । अनुभवन्ति चानलाद्यर्थिनो धूमपरामर्शानन्तरं सुखम् । ततश्चानुमितित्वस्य भोगवृत्तित्वेऽपि सर्वं समञ्जसं परोक्षवृत्तित्वकल्पन-मसङ्गतमित्यर्वाचीननास्तिकाशयः ।

अनुमितेर्मानसत्वपक्षे दूषणमाह **अन्ये तु** इति सिद्धान्तरहस्यवेदिनः नैयायिकाः । **तदानीं** = धूमादिलिङ्गकपरामर्शाव्यवहितोत्तरकाले **वह्निमानसस्वीकारे लिङ्गादीनां** = धूमादिहेत्वादीनां **अपि मानसापत्तिः** = मानससाक्षात्कारगोचरत्वप्रसङ्गः, 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत' इति ज्ञानलक्षणसन्निकर्षस्य वह्नाविव धूमादावपि सत्त्वात् । **न च आचार्यमते** = उदयनाचार्यमते **इव तत्र** = धूमादि-

अनुमिति की सामग्री उपस्थित होने पर चक्षु और मन आदि का संयोग नष्ट हो जायेगा तथा उसकी उत्तर क्षण में भिन्नविषयक अनुमिति हो सकती है । अतः अनुमिति को मानस प्रत्यक्षात्मक मानी जा सकती है' <— इसलिए निराधार हो जाता है कि त्वगिन्द्रिय के साथ मन का संयोग इत्यादि का नाश तो भिन्नविषयक अनुमिति की सामग्री होने पर भी नहीं माना जा सकता । अतः घट के साथ स्पर्शन इन्द्रिय का संयोग होने पर धूमपरामर्शसमवधानदशा में भी अग्नि की अनुमिति नहीं हो सकेगी । अतः अनुमिति को मानस प्रत्यक्षरूप नहीं मानी जा सकती ।

तच्चिन्त्य. । मगर अपर नास्तिक विद्वानों का इसके खिलाफ यह वक्तव्य है कि घटचाक्षुषादिसामग्री की उपस्थिति में अग्नि की अनुमिति के उपपादनार्थ यह भी कहा जा सकता है कि हम अनुमितित्व को भोगत्वव्याप्य मानते हैं अर्थात् अनुमिति भी भोगविशेषात्मक ही है । चाक्षुषादिसामग्री तो भोगान्यमानस के प्रति ही प्रतिबन्धक होती है, न कि मानसमात्र के प्रति । अतः मानसेतर ज्ञान की सामग्री होने पर भी दहनानुमिति हो सकती है, क्योंकि वह प्रतिबध्यतावच्छेदक से, अब नयी कल्पना के अनुसार, शून्य है । यहाँ इस शंका के कि —> 'अनुमिति को भोगात्मक मानी जाय तब तो अग्नि में अनुमितिस्वरूप भोग की विषयता कैसे आयेगी ? क्योंकि भोग के विषय तो केवल सुख-दुःख ही होते हैं' <— समाधानार्थ यह कहा जा सकता है कि जैसे चन्दन, कण्टक आदि सुख-दुःखजनक होने से इनमें भोग्यता = भोगविषयता का व्यवहार होता है ठीक वैसे ही अग्नि आदि में भी भोगविषयता की संगति हो सकती है । अतः अनुमितित्व को प्रत्यक्षवृत्ति मानना ही सङ्गत है । तब तो अतिरिक्त प्रमाण की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि प्रमा ही असिद्ध है । यह नव्यचार्वाक एकदेशीय का मन्तव्य है ।

❋ अनुमिति का मानसप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव नामुमकिन - नैयायिक ❋

अन्ये तु । मगर इसके प्रतिवाद में नैयायिक मनीषियों का यह वक्तव्य है कि —> धूमपरामर्श के बाद होनेवाले अग्निज्ञान को यदि मानस प्रत्यक्षरूप माना जायेगा तो हेतु आदि के भी मानस प्रत्यक्ष की आपत्ति आयेगी । इसके बचाव में यह कहा जाय कि —> जैसे 'अनुमिति को प्रत्यक्षविलक्षण प्रमा माननेवाले उदयनाचार्य अनुमिति में लिङ्ग का भान मानते

इव तत्र तद्भानमात्रे इष्टापत्तिः, एवमप्युच्छृङ्खलोपस्थितानां घटादीनां तत्र भानापत्तेः । न च तद्धर्मिकतत्संसर्गक-तत्तद्धर्मावच्छिन्नव्याप्यवत्ताज्ञानात्मकविशेषसामग्रीविरहान्न तदापत्तिरिति वाच्यम्, सामान्यसामग्रीवशात्तदापत्तेः । न च घटमानसत्वस्य परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदकतया न तदापत्तिः; पटमानसत्वादेरप्युच्छृङ्खलोपस्थितपटादिभानवारणाय तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वेऽ-

❀ जयलता ❀

लिङ्गपरामर्शजन्यप्रत्यक्षमानसप्रत्यक्षे, तद्भानमात्रे = केवलं लिङ्गमानसाधिक्ये **इष्टापत्तिः**, स्वीक्रियते चोदयनाचार्यमते 'वह्नि-व्याप्यधूमवान् पर्वत' इत्याकारकपरामर्शानन्तरं 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारानुमितिः । धूमस्य चाक्षुषगोचरत्वेऽपि यथाचार्यमते परोक्षानुमितिविषयत्वमङ्गीक्रियते तद्वदेवास्मन्मते तस्य मानसानुमितिविषयत्वमप्युपपद्यते, आक्षेपपरिहारयोस्तुल्य-योगक्षेमत्वात् । न चाचार्यमत इवाऽनुमितेः परोक्षत्वमप्यापद्येतेति वक्तव्यम्, चाक्षुषाणां धूमादीनामचाक्षुषानुमितिविषयत्वांशे एव दृष्टान्तस्याऽभिप्रेतत्वादिति नास्तिकैः **शङ्कनीयम्**, **एवं** = दहनमानसानुमितौ लिङ्गावगाहित्वस्येष्टापत्तितया स्वीकारे **अपि उच्छृङ्खलोपस्थितानां** = स्वातन्त्र्येणोपस्थितिविषयीभूतानां उदासीनानां **घटादीनां तत्र** = दहनानुमितौ **भानापत्तेः**, धूमादि-वत् तेषामपि दहनानुमित्यव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेनोपस्थितत्वात् । ततश्च 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमानि'तिवत् 'पर्वतो वह्निमान् घटश्चे'त्येवमप्यनुमितिः स्यादिति चार्वाकं प्रति नैयायिकवक्तव्यम् ।

चार्वाकशङ्कामपाकर्तुमुपन्यस्यन्ति - **न चेति** वाच्यमित्यनेनाऽन्वेति । **तद्धर्मिक-तत्संसर्गक-तत्तद्धर्मावच्छिन्नव्याप्यवत्ता-ज्ञानात्मक-विशेषसामग्रीविरहात्** = पर्वतपक्षक-संयोगसंसर्गक-घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकव्याप्तिमद्वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानलक्षणपरामर्शा-त्मकविशेषसामग्रीविरहात्, **न तदापत्तिः** = न दहनानुमितौ घटाद्यवगाहित्वप्रसङ्गः । 'पर्वतो दहनव्याप्यधूमवानि'ति परामर्शस्य पर्वतधर्मिक-संयोगसम्बन्धक-दहनत्वावच्छिन्ननिरूपितव्याप्तिमद्वैशिष्ट्यावगाहित्वेऽपि पर्वतधर्मिक-संयोगसंसर्गक-घटत्वावच्छिन्ननिरूपि-तव्याप्तिवैशिष्ट्यावगाहित्वाभावान्न तदुत्तरजायमानदहनानुमितौ घटादिभानापत्तिः, पर्वतपक्षक-संयोगसंसर्गक-घटप्रकारकविशिष्टमानसं प्रति पर्वतधर्मिक-संयोगसंसर्गक-घटत्वावच्छिन्ननिरूपितव्याप्तिताश्रयत्वावगाहिज्ञानस्य कारणत्वात् । **न चैवं** दहनानुमितौ धूमादेरपि भानं न स्यात्, पर्वतपक्षक-संयोगसंसर्गक-धूमत्वावच्छिन्ननिरूपित-व्याप्यत्वाश्रयवत्ताज्ञानविरहात् इति **वाच्यम्**, मानसदहनानुमितिज-नकपरामर्शघटकत्वात् पक्ष-साध्यतावच्छेदकसम्बन्धादिवत् तद्भानोपपत्तेः । **न** चैवमपि 'पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान् घटश्चे'तिपरामर्शस्य घटावगाहित्वेन तदुत्तरानुमितौ घटभानापत्तिस्तदवस्थैवेति **वाच्यम्**, तस्यानलमानसानुमितिजनकपरामर्शनिष्ठकारणतानिरूपितावच्छेद-कतानाश्रयत्वात्, धूमत्वादेस्तु परम्परया दहनानुमितिकारणतावच्छेदकत्वाद् धूमादेरेव तत्र भानादिति चार्वाकस्य गूढाशयः ।

नैयायिकास्तं प्रतिक्षिपन्ति - **सामान्यसामग्रीवशात्** = घटगोचरज्ञानलक्षणसन्निकर्षजोपस्थितिवशात्, दहनानुमितौ **तदापत्तेः** = घटमानससामान्यापत्तेः । घटानुमित्यात्मकमानसविशेषसामग्रीविरहेऽपि घटोपस्थितिरूपाया घटमानससामान्यसामग्र्याः सत्त्वेन घटमानससामान्यापत्तिस्तु 'पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान् घटश्चे'त्याकारकपरामर्शानन्तरजायमानदहनमानसे दुर्वारैवेति चार्वाकं प्रति नैयायिकवक्तव्यम् । **न च** घटमानसत्वस्य परामर्शप्रतिबध्यतावच्छेदकतया न तदापत्तिरिति **वाच्यम्**, एवं सति घटत्वावच्छिन्न-निरूपितव्याप्तिप्रकारकज्ञानसत्त्वेऽपि घटमानसं न स्यात् । **न च** घटमानसत्वस्य दहनादिसाध्यकपरामर्शनिरूपितप्रतिबध्यता-वच्छेदकतया न दोष इति **शङ्कनीयम्**, एवमपि सादृश्यादिज्ञानसत्त्वे तदुत्तरोपमित्यादौ घटभानापत्तेरपरिहार्यत्वात् । **न च घटमानसत्वस्य परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदकतया** = दहनादिपरामर्श-सादृश्यज्ञान-पदज्ञाननिष्ठप्रतिबन्धकतानिरूपित-प्रतिबध्यताया अवच्छेदकतया, न दहनाद्यनुमित्यादौ **तदापत्तिः** = घटमानसापत्तिरिति **शङ्कनीयम्**, तथाप्युच्छृङ्खलोपस्थितानां पटमठादीनां तत्र भानापत्तेर्दुर्वारत्वात् । न च घटमानसत्ववत् पटमठादिमानसत्वस्याऽपि दहनादिपरामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदकतया न तद्दोष इति **वाच्यम्**, एवं सति **पटमानसत्वादेरपि** दहनानुमित्यादौ **उच्छृङ्खलोपस्थितपटादिभानवारणाय तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वे**

हैं उसी प्रकार अनुमिति को मानस प्रत्यक्षरूप मानने पर भी उसमें हेतु का भान मानने में कोई दोष नहीं है' <— तो यह भी निराधार है, क्योंकि अनुमिति के मानसत्वपक्ष में केवल हेतु के ही मानस की आपत्ति नहीं होगी किन्तु साध्य, हेतु, पक्ष आदि का घटक न हो कर स्वतन्त्ररूप से जो भी घटादिपदार्थ धूमपरामर्श के समय उपस्थित होंगे उन सभी के मानस प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। यहाँ बचाव के लिए यह वक्तव्य कि —> 'तत्पक्षक तत्संसर्गक तद्धर्मावच्छिन्नव्याप्यवत्ताज्ञानरूप विशेषसामग्री मानसविशेष की जनक होती है । पर्वत में वह्निबोधक परामर्श काल में पर्वतपक्षक - संयोगसंसर्गक-घटत्वादि-धर्मावच्छिन्नव्याप्यवत्ता के ज्ञानरूप घटादिबोधक परामर्श का अभाव होने से उनके मानस बोध की आपत्ति नहीं हो सकती' <— भी असङ्गत है, क्योंकि परामर्श तो मानसविशेष का कारण है, न कि मानससामान्य का । मानससामान्य का कारण

कथं भवेदिति वाच्यम्, भोगान्यज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदकतया समानीतजातिविशेषवतां सुख-दुःखानामुत्तेजकत्वात् । न च तादृशसुख-दुःखकालेऽप्यनुमितिसामग्रीभूतपरामर्शादौ समवायेन तदभावादनुमित्यापत्तिः; सामानाधिकरण्य-कालिकोभयसम्बन्धावच्छिन्नतदभावस्य निवेशादिति

❀ जयलता ❀

मानसान्यसामग्र्याः प्रतिबध्यत्वात्, तत्र मतेऽनुमितेः परोक्षत्वादिति **वाच्यम्,** सुख-दुःखोदये तन्मानसमेवोपजायते न त्वन्यदिति सर्वैरपि स्वीकारात् **भोगान्यज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदकतया** सुख-दुःखसाधारणवैजात्यस्याऽवश्यंकल्पनीयत्वे तु **समानीतजातिविशेषवतां** = निरुक्तरीत्या वैजात्याश्रयाणां तादृशजातिविशेषरूपेणैव **सुख-दुःखानां उत्तेजकत्वात्** = उत्तेजकत्वं कल्पयित्वा विजातीयसुख-दुःखाभावविशिष्टमानसेतरसामग्र्याः मानसत्वावच्छिन्नं प्रति प्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमान्नानुमितिसामग्रीसत्त्वेऽपि सुखादिसमवधाने भोगानुपपत्तिः, उत्तेजकाभावविशिष्टप्रतिबन्धकस्याऽसत्त्वात् । उत्तेजकत्वञ्च प्रतिबन्धकस्य प्रतिबन्धकत्वमित्येके । प्रतिबन्धकसमवधानकालीनकार्यजनकत्वं तदित्यन्ये । कारणाभावातिरिक्तकार्याप्रतिबन्धक-कोटिप्रविष्टाभावप्रतियोगित्वं तदित्यपरे । कार्याभावप्रयोजकाभावनिरूपितप्रतियोगित्वं तदिति **केचित्** । शक्त्यनुकूलत्वमुत्तेजकत्वमि**तीतरे** वदन्ति ।

ननु सुखाद्यभावविशिष्टानुमित्यादिसामग्र्या मानसत्वावच्छिन्नं प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पने तु सुखादिकालेऽपि परामर्शादितोऽनुमित्यापत्तिर्दुर्वारैव, तदानीं परामर्शादेः समवायेन सुखादिविशिष्टत्वाभावात् । न हि समवायेन परामर्शादौ सुखादिकमुपजायते किन्त्वात्मन्येवेति मुग्धनास्तिकाशङ्कामपाकर्तुमुपक्षिपन्ति - न चेति । **तादृशसुख-दुःखकाले** = भोगान्यज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदकवैजात्यविशिष्टसुख-दुःखसमवधाने **अपि अनुमितिसामग्रीभूतपरामर्शादौ समवायेन तदभावात्** = समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसुख-दुःखाभावसत्त्वात्, उत्तेजकाभावविशिष्टप्रतिबन्धकसत्त्वेन **अनुमित्यापत्तिः** = अनुमित्युदयापत्तिः, उपलक्षणात् सुखादुःखमानससाक्षात्कारानुपपत्तिश्च तत्र सुख-दुःखाभाव-विशिष्टानुमित्यादिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकीभूतस्य मानसत्वस्य सत्त्वादिति **शङ्कनीयम्, सामानाधिकरण्य-कालिकोभयसम्बन्धावच्छिन्नतदभावस्य** = स्वसामानाधिकरण्य-कालिकोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य सुख-दुःखाभावस्य, मानसत्वावच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकताविशिष्टानुमित्यादिसामग्रीविशेषणकुक्षौ **निवेशात्** । सुखादिजन्मकाले परामर्शादेः समवायेन सुखादिविशिष्टत्वविरहेऽपि स्वसामानाधिकरण्य-स्वसमानकालिकत्वोभयसम्बन्धेन सुखादिविशिष्टत्वेन सामानाधिकरण्य-कालिकोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसुखाद्यभावविशिष्टपरामर्शलक्षणस्य मानसप्रतिबन्धकस्याऽसत्त्वान्नानुमित्यापत्तिर्न वा भोगालापत्तिः । न च सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-सुखाद्यभावस्यैव प्रतिबन्धककुक्षावुत्तेजकाभावविधया प्रवेशोऽस्तु किं कालिकसमावेशेनेति **साम्प्रतम्,** सामानाधिकरण्येन विनष्टसुखादिकमादाय सुखादिजन्मविरहकालेऽपि परामर्शादिसमवधानादनुमित्यनुदयापत्तेः । न च तर्हि कालिकावच्छिन्नतदभावस्योत्तेजकाभावत्वमस्त्वित्या**रेकणीयम्,** चैत्रीयसुखमादाय सुखादिशून्यमैत्रेऽपि धूमादिपरामर्शदशायामनुमित्यनापत्तेः । इत्थञ्च समवायेन मानसत्वावच्छिन्नं प्रति

वैजात्यविशिष्टसुखाद्यभावविशिष्ट अनुमितिसामग्री को प्रतिबन्धक मानने से अनुमितिसामग्री के समय सुख-दुःखोदय होने पर उनके भोग की अनुपपत्ति नहीं हो सकती है । यदि यहाँ नास्तिक यह शङ्का हो कि —> 'भोगान्यज्ञानप्रतिबन्धकताअवच्छेदक जाति के आश्रय सुख या दुःख के उदयकाल में भी अनुमितिसामग्रीस्वरूप परामर्श आदि में तो समवाय सम्बन्ध से सुख या दुःख नहीं ही रहते हैं । अतः परामर्श तो सुख-दुःख के अभाव से विशिष्ट होने से तब अनुमिति के उदय की आपत्ति आयेगी और तब समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक सुखाद्यभावात्मक उत्तेजकाभाव से विशिष्ट परामर्शादिस्वरूप प्रतिबन्धक के होने से भोग की अनुपपत्ति हो जायेगी' <— तो इसका समाधान यह है कि प्रतिबन्धक की कोटि में जिस सुखाद्यभाव का उत्तेजकाभावविधया निवेश किया गया है वह समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नहीं किन्तु सामानाधिकरण्यकालिकोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभिमत है । जिस आत्मा में सुख-दुःख रहते हैं, उसी आत्मा में परामर्शादि रहने पर वह सामानाधिकरण्य और कालिक उभय सम्बन्ध से उत्तेजकीभूत सुखादि से विशिष्ट हो जाने से सामानाधिकरण्य-कालिकोभयसम्बन्धावच्छिन्न सुखाद्यभाव से विशिष्ट परामर्शादिस्वरूप प्रतिबन्धक न होने से तादृश सुख-दुःखकाल में परामर्शादि होने पर भी भोग की अनुपपत्ति नहीं है । जब चैत्र में समवाय से सुख-दुःख नहीं रहेंगे तब चैत्रसमवेत अनुमितिसामग्री कालिकसम्बन्ध से सुखादिविशिष्ट बनने पर भी सामानाधिकरण्य-कालिकोभयसम्बन्धेन सुखादिविशिष्ट नहीं होने से तादृशोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक सुखाद्यभाव से विशिष्ट हो जाती है । इस तरह तब उत्तेजकाभावविशिष्ट प्रतिबन्धक की उपस्थिति होने से तब सुखादि के भोग की आपत्ति या अनुमिति के उदय की अनुपपत्ति नामुमकिन बन जायेगी । हमारी इस रामकहानी का सारांश यह है कि - अनुमिति मानसप्रत्यक्षात्मक नहीं किन्तु प्रत्यक्षविलक्षण प्रमान्तरस्वरूप ही है ।

सिद्धान्तयन्ति ।

तत्रेदं चिन्त्यं - अनुमितिसामग्र्या मानसं प्रति प्रतिबन्धकत्वस्य तत्तदिच्छारूपोत्तेजकभेदेन विशिष्य विश्रान्त्याऽनुमितेर्मानसत्व एव वह्न्यादिमानसं प्रत्यप्रतिबन्धकत्वकल्पनया लाघवम् ।

❀ जयलता ❀

स्वनिरूपितसामानाधिकरण्यकालिकोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसुख-दुःखाभावविशिष्टानुमित्यादिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वसिद्धावनुमितेर्न मानसत्वमपि तु प्रमित्यन्तरत्वमेवेति दुर्वार एव प्रतिज्ञासन्न्यासो नास्तिकानामिति तात्पर्येण **सिद्धान्तयन्ति** = नैयायिकराद्धान्तं स्थिरीकुर्वन्ति । अन्ये त्विति प्रागुक्तमत्राऽन्वेतीति अनुसन्धेयम् ।

स्वास्वरसं दर्शयितुं प्रकरणकारः प्राह- **तत्र** = सुखादिविरहविशिष्टानुमित्यादिसामग्र्या मानसप्रतिबन्धकत्वपक्षे, **इदं** निरूप्यमाणं **चिन्त्यम्** । चिन्ताबीजमेवावेदयति - **अनुमितिसामग्र्याः** = सुखादिशून्यानुमितिसामग्र्याः, **मानसं** = मानसत्वावच्छिन्नं **प्रति प्रतिबन्धकत्वस्य** स्वीकारे घटज्ञानप्रत्यक्षेच्छासत्त्वेऽपि सुख-दुःखविरहविशिष्टदहनानुमितिसामग्रीसमवधानदशायां घटज्ञानगोचरमानसं न स्यात् । न च घटज्ञानमानसम् ... घटज्ञानमानसेच्छा-सुख-दुःखविरहविशिष्टानुमितिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकतया नायं दोष इति **वाच्यम्**, घटज्ञानमानसत्वादिनाऽपि घटज्ञानमानसेच्छादिशून्यानुमितिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकत्वस्वीकारे **तत्तदिच्छारूपोत्तेजकभेदेन** तादृशप्रतिबन्धकताया भेदात् **विशिष्य विश्रान्त्या** = विशेषरूपेण प्रतिबन्धकत्वस्य पर्यवसानात् अनन्तप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावकल्पनापत्तिः । न च तत्तदिच्छाविरहकूटस्याऽखण्डत्वेन निवेशान्न गौरवमिति **वक्तव्यम्**, उदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहेणाऽखण्डाभावस्य तत्र निवेशाऽसम्भवात् । तदपेक्षया **अनुमितेः मानसत्वे एव** कल्प्यमाने **वह्न्यादिमानसं** = परामर्शादिजन्यानलादिमानसं **प्रति** दहनादिचाक्षुषादिसामग्र्याः स्वातन्त्र्येण **अप्रतिबन्धकत्वकल्पनया लाघवं** = पृथक्प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभावाकल्पनलाघवम् । मानससामग्र्याः सर्वतो दुर्बलत्वेन चाक्षुषादिसामग्र्याः मानसत्वावच्छिन्नं प्रति प्रतिबन्धकत्वस्यावश्यमेवाऽभ्युपगन्तव्यत्वेन तेनैव प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावेन चाक्षुषादिसामग्रीसमवधानदशायां परामर्शादपि अनुमित्यनुदयोपपत्तौ अनुमितित्वादिस्तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वाऽकल्पनेन लाघवमनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वपक्षे ।

ननु मया नैयायिकेन तत्तन्मानसत्वावच्छिन्नं प्रति प्रतिबन्धकीभूतानुमितिसामग्रीविशेषणविधया न तत्तदिच्छाऽभावनिवेशः क्रियते येन तत्तदिच्छास्वरूपोत्तेजकभेदेन प्रतिबन्धकत्वभेदात् तादृशप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावस्य विशिष्य विश्रान्त्या अनन्ततत्कल्पनापत्तिः स्यात् । किन्तु परामर्शादिसमवधानेऽपि घटज्ञानगोचरमानसेच्छादिसत्त्वे घटज्ञानमानसोदयोपपादनाय तत्तदिच्छोपनीयमानज्ञानभिन्नमानसे परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदकजातिः स्वीक्रियते तदवच्छिन्ने च परामर्शादिप्रतिबन्धकत्वमिति न नानाप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावकल्पनगौरवमिति नानुमितित्वस्य परोक्षज्ञानवृत्तित्वे दोषः । अनुमितेर्मानसत्वे तु धूमादिलिङ्गकपरामर्शसमवधाने उच्छृङ्खलोपस्थितघट-पटादिमानवारणाय घट-पटमानसत्वादेः परामर्शप्रतिबध्यतावच्छेदकत्वकल्पनेऽनन्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पना-पत्तेर्मानसत्वस्यैव परामर्शादिघटितसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकत्वकल्पनमुचितमिति नैयायिकाशङ्कामपनोदयितुं प्रकरणकार आह

~ मानसप्रत्यक्ष में अनुमिति के अन्तर्भाव का समर्थन ~

तत्रेदं । उपदर्शित नैयायिकवक्तव्य के खिलाफ प्रकरणकार श्रीमद्जी अपनी मीमांसा का प्रदर्शन करते हैं कि --> 'उक्त नैयायिकमत में यह विचारणीय है कि सुखादिविरहविशिष्ट अनुमितिसामग्री को मानसमात्र के प्रति प्रतिबन्धक मानने पर तो परामर्शकाल में घटज्ञान के मानस की इच्छा होने पर भी तदनन्तर काल में घटज्ञानगोचर मानस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति न हो सकेगी । यदि उसकी उत्पत्ति की उपपत्ति के लिए तत्तत् ज्ञान के मानस की इच्छा को मानसमात्र के प्रति अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता में उत्तेजक मान कर तत्तदिच्छानन्तर उपजायमान मानस से भिन्न मानस के प्रति तत्तदिच्छाविरहविशिष्ट अनुमितिसामग्री को प्रतिबन्धक मानी जाय तब तो तत् तत् मानसेच्छास्वरूप उत्तेजक के भेद से अनुमितिसामग्रीनिष्ठ प्रतिबन्धकता भिन्न बन जाने से तादृश प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव विशेषरूप से पर्यवसित = फलित हो जायेगा, जिसके फलस्वरूप अनन्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावकल्पना का गौरव नैयायिक के सर पर आयेगा, जो अप्रामाणिक एवं असह्य है । इसकी अपेक्षा अनुमिति को मानस प्रत्यक्षस्वरूप मानना ही युक्तिसङ्गत है, क्योंकि तब अग्निचाक्षुषादिसामग्रीसमवधानकाल में अग्निविषयक परामर्शजन्य मानस प्रत्यक्ष (अनुमितिस्वरूप) के प्रति अग्निचाक्षुषादिसामग्री को पृथक् प्रतिबन्धक मानने की आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि सर्व अन्यज्ञानसामग्री से मानससामग्री दुर्बल होती है । अतः अनुमिति को मानस साक्षात्काररूप मानने पर नैयायिक को अभिमत अग्निअनुमिति के प्रति अग्निचाक्षुषादिसामग्री की प्रतिबन्धकता के गौरव को भी अवकाश नहीं रहेगा । यदि

तत्तदिच्छोपजायमानभिन्ने प्रतिबध्यतावच्छेदकजातिस्वीकारस्तु परामर्शजन्यभिन्नेऽपि भजमान इति न वह्न्याद्यनुमितिसामग्रीकाले उच्छृङ्खलोपस्थितघटादिभानवारणाय मानसत्वस्य तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वकल्पनौचित्येनानुमितेरप्रत्यक्षत्वाभिधानं युक्तमिति । न च तज्जात्यवच्छिन्नं प्रत्यनुगतकारणकल्पनापत्तिः, कार्यमात्रवृत्तिजातेः कार्यतावच्छेदकत्वनियमे मानाभावात् ।

❀ जयलता ❀

तत्तदिच्छोपजायमानभिन्ने प्रतिबध्यतावच्छेदकजातिस्वीकारः = परामर्शादिनिरूपितप्रतिबध्यतावच्छेदकस्य वैजात्यस्य नैयायिकेन क्रियमाणोऽभ्युपगमः **तु** अनुमितेर्मानसत्वपक्षेऽपि परामर्शकाले उच्छृङ्खलोपस्थित-घटादिमानसवारणाय **परामर्शजन्यभिन्नज्ञाने** = भोग-परामर्शजज्ञानेतरज्ञाने **अपि** यथा परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदकवैजात्यस्वीकारः **भजमानः** = क्रियमाणः तुल्ययोगक्षेम इति हेतोः **न वह्न्याद्यनुमितिसामग्रीकाले उच्छृङ्खलोपस्थितघटादिभानवारणाय** – स्वतन्त्रोपस्थितानां घटपटादीनामनलादिभानसानुमितौ भाननिवारणकृते, **मानसत्वस्य तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वकल्पनौचित्येन** = परामर्शादिघटितसामग्रीनिरूपितप्रतिबध्यतानिरूपितावच्छेदकत्वस्वीकारस्य युक्तत्वेन, नैयायिकेन क्रियमाणं **अनुमितेरप्रत्यक्षत्वाभिधानं युक्तमिति** । पूर्वोक्तो 'न' युक्तमित्यत्राऽन्वेति । उच्छृङ्खलोपस्थितघटादिगोचरस्य मानसस्य भोग-परामर्शजेतरज्ञानत्वेन परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदक-वैजात्याक्रान्तत्वान्न परामर्शोत्तरमानसानुमितिकाले उदयः । तथाऽनुमितेर्मानसत्वेऽपि न प्रागुक्तानन्तप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावकल्पनापत्तिः ।

ननु परामर्शजन्यभिन्नज्ञानेऽनुमित्यादिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकजातिस्वीकारे तादृशवैजात्यावच्छिन्नं प्रति अनुगतकारणतावच्छेदकजातिस्वीकारे तादृशवैजात्यावच्छिन्नं प्रति अनुगतकारणतावच्छेदकावच्छिन्नकल्पनाप्रसङ्गो दुर्वारः । न च प्रतिबन्धकाभावविधया परामर्शादिसामग्र्यभावकूटस्याऽखण्डत्वेन कारणत्वमिति **शङ्कनीयम्**, उदासीनप्रवेशाऽप्रवेशाभ्यां विनिगमकाभावेनाऽखण्डाभावत्वेन कारणत्वाऽयोगादिति प्रागुक्तत्वात् । न च परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदकवैजात्यावच्छिन्नानुमितिसामग्रीकाले उच्छृङ्खलोपस्थितघटादिमानसानां कारणेष्वनुगता जातिरखण्डोपाधिर्वा सम्भवति, येन तदवच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकत्वं परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदकजातेः स्यादिति नैयायिकाशङ्कामपाकर्तुमुपक्षिपति **न चेति** । **तज्जात्यवच्छिन्नं** = परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदकवैजात्यावच्छिन्नं **प्रति अनुगतकारणकल्पनापत्तिः** = अनुगतानतिप्रसक्तकारणतावच्छेदकावच्छिन्नकल्पनापत्तिः, तत्कारणेष्वनुगतकारणतावच्छेदकस्वीकारापत्तिरित्यत्राऽऽपादनतात्पर्यम् । तन्निरासे हेतुमाह - **कार्यमात्रवृत्तिजातेः** = नित्याऽवृत्ति-सकलकार्यवृत्तिजातित्वावच्छेदेन, **कार्यतावच्छेदकत्वनियमे मानाभावात्**, विपक्षबाधकतर्कविरहात् । ततो न परामर्शादिजन्यभिन्नज्ञान

नैयायिक की ओर से बचाव के लिए यह कहा जाय कि –> 'हम तत् तत् ज्ञान की मानसेच्छा के अनन्तर जायमान ज्ञान से भिन्न ज्ञान में चाक्षुषादिप्रतिबध्यताअवच्छेदक जातिविशेष का स्वीकार करते हैं और तदवच्छिन्न के प्रति चाक्षुषादिसामग्री को प्रतिबन्धक मान कर ही अग्निचाक्षुषादिसामग्रीकाल में अग्नि की अनुमिति की अनुत्पत्ति और घटज्ञानगोचर मानस की उत्पत्ति की सङ्गति कर सकते हैं । अतः अनन्त प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की कल्पना का गौरव निरवकाश है' <— तब तो अनुमिति को मानस प्रत्यक्षरूप माननेवाले भी परामर्शजन्य ज्ञान से भिन्न ज्ञान में चाक्षुषादिसामग्री की प्रतिबध्यतावच्छेदक जातिविशेष का स्वीकार करते हुए परामर्शोत्तरकालीन दहनज्ञान में परामर्शकाल में स्वतन्त्रोपस्थित घटादि के अनवगाहन की उपपत्ति कर सकते हैं, क्योंकि तादृश घटमानस परामर्शजन्यज्ञान से भिन्न है । अतएव अनुमिति को मानस प्रत्यक्षात्मक माननेवाले विद्वानों के प्रति नैयायिक का यह वक्तव्य भी कि –> 'परामर्शजन्य ज्ञान को मानस साक्षात्काररूप मानने पर तो अग्निआदि की अनुमिति की सामग्री उपस्थित होने पर स्वतन्त्र उपस्थित घटादि का परामर्शजन्यज्ञान में अवगाहन मानने की आपत्ति आयेगी, जिसके निवारणार्थ घटपटादिमानसत्व को परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदक मानने पर प्रागुक्त अनन्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव के स्वीकार का गौरव आयेगा, जो अप्रामाणिक एवं असह्य है । अतः लाघवसहकार से मानसत्व को ही परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदक मानना युक्त है, जिसके फल में अनुमिति प्रत्यक्षभिन्न प्रमा हो जायेगी, अनुमितित्व परोक्षवृत्ति बनेगा' <— असङ्गत है, क्योंकि अनुमिति को मानस साक्षात्काररूप माननेवालों ने परामर्शजन्यभिन्न ज्ञान में परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदक जाति का स्वीकार किया है, जो तादृश घटादिमानस में भी रहने की वजह अग्निपरामर्शोत्तरकालीन अग्निअनुमिति के काल में तादृशघटादिमानस की अनुत्पत्ति की उपपत्ति हो सकती है, तब क्यों अनुमिति को परोक्ष बुद्धि मानी जाय ? अतः अनुमिति को मानस प्रत्यक्षरूप मानने में कोई दोष नहीं है । यहाँ नैयायिक का यह वक्तव्य कि –> 'परामर्शजन्यज्ञान से भिन्न सकल ज्ञान में परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदक जाति का स्वीकार करने पर तादृश जाति से अवच्छिन्न = विशिष्ट के प्रति अनुगत कारण की कल्पना की आपत्ति आयेगी । प्रतिबन्धकाभावविधया धूमलिङ्गकपरामर्शादिअभाव को तादृशवैजात्यअवच्छिन्न के प्रति कारण नहीं माना जा सकता,

किञ्च विजातीयसुख-दुःखानां नोत्तेजकत्वं सुखत्वादिना साङ्कर्येण तद्वैजात्याऽसिद्धेः । प्राञ्चस्तु उपनीतभानस्थले विशेषणज्ञान-विशिष्टबुद्ध्योः कार्य-कारणभावेनैवाऽस्माकं

जयलता

परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदकजातिकल्पने किञ्चिद्बाधकमस्ति, येनाऽनुमितेः परोक्षत्वमङ्गीकार्यं स्यात् ।

किञ्च, अनुमितित्वस्य परोक्षवृत्तित्वपक्षे मानसत्वस्यैव परामर्शघटितसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकत्वकल्पनेऽनुमितिसामग्री-समवधाने उदितसुखादिमानससाक्षात्कारोऽपि कथं स्यात् ? न च भोगान्यज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदकतया समानीतजातिविशेषवतां सुख-दुःखानामुत्तेजकत्वान्नाऽयं दोष इति **शङ्कनीयम्,** यतः हि **विजातीयसुखदुःखानां** भोगान्यज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतेन वैजात्येन **नोत्तेजकत्वं** सम्भवति, **सुखत्वादिना साङ्कर्येण तद्वैजात्यासिद्धेः** = सुख-दुःखोभयमात्रवृत्तिजातिविशेषस्याऽसिद्धेः । 'आनन्दं ब्रह्म' ( ) इत्यादिश्रुतिप्रामाण्येनेश्वरे नित्यसुखाऽङ्गीकाराच्च सकलसुख-दुःखेषु भोगान्यज्ञानप्रतिबंधकतावच्छेदक-जातिकल्पना युक्ता किन्तु जन्यसुख-दुःखेष्वेव । तथा च सुखत्वेन साकं तत्साङ्कर्यस्य दुर्वारत्वम् । तथाहि दुःखे सुखत्वं नास्ति वैजात्यमस्ति, नित्यसुखे वैजात्यं नास्ति, सुखत्वमस्ति, जन्यसुखे चोभयमिति सङ्करोपपत्तिः । ततोऽनुमितेः परोक्षत्वेऽनुमितिसामग्र्यां सत्यां भोगो नैवोपजायेत, मानसत्वस्य परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदकत्वादित्यनुमितेर्मानसत्वमेव सङ्गतिमङ्गतीति नव्यनैयायिकं प्रति नवीननास्तिकमत-न्यायसमर्थनपरो नैयायिकमतदूषणोद्भावनगर्भितः प्रकरणकारस्य प्रौढिवादेनाक्षेपः ।

नव्यनास्तिकमतमसहमानाः **प्राञ्चः** = प्राचीननास्तिकाः इति आहुरित्यनेनाऽग्रेऽन्वेति । तुर्विशेषद्योतनाय । तथाहि **उपनीतभानस्थले** = उपनीतस्य अलौकिकसन्निकर्षोपस्थापितस्य भानं यस्मिन् ज्ञाने तत्र स्थले, **विशेषणज्ञान-विशिष्टबुद्ध्योः कार्यकारणभावेन** = विशिष्टबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वेन सर्वसम्मतेन एव **अस्माकं** = प्राचीनचार्वाकाणां,

क्योंकि अखण्डाभाव में कारणता के स्वीकार का पहले बहिष्कार किया गया है और अन्य किसी कारण में कोई अनुगत जाति नहीं हो सकती है' <— यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'कार्यगतवृत्ति जाति अवश्य कार्यतावच्छेदक हो' यह कोई ईश्वराज्ञा नहीं है, जिसकी वजह यह नियम प्रामाणिक हो जाय । अतः परामर्शजन्यज्ञानभिन्न ज्ञान में रहनेवाली जाति का अनुगत कोई कारणताअवच्छेदक न हो तो भी कोई दोष नहीं है ।

☙ सुख-दुःख में अनुगत जातिविशेष का स्वीकार असङ्गत ☙

किञ्च सु. । इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि पूर्व में जो नैयायिक विद्वानों ने कहा था कि —> 'भोगान्य ज्ञान के प्रति सुख और दुःख को उभयानुगत जातिरूप से प्रतिबन्धक मानना आवश्यक है तो फिर उस उभयानुगत वैजात्यरूप से सुख-दुःख को मानसमात्र के प्रति अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता में उत्तेजक मान कर... (पृष्ठ ६७६)' <— यह भी कैसे सङ्गत हो सकता है ? क्योंकि सुख और दुःख में उभयमात्रानुगत एक अतिरिक्त वैजात्य ही नैयायिकमतानुसार सिद्ध नहीं हो सकता है । इसका कारण यह है कि तब सुखत्वादि जाति के साथ उसका साङ्कर्य प्रसक्त होता है । सांकर्य जातिबाधक होने से सुख-दुःख उभयानुगत वैजात्य का स्वीकार नहीं किया जा सकता, जिसके फलरूप में अवश्यक्लृप्त वैजात्यरूप से सुख-दुःख को मानस ज्ञान में उत्तेजक माना जा सके । अतः मानसत्व को अनुमितिसामग्रीप्रतिबध्यताअवच्छेदक मानने पर तो अनुमितिसामग्रीउपस्थितिकाल में उदित सुख या दुःख को मानस साक्षात्कार = भोग की उत्पत्ति की उपपत्ति नैयायिकमतानुसार कथमपि नहीं हो सकती है । नैयायिकजी ! तब तो अनुमिति को मानस प्रत्यक्षरूप मानना ही सङ्गत हो जायेगा । साङ्कर्यभावना इस तरह - दुःख में तादृश वैजात्य है, सुखत्व नहीं । ईश्वरीय नित्यसुख में सुखत्व है, तादृश वैजात्य नहीं । जब कि जन्यसुख में सुखत्व और अभिमत वैजात्य भी रहता है । परस्परव्यधिकरण धर्मों का एक धर्मी में समावेश होने से साङ्कर्य उपपन्न हो सकता है ।

प्राञ्च. । नव्य नास्तिक मन एवं मानस अनुमिति का स्वीकार करते हैं, जिसमें गौरव है । इसकी अपेक्षा उचित तो यही है कि धूमदर्शन के पश्चात् होनेवाले 'पर्वतो वह्निमान्' इस ज्ञान को मानस अनुमितिस्वरूप न मान कर चाक्षुष प्रत्यक्षात्मक माना जाय । तब यद्यपि अग्नि का चाक्षुष नहीं माना जा सकता मगर अग्नि का उपनीतभान माना जा सकता है, क्योंकि ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से वह पूर्व उपस्थित रहता है । उपनीतभानस्थल में विशेषण का भान कारण है और विशिष्टबुद्धि कार्य है । विशेषणज्ञान और विशिष्टज्ञान के बीच हेतु-हेतुमद्भाव तो सर्वमान्य है । अतः इसी कार्य-कारणभाव के नियम के अनुसार परामर्शकाल में उपस्थित अग्नि का उत्तर क्षण में पर्वतगोचर चाक्षुष में उपनीतभान माना जा सकता है । 'सुरभि चन्दनं' इत्यादि प्रतीति की भांति 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रतीति की उपपत्ति हो जाने से हम प्राचीन नास्तिकों के मत में नवीन

चरितार्थता, अनुमितेर्मानसत्वव्याप्यतावादे तु पक्षादेर्मुख्यविशेष्यतयैव भानाभावेऽनेन गतार्थता इत्यतिरिक्तकार्यकारणभावकल्पने गौरवमित्याहुः ।

वस्तुतस्तु- अनुमितेर्मानसत्वे एकवह्न्यनुमितिकृतोऽपि द्वितीयतदापत्तिः; प्रत्यक्षस्य सिद्ध्यप्रतिबध्यत्वात् । न च प्रत्यक्षान्तरस्याऽतथात्वेऽप्यनन्यगत्याऽनुमितिरूपप्रत्यक्षस्य

❀ जयलता ❀

चरितार्थता = कृतकृत्यता, न पृथक्कार्यकारणभावकल्पनमावश्यकमित्यर्थतो ध्वन्यते । 'पर्वतोऽनलवानि'ति ज्ञानं पर्वतांशे स्वसंयोगलक्षणलौकिकसन्निकर्षजन्यं, 'अनलव्याप्यधूमवान् पर्वत' इत्याकारकपरामर्शज्ञानस्य चक्षुःसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतस्य विषयतया अनले सत्त्वात् । ततश्च 'सुरभि चन्दन'मितिवत् 'पर्वतोऽनलवानि'ति बुद्धिरपि विशेषणांशेऽलौकिक्येव, विशिष्टबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात् । ततश्च परामर्शोत्तरकालीनज्ञानं प्रति न पृथक्कारणत्वकल्पनागौरवम् । एतादृशलाघवात् 'पर्वतोऽग्निमान्' इति प्रत्यक्षधीः चाक्षुषी, न तु मानसी । **न च** तस्या मानसत्वे किं बाधकमित्या**रेकणीयम्**, तादात्म्येन **अनुमितेः** समवायेन **मानसत्वव्याप्यतावादे तु** 'पर्वतोऽग्निमानि'त्याद्यनुमितौ **पक्षादेः मुख्यविशेष्यतया** = विशेषणतानाक्रान्तविशेष्यतया एव **भानात्** । अलौकिकसन्निकर्षोपस्थापितस्य विशेषणत्वेनैव भानं भवति न तु विशेषणतानाक्रान्तविशेष्यतया । तदुक्तं परामर्शगादाधर्यां 'बहिरिन्द्रियजन्यज्ञाने उपनीतस्य विशेषणतया भानम् । तत्र विशेषणज्ञानविधयैवोपनायकज्ञानस्य हेतुत्वम् । उपनायकज्ञानस्य जन्यतावच्छेदकं मानसत्वमेव' (प.गा.पृ.१६६) इति । ततश्च 'पर्वतोऽग्निमानि'त्यनुमितेर्मानसप्रत्यक्षत्वस्वीकारे पर्वतस्य तत्र मुख्यविशेष्यतया भानं न स्यात् । **एतेन** परामर्शानन्तरं 'पर्वतोऽग्निरि'त्येवाऽनुमितिः स्वीक्रियत इत्युक्तावपि **न** निस्तारः, अग्नेर्मुख्यविशेष्यतया भानाऽसम्भवात् । ततश्चानुमितेर्मानससाक्षात्कारत्वे **न अनेन** = 'विशिष्टबुद्धिं प्रति विशेषणबुद्धेः कारणत्व'-नियमेन **गतार्थता** = 'पर्वतोऽनलवानि'त्यनुमित्युत्पत्त्युपपत्तिः इति हेतोः तदनुरोधेन **अतिरिक्तकार्यकारणभावकल्पने** नव्यनास्तिकमते सुतरां **गौरवं** दुर्निवारम् । ततश्च पर्वतादेः चाक्षुषे जायमाने परामर्शोपस्थितानलादिभानमभ्युपेयमिति । आहुरित्यनेनाऽस्वरसः प्रदर्शितः । अलौकिकमानससामग्र्यपेक्षया अनुमितिसामग्र्या बलीयस्त्वात्परामर्शानन्तरमनलस्य नालौकिकसन्निकर्षजन्यज्ञानं भवितुमर्हतीत्यादिकं स्वधियोहनीयम् । बहिरिन्द्रियजन्यज्ञाने उपनीतस्य विशेषणत्वमेव मानसे तु विशेष्यत्वमपीति गादाधरे (पृष्ठ ३६०) उक्तत्वान्मानसेऽनुमितिज्ञाने पक्षादेर्मुख्यविशेष्यतया भानेऽपि नातिरिक्तकार्यकारणभावकल्पनापत्तिरिति यदि नव्यनास्तिका ब्रूयुः तदा प्रकारान्तरेण प्रकरणकारो नव्यनास्तिकमतं दूषयति - **वस्तुत** इति । **अनुमितेः मानसत्वे** = मानसप्रत्यक्षत्वे स्वीक्रियमाणे, धूमपरामर्शानन्तरं **एकवह्न्यनुमितिकृतोऽपि** = एकामनलानुमितिं कुर्वतोऽपि पुरुषस्य विनैवाऽनुमित्सां **द्वितीयतदापत्तिः** = द्वितीयाया अनलानुमितेः प्रसङ्गः, **प्रत्यक्षस्य** = प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नस्य, **सिद्ध्यप्रतिबध्यत्वात्** = स्वाश्रय-विषयकज्ञाननिष्ठप्रतिबन्धकतानिरूपितप्रतिबध्यताविकलत्वात् । न हि घटं पश्यतो ज्ञानान्तरसामग्रीविरहदशायां द्वितीयं घटप्रत्यक्षं न भवतीति । **न च प्रत्यक्षान्तरस्य** = परामर्शमृते जायमानस्य साक्षात्कारस्य, **अतथात्वे** = सिद्धिप्रतिबध्यत्वाभावे **अपि अनन्यगत्या** = उपायान्तरविरहेण, **अनुमितिरूपप्रत्यक्षस्य** = मानसत्वव्याप्यानुमितित्वाख्यजात्यवच्छिन्नस्य, **सिद्धिप्रतिबध्य-**

कार्यकारणभाव की कल्पना का गौरव नहीं है । जब कि नव्य नास्तिक तो 'पर्वतो वह्निमान्' इस बुद्धि को पर्वतांश में लौकिकसन्निकर्षजन्य एवं वह्नि अंश में अलौकिकसन्निकर्षजन्य न मान कर मानस अनुमितिरूप मानते हैं । अतएव उनके मत में 'विशिष्टबुद्धि के प्रति विशेषणज्ञान कारण है' इस नियम से 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक परामर्शोत्तरकालीन ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती । इसका कारण यह है कि जिसका उपनीतभान होता है उसका विशिष्टबुद्धि में विशेषणविधया ही भान होता है, न कि विशेष्यरूप से भी । 'पर्वतो वह्निमान्' इस बुद्धि में पर्वत का मुख्य विशेष्य के रूप में भान होता है । अतएव अलौकिकसन्निकर्षउपस्थापित = उपनीत पर्वत का भान 'पर्वतो वह्निमान्' इस बुद्धि में नहीं माना जा सकता । इसकी संगति के लिए अनुमिति को मानस प्रत्यक्ष मानने पर स्वतंत्र कार्यकारणभाव की कल्पना करनी होगी, जो गौरवग्रस्त होने से उपादेय नहीं है - यह प्राचीन नास्तिकों का नव्य नास्तिकों के प्रति वक्तव्य है ।

वस्तु. । वास्तविकता तो यह है कि अनुमिति को मानस साक्षात्कारस्वरूप मानने पर जब अग्नि की एक अनुमिति हो रही है उसी काल में अग्नि की दूसरी अनुमिति होने लगेगी, क्योंकि प्रत्यक्ष तो सिद्धि से प्रतिबध्य नहीं है । एक बार घट का प्रत्यक्ष होने पर भी दूसरी क्षण में उसका पुनः साक्षात्कार हो सकता है । पूर्वसिद्ध प्रत्यक्ष उसका प्रतिबन्धक नहीं है । अतः एक अग्निअनुमिति के अनन्तर द्वितीय अग्निअनुमिति की आपत्ति दुर्वार बनेगी। यहाँ नव्य नास्तिक की ओर से

सिद्धिप्रतिबध्यत्वाभावं दोष इति वाच्यम्, 'सुखव्याप्यज्ञानवानि'त्यादिपरामर्शजन्यायां 'सुखवानात्मे'त्याद्यनुमितौ विजातीयात्ममनःसंयोगजन्यतावच्छेदिकया साङ्कर्यान्मानसत्वव्याप्याऽनुमितित्वजात्यसिद्धेः ।

यत्तु - उपदर्शितानुमितौ सन्निकर्षनियम्यलौकिकविषयतायाः सम्भवेन 'साक्षात्करोमी'ति-प्रतीत्यापत्तिरिति - तन्न, सन्निकर्षजन्यसंशयसाधारण्येन लौकिकान्यविषयतायाः 'साक्षात्क-

❀ जयलता ❀

त्वात् = सर्वविषयविषयकज्ञानान्तरनिरूपितप्रतिबध्यताकल्पनागौरवापगमात्, **न अयं** = एकानलानुमितिकृतोऽपि द्वितीयतदापत्तिलक्षणो **दोषः** इति नव्यनास्तिकैः **वाच्यम्,** सिद्धिप्रतिबध्यतावच्छेदकस्य मानसत्वव्याप्याऽनुमितित्वस्य 'सुखव्याप्यज्ञानवानि'त्यादिपरामर्श-जन्यायां **'सुखवानात्मा'इत्याद्यनुमितौ विजातीयात्ममनःसंयोगजन्यतावच्छेदिकया** जात्या **साङ्कर्यात् मानसत्वव्याप्यानु-मितित्वजात्यसिद्धेः** = मानसत्वव्याप्यानुमितित्वस्य जातित्वाऽसम्भवात् । परामर्शाऽजन्ये 'अहं सुखी'त्यादिमानससाक्षात्कारे विजातीयस्याऽऽत्ममनःसंयोगस्य जन्यतावच्छेदिका जातिरस्ति परं मानसत्वव्याप्याऽनुमितित्वं नास्ति, परामर्शजन्यां 'पर्वतोऽग्निमानि'त्यादिप्रतीतौ मानसत्वव्याप्याऽनुमितित्वमस्ति परं विजातीयात्ममनःसंयोगकार्यतावच्छेदिका जातिर्नास्ति, अनेकात्माऽसमवेतत्वेन तत्प्रतीतेर्विजातीयात्ममनःसंयोगाऽजन्यत्वात् । परामर्शजन्यायां 'सुखवानात्मा' इत्यनुमितौ तूभयमस्ति, सुखस्याऽऽत्मसमवेतत्वेन तत्प्रतीतेर्विजातीयात्ममनःसंयोगजन्यत्वात् । इत्थञ्च मानसत्वव्याप्यानुमितित्वस्य विजातीयात्ममनःसंयोगकार्यतावच्छेदकजात्या साङ्कर्यान्न जातित्वं सम्भवति । अत एव सिद्धिप्रतिबध्यतावच्छेदकजातित्वं मानसत्वव्याप्यानुमितित्वे न सम्भवतीति एकदहनानु-मितिकृतोऽपि द्वितीयतदापत्तिर्दुर्वारैवानुमितेर्मानसत्वपक्षे इति प्रकरणकृदाशयः ।

यत्तु - उपदर्शितानुमितौ = परामर्शोत्तरकालीनायां 'सुखवानात्मा'इत्यनुमितौ, **सन्निकर्षनियम्यलौकिकविषयतायाः** = मनोऽभिधानेन्द्रियसंयुक्तात्मसमवेतत्वलक्षणसन्निकर्षनियन्त्रितलौकिकविषयतानिरूपितविषयितायाः, **सम्भवेन** तादृशानुमितिलक्षण-व्यवसायज्ञानोत्तरादाऽव्यवहितोत्तरकालावच्छेदेन **'साक्षात्करोमी'तिप्रतीत्यापत्तिः** = 'आत्मनि सुखं, सुखित्वेनाऽऽत्मानं, सुख-विशिष्टमात्मानं वा साक्षात्करोमि' इत्याकारकानुव्यवसायबुद्धेः प्रसङ्गः । यथा 'अयं घट' इतिप्रतीतौ चक्षुःसंयोगलक्षणसन्निकर्ष-नियम्यलौकिकविषयतानिरूपितविषयितायाः सत्त्वेन तदनन्तरं 'अहं घटं साक्षात्करोमी'ति प्रतीतिं प्रति लौकिकविषयतानिरूपित-विषयितायाः नियामकत्वादिति प्रकृतापादनतात्पर्यम् ।

प्रकरणकारस्तदपहस्तयति - **तन्नेति** । **सन्निकर्षजन्यसंशयसाधारण्येन** = इन्द्रियसन्निकर्षजन्य-सन्देह-भ्रम-प्रमानुगतत्वेन, **लौकिकान्यविषयतायाः** = अलौकिकविषयतानिरूपितविषयितायाः, **'साक्षात्करोमी'तिधीप्रतिबन्धकताकल्पनेन तद्दोषानवकाशात्**

यह कहा जाय कि —> 'अन्य प्रत्यक्ष सिद्धि से अप्रतिबध्य होने पर भी अनुमितिस्वरूप मानस प्रत्यक्ष तो सिद्धि से प्रतिबध्य ही है - ऐसी कल्पना की जाती है, क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं है । अनुमितिभिन्नप्रत्यक्ष में सिद्धिप्रतिबध्यत्वाभाव की कल्पना करने से पुनः अनुमिति के उदय की आपत्ति को अवकाश नहीं है, क्योंकि वह सिद्धिप्रतिबध्यताकोटिप्रविष्ट है' <—- तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तो भी अनुमितित्व सांकर्य दोष की वजह जातिस्वरूप नहीं हो सकता है । आशय यह है कि नव्य नैयायिक अनुमितित्व को मानसत्वव्याप्य जातिविशेषरूप मानते हैं । जब किसीको 'सुखव्याप्यज्ञानवानहं' ऐसा परामर्श होता है तब उसके अनन्तर 'अहं सुखवान्' ऐसा सुख का अनुमितिरूप मानस प्रत्यक्ष होता है । 'अहं सुखी' इत्याकारक, बिना परामर्श के होनेवाले, मानस प्रत्यक्ष में विजातीय आत्ममनःसंयोग की जन्यतावच्छेदक जाति रहती है मगर अनुमितित्व नहीं रहता है । 'अग्निमान् पर्वतः' इस परामर्शोत्तर बुद्धि में अनुमितित्व रहता है मगर विजातीय आत्ममनःसंयोग की कार्यतावच्छेदक जाति नहीं रहती है, क्योंकि तादृश आत्ममनःसंयोग से वह जन्य नहीं है । जब कि परामर्शउत्तरकालीन 'सुखवान् अहं' इस बुद्धि में अनुमितित्व भी रहता है और विजातीय आत्ममनःसंयोग की जन्यतावच्छेदक जाति भी रहती है । इस तरह संकर दोष की वजह अनुमितित्व मानसत्वव्याप्यजातिविशेषात्मक नहीं है तब सिद्धि के प्रतिबध्यतावच्छेदकविधया अनुमितित्व जाति का स्वीकार करना कैसे उचित होगा ? अतः अनुमितिप्रत्यक्ष को सिद्धि से प्रतिबध्य मानना भी असङ्गत है ।

❀ 'साक्षात्करोमि' प्रतीति का आपादन एवं निरास ❀

यत्तु । अन्य मनीषियों का यहाँ यह आक्षेप है कि —> ''आत्मा में 'सुखव्याप्यज्ञानवान् अहं' इत्याकारक परामर्श के बाद 'अहं सुखी' इत्याकारक जो अनुमिति होती है उसमें मनःस्वरूप इन्द्रिय के स्वसंयुक्तसमवेतत्वलक्षण सन्निकर्ष से नियम्य

रोमी'तिधीप्रतिबन्धकताकल्पनेन तद्दोषानवकाशात्, उपदर्शितानुमितौ लौकिकाऽलौकिकोभयविषयतायाः स्वीकारात् ।

लौकिकविषयतावन्निश्चयत्वेनैव 'साक्षात्करोमी'तिधीहेतुत्वम् । निश्चयत्वञ्च तदभावप्रकारकत्वानुमितित्वोभयाभाववत्त्वे सति तत्प्रकारकज्ञानत्वम् । अतो नाऽयं दोष इत्यपि कश्चित् ।

❋ जयलता ❋

= परामर्शजन्यायाः 'सुखवानात्मा' इत्यनुमितेरनन्तरं 'सुखित्वेनात्मानं साक्षात्करोमी'तिप्रतीतिप्रसङ्गलक्षणदोषस्याऽनवकाशात्, **उपदर्शितानुमितौ** = 'सुखवानात्मे'त्यनुमितौ, **लौकिकाऽलौकिकोभयविषयतायाः** = करणसन्निकर्षनियम्यलौकिकविषयता-तदनियम्याऽलौकिकविषयतानिरूपितविषयितयोः **स्वीकारात्** । यदि च लौकिकविषयतानिरूपितविषयितायाः 'साक्षात्करोमी'ति प्रतीतिं प्रति नियामकत्वमेव स्वीक्रियते न तु तां प्रति अलौकिकविषयतानिरूपितविषयितायाः प्रतिबन्धकत्वं तदा तु 'अयं पुरुषो न वा ?' इति संशयानन्तरमपि 'साक्षात्करोमी'ति धीप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वम् । अतः तदपाकरणकृते सन्निकर्षजन्यसन्देह 'साक्षात्करोमी'तिधीप्रतिबन्धकीभूता अलौकिकविषयतानिरूपितविषयिता कल्पनीयैव । विषयतया 'साक्षात्करोमी'तिबुद्धिं प्रति स्वरूपेण क्लृप्त-प्रतिबन्धकताकस्याऽलौकिकविषयत्वस्य 'सुखवानात्मा' इत्यनुमितावप्यङ्गीकारान्न 'साक्षात्करोमी'तिधीप्रसङ्गः तादृशानुमित्यनन्तरमिति तात्पर्यम् ।

'सुखवानात्मा' इत्यनुमित्यनन्तरं 'आत्मनि सुखं साक्षात्करोमि' इत्यनुव्यवसायनिराकरणाय प्रकरणकारः कस्यचिन्मतमुपदर्शयति - **लौकिकविषयतावन्निश्चयत्वेन** = लौकिकविषयतानिरूपितविषयिताविशिष्टनिश्चयत्वेन रूपेण एव **'साक्षात्करोमी'-तिधीहेतुत्वं** कल्प्यते । **न** चैवं तद्दोषतादवस्थ्यम्, 'सुखवानात्मे'त्यनुमितौ मनःसंयुक्तसमवेतत्वसन्निकर्षनियम्यलौकिकविषयतानिरूपितविषयितायाः तदभावाऽप्रकारकत्वविशिष्टप्रकारकज्ञानत्वलक्षणनिश्चयत्वस्य च सत्त्वादिति वाच्यम्, यतो **निश्चयत्वं च तदभावप्रकारकत्वाऽनुमितित्वोभयाभाववत्त्वे सति तत्प्रकारकज्ञानत्वं**मिति स्वीक्रियते । **अतो न अयं** = 'सुखवानात्मे'त्यनुमित्यनन्तरं 'आत्मनि सुखं साक्षात्करोमी'त्यनुव्यवसायलक्षणो दोषः, परामर्शजन्यायां 'सुखवानात्मे'ति बुद्धौ अनुमितित्वस्य सत्त्वेन

लौकिकविषयता से निरूपित विषयिता मुमकिन है, क्योंकि सुख तो मनसंयुक्त आत्मा में समवेत होता है । तब तो 'अयं घटः' इस चाक्षुष में लौकिकविषयतानिरूपित विषयिता होने की वजह तदनन्तर 'घटं साक्षात् करोमी'त्याकारक अनुव्यवसाय बुद्धि होती है ठीक वैसे ही 'सुखवानात्मा' इस अनुमिति के बाद 'आत्मनि सुखं, सुखित्वेनाऽऽत्मानं वा साक्षात्करोमि' इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक बुद्धि भी होने लगेगी'' <—किन्तु यह आक्षेप इसलिए निराधार है कि 'साक्षात्करोमि' ऐसी अनुव्यवसाय प्रतीति के प्रति लौकिकविषयता से भिन्न विषयता से निरूपित विषयिता प्रतिबन्धक होती है । अगर यह प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव मान्य न किया जाय तब तो 'अयं स्थाणुः वा पुरुषो वा ?' इत्याकारक चाक्षुष सन्देह के अनन्तर भी 'साक्षात्करोमि' इत्याकारक प्रतीति होने लगेगी, क्योंकि 'साक्षात्करोमि' इस प्रतीति की नियामक लौकिकविषयतानिरूपित विषयिता उस सन्देह में रहती है । दरअसल बात यह है कि इन्द्रियसन्निकर्षजन्य संशय के उत्तर काल में किसीको 'साक्षात्करोमि' ऐसी प्रतीति नहीं होती है । अतएव इन्द्रियसन्निकर्षजन्य शङ्का आदि में साधारण एक ऐसी अलौकिकविषयतानिरूपित विषयिता का स्वीकार करने की आवश्यकता है जो 'साक्षात्करोमि' इस प्रतीति का प्रतिबन्धक हो । तभी संशय के अनन्तर 'साक्षात्करोमि' इस प्रतीति का परिहार हो सकता है। 'साक्षात्करोमि' इस प्रतीति की प्रतिबन्धक अलौकिकविषयतानिरूपित विषयिता 'सुखवान् आत्मा' इस अनुमिति में भी रहती है, क्योंकि वह लौकिक एवं अलौकिक विषयता से निरूपित विषयिता का आश्रय है । इस तरह उक्त अनुमिति में प्रतिबन्धक होने की वजह 'साक्षात्करोमि' इस प्रतीति का तदनन्तर अवकाश नहीं है । यह प्रासङ्गिक निरूपण है ।

उपरु. । 'अहं सुखी' इस अनुमिति के अनन्तर 'आत्मनि सुखं साक्षात्करोमि' इस अनुव्यवसाय प्रतीति के निराकरणार्थ अन्य किसी विद्वान का यह वक्तव्य है कि —> ''साक्षात्करोमि' इत्याकारक अनुव्यवसाय बुद्धि के प्रति लौकिकविषयितावाला निश्चय ही हेतु है । जिस व्यवसाय में लौकिकविषयतानिरूपितविषयिताविशिष्ट निश्चयत्व रहता है उसके अनन्तर 'साक्षात्करोमि' ऐसी बुद्धि होती है । यहाँ कारणतावच्छेदकीभूत निश्चयत्व का शरीर केवल तदभावाऽप्रकारकत्वे सति तत्प्रकारकत्वस्वरूप नहीं है किन्तु विशेषणकुक्षि में अनुमितित्वाभाव का भी निवेश करना अभिमत है । तब निश्चयत्व का अर्थ होगा तदभावप्रकारकत्व एवं अनुमितित्व उभय के अभाव से विशिष्ट ऐसा तत्प्रकारकज्ञानत्व । 'अहं सुखी' इस अनुमिति में यद्यपि तदभावप्रकारकत्वाऽभावविशिष्ट तत्प्रकारकज्ञानत्व है मगर अनुमितित्व का अभाव नहीं होने से उपर्युक्त निश्चयत्व उसमें नहीं है । अतः उस अनुमिति में

आत्मनः शरीरानतिरेके संयोगस्य पृथक्प्रत्यासत्तित्वाकल्पनलाघवमपि वार्तम्, अखण्डाभावहेतुताया दूषितत्वात्, अन्यादृशहेतुताकल्पने गौरवात्, महत्त्वोद्भूतरूपयोः प्रत्यासत्तिमध्ये निवेशेन त्रुटिग्रहार्थं तत्स्वीकारावश्यकत्वादित्यन्यत्र विस्तरः ।

❀ जयलता ❀

सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन तदभावप्रकारकत्वाऽनुमितित्वोभयाभावविशिष्टतत्प्रकारकज्ञानत्वलक्षणं यन्निश्चयत्वं तस्य विरहात् । तत्र लौकिकविषयतानिरूपितविषयिताया: सत्त्वेऽपि निरुक्तनिश्चयत्वस्य विरहेण विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टकारणतावच्छेदकाभावाश्रयत्वान्न 'सुखवानात्मे'त्यनुमित्यनन्तरं 'आत्मनि सुखं साक्षात्करोमी'त्यनुव्यवसायप्रसङ्गः । न हि विशिष्टकारणतावच्छेदकविकलेन कार्यमुत्पादयितुं शक्यते । सन्निकर्षजसन्देहे सत्यपि 'साक्षात्करोमी'तिप्रतीतिरनुरोधान्निश्चयत्वोपादानम् ।

निश्चयत्वेऽनुमितित्वाऽभावघटितत्वस्याऽदृष्टचरत्वात्, विशेष्य-विशेषणभावे विनिगमनाविरहेणोभयविधकारणतास्वीकारे कारणतावच्छेदकशरीरगौरवात्, लाघवेन लौकिकान्यविषयताया एव तत्प्रतिबन्धकत्वकल्पनौचित्याच्च नेदं मतं समीचीनमिति प्रदर्शनाय कश्चिदित्यभिहितम् ।

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकरणकारः पुनर्नव्यनास्तिकमतव्युदासकृते आह - **आत्मनः शरीरानतिरेके** = कायाकारपरिणतभूतपञ्चकात्मकत्वे स्वीक्रियमाणे द्रव्यप्रत्यक्षमात्रवृत्तिजात्यवच्छिन्नं प्रति **संयोगस्य पृथक्प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनलाघवमपि** प्राग् नव्यनास्तिकप्रदर्शितं **वार्तं** = असारम्, यतः परमाणुघटितसन्निकर्षात् पृथ्वीत्वादिप्रत्यक्षनिवारणाय अयोग्यवृत्तिधर्माऽयोग्यसन्निकर्षाद्यभावकूटस्याऽखण्डाभावत्वेन तद्धेतुता न सम्भवति, उदासीनप्रवेशाऽप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहादित्याशयेन प्रकरणकृदाह - **अखण्डाभावहेतुतायाः** = अखण्डाभावत्वेन रूपेण कारणतायाः चित्ररूपवादस्थलेऽनेकशो **दूषितत्वात्** । **अन्यादृशहेतुताकल्पने** = द्रव्य - तत्समवेतप्रत्यक्षे महत्त्वोद्भूतरूपयोः समवाय - सामानाधिकरण्याभ्यां पृथक्कारणत्वस्वीकारे कारणतावच्छेदकधर्मशरीर **गौरवात्**, तदपेक्षया परमाणौ पृथिवीत्वादिग्रहवारणाय **महत्त्वोद्भूतरूपयोः प्रत्यासत्तिमध्यनिवेशेन** = द्रव्यतत्समवेतचाक्षुषकारणतावच्छेदकसन्निकर्षमध्ये प्रवेशेन **त्रुटिग्रहार्थं** = त्रसरेणुचाक्षुषोपपत्तये, **तत्स्वीकारावश्यकत्वात्** = चक्षुःसंयोगसन्निकर्षाभ्युपगमस्य क्लृप्तत्वात्, त्रुटिसमवायिनो द्व्यणुकस्य महत्त्वहीनत्वेन त्रुटौ स्वसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवेतत्वसम्बन्धेन चक्षुषोऽसत्त्वात् ।

लौकिकविषयतानिरूपितविषयिता होने पर भी तदनन्तर 'साक्षात्करोमि' इस बुद्धि की आपत्ति नहीं आयेगी । विशिष्ट कारणतावच्छेदक धर्म का विशेष्याभावप्रयुक्त अभाव होने पर उस कारण से कार्योत्पत्ति का आपादान शक्य नहीं है । इसलिए 'सुखव्याप्यज्ञानवानात्मा' इस परामर्श के अनन्तर होनेवाली 'सुखवान् आत्मा' इस अनुमिति के अनन्तर क्षण में 'सुखित्वेनाऽऽत्मानं साक्षात्करोमि' इत्याकारक अनुव्यवसाय बुद्धि की आपत्ति निरवकाश है' <—

आत्मनः । अन्य विद्वान का मत प्रदर्शित करने के बाद प्रकरणकार श्रीमद्जी पुनः नव्य नास्तिक के वक्तव्य की समालोचना करते हुए यह कहते हैं कि - नव्य नास्तिक ने पूर्व में जो कहा था कि —> 'अनुमिति को मानस प्रत्यक्ष मानने पर स्वसंयोग नामक पृथक् = स्वतंत्र प्रत्यक्षकारणतावच्छेदक प्रत्यासत्ति की कल्पना आवश्यक न होने से लाघव है' <— यह भी असंगत है, क्योंकि अखण्डाभाव की हेतुता पूर्व (चित्ररूपवादस्थल) में अनेकशः दूषित की गई है और अन्यविध हेतुता की कल्पना करने में महागौरव दोष उपस्थित होने से वह मान्य नहीं की जा सकती । आशय यह है कि स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्ध से चक्षु आदि को द्रव्य - तत्समवेत के साक्षात्कार का हेतु माना जाय तब तो परमाणुगत पृथ्वीत्वादि के साक्षात्कार की आपत्ति आती है । इसलिए पूर्वोक्त रीति से अयोग्यवृत्तिधर्माभाव अयोग्यसन्निकर्षादिअभाव आदि को कारण मानना नव्य नास्तिक मतानुसार आवश्यक बनता है । मगर तादृशाभावसमुदाय को अखण्डाभावस्वरूप से उसका कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि तादृश अखण्डाभाव की प्रतियोगिकुक्षि में उदासीन का प्रवेश किया जाय या नहीं ? इस विषय में कोई विनिगमक नहीं है । अतएव अखण्डभावत्वेन हेतुता का पहले खण्डन किया गया था । यदि इस आपत्ति के निवारणार्थ महत्त्व और उद्भूतरूप को द्रव्य-तत्समवेतप्रत्यक्ष के प्रति स्वतन्त्र कारण माना जाय तब तो गौरव दोष प्रसक्त होगा । इसकी अपेक्षा तो उचित यही है कि परमाणुवृत्ति पृथ्वीत्वआदि के चाक्षुष के परिहारार्थ महत्त्व और उद्भूतरूप का प्रत्यासत्तिशरीर में प्रवेश कर के स्वसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवेतत्व सम्बन्ध से चक्षु को द्रव्य - तत्समवेतविषयक चाक्षुष के प्रति कारण माना जाय तब परमाणुसमवेत पृथिवीत्व की चाक्षुषोत्पत्ति की कोई आपत्ति नहीं आयेगी । मगर तब त्रसरेणु का चाक्षुष प्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योंकि द्व्यणुक में महत्त्व नहीं होने से त्रसरेणु चक्षुःसंयुक्तमहत्समवेत नहीं है । अतएव त्रसरेणु के साथ चक्षु का स्वसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवेतत्वसम्बन्ध सम्भव नहीं

किञ्च, शरीरस्याऽऽत्मत्वे 'अहमात्मे'तिवद् 'अहं शरीरमि'तिप्रत्ययोऽपि प्रमा स्यात्, न स्याच्च 'अहमात्मवानि'तिवद् 'अहं शरीरवानि'ति अपि ।

दिक्कालयोरनतिरेके च न किञ्चिदनिष्टं नः, आकाशस्यैव दिक्त्वात्, उदयाचलादि-सन्निहितेन तेनैव प्राच्यादिव्यपदेशात् ।

❀ जयलता ❀

तदुक्तमाक्षेपपरिहारपूर्वं **तत्त्वचिन्तामणौ** 'ननु संयुक्तसमवायेनाऽवयविग्रहोऽस्तु न तु संयोगादिस्तत्र हेतुः, तस्य रूपादि-ग्रहे क्लृप्तत्वात् । न च लाघवात् संयोग एव तथा, तस्य कल्पनीयकारणत्वादिति **चेत्** ? न, आत्मग्रहे इन्द्रियसंयोगस्य कारणत्वादन्यत्रापि द्रव्यसाक्षात्कारत्वेन तथा कल्पनात् । **न च** (आत्ममानसत्वस्यैव मनःसंयोगकार्यतावच्छेदकत्वात्) बहिरिन्द्रिय-जद्रव्यग्रहेऽवयविग्रहे वा संयुक्तसमवायः कारणं; लाघवेन संयोगस्यैव कारणत्वेन कल्पनात्' (त.चिं.प्र.खण्डे सन्निकर्षवादः - पृ.५८८) इति । युक्तश्चैतत् स्वाऽवयवसंयोगाऽपेक्षया स्वसंयोगस्य लघुत्वेन हेतुत्वौचित्यात् । **न चैवं** परसमयप्रवेश इति **वाच्यम्,** नयान्तरेणाऽभिनिविष्टनयान्तरखण्डनस्यापि शास्त्रार्थत्वात्, 'दुष्टोऽप्यच्छेद्यो नाङ्घ्री दूषयेद् विषकण्टक' इतिन्यायादित्यादि स्वधिया विभावनीयं सुधीभिः ।

प्रकृत एव दोषान्तरमावेदयति - **किञ्चेति । शरीरस्य आत्मत्वे** = आत्मपदवाच्याऽभिन्नत्वे स्वीक्रियमाणे **'अहमात्मा' इतिवत् 'अहं शरीरमि'त्यपि प्रमा स्यात्,** आत्मशरीरपदयोरनर्थान्तरतास्वीकारात् । उपलक्षणात् 'अहं शरीरवान्' इतिवत् 'अहं आत्मवान्' इत्यपि प्रमा स्यात् । तथा **न स्याच्च 'अहमात्मवानि'तिवत् 'अहं शरीरवानि'त्यपि** । यथा 'अहमात्म-वानि'तिप्रतीतिर्न भवति तद्वदेव 'अहं शरीरवानि'ति प्रतीतिर्न स्यात् । भवति च 'अहं शरीरवानि'तिधीः । ततश्च तदन्यथाऽ-नुपपत्त्या शरीरात्मनोर्भेदः स्वीकर्तव्य एव । 'गुर्वी मे तनुः' इत्यादौ भेददर्शनादपि तयोर्भेदोऽभ्युपगन्तव्यः । **अनेन** 'अहं जाने' इत्यादेर्न भ्रान्तत्वं, 'अहं गुरुः' इत्यादेः भ्रान्तत्वमित्यत्र किं विनिगमकं ? इत्यपि **प्रत्याख्यातम्,** 'गुर्वी मे तनुः' इत्यादौ भेदोल्लेखायुक्ता तस्य भ्रान्तता 'अहं जाने' इत्यादौ तु बाधकानवतारादेवाऽभ्रान्तत्वम् । यद्यपि 'ममाऽऽत्मा' इत्यादावपि षष्ठीप्रयोगो दृश्यते तथापि गुरुत्वादावेवावच्छिन्नत्वव्यधिकरणत्वं, अन्यत्र क्लृप्तत्वात्, इदन्त्वसंवलितत्वाच्च, न तु ज्ञानादावित्यत्र तात्पर्यमिति व्यक्तमेव **स्याद्वादकल्पलतायाम्** ।

नूतननास्तिकमतनिराकरणे वक्तव्यदोषमाह - **दिक्कालयोः अनतिरेके** = द्रव्यान्तरत्वविरहे, **च न किञ्चिदनिष्टं नः** = स्याद्वादिनामस्माकम्, **आकाशस्यैव दिक्त्वात्** – दिक्त्वाभ्युपगमात् । **न** चातिरिक्तदिग्द्रव्यस्याऽसत्त्वे कथं प्राच्यादिव्यवहारो निर्वहेदिति **वाच्यम्, उदयाचलादिसन्निहितेन तेनैव** = आकाशेनैव, **प्राच्यादिव्यपदेशात्** = पूर्वादिव्यवहारोपपत्तेः, तदुक्तं

है । अतः त्रसरेणु के चाक्षुष की उत्पत्ति के लिए संयोग को स्वतन्त्र सन्निकर्ष मानना आवश्यक है । इसलिए आत्मशरीरवादी नव्यनास्तिक का यह वक्तव्य कि –> 'हमारे मत में संयोग को पृथक् द्रव्यप्रत्यक्षकारणतावच्छेदक सम्बन्ध मानने की आवश्यकता न होने से लाघव है' <– नितान्त तथ्यहीन है - ऐसा सिद्ध होता है । इस विषय का विस्तार अन्यत्र प्राप्य होने से प्रकरणकार ने यहाँ इस विषय का विस्तार से निरूपण नहीं किया है । (देखिये, दिव्यदर्शनट्रस्ट प्रकाशित न्यायालोक सटीक सविवरण)

किञ्च.। इसके अतिरिक्त नव्य नास्तिक के मत में दोष यह है कि 'अहं आत्मा' यह प्रतीति जैसे प्रमा है ठीक वैसे ही 'अहं शरीरं' यह प्रतीति भी प्रमात्मक हो जायेगी, क्योंकि आत्मा और शरीर उनके मतानुसार अभिन्न है । अतः आत्मा कहो या शरीर कहो -अर्थ में तो कोई फर्क नहीं है । तथा जैसे सब लोगों को 'अहं आत्मवान्' ऐसी प्रतीति नहीं होती है ठीक वैसे ही 'अहं शरीरवान्' = 'मैं शरीरवाला हूँ' यह प्रतीति भी नहीं हो सकेगी, क्योंकि आत्मा शरीर से अतिरिक्तरूप से उन्हें अमान्य है । आत्मा को शरीरात्मक मानने पर जिस प्रतीति में आत्मा का भान होता है उस प्रतीति में आत्मा के स्थान में शरीर का उल्लेख होने पर उस प्रतीति को अमान्य नहीं किया जा सकता है । एवं जिस प्रतीति में आत्मा का अवगाहन नहीं होता है उस प्रतीति में आत्मा के स्थान में शरीर की उपस्थिति का इनकार नहीं किया जा सकता । उपर्युक्त दोषों के सबब आत्मा को शरीरात्मक = शरीराऽभिन्न नहीं मानी जा सकती । नव्यनास्तिकों ने पूर्व (पृष्ठ ६४५) में जो कहा था कि 'दिशा एवं काल नामक अतिरिक्त तत्त्व नहीं है' वह तो हमारे मत में दोषावह नहीं है, क्योंकि हम स्याद्वादी भी दिशा को आकाशात्मक ही मानते हैं, न कि अतिरिक्त द्रव्यस्वरूप । यद्यपि आकाश एक ही है और दिशा तो पूर्व, पश्चिम आदि भेद से अनेकविध है तथापि 'यह पूर्व दिशा है', 'यह पश्चिम दिशा है' इत्यादि व्यपदेश = व्यवहार की असङ्गति की आपत्ति नहीं है, क्योंकि उदयाचल के सन्निहित आकाश में पूर्वदिशा, अस्ताचलावच्छिन्न आकाश में पश्चिम दिशा, मेरुपर्वतसमीप आकाश में उत्तर दिशा इत्यादि व्यवहार हो सकता है ।

नन्वेवमुदयाचलादिसन्निहितधर्मास्तिकायादेरपि कुतो न दिक्त्वम् ? 'गत्यादिहेतुकत्वेन क्लृप्तात् ततः परत्वाऽपरत्वादिव्यवहारहेतुतया कल्प्यमाना दिगतिरिच्यते' इति चेत् ? तर्हि अवगाहनाहेतुत्वेन क्लृप्तादाकाशादपि सा कुतो नातिरिच्यते ? इति चेत् ? अत्र ब्रूमः

❀ **जयलता** ❀

स्याद्वादरत्नाकरे --> 'आकाशप्रदेशश्रेणिष्वेवादित्योदयादिवशात् प्राच्यादिव्यवहारोपपत्तेः । तथा चैषां न निर्हेतुकत्वं स्यात् । तथाभूतप्राच्यादिदिक्सम्बन्धाच्च मूर्तद्रव्येषु पूर्वापरादिप्रत्ययविशेषस्योत्पत्तेर्न परस्परापेक्षया मूर्तद्रव्याण्येव तद्धेतवो येनैकतरस्य पूर्वत्वासिद्धिः तदसिद्धौ चैकतरस्य पूर्वत्वा(?अपरत्वा)सिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वेन पूर्वापरप्रत्ययाभावः स्यात् । **ननु** मूर्तद्रव्येषु पूर्वादिप्रत्ययस्याकाशप्रदेशश्रेणिहेतुत्वे आकाशप्रदेशश्रेणिष्वपि तत्प्रत्ययस्य किं हेतुत्वं स्यादिति **चेत्** ? स्वरूपहेतुत्वमेवेति ब्रूमः । तत्प्रदेशपङ्क्तेः स्वपररूपयोः पूर्वापरादिप्रत्ययहेतुत्वस्वभावत्वात् प्रकाशस्य स्वपररूपयोः प्रकाशहेतुस्वरूपवत्' <-- (प्र.न.त. परि.५/सू.८.स्या.र.पृ.८५८) इति ।

तत्त्वार्थसिद्धसेनीयवृत्तावपि - 'आकाशप्रदेशा एव विशिष्टरचनाभाजो दिग्व्यपदेशमवरुध्यन्ति, न च तद्व्यतिरेकेण तत्स्वरूपोपलब्धिर्दिशामस्तीति' (त.सू.५/३.सि.वृ.) इत्युक्तम् । **अकलङ्कदेवोऽपि तत्त्वार्थराजवार्तिके** ''दिशोऽप्याकाशेऽन्तर्भावः आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपङ्क्तिषु 'इत इदमि'ति व्यवहारोपपत्तेः'' (त.रा.वा. ५/३/८) इत्युक्तवान् । **एतेन** दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते ॥४६॥ इति **कारिकावलीकार**वचनं **प्रत्याख्यातम्** । तदुक्तं **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके**ऽपि 'आकाशप्रदेशश्रेणिः दिक्, न पुनर्द्रव्यान्तरम्' (त.श्लो.७.२१) ।

प्रतिबन्द्या पूर्वपक्षयति - **नन्विति** । एवं = अवश्यक्लृप्तद्रव्येणैव प्राच्यादिव्यपदेशोपपादनेऽभिमते सति, **उदयाचलादिसन्निहित-धर्मास्तिकायादेरपि कुतो न दिक्त्वं** स्यात् ? येनोदयाचलादिसन्निहितस्याकाशस्यैव दिक्त्वमुक्तम् । क्लृप्तानां धर्माधर्माकाशास्तिकायादीनां विनिगमनाविरहेणाऽतिरिक्तं दिग्द्रव्यमभ्युपगन्तव्यमित्याक्षेपाशयः । ननु **गत्यादिहेतुत्वेन** = गति-स्थित्यादिकारणत्वेन **क्लृप्तात्** = प्रमाणसिद्धात् **ततः** = तस्मात् धर्मास्तिकायादेः **परत्वापरत्वादिव्यवहारहेतुतया** = दैशिक-परत्वापरत्वादिप्रकारकधी-शब्दव्यवहारकारणतया, **कल्प्यमाना** = अनुमीयमाना **दिगतिरिच्यते** इति । गत्यादिहेतुत्वेन सिद्धात् धर्मादेः परत्वादिव्यवहारनिर्वाहाऽसम्भवात् दिक् ततोऽतिरिक्तेत्याशयः शङ्काकृतः । प्रतिबन्द्या समाधत्ते - **तर्हि** = गतिप्रभृति-हेतुत्वसिद्धधर्मादितो दिशोऽतिरिक्तत्वसाधने **अवगाहनाहेतुत्वेन क्लृप्तात्** = सिद्धात्, **आकाशादपि** परत्वापरत्वादिधी-व्यवहारहेतुत्वेन कल्प्यमाना **सा** = दिक् **कुतः नातिरिच्यते,** आक्षेप-परिहारयोः तुल्ययोगक्षेमत्वात् परत्वापरत्वादिधी-व्यवहारहेतुत्वेनाऽनुमीयमाना दिग् यथा गत्यादिहेतुत्वेन सिद्धात् धर्मादितो व्यतिरिच्यते तथाऽवगाहनाहेतुत्वेन सिद्धादाकाशादप्य-तिरिच्यते । इत्थञ्च क्लृप्तानां विनिगमनाविरहेणाऽतिरिक्तदिग्द्रव्यसिद्धिरिति तन्त्राशयः ।

उत्तरपक्षयति - **अत्र ब्रूम** इति । अतिरिक्ताकाशसाधनघटकीभूता **अवगाहना हि न संयोगदानं** = संयोगदातृत्वं संयोग-

पूर्वपक्षः:- नन्वे.। उदयाचल आदि सन्निहित आकाश ही दिशा है, न कि उदयाचल आदि सन्निहित धर्मास्तिकाय आदि - इस विषय में कोई विनिगमक नहीं होने से आकाश की भाँति धर्मास्तिकाय आदि स्वरूप दिशाद्रव्य का स्वीकार करना पड़ेगा । मतलब कि स्याद्वादी ने जैसे दिशा पदार्थ को आकाशस्वरूप माना है ठीक वैसे ही धर्मास्तिकाय आदिस्वरूप भी माना होगा । यहाँ इस कथन से कि --> 'धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य तो गति आदि में हेतु होता है । जब कि दिशा तो परत्व, अपरत्व आदि व्यवहार का हेतु है । इसलिए गति, स्थिति के हेतुविधया आवश्यक धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय से परत्व, अपरत्व आदि व्यवहार की हेतुता सम्भवित नहीं हो सकती । इसलिए धर्मास्तिकाय या अधर्मास्तिकायस्वरूप दिशा नहीं है' <-- भी स्याद्वादी को बचाव न मिलेगा, क्योंकि तब तो तुल्य युक्ति से यह भी कहा जा सकता है कि आकाशद्रव्य तो अवगाहना का हेतु होता है । अवगाहना के कारणविधया कल्प्यमान आकाश से परत्व, अपरत्व आदि व्यवहार की हेतुता सम्भवित हो सकती नहीं है । इसलिए परत्वाऽपरत्वादिव्यवहार के जनकरूप से दिशा भी आकाशस्वरूप न हो कर अतिरिक्त द्रव्यविधया सिद्ध हो सकती है । अतः जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश आदि स्वतन्त्र द्रव्यरूप से जैनदर्शन में स्वीकृत है, ठीक वैसे ही दिशा का भी स्वतन्त्रद्रव्यविधया स्वीकार करना न्यायप्राप्त है ।

❀ अवगाहना स्वरूप विचार ❀

उत्तरपक्षः:- अत्र ब्रूमः। 'आकाश अवगाहनाहेतुरूप से सिद्ध होने की वजह दिशा आकाशस्वरूप नहीं बन सकती'

अवगाहना हि न संयोगदानं उपग्रहो वा, अन्यसाधारणत्वात्, किन्तु आधारत्वपर्यायः । तथा च 'इह विहग' इत्यादौ सम्बन्धघटकतया सिद्ध्यन्नाकाशः परमार्थतो दिगेवेति तत्त्वम् । कालश्च जीवाऽजीवयोर्वर्तनापर्याय एवेति न तस्याप्याधिक्यमभिमतम् ।

❀ जयलता ❀

हेतुत्वं वा सम्भवति पटादावपि गतत्वेन **अन्यसाधारणत्वात्** । नाऽपि सा **उपग्रहः** सम्भवति जीवादावपि गतत्वेन **अन्यसाधारणत्वात्** । अन्यसाधारणकार्यहेतुत्वेनाऽतिरिक्तद्रव्यसिद्धिर्न सम्भवति, अतिप्रसङ्गात् । किन्तु अवगाहना हि **आधारत्वपर्यायः** । आकाशस्य स्वमते सर्वाधारत्वात् । यत्तु **कान्ट-हेगलादिभिः** स्वतन्त्रं गगनद्रव्यं नास्तीति गदितं तत्तु **रसेल-जेकोबि-बुलरप्रभृतिभिरेवातिरिक्ताकाशस्वीकर्तृभिर्निरस्तमिति** नो न तत्र यत्नः । इत्थञ्च आधारत्वपर्यायहेतुत्वेन सिद्धादाकाशादेव 'इह पतत्री'त्यादिधीव्यवहारोपपत्तौ नातिरिक्तं दिग्द्रव्यं कल्पयितुमर्हतीत्याशयेनाह - **तथा च 'इह विहग' इत्यादौ सम्बन्धघटकतया सिद्ध्यन् आकाशः परमार्थतो दिगेव** । ततश्च दिगाकाशयोरभेद एव **इति तत्त्वम्** । **न च** 'इह' इत्यालोकमण्डलमेव प्रतीयत **इति वाच्यम्**, तदालोकव्यक्तेरन्यत्र गतावपि तद्दर्शनात् । **न चालोकान्तरं** तद्विषय इति **वक्तव्यम्**, 'तत्रैव' इति प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तेः । **न चालोकत्वेनैव** तदाधारत्वाभ्युपगमान्नानुपपत्तिरिति **वाच्यम्**, आलोकविरहेऽपि 'तत्रैव' इतिप्रत्यभिज्ञानात् । न च मूर्तद्रव्यस्याधारत्वेन तदुपपत्तिः मत्यालोके तदभावात् देशविशेषमवच्छेदकं प्रतीत्यैव 'इह विहग' इतिप्रयोगाच्च । ततश्च 'इह विहग' इत्यत्रैत-द्देशावच्छिन्नाकाशनिष्ठाधारतानिरूपिताधेयतावान् विहगः' यद्वा 'स्वावच्छिन्नाकाशनिष्ठाधारतानिरूपिताधेयतावत्त्वसम्बन्धेनैतद्देशवान् विहगः'इत्येव स्वारसिकः बोधः । सम्बन्धघटकश्चाकाशो दिक्त्वेन व्यवह्रियतामिति स्याद्वादिनामाशयः ।

तथापि कालोऽतिरिच्येतेति शङ्कायामाह - **कालश्च जीवाजीवयोः वर्तनापर्याय एव** न तु वर्तनापर्यायाश्रयो वर्तनापर्याया-तिरिक्तः कश्चिदिति **न तस्य** = कालस्य **अपि आधिक्यं** स्याद्वादिनामस्माकं **अभिमतम्** । वर्तना नाम प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्णी-तैकसमया स्वसत्तानुभूतिः 'अन्तर्णीतैकसमयः स्वसत्तानुभवोऽभिधा । यः प्रतिद्रव्यपर्यायं वर्तना सेह कीर्त्यते ॥' इतिवचनात् । न च साऽतिरिक्ता किन्तु जीवाजीवपर्यायात्मिकैव, पर्यायश्च न पर्यायिणः सर्वथा पृथक् । ततश्च जीवाजीवयोरेव कालत्वमिति तात्पर्यम् । इदमेवाभिप्रेत्य **जीवाभिगमादौ** 'से किं भयवं कालोत्ति पवुच्चइ ? गोयमा ! जीवा चेव अजीवा चेव कालो त्ति पवुच्चइ' (जीवा.) इति परमेश्वरेण प्रोक्तम् । युक्तञ्चैतत् - तर्जनीनिष्ठस्य ह्रस्वत्वस्य अनामिकापेक्षत्ववत् घटादिनिष्ठस्य वर्तना-पर्यायस्य वर्तमानसूर्यक्रियासापेक्षत्वात् । तत एव 'इदानीं घटः' इति धीव्यवहारोपपत्तेः न स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायलक्षणपरम्परा-सम्बन्धघटकविधया कालसिद्धिः । समयक्षेत्रस्थसूर्यक्रियापेक्षयैव तद्बहिःपरत्वादिव्यवहारस्य तत्र तत्र प्रसिद्धत्वात् । **भासर्वज्ञ-रघुनाथ-शिरोमणिप्रभृतीनां जर्मनजनपदीय-कान्टप्रमुखानाञ्च** दिक्कालयोर्द्रव्यान्तरत्वमनभिमतं किं पुनरस्माकं स्याद्वादिनाम् ?

- **ऐसा जो कथन अभी किया गया है** वह ठीक नहीं है, **क्योंकि अवगाहना** का अर्थ 'संयोग देना' यह नहीं है, क्योंकि वह तो घट-पट आदि में भी रहने से घट, पट आदि को आकाश कहने की आपत्ति आयेगी । अवगाहना का अर्थ उपग्रह यानी दूसरों पर उपकार करना-यह भी नहीं है, क्योंकि जीव भी दूसरों का उपग्रह करने से वह केवल आकाशद्रव्य का गुण न हो कर आकाश, जीव आदि का साधारण गुण हो जायेगा । अनेक द्रव्य में साधारण गुण से अतिरिक्त द्रव्य की सिद्धि नहीं हो सकती । अतः आकाश में अतिरिक्तद्रव्यत्व का साधक हेतुभूत जो अवगाहनापदार्थ है वह आधारतापर्यायस्वरूप है । आधारतापर्यायस्वरूप अवगाहना केवल आकाश का ही गुण है । इसीलिए तो 'इह विहगः' इत्यादि प्रतीति में सम्बन्ध के घटकविधया सिद्ध होनेवाला आकाशद्रव्य ही परमार्थ से दिशाद्रव्य है, क्योंकि आलोकमण्डल आदि को पक्षी का आधार नहीं माना जा सकता । 'इह' शब्द से आकाश का ही स्वीकार करना उचित है । अतः जन्य मूर्त पदार्थ के आधारविधया दिशा को मान्य करनेवाले नैयायिक आदि मनीषियों का मत भी निराकृत हो जाता है । जैसे दिशा जीवादि पांच द्रव्य से अतिरिक्त नहीं है ठीक वैसे ही काल भी पंचास्तिकाय से अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि काल तो जीव और अजीव द्रव्य के वर्तनापर्यायस्वरूप ही है । वर्तनापर्याय से अतिरिक्त एवं वर्तनापर्याय का आधारस्वरूप स्वतन्त्र कालद्रव्य हम स्याद्वादियों को मान्य नहीं होने से अतिरिक्त काल द्रव्य का प्रतिक्षेप करनेवाले नव्य नास्तिकों ने हमें सहायता ही की है । तदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं ।

❀ दिशा और काल स्वतन्त्र द्रव्य हैं - नैयायिक ❀

ननु 'प्राच्यां घटः' इत्यादावुदयाचलसंयोगादिरूपप्राच्यादेर्घटादिना साक्षात्सम्बन्धबाधात् तत्संयुक्तसंयोगादिरूपपरम्परासम्बन्धघटकतयैका विभ्वेव च दिक् सिध्यति, आकाशात्मनोरतिप्रसङ्गेन तत्सम्बन्धाऽघटकत्वात् । एवं कालोऽपि तपनपरिस्पन्दनियतसम्बन्धघटकत्वेन

❀ जयलता ❀

नैयायिकमतं दूषयितुमुपन्यस्यति - ननु इति मतेऽस्मिन्नाक्षेपे । 'प्राच्यां घटः' इत्यादौ ज्ञाने व्यवहारे च **उदयाचलसंयोगादिरूपप्राच्यादेः** व्यवहितत्वेन **घटादिना** सह **साक्षात्सम्बन्धबाधात्** परम्परासम्बन्ध एव कल्पनीय इति **तत्संयुक्तसंयोगादिरूपपरम्परासम्बन्धघटकतया** = स्वसंयुक्तसंयोगलक्षणपरम्परासंसर्गघटकविधया **एका विभ्वेव च दिक् सिध्यति** । स्वेन संयुक्तं दिग्द्रव्यं तत्संयुक्तश्च घटादिः । ततः स्वसंयुक्तसंयोगप्रत्यासत्त्या प्राच्यादिः घटादिना सम्बध्यते । दिग्द्रव्यं चेन्नैकं तर्हि विभिन्नद्रव्येषु तद्व्यवहारानुरोधादनेकद्रव्यकल्पनागौरवम्, तस्याऽसर्वगतत्वे युगपत्सन्निकृष्ट - विप्रकृष्ट-नानाद्रव्येषु तादृशधीव्यवहारानुपपत्तिरिति दिश एकत्वं विभुत्वञ्च धर्मिग्राहकमानसिद्धम् । **न च** स्वसंयुक्तसंयोगप्रत्यासत्तिघटकविधयाऽऽकाशस्यात्मनो वा स्वीकार उचितः कॢप्तत्वादिति वक्तव्यम्, **आकाशात्मनोः** निरुक्तप्रत्यासत्तिघटकविधयाऽङ्गीकारे **अतिप्रसङ्गेन** = अतिप्रसङ्गापातेन **तत्सम्बन्धाऽघटकत्वात्** । **एवं कालोऽपि** इति । 'इदानीं घटः' = 'अस्यां सूर्यक्रियायां घटः' इत्यत्र सूर्यपरिस्पन्दक्रियया साकं घटस्य साक्षात्सम्बन्धबाधात् स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायरूपपरम्परासम्बन्धघटकतयाऽतिरिक्तकालः सिध्यति, स्वेन = घटेन संयुक्तो यः कालः तत्संयुक्ते सूर्ये परिस्पन्दक्रियायाः समवेतत्वेन स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायसम्बन्धेन घटस्य सूर्यपरिस्पन्दक्रियावृत्तित्वं सिध्यति । एवं परत्वादि-धीव्यवहारहेतुत्वेनापि कालसिद्धिः द्रष्टव्या । यदि च स एको न स्यात्तर्हि नानाद्रव्येषु तादृशधीव्यवहारानुरोधेनाऽनन्तकालकल्पनापत्तिः । यदि च स सर्वव्यापी न स्यात्तर्हि दूरस्थ - समीपस्थनानाद्रव्येषु युगपत्तादृशधीव्यवहारानुपपत्तिरिति धर्मिग्राहकमानेनैव कालस्यैकत्वं विभुत्वञ्च सिध्यतीति यत्नुतात्पर्यम् ।

ननु । दिशा और काल को स्वतन्त्र द्रव्य माननेवाले नैयायिकों का यह मन्तव्य है कि —> ''लोगों को यह प्रतीति होती है कि 'प्राच्यां घटः' यानी 'घट पूर्व दिशा में है' । जैसे 'भूतले घटः' इस प्रतीति में घट के साथ भूतल का साक्षात् (संयोगनामक) सम्बन्ध होता है वैसे उपर्युक्त प्रतीति में प्राचीपदार्थ को उदयाचलसंयोगस्वरूप मानने पर घट के साथ उदयगिरि के संयोग का साक्षात्सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि उदयगिरि यहाँ से अपरिमित योजन दूर है और घट यहाँ है । बिना सम्बन्ध के तो आधाराधेयभावावगाही 'प्राच्यां घटः' ऐसी प्रतीति उपपन्न नहीं हो सकती है । अतः उदयाचलसंयुक्त व्यापक दिशा द्रव्य की कल्पना करनी होगी जो उदयगिरि और घट के साथ संयुक्त होने की वजह उदयपर्वत के साथ घट का स्वसंयुक्तसंयोगसम्बन्ध सम्भवित बनने से 'प्राच्यां घटः' इस प्रतीति की उपपत्ति हो सकती है । इस तरह 'प्राच्यां घटः' इस प्रतीति में स्वसंयुक्तसंयोगरूप परम्परासम्बन्ध के घटकविधया एक और विभु = सर्वव्यापी दिशाद्रव्य की सिद्धि होती है, क्योंकि आकाश या आत्मा को उक्त सम्बन्ध का घटक मानने पर अतिप्रसङ्ग दोष आने की वजह आकाश, आत्मा उस सम्बन्ध के घटक नहीं माने जा सकते हैं । जैसे दिशा स्वतन्त्र द्रव्य है ठीक वैसे ही काल भी एक अतिरिक्त विभु द्रव्य है, जिसकी सिद्धि इस तरह की जा सकती है कि 'इदानीं घटः = अस्यां सूर्यक्रियायां घटः'- 'सूर्य की अमुक क्रिया में घट है' इस प्रकार की बुद्धि का होना सर्वमान्य है । यह बुद्धि सूर्य क्रिया के साथ सम्बन्ध को विषय करती है । यह सुनिश्चित है कि सूर्यक्रिया के साथ दूरस्थ घट का कोई साक्षात् सम्बन्ध न होने से कोई परम्परासम्बन्ध ही मान्य करना पड़ेगा और वह तभी हो सकता है यदि सूर्य और घट को जोड़नेवाला कोई पदार्थ हो, जिसके द्वारा सूर्यक्रिया के साथ घट का स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायरूप परम्परासम्बन्ध बन सके । काल एक ऐसा व्यापक पदार्थ है जो एक ही समय सूर्य और घट दोनों के साथ संयुक्त होता है । फलतः घट से संयुक्त होता है काल और काल से संयुक्त होता है सूर्य और सूर्य का समवायसम्बन्ध होता है सूर्यक्रिया के साथ । इस तरह सूर्यपरिस्पन्दक्रिया के घटकविधया एक और व्यापक = विभु कालद्रव्य की सिद्धि होती है । यदि उसे एक न माना जाय तब विभिन्न देश में रहे हुए विभिन्न द्रव्यों में युगपत् 'इदानीं' इत्याकारक प्रतीति की उपपत्ति करने के लिए अनन्त द्रव्यों की गुरुतर कल्पना करनी होगी एवं यदि उसे विभु न माना जायगा तो विभिन्न देश में रहे हुए अनेक द्रव्यों के साथ उसका युगपत् संयोग न होने से उनमें एककालीन 'इदानीं' ऐसी प्रतीति न हो सकेगी । इस तरह एक, अतिरिक्त और विभु ऐसे दिशाद्रव्य एवं कालद्रव्य का स्वीकार करना आवश्यक है'' <—

आकाशातिरिक्त दिशाद्रव्य अनुपपन्न - स्याद्वादी

चैको विभुरेव सिध्यतीति, तन्न, दिशः सर्वथैकत्वे 'प्राच्यां घट' इतिवत् 'प्रतीच्यां घट'इत्यस्याप्यापत्तेः, एकस्या दिशोऽविशेषेणोदयाचलास्ताचलसम्बन्धकत्वात् ।

अथ धर्मिग्राहकमानेन स्वभावतस्तत्तद्दिशि तत्तत्पदार्थानामेव सम्बन्ध इति नातिप्रसङ्ग इति चेत् ? तर्हि आकाशस्यैव प्रतिनियतसम्बन्धघटकत्वं कुतो न कल्प्यते ? 'धर्मिकल्पनात'

❀ जयलता ❀

अत्र प्रकरणकारः प्राह - **तन्न** सम्यक्, **दिशः सर्वथैकत्वे** स्वीक्रियमाणे **'प्राच्यां घटः' इतिवत्** तदैव तत्रैव **'प्रतीच्यां घट' इत्यस्याप्यापत्तेः एकस्या** दिशोऽविशेषेण = समानरूपेण **उदयाचलास्ताचलसम्बन्धकत्वात्** = उदयगिर्यस्तगिरिसम्बद्धत्वात् । **एतेन** दिश एकत्वं **प्रत्युक्तम्** ।

अथ धर्मिग्राहकमानेन = दिग्द्रव्यलक्षणधर्मिसाधकप्रमाणेन **स्वभावतः** प्रदर्शितप्रतीतौ **तत्तद्दिशि तत्तत्पदार्थानामेव सम्बन्धो** भासते न तूदयाचलादिषु तत्तद्दिशः सम्बन्ध **इति नातिप्रसङ्गः** = तत्तत्पदार्थानामेकत्वविभुत्वयोरभावान्नाऽविशेषेण सर्वासु दिक्षु सम्बद्धत्वमिति 'प्राच्यां घट' इतिधीवत् न तदा 'प्रतीच्यां घट' इतिप्रतीतिप्रसङ्ग इति **चेत् ? तर्हि आकाशस्यैव प्रतिनियतसम्बन्धघटकत्वं कुतो न कल्प्यते? 'धर्मिकल्पनात' इत्यादिन्यायात्** = 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी'ति न्यायात् । त्वयाऽतिरिक्तं दिग्द्रव्यं कल्पनीयं तत्र च दिक्त्वं तत्समवाय एकत्वं विभुत्वं कल्पद्रव्यादिभेद इत्यादिकञ्च स्वीकर्तव्यं तदपेक्षया क्लृप्ते गगने एवं दिक्त्वं कल्प्यतां लाघवात् । 'सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः' इत्यादिवचनात् गगनप्रदेशाद्युपाधिनैव उदीच्यादिव्यवहारोपपत्तावतिरिक्तदिग्द्रव्यकल्पनया सृतं, गौरवात् अन्यथा देशद्रव्यस्याऽप्यतिरिक्तस्य कल्पनापत्तेः 'अयमतः पूर्वो देश' इत्यादिप्रत्ययस्याऽपि देशद्रव्यमन्तरेणानुपपत्तेः । **एतेन** 'यत्पुरुषस्योदयगिरिसन्निहिता या दिक् सा तत्पुरुषस्य प्राची, एवमुदयगिरिव्यवहिता या दिक् सा प्रतीची, एवं यत्पुरुषस्य सुमेरुसन्निहिता या दिक् सोदीची तद्व्यवहिता त्ववाची' (का.४७. मु.पृ.३७८) इति **मुक्तावलीकारवचनमपि परास्तम्,** आकाशप्रदेशस्यैवोपाधित्वेऽपि तदुपपत्तेः ।

वस्तुतः 'इतः प्राच्यामयं' इत्यादौ 'तदपेक्षया सन्निहितोदयाचलसंयोगावच्छिन्नाकाशवृत्तिरयमि'त्येव स्वारसिकोऽर्थः । ततश्च न दिशोऽतिरेकः । तदपेक्षत्वस्य सन्निहितत्वस्य च तथास्वभावविशेषत्वम् । **एतेन** —> 'तदपेक्षयोदयगिरिसन्निहितत्वञ्च तादृशोदयगिरिसंयुक्तसंयोगापेक्षयाऽल्पतरोदयगिरिसंयुक्तसंयोगवत्त्वम् । इत्थञ्च 'मथुरायाः प्राच्यः प्रयाग' इत्यत्र मथुरानिष्ठोदयगिरिसंयुक्तसंयोगपर्याप्तसंख्यान्यूनसंख्यापर्याप्त्यधिकरणोदयगिरिसंयुक्तसंयोगवन्मूर्तवृत्तिः प्रयाग इत्यन्वयबोधः' <— (मु.दि.पृ.३७०) इति **दिनकरीयकारवचनमप्यपास्तम्,** तथाऽननुभवात्, आगमानुभवाभ्यामाकाशस्यैव सर्वाधारत्वेन क्लृप्ततया दिक्त्वेन मूर्तस्यानाधारत्वाच्च ।

तन्न दि.। मगर विचार करने पर नैयायिक अभिमत आकाशातिरिक्त एक दिशाद्रव्य का स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि दिशा को सर्वथा एक अखण्ड मानने पर जैसे 'पूर्व में घट है' ऐसी प्रतीति होती है ठीक वैसे ही 'पश्चिम में घट है' ऐसी बुद्धि भी होने लगेगी, क्योंकि दिशा तो एक ही होने की वजह उदयाचल की भाँति अस्ताचल से भी समानरूप से सम्बद्ध है । दिशा का उदयाचल और अस्ताचल के साथ समानरूप से सम्बन्ध होने पर 'पूर्व में ही घट है, न कि पश्चिम में' इसकी अनुपपत्ति हो जायेगी । यदि इसके परिहारार्थ नैयायिक की ओर से कहा जाय कि —> 'दिशा तो वस्तुतः एक ही है मगर 'पूर्व में घट है' इत्यादि प्रतीति एवं व्यवहार में जिस सम्बन्ध का भान होता है वह तथास्वभाव से उदयाचलादि के साथ दिशा का सम्बन्ध नहीं मगर तत् तत् दिशा में तत् तत् पदार्थ का सम्बन्ध है, जो दिशास्वरूप धर्मी के ग्राहक = साधक प्रमाण से ही सिद्ध है । घटादि पदार्थ तो एक एवं व्यापक न होने से सब दिशा के साथ सम्बद्ध नहीं हो सकते हैं। अतः 'प्राच्यां घटः' इस प्रतीति की भाँति 'प्रतीच्यां घटः' इस बुद्धि का प्रसङ्ग नहीं आयेगा' <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसकी अपेक्षा तो प्रमाणसिद्ध उभयसम्मत आकाश का ही प्रतिनियतसम्बन्ध के घटकविधया स्वीकार करना उचित है, न कि अतिरिक्त एवं उभयाऽसम्मत दिशाद्रव्य का । इसका कारण यह है कि दिशात्मक अतिरिक्त धर्मी की कल्पना करना और उसमें दिक्त्व, एकत्व, विभुत्व आदि की कल्पना करना इसकी अपेक्षा 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी' यानी 'धर्मी की कल्पना की अपेक्षा धर्म की कल्पना अत्यन्त लघु है' इस न्याय से वादी - प्रतिवादी उभयसम्मत आकाश में ही दिक्त्व धर्म की कल्पना करना मुनासिब है । अतः लाघव सहकार से दिशा आकाशात्मक ही सिद्ध होगी, न कि अतिरिक्त ।

❀ दैशिकसम्बन्धवादी जल्पना का निराकरण ❀

इत्यादिन्यायात् । एतेन 'घटादिना सममुदयाचलादेः दैशिकसम्बन्ध एवैकः कल्प्यते समवायवत्, न तु दिग्द्रव्यं, एकाकारप्रतीतौ तद्घटितानेकपरम्परासम्बन्धावगाहित्वानौचित्यादि'ति नव्यमतमप्यपास्तम्, एवं सति मूर्तमात्रस्यैव दिक्त्वेन 'यस्यां दिशि घटः तस्यामेव पट' इतिप्रयोगानापत्तेः । तस्मात् प्राच्यादिविभागेन कथञ्चिद्विभिन्ना प्राच्यप्रतीच्योभयाधारत्वेन कथञ्चिदेका चाकाशात्मिकैव दिगिति ।

❀ नयलता ❀

एतेनेति अपास्तमित्यनेनान्वेति । **घटादिना समं उदयाचलादेः दैशिकसम्बन्धः** = दैशिकविशेषणताख्यः संसर्ग **एवैकः कल्प्यते** = अनुमीयते **समवायवत्** । यथा 'इह कपालेषु घटः' इतिप्रतीत्या घटकपालयोः समवायसम्बन्ध एव सिध्यति न तु तदतिरिक्तं द्रव्यं तद्वदेव 'प्राच्यां घटः' इत्यादिप्रतीत्या घटोदयाचलादेर्दैशिकविशेषणताभिधानः सम्बन्ध एव सिध्यति न तु अतिरिक्तं दिग्द्रव्यम् । यदि चातिरिक्तं दिग्द्रव्यं कल्प्येत तर्हि 'प्राच्यां घटः, प्राच्यां पटः प्राच्यां मठः' इत्याकारिकायां विशिष्टबुद्धौ स्वतन्त्रदिग्द्रव्यघटित-नानापरम्परासम्बन्धविषयकत्वकल्पनापत्तेः । **न चेष्टापत्तिः**, विशिष्टबुद्धित्वस्य विशेषण-विशेष्य-सम्बन्धगोचरत्वव्याप्यत्वादिति **वाच्यम्, एकाकारप्रतीतौ** = समानाकारकविशिष्टप्रतीतौ अनुगतैकसम्बन्धविषयकत्वसम्भवे **तद्घटितानेकपरम्परासम्बन्धावगाहित्वानौचित्यादिति नव्यमतमप्यपास्तम्** ।

निरुक्तनव्यमतापास्तत्वे हेतुमाह - **एवं सति** = घटादिना साकमुदयाचलादेः दैशिकसम्बन्धस्याऽखण्डस्यैव स्वीकारे सति, **मूर्तमात्रस्यैव** = केवलं मूर्तानामेव **दिक्त्वेन** = दिक्त्वप्राप्त्या, **'यस्यां दिशि घटस्तस्यामेव पट' इतिप्रयोगाऽनापत्तेः**, घटपटयोर्विभिन्नदेशावच्छेदेनाऽवस्थितत्वात् । समवायस्यैकत्वेऽपि समवायिकारणभेदात् 'यत्रैव घटः समवेतस्तत्रैव पटः' इति प्रयोगो भवितुं नार्हति तद्वदेव दैशिकसम्बन्धस्यैकत्वेऽपि स्ववृत्तितावच्छेदकदेशभेदात् 'यस्यां दिशि घटस्तस्यामेव पट' इतिप्रयोगोऽपि कर्तुं न युज्येत । न चैवमस्ति, अविगानेन बहुशः तदुपलम्भात् । तस्मात् स्वतन्त्रदैशिकसम्बन्धकल्पनापेक्षया **प्राच्यादिविभागेन कथञ्चिद्विभिन्ना प्राच्यप्रतीच्योभयाधारत्वेन** = प्राचीस्थ - प्रतीचीस्थपदार्थद्वयाधिकरणत्वेन **कथञ्चिदेका चाकाशात्मिकैव दिगिति** स्वीकर्तव्यम् । प्राच्यादिविभागेन तद्भेदानुपगमे 'प्राच्यां घट' इतिप्रतीतिवत् 'प्रतीच्यां घट' इत्यादिधीप्रसङ्गः । प्रतिप्रदेशं सर्वथा तद्भेदोपगमे तु 'यस्यां दिशि घटस्तस्यामेव पट' इति धीव्यवहारानुपपत्तिः । आकाशव्यतिरिक्तत्वे तु महागौरवमुक्तमेव । एवं नित्यानित्यत्व - सामान्यविशेषात्मकत्वाभिलाप्यत्वानभिलाप्यत्व - सत्त्वासत्त्वादियुगलवृन्दमपि दिशि समयानुसारेण परिभावनीयं सुधीभिः ।

यत्तु दीधितिकृता 'दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते मानाभावात्, तत्तत्कालोपाधि-दिगुपाधिविशिष्टादीश्वरादेव क्षण - दिन - प्राची - प्रतीचीत्यादिव्यवहारोपपत्तेरि'त्युक्तं, **तन्न** मनोहारि, ईश्वरस्य दिक्कालरूपत्वं तत्तज्जीवस्य वा ? इत्यत्राऽविनिगमात्, ईश्वरस्य प्राग् (पृष्ठ ४१०-४५१) निरस्तत्वाच्चेति दिक् ।

श्रेयसेऽस्तु महावीरो यत्कृपया समागतः । तर्कागमसुधोद्गारः कालदेशौ निरूपणे ॥७॥

एतेन.। इस विषय में नव्य विद्वानों का यह मन्तव्य है कि --> 'घटादि के साथ उदयाचल, अस्ताचल आदि के एक दैशिकसम्बन्ध की ही कल्पना की जाती है । जैसे गुण - गुणी, क्रिया - क्रियावान् आदि में एक अतिरिक्त समवाय नामक सम्बन्ध की कल्पना की जाती है ठीक वैसे ही यह भी सुज्ञेय है । अतः एक अतिरिक्त दिशाद्रव्य की कल्पना = अनुमिति करना ठीक नहीं है, क्योंकि तब 'पूर्व में घट है, पूर्व में पट है, पूर्व में मठ है' इत्यादि एकाकारावगाही प्रतीति में दिशाद्रव्य से घटित अनेक परम्परासम्बन्ध के अवगाहन की कल्पना करने का गौरव उपस्थित होगा, जो अनुचित है । इसलिए एक दैशिक सम्बन्ध की ही कल्पना करना ठीक है । इसलिए न तो दिशाद्रव्य आकाशात्मक है और न तो आकाशभिन्न स्वतन्त्र द्रव्य है, क्योंकि दोनों ही पक्ष में गौरव है' <-- मगर प्रकरणकार श्रीमद्जी यह कह कर उपर्युक्त मन्तव्य का निराकरण करते हैं कि दिशा को आकाशात्मक न मानने पर तो दिशा मूर्तमात्रस्वरूप बनने से 'जिस दिशा में घट है उसी दिशा में पट है' इत्यादि प्रसिद्ध प्रतीति अनुपपन्न बन जायेगी, क्योंकि घट और पट का आधार मूर्तदेश एक नहीं है, विभिन्न है । इस प्रतीति की अनुपपत्ति से पूर्व, पश्चिम आदि विभाग से कथञ्चित् भिन्न एवं पूर्वस्थित एवं पश्चिमस्थित उभय पदार्थ की आधारता की अपेक्षा कथञ्चित् एक दिशा का ही स्वीकार करना मुनासिब है; जो लाघव से आकाशात्मक ही सिद्ध होगी, न कि अतिरिक्त द्रव्यात्मक ।

इत्थञ्च शब्दगुणत्वेनाकाशासिद्धिरपि नास्माकं दोषाय, शब्दस्य द्रव्यत्वेनाभिमतत्वात् । तथा चार्षं - 'सद्दंधयारउज्जोआ पभा छाया तहेव य' त्ति (उत्त.२८/१२) । किञ्च, मूर्तत्वादपि शब्दस्य द्रव्यत्वमुपपत्तिमत् । न च मूर्तत्वमेव ध्वनेरसिद्धं, प्रतिघातविधायित्वादिभ्यस्तत्सिद्धेः । तदुक्तं 'प्रतिघातविधायित्वात् लोष्टुवन्मूर्तताध्वनेः । द्वारवातानुपाताच्च धूमवच्च परिस्फुटम् ॥ ( ) इति । न च तस्य गुणत्वेऽपि प्रतिघातजनकत्वं निराबाधम्, तस्य द्रव्यत्व एव तज्जन्यनोदनादिजन्यक्रिययाऽवयवविभागसम्भवात् ।

❋ जयलता ❋

इत्थञ्च = सर्वाधारत्वेनाऽऽकाशसिद्धौ च, शब्दगुणत्वेन = गुणात्मकशब्दसमवायिकारणत्वेन, आकाशाऽसिद्धिः = अतिरिक्तस्य गगनस्य असिद्धिः अपि न अस्माकं स्याद्वादिनां दोषाय । न च गुणात्मकशब्दाश्रयत्वेन कुतो नाकाशसिद्धिरभिमतेति वक्तव्यम्, शब्दस्य द्रव्यत्वेन अस्माकं स्याद्वादिनां अभिमतत्वात् । उत्तराध्ययनसंवादमाह - तथा चार्षं - 'सद्दंधयारउज्जोआ' इति । नहि केवलमागमस्याऽकिञ्चित्करत्वादुपायस्योपायान्तराऽदूषकत्वाच्चानुमानेनैतत्समर्थयति- किञ्चेति । मूर्तत्वादपीति । प्रयोगस्त्वेवं शब्दो द्रव्यं मूर्तत्वात्, घटवदिति । न च मूर्तत्वमेव ध्वनेरसिद्धमिति स्वरूपासिद्धिग्रस्तत्वं हेतोरिति वाच्यम्, प्रतिघातविधायित्वादिभ्यः तत्सिद्धेः = मूर्तत्वसिद्धेः, आदिपदेन द्वारवातानुविधायित्वाभिभवनीयत्वाभिभावुकत्वादीनां ग्रहणम् । अत्रैव प्राचां संवादमाह - तदुक्तं - प्रतिघातेति । प्रयोगा एवम् - शब्दो मूर्तः प्रतिघातविधायित्वात् कुड्याहतलेष्टुवत्, ध्वनिः द्रव्यं द्वारवातानुयायित्वात् धूमवत् इति । तदुक्तं तत्त्वार्थसिद्धसेनीयवृत्तावपि- 'शब्दः पुद्गलद्रव्यपरिणामः तत्परिणामता चास्य मूर्तत्वात्, मूर्तता च द्रव्यान्तरविक्रियापादनसामर्थ्यात् । दृष्टं हि तत्र श्रवणबधिरीकरणसामर्थ्यम् । इतश्च तस्य मूर्तत्वं, प्रतीपगा- मित्वात् पर्वतप्रतिहताश्मवत्, द्वारानुविधायित्वादातपवत्, संहारस्यगर्भत्वादगुरुधूपवत्, वायुना प्रेर्यमाणत्वात्तृणपर्णादिवत्, सर्व- दिग्ग्रहणत्वात् प्रदीपवत्, अभिभवनीयत्वात्तारासमूहवत्, अभिभावुकत्वात्सवितृमण्डलप्रकाशवत्, महता हि शब्देनाऽल्पोऽभिभूयते शब्दः' (त.सि.वृ.५/२४) इति ।

ननु विपक्षबाधकतर्कविरहात् 'शब्दो द्रव्यं प्रतिघातविधायित्वादि'त्यनुमानं न तस्य द्रव्यत्वसाधने प्रत्यलमित्याशङ्कायाम- पाकर्तुमुपक्रमते - न च तस्य = शब्दस्य गुणत्वे सति अपि प्रतिघातजनकत्वं निराबाधं स्यात्, यतः तस्य = शब्दस्य द्रव्यत्वे स्वीक्रियमाण एव तज्जन्यनोदनादिजन्यक्रियया = प्रतिघातजन्यनोदनाभिघातजन्यकर्मणा, अवयवविभागसम्भवात् ।

❋ शब्दद्रव्यत्वसिद्धि ❋

इत्थं । इस तरह सर्वाधारत्वेन आकाश द्रव्य की सिद्धि हो जाने से शब्दगुणत्वेन यानी शब्दात्मक गुण के हेतुस्वरूप से आकाश की सिद्धि न हो सके तो भी हम स्याद्वादी के मत में वह दोषात्मक नहीं है, क्योंकि शब्द को हम गुण ही नहीं मानते हैं । शब्द तो द्रव्यात्मक ही है। इस विषय में उत्तराध्ययन आगम का श्लोक भी साक्षी है, जिसका अर्थ है - 'शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया-ये सब पुद्गलात्मक हैं' । केवल आगम से ही नहीं, युक्ति से भी शब्द में द्रव्यात्मकता की सिद्धि होती है । अनुमानप्रयोग इस तरह किया जा सकता है कि - शब्दो द्रव्यं मूर्तत्वात् घटवत् । मूर्त होने की वजह शब्द द्रव्यात्मक ही है । यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि --> 'शब्द में मूर्तत्व ही असिद्ध है' <-- क्योंकि प्रतिघात होने की वजह वह मूर्त ही है । जैसे फेंका हुआ पत्थर आदि दीवार आदि से टकराकर वापस आते हैं, आगे नहीं जाते हैं; ठीक वैसे ही शब्द भी दीवार आदि के साथ टकराकर प्रतिध्वनि के रूप में उपलब्ध होता है, आगे नहीं जाता है । अतः वह भी मूर्त ही है । इसलिए तो अन्यत्र भी शब्द में मूर्तत्व की सिद्धि के लिए कहा गया है कि - 'ध्वनि मूर्त है, क्योंकि लेष्टु = शुष्क मृत्पिण्ड की भाँति वह प्रतिघातविधायी है । जैसे महानसादि का धूम महानसादि के द्वार के पवन के अनुसार गति करता है ठीक वैसे ही शब्द भी पवनानुसार गति करने की वजह धूम की भाँति मूर्त है । यहाँ इस प्रश्न का कि --> शब्द भले ही प्रतिघातजनक हो, मगर वह गुणात्मक हो और द्रव्यात्मक न हो तो क्या दोष है ?' <-- समाधान यह है कि शब्द में प्रतिघात उत्पन्न होने के बाद नोदन = शब्दाजनकसंयोग या अभिघात = शब्दजनकसंयोग की उत्पत्ति होती है, जो शब्द के अवयव में क्रिया को उत्पन्न करते हैं । उस क्रिया से शब्दावयव का विभाग होता है - यह सब तब संगत हो सकता है यदि शब्द द्रव्यस्वरूप ही हो, क्योंकि गुण का अवयव ही नहीं होने से गुणात्मक शब्द के अवयव में विभाग, संयोग, क्रिया का होना नामुमकिन है । इसलिए शब्द को गुणस्वरूप नहीं किन्तु द्रव्यात्मक ही मानना मुनासिब

अथ 'तद्धेतोरेवे'त्यादिन्यायात्तीव्रशब्दजनकतीव्रपवमानस्यैवाऽभिघातजनकत्वमस्त्विति चेत् ? न, अन्ततो विनिगमनाविरहेणाऽपि ध्वनेरभिघातजनकत्वसिद्धेः, पवमानस्यानीप्सितत्वाच्च । प्रतिस्खलनमप्यस्य नासिद्धम्, प्रतिस्खलितस्यैव विश्रेण्यां ग्रहणात्, तथा

जयलता

भित्त्यादिभिः सह शब्दस्य प्रतिघाते सति कदाचित् ततः शब्दाऽजनकत्वलक्षणो नोदनाख्यः संयोगो जायते कदाचिच्च शब्दजनकत्वलक्षणोऽभिघाताभिधानः संयोगः सञ्जायते । ततः संयोगाच्छब्दावयवेषु कर्म उत्पद्यते ततश्च शब्दावयवविभागो भवति । यदि च शब्दस्य द्रव्यत्वं न स्यात्तर्हीदं सर्वं विलूनशीर्णं स्यादिति तदन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य द्रव्यत्वं सिध्यतीति भावः ।

अथ **'तद्धेतोरेवे'त्यादिन्यायात्** = 'तद्धेतोरेव कार्यसम्भवे किं तेन ?' इति न्यायतः, **तीव्रशब्दजनकतीव्रपवमानस्य** = तीव्रनादिशब्दहेतोः तीव्रस्य मरुत **एव अभिघातजनकत्वं** = शब्दोत्पादकसंयोगकारणत्वं **अस्तु** । तीव्रस्य पवमानस्य तीव्रशब्दहेतुत्वं तीव्रशब्दस्य चाभिघातकारणत्वमित्येवं कल्पनापेक्षया लाघवगर्भितात् प्रोक्तन्यायात् तीव्रपवमानस्यैव शब्दाऽभिघाताश्रयजनकत्वमभ्युपगन्तुमर्हति । ततश्च शब्दे न प्रतिघातजनकत्वं किन्तु मरुत्येवेति न शब्दस्य द्रव्यत्वं सिध्यति, हेतोः स्वरूपासिद्धत्वादित्यथाशयः ।

प्रकरणकारस्तन्निराकुरुते - **नेति** । तीव्रशब्द-पवनयोरभिघातोत्पादाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन नियतवृत्तित्वात् शब्दस्य तत्कारणत्वमाहोस्वित् पवनस्य ? इत्यत्राऽविनिगमात् **अन्ततो गत्वा विनिगमनाविरहेणापि ध्वनेरभिघातजनकत्वसिद्धेः**, अन्यथा अर्धवैशसन्यायापातात् । सर्वत्र तीव्रशब्दोत्पादस्थले तीव्रस्य **पवमानस्य** = मरुतः तीव्रशब्दजनकत्वेन **अनीप्सितत्वाच्च** । तीव्रपवमानस्य तीव्रशब्द एवोपक्षीणशक्तिकत्वेनाऽभिघातं प्रत्यन्यथासिद्धत्वमेव । न हि तीव्रपवनजन्या भिन्नाः शब्दाः सूक्ष्मबहुलाश्यामन्यद्रव्यवासकत्वादनन्तगुणवृद्धियुक्ताः सन्तः षट्सु दिक्षु लोकान्तं यावदनुवन्तो यत्र यत्राऽभिघातं जनयन्ति तत्र तत्र तीव्रपवमानोऽवश्यं वर्तते । अतो न शब्दोत्तरकालीनाभिघातमात्रं प्रति तीव्रपवनस्य कारणत्वसम्भवः किन्तु शब्दस्यैवेत्यभिघातजनकत्वाच्छब्दस्य द्रव्यत्वमेव न तु गुणत्वमिति तात्पर्यार्थः ।

यच्च पूर्वं 'द्वारवातानुपाताच्च धूमवदि'त्युक्तं (पृष्ठ ६१०) तन्मनसिकृत्याह **प्रतिस्खलनमपि** = उपरमणं तत्फलभूतं वक्रीभवनमपि **अस्य** = शब्दस्य **नासिद्धं** = न बाधितम्, यतः **प्रतिस्खलितस्यैव** = समश्रेणिगमनं उपरतस्यैव, तदनन्तरं वक्रीभूतस्य वक्रमार्गं प्राप्तस्येति यावत्, एवकारेण समश्रेण्यां गतिशीलशब्दस्य व्यवच्छेदः कृतः, **विश्रेण्यां** = भाषाविषमक्षेत्रप्रदेशपङ्क्तौ, **ग्रहणात्** = श्रावणप्रत्यक्षविषयीकरणात् । यद्यपि कुड्यादिना स्थूलशब्दप्रतिस्खलनं प्रतिध्वन्यादितः सिद्धमेव तथापि प्रकृतवक्रतान्यथानुपपत्त्या प्रतिस्खलनमत्र प्राधान्येन द्वितीयादिसमयावच्छेदेन प्रथमसमयगतिश्रेण्यपेक्षया वक्रगमनात्मकं

है - यह सिद्ध होता है ।

शब्द अभिघातजनक है - स्याद्वादी

अथ त.। यहाँ यह शंका हो कि —> 'शब्द को अभिघातजनक मानने की अपेक्षा शब्द के जनक को ही अभिघातजनक मानने में लाघव है, क्योंकि 'तद्धेतोरेवास्तु किं तेन ?' यह न्याय उपर्युक्त कल्पना का समर्थन करता है । इस न्याय का अर्थ यह है कि किसी वस्तु में अन्य की कारणता मान कर अन्य को विवक्षित कार्य का कारण मानना हो तब प्रथम को ही विवक्षित कार्य का कारण मानना मुनासिब है । अतः प्रस्तुत में 'तीव्र बहता हुआ पवन तीव्र शब्द को उत्पन्न करता है और तीव्रशब्द अभिघात को उत्पन्न करता है' इस कल्पना की अपेक्षा उपर्युक्त न्याय से तीव्र बहते हुए पवन को ही अभिघात का जनक मानना उचित है । अतः शब्द में अभिघातजनकत्व न होने से द्रव्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है' <— तो यह इसलिए नामुनासिब है कि बहता हुआ पवन और शब्द दोनों ही अभिघात की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्ववर्ती होने से किसी एक में कारणता का स्वीकार कर के अन्य में कारणता का अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें कोई विनिगमक नहीं है । अतः विनिगमनाविरह से भी शब्द में अभिघातजनकत्व की सिद्धि अनिवार्य है । अभिघातजनकत्व की इस तरह शब्द में सिद्धि होने से उसके व्यापक द्रव्यत्व की भी शब्द में सिद्धि निराबाध होगी । इसके अतिरिक्त यह भी ध्यातव्य है कि सर्वत्र बहता हुआ पवन ही अभिघात को उत्पन्न करता है - यह अभिमत भी नहीं है । यहाँ यह शंका करना कि —> 'शब्द का प्रतिस्खलन हो तब उसमें प्रतिघातजनकत्व की सिद्धि हो सकती है, मगर शब्द की स्खलना ही असिद्ध है'

चार्षं - 'वीसेढी पुण सद्दं, सुणेइ नियमा पराघाए' (आ.नि.गा. ६) ति । तत्र शब्दान्तरोत्पत्तिकल्पने च गौरवम् ।

❋ जयलता ❋

व्याख्यानम् । इदमेव **आवश्यकनिर्युक्तिसंवादेन समर्थयति तथा चार्षमिति** । विश्रेणिस्थितः पुनः शब्दं शृणोति नियमात् पराघाते सतीत्यर्थः। **तत्र** = विश्रेण्यां **शब्दान्तरोत्पत्तिकल्पने** = सर्वथा भिन्नस्य शब्दस्योत्पादकल्पने **च गौरवमिति** । यथाऽऽनप्राणमनोवर्गणाप्रभृतिद्रव्याणि निसृष्टानि सन्ति प्रथमसमये षट्सु दिक्षु समश्रेणिं गच्छन्ति, द्वितीयसमये च तान्येव विश्रेणिमपि गच्छन्ति प्रतरं रचयन्ति न तु तद्व्यतिरिक्तान्येव तथैव भाषाद्रव्याणि निसृष्टानि सन्ति प्रतिसमयं षड्दिग्गामीनि प्रथमे समये षट्सु दिक्षु समश्रेणिं गच्छन्ति द्वितीयसमये च तान्येव विश्रेणिमपि गच्छन्ति प्रतरं रचयन्ति न तु तद्व्यतिरिक्तानि भाषाद्रव्याण्येव, आक्षेप-परिहारयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वात् । ततो विश्रेण्यां विग्रहमापन्नानि एव शब्दद्रव्याणि श्रूयन्ते न तु विश्रेण्यापन्नाऽऽपन्नलक्षणानि मिश्राणि शब्दद्रव्याणि । तादृशमिश्रभाषाद्रव्याणि तु भाषासमश्रेण्यामेव श्रूयन्ते, तत्रैवोभयविधभाषाद्रव्यसम्भवात् । ततः प्रतिस्खलनाच्छब्दस्य द्रव्यत्वमनपायमेव । इदञ्च यथाश्रुतग्रन्थानुरोधेन तदुपपत्त्यर्थं व्याख्यानम् । **श्रीहरिभद्रसूरिभिस्तु** 'भासासमसेढीओ सद्दं जं सुणइ मीसयं सुणई । वीसेढी पुण सद्दं सुणेइ नियमा पराघाए' ॥६॥ **इत्यावश्यकनिर्युक्तिगाथाव्याख्यानं** —> 'भाषासमश्रेणिव्यवस्थित इति शब्द्यतेऽनेनेति शब्दः = भाषात्वेन परिणतः पुद्गलराशिस्तं शब्दं यं पुरुषाद्यादिसम्बन्धिनं शृणोति गृह्णाति उपलभत इति पर्यायाः यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तं मिश्रं शृणोति । एतदुक्तं भवति - उत्सृष्टद्रव्यभाषितद्रव्यान्तरवासितशब्दद्रव्यमिश्रमिति । विश्रेणिं पुनः इत इति वर्तते । ततश्चायमर्थो भवति - विश्रेणिव्यवस्थितः पुनः श्रोता 'शब्दं' इति पुनः शब्दग्रहणं पराघातवासितद्रव्याणामपि तथाविधशब्दपरिणामख्यापनार्थं शृणोति नियमात् = नियमेन पराघाते सति यानि शब्दद्रव्याणि उत्सृष्टाभिघातवासितानि तान्येव न पुनरुत्सृष्टानीति भावार्थः । कुतः ? तेषामनुश्रेणिगमनात्, प्रतिघाताभावाच्चे'ति <— व्याख्यानम् । **प्रकृतप्रकरणकृतापि** च 'पराघातो नाम वासना भवति, स च विश्रेण्यामेकः = निसृष्टद्रव्याकरम्बितो भवति, निसृष्टानां भाषाद्रव्याणां सूक्ष्मतयाऽनुश्रेण्येव गमनात् 'जीव-सूक्ष्मपुद्गलयोरनुश्रेणि गतिः' इतिवचनात्, समायां = भाषकदिगपेक्षया प्रव्वरायां श्रेण्यां मिश्रः = निसृष्टद्रव्यकरम्बितो भवती' (भा.र.गा.१०) ति **भाषारहस्ये** निरूपितम् । तथापि प्रकृतप्रकरणे प्रौढिवादेनोक्तमिति प्रतिभाति तथैव च यथाश्रुतं समर्थितमस्माभिरिति द्रष्टव्यम् ।

यद्वा एवमपि व्याख्यान्तरेण प्रकृतग्रन्थोपपादनं सम्भवति । तथाहि - **प्रतिस्खलितस्य** = पराहतस्य एव **विश्रेण्यां** = भाषकदिगपेक्षया विषमक्षेत्रप्रदेशपङ्क्तौ, **ग्रहणात्** = श्रावणप्रत्यक्षविषयीकरणात् । **तथा चार्षं** 'वीसेढी पुण सद्दं सुणेइ नियमा पराघाए'त्ति । **न च** विश्रेण्यां सर्वथा भिन्न एव शब्द उत्पद्यत इति **वाच्यम्, तत्र** = विश्रेण्यां **शब्दान्तरोत्पत्तिकल्पने** = मौलशब्दात्सर्वथा भिन्नशब्दोत्पादाङ्गीकारे गौरवम्, परिणामभेदेऽपि रक्तादशायां घटस्येव परिणामिनस्तस्य सर्वथाऽभेदात् । मिश्राणां वासितानां च शब्दद्रव्याणां मौलशब्दपरिणामविशेषरूपत्वेन मौलशब्दभेदाभावात् । अत एवानुश्रेण्यां विश्रेण्यां वा मिश्राणामेव पराघातवासितानामेव च शब्दद्रव्याणां श्रवणाभ्युपगमेऽपि न क्षतिः । सम्प्रदायानुसारेणान्यदपि व्याख्यानं बहुश्रुतेभ्योऽवसेयं बुभुत्सुभिः ।

<— इसलिए असङ्गत है कि विश्रेणि = विदिशा में प्रतिस्खलित शब्द का ही ग्रहण = श्रावण प्रत्यक्ष होता है । इस विषय में आवश्यकनिर्युक्ति का वचन साक्षी है, जिसका अर्थ है - 'अवश्य पराघात होने पर ही विश्रेणि में शब्द सुनने में आता है' । यदि शब्द का स्खलन न माना जाय तब उत्पत्तिस्थान की समश्रेणि को छोड़ कर आगे विषम श्रेणि में शब्द का गमन ही कैसे होगा ? और यह नहीं होने पर उपर्युक्त आर्ष वचन की उपपत्ति कैसे हो सकेगी ? इसलिए शब्द में प्रतिस्खलन सिद्ध ही है । यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि —> 'विश्रेणि में नवीन शब्द की ही उत्पत्ति होती है, न कि मूल शब्द विदिशा में जाता है । अतः शब्द में प्रतिस्खलन = प्रतिघात असिद्ध है' <— क्योंकि विश्रेणि में शब्दान्तर की उत्पत्ति की कल्पना में गौरव है । इसकी अपेक्षा लाघव से यही मानना उचित है कि समश्रेणि में आगे बढ़ता हुआ शब्द ही विश्रेणि में जा कर अन्य भाषायोग्यस्कन्ध को वासित करता है, जो विश्रेणिस्थ श्रोता को सुनाई देते हैं । अतः शब्द में प्रतिघात एवं उसकी कारणता की सिद्धि निराबाध होने से उसके बल पर शब्द द्रव्यात्मक ही सिद्ध होगा, न कि गुणात्मक ।

शब्द को आकाशगुण मानने में गौरव

किञ्च शब्दस्याकाशगुणत्वे सर्वस्य सर्वशब्दग्रहणापत्तिः श्रोत्रसमवायाऽविशेषात् । तत्पुरुषीयकर्णशष्कुल्यवच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतायास्तत्पुरुषीयशब्दग्रहं प्रति नाना हेतुत्वकल्पने च गौरवात्, श्रोत्रसंयोगस्यैव शब्दप्रत्यासत्तित्वमुचितम् । अत एव च प्रत्यपादि परमर्षिणा 'पुट्ठं सुणेइ सद्दं' (आ.नि.५) इति ।

❀ जयलता ❀

शब्दस्य द्रव्यत्वं समर्थ्य तस्य गुणत्वे बाधकमाह - **किञ्चेति । शब्दस्य आकाशगुणत्वे** स्वीक्रियमाणे **सर्वस्य** जीवस्य **सर्वशब्दग्रहणापत्तिः** = यावच्छब्दगोचरश्रावणप्रत्यक्षप्रसङ्गः सर्वेषु **श्रोत्रसमवायाऽविशेषात्** गगनात्मकश्रोत्र - शब्दसमवाययोरेकत्वात् । **न च** विषयतासम्बन्धेन चैत्रीयं शब्दगोचरश्रावणप्रत्यक्षं प्रति चैत्रीयकर्णशष्कुल्यवच्छिन्नसमवायावच्छिन्नाधारता-निरूपिताधेयतासम्बन्धेन श्रोत्रस्य कारणत्वं यद्वा स्वसमवायेन श्रोत्रस्य स्वरूपसंसर्गेण चैत्रीयकर्णशष्कुल्यवच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतानिरूपिताधेयतायाश्च कारणत्वाभ्युपगमान्न मैत्रीयकर्णशष्कुल्यवच्छेदेन वर्तमानस्य शब्दस्य चैत्रादिना ग्रहणप्रसङ्गः तच्छब्दनिष्ठाधेयतानिरूपकाधारतायाः चैत्रीयादिकर्णशष्कुल्यवच्छिन्नसमवायसम्बन्धानवच्छिन्नत्वादिति वाच्यम्, **तत्पुरुषीयकर्णशष्कुल्यवच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतायाः** = तत्पुरुषसम्बन्धिकर्णशष्कुल्यवच्छिन्नेन समवायसंसर्गेणावच्छिन्नया = नियन्त्रितया आधारतया निरूपिताया आधेयतायाः **तत्पुरुषीयशब्दग्रहं** = तत्पुरुषसमवेतं शब्दगोचरश्रावणप्रत्यक्षं **प्रति नानाहेतुत्वकल्पने च गौरवात् । एतेन** शब्दनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन तत्पुरुषीयश्रावणं प्रति तत्पुरुषीयकर्णावच्छेद्यसमवायस्यैव सन्निकर्षविधया हेतुत्वस्वीकारेणोक्तदोषाभावात् शब्दस्येव तत्समवायस्यापि कर्णावच्छेद्यत्वस्वीकारात् अथवा केवलसमवाय एव सन्निकर्षः निरुक्तसम्बन्धेन तत्पुरुषीयश्रावणं प्रति तत्पुरुषीयकर्णावच्छेद्यशब्दस्य तादात्म्यसम्बन्धेन हेतुत्वस्वीकारेणैवानतिप्रसङ्गात्' (त.सं.नृ.पृ.२८१) इति **नृसिंहवचनं पराकृतम्,** शब्दत्वापेक्षया तत्पुरुषीयकर्णावच्छेद्यशब्दत्वस्य गुरुत्वात् । तर्हि कथं नियतशब्दप्रत्यक्षो-पपत्तिः ? इत्याशङ्कायामाह - **श्रोत्रसंयोगस्यैव शब्दप्रत्यासत्तित्वमुचितं,** न तु श्रोत्रसमवायस्य । **अत एव** = विषयतया शब्दप्रत्यक्षं प्रति स्वसंयोगसम्बन्धेन श्रोत्रस्य कारणत्वादेव **च प्रत्यपादि परमर्षिणा श्रीभद्रबाहुस्वामिना आवश्यकनिर्युक्तौ** 'पुट्ठं सुणेइ सद्दं' इति । व्याख्यातञ्चात्र 'स्पृष्टं इत्यालिङ्गितं तनौ रेणुवत् शृणोति गृह्णाति उपलभत इति पर्यायाः, कं ? शब्द्यतेऽनेनेति शब्दस्तं शब्दप्रायोग्यं द्रव्यसङ्घातम् । इदमत्र हृदयम् - तस्य सूक्ष्मत्वात् भावुकत्वात् प्रचुरद्रव्यरूपत्वात् श्रोत्रेन्द्रियस्य चान्येन्द्रियगणात्प्रायः पटुतरत्वात्स्पृष्टमात्रमेव शब्दद्रव्यनिवहं गृह्णाति' इत्येवं **श्रीयाकिनीमहत्तरासूनुभिः ।**

किञ्च श. । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि शब्द को आकाश का गुण माननेवाले नैयायिक आदि विद्वानों के मत में तो सभी को सभी शब्दों के श्रावण प्रत्यक्ष की आपत्ति आयेगी, क्योंकि सभी पुरुषों के आकाशात्मक श्रोत्र का समवाय सम्बन्ध सब शब्दों के साथ समान ही है। आकाश एक है, शब्द का समवाय भी एक है तब तो प्रत्येक शब्द में श्रोत्रसमवाय अविशेष होने से सभी को सभी शब्दों के श्रावण प्रत्यक्ष की आपत्ति अपरिहार्य है । यदि इसके समाधानार्थ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'हम तत् तत् पुरुष के शब्दप्रत्यक्ष के प्रति केवल समवाय को श्रावण कारणतावच्छेदक सम्बन्ध नहीं मानते हैं किन्तु तत् तत् पुरुषीय कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न ऐसे समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न आधारता से निरूपित आधेयता को ही श्रावण प्रत्यक्ष का कारणतावच्छेदकसंसर्ग मानते हैं । अतः जब चैत्र की कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश में शब्द होगा तब उस शब्द का मैत्रादि को श्रावण प्रत्यक्ष नहीं होगा किन्तु चैत्र को ही होगा, क्योंकि तब उस शब्द में रही हुई आधेयता की निरूपक आधारता मैत्रीयकर्णशष्कुली से अवच्छिन्न समवाय से अवच्छिन्न नहीं है किन्तु चैत्रीय कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न = विशिष्ट समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न = नियन्त्रित है । अतः शब्द को विभु आकाशद्रव्य का गुण मानने पर भी सभी पुरुषों को सभी शब्दों के श्रावण प्रत्यक्ष की आपत्ति का अवकाश नहीं है' <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तब अपरिमित पुरुषों के भिन्न भिन्न श्रावण प्रत्यक्ष के प्रति अनेक कारणतावच्छेदकसम्बन्ध की उपर्युक्त रीति से कल्पना करने का गौरव दोष उपस्थित होता है । इसकी अपेक्षा उचित तो यही है कि शब्दप्रत्यक्ष में श्रोत्रसंयोग को ही कारणतावच्छेदक सम्बन्ध माना जाय । मतलब कि विषयतासम्बन्ध से शब्दप्रत्यक्ष के प्रति स्वसंयोगसम्बन्ध से श्रोत्र कारण है - यही कार्यकारणभाव मानना मुनासिब है, जिसका शब्दद्रव्यवादी हम स्याद्वादी स्वीकार करते हैं । शब्द श्रोत्र से संयुक्त होने पर ही श्रावण प्रत्यक्ष का विषय होता है - इसलिए तो परमर्षि श्रीभद्रबाहुस्वामीजी ने भी आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है कि 'श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट शब्द को सुनती है' । स्पृष्ट का अर्थ है कर्णेन्द्रिय से संयुक्त । शब्द में श्रोत्र का संयोग रहने पर ही विषयतासम्बन्ध से उसमें श्रावण प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है - यह आर्षवचन का तात्पर्य है । यह युक्तिसङ्गत भी है, क्योंकि द्रव्यप्रत्यक्ष में क्लृप्त = सिद्ध संयोगसम्बन्ध

युक्तश्चैतत् समवाय-समवेतसमवाययोः प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनलाघवात् ।

विषयतया मूर्त्तप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति समवायेनोद्भूतरूपस्य हेतुत्वान्न संयोगेन शब्दग्रहः सम्भवतीति चेत् ? न, एतल्लाघवबलेनाऽपि द्रव्यचाक्षुषत्वस्यैवोद्भूतरूपकार्यतावच्छेदकत्वात् ।

जयलता

युक्तश्चैतत् = संयोगेन श्रोत्रस्य श्रावणप्रत्यक्षकारणत्वकल्पनम्, शब्द-शब्दत्वादिग्रहे **समवाय-समवेतसमवाययोः प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनलाघवादिति** । स्याद्वादिनये शब्दस्य द्रव्यत्वेन द्रव्यप्रत्यक्षं प्रति क्लृप्तसंयोगप्रत्यासत्त्यैव तद्ग्रहणोपपत्तिः द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षं प्रति क्लृप्तसंयुक्तसमवायप्रत्यासत्त्यैव च शब्दत्व-कत्वादिप्रत्यक्षसङ्गतिः, न तु शब्द-शब्दत्वादिप्रत्यक्षानुरोधेन पृथक्प्रत्यासत्तित्वकल्पनमावश्यकम् । नैयायिकादिनये तु शब्दस्याम्बरगुणत्वेन विषयतया शब्दसाक्षात्कारं प्रति श्रोत्रस्य स्वसमवायेन शब्दत्वादिप्रत्यक्षं प्रति च स्वसमवेतसमवायेन कारणत्वमङ्गीकर्तव्यमिति गौरवम् ।

ननु **विषयतया** = लौकिकविषयतासम्बन्धेन **मूर्त्तप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं** = मूर्त्तविषयकप्रत्यक्षमात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं **प्रति समवायेन उद्भूतरूपस्य हेतुत्वात्** = पृथक्कारणत्वात् शब्दे चोद्भूतरूपविरहात् **न संयोगेन** = श्रोत्रसंयोगप्रत्यासत्त्या, **शब्दग्रहः** = ध्वनिप्रत्यक्षं **सम्भवति** । एवं लौकिकविषयतासंसर्गेण मूर्त्तसमवेतविषयकप्रत्यक्षमात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं प्रति स्वसमवायि-समवेतत्वसम्बन्धेनोद्भूतरूपस्य कारणत्वान्न श्रोत्रसंयुक्तसमवायेन शब्दत्व-कत्वादिप्रत्यक्षं सम्भवति । आत्माऽऽत्मत्वादिप्रत्यक्षे व्यभिचारवारणाय 'मूर्त्ते'त्युपादानम् । ततः शब्द-शब्दत्वादिप्रत्यक्षानुरोधेन समवाय-समवेतसमवाययोः पृथक्प्रत्यासत्तित्वकल्पनमावश्यकमेव । तथा च न शब्दस्य द्रव्यत्वसिद्धिरिति नैयायिकाकूतम् ।

स्याद्वादी तन्निराकुरुते - नेति । **एतल्लाघवबलेन** = समवाय-समवेतसमवाययोः पृथक्प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनलाघवमहिम्ना, **अपि**शब्दात् मूर्त्तप्रत्यक्षत्व-भूतप्रत्यक्षत्वादिना विनिगमनाविरहोऽपि बोध्यः । विषयतया द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव समवायेनोद्भूतरूपस्य कारणत्वकल्पनेन **द्रव्यचाक्षुषत्वस्यैव उद्भूतरूपकार्यतावच्छेदकत्वात्** = उद्भूतरूपत्वावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नोद्भूतरूपनिष्ठकारणतानिरूपितलौकिकविषयतासम्बन्धावच्छिन्नकार्यतावच्छेदकत्वात्, एवकारेण मूर्त्तप्रत्यक्षत्वादेः व्यवच्छेदः कृतः । युक्तश्चैतत्, अन्यथा वायुस्पार्शनप्रत्यक्षानुपपत्तेः, 'शीतं वायुं स्पृशामी'त्याद्यनुव्यवसायादेरेव वायोः प्रत्यक्षत्वसाधकत्वात् । न चासौ भ्रमः, बाधकाभावादिति पूर्वमुक्तमेव । **एतेन** 'वायुर्बहिरिन्द्रियाऽप्रत्यक्षः नीरूपद्रव्यत्वादाकाशवदि' (त.चिं.प्र.ख.पृ.७४४)ति **तत्त्वचिन्तामणिकारोक्तं निराकृतम्** । **अत एव** शब्दात्मकं द्रव्यं किमुद्भूतरूपवत् उत तच्छून्यं ? आद्ये चक्षुर्ग्रहणयोग्यता स्यात् अन्त्ये बहिरिन्द्रियग्राह्यतानुपपत्तिः, बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षं प्रति उद्भूतरूपस्य कारणत्वात्, तत्र शब्दातिरिक्तत्वनिवेशे शब्दातिरिक्तत्व- बहिर्द्रव्यत्वादीनां विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेण कार्यकारणभावानन्त्यप्रसङ्गाच्च शब्दप्रत्यक्षे कारणान्तरकल्पने

से ही शब्द का एवं द्रव्यसमवेतविषयक प्रत्यक्ष में आवश्यक संयुक्तसमवायसम्बन्ध से ही शब्दत्व, कत्व आदि का श्रावण प्रत्यक्ष संभवित होने से शब्दप्रत्यक्ष के लिए श्रोत्रसमवाय एवं शब्दत्वादिप्रत्यक्ष के प्रति समवेतसमवायसम्बन्ध की कारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तिविधया कल्पना करने की आवश्यकता न होने से शब्दद्रव्यपक्ष में लाघव भी है ।

❀ उद्भूतरूप मूर्तप्रत्यक्ष का नहीं, द्रव्यचाक्षुष का कारण है - स्याद्वादी ❀

विषय. । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'विषयतासम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले मूर्तपदार्थविषयक प्रत्यक्ष के प्रति समवाय सम्बन्ध से उद्भूत रूप कारण होता है । मतलब कि उद्भूतरूपवाले मूर्त द्रव्य का ही प्रत्यक्ष हो सकता है । जिस मूर्त द्रव्य में उद्भूत रूप नहीं होता है उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है जैसे कि इन्द्रिय, पिशाच आदि । शब्द में उद्भूत रूप स्याद्वादी को भी मान्य नहीं है । अतएव संयोग सम्बन्ध से शब्द का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । कारणान्तरविरह में कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती । अतः श्रोत्रसमवाय को ही शब्दप्रत्यक्षकारणताअवच्छेदक सम्बन्ध मानना जरूरी है, न कि श्रोत्रसंयोग को । फलतः शब्द भी गुणात्मक सिद्ध हो जायेगा' <— तो यह इसलिए निराधार हो जाता है कि उद्भूत रूप मूर्तप्रत्यक्ष का कारण नहीं है किन्तु द्रव्यविषयक चाक्षुष का ही कारण है, क्योंकि द्रव्यचाक्षुषत्व ही उद्भूत रूप का कार्यता-अवच्छेदक धर्म होता है, न कि मूर्तप्रत्यक्षत्व । इसका निर्णायक तो शब्दद्रव्यपक्ष में समवाय एवं समवेतसमवाय दो प्रत्यासत्ति की कल्पना न करने का लाघव भी है । शब्द का जो प्रत्यक्ष होता है वह चाक्षुष नहीं अपितु श्रावण होता है । शब्दविषयक श्रावणप्रत्यक्ष तो उद्भूत रूप की कार्यताकोटि से बहिर्भूत है, क्योंकि उसमें उद्भूत रूप का कार्यताअवच्छेदक द्रव्यचाक्षुषत्व ही नहीं रहता है । अतः श्रोत्रसंयोग सम्बन्ध से ही शब्द का साक्षात्कार होगा, न कि श्रोत्रसमवाय से । इसलिए कारणतावच्छेदकीभूत

तथा च संयोगेनाऽपि शब्दस्य द्रव्यत्वसिद्धिः ।

*एतेन **शब्दस्य द्रव्यत्वेऽनन्तसंयोग-तत्प्रागभाव-प्रध्वंसादिकल्पनागौरवमित्यपि** निरस्तं, तस्य **फलमुखत्वेनाऽदोषत्वात्** ।*

*‘**श्रोत्रेन्द्रियव्यवस्थापकत्वेन शब्दस्याऽम्बरगुणत्वसिद्धि**’रित्यपि कश्चित्, **सोऽपि न***

❀ जयलता ❀

गौरवाच्चे' (मु.मं.पृ.३६५) ति **मुक्तावलीमञ्जूषाकारवचनमपि निरस्तम्,** प्रत्युत तन्मत एवातिरिक्तप्रत्यासत्तिकल्पना गौरवाच्च। वस्तुतस्तु मूर्तप्रत्यक्षत्वस्य कार्याऽकार्यवृत्तितया कार्यतानवच्छेदकत्वम्। मूर्तलौकिकप्रत्यक्षत्वापेक्षया च द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतया चाक्षुषत्वस्यैवोद्भूतरूपकार्यतावच्छेदकत्वौचित्यात् । उपसंहरति - **तथा च** = द्रव्यचाक्षुषत्वस्यैवोद्भूतरूपकार्यतावच्छेदकत्वसम्भवेन विषयतासम्बन्धेन शब्दप्रत्यक्षं प्रति स्वसंयोगेन श्रोत्रस्य कारणत्वाच्च, **संयोगेन** = शब्दसाक्षात्कारनिरूपितकारणतावच्छेदक-संयोगसम्बन्धाश्रयत्वेन, **अपि शब्दस्य द्रव्यत्वसिद्धिः** निरातङ्का वेदितव्या । **एतेन** शब्दोऽम्बरगुणः इति **प्रशस्तपादभाष्यवचनमपि निराकृतम्,** स्पर्शवत्त्वाऽल्पत्व- महत्त्वसम्बन्ध- वायुनिमित्तकप्रतिनिवर्तन-परत्वापरत्व - संयोग-विभाग-वेग-सङ्ख्या-क्रियादिमत्त्वस्याऽन्यथानुपपत्तेश्च । अधिकं तु मत्कृत**मोक्षरत्नातो**ऽवगन्तव्यम् ।

एतेन = शब्दस्य द्रव्यत्वे प्रमाणोपदर्शनेन, अस्य च निरस्तमित्यनेनान्वयः । **शब्दस्य द्रव्यत्वे** स्वीक्रियमाणे **अनन्तसंयोगतत्प्रागभावप्रध्वंसादिकल्पनागौरवं** = शब्दनिष्ठानन्तेन्द्रियादिसंयोग-तादृशसंयोगप्रागभाव-तादृशप्रागभावध्वंस-तादृशानन्तसंयोगध्वंस-समवायवृत्तिशब्दप्रतियोगिकत्व-क्लृप्तपदार्थभिन्नत्वादिकल्पनागौरवं **अपि निरस्तम्, तस्य** = तादृशानन्तसंयोगव्यक्ति-प्रभृतिकल्पनरूपगौरवज्ञानस्य, **फलमुखत्वेनाऽदोषत्वादिति** । फलं = विचारफलं = शब्दस्य द्रव्यत्वनिश्चयः, तन्मुखत्वेन = तदुत्तरकालीनत्वेनेत्यर्थः, फलं मुखं = पूर्वकालीनं यस्येति व्युत्पत्तेः । उत्तरकालीनगौरवज्ञानस्य स्वपूर्वकालिकनिश्चयाऽप्रतिबन्धकत्वेन अदोषत्वात् = निर्दोषत्वादित्यर्थः, अन्यथाऽद्वैतवादापत्तेरित्युक्तत्वात् । **एतेन** शब्दस्य सावयवत्वेऽनन्तावयवतन्नाशादिकल्पनागौरवादि' (मु.मं.पृ. ३६७)ति **मुक्तावलीमञ्जूषाकारोक्तिः प्रत्युक्ता**, प्रमाणप्रवृत्तिसमये सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातेन तस्याऽदोषत्वात् । अत एव ‘जन्यत्वे सत्यनेकद्रव्यसमवेतत्वाभावेन द्रव्यभिन्नत्वसाधनसम्भवाच्छब्दस्यानेकद्रव्यसमवेतत्वाभावश्च तदाश्रयानेकद्रव्यकल्पने गौरवप्रसङ्गादेव सिध्यति' (मु.मं.पृ. ३६६) इत्यपि **पद्माभिरामवचनं प्रत्याख्यातम्,** ततः कर्णबधिरीकरण-शिथिलकुड्यादिपातनाद्यन्यथानुपपत्तेस्तस्यानेकद्रव्यसमवेतत्वसिद्ध्या हेतोः स्वरूपाऽसिद्धत्वात् ।

श्रोत्रेन्द्रियव्यवस्थापकत्वेन = श्रोत्रस्येन्द्रियान्तरत्वसाधकेन **शब्दस्य** गुणत्वसिद्धौ पारिशेष्यन्यायेन **अम्बरगुणत्वसिद्धिः।** यदि शब्दस्य गुणत्वं न स्यात्, न स्यादेव तर्हि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशस्य श्रोत्रेन्द्रियत्वं, तत्रेन्द्रियान्तराऽग्राह्य-स्वग्राह्यगुणाभावात्, इन्द्रियान्तराऽग्राह्यगुणग्राहकत्वस्यैव भिन्नेन्द्रियत्वव्यवस्थापकत्वादित्यपि **कश्चित्** वदति, **सोऽपि न** विपश्चित्, यद्यपि व्याप्याभावस्य

संयोग सम्बन्ध का आश्रय होने से शब्द द्रव्यात्मक ही सिद्ध होता है, न कि गुणात्मक । संयोग गुणस्वरूप है और गुण केवल द्रव्य में ही रहता है । अतः **श्रोत्रसंयोग के आश्रय शब्द को गुण नहीं माना जा सकता किन्तु द्रव्यात्मक ही - यह सिद्ध होता है । इस तरह प्रमाण से शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि होने से —> 'शब्द को द्रव्य मानने पर उसके अनन्त संयोग, तादृशसंयोग के अनंत प्रागभाव एवं ध्वंसाभाव आदि की कल्पना करने का गौरव होगा' <— इत्यादि कथन भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि प्रमाण से शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि हो जाने के बाद उपर्युक्त गौरव की उपस्थिति होने से वह फलमुख होने से दोषरूप नहीं है ।** उत्तरकालीन गौरवज्ञान अपने **पूर्वकालीन** निश्चय का प्रतिबन्धक **नहीं हो सकता है, अन्यथा** दण्ड-चक्र-चीवर-कुलाल-कपाल आदि में भी घटकारणता का निश्चय नहीं हो सकेगा ।

❧ इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्व इन्द्रियान्तरत्वव्यवस्थापक - स्याद्वादी ❧

श्रोत्रे. । **अन्य नैयायिक विद्वान् का यह कथन है कि —> 'शब्द को द्रव्य मानने पर श्रोत्र में इन्द्रियत्व की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि अन्य इन्द्रिय से अग्राह्य गुण का ग्राहकत्व = ग्रहजनकत्व = प्रत्यक्षकारणत्व ही क्लृप्त इन्द्रिय से भिन्न इन्द्रियत्व का व्याप्य एवं व्यवस्थापक है । शब्द को गुण न माना जाय तब तो श्रोत्र में इन्द्रियान्तर से अग्राह्य गुण का ग्राहकत्व ही नहीं रहेगा । मगर श्रोत्र में इन्द्रियत्व तो उभयपक्षसंमत है । अतः श्रोत्र में इन्द्रियत्व के व्यवस्थापक भिन्नेन्द्रियाग्राह्य-गुणग्राहकत्व से श्रोत्रग्राह्य शब्द में गुणत्व की सिद्धि होती है । पृथ्वी आदि का तो शब्द गुण नहीं हो सकता । इसलिये पारिशेष्यन्याय से श्रावण प्रत्यक्ष के विषयीभूत शब्द में आकाशगुणत्व की सिद्धि होती है' <— मगर यह कथन इसलिए निराधार**

विपश्चित्, इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्वमेव भिन्नेन्द्रियत्वव्याप्यं, न तु गुणान्तर्भावेन गौरवादित्युक्तत्वात्, शब्दैकत्वादिग्रहस्याऽपि श्रोत्राधीनत्वाच्च ।

एतेन श्रोत्रेन्द्रियं द्रव्याग्राहकं रूपस्पर्शाऽग्राहकबहिरिन्द्रियत्वाद्रसनवदि'त्यपि निरस्तम्,

❀ जयलता ❀

न व्यापकाभावसाधकत्वं तथापि स्फुटत्वानदुपेक्ष्य दोषान्तरमाह **इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्वमेव** = इन्द्रियान्तराऽग्राह्यगोचरलौकिकप्रत्यक्षजनकतावच्छेदकमेव, **भिन्नेन्द्रियत्वव्याप्यं** = इन्द्रियान्तरत्वव्याप्यं, **न तु गुणान्तर्भावेन** इन्द्रियान्तराऽग्राह्यगुणग्राहकत्वं, **गौरवादिति** = शरीरकृतगौरवादिति **उक्तत्वात्** = 'लाघवादिन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्वमात्रस्यैव भिन्नेन्द्रियत्वव्यवस्थापकत्वादिति (दृश्यतां ३५२ तमे पृष्ठे) तमोद्रव्यत्ववादे तौतातिकैकदेशिमतनिरूपणावसरे गदितत्वात्, इन्द्रियान्तराग्राह्यगुणाग्राहकत्वत्वस्य गुरुतया हेतुतानवच्छेदकत्वेन व्याप्यत्वासिद्धिरिति भावः । न चैवं तामसेन्द्रियसिद्धिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, आलोकनिरपेक्षचक्षुषैव तमोग्रहसम्भवस्योक्तत्वात् । कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशस्य तु श्रोत्रेन्द्रियत्वं नैवास्माकमिष्टमित्यनभ्युपगतोपालम्भ इत्यपि द्रष्टव्यम् ।

अस्तु वेन्द्रियान्तराऽग्राह्यगुणग्राहकत्वस्येन्द्रियान्तरत्वव्याप्यत्वं तथापि श्रोत्रस्येन्द्रियान्तरत्वं सिध्यतीत्याशयेनाह - **शब्दैकत्वादिग्रहस्याऽपि श्रोत्राधीनत्वाच्च** । न हि शब्दवृत्त्येकत्वादिकं कर्णेतरेन्द्रियेण गृह्यते । ततश्चेन्द्रियान्तराऽग्राह्यस्य शब्दनिष्ठैकत्वादिगुणस्य ग्राहकत्वाच्छ्रोत्रस्येन्द्रियान्तरत्वमनाविलमेव । **न च** स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेनैवैकत्वं शब्दे भासत इति **वक्तव्यम्,** साक्षात्सम्बन्धसम्भवे परम्परासम्बन्धकल्पने गौरवात्, द्वित्व-बहुत्वादिप्रतीत्यनुपपत्तेश्च । **एतेना**पेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपैकत्वादिकल्पनाऽपि **प्रत्युक्ता,** घटादाविव निरुपचरितैकत्वादेरेव शब्दे प्रतीतेः ।

एतेन = श्रोत्रस्य एकत्वाद्याश्रयशब्दग्राहकत्वप्रतिपादनेन । निरस्तमित्यनेनाऽस्यान्वयः । **श्रोत्रेन्द्रियमिति** पक्ष-निर्देशः, **द्रव्याऽग्राहकमिति** । द्रव्यगोचरलौकिकप्रत्यक्षजनकत्वाभावः साध्यः । हेतुमाह **रूपस्पर्शाग्राहकबहिरिन्द्रियत्वात्** । इन्द्रियत्वादित्युक्ते मनसि व्यभिचारः तस्यात्म-द्रव्यग्राहकत्वादिति बहिरित्युक्तम् । तथापि घटस्पार्शनजनकस्पर्शनेन्द्रियेण व्यभिचार इति स्पर्शाग्राहकेत्युक्तम् । तथापि घटचाक्षुषजनकचक्षुरिन्द्रिये व्यभिचाराद्रूपस्याऽपि तत्र निवेशः । यद्यपि चक्षुषि रूपस्पर्शोभयाग्राहकबहिरिन्द्रियत्वे सत्यपि द्रव्यग्राहकत्वमस्ति तथापि रूपस्पर्शान्यतराऽग्राहकबहिरिन्द्रियत्वत्वस्य हेतुतावच्छेदकत्वमित्यत्र तात्पर्यमिति न दोषः । दृष्टान्तमाह - **रसनवदिति** यथा रूपस्पर्शाग्राहकबहिरिन्द्रियत्वेन रसनस्य न द्रव्यग्राहकत्वं तथैव श्रोत्रस्याऽपि द्रव्याऽग्राहकत्वसिद्ध्या

हो जाता है कि भिन्नेन्द्रियत्व का व्याप्य केवल इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्व ही है, न कि उसमें गुण का प्रवेश कर के इन्द्रियान्तराग्राह्यगुणग्राहकत्व उसका व्याप्य है, क्योंकि गुण का निवेश करने पर गौरव है - यह तो पहले अन्धकारवाद में (देखिये द्वितीय खंड पृ. ३५२) कहा जा चुका है । जब लघुरूप से व्याप्यता मुमकिन हो तब गुरुरूप से व्याप्ति का स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि तब व्याप्यत्वाऽसिद्धि दोष प्रसक्त होता है । अतः शब्द गुणात्मक न हो तो भी इन्द्रियान्तर से अग्राह्य ऐसे शब्द का ग्राहक होने से श्रोत्र में इन्द्रियान्तरत्व की सिद्धि निराबाध है । इसलिए शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि निराबाध है । दूसरी बात यह है कि अभ्युपगमवाद से नैयायिकमान्य इन्द्रियान्तराऽग्राह्यगुणग्राहकत्व को भिन्नेन्द्रियत्व का व्याप्य माना जाय तो भी श्रोत्र में इन्द्रियान्तरत्व की सिद्धि निराबाध है, क्योंकि इन्द्रियान्तर से अग्राह्य ऐसे एकत्व, द्वित्व, महत्त्वादि गुणों का, जो शब्दनिष्ठ हैं, ग्राहकत्व श्रोत्र में रहता ही है । शब्दनिष्ठ एकत्व आदि गुण का साक्षात्कार केवल श्रोत्र के ही अधीन है । इस तरह एकत्वादि गुण का आश्रय होने से शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि भी निराबाध है । इस तरह जब शब्दनिष्ठ एकत्व आदि गुण का एवं गुणाश्रय होने की वजह द्रव्यात्मक शब्द के ग्राहकत्व = लौकिक-साक्षात्कारजनकत्व की श्रोत्र में सिद्धि हो जाने पर यह कहना कि —> 'श्रोत्रेन्द्रिय द्रव्यग्राहक = द्रव्यविषयकलौकिकसाक्षात्कारजनकत्वविशिष्ट नहीं है, क्योंकि यह रूप एवं स्पर्श की अग्राहक बहिरिन्द्रिय है । जो बहिरिन्द्रिय रूप या स्पर्श की ग्राहक नहीं होती है वह द्रव्यग्राहक नहीं होती है, जैसे कि रसनेन्द्रिय । श्रोत्रात्मक बहिरिन्द्रिय भी रूप-स्पर्शान्यतर की ग्राहक नहीं है । अतएव वह भी द्रव्यग्राहक नहीं है । अतः शब्द को द्रव्य मानने पर उसमें श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यता नामुमकिन हो जायेगी । मगर श्रोत्रेन्द्रिय शब्दग्राहक है यह तो छोटे बच्चे भी जानते हैं । इसलिए शब्द में प्रसिद्ध श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्व की अनुपपत्ति के बल से शब्द में द्रव्यत्व बाधित होता है' <— भी बेकार है, क्योंकि इस अनुमान में कोई विपक्षबाधक तर्क नहीं है । रूपस्पर्शान्यतराग्राहकबहिरिन्द्रियत्व होने पर भी श्रोत्र में शब्दात्मक द्रव्य की ग्राहकता हो तो क्या दोष है ? इस व्यभिचारशङ्का का निवर्तक कोई तर्क नैयायिकपक्ष में नहीं है । विपक्षबाधक तर्क न होने पर विवक्षित हेतु से साध्य की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? यदि यहाँ नैयायिक की

अप्रयोजकत्वात् । द्रव्यग्रहप्रयोजकप्रत्यासत्तेरभिहितत्वेन तदसिद्धिरूपविपक्षबाधकतर्काभावात् ।

शब्दः पौद्गलिकः इन्द्रियार्थत्वाद्रूपादिवत्, शब्दो नाम्बरगुणोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वात् रूपादिवदि'ति तु प्राञ्चः ।

❀ जयलता ❀

शब्दस्य द्रव्यत्वे श्रोत्रस्य शब्दग्राहकत्वं न स्यादित्याशय आक्षेपकृत:।

तन्निरसने हेतुमाह - **अप्रयोजकत्वात्** = व्यभिचारशङ्कानिवर्तकानुकूलतर्कविरहात् । **न च** श्रोत्रेन्द्रियस्य द्रव्यात्मकशब्दग्रहणे द्रव्यान्तरग्रहणप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वमिति **वाच्यम्**, द्रव्यान्तरस्य श्रोत्रेणाऽयोग्यत्वादपि तदग्राह्यत्वस्योपपत्तेः । **न च** द्रव्यग्राहकप्रत्यासत्तिविरहादेव श्रोत्रस्य रसनवत् द्रव्यग्राहकत्वासम्भव इति **वक्तव्यम्**, **द्रव्यग्रहप्रयोजकप्रत्यासत्तेः** = स्वसंयोगलक्षणाया द्रव्यगोचरज्ञानप्रयोजकप्रत्यासत्तेः, पूर्वं **अभिहितत्वेन तदसिद्धिरूपविपक्षबाधकतर्काभावात्** = श्रोत्रनिष्ठत्वेन द्रव्यग्राहकप्रत्यासत्त्या असिद्धिरूपो यो विपक्षबाधकतर्कस्तस्य विरहात् । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः, अस्माभिः स्याद्वादिभिः सर्वेष्विन्द्रियेषु द्रव्यग्राहकत्वस्य स्वीकृतत्वात्, स्वसंयोगलक्षणद्रव्यग्राहकप्रत्यासत्तेरविशेषादिति व्यक्तमेव **तत्त्वार्थटीकायाम्** । **अत एव** चक्षुर्मनःस्पर्शनेन्द्रियाण्येव द्रव्यग्राहकाणीत्येकान्तोऽपि **प्रत्याख्यातः**, सम्भिन्नश्रोत्रोलब्धिमतामिन्द्रियेषु व्यभिचाराच्च । **एतेन** नव्यमतानुसारेण शब्दस्य गुणत्वं साधयता **मुक्तावलीमञ्जूषाकृता** 'चक्षुर्ग्रहणाऽयोग्यत्वगिन्द्रियातिरिक्त-बहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वस्य हेतुत्वसम्भवात्' (का.४४ मु. पृ.३६९) इत्युक्तं **तदपास्तम्** ।

प्राचां शब्दे द्रव्यत्वसाधन-गगनगुणत्वबाधपद्धतिमाविष्करोति - **शब्द इति** । **रत्नाकरावतारिकायां** तु पूर्वोत्तरभविनानुमानद्वयमिदमुपदर्शितं **रत्नप्रभाचार्येण** । तथाहि - 'न गगनगुणः शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात् रूपादिवत् । पौद्गलिकः शब्द इन्द्रियार्थत्वात्, रूपादिवदेव' (र.अ. ४/१०) इति । केवलिप्रत्यक्षगगनगुणे व्यभिचारवारणाय 'अस्मदादी'त्युक्तम् । **प्राञ्च** इत्यनेनाऽस्वरसोद्भावनं कृतम् । तद्बीजन्त्विदम् - नैयायिकादीनां रूपादिषु द्रव्यत्वरूपस्य पौद्गलिकत्वस्याऽनभिमतत्वे तान्प्रत्येवं वक्तुमशक्यत्वात्, तन्मते दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वं, हेतोर्व्यभिचारित्वञ्च । **न च** द्रव्यत्वे सतीन्द्रियार्थत्वादित्यपि हेतुः सम्भवति; अन्योन्याश्रयात्, दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वापत्तेश्च । यदि च पौद्गलिकत्वं पुद्गलपरिणामरूपं गृह्यते तदा न कश्चिद्दोष इति तु ध्येयम् । **न** चात्म-ज्ञानादिर्मनोलक्षणेन्द्रियार्थत्वाद्व्यभिचार इति **वाच्यम्**, स्वनये मनसो नोइन्द्रियत्वात् यद्वा बहिरिन्द्रियार्थत्वं हेतुरस्तु ।

अन्येऽपि प्राञ्चो जैनाचार्याः 'शब्दो द्रव्यं गुणवत्त्वात् बाणादिवत् । न च गुणवत्त्वमस्याऽसिद्धम्, तथाहि - गुणवान् शब्दः स्पर्शाद्याश्रयत्वात्, बदरामलकादिवत् । न तावत्स्पर्शाश्रयत्वमसिद्धम् । तथाहि शब्दः स्पर्शवान् स्वसम्बद्धार्थान्तराभिघातहेतुत्वात्

और से ऐसा कहा जाय कि —> 'श्रोत्रेन्द्रिय में द्रव्यग्राहक प्रत्यासत्ति नहीं है, किन्तु गुणादिग्राहक प्रत्यासत्ति है । द्रव्यविषयक लौकिक साक्षात्कार में प्रयोजक प्रत्यासत्ति न होने पर भी यदि श्रोत्र में द्रव्यग्राहकता मानी जाय तब तो द्रव्यग्रहप्रयोजकशून्य रसनेन्द्रिय से भी द्रव्य का प्रत्यक्ष होने लगेगा । अतः श्रोत्रेन्द्रिय की द्रव्यग्राहकता में द्रव्यप्रत्यक्षप्रयोजकप्रत्यासत्ति की असिद्धिस्वरूप विपक्षबाधक तर्क की उपस्थिति होने से रूपस्पर्शान्यतराऽग्राहकबहिरिन्द्रियत्व हेतु से श्रोत्रेन्द्रिय में द्रव्याऽग्राहकता की सिद्धि निराबाध है' <— तो यह भी असङ्गत है, क्योंकि द्रव्यात्मक शब्द के लौकिक साक्षात्कार में प्रयोजक संयोगनामक प्रत्यासत्ति का श्रोत्रेन्द्रिय में हम पहले ही लाघवसहकार से निर्देश कर चुके हैं । अतः श्रोत्र में द्रव्यग्राहकप्रत्यासत्ति की असिद्धिस्वरूप विपक्षबाधक तर्क की सिद्धि ही नामुमकिन है । इसलिए प्रदर्शित अनुमान में अप्रयोजकत्व दोष तदवस्थ रहने से वह श्रोत्रेन्द्रिय में द्रव्यग्राहकता का बाधक नहीं हो सकता है । अतएव शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि भी निराबाध है - यह फलित होता है ।

❀ प्राचीन जैनाचार्यों का शब्दद्रव्यत्वआदिसाधक अनुमान ❀

शब्दः पौ. । शब्दस्थल में रत्नप्रभसूरिप्रभृति प्राचीन जैनाचार्यों का यह वक्तव्य है कि - शब्द पौद्गलिक है, क्योंकि वह इन्द्रिय का विषय है । जो इन्द्रिय का विषय होता है वह पौद्गलिक = पुद्गलपरिणामस्वरूप होता है, जैसे रूपादि । शब्द भी श्रोत्रात्मक इन्द्रिय का विषय होने से पुद्गलपरिणाम है । एवं शब्द आकाश का गुण नहीं है, क्योंकि उसका हमें प्रत्यक्ष होता है । जो हमारे प्रत्यक्ष का विषय होता है वह आकाश का गुण नहीं होता है, जैसे कि रूपादि । शब्द भी हमारे प्रत्यक्ष का विषय है । अतः वह आकाश का गुण नहीं हो सकता' । इस तरह शब्द में पौद्गलिकता का विधान-समर्थन एवं गगनगुणत्व का निषेध पूर्वाचार्यों ने किया है ।

'आगतोऽयं शब्दः' इत्यादिप्रतीत्याऽपि क्रियावत्त्वाच्छब्दो द्रव्यम् । न च पवमानगतक्रियैव शब्दे आरोप्यत इति वाच्यम्, एवं सति कत्वादीनामपि पवमानगतत्वापत्त्या शब्दस्य निरुपाख्य-

❋ जयलता ❋

मुद्गरादिवत् । एवं शब्दोऽल्पत्वाद्याश्रयः अल्पत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वात् । अल्पः शब्दःमहान् शब्द इत्यादिप्रतीतेः सद्भावादित्याहुः। तदुक्तं **स्याद्वादरत्नाकरे**ऽपि —> 'वर्णः पौद्गलिको मूर्तिमत्त्वाद्यन्मूर्तिमत्तत्पौद्गलिकं यथा पृथिव्यादि । मूर्तिमांश्च वर्णस्तस्मात्पौद्गलिक इति । न च मूर्तिमत्त्वमस्याऽसिद्धम्, स्पर्शवत्त्वात् । यत्पुनर्मूर्तिमन्न भवति न तत्स्पर्शवत् यथा व्योम । स्पर्शवांश्च वर्णः । ततो मूर्तिमान् । न च स्पर्शवत्त्वमप्यस्याऽप्रतीतम्, कर्णकुहरं प्रविशति ध्वनौ कर्णशष्कुलिकान्ततः स्पर्शस्यानुभूयमानत्वात् । ततः स्पर्शवत्त्वाद्रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वलक्षणा मूर्तिर्ध्वनौ प्रसिद्धिपद्धतिमवतरति । यदि पुनर्ध्वनिरमूर्तिः स्यात्कर्णशष्कुल्यां स्पर्शोपलब्धिर्न स्यात्, उपघातो वा बालकादिकर्णयोः' <— (स्या. र. ४/११ पृ. ६३१) इत्यादिकम् । अधिकं बुभुत्सुभिः **स्याद्वादकल्पलता-सम्मतितर्क-द्वादशारनयचक्रा**दिकमभ्यसनीयम् ।

किञ्च 'दूरादागतोऽयं शब्दः समीपादागतोऽयं शब्द' इत्यादौ श्रोत्रेण शब्दगतक्रियाविशेषः साक्षादेव गृह्यते यथा 'दूरादागतोऽयं मृगमदपरिमलः, समीपादागतोऽयं मृगमदपरिमल' इत्यादौ घ्राणेन गन्धक्रियाविशेषवत् । इत्थमेव श्रोत्राऽप्राप्य-कारिशुद्धोदनीमतापाकरणात्, क्रियाविशेषग्रहादेव दूरादिव्यवहारोपपत्तेः, दूरस्थत्वादेः श्रोत्रेण गृहीतुमशक्यत्वात् । दूरस्थस्यैव शब्दस्य ग्रहे दूरस्थभेर्यादिशब्ददशायां मशकादिशब्दस्यानभिभवप्रसङ्गाच्च । इत्थञ्च क्रियावत्त्वादपि शब्दस्य द्रव्यत्वसिद्धिरव्याहतेत्याशयेन प्रकरणकृदाह - **'आगतोऽयं शब्दः' इत्यादिप्रतीत्यापीति** । प्रयोगस्त्वेवम्, शब्दो द्रव्यं क्रियावत्त्वात्, शरवदिति । **न च पवमानगतक्रिया** = निमित्तकारणीभूतपवनसमवेतक्रिया, **एव शब्दे आरोप्यते**, स्वाभाविकगतेरन्यगत्यनुविधानानुपपत्तेरिति **वाच्यम्**, इन्द्रनीलप्रभागतेरिन्द्रनीलगत्यनुविधानवदुपपत्तेः, शब्दनिष्ठतयैव क्रियावत्त्वप्रतीतेर्भ्रमत्वकल्पने मानाभावात्, गौरवाच्च । **एतेन** 'शब्दस्यागमनं तावददृष्टं परिकल्पितम् । मूर्तिस्पर्शादिमत्त्वञ्च तेषामभिभवः सताम् । त्वग्ग्राह्यत्वमन्ये च भागाः सूक्ष्माः प्रकीर्तिताः ॥ (श्लो.वा.श.नि.अ. १०७/१०८ श्लोक) इति **कुमारिलभट्ट**वचनमपि **निराकृतम्**, शब्दनिष्ठस्पर्शादौ प्रमाणस्य दर्शितत्वेन तादृशगौरवस्य फलमुखत्वात् ।

किञ्च, **एवं सति** = शब्दे पवनगतगत्यारोपस्वीकारे सति तु **कत्वादीनामपि पवमानगतत्वापत्त्या** शब्दे पवनगतकत्व-खत्वाद्यारोपप्रसङ्गः, अन्यथाऽर्धजरतीयप्रसङ्गात् । ततश्च यथा निमित्तपवनगता क्रिया शब्दे आरोप्यते तथैव निमित्तमरुद्गता एव कत्वादयोऽप्यारोप्यन्त इत्यभ्युपगन्तव्यं स्यात् । न चेष्टापत्तिरिति वक्तव्यम्, शब्दनिष्ठतया प्रतीयमानानां सर्वेषां क्रिया-कत्व-खत्वादीनां पवनगतत्वे **शब्दस्य निरुपाख्यत्वापत्तेः** = निःस्वरूपत्वप्रसङ्गात् । अतः कत्वादिवत् क्रियाया अपि शब्दगतत्वमुपगन्तव्यम्,

❋ क्रिया का आश्रय होने से शब्द द्रव्य है - स्याद्वादी ❋

आग. । **इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि 'यह शब्द दूर से आया है, वह शब्द नजदीक से आया है' इत्यादि प्रतीति होने से शब्द में गमन आदि क्रिया की अबाधित सिद्धि होती है । क्रिया का आश्रय गुण तो नहीं होता है, क्योंकि क्रिया का समवायिकारण द्रव्य ही होता है। अतः क्रिया का आश्रय होने से शब्द द्रव्य है । यहाँ यह शंका कि —> 'शब्द तो वस्तुतः निष्क्रिय ही है, किन्तु शब्द का निमित्तकारणीभूत पवन ही सक्रिय होता है । अतः शब्दनिमित्तीभूत पवन में समवेत क्रिया का सामीप्यादि की वजह शब्द में आरोप होता है । आरोपमात्र से शब्द में वस्तुतः क्रिया की सिद्धि नहीं हो सकती है' <— इसलिए तथ्यहीन है कि 'दूरादागतोऽयं कशब्दः' इत्यादि प्रतीति में जैसे पवनगत आगमन क्रिया का शब्द में आरोपित भान माना जाता है ठीक वैसे ही पवनगत कत्व, शब्दत्व आदि का भी शब्द में आरोपित भान मानने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि इसमें कोई विनिगमक तर्क तो नहीं है कि शब्द में पवनगत क्रिया का ही आरोपित भान माना जाय, न कि पवनगत कत्व, शब्दत्व आदि का । इस तरह शब्द में जिन धर्मों का भान होता है वह आरोपित होता है एवं वे धर्म पवनगत ही होते हैं - यह अनिच्छा से भी मान्य करने पर तो शब्द का अपना कुछ स्वरूप ही न बचेगा । फलतः शब्द निरुपाख्य = निःस्वभाव बनने की आपत्ति नैयायिक के सर पर आयेगी । इसलिए यही मानना उचित है कि शब्द ही पवन के अनुसार परिसर्पण = गति करता है । अतः शब्द में क्रियाश्रयत्व निराबाध है । कहा भी गया है कि 'जैसे आकाश में पवन से कर्पास(रूई) प्रेरित होता है ठीक वैसे ही शब्द भी आकाश में पवन से प्रेरित होकर इधर-उधर जाता है । वायु के सामने क्या कोई जाता**

त्वापत्तेः । ततश्च शब्दोऽनुपवमानं परिसर्पत्येवेत्यवश्यं प्रतिपत्तव्यम् । उक्तञ्च-'यथा हि प्रेर्यते तूलमाकाशे मातरिश्वना । तथा शब्दोऽपि, किं वायोः प्रतीपं कोऽपि गच्छती'ति ।।( )

ननु शब्दस्य द्रव्यत्वे तदेकत्वत्वादिग्रहाय श्रोत्रसंयुक्तसमवेतसमवायस्य प्रत्यासत्तित्वे गौरवमिति चेत् ? न, इन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवायस्यैव सामान्यतः प्रत्यासत्तित्वात्, रूप-

❀ जयलता ❀

अविशेषात् । पवनस्य शब्दगतक्रियानिमित्तकारणत्वं तु न निवारयामः । अत्रैव संवादमाह - उक्तञ्चेति । निगदसिद्धोऽयं श्लोकः ।

स्कन्धन्यस्तगिरित्यमनिलपुत्रे वदन्नयम् । मरुतोऽतुलसामर्थ्यं न प्रतिक्षेप्तुमर्हति ।।१।।

ननु शब्दस्य द्रव्यत्वे सति **तदेकत्वत्वादिग्रहाय** = शब्दनिष्ठैकत्वसङ्ख्यावृत्त्येकत्वत्वजातिप्रभृतिगोचरलौकिकसन्निकर्ष-जन्यसाक्षात्कारोपपादनकृते, **श्रोत्रसंयुक्तसमवेतसमवायस्य** पार्थक्येन **प्रत्यासत्तित्वे** कल्पनीये **गौरवम्** । न्यायनये श्रोत्रसमवायेन शब्दग्रहः, श्रोत्रसमवेत-समवायेन शब्दत्वादिग्रहः, शब्दस्य गुणत्वे तन्निष्ठैकत्वादिविरहेण न तदेकत्वत्वादिग्रहाय श्रोत्रसमवेतसमवेत-समवायादिप्रत्यासत्तिकल्पनम । स्याद्वादिमते तु तदर्थं श्रोत्रसंयुक्तसमवेतसमवायस्य प्रत्यासत्तित्वकल्पनगौरवमिति नन्वाशयः ।

तन्निराकुरुते - नेति । द्रव्यसमवेतसमवेतप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति **इन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवायस्यैव सामान्यतः प्रत्यासत्तित्वात्** न तु श्रोत्रभिन्नेन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवायस्य, संकोचे मानाभावात्, परमते व्यावर्त्यकाभावेन व्यर्थविशेषणत्वात्, गौरवाच्च । ततश्च घटगतैकत्वनिष्ठैकत्वत्वादिस्पार्शनं स्वसंयुक्तसमवेतसमवायप्रत्यासत्त्या त्वगिन्द्रियेणोपजायते तथैव शब्दैकत्वत्वादि-साक्षात्कारः स्वसंयुक्तसमवेत-समवायप्रत्यासत्त्यैव श्रोत्रेण जन्यत इति न तदर्थं पृथक्प्रत्यासत्तित्वकल्पनगौरवम् ।

ननु विषयतया द्रव्यलौकिकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति यद्वा द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति

है ?' 'पवनपुत्र हनुमानजी सारा का सारा पर्वत उठाकर ले चले' ऐसा माननेवाले आप नैयायिक महाशय 'पवन का कितना अतुल बल होगा ?' यह शांति से सोचिये । निष्कर्ष : शब्द की गति पवन के अनुसार होती है ।

❀ शब्दद्रव्यपक्ष में गौरव की आशङ्का और परिहार ❀

ननु श. इति । शब्द को गुण न मान कर द्रव्य मानने में यह शंका हो कि —> 'शब्द को द्रव्य मानने पर शब्दगत एकत्व आदि संख्यास्वरूप गुण में रहनेवाली एकत्वत्व आदि जाति के साक्षात्कारार्थ श्रोत्रसंयुक्तसमवेतसमवाय नामक अतिरिक्त प्रत्यासत्ति = लौकिकसन्निकर्ष की कल्पना करनी होगी । देखिये, श्रोत्रेन्द्रिय से संयुक्त शब्दद्रव्य, उसमें समवेत एकत्व आदि संख्या और उसमें समवेत होगा एकत्वत्व आदि । अतः एकत्वत्व आदि जाति में श्रोत्र इन्द्रिय स्वसंयुक्तसमवेतसमवायसम्बन्ध से रहेगी और वहाँ विषयतासम्बन्ध से एकत्वत्वादिसाक्षात्कार को उत्पन्न करेगी । मगर श्रोत्रसंयुक्तसमवेतसमवाय नामक सन्निकर्ष किसी भी पदार्थ के प्रत्यक्ष में आवश्यक = अवश्यक्लृप्त नहीं है, क्योंकि उस प्रत्यासत्ति से अन्य किसी का लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता है । मगर शब्द को द्रव्य मानने वाले स्याद्वादी के मत में ही उक्त स्वतन्त्र सन्निकर्ष की कल्पना करनी होगी, जो कि गौरवग्रस्त होने की वजह त्याज्य है । शब्द को गुण माननेवाले नैयायिक आदि के मतानुसार तो शब्द में एकत्व आदि संख्या, जो गुणात्मक होती है और द्रव्यमात्रवृत्ति होती है, ही नहीं रहती है । अतएव उनके मतानुसार तो शब्दैकत्वत्वजाति आदि ही अप्रसिद्ध होने की वजह उसके साक्षात्कार के लिए किसी अतिरिक्त सन्निकर्ष की कल्पना अनावश्यक होगी<— तो यह इसलिए निराकृत हो जाती है कि गुणादिगत जाति के साक्षात्कार के प्रति सामान्यतः इन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवाय ही लौकिक सन्निकर्ष बनता है, न कि चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवाय, स्पर्शनसंयुक्तसमवेतसमवाय, घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवाय आदि विशेष, क्योंकि तथाविध कल्पना करने में गौरव है और व्यतिरेक व्यभिचार भी प्रसक्त होता है । इस तरह विषयतासम्बन्ध से गुणादिसमवेतजातिविषयक साक्षात्कार के प्रति इन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवाय ही लौकिकप्रत्यासत्ति है - यह उभयमतसिद्ध = अवश्यक्लृप्त है । इसीसे शब्दैकत्वत्व आदि के साक्षात्कार की उपपत्ति हो जाती है, क्योंकि इन्द्रिय (=श्रोत्र) से संयुक्त = शब्द में समवेत = एकत्वादिसंख्या में एकत्वत्वादि समवेत होने से स्वसंयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष से श्रोत्रात्मक इन्द्रिय शब्दैकत्वत्वादि में रहती है, जहाँ विषयता सम्बन्ध से शब्दैकत्वत्वादिप्रत्यक्ष उत्पन्न होता है । अतः शब्दद्रव्यपक्ष में शब्दैकत्वत्वादि-प्रत्यक्षानुरोध से अतिरिक्त प्रत्यासत्ति की कल्पना का गौरव अप्रसक्त है ।

❀ शब्द के चाक्षुष और स्पार्शन का परिहार ❀

रूपाऽ. इति । यहाँ यह शङ्का हो कि —> ''यदि शब्द को द्रव्य माना जाय एवं उसका लौकिक साक्षात्कार भी

स्पर्शयोः पृथङ्नियामकत्वेनैवाऽयोग्याऽचाक्षुषाऽस्पार्शननिर्वाहात्तदनुरोधेन विशिष्य प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनात्, घ्राणादौ पृथिवीत्वादेर्मानाभावेनेन्द्रियत्वस्य जातित्वात् ।

❁ नयलता ❁

समवायेनोद्भूतरूपस्पर्शयोः कारणत्वान्निरुक्तप्रत्यासत्त्या शब्दे प्रत्यक्षं नोत्पत्तुमर्हति, स्याद्वादिनये केषुचिच्छब्देषूद्भूत-स्पर्शसत्त्वेऽपि शब्दत्वावच्छिन्नस्योद्भूतरूपशून्यत्वात्। किञ्च यस्य द्रव्यस्य लौकिकं प्रत्यक्षं जायते तस्य लौकिकं चाक्षुषं स्पार्शनं च भवितुमर्हत एव, लौकिकसाक्षात्कारस्वरूपयोग्यद्रव्यत्वस्य लौकिकचाक्षुषस्पार्शनोभयस्वरूपयोग्यत्वव्याप्यत्वात् । **न च** लौकिकमानसविषये आत्मनि व्यभिचार इति **वाच्यम्,** बहिरिन्द्रियजन्यस्य प्रत्यक्षस्य विवक्षितत्वात् । ततश्च शब्दस्य बाह्येन्द्रियजलौकिकप्रत्यक्ष-स्वरूपयोग्यद्रव्यत्वे तु सति सन्निकर्षे चाक्षुषत्वस्पार्शनत्वापत्तिरपि दुर्वारा स्यादित्याशङ्कायामाह - **रूपस्पर्शयोः** = उद्भूतरूपस्पर्शयोः, **पृथङ्नियामकत्वेनैवेति** । द्रव्यनिष्ठबहिरिन्द्रियजलौकिकविषयतया स्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रत्येव समवायेनोद्भूतस्पर्शस्य चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव च समवायेनोद्भूतरूपस्य पृथक्कारणत्वं न तु प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति मिलितोभयस्य । निरुक्तसम्बन्धेन प्रत्यक्षत्वस्यो-द्भूतरूपस्पर्शकार्यतानवच्छेदकत्वात्स्वसंयोगप्रत्यासत्त्या श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दसाक्षात्कारो निरपाय एव । **न च** तथापि शब्दस्य चाक्षुषत्व-स्पार्शनत्वापत्तिरिति **शङ्कनीयम्,** लौकिकचाक्षुषस्पार्शनोभयस्वरूपयोग्यत्वव्याप्यतावच्छेदकत्वं बहिरिन्द्रियजलौकिकप्रत्यक्ष-स्वरूपयोग्यत्वविशिष्टद्रव्यत्वत्वे द्रव्यत्वविशिष्टलौकिकचाक्षुषस्पार्शनोभयस्वरूपयोग्यतात्वे वा ? इत्यत्राऽविनिगमात्, पिशाचादौ व्यभिचाराच्च। न हि पिशाचपादप्रहारसहने पिशाचस्पार्शने सत्यपि निपुणतरं निभालनेऽपि तच्चाक्षुषं भवति ।

वस्तुत इन्द्रियादिवत् स्वरूपाऽयोग्यत्वादेव शब्दस्याऽस्पार्शनाऽचाक्षुषत्वनिर्वाह इत्याशयेनाऽऽह - **अयोग्याऽचाक्षुषाऽस्पार्शननिर्वाहात्** = चाक्षुष-स्पार्शनस्वरूपाऽयोग्यशब्दगोचरचाक्षुषस्पार्शनानुत्पादनिर्वाहसम्भवात् । उद्भूतरूपशून्यत्वान्न शब्दस्य चाक्षुषत्वम् । त्वगिन्द्रियजन्य-प्रत्यक्षस्वरूपायोग्यत्वादेव न तत्स्पार्शनत्वप्रसङ्गः । अत एव **तदनुरोधेन** = शब्दगोचर-चाक्षुषस्पार्शनानुत्पादान्यथानुपपत्त्या, **विशिष्य प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनात्** = श्रोत्रसंयुक्तसमवेतसमवायेऽतिरिक्तलौकिकसन्निकर्षत्वाऽकल्पनात् ।

किञ्चाऽस्मन्मये इन्द्रियवर्गणादिजन्यतावच्छेदकतया सिध्यन्निन्द्रियत्वं जातिस्वरूपमेव न तु स्मृत्यजनक-ज्ञानजनकमनः-संयोगाश्रयत्वादिस्वरूपम् । तच्च प्रकृष्टज्ञानकारणत्वाऽभिव्यङ्ग्यं द्रव्यनिष्ठमित्यभ्युपगम्यते । **न च** पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यं स्यात्, घटादाववर्तमानस्य पृथिवीत्वशून्ये चक्षुषि वर्तमानस्येन्द्रियत्वस्य पार्थिवघ्राणादिवृत्तित्वादिति **वाच्यम्, घ्राणादौ पृथिवीत्वादेः मानाभावेनेन्द्रियत्वस्य जातित्वात्** । एतेन शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वमिति (का.५८ मु.पृ.४३६) **मुक्तावलीकारवचनमपाकृतम्** । **न च** घ्राणादेः पार्थिवादिभिन्नत्वे मानाभावेन विनिगमनाविरह इति **वाच्यम्,** 'घ्राणादिकं पृथिव्यादिभ्यो भिद्यते इन्द्रियत्वात् मनोवत्' इत्यस्य जागरूकत्वात् । **न च** तर्हि मनःस्वरूपमेव घ्राणादिकं प्रसज्येतेति **वक्तव्यम्,** महत्त्वान्मनसोऽपि भिद्यते घटवत् । युक्तञ्चैतद् महतः पृथिव्यादेः रूपरसगन्धस्पर्शेष्वन्यतमोद्भवनियमात्, तादृशस्य च घ्राणादौ प्रत्यक्षबाधितत्वात् न तस्य पार्थिवत्वादिकं सम्भवति । **एतेन** —> 'घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात् कुङ्कुमगन्धाऽभिव्यञ्जकगोघृतवत्' **न च** दृष्टान्ते स्वीयरूपादिव्यञ्जकत्वादसिद्धिरिति **वाच्यम्,** परकीय-गन्धस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात् कुङ्कुमगन्धाऽभिव्यञ्जकगोघृतवत्' **न च** दृष्टान्ते स्वीयरूपादिव्यञ्जकत्वादसिद्धिरिति वाच्यम्, रूपाद्यव्यञ्जकत्वस्य तदर्थत्वात् <— (का.३८ मु.पृ.३०७) इति **विश्वनाथवचनमपाकृतम्,** अप्रयोजकत्वात्, घ्राणघृतादीनामेक-

माना जाय तब तो शब्द का चाक्षुष और स्पार्शन प्रत्यक्ष होने लगेगा, क्योंकि जिस द्रव्य का बहिरिन्द्रियजन्य लौकिक प्रत्यक्ष होता है उसका चाक्षुषादिसामग्री (चक्षुःसन्निकर्षादि) का समवधान होने पर चाक्षुष और स्पार्शन प्रत्यक्ष अवश्य होता है, जैसे घट, पट आदि । अतः शब्दद्रव्यपक्ष में शब्द के चाक्षुष एवं स्पार्शन की आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहेगी'' <— तो यह भी इसलिए निराधार हो जाती है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष का नियामक है उद्भूत रूप और स्पार्शन प्रत्यक्ष का नियामक है उद्भूत स्पर्श, जो शब्द में नहीं रहते हैं । अतएव चाक्षुष एवं स्पार्शन लौकिक साक्षात्कार के लिए आत्मादि की भाँति शब्द अयोग्य है । तब शब्द के चाक्षुष एवं स्पार्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति को अवकाश कैसे मिलेगा ? अतः शब्द का केवल श्रावण प्रत्यक्ष हो और चाक्षुषादि प्रत्यक्ष न हो उसके लिए पृथक् लौकिकप्रत्यासत्ति की कल्पना का गौरव भी स्याद्वादी के पक्ष में प्रसक्त रहेगा । दूसरी बात यह है कि हमारे मत में इन्द्रियत्व भी जातिस्वरूप ही है, न कि उपाधिस्वरूप । यहाँ यह शंका हो कि—> 'इन्द्रियत्व को जाति मानने पर पृथ्वीत्व आदि के साथ सांकर्य होगा, क्योंकि पृथ्वीत्वशून्य चक्षु में इन्द्रियत्व रहता है और इन्द्रियत्वशून्य घट में पृथ्वीत्व रहता है तथा घ्राणेन्द्रिय में इन्द्रियत्व और पृथिवीत्व दोनों रहते हैं' <—

नव्यास्तु निमित्तपवनस्यैव शब्दो गुणः । अत एव निमित्तपवननाशात्तन्नाशः, समवायिकारणनाशस्य समवेतकार्यनाशं प्रति हेतुत्वात् । कर्णसंयुक्तनिमित्तपवनसमवायाच्च तद्ग्रहः । न च वीणा-वेणु-मृदङ्गादेरेव कुतो नायं गुण इति वाच्यम्, तेषामननुगतत्वात् निमित्तपवन-

❀ जयलता ❀

जात्या व्यञ्जकत्वस्य युक्तत्वसहत्वात् । मतिज्ञानप्रत्यक्षत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मावच्छिन्नहेतुत्वमेवेन्द्रियलक्षणम् । इत्थञ्चैकेनेन्द्रियत्वेन षड्विधसन्निकर्षान्यतमप्रत्यासत्त्या लौकिकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नहेतुत्वं निराबाधम् । **न च** जन्यपृथिवीत्वाद्यवच्छिन्ने पृथिवीत्वादिना हेतुत्वस्य क्लृप्तत्वाद् घ्राणादेः पृथिवीत्वादिकमेवेति **वाच्यम्**, पृथिवीत्वादिकं जलत्वादिकं वा ? इत्यत्राऽविनिगमादिति दिक् ।

अधुना नव्यनैयायिकमतमाह - नव्यास्तु इति । आहुरित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । तुः पूर्वोक्तापेक्षया विशेषद्योतनार्थः । तथाहि - **निमित्तपवनस्यैव** = शब्दनिमित्तकारणत्वेनाऽभिमतस्य मरुतः, एवकारेणाम्बरव्यवच्छेदः कृतः । शब्दनिमित्तकारणत्वेन प्राचामभिमतस्य पवनस्यैव शब्दसमवायिकारणत्वेन शब्दस्य पवनगुणत्वमित्यर्थः । **अत एव** = शब्दं प्रति क्लृप्तनिमित्तकारणताकस्य पवनस्य समवायेन शब्दं प्रति हेतुत्वकल्पनौचित्यादेव, **निमित्तपवननाशात्** = शब्दनिमित्तकारणत्वेन प्राचीननैयायिकाऽभिमतस्य वस्तुतः शब्दसमवायिकारणस्य अनिलस्य विनाशात्, **तन्नाशः** = समवेतशब्दध्वंसः सोपपत्तिकः, प्रतियोगितया **समवायिकारणनाशस्य** स्वरूपतः **समवेतकार्यनाशं** = समवेतकार्यनाशत्वावच्छिन्नं **प्रति हेतुत्वात्** । अनुभूयते हि शब्दोत्पादकानिलविरामाच्छब्दविरामः । यदि च पवनस्य शब्दसमवायिकारणत्वं न स्यात्, न स्यादेव अनिलविनाशाच्छब्दविनाशः । न हि निमित्तकारणस्थित्यधीना नैमित्तिकस्थितिर्भवति । अतोऽनिलस्य तादात्म्येनैव शब्दकारणत्वमङ्गीकर्तुमर्हति ।

ननु शब्दस्याऽम्बरगुणत्वानङ्गीकारे श्रोत्रावच्छिन्नसमवायात्तद्ग्रहो न स्यादित्याशङ्कायामाहुः - **कर्णसंयुक्तनिमित्तपवनसमवायाच्च तद्ग्रहः** = शब्दसाक्षात्कारः । कर्णसंयुक्ते निमित्तकारणत्वेन प्राचामभिमते पवने शब्दस्य समवेतत्वात् स्वसंयुक्तसमवायप्रत्यासत्त्या श्रोत्रस्य शब्दग्राहकत्वात् स्वसंयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्षेण शब्दत्व-कत्वादिसाक्षात्कारजनकत्वाच्च श्रोत्रावच्छिन्नसमवाय-श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवाययोः प्रत्यासत्तित्वकल्पनागौरवं न वा शब्दादिप्रत्यक्षानुपपत्तिरिति नव्यनैयायिकाभिप्रायः ।

न च प्राचां मते पवनस्यैव वीणादेरपि शब्दनिमित्तकारणत्वाऽविशेषात् नव्यमते पवनस्यैव शब्दः कुतो गुणः ? **वीणा-वेणु-मृदङ्गादेरेव कुतो नायं गुणः ? इति वाच्यम्, तेषां** = वीणा-वेणु-मृदङ्गादीनां **अननुगतत्वात्** = अनतिप्रसक्तसाधारणधर्मशून्यत्वात्, विजातीयत्वात् । **न च** वीणात्वादिनैव तत्कारणत्वमस्त्विति वाच्यम्, व्यतिरेकव्यभिचारप्रसङ्गात् । **न च** अव्यवहितोत्तरत्वनिवेशान्नायं दोष इति **वक्तव्यम्**, तादृशनानाकार्यकारणभावकल्पने महागौरवात् । पवनस्तु न शब्दव्यभिचारी, तस्य शब्दत्वावच्छिन्नाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छिन्नाभावाऽप्रतियोगित्वात्, पवनत्वेनानुगतत्वाच्चेति **निमित्तपवनस्यैव** पवनत्वेन रूपेण

— तो यह असङ्गत है, क्योंकि घ्राण इन्द्रिय पार्थिव है - इसमें कोई प्रमाण ही नहीं है, तब सांकर्य को अवकाश कैसे ? अतः इन्द्रियत्वरूप से लौकिक प्रत्यासत्ति से इन्द्रिय को लौकिक प्रत्यक्ष का कारण माना जा सकता है ।

❈ शब्द पवनगुण है - नव्यमत ❈

नव्या. । शब्द के बारे में नव्य विद्वानों का यह कथन है कि शब्द न तो आकाश का गुण है और न तो द्रव्य है किन्तु शब्दनिमित्तकारणविधया अभिमत पवन का ही गुण है । इसीलिए तो निमित्तीभूत पवन के नाश से शब्द का नाश हो जाता है, क्योंकि समवायिकारण का नाश समवेत कार्य के नाश का हेतु बनता है । यहाँ यह शंका कि —> 'शब्द आकाश का गुण न होगा तो श्रोत्र के द्वारा स्वसमवायसम्बन्ध से शब्द का प्रत्यक्ष न हो सकेगा' <— इसलिए निराधार हो जाती है कि स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्ध से श्रोत्र शब्दग्राहक बन सकता है । स्व = श्रोत्रेन्द्रिय, उससे संयुक्त होगा निमित्तकारणविधया अभिमत पवन और उसमें समवेत है शब्द । अतः स्वसंयुक्तसमवायसन्निकर्ष से शब्द का प्रत्यक्ष हो सकता है । यहाँ इस शंका का कि —> 'शब्द को निमित्तकारणविधया अभिमत पवन का गुण मानना या तादृश वीणा-वेणु-मृदंग आदि का गुण मानना ? इसमें कोई विनिगमक नहीं होने से शब्द को वीणादि का ही गुण क्यों न माना जाय ?' <— समाधान यह है कि वीणा, वेणु, मृदङ्ग आदि शब्दनिमित्तकारण अननुगत हैं । उनमें कोई एक अनुगत धर्म नहीं है, जिस रूप से उनमें शब्दसमवायिकारणता मानी जा सके । जब कि शब्दनिमित्तकारणविधया अभिमत पवन में पवनत्व धर्म अनुगत है । अतः पवनत्वस्वरूप अनुगत = सर्वपवनसाधारण धर्म से पवन को शब्दसमवायिकारण मानना ही मुनासिब है । पवन में कारणता तो अवश्यक्लृप्त ही है, तब हम उसमें रही हुई शब्दकारणता को निमित्तकारणतास्वरूप न मान कर समवायिकारणतारूप मानते

स्यैवानुगतत्वे समवायिकारणत्वौचित्यात्तेषां निमित्तकारणत्वे क्लृप्तेऽपि समवायिकारणत्वाऽकल्पनात्, सम्बन्धभेदेन कारणताभेदात् । आकाशः पुनरीश्वर एवेत्याहुः ।

तन्न, पवनगुणत्वे शब्दस्य स्पर्शवत्स्पार्शनापत्तेः । न च त्वाचाऽयोग्यत्वान्न तस्य स्पार्शनं, श्रावणं तु निराबाधं गुणश्रावणत्वावच्छिन्नं प्रति शब्दत्वेन हेतुत्वादिति वाच्यम्,

❋ जयलता ❋

अनुगतत्वेन समवायिकारणत्वौचित्यात् = तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणत्वन्याय्यत्वात् ।

तर्हि किं वीणा-वेणु-मृदङ्गादीनां शब्दकारणत्वमेव नास्ति ? इत्याशङ्कायामाहुः - **तेषां** = वीणा-वेणुमृदङ्गादीनां **निमित्तकारणत्वे** = तृणारणि-मणिन्यायेन तादात्म्यातिरिक्तसम्बन्धावच्छिन्नकारणत्वे **क्लृप्ते** = प्रमाणसिद्धे सति **अपि** नैव **समवायिकारणत्वाऽकल्पनात्**, समवायिकारणत्वस्य तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नत्वात्, ततः किम् ? **सम्बन्धभेदेन कारणताभेदात्**, घटकभेदे घटितभेदस्य न्याय्यत्वात् । **एतेन** वीणा-वेणु-मृदङ्गादीनां शब्दनिमित्तकारणत्वेनानुगतीकृत्य शब्दसमवायिकारणत्व-कल्पनाऽपि **प्रत्युक्ता**, एककार्यनिरूपितायाः निमित्तकारणतायाः समवायिकारणतायाश्चैकत्राऽसम्भवाच्च ।

ननु शब्दस्याकाशविशेषगुणत्वानङ्गीकारेऽम्बरसिद्धिरेव दुर्घटा, शब्दसमवायिकारणत्वेनैव तत्सिद्धिसम्भवादित्याशङ्कायामाहुः - **आकाशः** = आकाशपदप्रतिपाद्यः **पुनरीश्वर एव । अत एवाकाशेश्वरपदयोः** पर्यायतापत्तिरित्युक्तावपि **न क्षतिः**, इष्टापत्तेः, जगत्कर्तृत्वेन सिद्धादीश्वरादाकाशो नातिरिच्यत इत्यस्माकं नव्यनैयायिकानामभिनवसिद्धान्तात् ।

शब्दद्रव्यत्ववादी प्रकरणकारः प्रदर्शितनव्यमतमपहस्तयति - **तन्नेति । पवनगुणत्वे शब्दस्य** स्वीक्रियमाणे **स्पर्शवत् स्पार्शनापत्तेः** । यथा पवनस्पर्शस्य पवनगुणत्वात्स्पार्शनत्वं भवति तद्वदेव शब्दस्यापि त्वगिन्द्रियजन्यसाक्षात्कारविषयत्वं प्रसज्येत, पवनगुणत्वस्य स्पार्शनस्वरूपयोग्यत्वव्याप्यत्वात् । न च शब्दस्पार्शनं भवतीति व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तिसिद्धेर्नानिलगुणत्वं शब्दस्य, तस्य स्पार्शनप्रतिबन्धकत्वकल्पने च गौरवमित्युत्तरपक्षाशयः ।

ननु वायुगुणत्वं न लौकिकत्वाचस्वरूपयोग्यत्वव्याप्यं पवनाकाशसंयोग-पवनपरिमाणादेरपि स्पार्शनत्वापत्तेः किन्तु त्वग्योग्य-वायुगुणत्वमेव तथा । शब्दस्य वायुगुणत्वेऽपि पवनाकाशसंयोगादिवत्स्पार्शनाऽयोग्यत्वान्न त्वचा ग्रह इत्याशङ्कामपाकर्तुमुपन्यस्यति - **न चेति** । वाच्यमित्यनेनाऽन्वेति । **त्वाचाऽयोग्यत्वात्** = लौकिकस्पार्शनस्वरूपयोग्यत्वविरहात्, **न तस्य** = शब्दस्य, **स्पार्शनं** = त्वाचविषयत्वं भवितुमर्हति, **श्रावणं** = श्रोत्रजन्यलौकिकप्रत्यक्षविषयत्वं तु शब्दस्य **निराबाधम्**, लौकिकश्रावणप्रत्यक्ष-स्वरूपयोग्यत्वात् । तदेवाह - **गुणश्रावणत्वावच्छिन्नं प्रति शब्दत्वेन हेतुत्वादिति** । शब्दत्व-कत्वादिश्रावणे व्यतिरेकव्यभिचारवारणाय शब्दत्वावच्छिन्नकार्यतावच्छेदकं न श्रावणत्वं किन्तु गुणश्रावणत्वम् । तच्च पूर्वोक्तदिशा गुणश्रावणमात्रवृत्तिवैजात्यस्वरूपं बोध्यम् ।

हैं । अतः गौरव दोष का भी अवकाश नहीं है । यहाँ यह शङ्का हो कि —> 'जैसे पवन में कारणता अवश्यक्लृप्त है, ठीक वैसे ही वीणा, वेणु, मृदङ्ग आदि में भी कारणता अवश्यक्लृप्त ही है । तब उनमें रही हुई कारणता को भी समवायि-कारणतास्वरूप क्यों न मानी जाय ? आक्षेप-परिहार तो दोनों पक्ष में समान रहेंगे' <— तो यह अज्ञानमूलक है, क्योंकि वीणा, वेणु, मृदङ्ग आदि में समवायिकारणता की कल्पना नहीं करते हैं । समवायिकारणता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न होती है, जब कि निमित्तकारणता तादात्म्याऽतिरिक्तसम्बन्धावच्छिन्न होती है । सम्बन्ध बदलने पर कारणता बदल जाती है । अतः वीणा, वेणु आदि अनेक में समवायिकारणता की कल्पना करने पर गौरव दोष प्रसक्त होता है । इसलिए उनमें निमित्तकारणता का स्वीकार करना ही संगत है । यहाँ इस शंका का कि —> 'शब्द को आकाश का गुण न माना जाय तब तो आकाश की ही सिद्धि न हो सकेगी, क्योंकि शब्दाश्रयत्व या शब्दसमवायिकारणत्वरूप से ही आकाश की सिद्धि होती है' <— समाधान यह है कि ईश्वर से अतिरिक्त आकाश नहीं है । ईश्वरवादी हम नव्य नैयायिक आकाश को ईश्वरस्वरूप ही मानते हैं । अतः शब्दाश्रयत्वरूप से अतिरिक्त आकाश की सिद्धि न हो तो भी कोई दोष हमारे मत में प्रसक्त नहीं है ।

❋ शब्द पवनगुण नहीं है - स्याद्वादी ❋

तन्न. । मगर विचार करने पर नव्य नैयायिकों का उपर्युक्त मत भी श्रद्धेय नहीं हो सकता है, क्योंकि शब्द को पवन का गुण मानने पर तो जैसे पवन के गुण स्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है ठीक वैसे ही शब्द का भी स्पार्शन प्रत्यक्ष होने लगेगा । पवन के गुण का त्वगिन्द्रियजन्य ही साक्षात्कार होता है, न कि श्रोत्रेन्द्रियजन्य साक्षात्कार । अतः इस दोष के सबब शब्द को पवनगुण नहीं माना जा सकता । यहाँ यह शंका हो कि —> 'शब्द वायुगुण होने पर भी स्पार्शन प्रत्यक्ष

अयोग्यत्वस्य प्रतिबन्धकत्वे विशिष्य विश्रामाद्, गौरवात् ।

किञ्चैवमीश्वरादिगुणत्वेऽपि विनिगमनाविरहात् शब्दस्य द्रव्यत्वमेवोचितम् । न चानन्त-संयोगादिकल्पनागौरवं, तव सामानाधिकरण्येन तत्कल्पना, मम पुनरपृथग्भावेनेति प्रत्युत लाघवात् ।

जयलता

एतेन शब्दस्य पवनगुणत्वे त्वाचायोग्यत्वं गगनानिलसंयोगादिवत् त्वगिन्द्रियातिरिक्तेन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षस्वरूपाऽयोग्यत्वं स्यादित्यपि **प्रत्याख्यानम्,** गुणश्रावणकारणतावच्छेदकस्याकाशानिलसंयोगे विरहेऽपि शब्दे सत्त्वादिति नव्यनैयायिकाशयः ।

प्रकरणकारस्तन्निराकरोति —> **अयोग्यत्वस्य** = लौकिकत्वाचप्रत्यक्षस्वरूपाऽयोग्यत्वस्य, विषयतासम्बन्धेन लौकिकत्वाचत्वावच्छिन्नं प्रति **प्रतिबन्धकत्वे** स्वीक्रियमाणे तादृशप्रतिबन्धकताया विशिष्य **विश्रामात्** = विशेषरूपेण पर्यवसानात्, **गौरवात्** = कार्यकारणभावगौरवप्रसङ्गात् । लौकिकविषयतासम्बन्धेन द्रव्यसमवेतस्पार्शनं प्रति शब्दानिलाकाशसंयोगादिनिष्ठाऽयोग्यत्वस्य स्वरूपेण प्रतिबन्धकत्वं द्रव्यसमवेतस्पार्शनं प्रति शब्दत्व-कत्व-खत्वानिलाकाशसंयोगत्वादिनिष्ठत्वाचयोग्यताभावस्य स्वरूपेण प्रतिबन्धकत्वमित्येवं रीत्या नानाप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पनावश्यकत्वेऽनेकविधकार्यकारणभावकल्पनागौरवस्य प्रसङ्गो दुर्निवारः । न चाऽखण्डाभावस्यैव तद्धेतुत्वमिति **वाच्यम्,** उदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहेणाऽखण्डाभावहेतुत्वाभावस्य पूर्वमुक्तत्वात् । **एतेन** वायौ हि श्रोत्रं प्राप्ते शब्द उपलभ्यते यथाहि चम्पकद्रव्ये घ्राणसन्निकृष्टे गृह्यमाणस्य गन्धस्य तद्गुणत्वं तथा शब्दस्यापि वायुगुणत्वं वेदितव्यम् अथवा वायुरेव ताल्वादिस्थानसंयोगात् तत्तच्छब्दगुणको निष्पद्यते तस्मिन् श्रोत्रं प्राप्ते संयुक्तसमवायसन्निकर्षेण शब्दो गृह्यते (श्लो.वा.पृ. ५२२) इति **पार्थसारथिमिश्रस्य न्यायरत्नाकरकृतो** वचनं **निराकृतम्,** शब्दस्य वायुगुणत्वे श्रोत्रग्राह्यत्वानुपपत्तेः वायुमात्रसमवेतानां श्रोत्रेन्द्रियाऽग्राह्यत्वात् । दोषान्तरमाह - **किञ्चेति** । एवं = शब्दस्य निमित्तपवनगुणत्वस्वीकारे, **ईश्वरादिगुणत्वेऽपि विनिगमनाविरहात्** । ईश्वरदिक्कालानां कार्यमात्रं प्रति निमित्तकारणत्वेन शब्दस्य किं स्वनिमित्तकारणीभूतपवनगुणत्वं स्वनिमित्तकारणीभूतमहेश्वरगुणत्वं तादृशकालादिगुणत्वं वा ? इत्यत्राऽविनिगमात्सर्वेषां तेषां गुणत्वं वक्तव्यं आहोस्विन् नैकेषामिति, अन्यथा अर्धजरतीयप्रसङ्गादिति तदपेक्षया **शब्दस्य द्रव्यत्वमेवोचितं** कल्पयितुम् । **न च** शब्दस्य द्रव्यत्वे **अनन्त-संयोगादिकल्पनागौरवं** इति **वाच्यम्,** तव नैयायिकस्य **सामानाधिकरण्येन** = एकाधिकरणनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वसम्बन्धेन शब्दे **तत्कल्पना** = अनन्तसंयोगादिस्वीकारः **मम** स्याद्वादिनः **पुनः अपृथग्भावेन** = अविष्वग्भावसम्बन्धेन तत्कल्पना इति नैयायिकमतापेक्षया **प्रत्युत लाघवात्** = सम्बन्धकृतलाघवात् । **एतेन** 'शब्दस्य सावयवत्वेऽनन्तावयव-तन्नाशादिकल्पगौरवादिति' (का.४४ मु.मं.पृ.३६७) **मुक्तावलीमञ्जूषाकृतो** वचनमपि **प्रत्याख्यातम्** ।

के अयोग्य होने से उसका स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं होता है, वायु का स्पर्श स्पार्शन साक्षात्कार के योग्य होने से उसका त्वाच साक्षात्कार हो सकता है। इस तरह शब्द और पवनस्पर्श में पवनगुणत्व समान होने पर भी स्पार्शनाऽयोग्यत्व और स्पार्शनयोग्यत्वरूप धर्मविशेष की वजह एक के स्पार्शन प्रत्यक्ष के अभाव की एवं अन्य में लौकिक त्वाचप्रत्यक्षविषयता की उपपत्ति हो सकती है। हाँ, शब्द में स्पार्शन प्रत्यक्ष की अयोग्यता होने पर भी उसका श्रावण प्रत्यक्ष तो निराबाधरूप से हो सकता है, क्योंकि गुणश्रावण प्रत्यक्ष का कारणतावच्छेदकीभूत शब्दत्व धर्म पवनगुण शब्द में रहता है। मतलब कि श्रावणस्वरूपयोग्यता होने की वजह शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष हो सकता है एवं लौकिक स्पार्शनस्वरूपाऽयोग्यता की बदौलत शब्द के अस्पार्शनत्व की भी सङ्गति हो सकती है' <-- तो यह भी इसलिए निराधार है कि शब्द में स्पार्शनस्वरूपाऽयोग्यता की कल्पना कर के उसे स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धक मानने पर तो अनेकविध विशेषरूप से प्रतिबन्धकता की कल्पना का गौरव उपस्थित होगा, जो अप्रामाणिक होने से मान्य नहीं हो सकता। मतलब यह है कि द्रव्यसमवेतस्पार्शन के प्रति शब्दनिष्ठ स्पार्शनयोग्यत्वाभाव को प्रतिबन्धक मानना, द्रव्यसमवेतसमवेतस्पार्शन के प्रति शब्दत्व-कत्वादिनिष्ठ स्पार्शनयोग्यत्वाभाव को प्रतिबन्धक मानना-इस तरह विशेषरूप से प्रतिबन्धकता का स्वीकार करना और तत् तत् कार्य के प्रति तत् तत् प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानना-ऐसी गौरवग्रस्त कल्पना नव्यनैयायिक मत में प्रसक्त होती है। दूसरी बात यह है कि - शब्द को निमित्तकारणीभूत पवन का गुण मानना या ईश्वर का गुण मानना या काल का गुण मानना या दिशा का ? इस विषय में कोई विनिगमक नहीं है, क्योंकि पवन की भाँति शब्दनिमित्तकारणता का स्वीकार प्राचीन नैयायिकों ने ईश्वर, काल आदि में समानरूप से किया है। इस विनिगमनाविरह दोष की वजह शब्द को आकाश, पवन, जगदीश, दिशा आदि किसीका गुण न मान कर उसे

एवञ्चाऽस्य पौद्गलिकत्वप्रतिक्षेपाय (१) स्पर्शशून्याश्रयत्वं, (२) अतिनिबिडप्रदेशप्रवेश-

❀ जयलता ❀

स्वतन्त्रास्तु 'मास्तु शब्दो द्रव्यं तथापि तस्य न गुणत्वमभ्युपगच्छामः किन्त्वतिरिक्तत्वं, न चैवं पदार्थान्तरकल्पने गौरवमिति वाच्यम्, विचाराऽसहत्वात् । तथाहि- शब्दस्याऽतिरिक्तत्वे कुतोऽस्माकं गौरवम् ? न हि शब्दस्त्वदनभिमतो येन ततोऽस्माकं गौरवं स्यात् प्रत्युत तस्मिन् गुणत्वजातिकल्पने तवैव गौरवम् । न च तस्मिन् गुणत्वजातिसम्बन्धाभावस्त्वया कल्पनीय इति साम्यमिति वाच्यम्, प्रतियोगिग्राहक-प्रमाणाभावनिबन्धनस्याऽत्यन्ताभावस्य प्रतियोग्यसिद्ध्यैव सिद्धत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । कर्णशष्कुल्यां च तस्य स्वरूपं समवायो वा सन्निकर्षः तस्य समवाय्यन्तरं कल्पयद्भिः यस्मिन् यस्मिन् देशेऽवच्छेदकत्वं कल्प्यते तस्मिन् तस्मिन् अस्माभिः स्वरूपसम्बन्धस्य समवायस्य वा कल्पनेन गौरवाऽभावात्, प्रत्युत समवाय्यन्तरं कल्पयतां परेषामेव गौरवमि'ति **वदन्ति** ।

नैयायिकैकदेशिनस्तु ''संयोगिद्रव्यं शब्दः दूरतो भेर्यां प्रहतायां 'आगच्छति शब्द' इति प्रतीतेः । अत एवाकस्मिकोलाहलशब्दप्रतिहतं शिथिलकुड्यादिकं डोलायते, दीर्यते शीर्यते च हठात् स्फुटन्ति च श्रवणपुटेषु घटमानाः सिक्थपिण्डा इवाश्य तथा नयनगोलकाण्डा विघटिताः भ्रमन्ति पतन्ति च । स्पृश्यते चानुभवरसिकैः सूक्ष्मदर्शिभिरदूरदेशपरिलुठदयस-शतघ्नी-निपतनजन्मा निष्ठुरतरो निर्ह्रादः कर्पन्निव देहमभिधावन्नितःस्पर्शवानपि शब्दः । स च स्पर्शः क्वचिदुद्भूतः क्वचिदनुद्भूतः । ततश्च स्पर्श-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-वेगाख्यगुणनवकवान् सावयवद्रव्यं शब्द'' इति **व्याचक्षते** ।

यत्तु शब्दस्य गुणत्वं न स्यात् तदा तत्र गुणवृत्तिलौकिकविषयतासम्बन्धेन श्रावणप्रत्यक्षोत्पादासम्भवेन चक्षुरतिरिक्तं श्रोत्रेन्द्रियरूपं यद्बहिरिन्द्रियं तद्ग्राह्यत्वं न स्यादिति, **तत्र** शब्दद्रव्यत्वपक्षे द्रव्यवृत्तिलौकिकविषयतया एव शब्दकार्यताऽवच्छेदकसम्बन्धत्वाङ्गीकारसम्भवात् । वस्तुतस्तु समवृत्तिलौकिकविषयतया एव शब्दकार्यतावच्छेदकत्वमित्यादिकं बहुतरमूहनीयं स्वसमयपरिकर्मितमतिभिरिति **दिक्** ।

एवञ्च = निरुक्तरीत्या शब्दस्य द्रव्यत्वे सिद्धे सति च, **अस्य** = शब्दस्य, **पौद्गलिकत्वप्रतिक्षेपाय** = पुद्गलपरिणामत्वनिराकरणाय, अन्यपक्षस्याऽग्रे 'उपन्यस्ता' इत्यनेन सह । **स्पर्शशून्याश्रयत्वमिति** । प्रयोगस्त्वेवम् - शब्दो न पौद्गलिकः स्पर्शशून्याश्रयकत्वात्, आकाशपरिमाणवत् । स्पर्शशून्याश्रयकत्वञ्च स्पर्शरहितसमवायिकारणकत्वरूपं बोध्यं, तेन न कालिकादिना स्पर्शरहिताश्रयकत्वमादाय व्यभिचारः । शब्दसमवायिकारणस्याकाशस्य स्पर्शशून्यत्वेन न हेतोः स्वरूपाऽसिद्धत्वमिति

द्रव्यस्वरूप ही माना जाय, जिसकी वजह से सब समस्याएं नौ-दो-ग्यारह हो जाय । यहाँ यह शङ्का हो कि —> 'शब्द को द्रव्य मानने पर शब्द में अनन्त कर्ण आदि के संयोग की कल्पना का गौरव प्रसक्त होगा, जो महागौरवग्रस्त है' <— तो इसका समाधान यह है कि शब्द को पवनगुण मानने वाले नव्यनैयायिक के मत में भी शब्द में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से अनन्त कर्णसंयोगादि की कल्पना तो करनी ही पड़ेगी, क्योंकि 'कर्णसंयुक्त पवन का शब्द गुण है' यह नव्य नैयायिक की मान्यता है, जब कि हमारे मत में शब्द में अपृथग्भावनामक लघु सम्बन्ध से ही अनन्तकर्णसंयोगादि की कल्पना की जाती है । मतलब यह है कि शब्द में अनन्त कर्णसंयोगादि नव्यनैयायिक के मतानुसार सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से अवश्य कल्पनीय है जो सामानाधिकरण्यसम्बन्ध एकाधिकरणनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वस्वरूप गुरुशरीरवाला है । जब कि हम स्याद्वादी तो अपृथग्भाव नामक लघुसम्बन्ध से ही शब्द में तादृश संयोग की कल्पना करते हैं । स्पष्ट ही है कि नव्य नैयायिक के मत में सम्बन्ध गुरुतर है जब कि स्याद्वादी का अभिमत सम्बन्ध लघुतर है, जो नैयायिकमतानुसार समवायात्मक हो सकता है । अतः इस गौरव दोष की वजह शब्द में द्रव्यत्व का स्वीकार ही मुनासिब है - यह फलित होता है ।

❋ शब्दद्रव्यत्वबाधक हेतुपञ्चकनिराकरण ❋

एवञ्च. । प्राचीन नैयायिक शब्द में पौद्गलिकत्व = द्रव्यत्व के निरासार्थ पांच हेतुओं को बताते हैं । संक्षेप में उनका बयान इस तरह है कि - 'शब्द पौद्गलिक नहीं है, क्योंकि वह स्पर्शशून्य में आश्रित है । जिसका आश्रय स्पर्शशून्य होता है, वह पौद्गलिक नहीं होता है, जैसे आकाशपरिमाण । शब्द के आश्रय आकाश में स्पर्श नहीं होने से शब्द आकाशपरिमाणादि की भाँति पौद्गलिक नहीं हो सकता ॥१॥ इस तरह अतिनिबिड प्रदेश में भी शब्द के गमन-आगमन का प्रतिघात नहीं होने से वह पौद्गलिक नहीं है । जो पौद्गलिक होता है उसके गमन-आगमन में अतिनिबिड भित्ति आदि प्रतिबन्धक बनते हैं, जैसे पत्थर आदि पौद्गलिक द्रव्य के गमनागमन में दीवार प्रतिबन्धक बनती है । मगर अतिनिबिड दीवार को भेद कर भी

निर्गमयोरप्रतिघातः, (३) पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धिः, (४) सूक्ष्ममूर्तान्तराऽप्रेरकत्वं, (५) गगनगुणत्वं चेति पञ्चहेतवो ये जरन्नैयायिकैरुपन्यस्तास्ते हेत्वाभासा एव । तथाहि-प्रथम-स्तावन्न सिद्धिसौधमध्यास्ते, भाषावर्गणादेस्तदाश्रयस्य स्पर्शवत्त्वात्, पुद्गलस्य स्पर्शवत्त्व-नियमात्, अन्यथा तत्पुद्गलेषु कदापि स्पर्शानुद्भवप्रसङ्गात् । न चैतदभिमतमनियतारम्भवाद इत्यन्यत्र विस्तरः ।

❀ जयलता ❀

प्राचामाशयः । द्वितीयहेतुमाह **अतिनिबिडप्रदेशप्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघात** इति । प्रयोगस्त्वयमूहनीयः । घटादेः पौद्गलिकस्य सतोऽतिनिबिडप्रदेशाद् गमनागमनयोः प्रतिघातो दृष्टः । तदतिक्रमाच्छब्दस्याऽपौद्गलिकत्वमिति प्राचीननैयायिकाशयः । तृतीयस्तु हेतुः **पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धिः** । घटादेः पौद्गलिकस्योत्पत्तेःपूर्वं विनाशादनु चावयवा उपलभ्यन्त इति दृष्टम् । शब्दोत्पादादर्वाक् तद्ध्वंसानन्तरञ्च तदवयवानुपलब्धेस्तस्याऽपौद्गलिकत्वमित्यभिप्रायः । चतुर्थहेतुः **सूक्ष्ममूर्तान्तराप्रेरकत्वमिति** । लोष्ठादेः पौद्गलिकस्य गमनागमनाभ्यां सूक्ष्मतूलादिमूर्तद्रव्यस्य प्रेरणं दृष्टचरं शब्दगमनागमनाभ्यां तु न तथा तत्प्रेरणं दृष्टमिति व्यापकानुपलब्ध्याऽपि तत्पौद्गलिकत्वं प्रतिषिद्धं भवतीति भावः । पञ्चमहेतुः **गगनगुणत्वं** अपि तस्य पौद्गलिकत्वं अपाकरोति, गगनपरिमाणादौ तथोपलब्धेरिति **पञ्चहेतवो ये जरन्नैयायिकैः उपन्यस्ताः ते हेत्वाभासा एव,** स्वरूपासिद्धिव्यभिचारादिसरोष-विषमविषधरविषाङ्गविधुरितत्वात् । **तथाहि - प्रथमस्तावन्न सिद्धिसौधमध्यास्ते, भाषावर्गणादेः तदाश्रयस्य** = शब्दात्मकपरिणामाधिकरणस्य **स्पर्शवत्त्वात्**, अतः स्पर्शशून्याश्रयकत्वं स्वरूपासिद्धम् । तदपि कुतः ? **पुद्गलस्य स्पर्शवत्त्वनियमात्** 'स्पर्शरस-गन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' (५/२३) इति **तत्त्वार्थसूत्र**-वचनात्, **अन्यथा** = पुद्गलत्वावच्छेदेन स्पर्शादिरनुपगमे, **तत्पुद्गलेषु** = शब्दोपादानकारणीभूतपुद्गलेषु **कदापि स्पर्शानुद्भवप्रसङ्गादिति** । **न च एतत्** = तत्पुद्गलेषु स्पर्शानुद्भवत्वं, **अभिमतं अनियतारम्भवादे** स्याद्वादिमते । **न च** शब्दस्य पुद्गलपर्यायत्वे चक्षुषोपलम्भप्रसङ्गो रूपवदिति **वाच्यम्**, गन्धपरमाणुभिः व्यभिचारात् । न च तदवृश्यत्वान्न तद्दर्शनमिति **वाच्यम्**, शब्दपुद्गलानामपि तत एव तथा भूत । एतेन शब्दस्य पुद्गलस्कन्धस्वभावत्वे घटवत् चाक्षुषप्रसङ्ग इत्यपि **प्रत्युक्तम्**, गन्धेऽपि तदापत्तेस्तुल्यत्वात् इत्यन्यत्र **विस्तरः** ।

शब्द का गमनागमन होता है । अतएव वह पौद्गलिक नहीं हो सकता ॥२॥ तथा शब्द की उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के बाद उसके अवयव की उपलब्धि नहीं होती है । जो पौद्गलिक होता है उसकी उत्पत्ति के पहले और विनाश के बाद उसके अवयव की उपलब्धि होती है, जैसे घट । मगर शब्द में ऐसा नहीं है । अतएव वह पौद्गलिक नहीं है ॥३॥ तथा शब्द अन्य सूक्ष्म मूर्त पदार्थ का प्रेरक भी नहीं होता है । मतलब यह है कि पत्थर, मिट्टी, घट, पट आदि पौद्गलिक पदार्थ गमनागमन करते हैं तब कपास, वायु आदि अन्य सूक्ष्म मूर्त पदार्थ को गतिमान करते हैं मगर शब्द गमनागमन करने पर भी कपास आदि अन्य सूक्ष्म मूर्त पदार्थ को गतिमान नहीं करता है । अतएव वह पौद्गलिक नहीं है ॥४॥ तथा शब्द में पौद्गलिकत्व का प्रतिक्षेप करनेवाला पाँचवा और अन्तिम हेतु है गगनगुणत्व । जिसमें गगनगुणत्व रहता है वह पौद्गलिक नहीं होता है, जैसे गगनपरिमाण । गगनपरिमाण में गगनगुणत्व रहता है । अतएव वह पौद्गलिक नहीं है । इस तरह शब्द भी गगनगुण होने की वजह पौद्गलिक = पुद्गलपरिणाम नहीं है ॥५॥ इस तरह पाँच हेतु से शब्द में पौद्गलिकत्व का प्रतिषेध होता है' ।

तं हैं. । मगर प्रकरणकार श्रीमद्जी इसके खिलाफ यह कहते हैं कि प्राचीन नैयायिक से उपन्यस्त ये पाँच हेतु सद्धेतु नहीं हैं किन्तु असद्धेतु हैं, हेत्वाभास हैं । वह इस तरह - प्रथम हेतु है स्पर्शशून्याश्रयत्व यानी स्पर्श से शून्य में रहना । मगर यह हेतु स्वरूपाऽसिद्धि दोष से दुष्ट है, क्योंकि शब्दात्मक परिणाम के आश्रय भाषावर्गणा में स्पर्श रहने से शब्द में स्पर्शशून्याश्रितत्व = स्पर्शशून्य में रहना-यह हेतु रहता नहीं है । भाषावर्गणा पुद्गल से निष्पन्न है एवं पुद्गलस्वरूप है और पुद्गलमात्र में वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श रहते हैं । यदि ऐसा न माना जाय तब तो भाषावर्गणा के पुद्गलों में कभी भी स्पर्श का उद्भव ही नहीं होगा । मगर यह तो अनियत आरम्भवाद में अभिमत नहीं है । पुद्गल में ही यदि स्पर्श न होगा तब पुद्गल के समूह से निष्पन्न भाषावर्गणा में भी स्पर्श कैसे आयेगा ? मगर शब्द में स्पर्श तो प्रमाणसिद्ध है । इसलिए शब्दात्मक परिणाम में स्पर्शशून्याश्रयत्व = स्पर्शशून्याश्रितत्व हेतु स्वरूपाऽसिद्ध है, जिसकी वजह शब्द में पौद्गलिकत्व का प्रतिषेध नहीं हो सकता । इस विषय का विस्तार अन्यत्र प्राप्य है ।

❧ शब्दाश्रय स्पर्शवान है ❧

शब्दाश्रयः स्पर्शवान् बहिरिन्द्रियार्थाधारत्वात्पृथिव्यादिवदित्यप्याहुः । अत एव स्पर्शवदनारभ्यत्वेन जन्यद्रव्यत्वाभावसाधनमप्यस्य परास्तम्, तत्राऽपि विजातीयद्रव्यत्वेन जन्यद्रव्यजनकत्वमित्यस्याऽन्धकारवादे व्यवस्थापितत्वाच्च ।

❀ जयलता ❀

शब्दाश्रयः = शब्दोपादानकारणीभूतः **स्पर्शवान् बहिरिन्द्रियार्थाधारत्वात्** = बहिरिन्द्रियग्राह्यसमवायिकारणत्वात्, **पृथिव्यादिवदिति** । बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वञ्चात्र बहिरिन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्वरूपं बोध्यम्, तेन 'ज्ञानो घट' इतिप्रत्यक्षे ज्ञानस्याऽप्युपनीतभानविषयत्वात्तद्वत्यात्मनि नानैकान्तिकत्वम्, न वा केनाऽप्यगृहीतशब्दाश्रये हेतोर्भागासिद्धिः तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वात् । यद्यपि स्वमते मनसो नोइन्द्रियत्वेन बहिःपदमनतिप्रयोजनं तथापि परमते मनस इन्द्रियत्वान्मानसविषयज्ञानादिसमवायिकारणे आत्मनि व्यभिचारवारणाय तस्य सार्थकत्वमित्यादि विभावनीयम् । आहुः प्राञ्चो जैनाचार्या **रत्नप्रभसूरिप्रभृतय** इति गम्यते ।

ननु शब्दो न जन्यद्रव्यं स्पर्शवदनारभ्यत्वादित्यनुमाने जाग्रति तस्य पौद्गलिकत्वं कथं सिद्धमित्याशङ्कामपाकरोति - **अत एव** = शब्दसमवायिकारणस्योक्तानुमानेन स्पर्शवत्त्वसिद्धत्वादेव, अस्याग्रे परास्तमित्यनेनान्वयः । शब्दाश्रयः स्पर्शवानित्यनुमानेन 'स्पर्शवदनारभ्यत्वस्य हेतोः स्वरूपासिद्धत्वमावेदितम् । किञ्च स्पर्शवदारभ्यत्वे बाधिते शब्दस्य स्पर्शवदनारभ्यत्वसिद्धिः । परं तादृशबाध एव नास्ति । अस्तु वा यथाकथञ्चिच्छब्दे स्पर्शवदनारभ्यत्वं तथापि शब्दे जन्यद्रव्यत्वाभावः कथं सिध्येत् ? न हि स्पर्शवत्समवेतत्वं जन्यद्रव्यत्वव्यापकं येन तदभावात्तदभावसिद्धिः स्यात् । **न च** स्पर्शवत्त्वस्यैव जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वाच्छब्दसमवायिकारणीभूते आकाशे स्पर्शविरहान्न शब्दस्य जन्यद्रव्यत्वमिति **वाच्यम्, तत्र** = नैयायिकस्य **अपि विजातीयद्रव्यत्वेन जन्यद्रव्यजनकत्वं** न तु स्पर्शवत्त्वेन **इत्यस्य** पूर्वं (पृष्ठ ३८२) पञ्चमकारिकाविवरणे **अन्धकारवादे व्यवस्थापितत्वाच्च** । तदुक्तं पूर्वं तत्र 'अनन्तानुद्भूतस्पर्शकल्पनामपेक्ष्य लघुभूतैकजातिविशेषकल्पनाया एवोचितत्वात्' इति । तथानैयायिकमतानुरोधेनापि 'जातिविशेष एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वेनाऽभ्युपेयः स च तमस्यपि सम्भवती'त्युपपादितं पूर्वं तत्रैव । ततश्च तमः-शब्दवर्गणा-प्रभोद्योत-छायाऽऽतप-पृथिवी-जल-तेजःप्रभृतिद्रव्यसाधारणं वैजात्यमेव जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकमिति न शब्दस्य जन्यद्रव्यत्वबाध इति गूढार्थः । **एतेन** शब्दस्य जन्यद्रव्यत्वे स्पर्शवदवयवारभ्यत्वं स्यात्, स्पर्शवदनन्त्यावयवित्वस्य द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वादित्यपि **निराकृतम्,** तत्र स्पर्शवत्त्वस्यैवेष्टत्वात् । वस्तुतस्तु तेन रूपेण मारम्भकत्वं स्पर्शवत्त्वादेर्विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहात्, अनन्त्यावयवित्वस्य द्रव्यसमवायिकारणत्वपर्यवसितस्य कारणतानवच्छेदकत्वाच्चेत्यादिकं पूर्वोक्तमिहानुसन्धेयम् (पृ.३८१) ।

शब्दा. । **अन्य विद्वानों का यह कथन है कि 'शब्द के आश्रय में स्पर्श है, क्योंकि वह बहिरिन्द्रिय अर्थ** (=शब्द) **का आधार है । जो बहिरिन्द्रियग्राह्य विषय का आधार होता है वह स्पर्शवाला होता है, जैसे पृथ्वी आदि । बहिरिन्द्रिय = घ्राण से ग्राह्य गन्ध आदि का आधार होने पर पृथ्वी आदि में जैसे स्पर्श रहता है ठीक वैसे ही बहिरिन्द्रिय = श्रोत्र से ग्राह्य शब्दात्मक परिणाम का आधार होने से भाषावर्गणा में स्पर्श सिद्ध होता है' । इसलिए यहाँ यह नैयायिकवक्तव्य कि —> 'शब्द स्पर्शवद् द्रव्य से अनारब्ध होने की वजह जन्य द्रव्य नहीं हो सकता है । जो स्पर्शवद्द्रव्य से आरब्ध नहीं होता है वह जन्य द्रव्य नहीं हो सकता है जैसे कि वर्ण, गन्ध, आत्मा, आकाश आदि । शब्द का आरम्भ भी स्पर्शशून्य आकाश से होने से शब्द में स्पर्शवदनारभ्यत्व रहता है, जिससे शब्द में जन्यद्रव्यत्व का अभाव सिद्ध होता है । शब्द में जन्यद्रव्यत्व का अभाव सिद्ध होने से स्याद्वादी को अभिमत जन्यद्रव्यत्व शब्द में बाधित या सत्प्रतिपक्षित हो जायेगा' <— भी इसलिए निराकृत हो जाता है कि बहिरिन्द्रियग्राह्यविषयाधारत्व हेतु से शब्दाश्रय में स्पर्श सिद्ध हो जाने से शब्द में स्पर्शवदनारभ्यत्व हेतु ही स्वरूपाऽसिद्ध हो जाता है, तब उससे कैसे शब्द में जन्यद्रव्यत्वाभाव की सिद्धि हो सकती है ? दूसरी बात यह है कि जन्य द्रव्य का कारणताअवच्छेदक नैयायिकमत में भी विजातीयद्रव्यत्व ही है, न कि स्पर्शवदारभ्यत्व (जो अन्धकारजनक पुद्गल में भी एवं शब्दजनक भाषावर्गणा में भी रह सकता है)- यह तो पहले (देखिये पृष्ठ-३८२) अन्धकारवाद में प्रमाण से सिद्ध हो चुका है, तब 'स्पर्शवदनारभ्यत्व होने की वजह शब्द में जन्यद्रव्यत्वाभाव रहेगा' यह कैसे कहा जा सकता है ? शब्द के जनक भाषावर्गणा में जन्यद्रव्यकारणतावच्छेदक विजातीयद्रव्यत्व रह सकता है तब जन्यद्रव्यकारणतावच्छेदकवैजात्यावच्छिन्न (= भाषावर्गणा) से जन्य शब्द में जन्यद्रव्यत्व की सिद्धि भी निराबाध है- यह फलित होता है ।**

एवं सति शब्दो न स्पर्शशून्याश्रयः बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वे सति सामान्यवत्त्वाद् रूपवदित्यनुमानमप्याहुः ।

कश्चित्तु शब्दो न स्पर्शशून्याश्रयो बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वाद् रूपवदित्याह । तदसत्, बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वं हि यत्किंचिद्बहिरिन्द्रियवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नभेदव्याप्यबहि-

❋ जयलता ❋

एवं = शब्दाश्रयस्य स्पर्शवत्त्वे सिद्धे सति **'शब्दो न स्पर्शशून्याश्रयः बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वे सति सामान्यवत्त्वादिति** । बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वमनुपदोक्तस्वरूपं बोध्यम् । शब्दत्व-रूपत्वादौ व्यभिचारवारणाय सामान्यवत्त्वादिति ग्रहणम् । गगनपरिमाणादौ व्यभिचारवारणाय बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वमित्युक्तम् । ज्ञानादौ व्यभिचारवारणाय बहिरित्युक्तम् । **आहुः** पूर्वाचार्या इति शेषः । ततश्च शब्दे स्पर्शशून्याश्रयकत्वहेतोः स्वरूपासिद्धत्वमावेदितं भवति । **एतेन** 'अस्पर्शत्वाच्छब्दाश्रयस्य' (न्या.सू. २-२-३८ भा.) इति **न्यायभाष्यकारवचनमपि निरस्तम्** ।

कश्चित्तु इति आहेत्यनेनान्वेति । **शब्दो न स्पर्शशून्याश्रय** इति शब्दं पक्षयित्वा स्पर्शशून्यासमवेतत्वसाधनाय हेतुमाह **बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वादिति** । त्वगिन्द्रियादिबहिरिन्द्रियभिन्नबहिरिन्द्रियत्वनियामकत्वादिति । दृष्टान्तमाह- **रूपवदिति** । रूपस्य त्वगिन्द्रियादिभिन्नचक्षुर्लक्षणबहिरिन्द्रियत्वव्यवस्थापकत्वेन यथा स्पर्शशून्यानाश्रयकत्वं तथा शब्दस्यापि त्वगादिभिन्नश्रोत्रात्मकबहिरिन्द्रियत्वव्यवस्थापकत्वेन स्पर्शशून्याकाशानाश्रयकत्वं सिध्यतीति तात्पर्यं शब्दद्रव्यत्ववादिनः कस्यचित् ।

तत्र प्रकरणकार आह- **तदसदिति** । बहिरिन्द्रियं चक्षुरादिबहिरिन्द्रियातिरिक्तत्वनियामकत्वेन शब्दे स्पर्शशून्यानाश्रयकत्वसाधनं न सम्यगित्यर्थः । तदेव समर्थयितुमाह **बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वं हि यत्किंचिद्बहिरिन्द्रियवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्न-**

एवं. । इसलिए तो **प्राचीन जैनाचार्यों** ने भी ऐसा अनुमानप्रयोग बताया है कि —> 'शब्द स्पर्शशून्यद्रव्य में आश्रित नहीं है, क्योंकि **बहिरिन्द्रियग्राह्य** होते हुए वह **सामान्यवान्** (=जातिमान्) है, जैसे रूप । रूप बहिरिन्द्रिय चक्षु से ग्राह्य है एवं रूपत्वजाति का आश्रय है, अतएव उसका आश्रय पृथ्वी, जल, तेज आदि द्रव्य स्पर्शवाला होता है । ठीक वैसे ही शब्द भी बहिरिन्द्रिय श्रोत्र से ग्राह्य है एवं शब्दत्व जाति का आश्रय है, अतएव शब्द का आश्रय=शब्दसमवायिकारण = शब्दोपादानकारण भाषावर्गणा भी स्पर्शवाली सिद्ध होती है । अतः शब्द में स्पर्शवदाश्रितत्व की सिद्धि निराबाध है' <— । इससे भी शब्द में पौद्गलिकत्व = पुद्गलपरिणामत्व की सिद्धि सूचित होती है, क्योंकि स्पर्श पुद्गल का ही धर्म है एवं शब्द के उपादान कारण में स्पर्श अभी सिद्ध किया गया है - यह प्रकरणकार श्रीमद्जी का तात्पर्य है ।

❋ बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वप्रदर्शनम् ❋

कश्चि. । यहाँ किसी विद्वान् का यह कथन है कि —> 'शब्द स्पर्शशून्य में आश्रित नहीं है, क्योंकि वह बहिरिन्द्रिय-व्यवस्थापक है । जैसे रूप चक्षुनामक बहिरिन्द्रिय का त्वगिन्द्रियादि से अतिरिक्त बाह्य इन्द्रियत्वेन साधक = व्यवस्थापक होने से स्पर्शशून्य में आश्रित नहीं है ठीक वैसे ही शब्द भी श्रोत्रनामक बहिरिन्द्रिय का त्वगिन्द्रियादि से अतिरिक्त बहिरिन्द्रियत्वेन व्यवस्थापक होने से स्पर्शशून्य में आश्रित नहीं हो सकता, शब्द का आश्रय = उपादानकारण स्पर्शशून्य सिद्ध नहीं हो सकता। इस तरह भी शब्द में स्पर्शशून्याश्रितत्व हेतु स्वरूपासिद्ध हो जाता है' <— मगर प्रकरणकार श्रीमद्जी कहते हैं कि उपर्युक्त कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि बहिरिन्द्रिय का व्यवस्थापकत्व तो रूपत्वादि में व्यभिचारी है अर्थात् रूपत्वादि में बहिरिन्द्रिय-व्यवस्थापकत्व हेतु रहने पर स्पर्शशून्यानाश्रयकत्वात्मक साध्य नहीं रहता है । इसके पहले यह समझना जरूरी है कि बहिरिन्द्रिय-व्यवस्थापकत्व क्या है ? बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्व का मतलब है यत् किंचित् बहिरिन्द्रिय के विषय में रहनेवाले सामान्य धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद का व्याप्य ऐसा बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्व । यह तो रूपादि की भाँति रूपत्वादि में भी रहता है, क्योंकि घ्राणेन्द्रियविषय सौरभ आदि में रहनेवाले गन्धत्वात्मक सामान्यधर्म से अवच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद का व्याप्य ऐसा चक्षुजन्यप्रत्यक्षविषयत्व रूपादि की भाँति रूपत्वादि में भी रहता है । मगर रूपादि में ही स्पर्शशून्यानाश्रयकत्व है न कि रूपत्वादि में, क्योंकि रूपत्वादि के आश्रय रूपादि स्पर्शशून्य ही हैं । इस तरह रूपत्वादि में विवक्षित हेतु रहने पर भी स्पर्शशून्यनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वाभाव नहीं रहने से हेतु में स्पष्ट ही व्यभिचार दोष है । अतएव उससे शब्द में स्पर्शशून्यानाश्रयकत्वस्वरूप साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती । इसके अतिरिक्त दोष यह है कि हेतु का 'यत्किंचिद्बहिरिन्द्रियविषयवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नभेदव्याप्य' ऐसा विशेषण व्यभिचारवारक न होने से व्यर्थ हो जाता है जिसके फलस्वरूप

रिन्द्रियजन्यग्रहणग्राह्यत्वम् । तथा च रूपत्वादौ व्यभिचारः, व्याप्यान्तवैयर्थ्यं, 'सामान्यवत्त्वे सती'तिविशेषणदाने च पूर्वहेत्वविशेष इति ।

द्वितीयोऽप्यन्यतराऽसिद्धः, शब्दगुणत्ववादिना क्रियारूपयोस्तत्प्रवेशनिर्गमयोरनङ्गीकारात्, भित्त्यादिकमुपभिद्य प्रसर्पिणा मृगमदादिद्रव्येणाऽनैकान्तिकश्च ।

❋ जयलता ❋

भेदव्याप्यबहिरिन्द्रिय-जन्यग्रहणग्राह्यत्वमिति । यत्किञ्चिद्बाह्येन्द्रियग्राह्यनिष्ठो यः सामान्यधर्मः तदवच्छिन्नभेदव्याप्यं बहिरिन्द्रियजलौकिकसाक्षात्कारस्वरूपयोग्यत्वं खलु बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वमित्यर्थः । यथा घ्राणग्राह्यसौरभादिवृत्तिगन्धत्वलक्षणसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदव्याप्यं बहिरिन्द्रियज-ग्रहस्वरूपयोग्यत्वं रूपादौ वर्तते तदेव बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वमुच्यते । **तथा च रूपत्वादौ व्यभिचारो** दुर्वारः, यतः घ्राणग्राह्यसौरभादिवृत्तिगन्धत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदव्याप्य-बहिरिन्द्रियजग्रहग्राह्यत्वस्य सत्त्वेऽपि स्पर्शशून्याश्रयकत्वस्य सत्त्वेन स्पर्शशून्यानाश्रयकत्वस्य विरहात्। आदिपदेन रूपवृत्तिरूपाभावादिग्रहणम् । **न च** गुणत्वे सतीति विशेषणान्न व्यभिचार इति **वक्तव्यम्,** हेतोः स्वरूपाऽसिद्धत्वापत्तेः । न ह्यस्मन्मते शब्दस्य गुणत्वमस्ति । साम्प्रतं व्याप्यत्वासिद्धिमुपदर्शयति - **व्याप्यान्तवैयर्थ्यमिति** । 'यत्किञ्चिद्बहिरिन्द्रियग्राह्यवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदव्याप्य'-त्वस्य हेतुविशेषणस्य व्यभिचारवारकत्वाऽभावेन व्याप्यान्तवैयर्थ्येन व्याप्यत्वासिद्धिरपि दुर्निवारा, तादृशधर्मस्य अतिगुरुतया हेतुतानवच्छेदकत्वादित्याशयः प्रकरणकृतः । **न** चेन्द्रियान्तराऽग्राह्यत्वे सति बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वमेव बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वमस्त्विति वाच्यम्, तथापि रूपत्वादौ व्यभिचारो व्याप्यत्वासिद्धिश्च ।

ननु व्याप्यत्वासिद्धिनिवारणाय बहिरिन्द्रियग्रहणस्वरूपयोग्यत्वस्यैव स्पर्शशून्यनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वाभावसाधकत्वमस्तु। **न च** रूपत्वादौ व्यभिचारः, तस्य बहिरिन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्वादिति **वक्तव्यम्,** सामान्यवत्त्वे सतीति हेतोर्विशेषणादिति **चेत्? नैवम्,** बहिरिन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्वलक्षणहेतोः **'सामान्यवत्त्वे सती'तिविशेषणदाने च पूर्वहेत्वविशेषः** = 'शब्दो न स्पर्शशून्याश्रयः बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वे सति सामान्यवत्त्वाद्रूपवदि'त्यनुमानोपदर्शितहेत्वभिन्नत्वप्रसङ्ग इति न ततः कश्चिद्विशेष इत्यर्थः ।

इत्थञ्च शब्दे पौद्गलिकत्वप्रतिक्षेपायोपन्यस्तः स्पर्शशून्याश्रयकत्वहेतुः स्वरूपासिद्धो न पौद्गलिकत्वप्रतिषेधाय समर्थ इति ग्रन्थकृदाशयः।

शब्दे पौद्गलिकत्वनिराकरणकृते प्राचीननैयायिकोपन्यस्तोऽतिनिबिडप्रदेशप्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातलक्षणो **द्वितीयो** हेतुः **अपि अन्यतराऽसिद्धः** = वादिप्रतिवाद्यन्यतरमते स्वरूपासिद्धो न मनीषितसाध्यसिद्धिसाधनायाऽलम् । तदेव समर्थयति **शब्दगुणत्ववादिना** नैयायिकेन **क्रियारूपयोः** = द्रव्यमात्रवृत्तिकर्मस्वरूपयोः **तत्प्रवेशनिर्गमयोः** = शब्दनिष्ठतया गमनागमनक्रिययोः **अनङ्गीकारात्** । अनुमानप्रयोगे हेतोः = वादिप्रतिवाद्युभयासिद्धस्यैव साध्यसाधकत्वात् । **भित्त्यादिकमुपभिद्य प्रसर्पिणा मृगमदादिद्रव्येणाऽनैकान्तिकश्च** हेतुः मृगमदादौ निबिडतरभित्त्यादिप्रदेशप्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातस्य सत्त्वेऽपि पौद्गलिकत्वाभावस्य

व्याप्यत्वासिद्धि दोष प्रसक्त होता है । यदि व्यर्थ होने से तादृशविशेषण को हटा कर केवल 'बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व को हेतु बनाया जाय तब भी रूपत्वादि में व्यभिचार दोष आयेगा । इसके निवारणार्थ 'सामान्यवत्त्वे सति' ऐसा हेतु का विशेषण दिया जाय तब यद्यपि व्यभिचार दोष का निवारण तो हो सकता है, क्योंकि रूपत्वादि में बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व होने पर भी सामान्य (=जाति) नहीं होने से विशिष्ट हेतु ही नहीं रहता है तथापि तब हेतु 'सामान्यवत्त्वे सति बहिरिन्द्रियजन्यग्रहणग्राह्यत्वात्' ऐसा बनेगा जो पूर्वोक्त अनुमान में प्रदर्शित हेतु 'बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वे सति सामान्यवत्त्वात्' के समान बन जाता है । दोनों हेतु तुल्य बन जाने से प्रस्तुत अनुमानप्रयोग से कुछ अधिक प्रतिपादन या नयी रीति से या अन्य हेतु से शब्द में स्पर्शशून्याश्रयकत्व की सिद्धि नहीं होने से पूर्वोक्त अनुमान से इसमें कुछ फर्क नहीं है । फिर भी शब्द में पौद्गलिकत्व = पुद्गलपरिणामत्व के प्रतिक्षेपार्थ प्राचीन नैयायिक से उपन्यस्त स्पर्शशून्याश्रयकत्व हेतु तो स्वरूपाऽसिद्ध ही रहता है-यह ख्याल में रखना जरूरी है ।

❋ प्राचीन नैयायिक का द्वितीय हेतु असिद्ध एवं व्यभिचारी ❋

द्विती. । तथा शब्द में पौद्गलिकत्व के निराकरणार्थ प्राचीन नैयायिक ने जो द्वितीय हेतु बताया था 'अतिनिबिडप्रदेश में प्रवेश और निर्गम में अप्रतिघात' वह भी वादी-प्रतिवादीअन्यतराऽसिद्ध है । इसका कारण यह है कि प्रतिवादी नैयायिक शब्द को गुण मानते हैं और प्रवेश तथा निर्गमन क्रियात्मक होने की वजह गुण में नहीं रह सकते हैं, क्योंकि गुण में एक

अतिनिबिडप्रदेशे प्रसर्पणानङ्गीकारोऽप्युभयत्र समानस्तुल्ययोगक्षेमत्वात् ।
तृतीयोऽप्युल्कादिना सव्यभिचारः ।

❀ जयलता ❀

विरहेण व्यभिचारोऽपि प्रसज्यते । एतेन प्रयोगे उभयसिद्धहेतुप्रदर्शनस्यावश्यकत्वेऽपि प्रसङ्गेऽन्यतरसिद्धस्याऽपि गमकत्वादस्तु प्रकृते प्रसङ्गापादनमेवं शब्दः पौद्गलिकः स्यात् अतिनिबिडप्रदेशप्रवेशनिर्गमयोः प्रतिघातस्स्यादित्यपि **पराकृतम्**, गन्धपरमाणूनामपि तत्प्रसङ्गात् । **एतेन** न पुद्गलस्वभावः शब्दः, निश्छिद्रभवनाभ्यन्तरतो निर्गमनात्, तत्र बाह्यतः प्रवेशाद् व्यवधायकाऽवेदनादेश्च दर्शनात्, यस्तु पुद्गलस्वभावो न तस्यैवम्दर्शनं यथा लोष्टादेरित्यपि **निराकृतम्**, पुद्गलस्वभावत्वेऽपि तदविरोधात् । तदुक्तं **विद्यानन्देनाऽष्टसहस्र्यां** —> 'तस्य हि निश्छिद्र-निर्गमनादयः सूक्ष्मस्वभावत्वात् स्नेहादिस्पर्शादिवन्न विरुध्येरन्, कथमन्यथा पिहितताम्रकलशाभ्यन्तरगतैलजलादेर्बहिर्निर्गमनं स्निग्धतादिविशेषदर्शनादनुमीयेत ? कथं वा पिहितनिश्छिद्रमृद्घटादेः सलिलाभ्यन्तर-निहितस्यान्तःशीतस्पर्शोपलम्भात् सलिलप्रवेशोऽनुमीयेत ? तद्भेदनादिकं वा तस्य निश्छिद्रतयेक्षणात्कथमुत्प्रेक्षेत ? ततो निश्छिद्रनिर्गमनादिः स्नेहादिस्पर्शादिभिर्व्यभिचारी, न सम्यग्घेतुर्यतः शब्दस्य पुद्गलस्वभावत्वं प्रतिक्षिपेत्, तस्य पुद्गल-स्वभावत्वनिर्णयात्सर्वथाऽप्यविरोधात्' (अ.स.पृ.१५१) इति ।

किञ्च **अतिनिबिडप्रदेशे प्रसर्पणानङ्गीकारः अपि उभयत्र** गन्धपरमाणूनामिव शब्दपुद्गलानामपि शब्दद्रव्यत्व-गुणत्ववादिनोर्मते **समान** इति अतिनिबिडप्रदेशप्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातस्य भागासिद्धिः स्वरूपाऽसिद्धिर्वा उभयमतसिद्धा, **तुल्ययोगक्षेमत्वात्** । अत एव निबिडतरकुड्यादिना समस्त्यैव गन्धपरमाणूनां प्रतिघात इत्युक्तावपि न नः क्षतिः, शब्दपुद्गल-प्रतिघातस्याऽपि दृष्टत्वात् ।

वस्तुतस्तु भिन्नभाषाद्रव्याणां चतुःसमयलोकव्यापित्वाऽभ्युपगमात् अतिनिबिडकुड्यादिनाऽपि न तत्प्रतिघातः, औदारिकपुद्गलानामेवौदारिकपुद्गलप्रतिघातकत्वसम्भवात्, वैक्रियादिस्कन्धानां तु ततोऽतिसूक्ष्मत्वात्र तद्व्याघातकारित्वमौदारिकस्कन्धानां सम्भवति । तथापि संपूर्णलोकव्यापिनां भिन्नशब्दद्रव्याणामतिनिबिडकुड्यादिकं विभिद्य षट्सु दिक्षु विसर्पतां प्रायोऽस्मदादि-श्रावणाऽगोचरत्वात् 'अतिनिबिडप्रदेशे प्रसर्पणानङ्गीकारोऽप्युभयत्र समान' इति प्रकृते प्रकरणकृतोक्तमिति ध्येयम् ।

पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धिलक्षणः **तृतीयो** हेतुः **अपि** उल्कादिना आदिपदेन विद्युद्द्व्यणुकादिग्रहणं, **सव्यभिचारः**, निरुक्तहेतुसत्त्वेऽपि पौद्गलिकत्वाभावविरहात् । **न च** योगिभिस्तूल्काद्यवयवाः पूर्वं पश्चाच्चोपलभ्यन्त एवेति **वाच्यम्**, शब्देऽपि समसमाधानत्वात् ।

भी क्रिया नहीं रहती है । क्रिया का समवायिकारण केवल द्रव्य ही होता है । इसलिए नैयायिक के मतानुसार क्रियामात्र का शब्दात्मक गुण में अभाव होने से अतिनिबिडप्रदेशप्रवेशनिर्गम भी शब्द में असिद्ध होने पर अतिनिबिडप्रदेशप्रवेशनिर्गमाऽप्रतिघातात्मक हेतु शब्दात्मक पक्ष में कैसे रहेगा ? जब प्रतिवादी से दर्शित अनुमान का हेतु ही प्रतिवादी के मतानुसार पक्ष में नहीं रहता है तब उस हेतु से प्रतिवादी को अभिमत साध्य की सिद्धि पक्ष में कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है ।

दूसरी बात यह है कि प्राचीन नैयायिक से उपन्यस्त द्वितीय हेतु व्यभिचारी भी है, क्योंकि कस्तूरी आदि द्रव्य दीवार आदि की दूसरी ओर भी जाते हैं । मतलब कि कस्तूरी आदि के प्रवेश -निर्गम में अतिनिबिड दीवारादि प्रदेश से प्रतिघात नहीं होने से तादृश हेतु उसमें रहता है फिर भी पौद्गलिकत्वाऽभावात्मक साध्य कस्तूरी आदि द्रव्य में नहीं रहता है । इसलिए द्वितीय हेतु में साध्याभाववद्वृत्तित्वलक्षण व्यभिचार दोष भी है । तथा अधिक विचार किया जाय तो नैयायिक और स्याद्वादी दोनों के मतानुसार अत्यन्त निश्छिद्र दीवार या पर्वत आदि तो शब्द के गमनागमन दोनों में प्रतिघात = व्याघात करते ही हैं । अतः अतिनिबिडप्रदेशप्रवेशनिर्गमाऽप्रतिघातात्मक हेतु शब्द में स्वरूपाऽसिद्ध होता है । गन्धपरमाणु और शब्दपुद्गल दोनों में अतिनिबिड दीवार आदि से प्रतिघात का होना या न होना - इस विषय के प्रश्न और प्रत्युत्तर तो नैयायिक और स्याद्वादी दोनों के मतानुसार समान ही रहेंगे । अतः दूसरा हेतु भी शब्द में पौद्गलिकत्व का प्रतिक्षेप कर सकता नहीं है ।

❀ नैयायिक के तृतीय-चतुर्थ हेतु भी व्यभिचारी ❀

तृती. । इस तरह शब्द में पौद्गलिकत्व के प्रतिकारार्थ प्राचीन नैयायिकों का पूर्व और पश्चादवयवानुपलब्धिस्वरूप तृतीय हेतु भी उल्का, बिजली आदि में व्यभिचारी है, क्योंकि उनकी उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के बाद उनके अवयवों की उपलब्धि

चतुर्थोऽपि धूमादिना ।
पञ्चमस्तु स्पष्टमेव प्रागसिद्धत्वेन प्रदर्शित इति ।
स्यादेतत् - द्रव्यं भवन्नयं नित्यो वा स्यादनित्यो वा ?
अत्र मीमांसकानुयायिनो —> नित्य एव शब्दो 'यमेव पूर्वमश्रौषं स एवाऽयं गकार'

❋ जयलता ❋

सूक्ष्ममूर्त्तान्तराऽप्रेरकत्वलक्षणः **चतुर्थो** हेतुः **अपि धूमादिना** सव्यभिचारः । आदिपदेनोष्माप्रभादिग्रहणम् । धूमस्य सूक्ष्ममूर्त्तान्तराऽप्रेरकत्वेऽपि पौद्गलिकत्वाभावविरहात्, तस्य स्पर्शवत्त्वात् । तदुक्तं **स्याद्वादकल्पलतायां —>** 'स्पर्शवता शब्देन कर्णविवरं प्रविशता वायुनेव तद्द्वारलग्नतूलांशुकादेः प्रेरणं स्यात् ? न स्यात्, धूमेनाऽनेकान्तात् । धूमो हि स्पर्शवान्, तदभिसम्बन्धेन पांशुसम्बन्धेनेव चक्षुषोऽस्वास्थ्योपलब्धेः । न च तेन चक्षुःप्रदेशं प्रविशता तत्पक्ष्ममात्रस्याऽपि प्रेरणं समुपलभ्यत इति । न च स्पर्शवत्त्वे शब्दस्य वायोरिव स्पार्शनप्रसङ्गः, धूम-प्रभादिवदनुद्भूतस्पर्शत्वादि' <— (स्या.क.स्त.१०-गा.३६) त्यादि ।

वस्तुतस्तु मूर्त्तान्तरप्रेरकत्वमपि शब्देऽस्त्येव मेघगर्जनादितो भित्त्यादिडोलनादौ प्रसिद्धत्वात्, आधुनिकध्वनियन्त्रादिजन्यमहाध्वनेरपि पत्रादिप्रेरकत्वस्यापि दृष्टत्वात्स्वरूपाऽसिद्धिः भागासिद्धिर्वाऽपि चतुर्थहेतौ दुर्वारा तथापि स्फुटत्वान्न सा प्रदर्शितेति ध्येयम् ।

गगनगुणत्वलक्षणः **पञ्चमस्तु** पौद्गलिकत्वप्रतिषेधको हेतुः **स्पष्टमेव प्राक्** 'शब्दस्याकाशगुणत्वे सर्वस्य सर्वशब्दग्रहणापत्तिः श्रोत्रसमवायाऽविशेषादि'त्यादिना (पृष्ठ ६९३) **असिद्धत्वेन** = स्वरूपाऽसिद्धत्वेन **प्रदर्शित** इति सोऽपि न शब्दपौद्गलिकत्वप्रतिक्षेपकृतेऽलमित्यलं विस्तरेण । विस्तरस्तु **स्याद्वादरत्नाकर-सम्मतितर्क-स्याद्वादकल्पलतादितो**ऽवसेयः ।

शब्दनित्यानित्यत्वमीमांसार्थमुपक्रमते - **स्यादेतदिति । द्रव्यं भवन्** = द्रव्यत्वेन सिध्यन् **अयं** = शब्दः **नित्यो वा स्यादनित्यो वा ?** इति । अत्र नित्यत्वकोटिर्मीमांसकानामनित्यत्वकोटिस्तु नैयायिकानाम् । क्रमेण तन्मतं प्रदर्श्याऽग्रे शब्दस्य नित्यानित्यत्वं स्याद्वादिनामिति दर्शयिष्यति प्रकरणकार इति सन्दर्भः ।

अत्र = निरुक्तविप्रतिपत्तौ **मीमांसकानुयायिन** इति आहुरित्यनेनाऽग्रेऽन्वेति । **नित्य एव शब्द** इति । शब्दस्याऽनित्यत्वव्यधिकरणनित्यत्वमित्यर्थः । कुतः ? **'यमेव पूर्वमश्रौषं स एवायं गकार'** इत्यबाधितप्रत्यभिज्ञानात् । श्रुतश्रूयमाण-

न होने पर भी उनमें पौद्गलिकत्वाभावात्मक साध्य नहीं रहता है । अतएव तृतीय हेतु भी व्यभिचारी होने के सबब शब्द में पौद्गलिकत्व का प्रतिषेध करने में असमर्थ बन जायेगा । इस तरह सूक्ष्ममूर्त्तान्तराऽप्रेरकत्वस्वरूप चतुर्थ हेतु भी धूम, प्रभा आदि में पौद्गलिकत्वाभाव का व्यभिचारी है । धूम, प्रभा, उष्मा आदि द्रव्य गमनागमन करते हुए भी सूक्ष्म रूई आदि मूर्त्त द्रव्यों के प्रेरक बनते नहीं हैं । फिर भी उनमें पौद्गलिकत्वाऽभाव नहीं रहता है, किन्तु पौद्गलिकत्व ही रहता है । इसलिए चतुर्थ हेतु भी व्यभिचारी होने से शब्द में पौद्गलिकत्वाभाव का साधक नहीं हो सकता है ।

◈ पञ्चमहेतु स्वरूपासिद्ध ◈

पञ्च. । इस तरह प्राचीन नैयायिक से उपन्यस्त गगनगुणत्वात्मक पाँचवा हेतु भी शब्द में पौद्गलिकत्व का निराकरण नहीं कर सकता है, क्योंकि गगनगुणत्वस्वरूप हेतु ही शब्द में स्वरूपाऽसिद्ध है - यह तो पहले शब्द के द्रव्यत्वसिद्धिप्रस्ताव में बताया गया है । जब कि शब्द द्रव्यस्वरूप है तब उसमें गुणत्व ही कैसे रह सकेगा ? गुणत्व ही शब्द में नहीं रहता है, तब आकाशगुणत्व तो शब्द में नितरां नहीं रह सकता है । हेतु ही पक्ष में न रहने पर शब्दात्मक पक्ष में पौद्गलिकत्वाभावात्मक साध्य की सिद्धि वृद्ध नैयायिक कैसे कर सकते हैं ? अतः पाँचवा हेतु भी पक्ष में स्वरूपासिद्ध है । इस तरह प्राचीन नैयायिक से उपन्यस्त हेतु पञ्चक में से एक भी हेतु शब्द में पौद्गलिकत्व का प्रतिक्षेप नहीं कर सकता है । अतः शब्द द्रव्यात्मक ही है, पौद्गलिक ही है - यह निराबाधरूप से कहा जा सकता है ।

❦ शब्द सर्वथा नित्य है - मीमांसक ❦

स्यादे. । यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'शब्द यदि द्रव्य है तो वह क्या नित्य द्रव्य है या अनित्य द्रव्य ?' इसके प्रत्युत्तर में मीमांसकानुयायिओं का यह वक्तव्य है कि —> ''शब्द नित्य ही है अर्थात् एकान्तनित्य है । इसका कारण यह है कि 'पहले जिस ग शब्द को मैंने सुना था वही यह ग शब्द = गकार है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, जो अबाधित होती

इत्यबाधितप्रत्यभिज्ञानात्, शब्दोत्पादादिप्रतीतेर्वायूत्पादादिविषयकत्वात्, उत्पत्तेः स्वत्वगर्भत्वेऽपि खण्डशः तदारोपसम्भवात् ।

❀ नयलता ❀

गकाराभेदसाधकप्रत्यभिज्ञाया अबाधाच्छब्दस्यैकान्तनित्यत्वमित्यर्थः । न च 'गकार उत्पन्नो गकारो विनष्ट' इत्यादिप्रतीतेरपि सद्भावात् अभेदविषयिण्या निरुक्तप्रत्यभिज्ञाया बाध इति **वाच्यम्, शब्दोत्पादादिप्रतीतेः वायूत्पादादिविषयकत्वाद्** न तस्याः प्रत्यभिज्ञाबाधकत्वम् । शब्दव्यञ्जकवायूत्पादविनाशौ सामीप्यादिदोषवशाच्छब्दे आरोप्येते यथा जपाकुसुमगतरक्तिमा सन्निहित-स्फटिकशकले । अतो न पूर्वापरकालीनगकाराऽभेदावगाहित्वे निरुक्तप्रत्यभिज्ञाया अप्रामाण्यमिति । **एतेन** शब्दोत्पादविनाश-प्रतीतीनां प्रमात्वकल्पनामपेक्ष्य प्रत्यभिज्ञामात्रस्य तत्कल्पने लाघवमिति **प्रत्युक्तम्**, विषयबाहुल्यस्य ज्ञानबाहुल्याऽप्रयोजकत्वात् ।

ननूत्पत्तिस्तु स्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्धरूपैव वाच्या । सम्बन्धपदानुपादाने तूत्पत्तिप्राक्क्षणाना-मुत्पत्तिस्वरूपतापत्तिः । अत एव तदुपादानम् । यद्वा स्वाधिकरणक्षणाऽवृत्तिप्रागभावप्रतियोगिक्षणसम्बन्धस्वरूपा सा वक्तव्या यद्वा स्वप्रथमक्षणसत्तासम्बन्धात्मिका सा स्वीकर्तव्या अन्यस्वरूपा वा किन्तु स्वत्वघटितैव साऽङ्गीकर्तव्या । प्रकृते वायुगतोत्पादस्य शब्दे आरोपार्थं स्वपदेन शब्दग्रहणं कार्यम् । परन्तु तस्य नित्यत्वेन निरुक्तोत्पत्तेरप्रसिद्धिः, शब्दाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्वादिरूपत्वात् सर्वेषामेव क्षणानाम् । ततो न शब्दे तादृशो भ्रम आरोपो वा सम्भवति अन्यत्र प्रसिद्धस्यैवाऽन्यत्रारोपसम्भवादिति **चेत् ? मैवम्,** उत्पत्तेः = उत्पत्तिपदप्रतिपाद्यस्य **स्वत्वगर्भत्वेऽपि खण्डशः तदारोपसम्भवात्** = उत्पादारोपसम्भवात् । यथा स्वसमानाधिकरणाभावाऽप्रतियोगिसामानाधिकरण्यरूपाया व्याप्तेः स्वत्वगर्भत्वेऽपि वायौ प्रसिद्धं दहनसमानाधिकरणाऽभावाऽ-प्रतियोगित्वं धूमे समारोप्य वह्नौ वह्निसमानाधिकरणाभावाऽप्रतियोगिधूमसामानाधिकरण्यस्वरूपाया धूमव्याप्तेः भ्रमः सम्भवति, वह्निव्यापकधूमसामानाधिकरण्यस्याऽखण्डस्याऽप्रसिद्धत्वेऽपि वह्निव्यापकत्वस्य धूमसामानाधिकरण्यस्य च तत्खण्डस्य प्रसिद्धेः तथैव नित्यशब्दाधिकरणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्धात्मिकाया अखण्डोत्पत्तेरप्रसिद्धत्वेऽपि गगनादौ प्रसिद्धं नित्यशब्दाधिकरण-ध्वंसानधिकरणत्वं क्षणे समारोप्य नित्यशब्दे नित्यशब्दाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्धात्मिकायाः स्वोत्पत्तेरारोपो भ्रमो वा सम्भवत्येव, नित्यशब्दाधिकरणक्षणानधिकरणत्वरूपस्य क्षणसम्बन्धरूपस्य च तत्खण्डस्य प्रसिद्धेरिति मीमांसकाशयः ।

है । प्रत्यभिज्ञा पूर्वापरकालीन पदार्थ में अभेद की साधक होती है । इसलिए पूर्वश्रुत और वर्तमानकाल में श्रूयमाण शब्द में अभेद की सिद्धि होती है । इस तरह शब्द में चिरस्थायिता की सिद्धि होने पर नित्यत्व की सिद्धि होती है । यहाँ यह शंका हो कि —> ''यदि शब्द नित्य है तब तो 'शब्द उत्पन्नः', 'शब्दो विनष्टः' ऐसी प्रतीति, जो सर्वजनप्रसिद्ध है, कैसे उपपन्न हो सकेगी ? क्योंकि नित्य पदार्थ का कभी भी उत्पाद और विनाश हो सकता नहीं है'' <— तो इसके समाधानार्थ यह कहा जा सकता है कि शब्द में जो उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति होती है वह वस्तुतः शब्दविषयक नहीं है किन्तु वायुविषयक है । अर्थात् नित्य शब्द के व्यञ्जक वायु का उत्पाद और विनाश होने से पामर लोग पवनगोचर उत्पत्ति और विनाश का शब्द में उपचार करते हैं, जैसे जपाकुसुमगत रक्तिमा का स्फटिक में आरोप करते हैं । मगर आरोप करने पर भी जैसे स्फटिक में वस्तुतः रक्तिमा नहीं होती है ठीक वैसे ही पवनगत उत्पादादि का शब्द में आरोप करने पर भी शब्द के वस्तुतः उत्पादादि होते नहीं हैं ।

❧ शब्द में उत्पत्ति की प्रतीति में भ्रान्तता की संगति ❧

यदि यहाँ यह कहा जाय कि —> 'उत्पत्ति स्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्धस्वरूप है । जैसे, जो व्यक्ति जिस क्षण में उत्पन्न होती है वह क्षण उस व्यक्ति के अधिकरणीभूत क्षणों के ध्वंस की अनधिकरण होती है, क्योंकि उसके पूर्व उस व्यक्ति का अभाव होने से उसके पूर्व की क्षण उसकी अधिकरण नहीं होती है । तथा जो क्षण उस व्यक्ति की अधिकरण होती हैं उनमें उसकी उत्पत्तिक्षण सर्व प्रथम क्षण है, जो उस क्षण में नष्ट न हो कर उसकी अगली क्षण में नष्ट होती है। अतः उस क्षण के साथ उस व्यक्ति के सम्बन्ध को ही उस व्यक्ति की उत्पत्ति कही जाती है । नित्य व्यक्ति सभी क्षणों में रहती है । अतः प्रत्येक क्षण उसकी अधिकरणीभूत अपनी पूर्व क्षण के ध्वंस की अधिकरण होती है । इसलिये उत्पत्ति के उक्त लक्षण में स्वशब्द से नित्य व्यक्ति को ग्रहण करने पर उत्पत्ति की अप्रसिद्धि हो जाने से नित्य में उसका भ्रम नहीं हो सकता है, क्योंकि एकत्र प्रसिद्ध का ही अन्यत्र आरोप या भ्रम हो सकता है' <— तो यह इसलिए निराधार हो जाता है कि उत्पत्ति स्वत्वघटित होने पर भी खण्डशः उसका आरोप या भ्रम मुमकिन है । मतलब यह है कि नित्यपदार्थ की अधिकरणीभूत क्षणों के ध्वंस का अनधिकरण क्षण अप्रसिद्ध होने से अखण्डरूप में नित्य का उत्पाद अप्रसिद्ध है फिर

न च (? अथ) तारमन्दादिभेदेन शब्दनानात्वावश्यकत्वाद् नानाशब्देष्वपि अबाधितप्रत्यभिज्ञा-दर्शनात् अस्तु तस्यास्तज्जातीयाऽभेदविषयकत्वं, व्यक्त्यभेदविषयिण्यास्तु भ्रमत्वमिति चेत् ? न, घटादौ श्यामत्व-रक्तत्वादिवदेकत्राऽपि शब्दे तारत्व-मन्दत्वादिसम्भवात् । अस्तु वा

❀ जयलता ❀

अथ 'तारः स गकारः यं पूर्वमश्रौषं मन्दोऽयं गकारो यः श्रूयते' इत्यादिप्रतीत्या **तार-मन्दादिभेदेन** = विरुद्धधर्माध्यासेन **शब्दनानात्वावश्यकत्वात्** = पूर्वापरकालीनगकारादिभेदस्य प्रमाणसिद्धत्वात् **नानाशब्देषु** = प्रमाणसिद्धभेदवत्सु शब्देषु, **अबाधितप्रत्यभिज्ञादर्शनात्** = 'स एवायं गकारः यं पूर्वमश्रौषम्' इत्याद्याकारिकायाः सर्वानुभवसिद्धायाः स्वरसवाहिप्रत्यभिज्ञाया अबाधितत्वोपलब्धेः, **अस्तु तस्याः** प्रत्यभिज्ञायाः **तज्जातीयाऽभेदविषयकत्वं** = पूर्वोत्तरकालीन-भिन्नगकारादिसादृश्याऽवगाहित्वं, अन्यथा पूर्वोत्तरकालीनगकारादिभेदसाधक- तारत्वादिप्रमितिविरोधप्रसङ्गात् । अत एव **व्यक्त्यभेदविषयिण्याः** = तादृशप्रत्य-भिज्ञायाः पूर्वोत्तरकालीनगकारादितादात्म्याऽवगाहित्वे **तु भ्रमत्वं** तादात्म्याभाववति तादात्म्याऽवगाहित्वादिति **चेत् ? न, घटादौ श्यामत्वरक्तत्वादिवदिति** । यथा 'श्यामो नष्टो रक्त उत्पन्न' इतिज्ञानकाले 'स एवाऽयं घट' इति प्रत्यभिज्ञायाः पूर्वोत्तरकालीन-घटव्यक्त्यभेदविषयकत्वेऽपि प्रमात्वमेव, विशेषणोत्पादादिप्रतीतेः विशेष्याऽभेदाऽविरोधित्वात्, ज्ञानाकारभेदे विरोधाऽसम्भवात् तथैव **एकत्राऽपि** गकारादौ **शब्दे** कालभेदेन **तारत्वमन्दत्वादिसम्भवात्** = तारत्वमन्दत्वादिविरुद्धधर्मसमावेशसम्भवात्, तारत्वादि-विशेषणोत्पादादिप्रतीतेः गकारादिस्वरूपविशेष्यव्यक्त्यभेदाऽविरोधित्वात् ।

एतेन 'उत्पन्नो गकारः, विनष्टो गकार' इति वैधर्म्यज्ञानकालोत्पत्तिकायाः 'स एवायं गकार' इत्यादिप्रत्यभिज्ञायाः तज्जातीयाऽभेदविषयकत्वमेव, न तु तद्व्यक्त्यभेदाऽवगाहित्वम्, 'श्यामो नष्टः, रक्त उत्पन्न' इति ज्ञानकाले 'स एवाऽयं घट' इतिप्रत्यभिज्ञायास्तु व्यक्त्यैक्याऽवगाहित्वेऽपि न क्षतिः, तत्र विशिष्टोत्पादादिप्रतीतेः शुद्धव्यक्त्यभेदाऽविरोधित्वात्, इह तु शुद्धस्यैव गकारादेरुत्पादादिधीरिति विशेषादित्यपि **परास्तम्**, तादृशवैधर्म्यज्ञानाभावकालोत्पन्न-पूर्वापरकालीनव्यक्त्यभेदविषयक-प्रत्यभिज्ञया तदैक्यसिद्धावुत्पादादिप्रतीतेर्वास्तवोत्पादादिविषयकत्वस्य सुवचत्वादित्युक्तोत्तरत्वात् । **अत एव** दूरत्व-नैकट्य-शुकसारिकादि-प्रभवादिभेदेन नानाविधेष्वपि शब्देषु प्रत्यभिज्ञादर्शनात् व्यक्त्यभेदविषयकत्वे तस्या भ्रमत्वमेवेत्यऽपि **प्रत्याख्यातम्**, शब्देषूत्पादविनाशभेदादिकल्पने गौरवाच्चोत्पादविनाशभेदादिप्रतीतीनामेव भ्रमत्वात् ।

ननु तादृशवैधर्म्यज्ञानाभावकालीनव्यक्त्यभेदविषयकप्रत्यभिज्ञायाः तदैक्यसाधकत्वं न तु तादृशव्यक्त्यभेदज्ञानाभावकालीन-निरुक्तवैधर्म्यज्ञानस्य तद्भेदसाधकत्वमित्यस्य शपथमात्रनिर्णेयत्वमित्याशङ्कायां कल्पान्तरमाहुः **अस्तु वेति** । **तारत्वादिजातिः**

भी नित्याधिकरण समानाधिकरणत्व और क्षणसम्बन्ध इन दो खण्डों में प्रसिद्ध है । अतः गगन आदि में प्रसिद्ध नित्याधिकरण-क्षणध्वंसानधिकरणत्व का क्षण में अवगाहन कर के नित्यपदार्थ में स्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्धस्वरूप सखण्ड उत्पत्ति का भ्रम या आरोप होने में कोई बाधा नहीं है ।

यदि ऐसी शंका की जाय कि --> ''शब्द में तारत्व, मन्दत्व आदि भिन्न भिन्न धर्म का भान 'तारोऽयं गकारः' 'मन्दः स गकारः' इत्यादि प्रतीति होने से तार, मन्द आदि भेद से पूर्वापरकालीन प्रतीत गकारादि में भेद मानना आवश्यक है । इस तरह जब पूर्वापरकालिक शब्द में भेद (=नानात्व) सिद्ध होने पर भी जो 'स एवायं गकारः यो मया पूर्वमश्रौषम्' इत्यादि प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञा होती है उसको तभी अबाधित कह सकते हैं यदि उसे तार, मन्द आदि भेद से विभिन्न गकार आदि में साजात्यावगाही मानी जाय, न कि व्यक्तिअभेदाऽवगाही । मतलब यह है कि 'स एवायं गकारः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा पूर्वापरकालीन गकारादि शब्दात्मक व्यक्ति में गत्वादिरूप से सादृश्य को अपना विषय बनाती है जिसका अर्थ है कि श्रूयमाण गकार श्रुत गकार के समान है । मगर व्यक्तिअभेदविषयक मानने पर यानी 'श्रूयमाण गकार श्रुत गकारव्यक्ति से अभिन्न है' ऐसा उस प्रत्यभिज्ञा का आकार मानने पर वह भ्रमात्मक हो जायगी, क्योंकि तारत्व, मन्दत्वादि वैधर्म्य से श्रूयमाण और श्रुत गकार में नानात्व = भेद पहले ही निश्चित है । यह ठीक उसी तरह संगत हो सकता है जैसे 'सैवेयं दीपकलिका' यह प्रत्यभिज्ञा'' <— तो यह भी निराधार है, क्योंकि जैसे 'श्याम घट नष्ट हो गया, रक्त घट उत्पन्न हुआ' यह ज्ञान होने पर भी 'यह वही घट है, जो पाकपूर्वकालीन था' इस प्रकार की श्याम और रक्त घट में ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा पूर्व प्रतीति को श्याम और रक्तरूप स्वरूप विशेषण के क्रमशः नाश और उत्पाद की अवगाही मान कर दोनों प्रतीति की उपपत्ति

तारत्वादिजातिः शब्दमात्रवृत्तिरेव, विजातीयपवनवशात् क्वचित् कदाचिदभिव्यक्तिरिति ।
यत्तु चैत्रादेः ककारादिप्रत्यक्षे चैत्रादिकर्णावच्छिन्नविजातीयवायुसंयोगस्य हेतुतेति

❀ जयलता ❀

शब्दमात्रवृत्तिरेवेति । तर्हि पश्चादिव पूर्वमपि तत्र मन्दत्वं ज्ञायेत पूर्वमिव वा पश्चादपि तारत्वं तत्रोपलभ्येत, जातेः सर्वदा सर्वान् प्रत्यविशेषादित्याशङ्कायामाहुः - **विजातीयपवनवशात्** शब्दमात्रनिष्ठतारत्वादिजातेः **क्वचित् कदाचिदभिव्यक्तिरिति** । यथा जलान्तःस्थायां गवि गोत्व-पशुत्व-पृथ्वीत्व- द्रव्यत्वादिजातिसत्त्वेऽपि यत्किञ्चिदवयवस्पर्शे द्रव्यत्वजातिप्राकट्यं, घ्राणादिना तद्गन्धोपलब्धौ सत्याञ्च पृथिवीत्वजात्यभिव्यक्तिः, तत्पुच्छशृङ्गादिदर्शने पशुत्वोपलब्धिः, सास्नादिमत्त्वज्ञाने च गोत्वजातिर्व्यक्तिरिति व्यञ्जकवैचित्र्यवशात् सम्भवति तथैव एकत्रापि शब्दे तारत्वादिजातिसत्त्वेऽपि व्यञ्जकपवनवैलक्षण्यवशात्क्वचित्कदाचित्तदभिव्यक्त्युपपत्तिरपि सुघटा कोष्ठ्येन वायुना वेगमभिसर्पता शब्दगता तारत्व-जातिर्व्यज्यते मन्दमभिसर्पता च मन्दत्वजातिरिति-मीमांसकाशयः ।

इदञ्चाऽभ्युपगमवादेनोक्तम् । वस्तुतस्तु तारत्व मन्दत्वादिजातिः व्यञ्जकवायवीयध्वनिधर्म एव शब्दे आरोप्यते न तु शब्दस्य स्वाभाविकं स्वरूपं मीमांसकमते । **अत एव** गोत्वाश्वत्वादिजातिवत् तारत्व-मन्दत्वादिविरुद्धजातीनामेकत्र शब्दे कथं समावेशः सम्भवतीत्युक्तावपि न क्षतिः, अनभ्युपगमादेवेति तु ध्येयं मीमांसामांसलमतिभिः ।

एतेन शब्दस्य नित्यत्वे सर्वदा सर्वेषां सर्वत्र सर्वशब्दोपलब्धिप्रसङ्ग इत्यपि **परास्तम्**, परेषां शब्दोत्पादकानामेव विजातीयवायुसंयोगादीनामस्माभिः मीमांसकैः शब्दव्यञ्जकत्वेनाऽभ्युपगमात् ।

यत्तु इति लक्षिन्त्यमित्यनेनाऽन्वेति । शब्दस्य नित्यत्वे **चैत्रादेः ककारादिप्रत्यक्षे** = लौकिकविषयतासम्बन्धेन स्वीयमैत्रीयशुकीयककारादिश्रावणत्वावच्छिन्नं प्रति, **चैत्रादिकर्णावच्छिन्नविजातीयवायुसंयोगस्य हेतुतेति** = चैत्रादिकर्णावच्छेदेन

करती है अर्थात् पूर्व में श्याम और वर्तमान में रक्त घट के अभेद को विषय करनेवाली उक्त प्रत्यभिज्ञा व्यक्तिअभेदविषयतया प्रमा हो सकती है ठीक वैसे ही गकार में तारत्व और मन्दत्व की प्रतीति के अभावकाल में 'स एवायं गकारः' यह प्रत्यभिज्ञा होती है उससे पूर्व श्रुत एवं साम्प्रत श्रूयमाण गकार में ऐक्य के सिद्ध होने में कोई बाधक न होने से एक ही घट में श्याम-रक्त रूप के विनाश-उत्पाद की भाँति एक ही गकार में तारत्व और मन्दत्व धर्म के विनाश-उत्पाद को विषय माना जा सकता है । अतः नित्य शब्द में तारत्व-मन्दत्वादि के विनाश और उत्पाद को विषय मानना संगत होने से 'स एवायं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा को व्यक्तिअभेदविषयकत्वेन भी प्रमा कहने में कोई दोष नहीं है । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि तारत्व-मन्दत्व आदि केवल नित्य शब्द में रहनेवाली जाति हैं । मगर विजातीय पवन के सबब पहले शब्द में तारत्व जाति की अभिव्यक्ति हुई थी और साम्प्रतकाल में विजातीय वायु से मन्दत्व जाति की अभिव्यक्ति हुई । विजातीय पवन की वजह कभी कहीं पर अमुक जाति का ही प्राकट्य होता है, सब जाति का नहीं । जैसे गाय दूर होने पर उसमें द्रव्यत्व जाति की अभिव्यक्ति होती है, नजदीक आने पर उसमें पशुत्व व्यक्त होता है और अत्यन्त समीप उपस्थित होने पर उसमें गोत्व प्रकट होता है, न कि सर्वदा और सर्वत्र सब के लिए गोत्व की अभिव्यक्ति होती है । ठीक उसी तरह नित्य गकार आदि शब्द में भी तारत्व, मन्दत्व आदि जाति की कदाचित् विजातीय वायु के द्वारा अभिव्यक्ति सुसंगत हो सकती है ।

❀ नैयायिकमत में लाघव की आशंका ❀

यत्तु. । यहाँ पदार्थमाला नामक ग्रन्थ के कर्ता का, जो शब्दअनित्यतावादी नैयायिक है, शब्दनित्यतावादी मीमांसक के प्रति यह आक्षेप है कि —> ''शब्द नित्यत्वपक्ष में चैत्र आदि के ककार आदि वर्णों के प्रत्यक्ष में चैत्र आदि के कर्ण में विजातीयवायुसंयोग को हेतु मानना होगा, अन्यथा = यदि कार्यदल में चैत्र आदि का निवेश न करेंगे तो चैत्र आदि के कर्ण में चैत्र-शुक-सारिका आदि के ककार आदि के व्यञ्जक विजातीयवायुसंयोग के होने पर चैत्रादि से अन्य दूरस्थ मनुष्यों को भी उक्त ककारादि के श्रावण साक्षात्कार की आपत्ति आयेगी । एवं कारणदल में चैत्रादिकर्ण का निवेश न करने पर पुरुषान्तर के कर्ण में ककारादि के व्यञ्जक विजातीयवायुसंयोग के होने पर चैत्रादि को ककारादि के श्रावण प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी । अतः शब्दनित्यत्वपक्ष में शब्द और विजातीयवायुसंयोग आदि में व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव की कल्पना करने में अत्यन्त गौरव है । जब कि शब्दाऽनित्यतावादी नैयायिकों के मत में इस प्रकार के गौरव को अवकाश नहीं है, क्योंकि नैयायिकमत में अवच्छेदकतासम्बन्ध से विजातीय ककार आदि में विजातीयवायुसंयोग अवच्छेदकतासम्बन्ध से कारण होता है । एवं तत्पुरुषीय निखिल शब्द के श्रावण प्रत्यक्ष में तत्पुरुषीय कर्णावच्छिन्न समवाय हेतु होता है । इसलिये लाघव है'' <— ।

पदार्थमालाकार का आशय यह प्रतीत होता है कि शब्दनित्यत्ववादी मीमांसकों के मतानुसार क, ख, ग आदि वर्ण

मीमांसकानामतिगौरवं, नैयायिकानां पुनरवच्छेदकतया चैत्रादिककारादौ विजातीयवायुसंयोगो हेतुः तत्पुरुषीयनिखिलशब्दप्रत्यक्षे च तत्पुरुषीयकर्णावच्छिन्नसमवाय इति लाघवमिति पदार्थ-

❊ जयलता ❊

विजातीयवायुसंयोगा हेतवो वाच्या इति **मीमांसकानामतिगौरवम्** । **न च** ककारादिश्रावणत्वमेव विजातीयवायुसंयोगकार्यतावच्छेदकमिति न गौरवमिति **वाच्यम्**, चैत्रकर्णे चैत्रीयादिककारादिव्यञ्जकविजातीयवायुसंयोगसत्त्वे दूरस्थानां यज्ञदत्तादीनां तादृशककारादिश्रावणापत्तिवारणाय कार्यतावच्छेदकधर्मकुक्षौ चैत्रीयत्वादिनिवेशावश्यकत्वेन गौरवस्याऽनिराकार्यत्वात् । एवं कारणतावच्छेदकधर्मकोटौ चैत्रादिकर्णाऽप्रवेशे तु पुरुषान्तरकर्णावच्छिन्नस्य ककारादिव्यञ्जकस्य विजातीयवायुसंयोगस्य सत्त्वेऽपि चैत्रादेः ककारादिप्रत्यक्षापत्तिः । अतः तत्राऽपि अनन्तचैत्रमैत्रादिकर्णनिवेशे महागौरवम् । चैत्रमैत्रादिकर्णावच्छिन्नवायुसंयोगाभिव्यक्तककारादीनां नित्यत्वादेकत्वाच्च विभिन्नव्यक्त्यभिव्यञ्जितककारादिप्रत्यक्षवैलक्षण्यमनुपपन्नमिति तदन्यथानुपपत्त्या चैत्रीयादिककारादिश्रावणत्वावच्छिन्नकारणतावच्छेदककोटौ वैजात्यनिवेशस्याऽप्यावश्यकत्वमिति गौरवम् । एवं चैत्रकर्णगत- चैत्रीयककार-मैत्रीयककार-शुकीयककारप्रत्यक्षेऽपि नानाविजातीयवायुसंयोगानां कारणत्वे तत्र चैत्र-मैत्रादिनिवेशावश्यकत्वेऽनन्तकार्यकारणभावकल्पनागौरवापत्तिर्मीमांसकानामिति **पदार्थमालाकाराभिप्रायः** ।

नैयायिकानां मते **पुनः** ककारादीनामऽनित्यत्वेन नानात्वेन च तथा तदुत्पादकानां वायुसंयोगानामपि विनाशित्वेन विजातीयत्वेन च कार्यता-कारणतावच्छेदकधर्मकोटावनन्तपुरुषानिवेशान् लाघवं यतः तन्मतेऽ**वच्छेदकतया चैत्रादिककारादौ** = विजातीयककारत्वावच्छिन्नं प्रति अवच्छेदकतासम्बन्धेन **विजातीयवायुसंयोगो हेतुः** । **न च** शब्दाऽनित्यत्वे चैत्रादेः चैत्रीय-मैत्रीय-शुकीयककारादिश्रावणत्वावच्छिन्ने किं कारणं ? इति **शङ्कनीयम्**, शब्दाऽनित्यत्वपक्षे **तत्पुरुषीयनिखिलशब्दप्रत्यक्षे** = शब्दनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन तत्पुरुषसमवेतश्रावणत्वावच्छिन्नं प्रति च स्वनिरूपितप्रतियोगित्वसम्बन्धेन **तत्पुरुषीयकर्णावच्छिन्नसमवायः** = तत्पुरुषीयकर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशावच्छिन्नसमवायः हेतुरिति स्वीकारात् । मीमांसकमते चैत्रादेः स्वीय-मैत्रीय-शुकीयादिककारश्रावणे चैत्रादिकर्णावच्छेदविजातीयवायुसंयोगस्य कारणत्वं चैत्रादेः स्वीय-मैत्रीयादिस्ववर्णसाक्षात्कारे च तद्भिन्नस्य चैत्रादिकर्णावच्छिन्नविजातीयवायुसंयोगस्य कारणत्वमित्येवं गुरुतरकार्यकारणभावः । नैयायिकमते तु चैत्रस्य निखिलशब्दसाक्षात्कारे एकस्यैव चैत्रकर्णावच्छेदसमवायस्य हेतुतेति स्पष्टमेव नैयायिकमते **लाघवमिति पदार्थमालायां प्रत्यपादि** ।

सर्वदा एवं सर्वत्र सब के लिये एक ही है और उसकी अभिव्यक्ति चैत्र आदि किसीसे भी होने पर उसमें कोई विलक्षणता नहीं होती है, क्योंकि नित्य और एक होने से उसमें वैजात्य नामुमकिन है । किन्तु विभिन्न व्यक्तियों से अभिव्यञ्जित एक ही वर्ण का श्रोताओं को विलक्षण श्रावण प्रत्यक्ष होता है । इसकी उपपत्ति के लिये चैत्र के अपने ककार के साक्षात्कार में चैत्रीयकर्णावच्छेद्य विजातीयवायुसंयोग, मैत्रीय ककार के प्रत्यक्ष में दूसरा विजातीयवायुसंयोग और शुक आदि के ककार के प्रत्यक्ष में अन्य विजातीयवायुसंयोग को कारण मानना होगा । इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों से अभिव्यञ्जित एक ही ककार आदि के प्रत्यक्ष में विभिन्न विजातीयवायुसंयोगों को कारण मानना होगा । एवं एक श्रोता में जो ककारादि का प्रत्यक्षात्मक कार्य उत्पन्न होता है उसमें विभिन्न उच्चारणकर्ताओं का सन्निवेश करना होगा । जैसे चैत्रगत चैत्रीयककारप्रत्यक्ष, चैत्रगत मैत्रीयकवर्णसाक्षात्कार आदि में विभिन्न विजातीयवायुसंयोगों को कारण मानना होगा । इस प्रकार कार्यदल में ककारादि में विभिन्न उच्चारणकर्ताओं का निवेश करने से प्रत्येक श्रोता को होनेवाले कवर्ण के प्रत्यक्ष को लेकर अनन्त गुरुतर कार्यकारणभाव की कल्पना होने से अपार गौरव है । किन्तु शब्दाऽनित्यत्वपक्ष में विभिन्न उच्चारणकर्ताओं के ककारादि में सहज वैलक्षण्य होता है । अतः उनके मतानुसार अवच्छेदकतासम्बन्ध से विजातीय ककारादि कार्य के प्रति अवच्छेदकतासम्बन्ध से विजातीयवायुसंयोग कारण होता है । इस कार्यकारणभाव की कुक्षि में उच्चारणकर्ता का विशेषरूप से निवेश नहीं होता है । अतएव इस कार्यकारणभाव में उत्पाद्य और उत्पादक के वैजात्यभेद से ही भेद होता है, उच्चारणकर्ता के भेद से भेद नहीं होता है । श्रोता को कवर्ण आदि का विलक्षण साक्षात्कार होता है वह विषयभूत ककारादि के वैजात्य से ही सम्पन्न हो जाता है । अतएव तदर्थ विजातीय कारण की कल्पना की आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु सामान्यतः शब्दनिष्ठविषयतासम्बन्ध तत्पुरुषीय श्रावण साक्षात्कार के प्रति तत्पुरुषीयकर्णावच्छेद्य समवाय को प्रतियोगित्वसम्बन्ध से कारण मान लेने से सब सङ्गत हो जाता है, क्योंकि जो भी शब्द तत्पुरुषीय कर्णावच्छेदेन उत्पन्न होगा उसमें तत्पुरुषीयकर्णावच्छिन्न समवाय प्रतियोगित्वसम्बन्ध से रहेगा और उस शब्द में उत्पादकाधीन जो वैजात्य होगा उस वैजात्य रूप से उस शब्द का तत्पुरुष को साक्षात्कार हो जायेगा । अतः शब्दअनित्यत्वपक्ष में उच्चारणकर्ता के भेद से और विजातीयवायुसंयोग आदि के भेद से न तो शब्द और वायुसंयोग के कार्यकारणभाव में गौरव

मालायां प्रत्यपादि, तच्चिन्त्यम्, विजातीयवायुसंयोगस्य स्वावच्छेदकश्रोत्रसंयुक्तमनःप्रतियोगिक-विजातीयसंयोगसम्बन्धेन निखिलशब्दश्रावणं प्रति हेतुत्वे मीमांसकानामेवातिलाघवात् ।

किञ्च शब्दस्य जन्यत्वे वीणाकाशादीनामप्यनन्तहेतुता कल्पनीया, न तु व्यङ्ग्यत्व

❀ जयलता ❀

तच्चिन्त्यम् । यतो नित्यत्वपक्षेऽपि अवच्छेदकतासम्बन्धेन विजातीयककारादिप्रत्यक्षेऽवच्छेदकतासम्बन्धेन विजातीयसंयोगस्य कारणत्वं अवच्छेदकतया तत्तत्कर्णावच्छिन्नप्रत्यक्षं च तादात्म्येन तत्तत्कर्णस्य कारणत्वमित्यङ्गीकारे गौरवविरहात् । प्रत्युत **विजातीयवायुसंयोगस्य स्वावच्छेदकश्रोत्रसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन निखिलशब्दश्रावणं प्रति** = समवाय-सम्बन्धावच्छिन्नकार्यताश्रय-सकलशब्दश्रावणमात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं प्रति **हेतुत्वे** स्वीक्रियमाणे तत्तत्कर्णानां पृथगहेतुत्वात् **मीमांसकानामेवाऽतिलाघवादिति** । समवायेन यत्रात्मनि श्रावणं जायते तत्रैव विजातीयवायुसंयोगो निरुक्तसम्बन्धेन वर्तत एव, स्वस्य = विजातीयपवनसंयोगस्याऽवच्छेदकेन श्रोत्रेण संयुक्तं यन्मनः तत्प्रतियोगिकात्मानुयोगिकविजातीयसंयोगाश्रयत्वात्तदात्मनः । इत्थञ्च विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या पूर्वोक्तकार्यकारणभावाऽङ्गीकारे तत्तदनन्तपुरुषनिवेशे गौरवात्तं परिहृत्याऽऽत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्यैव निरुक्तहेतु-हेतुमद्भावस्वीकारेऽतिलाघवं स्पष्टमेव मीमांसकमते ।

किञ्च शब्दस्य = शब्दत्वावच्छिन्नस्य **जन्यत्वे** = प्रागभावप्रतियोगित्वे प्रध्वंसप्रतियोगित्वे वा स्वीक्रियमाणे विजातीय-पवनसंयोगस्येव **वीणाकाशादीनां** = वीणाकाश-वेणु-मृदङ्ग-भेरीदण्डसंयोग-वंशदलद्वयविभाग-प्रथमादिशब्दादीनां, **अपि अनन्त-हेतुता कल्पनीया** = वाच्या, पृथक्पृथग्नानाविधकारणताऽनङ्गीकारे व्यतिरेकव्यभिचारादिप्रसङ्गात् । **न तु शब्दस्य व्यङ्ग्यत्वे**

है और न तो तत्पुरुषीयशब्दप्रत्यक्ष एवं तत्पुरुषीयकर्णावच्छिन्न समवाय के कार्यकारणभाव में गौरव है । अतः शब्दनित्यत्ववादी मीमांसक के मत की अपेक्षा शब्दअनित्यत्ववादी नैयायिक के मत में स्पष्ट लाघव है'' <—

❀ शब्दानित्यत्वपक्ष में गौरव का परिहार ❀

तच्चिन्त्यम । मगर शब्दनित्यत्ववादी मीमांसक का पदार्थमालाकार नैयायिक के आक्षेप के खिलाफ यह वक्तव्य है कि उक्त रीति से शब्दाऽनित्यत्वपक्ष का लाघव से समर्थन करना मुनासिब नहीं है, क्योंकि नित्यत्वपक्ष में भी ककारादि के विजातीय प्रत्यक्ष में अवच्छेदकतासम्बन्ध से विजातीयवायुसंयोग को और तत् तत् कर्णावच्छिन्न ककारादिसाक्षात्कार में तत् तत् कर्ण को कारण मान लेने से गौरव नहीं होगा । प्रथम कार्यकारणभाव में कार्यता और कारणता दोनों अवच्छेदकता सम्बन्ध से अभिमत है । दूसरे कार्यकारणभाव में कार्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध है अवच्छेदकता और कारणता का अवच्छेदक सम्बन्ध है तादात्म्य ।

दूसरी बात यह है कि दूसरे कार्यकारणभाव को मान्य करने की आवश्यकता भी नहीं है किन्तु एक यही हेतु-हेतुमद्भाव मानना मुनासिब है कि समवायसम्बन्ध से ककारादि सकल के साक्षात्कार में स्वावच्छेदक श्रोत्रसंयुक्त मनःप्रतियोगिक विजातीयसंयोग सम्बन्ध से विजातीयवायुसंयोग कारण है । आशय यह प्रतीत होता है कि यज्जातीयपवन के यज्जातीय संयोगसम्बन्ध से चैत्र के कण्ठ से ककार अभिव्यक्त होगा तज्जातीयपवन के तज्जातीयसंयोग की श्रोता के मनःसंयुक्त कर्ण में उत्पत्ति होने पर श्रोता को चैत्रकण्ठाभिव्यक्त ककार का प्रत्यक्ष होगा । इसी तरह खकार, गकार आदि सकल शब्द के साक्षात्कार में ज्ञातव्य है । यहाँ विजातीय पवनसंयोग को जिस सम्बन्ध से कारण कहा गया है उस सम्बन्ध की कुक्षि में स्वपद से श्रोता के कर्णावच्छेदेन उत्पन्न होनेवाला विजातीय वायुसंयोग विवक्षित है । उसका अवच्छेदक है श्रोत्र, उससे संयुक्त है मन, उस मन का विजातीयसंयोग है आत्मा और मन का संयोग, जो श्रोतृभूत आत्मा में रहता है । अतः उस सम्बन्ध से विजातीयवायु का विजातीयसंयोग भी श्रोतृभूत आत्मा में रह जायेगा । इसलिये विजातीयवायुसंयोग ककारादि सकल वर्ण के साक्षात्कार में कारण होता है । इस कार्यकारणभाव का स्वीकार करने पर तत् तत् कर्ण को तत् तत् कर्णावच्छिन्न ककारादि प्रत्यक्ष में कारण न मानने से शब्दनित्यत्वपक्ष में गौरवाभाव नहीं है किन्तु शब्दाऽनित्यत्वपक्ष की अपेक्षा अत्यन्त लाघव भी है ।

❀ शब्दानित्यत्वपक्ष में गौरवप्रदर्शन ❀

किञ्च श. । इसके अतिरिक्त शब्द के अनित्यत्व पक्ष में दोष यह है कि शब्द को जन्य = कार्य मानने पर वीणा, वेणु, मृदङ्ग, आकाश, शब्द आदि अनन्त पदार्थ में कारणता की कल्पना करनी होगी, जो गौरवग्रस्त है । मगर शब्द को नित्य अर्थात् विजातीय वायुसंयोग से व्यङ्ग्य मानने पर वीणा, वेणु, मृदङ्ग, आकाश आदि अनन्त पदार्थ में शब्दनिरूपित

इति । एतेन जन्यत्वपक्षे विजातीयपवनसंयोगस्य कत्वं जन्यतावच्छेदकमिति लाघवं, व्यङ्ग्यत्वपक्षे तु कप्रत्यक्षत्वं कश्रावणत्वादिकं वेति गौरवमिति निरस्तम्, स्वाश्रयलौकिकश्रावणविषयतया व्यङ्ग्यत्वपक्षेऽपि कत्वस्य तत्त्वसम्भवात् । न च समवायापेक्षयोक्तसम्बन्धे गौरवं, सम्बन्धगौरवस्याऽदोषत्वात् ।

वस्तुतो निरुक्तसम्बन्धेन शब्दत्वमेव मम तज्जन्यतावच्छेदकमिति कत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति

❀ जयलता ❀

वीणाकाशादीनामनन्तहेतुता कल्पनीया, विजातीयवायुसंयोगस्यैव शब्दत्वअकत्वात् ।

एतेन = शब्दजन्यत्वपक्षेऽनन्तहेतुताकल्पनगौरवप्रदर्शनेन, निरस्तमित्यनेनास्यान्वयः । शब्दस्य **जन्यत्वपक्षे विजातीयपवनसंयोगस्य कत्वं जन्यतावच्छेदकं** न तु कप्रत्यक्षत्वादिकमिति नैयायिकमते **लाघवं, व्यङ्ग्यत्वपक्षे तु** विजातीयवायुसंयोगनिरूपितकार्यताया अवच्छेदकं **कप्रत्यक्षत्वं कश्रावणत्वादिकं वा** सम्भवतीति मीमांसकमते **गौरवं** = कार्यतावच्छेदकधर्मशरीरगौरवं **इति** नैयायिकवचनं **निरस्तम्, स्वाश्रयलौकिकविषयतया** = स्वाश्रयविषयकलौकिकप्रत्यक्षनिष्ठविषयितासम्बन्धेन **व्यङ्ग्यत्वपक्षे** = शब्दाभिव्यक्तिदर्शने **अपि कत्वस्य तत्त्वसम्भवात्** = विजातीयपवनसंयोगकार्यतावच्छेदकत्वोपपत्तेः । स्वस्य कत्वस्य आश्रयो यः ककारस्तल्लौकिकसाक्षात्कारे निष्ठाया विषयिताया विजातीयवायुसंयोगकार्यमात्रवृत्तित्वेन तादृशविषयितासम्बन्धेन कत्वस्य विजातीयपवनसंयोगकार्यताऽन्यूनाऽनतिरिक्तवृत्तित्वेन तत्कार्यतावच्छेदकत्वसङ्गतेर्न कार्यतावच्छेदकधर्मशरीरगौरवं मीमांसकमते प्रसज्यते । **न च समवायापेक्षया** = नैयायिकसम्मतस्वसमवायाऽपेक्षया, **उक्तसम्बन्धे** = स्वाश्रयलौकिकसाक्षात्कारनिष्ठविषयितासंसर्गे विजातीयवायुसंयोगकार्यतावच्छेदकताऽवच्छेदकसंसर्गत्वकल्पनायां **गौरवं** दुर्वारमिति नैयायिकेन **वक्तव्यम्, सम्बन्धगौरवस्य अदोषत्वात्** । न चैवं दण्डत्वस्याऽपि घटकारणत्वं स्वाश्रयजन्यभ्रमिवत्त्वसम्बन्धेन स्यादिति शङ्कनीयं, दण्डेतराऽवृत्तित्वे सति सकलदण्डवृत्तित्वरूपस्य दण्डत्वस्य घटकारणतावच्छेदकधर्मत्वकल्पने गौरवादेव दण्डत्वस्य घटकारणत्वाऽयोगात् ।

वस्तुतो निरुक्तसम्बन्धेन = स्वाश्रयलौकिकविषयितासंसर्गेण **शब्दत्वमेव मम** = मीमांसकस्य **तज्जन्यतावच्छेदकं**

कारणता की कल्पना अनावश्यक होने से उक्त गौरव निरवकाश है । शब्द को जन्य मानने पर महागौरव दोष की वजह यह नैयायिक कथन कि —> ''शब्द को विजातीयवायुसंयोग से जन्य मानने पर कार्यताअवच्छेदक धर्म होगा कत्व, जो अत्यन्त लघु है । जब कि शब्द को विजातीय वायुसंयोग से व्यंग्य मानने पर विजातीय वायुसंयोग का कार्य होगा शब्दअभिव्यक्ति यानी कविषयकलौकिक श्रावण प्रत्यक्ष । अतः विजातीय वायुसंयोग का कार्यताअवच्छेदक धर्म बनेगा कप्रत्यक्षत्व या कश्रावणत्व, जो कत्व की अपेक्षा गुरुभूत है । स्पष्ट ही है कि शब्द के अनित्यत्वपक्ष की अपेक्षा नित्यत्वपक्ष में विजातीयवायुसंयोगकार्यतावच्छेदकधर्म में गौरव है'' <— भी निराकृत हो जाता है, क्योंकि व्यङ्ग्यत्वपक्ष (= शब्दनित्यत्वपक्ष) में विजातीय वायुसंयोग का कार्य ककार नहीं बल्कि ककारविषयक लौकिक श्रावण प्रत्यक्ष है, फिर भी उसका कार्यताअवच्छेदक धर्म तो स्वाश्रयलौकिकश्रावणविषयतासम्बन्ध से कत्व ही होगा । स्व = कत्व, उसका आश्रय ककार, उसका (जो लौकिक प्रत्यक्ष है) जो विजातीयवायुसंयोग का कार्य है, उसमें एक विषयिता नामक धर्म रहता है । अतः स्वाश्रयलौकिकविषयितासम्बन्ध से कत्व भी उस कार्य में ही रहेगा ही । अतः विजातीयवायुसंयोगकार्यता से अन्यूनानतिरिक्त होने से कत्व उक्त सम्बन्ध से कार्यताअवच्छेदक हो सकता है । अतः नैयायिक और मीमांसक के मत में विजातीय वायुसंयोग का कार्यताअवच्छेदक कत्व ही होगा । अतः शब्दानित्यत्ववाद की अपेक्षा शब्दनित्यत्ववाद में गौरव नामुमकिन है । यहाँ इस शंका का कि —> 'दोनों के मत में कत्व ही कार्यतावच्छेदक होने पर भी नैयायिकमत में विजातीय पवनसंयोग का कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्ध होगा समवाय और मीमांसकमत में स्वाश्रयलौकिकविषयिता सम्बन्ध तत्कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्ध होगा । अतः शब्दजन्यत्वपक्ष की अपेक्षा शब्दव्यङ्ग्यत्व पक्ष में सम्बन्धगौरव तो जरूर होगा' <— समाधान यह है कि सम्बन्धगौरव वास्तव में दोषात्मक नहीं है। अवच्छेदकधर्मशरीर गौरव ही दोषरूप माना गया है, न कि अवच्छेदकसम्बन्धदेहप्रविष्ट गौरव भी । अतः शब्दव्यङ्ग्यत्वपक्ष में भी कत्व को विजातीय वायुसंयोग का कार्यताअवच्छेदक मानने में कोई दोष नहीं है ।

❀ क, ख आदि शब्द एक ही है - मीमांसक ❀

वस्तुतो. । यह तो अभ्युपगमवाद से कहा गया है कि विजातीय वायुसंयोग का कार्यतावच्छेदक स्वाश्रयलौकिकविषयितासम्बन्ध से कत्व है और अन्य विजातीयवायुसंयोग का निरुक्त सम्बन्ध से कार्यताअवच्छेदक खत्व है । वस्तुस्थिति तो यह है कि निरुक्त-

नानाहेतुताकल्पने तवैव गौरवम् । एतेन तव स्वावच्छेदकेत्यादिसम्बन्धेन हेतुता, मम तु अवच्छेदकतयेति लाघवमपि अपास्तम्, तथापि चैत्रत्वाद्यन्तर्भावेनाऽनन्तकारणताकल्पनागौरवाच्च ।

❀ जयलता ❀

= विजातीयवायुसंयोगकार्यतावच्छेदकमिति । चैत्रादिगतचैत्रीयमैत्रीयशुकीयादिककार-खकारप्रभृतिप्रत्यक्षविषयीभूतवर्णानां विलक्षणत्वेन प्रतीतावपि अभिन्नत्वात्, व्यञ्जकभेद एवाऽभिन्ने शब्दे आरोप्यते नीलपीतरक्तकाचशकलपरावर्तितप्रकाशाभिव्यक्ते एकस्मिन्नेव शुक्ले पटे क्रमशः नीलत्व-पीतत्वादिप्रत्ययवत् । ततश्च मीमांसकमते शब्दत्वमेव निरुक्तसम्बन्धेन तत्कार्यतावच्छेदकं, किन्तु कत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति कत्व-खत्व-गत्वाद्यवच्छिन्ने **नानाहेतुताकल्पने** विजातीयवायुसंयोग-वीणा-वेणु-मृदङ्गाकाशाद्यशब्द-प्रभृत्यनेकविधकारणताकल्पनावश्यकत्वे **तव** = नैयायिकस्य **एव गौरवम्**, गौतमीयदर्शने ककार-खकार-गकारादीनां विजातीयत्वात्, कार्यतावच्छेदकभेदे कारणभेदस्य न्यायप्राप्तत्वात् ।

एतेन = शब्दजन्यत्वपक्षे कत्व-खत्वाद्यवच्छिन्ननानाहेतुताकल्पनागौरवप्रतिपादनेन, अपास्तमित्यनेनाऽस्यान्वयः । **तव** = मीमांसकस्य **स्वावच्छेदकेत्यादिसम्बन्धेन** = स्वावच्छेदकश्रोत्रसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन, विजातीयवायुसंयोगस्य **हेतुता, मम** = नैयायिकस्य तु **अवच्छेदकतया** विजातीयवायुसंयोगस्य हेतुता **इति लाघवं** इति गौतमीयवचनं **अपि अपास्तम्, तथापि** = मीमांसकमते विजातीयवायुसंयोगकारणतावच्छेदकसम्बन्धगौरवेऽपि ककारादिभिन्नशब्दजन्यत्वपक्षे विजातीयवायुसंयोगकार्यतावच्छेदककोटौ **चैत्रत्वताद्यन्तर्भावेन अनन्तकारणताकल्पनागौरवाच्च** । चैत्रीयककारे यो विजातीयवायुसंयोगो हेतुस्तद्भिन्नस्यैव विजातीयवायुसंयोगस्य मैत्रीयककारहेतुत्वं ततोऽतिरिक्तस्यैव विजातीयवायुसंयोगस्य शुकककारकारणत्वमित्येवं कार्यकोटिप्रविष्टानां चैत्रादिव्यक्तीनामानन्त्येनाऽनन्तकारणताकल्पनमप्यतिरिच्यते शब्दजन्यत्वनये । एवं चैत्रीय-मैत्रीयादिखकार-गकारादावप्यनन्तहेतुहेतुमद्भावकल्पनमपि द्रष्टव्यम् । शब्दव्यङ्ग्यत्वनये तु स्वाश्रयलौकिकविषयितासम्बन्धेन शब्दत्वावच्छिन्नं प्रति स्वावच्छेदकश्रोत्रसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन विजातीयवायुसंयोगस्य हेतुतेति एक एव कार्यकारणभावः स्वीक्रियत इति अतिलाघवं मीमांसकानां, कार्यताकोटौ कत्व-खत्वादीनां चैत्र-मैत्रादीनाञ्चाऽप्रवेशात् ।

ननु समानविषयकककाराद्यनुमितेः श्रावणसामग्रीप्रतिबध्यत्वं सर्वसम्मतमेव किन्तु मीमांसकमते शब्दस्य नित्यत्वेन विजातीयवायुसंयोगस्य ककारादिश्रावणसामग्रीघटकत्वकल्पनं नैयायिकमते तु शब्दस्य जन्यत्वेन विजातीयवायुसंयोगस्य न ककारादिश्रावणसामग्रीघटकत्वं किन्तु ककारादिसामग्रीघटकत्वमिति समानविषयकककाराद्यनुमितित्वावच्छिन्न-प्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्ध-

सम्बन्ध से केवल शब्दत्व ही विजातीय वायुसंयोग का कार्यतावच्छेदक धर्म होता है, क्योंकि हम मीमांसकों की यही मूल मान्यता है कि चैत्रीय विजातीयवायुसंयोग, मैत्रीय विजातीयवायुसंयोग आदि से अभिव्यक्त होनेवाले क, ख, ग आदि वर्ण सर्वत्र, सर्वदा सब के लिए एक ही है । भिन्न भिन्न व्यंजकों से अभिव्यक्त होने पर भी उसमें कोई विलक्षणता नहीं है । यह ठीक उसी तरह संगत हो सकता है जैसे अन्धकार में रहे हुए एक ही श्वेत पट की श्वेत, रक्त, नील, पीत आदि भिन्न भिन्न रंगवाले प्रकाश से विलक्षण अभिव्यक्ति होने पर भी अभिव्यक्त पट तो एक ही होता है । इसलिये शब्दव्यङ्ग्यत्वपक्ष में उक्त सम्बन्ध से विजातीय वायुसंयोग का कार्यतावच्छेदक केवल शब्दत्वनामक एक ही धर्म होगा, जब कि नानाशब्दवादी नैयायिक के शब्दजन्यत्वपक्ष में उसका कार्यतावच्छेदक कत्व, खत्व, गत्व आदि अनेक धर्म बनेंगे । अतः नैयायिक मत में ही अनेक कार्यकारणभाव के स्वीकार का गौरव प्रसक्त होगा । शब्दाऽनित्यत्वपक्ष में कत्व, खत्व आदि अनेक कार्यतावच्छेदक धर्म के स्वीकार से नानाविध कार्यकारणभाव की कल्पना का गौरव प्रसक्त होने की वजह यहाँ यह शङ्का कि —> ''मीमांसक को तो स्वावच्छेदकश्रोत्रसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्ध से विजातीय पवनसंयोग को कारण मानना होगा मगर नैयायिक को तो केवल अवच्छेदकतासम्बन्ध से विजातीय वायुसंयोग को कारण मानना होगा । मतलब कि नैयायिकमत में विजातीयपवनसंयोगनिष्ठ कारणता के अवच्छेदक सम्बन्ध में लाघव है और मीमांसक के मत में गौरव है'' <— भी निराधार हो जाती है, क्योंकि विजातीयवायुसंयोगकारणतावच्छेदक सम्बन्ध में गौरव मीमांसक मत में अनिवार्य होने पर भी नैयायिकमत में विजातीयवायुसंयोग का कार्यतावच्छेदक धर्म केवल कत्व, खत्व आदि न होकर चैत्रीयकत्व, मैत्रीयकत्व, चैत्रीयखत्व मैत्रीयखत्व आदि होगा । मतलब कि कार्यताअवच्छेदक कोटि में चैत्रादि अनन्त व्यक्तियों का निवेश होगा । मगर तब कार्यताअवच्छेदक धर्म चैत्रादि अनन्त व्यक्तियों के भेद से भिन्न हो जाने से उनके कारणतावच्छेदक धर्म भी अनन्त बनेंगे, जिसके फलस्वरूप नैयायिकमत में अनन्त कार्यकारणभाव की कल्पना करनी होगी । ऐसा गौरव मीमांसकमत में नहीं है, क्योंकि चैत्र, मैत्र आदि अनन्त व्यक्तियों का एवं कत्व, खत्व, गत्व आदि अनेक धर्म का कार्यतावच्छेदकधर्मकुक्षि में प्रवेश आवश्यक नहीं है । मीमांसकमत में तो केवल एक ही कार्यकारणभाव मानना होगा, वह यह कि स्वाश्रयलौकिकविषयितासम्बन्ध से शब्दत्वावच्छिन्न के प्रति स्वावच्छेदकश्रोत्रसंयुक्तमनःप्रतियोगिक विजातीयसंयोग सम्बन्ध से विजातीय वायुसंयोग कारण है । अतः मीमांसकमत में अत्यन्त लाघव है-यह फलित होता है ।

एवञ्च समानविषयक-ककाराद्यनुमितौ विजातीयपवनसंयोगघटितश्रावणसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वकल्पनागौरवमप्यनुद्भाव्यं, चैत्रकर्णसंयोगावच्छिन्नसमवायघटितसामग्र्या एव तथात्वे प्रत्युत गौरवात् ।

अथ तथापि गकारादौ गुणत्वादेः ककारभेदादेश्च ग्रहाय पृथक् पृथग्वैजातीयपवनसंयोगस्याऽनन्तहेतुताकल्पने गौरवमिति चेत् ?

✤ जयलता ✤

कृताश्रयीभूतश्रावणसामग्र्यां विजातीयवायुसंयोगनिवेशगौरवमतिरिच्यत इत्याशङ्कामपाकर्तुमाहुः एवं च = निरुक्तरीत्या शब्दजन्यत्वपक्षेऽनन्तकार्यकारणभावकल्पनागौरवप्रतिपादनेन च, नैयायिकेन मीमांसकं प्रति समानविषये लौकिकप्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वेऽनुमितिसामग्रीसत्त्वे च लौकिकप्रत्यक्षमेवोत्पद्यते न त्वनुमितिः, तदनन्तरं 'साक्षात्करोमी'त्यनुव्यवसायस्यैवोदयात् । ततश्च समानविषयकानुमितिसामग्र्याः श्रावणादिसामग्रीतो दुर्बलत्वेन **समानविषयकककाराद्यनुमितौ** समानकालीनत्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन **विजातीयपवनसंयोगघटितश्रावणसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वकल्पनागौरवमपि** अनुद्भाव्यं किमुत कारणतावच्छेदकसम्बन्धादिशरीरगौरवमित्यपिशब्दार्थः । तत्र परिहारमुपदर्शयन्ति - **चैत्रकर्णसंयोगावच्छिन्नसमवायघटितसामग्र्याः** = तादृशसमवायघटितश्रावणसामग्र्याः, **एव तथात्वे** = समानविषयकककाराद्यनुमितिप्रतिबन्धकत्वे स्वीक्रियमाणे **प्रत्युत** नैयायिकमत एव **गौरवात्** = प्रतिबन्धककोटौ चैत्राद्यनन्तव्यक्तिप्रवेशप्रयुक्तप्रतिबन्धकतावच्छेदकशरीरगौरवात् । अयं मीमांसकाभिप्रायः समानविषयकककाराद्यनुमितिप्रतिबन्धकीभूतश्रावणसामग्र्यां विजातीयवायुसंयोगनिवेशाऽपेक्षया चैत्रमैत्राद्यनन्तश्रोत्र-विजातीयवायुसंयोगावच्छिन्नसमवायप्रवेशे नैयायिकमत एव नानाप्रतिबन्धकाभावनिष्ठकारणताकल्पनागौरवमिति ।

अथ तथापि = चैत्रादिनिवेशप्रयुक्तप्रतिबन्धकतागौरवस्य नैयायिकमते दुर्वारत्वेऽपि, स्वाश्रयविषयितया शब्दत्वावच्छिन्ने विजातीयपवनसंयोगकारणत्वकल्पने **गकारादौ गुणत्वादेः ककारभेदादेश्च ग्रहाय** = गकारादिनिष्ठगुणत्वेदन्त्व-ककारभेद-खकारभेदादिप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नोत्पादोपपादनाय, **पृथक् पृथक् विजातीयपवनसंयोगस्य अनन्तहेतुताकल्पने** मीमांसकानां **गौरवं** = महागौरवम् । अयं नैयायिकाशयः चैत्रीय-मैत्रीय-शुकीय-ककार-खकार-गकारादीनामैक्येऽपि तत्प्रतीतिवैलक्षण्योपपादनाय शब्दत्वं

एतच्च. । **यहाँ मीमांसकमत के खिलाफ यह समस्या प्रस्तुत की जाय कि → "समानविषयक अनुमिति और प्रत्यक्ष की सामग्री होती है तब प्रत्यक्ष का उदय होता है, न कि अनुमिति का; क्योंकि समानविषयक अनुमिति और प्रत्यक्ष की सामग्री में प्रत्यक्ष की सामग्री बलवान होती है और अनुमिति की सामग्री दुर्बल । मतलब कि समानविषयक अनुमिति के प्रति प्रत्यक्षसामग्री प्रतिबन्धक होती है । जैसे कि ककारविषयक अनुमिति के प्रति ककारश्रावणप्रत्यक्षसामग्री प्रतिबन्धक होगी । मगर हम नैयायिक विजातीय वायुसंयोग को शब्द का जनक मानते हैं और मीमांसक शब्दप्रत्यक्ष = श्रावण का जनक मानते हैं । मतलब कि ककारादिश्रावणप्रत्यक्षसामग्री में विजातीय वायुसंयोग का नैयायिकमतानुसार प्रवेश नहीं होगा और मीमांसकमतानुसार प्रवेश होगा । अर्थात् समानविषयक ककारादिअनुमिति की प्रतिबन्धक श्रावणसामग्री नैयायिकमतानुसार विजातीय वायुसंयोग से घटित नहीं होने की वजह लघुभूत होगी और मीमांसक मतानुसार वह विजातीय वायुसंयोग से घटित होने से गुरुभूत होगी । अतः यह प्रतिबन्धकशरीरगौरव दोष मीमांसकमत में अपरिहार्य होगा" ← तो यह तो नैयायिक को ही प्रतिकूल बन जायेगी, क्योंकि मीमांसक के मतानुसार समानविषयक ककारादिगोचरअनुमिति की प्रतिबन्धकीभूत श्रावणसामग्री केवल विजातीय वायुसंयोग से घटित होगी, जब कि नैयायिक के मतानुसार चैत्रादिकर्ण-विजातीयवायुसंयोगोभयसंयोगावच्छिन्न समवाय से घटित बनेगी, जिसमें चैत्रादि अनन्त व्यक्ति का निवेश होने से महागौरव है । यदि चैत्रादि व्यक्तियों का प्रतिबन्धककोटि में प्रवेश न किया जाय तब तो चैत्र के पास ककारानुमिति की सामग्री होने पर भी मैत्रकर्णविजातीयनिमित्तपवनसंयोगावच्छिन्नककारसमवाय से घटित श्रावणसामग्री चैत्र की ककारानुमिति की प्रतिबन्धक हो जायेगी । अतः इस तरह आगे अधिक विचार किया जाय तब तो नैयायिक के सर पर ही गौरवशिला का प्रहार होता है ।**

✤ विजातीयवायुसंयोग का कार्यतावच्छेदक श्रावणत्व - मीमांसक ✤

अथ तथा. । यदि नैयायिक की ओर से पुनः मीमांसक के प्रति आक्षेप किया जाय कि → "मीमांसक मतानुसार विजातीय वायुसंयोग का कार्यतावच्छेदक स्वाश्रयलौकिकविषयिता सम्बन्ध से कत्व, खत्व, गत्व, शब्दत्व आदि हो तब तो कोलाहल में गकार आदि का गत्वादिरूप से श्रावण प्रत्यक्ष न हो कर गुणत्वादि रूप से जो प्रत्यक्ष होता है, वह उपपन्न न हो सकेगा एवं गकार का कवर्णभिन्नत्व, खवर्णभिन्नत्व आदि रूप से जो प्रत्यक्ष होता है उसकी भी संगति न हो सकेगी,

तर्हि श्रावणत्वावच्छिन्नं प्रत्येवोपदर्शितसम्बन्धेन हेतुताऽस्तु ।

केचित्तु दोषाभावानां हेतुतापेक्षया विजातीयवायुसंयोगस्य पृथग् हेतुत्वमप्युचितमित्याहुः ।

❋ जयलता ❋

विहाय कत्व-खत्वादिरेव स्वाश्रयविषयितया कार्यतावच्छेदकत्वमस्माभिः कल्पनीयम् । ततः गुणत्व-कवर्णभेदादिप्रकारक-गकार-प्रत्यक्षं न कलुप्तविजातीयवायुसंयोगादुत्पत्तुमर्हति, तत्कार्यतावच्छेदकविरहात् । ततश्च स्वाश्रयलौकिकविषयितया गुणत्व-ककार-भेदेदन्त्वादीनां कलुप्तविजातीयवायुसंयोगाऽपेक्षया नानाविजातीयवायु-संयोगकार्यतावच्छेदकत्वं कल्पनीयम् । तादृशकार्यतावच्छेदक-धर्मानन्त्यात्कार्यकारणभावाऽऽनन्त्यं, कार्यतावच्छेदकभेदे कारणताभेदात् । नैयायिकमते तु नैतदवकाशः समवायेन कत्वादेरेव तत्कार्यतावच्छेदकत्वादिति **चेत् ? तर्हि** समवायेन **श्रावणत्वावच्छिन्नं प्रति एव उपदर्शितसम्बन्धेन** = स्वावच्छेदककर्णसंयुक्त-मनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन विजातीयपवनसंयोगस्य **हेतुताऽस्तु** । विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या कार्यकारणभावकल्पने प्रदर्शित-गौरवात् आत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्यैव स कल्प्यते । विजातीयपवनसंयोगकार्यतावच्छेदकं च समवायेन श्रावणत्वमेव न तु स्वाश्रयविषयितया कत्वादिकम् । ततश्च गुणत्व-ककारादिभेदेदन्त्व-पदार्थत्वादिप्रकारक-गकारादिविशेष्यकश्रावणप्रत्यक्षानुरोधेन न नानाकारणताकल्पनं, श्रावणत्वेनैव विजातीयवायुसंयोगकार्यतावच्छेदकेन तदनुगमात् । इत्थञ्च नाऽऽनन्त्यहेतुताकल्पनागौरवं मीमांसकानाम् ।

अथ स्वाश्रयलौकिकविषयितया कत्वादेः विजातीयवायुसंयोगकार्यतावच्छेदकत्वे कोलाहलादौ कत्वादेरग्रहेऽपीदन्त्वशब्दत्वा-दिना ककारादिप्रत्यक्षात् तत्तत्प्रकारक-ककारादिप्रत्यक्षे पृथग्धेतुत्वे गौरवम्, गकारादिनिष्ठगुणत्वादि- ककारभेदादिश्रावणं तथात्वे चातिगौरवमित्याक्षेपे **केचित्तु** मीमांसकाः कोलाहले कत्वादिश्रावणवारणाय **दोषाभावानां** कत्वादिप्रत्यक्षे **हेतुतापेक्षया** = हेतुत्वकल्पनापेक्षया निरुक्तसम्बन्धेन **विजातीयवायुसंयोगस्य** = विजातीयनिमित्तपवनसंयोगस्य, स्वाश्रयलौकिकविषयितया कत्व-खत्व-गत्व-गुणत्व-शब्दत्व-ककारभेदेदन्त्वाद्यवच्छिन्नं प्रति **पृथग्धेतुत्वमपि** = स्वतन्त्रकारणत्वकल्पनमपि कल्पयितुं उचितं, निमित्तपवनाकाशादेः समवायेन शब्दत्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वापेक्षया कण्ठाद्यभिघातस्य निखिलपवनापेक्षणात्, तस्यैवोक्तसम्बन्धेन शब्दत्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वौचित्यात्, तावतैव कोलाहलप्रत्यक्षस्य सुघटत्वात् । **न** चैवमुदार्यमाणयावद्वर्णविषयत्वाऽनियमे तत्कृतकोलाहलतारतम्यप्रत्ययानुपपत्तिरिति **वाच्यम्**, स्वभ्रकतारतम्यस्यैव तत्रारोपात् ।

क्योंकि गुणत्व, ककारभेद, खवर्णभिन्नत्व आदि विजातीयवायुसंयोग का कार्यतावच्छेदक नहीं है । यदि गुणत्वादिप्रकारक-गकारादि-विशेष्यक, ककारभेद आदिप्रकारक गकारादिविशेष्यक श्रावण प्रत्यक्ष आदि के प्रति भिन्न भिन्न विजातीय वायुसंयोग को स्वतन्त्र कारण माना जाय तब गुणत्वादिप्रकारक प्रत्यक्ष की संगति होने पर भी कार्यकारणभाव में महागौरव दोष तो जरूर प्रसक्त होगा । शब्दाऽनित्यत्वपक्ष में यह दोष प्रसक्त नहीं है, क्योंकि विजातीय वायुसंयोग से गकार आदि की उत्पत्ति गत्वादि रूप से ही होती है, न कि गुणत्व, कभिन्नत्वादि उपर्युक्त सभी रूपों से, जिन रूपों से उसका प्रत्यक्ष होता है । अतः गत्वादि को ही विजातीय वायुसंयोग का जन्यतावच्छेदक मानने से नैयायिकमत में गौरव दोष नामुमकिन है' <— तो यह इसलिये निराधार है कि उक्त गौरव के निराकरणार्थ हम मीमांसक यह कह सकते हैं कि समवायसम्बन्ध से श्रावणत्वावच्छिन्न (=कार्य) के प्रति स्वावच्छेदक-कर्णसंयुक्तमनःप्रतियोगिक विजातीयसंयोग सम्बन्ध से, जिसका विवेचन पहले किया जा चुका है, विजातीय वायुसंयोग को ही कारण माना जा सकता है । कत्व, खत्व, गत्व या गुणत्व, इदन्त्व, शब्दत्व, ककारभेद, खभिन्नत्व आदि को कार्यतावच्छेदक मानने की कोई आवश्यकता इस कार्य-कारणभाव में नहीं होने से गौरव दोष को अवकाश नहीं है । गकार का श्रावण प्रत्यक्ष चाहे गत्वरूप से हो, या गुणत्वादिरूप से हो या ककारभेदादिरूप से हो - इसके साथ विजातीय वायुसंयोग को कुछ मतलब नहीं है, क्योंकि वे इसके कार्यताअवच्छेदक नहीं हैं । उसका कार्यताअवच्छेदक तो है समवाय सम्बन्ध से श्रावणत्व, जो कि गत्वप्रकारक गुणत्वादिप्रकारक एवं ककारभेदादिप्रकारक गकारादिविशेष्यक श्रावण प्रत्यक्ष में रहता ही है । अतः मीमांसक मत में गौरव का अवकाश नहीं है । गौरव तो विजातीयवायुसंयोग के कार्यताअवच्छेदकविधया समवाय से कत्व, खत्व, गत्व आदि को माननेवाले नैयायिकों के मत में ही प्रसक्त होगा, क्योंकि उनके मतमें अनेक कार्यताअवच्छेदक धर्म होने से नानाविध कार्यकारणभाव का स्वीकार करना आवश्यक बन जाता है ।

▣ विजातीयवायुसंयोग स्वतन्त्र कारण है - मीमांसकदेशीय ▣

केचित्तु । **कोलाहलादि के काल में गत्व आदि का ज्ञान न होने पर भी शब्दत्व, इदन्त्व आदि रूप से गकारविशेष्यक प्रत्यक्ष की उपपत्ति के लिए तथा गकारआदि का गुणत्वादि और ककारभेद आदि रूप से श्रावण प्रत्यक्ष के उपपादनार्थ कुछ मीमांसकों का यह कथन है कि कोलाहल में गत्वादि रूप से गकारादि के प्रत्यक्ष की आपत्ति के वारणार्थ गत्वादिप्रकारक-**

श्रावणसमवाय-श्रावणविशेषणतादिना गुणत्व-ककारभेदादिग्रह इत्यप्याहुः ।

❁ जयलता ❁

ननु कोलाहले व्यञ्जकतारतम्याऽऽरोपकल्पना न युक्ता, साक्षात्सम्बन्धापेक्षया परम्परासम्बन्धकल्पने गौरवात्, भ्रान्तौ मानाभावादिति **चेत् ? तर्हि** अस्तु स्वाश्रयविषयितया कत्वादिकं विजातीयवायुसंयोगकार्यतावच्छेदकम्, तथापि अनन्तशब्दोत्पत्ति-नाश-तत्प्रागभावादिकल्पनातो लाघवम् । यद्वा स्वनिरूपितलौकिकविषयितया ककाराद्येव विजातीयनिमित्तपवनकार्यतावच्छेदकमस्तु, नैत्रीय-मैत्रीय-शुकीयककाराद्यैक्यात् व्यञ्जकवैचित्र्यादेव तत्तत्ककारादिवैलक्षण्यप्रतीत्युपपत्तेः, कोलाहले यावद्वर्णभानं भवत्येव, अन्यथा तत्तारतम्यप्रत्ययानुपपत्तेः किन्तु कत्वादिश्रावणसामग्रीविरहादेव न कत्वादिप्रकारकप्रत्ययस्तदानीं जायते । **न चैवं** कोलाहले कत्वादिवत् गुणत्व-ककारभेदादिग्रहोऽपि न स्यादिति **वाच्यम्, श्रावणसमवाय-श्रावणविशेषणतादिना गुणत्व-ककारभेदादिग्रह** इत्यस्य सुवचत्वात् । स्वनिष्ठविषयितानिरूपितलौकिकविषयतासम्बन्धेन गुणत्वग्रहं प्रति प्रतियोगितासम्बन्धेन श्रावणप्रत्यक्षविषयीभूतशब्दानुयोगिकसमवायस्य कारणत्वमित्यभ्युपगमेन गकारादिनिष्ठगुणत्वभानोपपत्तेः तथा स्वनिरूपितलौकिकविषयतासम्बन्धेन ककारभेद-खकारभेद-कत्वात्यन्ताभाव-खत्वात्यन्ताभावादिप्रत्यक्षं प्रति श्रावणसाक्षात्कारविषयीभूतगकारादिविशेषणतायाः हेतुत्वमित्यङ्गीकारेण गकारादिवृत्तिककारभेदादिश्रावणसङ्गतिः । **एतेन** शब्दत्वेदन्त्वादिना कोलाहले ककारादिश्रावणमपि **समर्थितं**, क्रमशः प्रोक्तकारणद्वयेन तदुत्पत्तिसम्भवात् **इत्यपि** अन्ये मीमांसका **आहुः** ।

इतरे मीमांसकास्तु - 'स एवायं गकार' इत्याकारकप्रत्यभिज्ञया गकारादेस्तावत्कालमवस्थानस्य विषयीकृतत्वेनान्तराभूतशब्दादिनाऽनाशेन नाशकाभावाद्वर्णनित्यत्वसिद्धिः । न च प्रत्यभिज्ञा तज्जातीयत्वविषयिणी, बाधकाभावात्, अन्यथा सर्वत्रापि तथाभावेऽभेदोच्छेदापत्तिः । न च तारत्व-मन्दत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासो बाधकः, प्रत्यभिज्ञानबलेन तस्य नित्यत्वसिद्धौ तारत्वादेः व्यञ्जकवायुधर्मत्वस्य कल्पनात्, श्रोत्रेण वायुधर्मस्य तारत्वादेरपि ग्रहणसम्भवात् । 'स एव तारः स एवान्यापेक्षया मन्द' इतिप्रतीतेः तारत्व-मन्दत्वयोरविरोधादिति **वदन्ति** ।

एके तु - 'सोऽयं ग' इत्यादिप्रत्यभिज्ञाबलाद्वर्णानां नित्यत्वम् । **न चैवं** सति 'उत्पन्नो गः विनष्टो ग' इत्यादिप्रतीतिरसङ्गतिरिति शङ्कनीयम्, ध्वनिव्यञ्जकवाय्वादिसंयोगविभागलक्षणनादगतोत्पादविनाशविषयकत्वस्वीकारात् । 'वायवीयाः संयोगविभागाः शब्दमभिव्यञ्जयन्तो नादशब्दवाच्या' (शा.भा.पृ. १०१) इति **शाबरभाष्यकारः** । तारत्वमन्दत्वादेः वायुधर्मत्वमेव, अन्यथाऽनन्तवर्णतत्प्रागभाव-ध्वंस-तत्कार्यकारणभावकल्पनापत्त्या महागौरवात् । **न चैवं** तयोः श्रोत्रग्राह्यत्वानुपपत्तिरिति **वक्तव्यम्**, व्यणुकनिष्ठगुणानां मध्ये रूपमात्रस्य चक्षुर्ग्राह्यत्ववद्वायुधर्माणां मध्ये तारत्वादिमात्रस्याऽऽनायत्या तद्ग्राह्यत्वकल्पने क्षतिविरहादिति **व्याचक्षते** ।

कश्चित्तु 'उत्पन्नः को विनष्टः क' इत्यादिप्रतीतेः 'सोऽयं कः' इत्यादिप्रत्यभिज्ञायाश्च प्रामाण्योपपादनायोत्पाद-

गकारादिविशेष्यक श्रावणप्रत्यक्ष के प्रति अनेकविध दोषाभावों को कारण मानने की अपेक्षा स्वाश्रयलौकिकविषयितासम्बन्ध से कत्व, खत्व, गत्व, गुणत्व शब्दत्व, ककारभेद, खकारभेद आदि को ही विजातीय वायुसंयोग का कार्यताअवच्छेदक मानना अर्थात् भिन्न भिन्न विजातीय वायुसंयोगों को ही स्वतन्त्ररूप से गत्वप्रकारक, गुणत्वादिप्रकारक, ककारभेदादिप्रकारक गकारादिविशेष्यक प्रत्यक्षों का कारण मानना भी मुनासिब ही है ।

❋ श्रावणसमवायआदि गुणत्वादिप्रत्यक्ष में कारण - मीमांसकविशेष ❋

श्रावणम्.। अन्य मीमांसकों का यह कथन है कि —> कोलाहल के समय सुने जाते वर्णों में कत्व, खत्व, गत्व आदि का प्रत्यक्ष दोषविशेष के कारण नहीं होता है मगर फिर भी तब गुणत्व, ककारभेद आदि का तो गकारादि में भान हो सकता ही है, क्योंकि स्वनिरूपितलौकिकविषयतासम्बन्ध से गुणत्व-शब्दत्व आदि प्रकारक श्रावणप्रत्यक्ष के प्रति प्रतियोगिता सम्बन्ध से श्रावणसमवाय अर्थात् श्रावणप्रत्यक्षविषयीभूतशब्दानुयोगिक समवाय कारण है । जिस किसी पुरुष को गकारादि का कोलाहल में शब्दत्व-गुणत्वरूप से भान होता है वह स्वनिरूपितलौकिकविषयतासम्बन्ध से शब्दत्व, गुणत्वादि में रहता है और गकार आदि समवाय के गुणत्व, शब्दत्व आदि प्रतियोगी होने की वजह गकारआदिअनुयोगिक समवाय भी प्रतियोगितासम्बन्ध से वहीं रहता है । इस तरह गकारादि में जिस पुरुष को ककारभेद आदि का श्रावण प्रत्यक्ष होता है उसके उपपादनार्थ यह कहा जा सकता है कि स्वनिरूपित लौकिक विषयता सम्बन्ध से ककारभेद-कत्वात्यन्ताभाव आदि से विशिष्ट प्रत्यक्ष के प्रति श्रावणविशेषणता कारण है । ककारभेदआदिप्रकारक श्रावणप्रत्यक्ष स्वनिरूपितलौकिकविषयतासम्बन्ध से ककारभेद आदि में रहता है और वहीं श्रावणप्रत्यक्षविषयीभूतगकारादिविशेषणता भी रहती ही है, क्योंकि ककारभेद आदि गकारादिविशेषण होता है।

अत्र नैयायिकानुयायिनः — शब्दस्य व्यङ्ग्यत्वे श्रावणजनकतावच्छेदिका जातिः पवनसंयोग इवात्ममनोयोगे श्रोत्रमनोयोगादौ वा विनिगमनाविरहेण कल्पनीया स्यात् । किञ्चैवं घटादेरपि व्यङ्ग्यत्वसम्भवेन सत्कार्यवादापत्त्या साङ्ख्यमतप्रवेशः ।

❀ जयलता ❀

विनाशशालिप्रतीतेः कादिविषयकत्वं प्रत्यभिज्ञायाश्च ककाराद्यभिव्यज्यमानस्फोटो विषयः । स्फुट्यते ज्ञाप्यतेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्त्या अर्थस्मारको नित्यः शब्दविशेषः । पदस्फोट-वाक्यस्फोटभेदात् द्विविधः स्फोटः । पदज्ञाप्यस्फोटः पदस्फोटः, वाक्यज्ञाप्यस्फोटो हि वाक्यस्फोटः । वृत्त्या अर्थस्मारकत्वं स्फोटस्यैव पदवाक्ययोः स्फोटज्ञापकत्वात्परम्परया अर्थस्मारकत्वमित्याह ।

अपरे तु 'सोऽयं' इत्यादिप्रत्यभिज्ञाबलात् वर्णानां नित्यत्वं 'उत्पन्नः ककारो विनष्टः ककारः' इत्यादिप्रतीतेः ककारादिव्यञ्जकध्वनिविषयकत्वं, ध्वनेरेव श्रोत्रग्राह्यत्वात्, उत्पादविनाशशालित्वाच्चेति **प्रतिपादयन्ति** ।

सर्वथानित्यता शब्दस्थले इत्थं प्रचक्षते । सर्वे मीमांसकास्तन्नेत्याहुर्नैयायिकाः खलु ॥१॥

अत्र = शब्दनित्यत्वाऽनित्यत्वविप्रतिपत्तिस्थले, **नैयायिकानुयायिनः** = प्राञ्चो नैयायिकाः वदन्ति - शब्दस्य व्यङ्ग्यत्वे = निमित्तविशेषजन्यज्ञानविषयत्वे सति निमित्तविशेषजन्योत्पादाऽप्रतियोगित्वे स्वीक्रियमाणे **श्रावणजनकतावच्छेदिका** = लौकिकश्रावणप्रत्यक्षनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदिका **जातिः** मीमांसकाभिमते **पवनसंयोगे** = विजातीयनिमित्तवायुसंयोगे इव **आत्ममनोयोगे** = विजातीयात्मनःसंयोगे **श्रोत्रमनोयोगादौ वा** = कर्णमनःसंयोगादौ वा, आदिपदेन विजातीयशब्दश्रोत्रसंयोगकालदिगादिग्रहणं, **विनिगमनाविरहेण कल्पनीया स्यात्**, शब्दज्ञाननिमित्तकारणतायाः तु सर्वत्राऽविशेषात् । सर्वत्राऽविशेषेण तत्कल्पने महागौरवं, अन्यथा त्वर्धजरतीयप्रसङ्ग इत्युभयतः पाशारज्जुः ।

किञ्च, एवं = स्वाश्रयलौकिकविषयिताया कल्पनेः विजातीयपवनसंयोगादिकार्यतावच्छेदकत्वे, उत्पादकसामग्र्या व्यञ्जकत्वस्वीकार इति यावत् । **घटादेरपि व्यङ्ग्यत्वसम्भवेन** घटाद्युत्पादकसामग्र्या अपि तुल्ययुक्त्या व्यञ्जकत्वसम्भवेन पदार्थमात्रस्य नित्यत्वसिद्धौ **सत्कार्यवादापत्त्या** = कारणनिष्ठात्यन्ताभावाऽप्रतियोगिविषयकज्ञानजनकत्वलक्षणसत्कार्यवादप्रसङ्गेन **सांख्यमतप्रवेशः** मीमांसकानां दुर्वारः । अतिसूक्ष्मेक्षिकया ग्राहकविश्रामे च गतं घटादिना बाह्यतयैव, ततो योगाचारमतप्रवेशापातः ।

अतः ककारभेदप्रकारक-गकारविशेष्यक, कत्वात्यन्ताभावप्रकारक-गकारविशेष्यक श्रावण प्रत्यक्ष की उपपत्ति भी हो सकती है।

प्रिय वाचकवर्ग ! हम भली भाँति समझ सकते हैं कि भिन्न भिन्न मीमांसक मनीषी अलग अलग पहलू से शब्द में नित्यत्व=व्यङ्ग्यत्व का ही समर्थन करते हैं । पद्धति चाहे विचित्र-विभिन्न हो, उसका लक्ष्य एक ही है - शब्दनित्यत्वसमर्थन। शब्द में नित्यत्व का स्थापन करने में मीमांसक अच्छी तरह सफल रहे हैं। अब मीमांसकमत के खिलाफ नैयायिकवक्तव्य को गौर से सुनियेगा ।

❀ शब्द जन्य है - नैयायिक ❀

अत्र नै. इति । नैयायिक मनीषियों का वक्तव्य यह है कि यदि शब्द को जन्य न मान कर व्यङ्ग्य माना जाय अर्थात् नित्य शब्द की निमित्तविशेष से अभिव्यक्ति = श्रावण प्रत्यक्ष होने का स्वीकार किया जाय तब तो शब्दगोचर श्रावण प्रत्यक्ष का निमित्त कारण विजातीय पवनसंयोग को मानना या विजातीय आत्ममनोयोग को मानना या विजातीय श्रोत्रमनोयोग को मानना ? इसमें कोई नियामक = विनिगमक नहीं होने से श्रावणजनकताअवच्छेदक जाति की विजातीय वायुसंयोग की भाँति विजातीय आत्ममनोयोग एवं विजातीय श्रोत्रमनःसंयोग में भी कल्पना करनी होगी, जिसके स्वीकार में महा गौरव दोष मीमांसक के सर पर आयेगा ।

❀ मीमांसक को सांख्यमतप्रवेशापत्ति ❀

किञ्चै. । इसके अतिरिक्त यह भी दोष आ सकता है कि यदि शब्द को नित्य मान कर निमित्तविशेष से उसकी अभिव्यक्ति को मान्यता दी जाय तब तो घट आदि सभी पदार्थों को भी नित्य मान कर कुलाल, दण्ड आदि से उनकी भी अभिव्यक्ति = बुद्धि होती है, न कि उत्पत्ति - यह भी निर्विवादरूप से माना जा सकता है, क्योंकि आक्षेप और परिहार दोनों मत में समान ही रहेंगे । मगर ऐसा मानने पर मीमांसक महाशय का सांख्य मत में प्रवेश हो जायगा, क्योंकि शब्द की भाँति घट, पट आदि सब पदार्थ नित्य सत् = कारण में विद्यमान होते हुए कारणविशेष से केवल ज्ञात होते हैं -

'घटसाधनतादिज्ञानेन दण्डादौ प्रवृत्तेर्घटादिव्यङ्ग्यत्ववादो न युक्त' इति चेत् ? तर्हि शब्दसाधनताज्ञानेन कण्ठताल्वाद्यभिघातादौ प्रवृत्तेः शब्दव्यङ्ग्यत्ववादोऽपि किं न तथेति एकं सीव्यतोऽपरप्रच्युतिः । एतच्च 'शब्द उत्पन्न' इत्यादिप्रतीतौ शब्दपदं शब्दाभिव्यक्तिपरमित्यपास्तम्, 'वीणायां शब्द' इत्यादिप्रतीतेरुपपादयितुमशक्यत्वात् ।

❀ जयलता ❀

ननु **घटसाधनतादिज्ञानेन** = घटत्वावच्छिन्नकारणताज्ञानेन **दण्डादौ प्रवृत्तेः** दण्डादिकार्यतावच्छेदकं समवायेन घटत्वमेव न तु घटप्रत्यक्षत्वमिति **घटादिव्यङ्ग्यत्ववादो न युक्तः इति चेत् ? तर्हि** तुल्ययुक्त्या **शब्दसाधनताज्ञानेन** = शब्दत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताज्ञानेन, **कण्ठताल्वाद्यभिघातादौ** प्रवृत्तेः तत्कार्यतावच्छेदकमपि समवायेन शब्दत्वमेव न तु शब्दप्रत्यक्षत्वादिकं इति **शब्दव्यङ्ग्यत्ववादोऽपि किं न तथा** ? नितरामयुक्त इत्यर्थः **इति** = हेतोः **एकं सीव्यतः** = घटादिव्यङ्ग्यत्वापत्तिनिरपसारयतः **अपरप्रच्युतिः** = शब्दव्यङ्ग्यत्वव्याहतिः समागता ।

एतच्च = शब्दव्यङ्ग्यत्ववादे सत्कार्यवादापातेन तन्निराकरणे शब्दव्यङ्ग्यत्वहानेश्च, अपास्तमित्यनेनास्यान्वयः । **'शब्द उत्पन्न' इत्यादिप्रतीतौ शब्दपदं शब्दाभिव्यक्तिपरं** = शब्दपदस्य शब्दप्रत्यक्षे लक्षणाऽङ्गीकारात् 'शब्दसाक्षात्कार उत्पन्न' इत्यर्थकत्वस्वीकाराच्च शब्दनित्यत्वव्याहतिर्नेति मीमांसकाकूतमपि **अपास्तम्,** तुल्ययुक्त्या 'घट उत्पन्न' इत्यादिप्रतीतौ घटपदं घटाभिव्यक्तिपरमित्यङ्गीकारेण घटपदस्य घटसाक्षात्कारेऽर्थे लक्षणया 'घटसाक्षात्कारः स्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षण-सम्बन्धप्रतियोगी' इत्यर्थकत्वस्वीकारेण घटादेरपि नित्यत्वं सुवचं स्यात् ।

अस्तु वा शब्दपदस्य शब्दाभिव्यक्तौ लक्षणा तथापि **'वीणायां शब्द उत्पन्न' इत्यादिप्रतीतेः उपपादयितुमशक्यत्वात्** । न हि 'वीणावृत्ति शब्दप्रत्यक्षं आद्यक्षणसम्बन्धप्रतियोगि' इत्यर्थस्याऽबाधितत्वम्, शब्दप्रत्यक्षस्याऽऽत्ममात्रवृत्तित्वात् । **अनेन** 'वीणायां शब्द उत्पन्न' इत्यस्य 'वीणावृत्तिः यः शब्दस्तत्साक्षात्कार आद्यक्षणसम्बन्धात्मकोत्पत्तिप्रतियोगी' इत्यर्थकत्वकल्पनाऽपि **परास्ता,** मीमांसकमतेऽपि शब्दस्याकाशवृत्तित्वात् वायुवृत्तित्वाद्वा । **अत एव** स्वगोचरसाक्षात्कारजनकत्वसम्बन्धेन शब्दस्य वीणावृत्तित्वकल्पनाऽपि **प्रत्याख्याता,** शब्दपदस्य साकाङ्क्षत्वेन शब्दप्रत्यक्षपरकत्वानुपपत्तेश्च, अन्यथा 'कपाले घट उत्पन्न'

यही सांख्यों के सत्कार्यवाद का तात्पर्य है, जिसका प्रतिपादन एवं खण्डन हम नैयायिकों ने पहले ही कर दिया है (देखिये प्रथम खण्ड पृ.११५/१२६)। यहाँ बचाव के लिए मीमांसक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'सांख्य का सत्कार्यवाद यानी घटादिव्यङ्ग्यत्ववाद अयुक्त है, क्योंकि लोगों की दण्डादि में घटसाधनतादिप्रकारक ज्ञान से प्रवृत्ति होती है, न कि घटज्ञानसाधनतादिप्रकारक ज्ञान से । दण्डादि में घटसाधनतादि का ज्ञान यही बताता है कि घटादि दण्डादि से जन्य है, न कि घटज्ञानादि' <— तो यह कथन मीमांसक मत में भी समान रीति से लागू होगा कि लोगों की कण्ठतालुअभिघात आदि में शब्दसाधनतादिप्रकारक ज्ञान से प्रवृत्ति होती है, न कि शब्दज्ञानसाधनतादिप्रकारक ज्ञान से । कण्ठतालुअभिघात आदि में शब्दसाधनतादि का ज्ञान यही सिद्ध करता है कि ककार, गकार आदि शब्द कण्ठतालुअभिघातादि से जन्य है, न कि ककारादिशब्दज्ञान । अतः शब्दव्यङ्ग्यत्ववाद भी घटादिव्यङ्ग्यत्ववाद की भाँति अप्रामाणिक हो जायेगा । अतः घटादिव्यङ्ग्यत्ववादापत्ति = सत्कार्यवादप्रसङ्ग दूर करने का प्रयत्न करने पर शब्दव्यङ्ग्यत्ववाद भी टूट पड़ेगा । यह मीमांसकमत में दूसरा दोष है । इसलिये मीमांसक का यह कथन कि —> ''सब लोगों को जो प्रतीति होती है कि 'शब्द उत्पन्न हुआ' उसमें शब्दपद शब्दाभिव्यक्तिपरक होता है यानी शब्दपद की शब्दज्ञान में लक्षणा होती है, जिससे उपर्युक्त वाक्य का अर्थ यह प्राप्त होगा कि 'शब्दज्ञान उत्पन्न हुआ' । अतः शब्द में नित्यत्व या व्यङ्ग्यत्व मानने में कोई दोष नहीं है'' <— भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि तुल्य युक्ति से यह कहा जा सकता है कि - 'घट उत्पन्नः' इत्यादि प्रतीति में भी घटपद घटाभिव्यक्तिपरक होता है अर्थात् घटपद की घटज्ञान में लक्षणा होती है, जिससे उपर्युक्त प्रतीति का अर्थ होगा 'घटज्ञान उत्पन्न हुआ है' । तब तो घटादि के व्यङ्ग्यत्व सिद्ध होने की वजह पुनः सत्कार्यवाद की आपत्ति आयेगी और उसको हटाने की लिए जो युक्ति मीमांसक की ओर से पेश की जायगी उसीसे शब्दव्यङ्ग्यत्ववाद भी धराशायी हो जायगा । इसके अतिरिक्त मीमांसकमत में यह दोष अधिक है कि शब्दपद की शब्दाभिव्यक्ति अर्थ में लक्षणा करने पर 'वीणायां शब्द उत्पन्नः' इस प्रतीति की उपपत्ति कथमपि न हो सकेगी, क्योंकि शब्दाभिव्यक्ति अर्थ में शब्द की लक्षणा मानने पर 'वीणा में शब्दज्ञान उत्पन्न हुआ' यह अर्थ प्राप्त होगा, जो बाधित है । ज्ञान तो आत्मा में रहता है, न कि वीणा आदि में । अतः 'शब्द उत्पन्नः' इस प्रतीति की संगति करने पर 'वीणायां शब्द उत्पन्नः' यह प्रतीति अनुपपन्न बन जायेगी । 'इतो व्याघ्र इतस्तटी' । इसलिए मानना

स चायं क्षणिकः । क्षणिकत्वञ्च तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम् । अतो नापसिद्धान्तः । अत्र शिरोमणिनयानुयायिनः —> आद्यशब्दस्य कार्यशब्देन नाशः, अन्त्यशब्दस्य कारण-

❁ जयलता ❁

इत्यत्राऽपि घटपदस्य घटाभिव्यक्तौ लक्षणा साध्वी स्यात् । **एतेन** प्रत्यभिज्ञायाः तद्व्यक्त्यभेदविषयकत्वमपि **निराकृतम्,** तज्जातीयाऽभेदविषयकत्वेनाऽपि तदुपपत्तेः । **न चानित्यत्वमते** प्रत्यभिज्ञायास्तज्जातीयत्वविषयकत्वे 'तज्जातीयोऽयं गकारः यं पूर्वमश्रौषम्' इत्याकारः स्यान्न तु 'सोऽयमि'त्याकार इति **शङ्कनीयम्,** यत्र प्रत्यभिज्ञायां जातित्वेन गत्वादेः भानं तत्रैव 'तज्जातीयोऽयमित्याकारः यत्र तु स्वरूपतो भानं तत्र 'सोऽयमि'त्याकार इत्यभ्युपगमात् । इत्थमेव 'सैवेयं दीपकलिका' इत्यादिप्रत्यभिज्ञोपपत्तेः । **अनेन** प्रत्यभिज्ञयैव ज्ञात-ज्ञायमानशब्दव्यक्त्यैक्यमित्यपि **पराकृतम्,** लूनपुनर्जातकेशनखादिष्विव व्यक्त्यैक्यविषयकत्वे तस्या भ्रान्तत्वात्, अन्यथाऽबाधितोत्पादविनाशप्रतीत्यनुपपत्तेः, तार-मन्द-शुक-सारिकाप्रभवादिशब्देन नानाविधेष्वपि वर्णेषु प्रत्यभिज्ञादर्शनात् तस्या भ्रमत्वावश्यकत्वाच्च । **न चेष्टापत्तिरेव** तारमन्दशुकसारिकाप्रभवशब्दैक्ये, तारत्वादेः शब्दे आरोपादिति **वाच्यम्,** तस्य तारत्वादिधर्मवत्तयैव नित्यमनुभूयमानतया तत्र तारत्वाद्यारोपायोगात् । तदुक्तं **कुमारिलेनैव श्लोकवार्तिके** 'यो ह्यसद्भूतसंवेद्यः संवेद्येतान्यथा पुनः । स मिथ्या न तु तेनैव यो नित्यमवगम्यते (श्लो.वा.प्र.सू.श्लो. १६६ पृ.१३१) इति शब्दाऽनित्यत्वमेव घटाकोटिमञ्चतीत्याह **स चायं क्षणिक** इति ।

इदन्तु बोध्यं शब्दो द्विविधः ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च । तत्र ध्वन्यात्मकाद्यशब्दो द्विविधः संयोगाऽसमवायिकारणको विभागासमवायिकारणकश्चेति । तत्राद्यः भेरीदण्डसंयोगादि-निमित्तको भेर्याकाशसंयोगाऽसमवायिकारणकः । अन्त्यस्तु वंशदलद्वय-विभागनिमित्तको वंशदलाकाशविभागासमवायिकारणक एव, विभागाऽसमवायिकारणकवर्णे मानाभावात् । स च वर्णात्मकः शब्द कण्ठताल्वादिना वाय्वादिसंयोगनिमित्तकः कण्ठताल्वादिनाकाशसंयोगासमवायिकारणकः । द्वितीयादिवर्णाः प्रथमादिवर्णाऽसमवायि-कारणकाः । इदमपि भावकार्यमात्रस्य कारणत्रयजन्यत्वनियमङ्गीकर्तृमतेन । निकृष्टमते तु तादृशनियमे मानाभावात् शब्दमात्र-स्याऽसमवायिकारणानभ्युपगमेऽपि न क्षतिः, भेरीदण्डसंयोगादिवंशदलद्वयविभागादिनिमित्तसहकृतेनाकाशेनैव ध्वनेः कण्ठताल्वादिना वाय्वादिसंयोगरूपनिमित्तकारणसहकृतेनाकाशेनैव वर्णस्य चोत्पत्तिसम्भवात् । एवं प्रथमादिशब्दानां स्वकार्यशब्देनैव नाशः, योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरोत्पन्नस्वसमानाधिकरणविशेषगुणनाश्यत्वनियमात् । **न चैवं सति** चरमशब्दस्य नाशो न स्यात्, नाशकतादृशशब्दविरहादिति **वाच्यम्,** अन्त्यान्यशब्द एव तादृशनियमाङ्गीकारात्, अन्त्यशब्दस्य तु स्वयमेव कारणशब्दनाशेन वा नाश इत्युपगमात् । **न चैवं सति** तस्य द्वितीयक्षणे नाशापत्तिरिति **वाच्यम्, इष्टत्वात्** । **न चैवं सति** बौद्धमतप्रवेशापत्तिरिति **वाच्यम्,** तन्मते वस्तुमात्रस्य द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वेन चरमशब्दमात्रस्य तदङ्गीकारमात्रेण तादृशदोषासम्भवात्, अन्यथा हिंसारूपाधर्मस्य तदनुमतस्याऽस्माभिरपि स्वीकृतत्वेन सर्वेषामेव तन्मतप्रवेशापत्तिः । अचरमशब्दनिष्ठं **क्षणिकत्वञ्च तृतीय-क्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्** । घटादिष्वव्याप्तये तृतीयक्षणवृत्तीति । प्रथममुत्पद्यते द्वितीयक्षणे चोपतिष्ठते तृतीयक्षणे च नश्यतीति तृतीयक्षणवृत्तिको यो ध्वंसः तत्प्रतियोगित्वमेव क्षणिकत्वम् । इत्थञ्च शब्दजनकशब्दस्य कार्यशब्देन शब्दजन्यशब्दस्य च कारण-शब्दनाशेन नाश इति फलितमिति प्राञ्चो नैयायिकाः ।

अत्र = शब्दक्षणिकत्वनिरूपणस्थले, **शिरोमणिनयानुयायिनः** = **दीधितिकाररघुनाथशिरोमणि**मतानुयायिनो नव्यनैयायिकाः, आहुरित्यनेनास्यान्वयः । **आद्यशब्दस्य** = वर्णध्वनिलक्षणद्विविधस्य शब्दाऽजन्यस्य शब्दस्य, **कार्यशब्देन** =

होगा कि शब्द अनित्य है - क्षणिक है । अपनी सामग्री से शब्द उत्पन्न होता है और नष्ट होता है । यद्यपि नैयायिक मनीषी शब्द को क्षणिक मानते हैं फिर भी क्षणिकवादी बौद्ध के मत में प्रवेश होने की या अपसिद्धान्त की आपत्ति नैयायिक के सर पर नहीं आयेगी, क्योंकि यह क्षणिकत्व क्षणमात्रवृत्तित्वस्वरूप नहीं है किन्तु तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वस्वरूप है । मतलब कि शब्द की प्रथम क्षण में उत्पत्ति होती है, द्वितीय क्षण में स्थिति होती है और तृतीय क्षण में विपत्ति होती है । अतः तृतीय क्षण में होनेवाले विनाश की प्रतियोगिता शब्द में आयेगी । वही शब्दनिष्ठ क्षणिकत्व है । बौद्धमत में तो प्रत्येक पदार्थ में द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगिता रहती है । अतः अपसिद्धान्त या बौद्धमतप्रवेश की आपत्ति का अवकाश नहीं है ।

❁ शब्द नाशकारणदर्शक - रघुनाथशिरोमणि ❁

अत्र शिरो. । रघुनाथशिरोमणि के मतानुयायिओं का यह कथन है कि —> "प्राचीन नैयायिकों ने शब्द को तृतीय-क्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगी माना है वह ठीक नहीं, क्योंकि उसकी उपपत्ति के लिये प्राचीन नैयायिकों को ऐसा भी मानना आवश्यक

शब्दनाशेन, मध्यमानां पुनरुभाभ्यामपीति सम्प्रदायमतमयुक्तम्, प्रतियोगितया नाशत्वावच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन नाशत्वेनैवाऽन्यत्र क्लृप्तेन कार्यकारणभावेन सकलशब्द-नाशनिर्वाहात् । तथा च शब्दस्योत्कर्षतः क्षणचतुष्टयावस्थायिविजातीयपवनसंयोगनाश्यत्वेन

❋ जयलता ❋

स्वजन्यशब्देन **नाशः, अन्त्यशब्दस्य** = शब्दजन्यत्वे सति शब्दाजनकस्य शब्दस्य **कारणशब्दनाशेन** = स्वजनकशब्दनाशेन नाशः, **मध्यमानां** = शब्दजन्यत्वे सति शब्दजनकानां शब्दानां **पुनः उभाभ्यां** = स्वकार्यशब्द-स्वजनकशब्दनाशाभ्यां **अपि** नाशः । प्रतियोगितया प्रथमशब्दनाशं प्रति स्वजनकत्वसम्बन्धेन कार्यशब्दस्य हेतुत्वं, प्रतियोगितया चरमशब्दनाशं प्रति स्वप्रति-योगिजन्यत्वसम्बन्धेन कारणशब्दनाशस्य कारणत्वं तथा प्रतियोगितया मध्यमशब्दनाशं प्रति स्वजनकत्वसम्बन्धेन कार्यशब्दस्य स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन च कारणशब्दनाशस्य निमित्तत्वमिति **सम्प्रदायमतं** = प्राचीननैयायिकपरम्परामतं **अयुक्तम्**, नानाकार्यकारणभावकल्पने गौरवात्, आद्यशब्दमात्रस्य शब्दजनकत्वे मानाभावेन शब्दाऽजनकप्रथमशब्दनाशानुपपत्तेः कत्वादिविशिष्ट-लौकिकप्रत्यक्षानुपपत्तेश्च । न हि प्रथमक्षणोत्पन्नः ककारः द्वितीयक्षणे क-कत्वनिर्विकल्पकज्ञानं जनयित्वा तृतीयक्षणे कत्वविशिष्टककार-गोचरव्यवसायात्मकलौकिकश्रावणोत्पादकालेऽवतिष्ठते । नापि विषयं विना तज्ज्ञानं भवितुमर्हति, लौकिकसाक्षात्कारं विषयस्य सहभावेन हेतुत्वात्, अन्यथा भ्रमत्वापत्तेः । सम्प्रदायमताऽयुक्तत्वसाधकप्रदर्शितहेतूपन्यसनस्य सुकरत्वात्तदुपेक्ष्य हेत्वन्तरमाहुः **प्रतियोगितयेति** । अयं भावः घटनाशः प्रतियोगितासम्बन्धेन घटे वर्तते तत्र च स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन कपालद्वयविजातीय-संयोगनाशः तत्कारणमपि वर्तत एव । एवं प्रतियोगितया पटनाशः पटेऽस्ति तत्र च स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन तन्तु-विजातीयसंयोगनाशोऽपि वर्तते । ततो निरुक्तसम्बन्धेन कपालद्वयविजातीयसंयोगनाशत्वावच्छिन्नस्य प्रतियोगितया घटनाशत्वावच्छिन्नं प्रति कारणता, विजातीयतन्तुसंयोगनाशत्वावच्छिन्नस्य पटनाशत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुतेति लभ्यते । यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः स तत्सामान्ययोरपि असति बाधके इतिन्यायेन प्रतियोगितया नाशत्वावच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन नाशत्वावच्छिन्नस्य कारणत्वमवश्यक्लृप्तम् । **अन्यत्र** = घटनाश-पटनाशादिस्थले **क्लृप्तेन** = प्रमाणसिद्धेन निरुक्तेन **कार्यकारणभावेन** एव **सकलशब्दनाशनिर्वाहसम्भवात्** प्रथमादिशब्दनाशस्थलीयनानाकार्यकारणभावाङ्गीकर्तृसम्प्रदायमतमयुक्तम् । **न च** प्रथमशब्दनाशस्य अनुपपत्तिरिति **वाच्यम्**, विजातीयनिमित्तपवनसंयोगनाशादेव तन्नाशसम्भवात् ।

तथा च = निरुक्तकार्यकारणभावसमर्थनेन च, शब्दस्य उत्सर्गतः **क्षणचतुष्टयावस्थायिविजातीयपवनसंयोगनाश्यत्वेन**

होता है कि आद्य शब्द का नाश कार्यशब्द से होता है अर्थात् आद्यशब्दनाश के प्रति आद्यशब्दजन्य शब्द कारण होता है । मगर अंत्य शब्द का नाश अन्त्यशब्दजनक शब्द के नाश से होगा, क्योंकि अन्त्यशब्दजन्य कोई शब्द नहीं होने से स्वजन्यशब्द से चरमशब्दनाश नहीं हो सकता है । प्रथम और चरमशब्द के बीच जो मध्यम शब्द हैं, उनका नाश स्वजनकशब्दनाश एवं स्वजन्यशब्द - दोनों से भी होगा । इस तरह शब्दनाश के निर्वाहार्थ प्राचीन नैयायिक के मत में अनेक कार्यकारणभाव का गौरव होता है । इसकी अपेक्षा तो मुनासिब यही है कि प्रतियोगितासम्बन्ध से नाश के प्रति स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्ध से नाशत्वेन नाश को ही कारण माना जाय, जो अन्यत्र घटनाश, पटनाश आदि स्थलों में आवश्यक है । आशय यह है कि प्रतियोगितासम्बन्ध से नाशत्वेन घटनाश घट में रहता है और घट कपालद्वयविजातीयसंयोगजन्य होने से नाशत्वेन कपालद्वयविजातीय-संयोगनाश स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्ध से घट में ही रहेगा । इस तरह घटनाश आदि स्थल में प्रतियोगितासम्बन्ध से नाश के प्रति स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्ध से नाशत्वेन नाश कारण होता है - ऐसा कार्यकारणभाव निश्चित ही है और उसीसे शब्दनाश का भी निर्वाह हो जाता है, अतिरिक्त कार्यकारणभाव की कल्पना का गौरव अनावश्यक है । जैसे स्वशब्द का अर्थ होगा विजातीयपवनसंयोगनाश तथा उसका प्रतियोगी होगा विजातीय-पवनसंयोग, उसकी जन्यता होगी शब्द में । अतः स्वप्रतियोगि-जन्यतासम्बन्ध से विजातीयवायुसंयोगनाश भी नाश्य शब्द में रहेगा, और उसीमें प्रतियोगिता सम्बन्ध से शब्दनाश रहेगा, क्योंकि शब्दनाश का प्रतियोगी शब्द है । अतएव शब्दजनक शब्द का कार्यशब्द से, चरमशब्द का स्वजनकशब्दध्वंस से एवं मध्यम शब्दों का स्वजन्य शब्द से और स्वजनकशब्दनाश से नाश नहीं होता किन्तु (विजातीयवायुसंयोग=) जनक के नाश से ही नाश होता है । प्रदर्शित कार्यकारणभाव के अनुसार शब्द का नाश शब्द के पञ्चम क्षण में उत्पन्न होगा अर्थात् चार क्षण तक शब्द की स्थिति रहेगी, क्योंकि शब्दजनक विजातीयवायुसंयोग उत्सर्ग से चार क्षण स्थायी होता है । इस मान्यता में उक्त विजातीयपवनसंयोगनाश से शब्द के पञ्चम क्षण में शब्द का नाश होने का क्रम यह है कि उक्त संयोग के दूसरे क्षण में शब्द उत्पन्न होगा और उसी क्षण में उक्त संयोग के उत्पादक पवनकर्म का नाश होगा । संयोग के तृतीय क्षण

क्षणचतुष्टयावस्थायितैवोपपत्तिमती । न चैवं क्षणिकत्वसिद्धान्तहानिः, अपेक्षाबुद्धिसङ्ग्रहाय तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगिवृत्तिविभाजकोपाधिमत्त्वस्य तत्त्वादित्याहुः ।

❀ जयलता ❀

क्षणचतुष्टयावस्थायितैवोपपत्तिमतीति । उत्सर्गतो विजातीयपवनसंयोगस्य क्षणचतुष्टयावस्थायितया शब्दोत्पत्तिचतुर्थक्षणे निमित्त-पवनसंयोगनाशात् पञ्चमक्षणे शब्दनाश इति शब्दस्य चतुःक्षणस्थायित्वमित्यर्थः । अयमभिप्रायः प्रतियोगितया शब्दनाशं प्रति स्वप्रतियोगिजन्यतासम्बन्धेन विजातीयनिमित्तपवनसंयोगनाशस्य कारणत्वम् । कारणतावच्छेदकं कार्यतावच्छेदकञ्च नाशत्वमेव लाघवात्, न तु विजातीयपवनसंयोगनाशत्वं शब्दनाशत्वं वा, गौरवात् । प्रथमक्षणे विजातीयनिमित्तपवनसंयोग उत्पद्यते, द्वितीयक्षणे शब्दोत्पादः विजातीयपवनसंयोगजनकपवनकर्मनाशश्च, तृतीयक्षणे नूतनपवनकर्मोत्पत्तिः, चतुर्थक्षणे पूर्वदेशपवनविभागो जायते, पञ्चमक्षणे पूर्वविजातीयपवनसंयोगनाशः षष्ठक्षणे च शब्दनाशः । इत्थञ्च शब्दस्य क्षणचतुष्कस्थितिसिद्धिः प्रतियोगितया शब्दनाशः शब्दे जायते तत्र च शब्दजनकविजातीयपवनसंयोगनाशोऽपि स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन वर्तत इति कार्यकारण-सामानाधिकरण्योपपत्तिः । **न च** विजातीयनिमित्तपवनसंयोगनाशक्षणोत्पन्नशब्दे द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वलक्षणक्षणिकत्वा-पत्तिरिति **वाच्यम्**, निमित्तपवनसंयोगस्योत्पत्तिसम्बन्धेन कार्यसहभावेन वा शब्दहेतुत्वात् । अवच्छेदकतया नाशं शुक्तीयककारादौ वा तादृशभावस्य हेतुत्वाद् वा । अत एव नैकावच्छेदेन सदृशनानाशब्दोत्पत्तिरपि । इत्थञ्च कत्वविशिष्टलौकिकसाक्षात्कारोऽप्युपपद्यते । शब्दोत्पादद्वितीयक्षणोत्पन्नक-कत्वनिर्विकल्पकज्ञानानन्तरं तृतीयक्षणेऽपि शब्दस्य सत्त्वात् । ततश्च न तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वम् । बौद्धमतप्रवेशप्रसङ्गस्तु दूरापास्तः, द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वलक्षणस्य सूक्ष्मक्षणिकत्वस्यानभ्युपगमात् । **न च एवं** = शब्दस्य पञ्चमक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वस्वीकारे **क्षणिकत्वसिद्धान्तहानिः** = शब्दनिष्ठतृतीयक्षणवृत्तिकध्वंसप्रतियोगित्व-लक्षणक्षणिकत्वप्रतिपादकगौतमीयराद्धान्तप्रच्युतिः **इति शङ्कनीयम्**, अपेक्षाबुद्धेः क्षणत्रयावस्थायितया आकाशात्मनोरव्याप्य-वृत्तिक्षणिकविशेषगुणत्वलक्षणसाधर्म्यवादियौगमतेऽपेक्षाबुद्धेरसङ्ग्रहप्रसङ्गात्, **अपेक्षाबुद्धिसङ्ग्रहाय** = अपेक्षाबुद्धौ क्षणिकत्वोप-पादनाय, **तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगिवृत्ति-विभाजकोपाधिमत्त्वस्य तत्त्वात्** = क्षणिकत्वपदवाच्यत्वात् । तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रति-योगिशब्दबोधादिवृत्तिः यो ज्ञानत्वेच्छात्वादिचतुर्विंशत्यन्यतमत्वलक्षणो गुणविभाजकोपाधिः तस्यापेक्षाबुद्धौ सत्त्वात्क्षणसमन्वयोऽ-पेक्षाबुद्धौ ।

अपेक्षाबुद्धित्वञ्च एकत्वान्यसंख्याद्युत्पादकत्वमिति **पट्टाभिरामः** (मु. मञ्जूषा.) ।

में पवन में दूसरा कर्म उत्पन्न होगा, चौथे क्षण में पूर्वदेश से पवन का विभाग होगा । पाँचवे क्षण में पूर्वविजातीयपवनसंयोग का नाश होगा । छट्ठी क्षण में यानी शब्द के पाँचवें क्षण में शब्द का नाश होगा । इस कार्यकारणभाव के अभ्युपगम पक्ष में विजातीय पवनसंयोग से उसके द्वितीय क्षण में उत्पन्न होनेवाला शब्द उक्त क्रम से अपने पाँचवे क्षण में नष्ट होने से चार क्षण तक स्थायी हो सकता है । इसलिए तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्व को क्षणिकत्व नहीं माना जा सकता । इस विषय में यह शंका हो कि —> 'इस तरह शब्द को पञ्चमक्षणवृत्तिध्वंस का प्रतियोगी मानने पर शब्द में क्षणिकत्व का जो नैयायिकसिद्धान्त है वह भग्न हो जायगा, क्योंकि न्यायसिद्धान्त के अनुसार तो शब्द क्षणिक है' <— तो इसका समाधान यह है कि प्राचीन नैयायिकों को भी तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वस्वरूप क्षणिकत्व का स्वीकार करने पर अपेक्षाबुद्धि में, जिसको प्राचीन नैयायिक भी क्षणिक मानते हैं, क्षणिकत्व की उपपत्ति न हो सकेगी, क्योंकि अपेक्षाबुद्धि तीन क्षण तक स्थायी होने से चतुर्थक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगी है । अतः अपेक्षाबुद्धि में क्षणिकत्व का सङ्ग्रह करने के लिये यानी अपेक्षाबुद्धि में क्षणिकत्व के समर्थनार्थ क्षणिकत्व का लक्षण ऐसा मानना होगा कि तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगिवृत्तिगुणविभाजकोपाधिमत्त्व ही क्षणिकत्व है । अपेक्षाबुद्धि में तृतीयक्षणवृत्तिध्वंस की प्रतियोगिता न होने पर भी तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगी घटप्रत्यक्ष आदि में रहनेवाली ज्ञानत्व-इच्छात्वआदिअन्यतमत्वस्वरूप गुणविभाजक उपाधि तो रहती ही है । जब क्षणिकत्व का उपर्युक्त निर्वचन प्राचीन नैयायिक के मतानुसार भी अंगीकर्तव्य है तब तो उसके अनुसार शब्द में भी क्षणिकत्व संगत हो जायेगा, क्योंकि विजातीय पवनसंयोग से उसके चतुर्थ क्षण में जो शब्द उत्पन्न होगा वह स्वोत्पादानन्तर होनेवाले विजातीयपवनसंयोगनाश के अनन्तर क्षण में यानी शब्द के तृतीय क्षण में ही यह शब्द नष्ट हो जाने से तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगी बनेगा, जिसमें रहनेवाली गुणविभाजक उपाधि (ज्ञानत्व-शब्दत्वआदि अन्यतमत्व) तो चार क्षण तक स्थायी शब्द में भी रहती ही है । अतः शब्द को, जो विजातीय पवनसंयोग के द्वितीय क्षण में उत्पन्न होता है, चारक्षणपर्यन्त स्थायी मानने पर भी शब्द में स्थूल

तच्चिन्त्यम्, एवं सति ज्ञानादेरपि विजातीयात्ममनोयोगनाश्यत्वापत्त्या क्षणचतुष्टयावस्थायितापत्तेः ।

❀ जयलता ❀

न चैवमपि शब्दाऽसङ्ग्रहः, शब्दस्य क्षणचतुष्कावस्थायित्वेन तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगिवृत्तिगुणविभाजकोपाधिमत्त्वस्य विरहादिति **वाच्यम्**, निमित्तपवनविजातीयसंयोगचतुर्थक्षणोत्पन्नशब्दस्य स्वतृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वेन तद्वृत्तितादृशोपाधिमत्त्वस्य चतुःक्षणस्थायिशब्देष्वप्यनपायात् । अत एवोत्सर्गत इत्युपादानम् । इत्थञ्चाऽपेक्षाबुद्धिसङ्ग्रहाय कृतपरिष्कारस्य क्षणिकत्वलक्षणस्य शब्देऽपि व्यापकत्वान्न शब्दक्षणिकत्वकृतान्तव्याकोपप्रसङ्ग इत्याहुः ।

अत्र ब्रूमहे - प्रतियोगितया नाशं स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन नाशत्वेन कारणत्वे दण्डनाशादितोऽपि घटादिनाशप्रसङ्गः । किञ्च तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगिवृत्तिगुणविभाजकोपाधिमत्त्वस्य क्षणिकत्वे चिरतरकालस्थायिनां रूप-रसादीनामपि सर्वथा क्षणिकत्वं प्रसज्येत, घटोत्पादतृतीयक्षणे घटनाशस्थले रूपरसादीनामपि तृतीयक्षणे नाशसम्भवात् तद्वृत्तिगुणविभाजकोपाधिमत्त्वस्य चिरस्थायिषु रूपरसादिष्वपि सत्त्वात् । **न च** चतुःक्षणवृत्तिजन्याऽवृत्तिजातिमत्त्वमेव क्षणिकत्वमिति न चिरस्थायिरूपादीनां क्षणिकत्वप्रसङ्गो न वाऽपेक्षाबुद्धेरसङ्ग्रह इति **वक्तव्यम्**, तथा सति शब्दक्षणिकत्ववादाय दत्तो जलाञ्जलिः, शब्दस्य त्वया चतुःक्षणस्थायित्वाऽभ्युपगमात् । **न च** पञ्चमक्षणवृत्तिजन्याऽवृत्तिजातिमत्त्वमेव तत्त्वमस्त्विति **वाच्यम्**, प्रथमोपस्थिततृतीयपरिहार-प्रयोजनविरहात्, अन्यत्राऽक्लृप्तत्वात् । किञ्च शब्दे तृतीयक्षणनाश्यत्वसम्प्रदायस्त्यक्तव्य एव तर्हि शब्दे बहुक्षणस्थायित्वेव कल्पयितुमुचिता । इत्थञ्च प्रत्यभिज्ञा भगवती अपि आराधिता स्यादिति । ततश्च

'अलीकवाचालतयाऽतिचापलं यदत्र विद्वन्ननु शीलितं त्वया ।
नवीननैयायिक ! वक्ति केवलं त्वदीयबुद्धेस्तदतीव कुण्ठताम् ।।१।।'

शिरोमणिमतमसहन्तः साम्प्रदायिका नैयायिका अत्र वदन्ति - **तत्** = शिरोमणिनयानुयायिप्रतिपादितं शब्दचतुःक्षणस्थायित्वं **चिन्त्यम्** न तु चिन्तामृतेऽङ्गीकरणीयम् । चिन्ताबीजमावेदयन्ति **एवं** = प्रतियोगितया नाशत्वावच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन नाशत्वेन हेतुताऽभ्युपगमे, **सति ज्ञानादेरपि विजातीयात्ममनोयोगनाश्यत्वापत्त्या क्षणचतुष्टयावस्थायितापत्तेः** । आदिपदेन योग्यानामात्मविशेषगुणानां ग्रहणम् । प्रतियोगितया नाशत्वावच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन नाशत्वेन हेतुताया लाघवेन स्वीकारे ज्ञाननाशादिप्रतियोगिनां ज्ञानादीनां विजातीयात्ममनोयोगनाशप्रतियोगिजन्यत्वेन चतुःक्षणस्थायित्वं प्रसज्येत, विजातीयात्ममनोयोगस्योत्सर्गतः क्षणचतुष्कावस्थायित्वात् । तथाहि प्रथमक्षणे विजातीयात्ममनोयोग उत्पद्यते द्वितीयक्षणे ज्ञानादिप्रभवो विजातीयात्ममनःसंयोगजनकमनःक्रियानाशश्च, तृतीयक्षणे मनसि कर्मान्तरोत्पादः, चतुर्थक्षणे पूर्वविलात् सावच्छिन्नादात्मनो मनोविभागः, पञ्चमक्षणे पूर्वविलात्ममनःसंयोगनाशः षष्ठक्षणे च ज्ञानादिनाश इत्येवं ज्ञानादीनां चतुःक्षणस्थायित्वापातो दुर्वारः, त्वदीयकार्यकारणभावस्वीकाराविनाभावित्वात्तस्येति गौतमीयसम्प्रदायानुयायितात्पर्यम् ।

क्षणिकत्व के भङ्ग का कोई प्रसङ्ग नहीं है । इसलिए शब्द को चार क्षण तक स्थायी मानना भी निर्दोष ही है <— ।''

शब्द की भाँति ज्ञानादि में चतुःक्षणस्थायित्वप्रसङ्ग - साम्प्रदायिक

तच्चिन्त्यं. । रघुनाथशिरोमणि के मत के खिलाफ साम्प्रदायिक = परम्परागत मान्यता को न छोडनेवाले प्राचीन नैयायिकों का यह वक्तव्य है कि शब्द में क्षणचतुष्कस्थायिता चिन्तनीय - विचारणीय है, बिना विचार के स्वीकर्तव्य नहीं है और विचार करने पर दोष आने की वजह वह त्याज्य है । वह इस तरह कि प्रतियोगिता सम्बन्ध से नाशत्वावच्छिन्न के प्रति स्वप्रतियोगिजन्यत्व सम्बन्ध से नाशत्वावच्छिन्न को कारण मानने पर तो ज्ञानादि भी क्षणचतुष्कस्थितिवाले हो जायेंगे, क्योंकि विजातीय पवनसंयोग जैसे शब्द का निमित्त कारण है ठीक वैसे ही विजातीयात्ममनःसंयोग भी ज्ञान, इच्छा आदि का निमित्त कारण है और चार क्षण तक दोनों स्थायी हैं । विजातीय आत्ममनःसंयोगनाश से ज्ञानादि के पञ्चम क्षण में ज्ञानादिनाश होने का क्रम यह है कि उक्त संयोग के दूसरे क्षण में ज्ञानादि उत्पन्न होगा और उसी क्षण में उक्त विजातीय संयोग के जनक मनःकर्म का नाश होगा। उक्त संयोग के तृतीय क्षण में मन में दूसरा कर्म (=क्रिया) उत्पन्न होगा, चौथे क्षण में पूर्व सावच्छिन्न आत्मा से मन का विभाग होगा । पाँचवें क्षण में पूर्व विजातीय आत्ममनोयोग का विनाश होगा । छट्ठे क्षण में यानी ज्ञानादि के पाँचवें क्षण में ज्ञानादि का नाश होगा । इस तरह रघुनाथशिरोमणि से प्रदर्शित कार्यकारणभाव के अभ्युपगमपक्ष में विजातीय आत्ममनःसंयोग से उसके द्वितीय क्षण में उत्पन्न होनेवाला ज्ञानादि उक्त क्रम से अपने पाँचवे क्षण में नष्ट होने से चार क्षण तक स्थायी होने की आपत्ति आ सकती है ।

एतेन 'शब्दनाशत्वावच्छिन्नं प्रति विजातीयपवनसंयोगनाशत्वेन हेतुत्वमि'त्यपि अपास्तम्, जन्यात्मविशेषगुणनाशत्वावच्छिन्नं प्रत्यप्येवं विजातीयात्ममनःसंयोगनाशत्वेन हेतुतायाः सुवचत्वात् ।

अथ स्वप्रतियोगिजन्यत्व-कालिकोभयसम्बन्धेन स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वावच्छिन्नं

❀ जयलता ❀

ननु अस्माभिः न प्रतियोगितया नाशत्वावच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन नाशत्वेन हेतुता स्वीक्रियते किन्तु प्रतियोगितया शब्दनाशत्वावच्छिन्नं प्रति एव स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन विजातीयपवनसंयोगनाशत्वावच्छिन्नस्य कारणता स्वीक्रियते । अतो न ज्ञानादीनां चतुःक्षणस्थायित्वप्रसङ्गः, तत्सामग्रीविरहात् । ततो न कश्चिद् दोष इत्याशयमपाकर्तुमाहुः एतेन = तुल्यन्यायेन, अपास्तमित्यनेनास्यान्वयः । शङ्काग्रन्थो विभावित एव । तदपाकरणाय तुल्ययुक्त्या वदन्ति - **जन्यात्मविशेषगुणनाशत्वावच्छिन्नं** = जन्यो य आत्मनो योग्यो ज्ञानेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःखान्यतरलक्षणो विशेषगुणः तत्प्रतियोगिकनाशत्वावच्छिन्नं **प्रति अपि एवं** निरुक्तसम्बन्धेन **विजातीयात्ममनःसंयोगनाशत्वेन हेतुतायाः सुवचत्वात्** । स्पष्टमेव । एतेन प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्न-शब्दनाशत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितस्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धावच्छिन्नकारणतावच्छेदकं नाशत्वमिति न ज्ञानादेः तथात्वप्रसङ्गः, कार्यतावच्छेदकानाक्रान्तस्याऽनापाद्यत्वादित्यपि **परास्तम्**, निरुक्तसम्बन्धावच्छिन्न-योग्यविभुविशेषगुणनाशत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितनिरुक्तसम्बन्धावच्छिन्नकारणतावच्छेदकत्वं नाशत्वस्येत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात् । **अत एव** शब्दनिष्ठप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्न-नाशत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितनिरुक्तसम्बन्धावच्छिन्नकारणतावच्छेदकं विजातीयपवनसंयोगनाशत्वमित्यपि **प्रत्याख्यातम्**, योग्यविभुविशेषगुणनिष्ठप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्न-नाशत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितनिरुक्तसम्बन्धावच्छिन्नकारणतावच्छेदकं नाशत्वमित्युपगमे ततोऽपि कारणतावच्छेदकलाघवादिति विभावनीयम् ।

अथेति । नेदित्यनेनाऽस्यान्वयः । **स्वप्रतियोगिजन्यत्व-कालिकोभयसम्बन्धेन** स्वविशिष्टो यः तत्प्रतियोगिकनाशत्वावच्छिन्नं = **स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वावच्छिन्नं प्रति एव**, न तु केवलं नाशत्वावच्छिन्नं प्रति, **नाशत्वेन हेतुतेति** । कार्यतावच्छेदकसम्बन्धः प्रतियोगिता, कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धः स्वप्रतियोगिजन्यत्व-कालिकोभयसम्बन्धः, कार्यतावच्छेदकधर्मः स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वं, कारणतावच्छेदकधर्मः नाशत्वं कारणतावच्छेदकसम्बन्धश्च स्वप्रतियोगिजन्यत्व-कालिकोभयम् । स्वपदेन नाशकग्रहणमभिप्रेतम् । तथाहि स्वप्रतियोगिजन्यत्वकालिकोभयसम्बन्धेन कपालद्वयविजातीयसंयोगनाशविशिष्टघटप्रतियोगिकनाशः प्रतियोगिता-

एतेन.। यहाँ बचाव के लिए उक्त कार्य-कारणभाव का त्याग कर के ऐसा कार्यकारणभाव मान्य किया जाय कि -> 'प्रतियोगिता सम्बन्ध से शब्दनाशत्वावच्छिन्न के प्रति स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्ध से विजातीय पवनसंयोग का नाश विजातीयपवनसंयोगनाशत्वेन कारण है । अतः ज्ञानादि के चतुःक्षणस्थायित्व का कोई प्रसंग नहीं होगा, क्योंकि उपर्युक्त कार्यकारणभावकोटि से ज्ञानादिनाश बहिर्भूत है । अतः निमित्तकारणीभूत विजातीय आत्ममनःसंयोग के क्षणचतुष्कस्थायित्व के सबब ज्ञानादि में चार क्षण तक स्थायित्व का अनिष्ट प्रसङ्ग नहीं होगा' <— तो यह भी निराधार होगा, क्योंकि तुल्य न्याय से यह भी कहा जा सकता है कि प्रतियोगिता सम्बन्ध से जन्यात्मविशेषगुणनाशत्वावच्छिन्न के प्रति स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्ध से विजातीयात्ममनोयोगनाश विजातीयात्ममनःसंयोगनाशत्वेन कारण है । इस तरह कार्यकारणभाव के स्वीकार से तो ज्ञानादि भी चार क्षण तक स्थायी बन सकते हैं, क्योंकि ज्ञानादि के नाशक का समवधान ज्ञानादि की उत्पत्ति के चतुर्थ क्षण में होने से ज्ञानादि में स्वपक्षमक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्व आता है । देखिये स्व का अर्थ है विजातीयआत्ममनःसंयोगनाश, उसका प्रतियोगी है विजातीय आत्ममनःसंयोग, उसकी जन्यता है ज्ञानादि में । अतः विजातीयात्ममनःसंयोगनाश स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्ध से ज्ञानादि में रहने से प्रतियोगिता सम्बन्ध से ज्ञानादि में ही ज्ञानादिनाश उत्पन्न होगा, क्योंकि ज्ञानादि ज्ञानादिनाश का प्रतियोगी ज्ञानादि है । इस तरह कार्य और कारण में सामानाधिकरण्य की भी उपपत्ति होगी और चतुःक्षणस्थायित्व की आपत्ति भी आयेगी।

❀ शब्द एवं ज्ञानादि की क्षणचतुष्कस्थायिता में प्रतिबन्दी ❀

अथ.। यदि शब्द की चतुःक्षणस्थिरता की उपपत्ति के लिए एवं ज्ञानादि के चतुःक्षणस्थायित्व के निरास के लिये ऐसा कहा जाय कि —> 'स्वप्रतियोगिजन्यत्व और कालिक उभय सम्बन्ध से स्व (=विजातीयसंयोगनाश) से विशिष्ट ऐसे प्रतियोगी के नाश के प्रति स्वप्रतियोगिजन्यत्व-कालिकोभयसम्बन्ध से विजातीयसंयोगनाश नाशत्वेन हेतु है । कारणतावच्छेदक सम्बन्ध है स्वप्रतियोगिजन्यत्व और कालिक, कारणतावच्छेदक धर्म है नाशत्व, कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध है प्रतियोगिता, कार्यताअवच्छेदकताअवच्छेदक

प्रत्येव नाशत्वेन हेतुता, ज्ञानादेस्तु स्वोत्तरोत्पन्नज्ञानादिना पूर्वमेव नाशान्न विजातीयात्ममनःसंयोगनाशनाश्यत्वमिति** चेत् ? तर्हि **प्रथमशब्दादेरपि प्रदेशान्तरे स्वोत्तरोत्पन्नद्वितीयादि-

❀ जयलता ❀

सम्बन्धेन तादृशघटे जायते यत्र स्वप्रतियोगिजन्यत्वकालिकोभयसम्बन्धेन कपालद्वयविजातीयसंयोगनाशः तादृशकार्योत्पादाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन वर्तते इति सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावोपपत्तिः । इत्थं शब्दचतुर्थक्षणकालीनः विजातीयपवनसंयोगनाशः स्वप्रतियोगिजन्यत्व-कालिकोभयसम्बन्धेन तस्मिन् शब्दे वर्तते यत्र स्वप्रतियोगिजन्यत्व-कालिकोभयसम्बन्धेन विजातीयवायुसंयोगनाशविशिष्टशब्दप्रतियोगिकनाशः प्रतियोगितासम्बन्धेन वर्तते इति सामानाधिकरण्येन कार्य-कारणभावसङ्गतिः शब्दे चतुःक्षणस्थायित्वोपपत्तिश्च । कालिकसम्बन्धानुपादाने शब्दे प्रतियोगितया षष्ठ-सप्तमादिक्षणेऽपि विशिष्टशब्दनाशोत्पादापातः, विनष्टेऽपि शब्दे स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन विजातीयवायुसंयोगनाशस्य सत्त्वात् । इत्थञ्च शब्दस्य विजातीयपवनसंयोगनाशनाश्यत्वं सङ्गच्छते । न चैवमेव ज्ञानादेरपि विजातीयात्ममनःसंयोगनाशनाश्यत्वं दुर्वारमिति **वाच्यम्, ज्ञानादेस्तु स्वोत्तरोत्पन्नज्ञानादिना** = स्वोत्पादाव्यवहितोत्तरक्षणोत्पन्नज्ञानादिना **पूर्वमेव** = विजातीयात्ममनःसंयोगनाशोत्पादादर्वागेव **नाशात्**, योग्यविभुविशेषगुणानां स्वाव्यवहितोत्तरयोग्यगुणनाश्यत्वनियमात्, अनित्यस्य विद्यमानस्यैव कालोपाधितया विनष्टे ज्ञानादौ कालिकेन विजातीयात्ममनोयोगनाशस्यासत्त्वात् **न विजातीयात्ममनःसंयोगनाशनाश्यत्वं** = विजातीयात्ममनोयोगनाशजन्यनाशनिरूपितप्रतियोगित्वमिति न ज्ञानादेः चतुःक्षणस्थायित्वप्रसङ्ग इत्यथाशयः ।

प्राञ्चः प्रतिबन्द्या शब्दे विजातीयसमीरसंयोगनाशनाश्यत्वमपाकुर्वन्ति - **तर्हीति** । ज्ञानादेः स्वाव्यवहितोत्तरज्ञानादिनाश्यत्वाङ्गीकारे **प्रथमशब्दादेरपि** = प्रथमद्वितीयाद्यचरमपर्यन्तशब्दस्यापि, **प्रदेशान्तरे** = अन्यावच्छेदेन आकाशे **स्वोत्तरोत्पन्न-**

सम्बन्ध है स्वप्रतियोगिजन्यत्व-कालिकोभय, कार्यतावच्छेदक धर्म है स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्व । जैसे विजातीयपवनसंयोग की पाँचवीं क्षण में विजातीयपवनसंयोगनाश होगा, जो स्वप्रतियोगिजन्य एवं विद्यमान ऐसे शब्द में स्वप्रतियोगिजन्यत्व-कालिकोभयसम्बन्ध से रहेगा । अतः संयोग की पाँचवें क्षण में निरुक्त सम्बन्ध से विजातीयपवनसंयोगनाशविशिष्ट शब्द का नाश उक्त विजातीयसंयोग के छट्ठे क्षण में यानी शब्द के पाँचवें क्षण में प्रतियोगिता सम्बन्ध से उसी शब्द में उत्पन्न होगा जिसमें स्वप्रतियोगिजन्यत्व सम्बन्ध से एवं कालिक सम्बन्ध से शब्दनाशाऽव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन विजातीयपवनसंयोगनाश रहता है । अतः उक्त कार्यकारणभाव के स्वीकार पक्ष में विजातीय पवनसंयोग के द्वितीय क्षण में उत्पन्न होनेवाला शब्द उक्त क्रम से अपने पाँचवें क्षण में नष्ट होने से चार क्षण तक स्थायी रह सकता है । कालिक सम्बन्ध का निवेश करने से विजातीयवायुसंयोगनाश के तृतीय, चतुर्थ आदि क्षणों में वह शब्द अविद्यमान होने से काल की उपाधि नहीं बनता है । अतएव कालिक सम्बन्ध से वह विजातीयपवनसंयोगनाश से विशिष्ट नहीं बनता है । सामग्री नहीं होने से तब शब्दनाशोत्पाद को अवकाश नहीं है ।

इस कार्यकारणभाव को मान्य करने पर ज्ञानादि में विजातीय आत्ममनःसंयोग के नाश से नाश्यता की एवं चतुःक्षणस्थायित्व की आपत्ति को अवकाश नहीं है, क्योंकि ज्ञानादि का तो स्वाव्यवहितोत्तर क्षण में उत्पन्न ज्ञानादि से पहले ही नाश हो चुका है । योग्यविभुविशेषगुण का स्वाऽव्यवहितोत्तरवर्ती गुण नाशक होता है - यह प्रसिद्ध प्राचीननैयायिकसिद्धान्त है । इस कार्यकारणभाव के अनुसार विजातीय आत्ममनःसंयोग के द्वितीय क्षण में उत्पन्न ज्ञानादि का तो तदुत्तरवर्ती ज्ञानादि से विजातीय आत्ममनःसंयोग के चतुर्थ क्षण में यानी अपने तृतीय क्षण में एवं उत्तरवर्ती ज्ञानादि के द्वितीय क्षण में ही नाश हो जाने से पञ्चम क्षण में होनेवाला विजातीयआत्ममनःसंयोगनाश स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्ध से विवक्षित ज्ञानादि में रहने पर भी कालिक सम्बन्ध से उसमें नहीं रहता है । अविद्यमान पदार्थ कालिक सम्बन्ध से किसीका अधिकरण नहीं हो सकता है । अतः विवक्षित ज्ञानादि तब स्वप्रतियोगिजन्यत्व-कालिकोभयसम्बन्ध से विजातीयआत्ममनःसंयोगनाशविशिष्ट नहीं होने से विजातीय आत्ममनःसंयोग के पञ्चम क्षण में ज्ञानादि के नाश का प्रसङ्ग नहीं है । सामग्री नहीं होने पर कार्योत्पाद का आपादन कैसे हो सकेगा ? अतः ज्ञानादि की क्षणचतुष्कस्थायिता का कोई अनिष्ट प्रसङ्ग सावकाश नहीं है' <—

तर्हि. । तो यह वक्तव्य भी असंगत है, क्योंकि यह तुल्यन्याय से शब्दनाश में भी लागू पड़ता है । मतलब कि यह कहा जा सकता है कि योग्यविभुविशेषगुण स्वोत्तरवर्ती योग्य गुण से नाश्य होने के नियम से प्रथमादि शब्द का आकाश में अन्यावच्छेदेन = प्रदेशान्तर में स्वाऽव्यवहितोत्तरक्षणावच्छेदेन उत्पन्न द्वितीयादि शब्द के द्वारा नाश हो जायेगा, जिस समय विजातीयपवनसंयोगनाश तो उत्पन्न भी नहीं हो सकता । तब वह शब्द का नाश कैसे कर सकेगा ? क्रम इस तरह होगा - प्रथम क्षण में शब्दनिमित्तकारण विजातीय पवनसंयोग उत्पन्न होगा, दूसरे क्षण में शब्द पैदा होगा और उक्तसंयोगजनक

शब्देन पूर्वमेव नाशान्न निमित्तपवनसंयोगनाशनाश्यत्वमिति साम्प्रतम् ।

अन्त्यशब्दनाशार्थं विजातीयपवनसंयोगनाशत्वेन हेतुताऽस्त्विति चेत् ? न, विजातीयशब्दनाशं प्रति प्रागुक्तसम्बन्धेन शब्दनाशत्वेन हेतुताया एवोचितत्वात्, अन्यथा सुषुप्तिप्राक्कालीनज्ञाननाशार्थं मनःसंयोगनाशस्यापि ज्ञानादिनाशकत्वकल्पनापत्तेरिति साम्प्रदायिकाः ।

✽ जयलता ✽

द्वितीयादिशब्देन = स्वाऽव्यवहितोत्तरोत्पन्नद्वितीयादिचरमपर्यन्तशब्देन, **पूर्वमेव** = निमित्तविजातीयपवनसंयोगप्रतियोगिकनाशोत्पादादर्वागेव, **नाशात्**, योग्यविभुविशेषगुणनाशस्य स्वप्रतियोग्यव्यवहितोत्तरोत्पन्नयोग्यगुणजन्यत्वनियमात्, तत्र शब्दभिन्नत्वनिवेशे मानाभावात्, गौरवाच्च, विनष्टशब्दे कालिकेन निमित्तपवनसंयोगनाशस्याऽवृत्तित्वात् **न निमित्तपवनसंयोगनाशनाश्यत्वं** प्रथमशब्दादेरपि । एतेन शब्दे पञ्चमक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वमपि **निरस्तम्**, युक्तिवैकल्यात्, सम्प्रदायविरोधाच्च । ततश्च न शब्दे विजातीयपवनसंयोगनाशनाश्यत्वं युक्तम् ।

ननु प्रथमाद्यचरमपर्यन्तशब्दानां स्वोत्तरवर्तिद्वितीयादिचरमशब्दनाश्यत्वेऽपि **अन्त्यशब्दनाशार्थं** = चरमशब्दनाशं प्रति **विजातीयपवनसंयोगनाशत्वेन** स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन **हेतुताऽस्त्विति चेत् ? न, विजातीयशब्दनाशं** = शब्दाजनकशब्दप्रतियोगिकनाशत्वावच्छिन्नं **प्रति प्रागुक्तसम्बन्धेन** = स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन **शब्दनाशत्वेन** = स्वप्रतियोगिजनकशब्दनाशत्वेन **हेतुताया एवोचितत्वात्** विजातीयपवनसंयोगनाशत्वापेक्षया शब्दनाशत्वस्य कारणतावच्छेदकत्वे लाघवात् । **न च** स्वकारणशब्दनाशत्वस्य कारणतावच्छेदकत्वे अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति **वाच्यम्**, कारणतावच्छेदकप्रत्यासत्त्या एवातिप्रसङ्गभञ्जकत्वात् । यथा सुषुप्तिप्राक्कालीनज्ञानादेः स्वाऽव्यवहितपूर्वकालीनज्ञानादिनाशनाश्यत्वं तथैवेदमपि सम्यग्, न तु विजातीयनिमित्तपवनसंयोगनाशस्य विजातीयशब्दनाशकत्वमिति गम्यते । ततो हि शब्दाऽजनकशब्दस्यापि न पञ्चमक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वमित्यर्थः । विपक्षबाधमुपदर्शयन्ति —> **अन्यथा** = विजातीयपवनसंयोगनाशस्यैव चरमशब्दनाशकत्वस्वीकारे, तुल्यन्यायेन **सुषुप्तिप्राक्कालीनज्ञाननाशार्थं मनःसंयोगनाशस्यापि** = विजातीयात्ममनःसंयोगनाशत्वेनाऽपि **ज्ञानादिनाशकत्वकल्पनापत्तेः** । न हि सुषुप्तौ ज्ञानादिकं जायते येन सुषुप्तिप्राक्कालीनज्ञानादिकं ततो नाश्येत । **इति साम्प्रदायिकाः** = न्यायदर्शनपरम्परानुगामिनो वदन्तीति गम्यते ।

पवनकर्म का नाश होगा, तीसरे क्षण में पूर्व शब्द से आकाश में अन्यदेशावच्छेदेन शब्दान्तर उत्पन्न होगा तथा पवन में दूसरा कर्म उत्पन्न होगा, चौथे क्षण में विजातीय पवनसंयोग का नाश होगा । हम इस तरह देख सकते हैं कि विजातीयपवनसंयोगनाश के पहले ही कार्यशब्द से कारणशब्द का नाश हो चुका है तब शब्द को विजातीयपवनसंयोगनाशनाश्य कैसे कहा जा सकेगा ? ज्ञान और शब्द के नाश में युक्ति तो समान ही है । यहाँ यह शंका हो कि —> 'प्रथमादि अचरमपर्यन्त शब्द का नाश तो द्वितीयादि चरमपर्यन्त शब्द से हो जायगा मगर चरम शब्द का नाश तो कार्यशब्द से नहीं हो सकेगा, क्योंकि चरम शब्द किसी शब्द का जनक ही नहीं होता है । अतः चरमशब्दनाश के लिये तो विजातीय निमित्तपवनसंयोग के नाश को ही कारण मानना होगा तब तो विजातीय-पवनसंयोग चार क्षणपर्यन्त स्थायी होने से उससे उसके द्वितीय क्षण में उत्पन्न चरम शब्द को पूर्वोक्त रीति से स्थायी मानना ही होगा । तब तो चतुःक्षणस्थायित्व शब्द में निराबाध हो जायगा एवं विजातीयपवनसंयोगनाश में शब्दनाशकत्व भी सिद्ध हो जायगा तथा रघुनाथशिरोमणि का मत भी निर्दोष हो जायगा' <— तो यह निराधार है, क्योंकि चरमशब्दनाश के प्रति विजातीयपवनसंयोगनाश को कारण मानने की अपेक्षा शब्दनाश को ही स्वप्रतियोगिजन्यत्व सम्बन्ध से कारण मानना मुनासिब है, क्योंकि तब कारणतावच्छेदकधर्मशरीर में लाघव होगा । विजातीयपवनसंयोगनाशत्व की अपेक्षा शब्दनाशत्व धर्म लघु है - यह तो स्पष्ट ही है । यदि चरम शब्द के नाश के प्रति अचरम शब्द के नाश को स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्ध से शब्दनाशत्वेन कारण न माना जाय तब तो तुल्य न्याय से सुषुप्ति के अव्यवहित प्राक् क्षणावच्छेदेन उत्पन्न होनेवाले ज्ञानादि के नाश के प्रति विजातीयआत्ममनःसंयोगनाश को कारण मानने की कल्पना करनी पड़ेगी, जो रघुनाथशिरोमणिमतानुयायी को भी अमान्य है । सुषुप्ति में ज्ञानादि उत्पन्न नहीं होते हैं । अतएव सुषुप्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण में उत्पन्न ज्ञानादि का नाश स्वाव्यवहितोत्तरवर्ती ज्ञानादि से नहीं हो सकता है । तदर्थ यही मानना होगा कि स्वपूर्वकालीन ज्ञानादि ही सुषुप्तिअव्यवहितपूर्ववर्ती ज्ञानादि का नाशक होता है । इसी तरह चरम शब्द के नाश के प्रति भी स्वाव्यवहितपूर्ववर्ती शब्द के नाश को स्वप्रतियोगिजन्यत्व सम्बन्ध से कारण मानना मुनासिब होगा ।

स्यादेतत् - **योग्यविभुविशेषगुणनाशं प्रति स्वोत्तरोत्पन्नयोग्यविशेषगुणत्वेन हेतुत्वं न युक्तमिति** चेत् ? अत्र वदन्ति -> **प्रतियोगितया योग्यविभुविशेषगुणनाशत्वावच्छिन्नं प्रत्यैकाधि-**

❀ जयलता ❀

साम्प्रदायिका इत्यनेनाऽस्वरसः प्रदर्शितः । **तद्बीजञ्चैवम्** - विजातीयशब्दनाशं प्रति स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन शब्दनाशत्वेन हेतुत्वे शब्दाऽजनकस्याऽऽद्यशब्दस्य नाशो न केनाऽपि स्यात्, तदव्यवहितोत्तरशब्दस्याऽपि विरहात् । वस्तुतस्तु प्रतियोगितासम्बन्धेन योग्यविभुविशेषगुणनाशं प्रति स्वाव्यवहितपूर्ववर्तित्वस्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन योग्यविशेषगुणस्य कारणत्वे चरमशब्दस्य द्वितीयक्षणविशिष्टस्य सतः स्वनाशकत्वमेवोचितम् । **एतेन** सुषुप्तिप्राक्कालीनज्ञाननाशार्थं मनःसंयोगस्य ज्ञानादिनाशकत्वकल्पनापत्तिरपि **परास्ता**, सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नज्ञानस्यैव द्वितीयक्षणविशिष्टस्य स्वनाशकत्वसम्भवात् यतः तज्ज्ञान-सामानाधिकरण्यं तज्ज्ञानेऽपि वर्तते एवं स्वाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वमपि स्वस्मिन्नबाधितम् । ततश्चाऽस्मदुक्तप्रकारेणैव शिरोमणि-नयानुयायिमतं दूषयितव्यमिति विभावनीयम् ।

शङ्कते - **स्यादेतदिति** । चेदित्यन्तः शङ्काग्रन्थः । **योग्यविभुविशेषगुणनाशं** = प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्न-कार्यतावच्छेदकयोग्यविभुविशेषगुणप्रतियोगिकनाशत्वावच्छिन्नं **प्रति स्वोत्तरोत्पन्नयोग्यविशेषगुणत्वेन हेतुत्वं न युक्तम्,** चैत्रज्ञानोत्तरो-त्पन्नमैत्रज्ञानस्याऽपि चैत्रज्ञाननाशकतापत्तेः । **न च** स्वसामानाधिकरण्यसम्बन्धस्य कारणतावच्छेदकसंसर्गत्वेन नोक्त दोष इति **वाच्यम्,** तथापि सुषुप्त्यादिचिरपूर्वकालीनज्ञानादेः सुषुप्तिप्रभृत्युत्तरकालीनव्यवहितज्ञानादिनाश्यत्वापत्तेः । **न च** स्वाव्यवहितो-त्तरोत्पन्नयोग्यविशेषगुणत्वस्य योग्यविभुविशेषगुणनाशकतावच्छेदकत्वान्न दोष इति **वक्तव्यम्,** तथापि ज्ञानादिनाशस्य स्वप्रति-योगितासम्बन्धेन ज्ञानादौ जायमानत्वेन तत्र चोक्तसम्बन्धेन नाशकविरहेण ज्ञानाद्यनाशप्रसङ्गात् । **न च** वैयधिकरण्यनिरासार्थं कार्यतावच्छेदकसम्बन्धः स्वप्रतियोगित्वं न तु स्वरूपसंसर्ग इति **वाच्यम्,** तथाप्यनन्तकार्यकारणभावकल्पनापत्तेः यतः स्वाऽ-व्यवहितोत्तरत्वं स्वोत्तरविशेषगुणानुत्तरत्वे सति स्वोत्तरत्वम् । अत्र च स्वत्वस्याननुगतत्वेन तत्तद्व्यक्तिविश्रान्त एव कार्यकारणभाव इति तत्तद्व्यक्तिनाशं प्रति तत्तद्व्यक्तित्वेनैव कारणता युक्ता । तथा चानन्तकार्यकारणभावापत्त्या महागौरवमिति चेत् ?

अत्र = निरुक्तकार्यकारणभावस्थले, **वदन्ति** नैयायिकाः -> **प्रतियोगितया** = स्वनिरूपितप्रतियोगितासम्बन्धेन, **योग्यविभुविशेषगुणनाशत्वावच्छिन्नमिति** । अनेन कार्यतावच्छेदकसम्बन्धधर्मयोः प्रदर्शनं कृतम् । कारणतावच्छेदकसम्बन्धे ऐकाधिकरण्यनिवेशान्न शब्दादिना व्यधिकरणानां ज्ञानेच्छादीनां नाशः । स्वाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धनिवेशाच्च न ज्ञानादीना-मुत्पत्तिकाले वर्तमानं यत् तत्पूर्वक्षणोत्पन्नेच्छादि तेन ज्ञानादेः स्वोत्पत्तिद्वितीयक्षणे नाशापत्तिः । योग्यविशेषगुणत्वस्य

तब न तो ज्ञानादि में चतुःक्षणस्थायिता की आपत्ति होगी और न तो शब्द में क्षणचतुष्कस्थायित्व की सिद्धि होगी - यह न्यायसम्प्रदायानुरोधी हम प्राचीन नैयायिकों का वक्तव्य है ।

❖ योग्यविभुविशेषगुण में स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यता की मीमांसा ❖

स्यादे. । यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि -> 'ज्ञान, शब्द आदि को क्षणिक मानने का मूल कारण है योग्य विभुविशेषगुण का नाश स्वोत्तरवर्ती योग्य विशेषगुण से होने की मान्यता । मगर यह मान्यता ही अप्रामाणिक है, क्योंकि यह अनेक दोषों से दुष्ट होने से अप्रामाणिक है । वह इस तरह-शब्दात्मक योग्य विभुविशेषगुण का भी स्वोत्तर उत्पन्न ज्ञानादि योग्यविशेषगुण से नाश हो जायगा । तथा चिरकाल पहले उत्पन्न ज्ञानादि का भी अतिव्यवहित ज्ञानादि से, जो स्वोत्तर उत्पन्न योग्य विशेषगुण है, नाश हो जायगा । एवं नाशकारणतावच्छेदक स्वोत्तरोत्पन्नयोग्यविशेषगुणत्व होने से यानी अननुगत स्वत्व से घटित होने से प्रस्तुत कार्यकारणभाव तत् तत् व्यक्तित्वरूप से = विशेषरूप से पर्यवसित होगा, जिसके फल में अनन्त कार्यकारणभाव के स्वीकार का महागौरव उपस्थित होगा-इत्यादि । इसलिए योग्यविभुविशेषगुणनाशकतावच्छेदक स्वोत्तरोत्पन्न-योग्यविशेषगुणत्व नहीं हो सकता है । अतएव शब्द, ज्ञान आदि में स्थूल क्षणिकता का स्वीकार भी नामुनासिब है'<— मगर यह इसलिए निराधार है कि हम नैयायिक कार्यकारणभाव का स्वीकार उपर्युक्त रीति से नहीं करते हैं किन्तु अन्य प्रकार से करते हैं । वह इस तरह कि प्रतियोगिता सम्बन्ध से योग्यविभुविशेषगुणनाशत्वावच्छिन्न के प्रति ऐकाधिकरण्यअवच्छिन्न स्वाऽव्यवहितपूर्ववृत्तित्व सम्बन्ध से योग्यविशेषगुणत्वावच्छिन्न कारण है । कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध प्रतियोगिता है । कारणतावच्छेदकसम्बन्ध-शरीर में ऐकाधिकरण्य का निवेश करने से शब्द का ज्ञानादि से, जो स्वाऽव्यवहितोत्तरोत्पन्न योग्यविशेषगुण है, नाश होने का प्रसङ्ग नहीं होगा, क्योंकि शब्दव्यधिकरण होने की वजह ज्ञान आदि ऐकाधिकरण्य = सामानाधिकरण्य से अवच्छिन्न = विशिष्ट ऐसे स्वाऽव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्ध से शब्द में, जो प्रतियोगितया शब्दनाशात्मक कार्य के अधिकरणविधया अभिमत

करण्यावच्छिन्नस्वाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन योग्यविशेषगुणत्वेन हेतुत्वम् । रोगगङ्गास्नाना-दिनाश्यसंस्कारनाशे व्यभिचारवारणाय कार्यतावच्छेदके 'योग्ये'ति वेगाऽवृत्तियोग्यजातिमदर्थकं, तेन न निर्विकल्प-जीवनयोनियत्नाऽसङ्ग्रहः ।

❀ जयलता ❀

कारणतावच्छेदकल्यानानन्तकार्यकारणभावप्रसङ्गः, स्वत्वस्य तत्राऽनिवेशात् । **रामरुद्रस्तु** 'अत्र चापेक्षाबुद्धिद्वितीयक्षणोत्पन्नपुरुषान्त-रीयज्ञानादिना तृतीयक्षणे तन्नाशवारणाय स्वसामानाधिकरण्यप्रवेशः । अपेक्षाबुद्धिद्वितीयक्षणे च तत्पुरुषस्य न योग्यविशेषगुणोत्पादः इति सिद्धान्तः । ज्ञानादेः क्षणिकत्ववारणाय द्वितीयसम्बन्धप्रवेश' (का. २७. मु.रा.पृ. २४४) इति **व्याचष्टे** । द्वितीयसम्बन्धप्रवेश इति स्वाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धनिवेश इत्यर्थः ।

विवृण्वन्ति - **रोग-गङ्गास्नानादिनाश्यसंस्कारनाशे** - राजयक्ष्मादिरोग-गङ्गास्नान-सूर्यकिरणस्पर्श-स्मृत्यादिजन्यनाश-प्रतियोगिसंस्कारस्वरूपविभुविशेषगुणप्रतियोगिकनाशे, **व्यभिचारवारणाय** = योग्यविशेषगुणाऽजन्यत्वेन व्यतिरेकव्यभिचारापोहाय, **कार्यतावच्छेदके** = कार्यतावच्छेदकधर्मशरीरकुक्षौ **'योग्ये'ति** उपादानम् । न च तथापि कथं व्यभिचारनिवारणमिति वाच्यम्, अतः **वेगाऽवृत्तियोग्यजातिमदर्थकं** योग्यपदम् । संस्कारे यद्यपि गुणत्वलक्षणा योग्यजातिरस्ति तथापि तस्या वेगाऽवृत्तित्वं नास्ति । संस्कारनिष्ठा संस्कारत्वजातिर्यद्यपि योग्या तथापि तस्या अपि वेगवृत्तित्वमिति न संस्कारस्य योग्यत्वं सम्भवतीति योग्यविशेषगुणनाश्यतानाक्रान्तत्वमेव तस्येति न व्यतिरेकव्यभिचारसम्भवः । **तेन** = वेगाऽवृत्तियोग्यजातिमत्त्वस्य योग्यत्वपदार्थत्व-निरूपणेन, **न निर्विकल्पकजीवनयोनियत्नासङ्ग्रह** इति । एतेन योग्यत्वस्य लौकिकप्रत्यक्षविषयरूपत्वेन स्वोत्तरोत्पन्नज्ञानादिना निर्विकल्पकस्य जीवनयोनियत्नस्य च नाशो न स्यादिति **निरस्तम्**, वेगावृत्तिज्ञानत्वकृतित्वलक्षणयोग्यजातिमत्त्वेन तद्योग्यत्वस्याऽ-नपायात् । निर्विकल्पकत्वं तु न जातिः निष्प्रकारकज्ञानत्वस्यैव निर्विकल्पकत्वरूपत्वात्, ज्ञानत्वस्य वेगाऽवृत्तियोग्यजातित्वं तु निराबाधमेव । यद्यपि योग्यत्वप्रवेशेन स्वाश्रयकवलितत्वमेव तथापि वेगावृत्तिलौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यविषयवृत्ति-गुणत्वव्याप्य-जातिमत्त्वमेव योग्यत्वमित्यत्र तात्पर्यमिति विभावने नास्ति दोषगन्धलेशोऽपि । **एतेन** प्रायश्चित्तादिनाश्याऽदृष्टप्रतियोगिकनाशे व्यभिचारोऽपि **प्रत्याख्यातः**, अदृष्टत्वस्य लौकिकप्रत्यक्षविषयाऽवृत्तित्वात् । रूपादिनाशे व्यतिरेकव्यभिचारवारणाय विभ्विति ।

है, नहीं रहता है । इस तरह अतिव्यवहित ज्ञानादि भी चिरपूर्वकालीन स्वसमानाधिकरण ज्ञानादि का नाशक होने की आपत्ति को भी अवकाश नहीं है, क्योंकि व्यवहित होने की वजह उत्तर ज्ञानादि स्वाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्ध से भी चिरपूर्वकालीन ज्ञानादि में नहीं रहता है तब स्वसामानाधिकरण्यावच्छिन्न ऐसे स्वाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्ध से तो कैसे रह सकेगा ? सामग्री न होने पर कार्योत्पाद का आपादन नहीं हो सकता है । इस तरह कारणताअवच्छेदक धर्म शरीर की कुक्षि में अननुगत स्वत्व का निवेश भी नहीं किया गया है, जिसकी बदौलत विशेषरूप से अनन्त कार्यकारणभाव के स्वीकार का गौरव उपस्थित होता था । अतः प्रदर्शित केवल एक कार्यकारणभाव से ही शब्द, ज्ञानादि के नाश का निर्वाह हो जाता है, जिसमें कारणता-अवच्छेदक धर्म भी पूर्वोक्त कारणताअवच्छेदक धर्म की अपेक्षा लघु है । फिर भी इस कार्यकारणभाव को मान्य न किया जाय तब तो शब्द, ज्ञान आदि का अन्य कोई नाशक न होने से शब्द, ज्ञान आदि के नित्य हो जाने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा, जो नामंजूर है । यहाँ कार्यताअवच्छेदक धर्म के शरीर में योग्यत्व का निवेश न किया जाय और विभुविशेषगुणनाशत्व को ही कार्यताअवच्छेदक माना जाय तब यद्यपि लाघव होता है तथापि रोग-स्नान आदि से नाश्य संस्कार आदि के नाश में व्यतिरेक व्यभिचार होगा, क्योंकि संस्कार विभु आत्मा का विशेषगुण होने पर भी योग्यविशेषगुण से भिन्न रोग आदि से नष्ट होता है । रोग आदि से ज्ञानादिजन्य एवं स्मृतिजनक भावनाख्य संस्कार नष्ट होते हैं - यह तो सर्वानुभवसिद्ध है, क्योंकि विशिष्ट रोग आदि के बाद स्मृति मन्द हो जाती है । कार्यताअवच्छेदकधर्म कुक्षि में योग्यत्व का प्रवेश करने पर उपर्युक्त दोष को अवकाश नहीं है, क्योंकि संस्कार योग्य गुण नहीं होने की वजह नाश्यताकोटि से बहिर्भूत बनता है । योग्यता का अर्थ है वेगाऽवृत्ति योग्य जाति । संस्कार के तीन प्रकार हैं वेग, भावना एवं स्थितिस्थापकता । इस तरह भावना भी एक प्रकार का संस्कार होने से वेगाऽवृत्ति योग्य जाति से शून्य है । अतएव वह योग्य = वेगाऽवृत्तियोग्यजातिमान् नहीं है । योग्यता का उपर्युक्त निर्वचन करने का दूसरा लाभ यह है कि निर्विकल्प ज्ञान एवं जीवनयोनियत्न (=जीवननिर्वाहक प्रयत्न, जिससे श्वासोच्छ्वास, रक्तभ्रमण आदि प्रवृत्ति चल रही है उस) का भी योग्यविशेषगुणनाश्यताकोटि में सङ्ग्रह हो जायेगा, क्योंकि वेग में नहीं रहनेवाली प्रत्यक्षयोग्य ज्ञानत्व एवं यत्नत्व-जाति क्रमशः दोनों में रहती है । अतः निर्विकल्पक ज्ञान एवं जीवनयोनि यत्न का भी स्वोत्तर उत्पन्न इच्छादि से नाश हो सकेगा ।

द्वितीयक्षणोत्पन्नाऽदृष्टसंयोगादिनाऽपेक्षाबुद्धेस्तृतीयक्षणे नाशवारणाय कारणतावच्छेदके 'योग्ये'ति 'विशेषे'ति च योग्यजातिमदर्थकं उभयाऽवृत्त्यर्थकञ्च । यत्तु योग्यपदमतीन्द्रियजातिशून्यार्थकमिति, तन्न, गौरवात् ।

⁂ जयलता ⁂

संयोगादिनाशे व्यभिचारवारणाय विशेषेति । **एतेन** ऐन्द्रियकगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वं योग्यत्वमिति **मञ्जूषाकारवचनमपाकृतम्**, स्मृत्यादिनाश्यसंस्कारनाशे व्यतिरेकव्यभिचारतादवस्थ्यात्, संस्कारत्वस्य वेगवृत्तित्वेन ऐन्द्रियकत्वात् ।

नन्वस्तु कार्यतावच्छेदके योग्यत्वविशेषनिवेशनं परं कारणतावच्छेदके तयोः प्रवेशे किं प्रयोजनं ? इत्याशङ्कायां वदन्ति - **द्वितीयक्षणोत्पन्नादृष्टसंयोगादिना** = अपेक्षाबुद्धिद्वितीयक्षणोत्पन्नाऽदृष्टसंयोग-विभागादिना, **अपेक्षाबुद्धेः तृतीयक्षणे** = अपेक्षाबुद्धितृतीयक्षणे, **नाशः स्यात्** ऐकाधिकरण्यावच्छिन्नस्वाऽव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन अदृष्टादिगुणस्य प्रतियोगितया नाशाधिकरणविधयाऽभिमतापेक्षाबुद्धौ सत्त्वात् । न च तृतीयक्षणे तन्नाशो भवति, तस्याः चतुर्थक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वात् । अतस्तेन तस्याः तृतीयक्षणे **नाशवारणाय कारणतावच्छेदके** = नाशकतावच्छेदकधर्मकुक्षौ '**योग्ये**'ति '**विशेषे'ति चे**ति । तादृशाऽदृष्टाऽतीन्द्रियसंयोगादिना तृतीयक्षणे तन्नाशवारणाय योग्यत्वं गुणविशेषणं तादृशसंयोगविभागादिना तृतीयक्षणे तन्नाशापाकरणाय च 'विशेषे'ति गुणविशेषणमित्यर्थः । तन्निर्वचनमावेदयन्ति - **योग्यजातिमदर्थकं** योग्यपदम् । लौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यगुणत्वव्याप्यजातिमान् योग्यपदप्रतिपाद्य इत्यर्थः । तेनाऽदृष्टादौ लौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यगुणत्वजातिसत्त्वेऽपि न क्षतिः । **उभयाऽवृत्त्यर्थकञ्च** विशेषपदम् । द्रव्यविभाजकैकधर्ममात्रावच्छिन्नाधारतानिरूपिताधेयतावान् विशेषपदार्थ इति तात्पर्यम् । तेन ज्ञानादेः चैत्रमैत्रोभयवृत्तित्वेऽपि न क्षतिः । **न च** चैत्रसमवेतं ज्ञानं मैत्रसमवेतज्ञानादन्यदेवेति नैकमुभयवृत्तीति **वाच्यम्**, एवं सति परिमाणादेरपि विशेषगुणत्वप्रसङ्गात् । **एतेन** अव्यासज्यवृत्तिगुणो विशेषगुण इत्यपि **प्रत्याख्यातम्**, एकत्वादेरपि विशेषगुणत्वप्रसङ्गादित्यादिकं मदुक्तदिशा विभावनीयम् ।

यत्तु —> **योग्यपदमतीन्द्रियजातिशून्यार्थकमिति** <— **तन्न** समीचीनम्, **गौरवात्** लौकिकसाक्षात्कारकारणतावच्छेदकगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वाऽपेक्षया लौकिकसाक्षात्कारकारणतानवच्छेदकगुणत्वव्याप्यजातिशून्यत्वस्य गुरुशरीरकत्वम् । तथा च व्यभिचारवारकत्वाऽभावेन व्यर्थगौरवमित्यत्र तात्पर्यम् । **एतेन** 'योग्यत्वञ्च लौकिकसाक्षात्कारविषयनिर्विकल्पकान्यतरत्वं अतीन्द्रियजातिशून्यत्वं वा' (का. २७, दि.पृ. २४४) इति **महादेववचनं परास्तम्**, जीवनयोनियत्नस्याऽयोग्यत्वापत्तेश्च । **अत एव** लौकिकसाक्षात्कारविषय-निर्विकल्पक-जीवनयोनियत्नान्यतमत्वं नाशकतावच्छेदककोटिप्रविष्टं योग्यत्वमित्यपि **पराकृतम्**, महागौरवात् ।

योग्यता एवं विशेषत्व का निर्वचन

द्विती. । यहाँ यह शंका हो सकती है कि —> 'कारणतावच्छेदकधर्मकोटि में योग्यत्व और विशेषत्व का गुणविशेषणविधया निवेश न किया जाय तो क्या दोष है ? व्यर्थ गौरव क्यों करना ?' <— मगर इसका समाधान यह है कि गुणत्व को ही उक्त सम्बन्ध से नाशकारणतावच्छेदक माना जाय तब तो अपेक्षाबुद्धि के द्वितीय क्षण में उत्पन्न अदृष्ट (धर्म-अधर्म), संयोग आदि ऐकाधिकरण्यावच्छिन्न स्वाऽव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्ध से अपेक्षाबुद्धि में, जो प्रतियोगितासम्बन्ध से अपेक्षाबुद्धिनाशात्मक कार्य के अधिकरणविधया अभिमत है, रहने से अपेक्षाबुद्धि के तृतीय क्षण में ही अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जायगा । मगर अपेक्षाबुद्धि तो अपने चतुर्थ क्षण में नष्ट होती है - यह तो नैयायिकसम्प्रदायसिद्ध हकीकत है । अतः तन्निवारणार्थ नाशकतावच्छेदककोटि में योग्यत्व और विशेषत्व का गुणविशेषणविधया प्रवेश करना आवश्यक है । योग्यपद का अर्थ है योग्यजातिमान् अर्थात् लौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यजातिवाला । अपेक्षाबुद्धि के द्वितीय क्षण में उत्पन्न अदृष्ट = धर्म-अधर्म तो योग्य नहीं है, क्योंकि उसमें लौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्य जाति रहती नहीं है । इस तरह विशेष का अर्थ है उभयाऽवृत्ति यानी दो विजातीय द्रव्य में न रहनेवाला । संयोग तो आत्मा और पृथ्वी आदि विजातीय दो द्रव्य में रहने से विशेषगुण नहीं है । इस तरह अपेक्षाबुद्धि के द्वितीय क्षण में उत्पन्न अदृष्ट गुण अयोग्य होने से एवं संयोगादि विशेषगुण नहीं होने से उनसे अपेक्षाबुद्धि का तृतीय क्षण में नाश होने की आपत्ति को अवकाश नहीं है ।

यत्तु. । यहाँ अन्य विद्वान् का यह कथन है कि —> 'योग्यपद अतीन्द्रियजातिशून्य अर्थ का प्रतिपादक है । अदृष्ट आदि अतीन्द्रिय जातिवाले होने से अयोग्य है । अतएव वह नाशक नहीं हो सकता है' <— मगर यह ठीक नहीं है, क्योंकि योग्यजातिमान् इस अर्थ की अपेक्षा अतीन्द्रियजातिशून्य = प्रत्यक्षाऽयोग्यजातिअभाववाला यह अर्थ गुरुभूत है । व्यभिचारादिदोषनिवारकत्व नहीं होने से यह गौरव अप्रामाणिक है ।

अपेक्षाबुद्धिनाशे तु द्वित्वनिर्विकल्पकत्वेन पृथक्कारणतेति न तस्याः तृतीयक्षणे नाशः । अत्र स्वपूर्ववृत्तित्वं स्वाधिकरणक्षणाऽव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वमिति चरमज्ञानशब्दादिनाशे न व्यभिचारः, अनेन सम्बन्धेन स्वस्यैव तत्र नाशकत्वात् ।।

❀ जयलता ❀

वस्तुतस्तु अत्र पूर्वत्र सर्वत्र निरुक्तं यदपि योग्यत्वं कक्षीक्रियते तन्न चारु, अपेक्षाबुद्धिद्वितीयक्षणोत्पन्नेच्छादिना तृतीयक्षणे अपेक्षाबुद्धिनाशापत्तेर्दुर्वारत्वमेवेति नाशकतावच्छेदके योग्यत्वविशेषत्वनिवेशवैयर्थ्यमेव । **न च** अपेक्षाबुद्धिद्वितीयक्षणे तदधिकरणे ज्ञानेच्छादिजनकसामग्रीसत्त्वेऽपि ज्ञानेच्छादिकं नोत्पद्यत इति **वाच्यम्**, मानाभावात् । न हि प्रयोजनभङ्गभयेन सामग्री कार्यं नार्जयति । यद्वा शक्यत एवमपि वक्तुं यदुत कारणसत्त्वेऽपि योग्यविशेषगुणोऽपेक्षाबुद्धिद्वितीयक्षणे तदधिकरणे नैवोत्पद्यते, अगत्या कस्यचित्प्रतिबन्धकस्य कल्पनादिति न दोषः । यदि चात्राऽप्रामाणिककल्पनागौरवमिति विभाव्यते तदा अपेक्षाबुद्धि-भिन्नयोग्यविभुविशेषगुणनाशत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकत्वमस्तु **अपेक्षाबुद्धिनाशे** = अपेक्षाबुद्धिप्रतियोगिकनाशत्वावच्छिन्नं प्रति तु **द्वित्वनिर्विकल्पकत्वेन पृथक्कारणता** । ततश्च योग्यविशेषगुणनाश्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वेन **न तस्याः** = अपेक्षाबुद्धेः **तृतीयक्षणे** = स्वतृतीयक्षणे **नाशः** । कार्यतावच्छेदककोटौ अपेक्षाबुद्धिभिन्नत्वनिवेशे तु कारणतावच्छेदककोटौ योग्यत्वविशेषत्वनिवेशो नैव कर्तव्यः, प्रयोजनविरहेण गौरवात् परन्तु मूलसिद्धान्तभङ्गो दुर्वार इति अनुपदमेव वक्ष्यामः ।

अत्रेदं बोध्यम् - प्रथमं 'अयमेकोऽयमेक' इत्येवंरूपाऽपेक्षाबुद्धिर्जायते, ततो द्वित्वोत्पादः, ततो विशेषणज्ञानं द्वित्वत्वनिर्विकल्पात्मकं ततो द्वित्वत्वविशिष्टद्वित्वप्रत्यक्षं अपेक्षाबुद्धिनाशश्च, ततो द्वित्वनाश इति नैयायिकप्रक्रिया । एवञ्च चापेक्षाबुद्धिः क्षणत्रयमवतिष्ठते । अपेक्षाबुद्धेः क्षणद्वयमात्रस्थायित्वे द्वित्वत्वनिर्विकल्पककालेऽपेक्षाबुद्धिनाशे तदनन्तरं द्वित्वस्यैव नाशाद् विषयाभावेन द्वित्वस्य प्रत्यक्षं न स्यादित्यतोऽपेक्षाबुद्धेः त्रिक्षणावस्थायित्वं कल्प्यते ।

नन्वेवं सति चरमज्ञान-शब्द-सुषुप्तिप्राक्क्षणोत्पन्नज्ञानादिनाशकदुर्भिक्षं स्यादित्याशङ्कायां व्याचक्षते → **अत्र** = कारणतावच्छेदकसम्बन्धशरीरकुक्षौ **स्वपूर्ववृत्तित्वं** = **स्वाधिकरणक्षणाऽव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वमिति चरमज्ञानशब्दादिनाशे न व्यभिचारः** । न च तत्समानाधिकरणस्य तदुत्तरवृत्तेः योग्यविशेषगुणस्य विरहात् कुतो न व्यभिचार इति वाच्यम्, यतः **अनेन** = स्वाधिकरणक्षणाव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वलक्षणेन **सम्बन्धेन स्वस्यैव** चरमज्ञानादेरेव द्वितीयक्षणविशिष्टस्य अतः **तत्र** = चरम-ज्ञानादौ **नाशकत्वादिति** ।

❀ द्वित्वनिर्विकल्पक अपेक्षाबुद्धिनाशक - नैयायिक ❀

अपे. । यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि → 'अपेक्षाबुद्धि का स्वद्वितीयक्षण उत्पन्न अदृष्ट, संयोग आदि से नाश नहीं होगा तब उसका नाशक कौन होगा ?' ← इसका समाधान यह है कि द्वित्वत्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अपेक्षाबुद्धि का नाशक है । यहाँ नैयायिकसम्प्रदाय की यह प्रक्रिया है कि प्रथम क्षण में 'अयमेकः अयमेकः' इत्याकारक अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है । द्वितीय क्षण में द्वित्व संख्या उत्पन्न होती है । तृतीय क्षण में द्वित्वत्व जाति का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होगा । चतुर्थक्षण में द्वित्वत्वविशिष्ट द्वित्व का प्रत्यक्ष होगा और उसी क्षण में अपेक्षाबुद्धि का नाश होगा । इस तरह स्वाऽव्यव-हितोत्तरवृत्तित्वसामानाधिकरण्यसम्बन्ध से द्वित्वत्वनिर्विकल्पक प्रत्यक्ष अपेक्षाबुद्धि का नाशक बनेगा । इसलिए अपेक्षाबुद्धि के तृतीय क्षण में अपेक्षाबुद्धि के नाश का कोई प्रसङ्ग नहीं है ।

⊡ चरमज्ञानादि स्वनाशक है - नैयायिक ⊡

अत्र स्व. । योग्यविभुविशेषगुणनाशकतावच्छेदकसम्बन्ध में जो स्वपूर्ववृत्तिता निविष्ट है उसका अर्थ है स्वाधिकरण-क्षणाऽव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्व । जैसे द्वितीय क्षण में उत्पन्न ज्ञान का अधिकरण क्षण है द्वितीय क्षण और उसका अव्यवहित पूर्व क्षण है प्रथम क्षण । प्रथमक्षणवृत्ति है तत्क्षणोत्पन्न ज्ञान, इच्छा आदि । अतः द्वितीयक्षणोत्पन्न ज्ञान उक्तसम्बन्ध से प्रथमक्षणोत्पन्न ज्ञान-इच्छा आदि में रह कर प्राथमिक ज्ञान इच्छा आदि के तृतीय क्षण में उसका नाश करेगा । ऐसा निरूपण करने का तात्पर्य यह है कि चरम ज्ञान, चरम शब्द आदि के नाश में व्यभिचार न हो । कहने का मतलब यह है कि चरम ज्ञान, चरम शब्द आदि के अव्यवहित उत्तर क्षण में न तो कोई ज्ञान, इच्छा आदि उत्पन्न होते हैं और न तो शब्द उत्पन्न होता है । अतः उसके विनाशक का दुष्काल पड़ेगा । मगर स्वपूर्ववर्तितापद का उपर्युक्त अर्थ मान्य करने पर उक्त दोष का यानी चरमज्ञानादिविनाशकाभाव का या बिना विनाशक के चरमज्ञानादि के नाश से व्यतिरेक व्यभिचार का प्रसङ्ग

*एतेन **पूर्ववृत्तित्वं = स्वप्रागभावाधिकरणक्षणवृत्तित्वं, अन्यथा स्वस्मिन् स्वनाशकत्वापत्ते-** रिति निरस्तम्, **चरमज्ञानादाविवाऽन्यत्राऽपि ज्ञानान्तरस्येव स्वस्य नियमबलायातनाशकत्वस्य प्रामाणिकत्वात्** ।*

❋ जयलता ❋

एतेन = निरुक्तसम्बन्धस्य पूर्ववृत्तित्वप्रतिपादनेन, निरस्तमित्यनेनास्यान्वयः । **पूर्ववृत्तित्वं** = पूर्ववृत्तित्वपदप्रतिपाद्यं, **स्वप्रागभावाधिकरणक्षणवृत्तित्वं**, यथा इच्छोत्तरोत्पन्नस्य ज्ञानस्य यः प्रागभावः तदधिकरणीभूतो यः पूर्वक्षणः तद्वृत्तिः इच्छा-पदार्थः । अतः ज्ञानं स्वप्रागभावाधिकरणक्षणवृत्तित्वसम्बन्धेनेच्छायां वर्तमानं सत् तन्नाशकं भवितुमर्हति । यद्यपि स्वप्रागभावाधि-करणक्षणवृत्तित्वन्तु व्यवहितपूर्ववर्तिन्यप्यस्ति तथापि स्वप्रागभावाधिकरणक्षणप्रागभावानधिकरणत्वे सति स्वप्रागभावाधिकरणो यः क्षणः तद्वृत्तित्वरूपं स्वप्रागभावाधिकरणक्षणवृत्तित्वमित्यत्र तात्पर्यान्न दोषः । **अन्यथा** = पूर्ववृत्तित्वपदप्रतिपाद्ये प्रागभावाऽप्रवेशे, **स्वस्मिन्** ज्ञानादौ **स्वनाशकत्वापत्तेः** द्वितीयक्षणविशिष्टस्य ज्ञानस्य अधिकरणीभूतो यः वर्तमानः क्षणः तदव्यवहितपूर्वक्षणे वृत्ति यत् उत्पद्यमानं स्वं तत्र स्वाधिकरणक्षणाव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वसम्बन्धेन द्वितीयक्षणविशिष्टस्य ज्ञानस्य सत्त्वेन विशिष्टस्य स्वस्यैव स्वनाशकत्वप्रसङ्गः ।

तन्निरासार्थमाहुः **चरमज्ञानादौ इव अन्यत्राऽपि** = अचरमज्ञानादौ अपि **ज्ञानान्तरस्येव** = स्वोत्तरवर्तिनः भिन्नस्य ज्ञानादेः इव **स्वस्य नियमबलायातनाशकत्वस्य** = प्रोक्तकार्यकारणभावप्राप्तनाशजनकत्वस्य **प्रामाणिकत्वात्** = प्रमाणसिद्धत्वात् । चरमज्ञानादौ यथा द्वितीयक्षणविशिष्टस्य स्वस्य नाशकत्वं यथा सम्प्रतिपन्नं तद्वदेव अचरमज्ञानशब्दादौ द्वितीयक्षणविशिष्टस्य स्वस्य नाशकत्वमपि प्रामाणिकम्, योग्यविभुविशेषगुणे निरुक्तसम्बन्धेन योग्यविशेषगुणस्य नाशकत्वस्योभयमतसिद्धत्वात् । यथा ज्ञानान्तरं स्वाव्यवहितोत्तरोत्पन्नयोग्यविशेषगुणत्वेन स्वपूर्ववर्तिज्ञानेच्छादिनाशकं तद्वद् द्वितीयक्षणविशिष्टं स्वमपि तथा । प्रयोगस्त्वेवं द्वितीयक्षणविशिष्टमचरमज्ञानादि अव्यवहितपूर्ववर्तिज्ञानादिनाशकं उत्तरवर्तियोग्यविशेषगुणत्वात्, अव्यवहितोत्तरवर्तिज्ञानान्तरादिवत् द्वितीयक्षणविशिष्टचरमज्ञानादिवद्वा । **एतेन** स्वस्य स्वनाशकत्वं कथमिति **निराकृतम्** ।

नहीं आयेगा, क्योंकि चरमज्ञानादि द्वितीय क्षण में द्वितीयक्षणविशिष्ट बनता है और स्वाधिकरणक्षणाऽव्यवहित पूर्व क्षण में रहने वाले चरम ज्ञानादि में स्वाधिकरणक्षणाऽव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वसम्बन्ध से रहता है । वह योग्य विशेष गुण भी है ही । अतः द्वितीयक्षणविशिष्ट चरमज्ञानादि ही प्रथमक्षणविशिष्ट चरमज्ञानादि का, नाश्य के तृतीय क्षण में, नाश कर सकता है । मतलब चरम ज्ञानादि का नाशक चरम ज्ञानादि ही है ।

एतेन. । यहाँ अन्य नैयायिक विद्वानों का यह मत है कि --> 'स्वपूर्ववर्तितापद का अर्थ है स्वप्रागभावाधिकरणक्षणवृत्तित्व। जैसे स्व = नाशक द्वितीयक्षणोत्पन्न ज्ञानादि, उसके प्रागभाव का अधिकरण क्षण है प्रथम क्षण, उसमें वृत्ति है प्रथमक्षणोत्पन्न ज्ञानादि । अतः स्वप्रागभावाधिकरणक्षणवृत्तित्वसम्बन्ध से द्वितीयक्षणोत्पन्न ज्ञानादि प्रथमक्षणोत्पन्न ज्ञानादि में रह कर नाश्यतृतीयक्षण में उसका नाश करेगा । यदि स्वपूर्ववृत्तितापदार्थ में प्रागभाव का निवेश न किया जाय तब तो स्व में स्वनाशकता की आपत्ति आयेगी । वह इस तरह-प्रथम क्षण में उत्पन्न इच्छा द्वितीय क्षण में द्वितीयक्षण से विशिष्ट बनती है और वह स्वाधिकरणक्षण = द्वितीयक्षण से अव्यवहित पूर्व क्षण = प्रथम क्षण में वृत्ति = रहने वाली इच्छा में, जो स्वात्मक = नाशकात्मक = नाशकाऽभिन्न है, स्वाधिकरणक्षणाव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वसम्बन्ध से रह जायेगी । वह योग्य विशेषगुण तो है ही । अतः द्वितीयक्षण-विशिष्ट इच्छा ही प्रथमक्षणविशिष्ट इच्छा की नाशक बनने की आपत्ति आयेगी । मगर अपने में अपना नाशकत्व तो अभिमत नहीं है । इसलिये स्वपूर्ववृत्तित्व का अर्थ प्रागभावघटित करना चाहिए । तब इस प्रसंग को अवकाश नहीं है, क्योंकि प्रथम क्षणोत्पन्न इच्छा का अधिकरण क्षण द्वितीयसमयविशिष्ट इच्छा = स्व के प्रागभाव का अधिकरण नहीं है' <-- ।

चरम. । मगर यह कथन असंगत प्रतीत होता है । इसका कारण यह है कि चरमज्ञान चरम शब्द आदि का, जो योग्य विभुविशेषगुण है, नाशक तो उपर्युक्त रीति से द्वितीयसमयविशिष्ट चरमज्ञान आदि ही है - यह सिद्ध हो चुका है। स्व में स्वनाशकता जब चरमज्ञानादि में सिद्ध ही है तब अचरम ज्ञान, अचरम इच्छा आदि के नाशकविधया नाश्य का ही स्वीकार करने में क्या बाधा है ? जैसे प्रथमसमयोत्पन्न अचरम इच्छा के द्वितीय क्षण में उत्पन्न होने वाला ज्ञान योग्य विशेषगुण है एवं स्वसामानाधिकरण्य-स्वाऽव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्ध से प्रथमसमयोत्पन्न इच्छा में रह कर उसके तृतीय क्षण में उसका नाशक बनता है ठीक वैसे ही द्वितीयक्षणविशिष्ट इच्छा, जो प्रथम क्षण में उत्पन्न हुई है, भी योग्यविशेषगुण है एवं स्वसामानाधिकरण्यावच्छिन्न-स्वाऽव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्ध से प्रथमक्षणोत्पन्न इच्छा = स्व में रह कर तृतीय क्षण में अपनी नाशक हो सकती है । दोनों में प्रमाणसिद्ध कार्यकारणभाव तो समान ही है । प्रमाणसिद्ध वस्तु का अपलाप कैसे किया जा सकता है ? यह मानना

युक्तश्चैतत्, अन्यथा चरमज्ञानादौ नाशकान्तरकल्पनागौरवादिति ध्येयम् ।

इदन्तु ध्येयम् – यदेकाधिकरणवृत्तित्व-स्वपूर्वकालीनत्वोभयसम्बन्धो नाशकतावच्छेदकः, अन्यथा देश-कालयोरवच्छेद्यावच्छेदकभावे विनिगमनाविरहादिति दिग् ।

❀ जयलता ❀

युक्तश्च एतत् = स्वस्य द्वितीयक्षणविशिष्टस्य पूर्वक्षणविशिष्टस्वनाशकत्वप्रतिपादनम्, **अन्यथा** = स्वस्य स्वनाशकत्वानङ्गीकारे, **चरमज्ञानादौ** = चरमज्ञानेच्छाशब्दादौ नित्यत्वापत्तिवारणाय क्षणिकत्वोपपादनाय च **नाशकान्तरकल्पनागौरवादिति** । अचरमाऽव्यवहितपूर्ववर्तिज्ञाननाशादेः चरमज्ञानादिनाशकत्वकल्पने गौरवादित्यर्थः । **एतेन** 'चरमस्य तूपान्त्यशब्देनोपान्त्यशब्दनाशेन वा नाशः' (का. १६८ दि.पृ. ८०३) इति **दिनकरवचनं** परास्तम् ।

ननु एकाधिकरण्यावच्छिन्नस्वाऽव्यवहितपूर्ववृत्तित्वस्य कारणतावच्छेदकसम्बन्धत्वं यद्वा स्वाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वाऽवच्छिन्नैकाधिकरण्यस्य ? इत्यत्र विनिगमकाभावेनोभयोः तथात्वे गौरवमित्याशङ्कायामाह – **इदन्तु** = अनुपदं वक्ष्यमाणन्तु **ध्येयम्** – **यत् एकाधिकरणवृत्तित्व-स्वपूर्वकालीनत्वोभयसम्बन्धः नाशकतावच्छेदकः** = द्वयोः स्वातन्त्र्येण नाशजनकतावच्छेदकसम्बन्धत्वमिति भावः । **अन्यथा** = स्वातन्त्र्येण तथात्वानभ्युपगम्याऽन्यतरस्य नाशकारणतावच्छेदकसम्बन्धविशेषणविधया निवेशे, तु **देशकालयोः** = स्वसमानाधिकरणनिरूपितवृत्तित्व-स्वाऽव्यवहितपूर्वकालनिरूपितवृत्तित्वयोः **अवच्छेद्यावच्छेदकभावे** = विशेषणविशेष्यभावे **विनिगमनाविरहात्** उभयोः विशिष्टयोः गुरुतरयोः नाशकतावच्छेदकसम्बन्धत्वं प्रसज्येत । तथा च महागौरवापातः कारणतावच्छेदकसम्बन्धभेदे कारणताभेदेन नानाकार्यकारणभावकल्पनापत्तेरिति । न चैवमपि भगवज्ज्ञानेच्छाकृतीनामुक्तरीत्यैव स्वेन नाशापत्तिः, नाशकतावच्छेदककोटौ अन्यत्वनिवेशादित्यादिसूचनार्थं **दिगित्युक्तम्** ।

अत्रेदं मनाग् मीमांस्यते –> चरमशब्द-सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नज्ञानेच्छादिवत् अपेक्षाबुद्धिः स्वयमेव द्वितीयक्षणविशिष्टा सती स्वात्मानं कुतो न विनाशयेत् ? स्वोत्पत्त्यधिकरणक्षणप्रागभावाधिकरणक्षणप्रागभावानधिकरणस्वोत्पत्त्यधिकरणक्षणप्रागभावाधिकरणक्षणवृत्तित्वरूपस्य स्वाऽव्यवहितपूर्ववृत्तित्वस्य निवेशे तु सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नज्ञानेच्छादिविनाशकदुर्भिक्षापत्तेः । न चापेक्षाबुद्धिनाशे द्वित्वनिर्विकल्पकस्य विशेषसामग्रीत्वान्न तृतीयक्षणेऽपेक्षाबुद्धिविनाश इत्यपि चारु, तदा कारणतावच्छेदककोटौ योग्यत्वप्रवेशवैयर्थ्यापत्तेः । एतेन विशेषत्वनिवेशनमपि प्रत्याख्यातम् । यदा तु योग्यत्वविशेषत्वे न कारणतावच्छेदककोटौ प्रविशेताम् तदा सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नज्ञानेच्छादेस्तदात्मनि विभौ यत्र क्वापि प्रदेशे तदुत्तरक्षणमवश्यमेवोत्पद्यमानेनाऽनवरतपरिस्पन्दमानागमिनपरमाणुसन्तानसंयोगसन्तानान्तःपातिना केनचित्संयोगेन नाश उपपद्यत इति ऐकाधिकरण्य-स्वाऽव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वनिवेशनक्लेशोऽपि नावश्यकः । **न चैवं** शब्दादिनेच्छादीनां नाशापत्तिरिति **वाच्यम्,** किमिच्छाद्वितीयक्षणोत्पन्नेन शब्देनेच्छाया नाश आपद्येत आहोस्वित् इच्छोत्पत्तिक्षणोत्पन्नेन ? इति विकल्पयुगलशस्त्रप्रहारजर्जरितत्वात् । आद्ये त्विष्टापत्तिः, अन्त्ये तु इच्छायां तदव्यवहितपूर्ववृत्तित्वाविरहात् न तत्प्रसङ्गः । ततश्च सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नज्ञानेच्छादीनां यत्र कचिदात्मनि पृथिव्यादौ वा

युक्तिसंगत भी है, क्योंकि द्वितीयक्षणविशिष्ट इच्छादि को स्वनाशक न माना जाय तब तो द्वितीयक्षणविशिष्ट चरमज्ञानादि को भी स्वनाशक नहीं माना जा सकेगा । इस परिस्थिति में चरम ज्ञानादि की नित्यत्वापत्ति के परिहारार्थ अन्य नाशक की कल्पना करनी होगी, जो गौरवग्रस्त होने से मान्य नहीं हो सकती है । इस बात पर ध्यान देना चाहिए ।

इदं. । यहाँ दूसरा यह भी ध्यातव्य है कि योग्य विभुविशेषगुण के नाशकतावच्छेदकसम्बन्धविधया जो ऐकाधिकरण्यावच्छिन्नस्वाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्ध का प्रदर्शन किया गया है उसका अर्थ यह है कि ऐकाधिकरण्य = एकाधिकरणवृत्तित्व = स्वसमानाधिकरणत्व और स्वाऽव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्व दोनों स्वतन्त्र नाशकतावच्छेदकसम्बन्ध हैं, न कि एकविशिष्टाऽपर । यदि ऐसा न माना जाय यानी एकविशिष्टाऽपर को नाशकारणतावच्छेदकसम्बन्ध माना जाय तब विशेषणविधया = अवच्छेदकविधया किसका ग्रहण किया जाय और विशेष्यविधया = अवच्छेद्यविधया किसका ग्रहण किया जाय ? इस विषय में कोई विनिगमक नहीं होगा । अर्थात् देश की भाँति काल को भी अवच्छेदककुक्षि में प्रविष्ट किया जा सकता है एवं काल की भाँति देश का भी अवच्छेद्यकोटि में निवेश हो सकता है । ऐकाधिकरण्य यह भाग देशघटित है अर्थात् देश उसका घटक है एवं स्वाव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्व यह अंश कालघटित है यानी काल उसका घटक है । अतः ऐकाधिकरण्यावच्छिन्नस्वाऽव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्व को नाशकतावच्छेदक मानना या स्वाव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वावच्छिन्नसामानाधिकरण्य को ? इस समस्या का कोई समाधान नहीं मिलने से दोनों गुरुभूत सम्बन्धों को नाशकतावच्छेदक मानने होंगे । इसकी अपेक्षा तो मुनासिब यही है कि लघुभूत स्वसामानाधिकरण्य और स्वाव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्व दो सम्बन्ध को स्वातन्त्र्येण योग्यविभुविशेषगुणनाशकतावच्छेदक सम्बन्ध माना जाय । इस विषय

स्याद्वादिनस्तु → नित्यानित्यः शब्दः, केवलनित्यत्वे प्रकृतिप्रत्ययादिविभागेनाऽनु-

❋ जयलता ❋

तदुत्तरक्षणमुत्पन्नेन येन केनाऽपि गुणेन नाशः सम्भवति । एवञ्च प्रतियोगितासम्बन्धेन योग्यविभुविशेषगुणनाशत्वावच्छिन्नं प्रति स्वाव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वसम्बन्धेन गुणत्वेन द्रव्यत्वेन पदार्थत्वेन वा कारणतैत्येव वक्तुमर्हति । न चैवं मूलसिद्धान्तभङ्गेन खेदः कर्तव्यः, सुयुक्तिनिर्णीतेऽर्थे तस्याऽप्रयोजकत्वेन हेयत्वादिति **दिक्** ।

नृसिंहस्तु प्रतियोगितासम्बन्धेन योग्यविभुविशेषगुणनाशं प्रति स्वाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन गुणत्वेन कारणत्वम् । कार्यतावच्छेदकं तु यावन्तो योग्यविभुविशेषगुणध्वंसास्तावदन्यतमत्वं स्वाश्रयप्रतियोगिकत्व-कालिकविशेषणत्वैतदुभयसम्बन्धेन बुद्धित्व-सुखत्व-दुःखत्वेच्छात्व-द्वेषत्व-यत्नत्व-शब्दत्वैतदन्यतमत्वावच्छिन्नं वा बोध्यम् । अतो नाननुगमः । वस्तुतः कार्यतावच्छेदकाननुगमेऽपि न क्षतिरिति तत्त्वम् । प्रतियोगितासम्बन्धेनाऽपेक्षाबुद्धिनाशं प्रति स्वप्रागभावाधिकरणक्षणप्रागभावानधिकरणक्षणवृत्तित्व-स्वसमानकालीनत्वोभयसम्बन्धेन गुणत्वेन कारणत्वमिति समानाधिकरणगुणसाधारण्येन नाश्यनाशकभावादित्या**चष्टे** ।

एकस्मिन् क्षणे नानाविशेषगुणव्यक्तीनां नाशेन तद्व्यक्तिनाशं प्रति तत्तद्व्यक्तित्वेन कारणत्वकल्पनं बहुतरादिकार्य-कारणभावाधिक्यसम्पादकमतो लाघवेन एतत्क्षणोत्पन्नयोग्यविभुविशेषगुणत्वेन नाश्यता एतत्क्षणोत्तरक्षणवृत्तित्वविशिष्ट-योग्यविभु-विशेषगुणत्वेन नाशकता, अपेक्षाबुद्धिनाशे तु द्वित्वप्रत्यक्षं विशेषसामग्री चरमज्ञानादिकं तूत्तरक्षणवृत्तित्वविशिष्टं स्वमेव नाशकं एतत्क्षणोत्पन्नसकलविशेषगुणसाधारणश्चेदमित्येके ।

स्वत्वस्य तत्तद्व्यक्तिपर्यवसिततया तत्तद्गुणस्य तत्तद्गुणो नाशकोऽपेक्षाबुद्धेस्तु द्वित्वप्रत्यक्षमित्यन्ये ।

पद्माभिरामस्तु 'प्रतियोगितासम्बन्धेनाऽपेक्षाबुद्ध्यन्ययोग्यविशेषगुणनाशत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेनाऽपेक्षाबुद्ध्यन्ययोग्य-विभुविशेषगुणत्वेन कारणतान्तरं स्वीकृत्य स्वाव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वसम्बन्धेन गुणस्य तादात्म्यसम्बन्धेनाऽपेक्षाबुद्ध्यन्ययोग्य-विभुविशेषगुणस्य च परस्परसहकारित्वस्वीकार' (का.२७ मं.पृ. २०१) **इत्याह** ।

वस्तुतस्तूत्तरवर्तिनां योग्यविशेषगुणानां नाशकत्वमेव न सम्भवति, कारणस्य कार्याऽव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वात् । तर्हि योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिविशेषगुणनाश्यत्वं इत्यस्य कोऽर्थः ? इति चेत् ? एकयोग्यविशेषगुणोत्पादक्षणे तद्वति आत्मनि योग्यविशेषगुणान्तरानुत्पादनियम इत्यर्थ इति तु **सामान्यलक्षणाव्याख्यायां गदाधरः** । इत्थञ्च -

नित्यनिरंशव्यापकरूपो यः पर्यकल्पि किल शब्दः ।
अर्दति स न घटाकोटिं तद्विपरीतस्ततोऽस्तु बुधाः ॥१॥ इति नैयायिकाः ।
इत्थं मिथ्यामतिभिरपरैस्तरस्कैर्लुप्यमाने त्रैलोक्यार्थप्रकटनपटावत्र सर्वज्ञतत्त्वे ।
तेषां सम्प्रत्यमलमतयो निग्रहार्थं यतन्ते स्याद्वादज्ञाः स्फुरितनिशितन्यायशस्त्रप्रहारैः ॥२॥

तदेवाह - **स्याद्वादिनस्तु नित्यानित्यः** = नित्यत्वसम्भिन्नानित्यत्वाश्रयः **शब्दः** । कुतः ? **केवलनित्यत्वे** = अनित्यत्वव्यधिकरणनित्यत्वे, **प्रकृतिप्रत्ययादिविभागेन अनुशासनादिना** = शब्दानुशासनकोशाप्तवचनव्यवहारादिना, साधना-

में बहुत कुछ विचार हो सकता है । यह तो एक दिग्दर्शन है - इसकी सूचना देने के लिए दिग् शब्द का प्रयोग किया गया है । यह नैयायिकों की मान्यता है ।

इस तरह शब्द में एकान्तनित्यत्व का साधक मीमांसकों का प्रतिपादन क्या है तथा नैयायिकों का एकान्तक्षणिकत्व = निरन्वयनाश का समर्थक वक्तव्य क्या है ? इसका निरूपण प्रकरणकार श्रीमद्जी ने बड़े ठाट से किया है । अब प्रकरणकार उपर्युक्त दोनों मत की समालोचना करने के लिए शब्द के सम्बन्धी स्याद्वादियों के मन्तव्य का प्रदर्शन कर रहे हैं । अब सुनिये स्याद्वादी को ।

❋ शब्द नित्यानित्य है - स्याद्वादी ❋

स्या. । शब्द न तो केवल नित्य है और न तो केवल अनित्य है, किन्तु नित्यानित्य है । इसका कारण यह है कि शब्द को केवल नित्य मानने पर शब्द की प्रकृति, प्रत्यय आदि विभागपूर्वक अनुशासन = शब्दानुशासन = व्याकरण आदि द्वारा साधनिका अनुपपन्न बन जायगी । आशय यह है कि शब्द सर्वथा नित्य होगा तब तो शब्द में विकार ही न हो सकेगा, क्योंकि विकृति नित्यप्रकृति नहीं है । ईस परिस्थिति में इकार का यकार और यकार का इकार आदि नहीं

शासनादिना साधनानुपपत्तेः, केवलानित्यत्वेऽपि क्षणिके तत्र प्रकृतिप्रत्ययादिनोपस्कारा-धानासम्भवात् । अत एवोक्तं स्तुतिकृतैव 'सिद्धिः स्याद्वादात्' (सि.हे. १/१/२) इति ।

❀ जयलता ❀

नुपपत्तेः । 'व्यध्' इतिप्रकृतेः यकप्रत्यय-समभिव्याहारे यकारस्थाने इकारो विधीयते विध्यतीति । एवं 'दधिअत्र' इत्यादौ 'इको यणचि' (पा. सू. ६/१/७७) इति **पाणिनिसूत्रेण** 'दध्यत्र' इति भवति । तद्यदि स्यात् प्रकृतिविकारभावो वर्णानां, तस्य प्रकृतिनियमः स्यात् । दृष्टो विकारधर्मित्वे प्रकृतिनियमः । वर्णस्य नित्यत्वपक्षे इकार-यकारौ वर्णौ इत्युभयोर्नित्यत्वाद् विकारानुपपत्तिः । सर्वथानित्यत्वेऽविनाशित्वात् कः कस्य विकार इति ? ततश्च यकारादिरूपेण विक्रियमाणत्वादिकारादेरनित्यत्वमप्यनपायमेव । तदुक्तं **न्यायभाष्ये**-नित्यं नोपजायते नापैति । अनुपजनापायधर्मकं नित्यम्, अनित्यं पुनरुपजनापाययुक्तम् । न चान्तरेणोपजनापायौ विकारः सम्भवति । तद्यदि वर्णा विक्रियन्ते नित्यत्वमेषां निवर्तते' (न्या. सू. २/२/५१भा.) इति । **स्याद्वादरत्नाकरे**ऽपि 'एकान्तनित्यत्वादौ पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्थितिलक्षणपरिणामाभावे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादवस्तुत्वासम्भवादिति नैकान्तनित्यः शब्दः' (प्र.न.त. ४/१० - स्या. र. पृ. ६९१) ।

तर्हास्तु विकारित्वात्केवलमनित्यत्वमेव शब्दे इत्याशङ्कायामाह - **केवलानित्यत्वेऽपि क्षणिके तत्र** = शब्दे **प्रकृतिप्रत्ययादिना उपस्काराधानाऽसम्भवात्** = विद्यमानत्वे सति संस्कारान्तरप्राप्तिः नाम उपस्काराधानं, तस्याऽशक्यत्वात्, उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशित्वात्कुत्र संस्कारोत्पादः । अतो न केवलं नित्यत्वं नापि केवलमनित्यत्वम् शब्दस्य तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वे चतुर्थक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वे वा 'दधि अत्र' इत्युक्त्वा चिरं स्थित्वा 'दध्यत्र' इत्येवं नैव स्यात्, तदानीं पूर्वोच्चरितशब्दविनाशात्, शब्दान्तरे तत्कल्पने गौरवादिति नित्यत्वसम्भिन्नानित्यत्वसिद्धिः । **अत एव** = शब्दस्य नित्यानित्यत्वादेव, **उक्तं शब्दानुशासने स्तुतिकृता** = वीतरागस्तोत्रादिस्तुतिकारेण मूलकारेण **श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरेण 'सिद्धिः स्याद्वादात्'** । व्याख्यातञ्च **बृहद्वृत्तौ** तत्र 'स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकं ततः स्याद्वादोऽनेकान्तवादः नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत् । ततः सिद्धिः निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा प्रकृतानां शब्दानां वेदितव्या । एकस्यैव हि ह्रस्वदीर्घादिविधयोऽनेककारकसन्निपातः सामानाधिकरण्यं विशेषणविशेष्यभावादयश्च स्याद्वादमन्तरेण नोपपद्यन्ते । सर्वपार्षदत्वाच्च शब्दानुशासनस्य सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणमतिरमणीयम्' (सि.हे. १/१/२ बृ.वृ.) । तदुक्तं **लघुन्यासे**ऽपि 'यस्यैव वर्णस्य ह्रस्वत्वं विधीयते तस्यैव दीर्घत्वादि । तस्य च सर्वात्मना नित्यत्वे पूर्वधर्मनिवृत्तिपूर्वकस्य ह्रस्वादिविधेरसम्भवः । एवमनित्यत्वेऽपि जन्मानन्तरमेव विनाशात् कस्य ह्रस्वत्वादिविधिरिति वर्णरूपसामान्यात्मना नित्यो ह्रस्वत्वादिधर्मात्मना त्वनित्य इति स्याद्वादः (सि.हे. १/१/२ ल.न्या.) इति ।

यदपि मीमांसकैः तारत्वादीनां ध्वनिधर्मत्वमुक्तं तदपि न मनोरमम्, तत्प्रत्यक्षानुपपत्तेः, स्पर्शाद्यनन्तर्भावेन त्वगादीनामशब्दधर्मत्वेन च श्रोत्रस्य तत्राऽव्यापारात् । तदुक्तं **स्याद्वादरत्नाकरे** - 'तार-तारत्वादयो न वायुधर्माः श्रावणत्वात्, कादिवत्' (प्र.न.त. ४/१०/६९१) इत्यादि । 'सन्तु तर्हि ध्वनयो नाभसा' इति **चेत् ?** न, तथापि व्यक्तियोग्यतान्तर्भूतत्वाज्जातियोग्यतायाः 'तारोऽयं' इत्यादौ ध्वन्यस्फुरणे तद्गततारत्वाद्यस्फुरणप्रसङ्गाच्च । न चैवं कत्वादिकमपि वायुगतमेवारोप्येतेति शब्दैक्यं स्यात्,

हो सकेगा । मगर 'दधि + अत्र = दध्यत्र' यहाँ इकार का यकारात्मक विकार होता है । इस तरह व्यध् प्रकृति = शुद्ध धातु का प्रत्यय के सान्निध्य में 'विध्यति' ऐसा रूप बनता है, जिससे यकार का इकारात्मक विकार ज्ञात होता है । यह व्याकरण = शब्दानुशासन से अनुशासित = नियन्त्रित है । एकान्तनित्यत्वपक्ष में तो शब्द में तनिक भी परिवर्तन नहीं हो सकता है । अतः उसकी अन्यथा अनुपपत्ति के बल से शब्द को एकान्त नित्य नहीं माना जा सकता । इस तरह शब्द केवल अनित्य भी नहीं है, क्योंकि क्षणिक पदार्थ अनेकक्षणपर्यन्त स्थायी नहीं होने से उसमें संस्कारोत्पादन नामुमकिन है । जो चिरकालस्थायी होता है उसमें अन्य का सन्निधान होने पर परिवर्तन होना मुमकिन है । मगर शब्दक्षणिकवादी नैयायिक के मत में शब्द प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में रहता है और तृतीय क्षण में नष्ट होता है । तब तो 'दधि + अत्र' ऐसा बोल कर थोड़ी देर तक ठहरने के बाद 'दध्यत्र' ऐसा नहीं हो सकेगा, क्योंकि तब तो पूर्वोच्चरित शब्द विनष्ट हो चुके हैं । इसलिए शब्द को केवल क्षणिक भी नहीं माना जा सकता । इस तरह सर्वथा नित्यत्व और सर्वथा अनित्यत्व पक्ष से व्यावृत्त हो कर शब्द नित्यानित्य यानी नित्यत्वसंभिन्नअनित्यत्ववाला है-यह सिद्ध होता है । इसीलिये तो स्तुतिकार मूलकार श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा ने सिद्धहेम शब्दानुशासन में कहा है कि 'सिद्धिः स्याद्वादात्' यानी शब्दों की निष्पत्ति या ज्ञप्ति स्याद्वाद = अनेकान्तवाद के आश्रयण से ही हो सकती है । नित्यत्व, अनित्यत्व आदि विरुद्धत्वेन प्रतीयमान धर्मों का एकत्र समावेश एकान्तवाद में तो कैसे हो सकता ? इसलिए शब्द को नित्यानित्य मानना न्याय्य है ।

इदन्तु ध्येयम् —> घटत्वादिना घटादिरिव शब्दत्वेन शब्दोऽनित्य एव, द्रव्यत्वेन तु नित्य इति । अत एव कादाचित्कत्वलक्षणपर्यायलक्षणेनोत्खाततत्वात् शब्दः पर्याय इत्यप्यविरुद्धम् ।

❀ जयलता ❀

कादेरपि वा वायुधर्मत्वं स्यात् । तथा च तद्गतस्पर्शादिवत् त्वचा ग्रहणप्रसङ्गः श्रोत्राऽग्राह्यत्वापत्तिश्चेति पूर्वमुक्तमेव । अवयविगुणत्वेऽनित्यत्वप्रसङ्गः, परमाणुधर्मत्वे चाऽग्रहणप्रसङ्गः ।

किञ्च शब्दस्य नित्यत्वे सर्वदा सर्वेषामुपलब्धिप्रसङ्गः, विजातीयवायुसंयोगादीनां व्यञ्जकत्वे च नित्यसर्वगत-ककारादिवर्णस्य श्रोत्रस्य उभयस्य वाऽऽवारकाणां वायूनामपनयनात् क्रमेण वर्ण-श्रोत्र-तदुभयसंस्कारपक्षस्याऽन्यत्र विस्तरतो निरास इति न तत्र श्रमो विधीयते ।

वस्तुतः कत्वादेरेव विजातीयवायुसंयोगकार्यतावच्छेदकत्वम्, अन्यथा कोलाहलप्रत्यक्षानुपपत्तेः, तत्र कार्यविषयकत्वे च तारतम्यानुपपत्तेः । ध्वनिगततारतम्यस्य शब्दे आरोपस्तु न सङ्गतः, तस्याऽश्रावणत्वात्, विलक्षणतारतम्यानुभवाच्च । कत्वादिशब्दत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षे पृथग्हेतुत्वे तु गौरवम् । **न च** कत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षे दोषाभावहेतुत्वमपेक्ष्य विजातीयवायुसंयोगहेतुत्वमिति **वाच्यम्,** तत्र कोलाहलादावपि बहु-बहुविधादिमतिज्ञानक्षयोपशमबलतः कत्वादि-शुकीयत्वादिप्रत्यक्षोदयात् तत्र दोषाभावहेतुत्वावश्यकत्वात् । न च कोलाहलस्थितौ कत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षे गुणविशेषस्यैव हेतुत्वम्, तथापि विजातीयवायुसंयोगानां विशिष्य हेतुत्वे गौरवानपायात्, गुणविशेषस्य क्षयोपशमविशेषद्वारकत्वेन 'यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः स तत्सामान्ययोरपि' इति न्यायात् सामान्यत एव क्षयोपशमस्य हेतुत्वाच्च । **एतेन** स्वाश्रयविषयितया कत्वादेस्तत्कार्यतावच्छेदकं **प्रत्युक्तम्,** कादेः स्वगतधर्मानुविधायित्वेन साक्षादेव कत्वादेस्तथात्वौचित्यात् । तस्मात् 'उत्पन्नः ककारो विनष्टः ककार' इत्यादिककारादिविशेष्यकोत्पत्त्यादिप्रकारकत्वेनानुभूयमानप्रतीतेः अननुभूयमानतात्वादिसंयोगादौ उत्पत्त्याद्यवगाहित्वस्वीकारस्याऽप्रामाणिकतया वर्णानामनित्यत्वमावश्यकमेव । **एतेन** व्यञ्जकध्वन्याद्यभ्युपगमादिकल्पनाऽपि **परास्ता,** वर्णव्यञ्जकतयाऽतिरिक्तध्वनिं परिकल्प्य तस्य श्रोत्रग्राह्यत्वानित्यत्वकल्पनापेक्षया प्रतीतिबलेन कादीनामेव तथात्वकल्पनौचित्यात् । 'श्रावणसमवाये'त्यादिकमप्ययुक्तमुक्तम्, तदीयश्रावणसमवाये श्रावणत्वस्योपलक्षणत्वेऽतिप्रसङ्गात्, विशेषणत्वे तु प्रथमं केवलशब्दप्रत्यक्षस्वीकारेऽपसिद्धान्तापाताच्चेति । वर्णस्फोटादिकल्पनानिरासस्त्वन्यतोऽवगन्तव्यः ।

मीमांसक ! समुत्तिष्ठ व्रज सद्म स्वे यतः । आशास्ते निष्फलीभूताः सर्वाः स्याद्वादसद्मनि ॥१॥

शब्दनाशस्थले सर्वेषां नैयायिकानामैकमत्यमेव नास्ति, सुन्दोपसुन्दन्यायेन ते परस्परमेव विवदन्तो विनष्टा इति निरूपितमेव, लेशतः तन्निरासोऽपि प्रदर्शित एव तत्र तत्र, अन्यत्र तत्कृतं प्रत्याख्यातमेव चेति न तत्राधिकः प्रयासः । इत्थञ्च परमतनिराकरणपूर्वं शब्दस्य नित्यानित्यत्वमव्याहतमेव ।

नन्वेवं सति सङ्कर-व्यतिकर-संशयादिदोषनिपातो दुर्वार एवेत्याशङ्कायामाह - **इदन्तु ध्येयमिति । घटत्वादिनेति ।** यथा घटत्वादिना घटादिरनित्य एव द्रव्यत्वेन च नित्य एव तथा शब्दत्व-कत्वादिना **शब्दोऽनित्य एव द्रव्यत्वेन तु नित्य एव ।** न चैवमेकान्तवादप्रसङ्ग इति **वाच्यम्,** अनेकान्तवादस्य सम्यगेकान्ताविनाभावित्वादित्यस्योक्तत्वात् । न च विरोधः; द्रव्यत्वेनान्यथासिद्धेऽपि दण्डत्वेनानन्यथासिद्धत्ववद् द्रव्यत्वेन ध्वंसाप्रतियोगिन्यपि शब्दादौ शब्दत्वादिना ध्वंसप्रतियोगित्वाविरोधादित्युक्तो नयत्वात् । शब्दत्वेनावलिकाया असङ्ख्येयभागपर्यन्तोऽनवस्थानात्तेन रूपेण ध्वंसप्रतियोगित्वं युक्तमेव । भाषावर्गणात्वेनाऽपि उत्कर्षतोऽसङ्ख्येयकालानन्तरमनवस्थानाद् द्रव्यत्वेन ध्वंसप्रतियोगित्वाभाव इत्युक्तम् । उपलक्षणात् पुद्गलत्वाऽजीवत्वादिग्रहणम्, तेषां शब्दनिष्ठध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकत्वात् । **अत एव** = शब्दत्वेन शब्दस्य उत्पत्तिप्रतियोगिकत्वे सति ध्वंसप्रतियोगित्वादेव.

यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जैसे घट घटत्वादि धर्म की अपेक्षा अनित्य ही है और द्रव्यत्व धर्म की अपेक्षा नित्य ही है ठीक वैसे ही शब्द भी शब्दत्व, कत्व आदि धर्म की अपेक्षा अनित्य ही है और द्रव्यत्व धर्म की अपेक्षा नित्य ही है । इसीलिए —> 'कादाचित्कत्व तो पर्याय का लक्षण है । शब्द भी कभी = कदाचित् होता है, कदाचित् = कभी नहीं होता है । अतः कादाचित्क है । अतः शब्द द्रव्य का पर्याय है' <— यह पूर्व जैनाचार्यों का कथन भी अविरोधी है; क्योंकि पुद्गल द्रव्य में शब्दत्व धर्म की अपेक्षा अनित्यत्व यानी कादाचित्कत्व ही है - यह हम मान्य करते हैं । 'शब्दात्मना शब्द नष्ट हुआ' यह प्रतीति भी सार्वजनीन ही है । इसलिए शब्द को पर्याय कहना भी उचित ही है । घट भी मिट्टी का पर्याय होते हुए घटात्मना अनित्य और द्रव्यात्मना नित्य होता है ठीक वैसे शब्द भाषावर्गणापर्याय होते हुए शब्दात्मना अनित्य और द्रव्यात्मना नित्य है - ऐसा मानने में कुछ भी विरोध नहीं है ।

मनसोऽपि चानतिरेके न किञ्चिदनिष्टं नः, पृथिव्यादेः पुद्गलत्वेनैकधैव विभजनात् ।

❀ जयलता ❀

अविरुद्धमित्यनेनास्यान्वयः । **कादाचित्कत्वलक्षणपर्यायलक्षणेन उत्पन्नत्वात्** = निष्टङ्कितत्वात्, अपेतत्वादिति यावत् । **शब्दः पर्यायः** = द्रव्यपरिणामः । अभूत्वा भवनं भूत्वा स्थित्वा च्यवनमित्येव कादाचित्कत्वमुच्यते । तच्च पर्यायलक्षणं घटादौ पर्याये प्रसिद्धम् । कुलालादिव्यापारात् प्राक् घटत्वादिनाऽभूत्वा पश्चाद् घटत्वेन भवन् किञ्चित्कालं स्थित्वा घटत्वादिना विध्वंसते च । तद्वदेव कण्ठताल्वादिव्यापारात्प्राक् शब्दत्वेनाऽभूत्वा पश्चाच्छब्दत्वेन भवन् उत्कर्षत आवलिकाया असङ्ख्येयभागप्रमितकालं स्थित्वा शब्दत्वेन रूपेण विलीयते चेति घटादिः यथा मूलपर्यायः तथा शब्दोऽपि पुद्गलद्रव्यपर्यायः । परं सर्वथा न पर्यायः, द्रव्यात्मताया अपि तत्र स्वीकारात् । अतो द्रव्यत्वेन ध्रौव्यमप्यविरुद्धमिति भावः । **एतेन** 'नापि सर्वथा द्रव्यं, पर्यायात्मनाऽप्यङ्गीकारात् । स हि पुद्गलस्य पर्यायः क्रमशः तत्रोद्भवात्' (प्र.न.त. ४/१० स्या.र.पृ. ६११) इति **वादिदेवसूरिवचनमपि व्याख्यातम्** । **एतावता** प्रबन्धेन आकाशोऽपि नातिरिच्यते, निमित्तकारणस्यैव शब्दसमवायिकारणत्वात्' (दृश्यतां '७०१तमे पृष्ठे) इति यत्पूर्वं नास्तिकेनोक्तं **तन्निरस्तम्** ।

यत्तु पूर्वं चार्वाकेन 'मनोऽपि चाऽसमवेतं भूतम् । न च पृथिवीत्वादौ विनिगमकाभावादतिरेको युक्तः, पार्थिवादित्वेऽपि तत्तदात्माऽऽकृष्टत्वेन विशेषसम्भवादिति' (दृश्यतां ६४७ तमे पृष्ठे) इत्युक्तं तन्मनसिकृत्य सिंहावलोकनन्यायेनाह - **मनसोऽपि चानतिरेके** किमुत दिगादेरित्यपिशब्दार्थः, **न किञ्चिदनिष्टं नः** = अस्माकं स्याद्वादिनाम् । कुतः ? **पृथिव्यादेः पुद्गलत्वेनैकधैव** न त्वनेकधा **विभजनात्** = विभागकरणात् । द्रव्याणामनन्तत्वेऽपि पृथिवी-जल-तेजो-वायु-मनोद्रव्याणां अनुगतेन पुद्गलत्वेन सङ्ग्रहसम्भवात् पुद्गलत्वस्यैव तद्विभाजकोपाधित्वमिति न मनसो पुद्गलद्रव्यातिरिक्तद्रव्यत्वमस्मन्मते सम्भवतीति मनसः स्वरूप-द्रव्यातिरेकप्रतिक्षेपोऽस्मदभिमत एवेति न तन्निरासे कश्चित्प्रयत्नोऽस्माभिर्विधेयः चार्वाकं प्रति । किन्तु यत्पूर्वं चार्वाकैः मनसोऽसमवेतभूतत्वादिकं प्रतिपादितं तत्र वदन्ति —> तस्य भौतिकत्वे पृथिवीत्वं जलत्वादिकं वेत्यत्राऽविनिगमात् पृथिवीत्वादिराहित्य-सिद्धेः । **न चान्यतमत्वेन** निर्णयादुक्तविनिगमकचिन्तानौचित्यमिति **वाच्यम्**, तथापि ज्ञानादिजनकात्मप्रतियोगिकविजातीयसंयोगं प्रति मनस्त्वेन विजातीयेन हेतुत्वात्तस्य पृथिव्याद्यतिरिक्तत्वसिद्धेः । **न च** सुषुप्तिकाले ज्ञानोत्पादः कालविशेषस्य विरोधित्वादेव न तु विजातीयमनःसंयोगविरहादिति **वाच्यम्**, अनन्तकालविशेषाणां तत्तत्पुरुषीयानन्तज्ञानविरोधित्वकल्पनामपेक्ष्य जन्यज्ञानमात्रे विजातीयात्ममनोयोगहेतुत्वकल्पनाया एव युक्तत्वात्, अतिरिक्तकालोपगमे नास्तिकानामपसिद्धान्तापाताच्च । **एतेन** पार्थिवादित्वेऽपि तत्तदात्माकृष्टत्वेन विशेषसम्भवादित्यपि **प्रत्युक्तम्**, ज्ञानजनकतावच्छेदककोटौ तत्तन्निवेशे महागौरवात् । अस्माकं मते तु दीर्घकालिकसंज्ञाभिधानव्यक्तज्ञानजनकत्वेनैव गर्भजपञ्चेन्द्रियाणामेव गृहीतमनोवर्गणास्कन्धात्मकं पौद्गलिकं मनः सिध्यति । **न चोत्कृष्टज्ञानजनकतावच्छेदिका** शरीरनिष्ठैव जातिः कल्प्यत इति नेत्थं स्वतन्त्रमनःसिद्धिरिति **वाच्यम्**, शरीरोत्कर्षापकर्षाभ्यां ज्ञानोत्कर्षापकर्षादर्शनात् तन्नियामकत्वेन मनोविशेषस्यैव पृथिव्यप्तेजोवाय्वत्यतिरिक्तस्य पौद्गलिकस्य सिद्धिरित्यधिकं तु **मनः-प्रकरणादवसेयम्** ।

❀ सर्वथा अतिरिक्त मन असिद्ध - स्याद्वादी ❀

मनसो. । पहले नास्तिकों ने जो कहा था कि-मन भी दिशा आदि की भाँति अतिरिक्त नहीं है (पृ.६४७) वह **वक्तव्य तो हमारे प्रति तनिक भी प्रतिकूल नहीं है, क्योंकि पृथिवी**, जल आदि पदार्थ का हम स्याद्वादी पुद्गलत्व धर्म की अपेक्षा विभाग करते हैं । पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन ये सब पुद्गल ही हैं । अतः पुद्गलत्व धर्म की अपेक्षा उन सब का एक ही विभाग में समावेश होना न्याय्य है । यहाँ यह शंका हो कि —> 'यदि पृथ्वी, जल, तेज आदि का एक ही विभाग में समावेश किया जाय तब तो पृथ्वी और जल में परस्पर भेद ही नहीं हो सकेगा । जैसे एक ही विभाग में समाविष्ट होने से चैत्र, मैत्र, देवदत्त आदि में भेद यानी आत्मत्व की अपेक्षा वैजात्य नहीं होता है ठीक वैसे ही एकविभाग में प्रविष्ट होने की वजह पृथ्वी, जल आदि में भी भेद नहीं हो सकेगा' <— तो इसका समाधान यह है कि एक विभाग में प्रविष्ट होने से भेद का विलय हो जाय - यह कोई नियम = व्याप्ति नहीं है । अन्यथा घट, पट आदि भी पृथ्वी होने से या द्रव्य होने से एक ही विभाग में समाविष्ट होने से परस्पर भिन्न नहीं हो सकेंगे । मगर उनमें भी भेद तो सिद्ध ही है । अतः एकविभागाश्रित होने पर भी घट, पट की भाँति पृथ्वी, जल में भी भेद हो सकता ही है । यहाँ इस शंका का कि —> 'पृथिवी, जल आदि द्रव्य का पुद्गलत्वेन एक ही विभाग में समावेश करने पर पृथिवी का इतर द्रव्य

'एवं सति पृथिवी-जलयोर्भेदो न स्यादि'ति चेत् ? घटपटयोरिव किं न स्यात् ? द्रव्यतोऽयं न स्यादिति चेत् ? स्यादभिमतमेवेदं युक्तिसिद्धत्वात् । तथाहि - पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वादित्यत्र सर्वदा गन्धवत्त्वं भागाऽसिद्धम्, कदाचिद्गन्धवत्त्वं तु जलादौ व्यभिचारीति ।

❀ जयलता ❀

लब्धावसरो नैयायिकः प्रत्यवतिष्ठते - **एवं सति** = पृथिवी-जलानलानिलादीनां पुद्गलत्वेनैकधा विभजने सति, **पृथिवी-जलयोः भेदो न स्यात्** एकविभाजकोपाध्याक्रान्तत्वात् । यद्यपि चैत्र-मैत्रादीनामात्मत्वेनैकधैव विभजनेऽपि चैत्रत्वादिना भेदोऽस्त्येव तथापि भेदपदमत्र वैजात्यपरमिति न दोषः । न हि चैत्र-मैत्रादीनामात्मत्वेन वैजात्यमनुभूयते । तथैव पृथिवी-जलयोरेकविभाजकोपाध्याश्रितत्वे पृथिवीत्वादिना वैजात्यं नैव स्यादिति आक्षेपग्रन्थाभिप्रायः ।

स्याद्वादी प्रतिबन्द्या समाधत्ते - **घट-पटयोरिव किं न स्यात् ?** इति । यथा पृथिवीत्वेन घट-पटयोरेकधैव विभजनेऽपि घटत्वादिना वैजात्यं समस्त्येव तथैव पुद्गलत्वेन पृथिवी-जलयोरेकधैव विभजनेऽपि पृथिवीत्वादिना वैजात्यं स्यादेवेति न कश्चिद् विरोधः ।

नैयायिक आक्षिपति **द्रव्यतः अयं** = भेदः **न स्यात्** । पुद्गलत्वेनैकधैव विभजने पृथिव्यादीनामितरद्रव्यतो = जलादि-द्रव्यतः भेदो = वैजात्यं न स्यात् । यथा चैत्रमैत्रदेवदत्तादीनामात्मत्वेनैकधैव विभागे चैत्रादीनां मैत्रादितो वैजात्यं नास्ति तद्वदेवेति नैयायिकाभिप्रायः ।

स्याद्वादी इष्टापत्त्या समाधत्ते - **स्यादभिमतं** = कथञ्चिदिष्टं **एव इदं** = पृथिव्यादीनां जलादिद्रव्यतः वैजात्याभावापादनं, **युक्तिसिद्धत्वात्** = प्रामाणिकत्वात् । 'नहि पृथिवी स्वेतरभिन्ना गन्धवत्त्वादित्यनुमानादेः का कथा ?' इत्याशङ्कामपाकर्तुं स्याद्वादी आह - **तथाहीति** । **'पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वादि'**त्यत्र अनुमाने पक्षतावच्छेदकावच्छिन्ने किं सर्वदा गन्ध-वत्त्वमभिमतं कदाचिद्वा ? इति विकल्पयुगली समुपतिष्ठते । प्रथमं आह - **सर्वदा** = उत्पत्तिक्षणतः प्रारभ्य विनाशक्षणपर्यन्तं **गन्धवत्त्वं** हेतुत्वेनाभिमतं तदा तत् **भागासिद्धम्** = पक्षैकदेशासिद्धम्, उत्पत्तीतरक्षणावच्छेदेन पृथिव्यां गन्धवत्त्वस्य सत्त्वेऽपि उत्पत्तिक्षणावच्छेदेनाऽसत्त्वात् । द्वितीयं आह - **कदाचित्** = उत्पत्ति-स्थिति-प्रच्युतिक्षणान्यतमक्षणावच्छेदेन पृथिव्यां **गन्ध-वत्त्वं तु जलादौ व्यभिचारीति** । यदाकदाचिद्गन्धवत्त्वस्य कस्तूरिकाकुङ्कुमादिवासितजलादौ सत्त्वेऽपि पृथिवीतरभेदस्य विरहात् ।

= जलादिद्रव्य से भेद नहीं हो सकेगा, क्योंकि वे सब एकविभागान्तःपतित है' <— समाधान यह है कि यह स्यादभिमत = कथंचित् इष्ट ही है, क्योंकि पृथ्वी में जलादि द्रव्य से कथंचित् अभेद = आपेक्षिक अभेद स्याद्वादी ने मान्य किया है। यहाँ यह प्रश्न नहीं करना चाहिए कि —> 'यदि पृथ्वी जलादि से कथंचित् अभिन्न है, तब तो 'पृथ्वी स्वेतरभिन्ना गन्धवत्त्वात्' इस व्यतिरेकी अनुमान का, जो पृथ्वी में इतरभेद = जलादिभेद का साधक है, क्या होगा ?' <— इसका कारण यह है कि पृथ्वीपक्षक स्वेतरभेदसाधक उपर्युक्त अनुमान में जो गन्धवत्त्व हेतु बताया है उसका यदि सर्वदा पक्ष में विद्यमान होना अभिमत हो तब तो हेतु भागासिद्ध बन जायेगा । जो हेतु पक्ष के एक देश में रहता हो और पक्ष के एक देश में उसका अभाव भी रहता हो वह हेतु भागासिद्ध कहा जाता है । प्रस्तुत में पक्ष है उत्पत्तिक्षणविशिष्ट पृथ्वी से लेकर विनाशक्षण तक की पृथ्वी । उसका एक भाग है उत्पत्तिक्षणविशिष्ट पृथ्वी । उसमें गन्ध नहीं रहती है, क्योंकि उत्पत्तिक्षणावच्छेदेन द्रव्य निर्गुण = गुणशून्य होता है - यह प्रश्नकार प्रतिवादी नैयायिक की मान्यता है । पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न में हेतु न रहने पर पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्य का अनुमान निवक्षित हेतु से नहीं हो सकता है । यदि कदाचित् गन्धवत्त्व हेतु हो तो वह रह जायगा मगर वह इतरभेद = जलादिभेद का साधक नहीं हो सकेगा, क्योंकि वैसे तो कभी कभी जलादि द्रव्य में भी गन्ध होने पर भी साध्य = जलादिभेद नहीं रहने की वजह विवक्षित हेतु व्यभिचारी बनता है । साध्य को छोड कर रहनेवाला हेतु साध्य का अनुमापक नहीं हो सकता है । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> ''गन्धसमवायिकारणतावच्छेदक तो पृथ्वीत्व ही है, न कि जलत्वादि भी । जलादि में तो पृथ्वीत्व नहीं है । अतः जलादि कैसे गन्धारम्भक हो सकते हैं ? हाँ, औपाधिक = अन्यगत = पृथ्वीसमवेत गन्ध की जल में प्रतीति मानी जाय तो बात अलग है'' <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो पूर्वकाल में सर्वथा गन्ध से शून्य है, उससे तो कालान्तर में भी गन्ध का आरम्भ हो सकता नहीं है । पश्चात् काल में जलादि में गन्ध की उपलब्धि होती है, उसे औपाधिक मानने में गौरव है । अतः उसे स्वाभाविक = अनौपाधिक = जलादिगत गन्ध की प्रतीति मानना उचित है । अतः मानना होगा कि पहले जलादि में अनुद्भूत गन्ध

न च जलादेर्न गन्धारम्भकत्वं, पृथिवीत्वेनैव तद्धेतुत्वादिति वाच्यम्, गन्धवतैव कदाचिददृष्टविशेषादिसहकारेणोद्भूतगन्धारम्भात् ।

इत्थञ्च द्रव्याणि धर्माधर्माकाशजीवसमयपुद्गला इति विभागवाक्ये न कश्चिद् दोषः ।

❀ जयलता ❀

न च जलादेः न गन्धारम्भकत्वं = गन्धसमवायिकारणत्वं, **पृथिवीत्वेनैव तद्धेतुत्वात्** = गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकत्वस्वीकारात्, अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्नस्याकस्मिकत्वापत्तेः इति **वाच्यम्, गन्धवतैव** = अनुद्भूतगन्धाश्रयेणैव जलादिद्रव्येण, **कदाचित्** = कालविशेषे **अदृष्टविशेषादिसहकारेण** = अदृष्टविशेष-कालविशेष-देशविशेष-द्रव्यविशेषादिसाचिव्येन, **उद्भूतगन्धारम्भात्** यथा अतितप्ततैलादौ अदृश्यदहनसन्ततेः दृश्यदहनोत्पत्तिः । तत्र तैदन्तःपातिभिः दृश्यदहनावयवैः स्थूलानलोत्पादादिकल्पने मानाभावात् । न च गन्धस्यैव जलादावसिद्धेः कुतोऽनुद्भूतगन्धसिद्धिः ? इति **वक्तव्यम्**, यथा गन्धवत् तेजो गन्धरसवत्, वायुर्गन्धरसरूपवान् स्पर्शवत्त्वात् पृथिवीवत् इत्यनुमानेन तत्सिद्धेः, तथाप्यनुपलब्धिर्यत्र कदाचित् तदा तत्राऽनुद्भूतगन्धादिसिद्धेः । अत एव न बाधः, अनुद्भूतस्वभावे प्रत्यक्षस्य मूकत्वात्, अन्यथा सुवर्णेऽपि उष्णस्पर्शसाधने कथं न तत्प्रसङ्गः । 'स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गला' (त.५/२३) इति **तत्त्वार्थसूत्रमपि** तत्समर्थकमिति नागमबाधा । **एतेन** पृथिव्यादीनां पुद्गलपर्यायत्वेनाऽभिन्नलक्षणत्वे पृथिव्यामिव जलादिष्वपि गन्धादीनां सर्वदोद्भूततैव स्यात्, अन्यथा सर्वथा भिन्नलक्षणतैवैषामित्यपि **परास्तम्,** पाषाणाद्यनुरोधेन पृथिवीत्वावच्छेदेनाऽपि सर्वदोद्भूतगन्धाद्यसिद्धेः, नायनेन तेजसा व्यभिचाराच्च । न ह्युद्भूतोष्णस्पर्शं नायनं तेजोद्रव्यमुद्भूतोष्णस्पर्शात्तत्वकाद्भिन्नलक्षणमभिमतं नैयायिकानाम् । न ह्यवान्तरजातिभेदः सर्वथा लक्षणभेदं प्रसाधयति किन्तु व्यक्तिभेदमेव । अधिकं तु तत्त्वमत्रत्यं **स्याद्वादरत्नाकरादवसेयम्** (पृ.८६७) ।

इत्थञ्च = पृथिवी-जल-तेजो-वायु-मनोद्रव्याणां पुद्गलत्वेनैकधैव विभजनस्य समर्थनेन च, **'द्रव्याणि धर्माधर्माकाशजीवसमयपुद्गला' इति विभागवाक्ये** = आर्हतीयद्रव्यविभागप्रतिपादकवचने **न कश्चिद् दोषः** । परस्पराऽसङ्कीर्णव्याप्यधर्मप्रतिपादकवाक्यस्यैव विभागवाक्यत्वम् । प्रकृते द्रव्यविभागस्याभिप्रेतत्वात् परस्पराऽसङ्कीर्ण-द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मव्यवस्थापनं विभागः । पृथिवी-जलादीनां पुद्गलत्वं द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यम् पृथिवीत्व-जलत्वादिकं तु द्रव्यत्वव्याप्यव्याप्यम् । गतिनियामकतावच्छेदकत्वेन सिध्यतो धर्मत्वस्य स्थितिनियामकतावच्छेदकत्वेन चाऽधर्मत्वस्य द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यस्य जीवादिष्वसत्त्वाद् द्रव्यविभाजकोपाधित्वं न्याय्यमेव । ततश्च षण्णां द्रव्यविभाजकधर्मत्वात् षड्विधो द्रव्यविभागो निर्दोष एव । **एतेन** नवधा द्रव्यविभागो नैयायिकपरिकल्पितः **प्रत्युक्तः,** आधिक्यदोषात् ।

स्यादेतत् - जीवाजीवभेदेन द्रव्यद्वैविध्यमेव प्रतिपादयितुं युक्तम्, अजीवत्वस्यैव द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यत्वात् धर्मत्वाधर्मत्वादीनां तु द्रव्यत्वव्याप्याऽजीवत्वव्याप्यत्वात्, अन्यथा पृथिव्यादीनामप्यतिरेकः स्यादेवेति । **न च** धर्मास्तिकायादीनामजीवत्वेऽपि शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थः प्रकारान्तरेणोपन्यास इति **वाच्यम्,** पृथिव्यादीनां पुद्गलत्वेऽपि तत एवाऽतिरिक्तप्रदर्शनस्य न्याय्यत्वापत्तेः । **एतेन** पृथिव्यादीनां पुद्गलत्वाऽविशेषेऽपि यदि अतिरिक्तत्वेन विभजनं स्यात्, स्यादेव तर्हि घट-पट-मठादीनामप्यतिरिक्तत्वमिति नवधा विभागो भज्येतेति **निरस्तम्,** समसमाधानत्वादिति चेत् ? ब्रूमः पृथिवी-जलादीनां पुद्गलत्वाऽविशेषे सति परस्परात्मकताऽपि भवति, पृथिव्यारम्भकानामेव पुद्गलानां सहकारिवशान्नीराद्यारम्भकत्वात् । अतस्तेषां पुद्गलत्वेनैव विभागः । धर्माधर्मादीनामजीवत्वाऽविशेषेऽपि परस्परात्मकता न भवति । न हि धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायत्वादिना परिणमति कदाचित् । अतस्तेषां धर्मत्वादिनैव

होगी और पश्चात् अदृष्ट विशेष आदि के सहकार से उद्भूत गन्ध की वहाँ उत्पत्ति होनी चाहिए । मतलब कि गन्ध तो जलादि की ही है मगर सहकारी कारण उसे अभिव्यक्त करता है । जैसे हरीतकी जलगत मधुर रस की व्यञ्जक होती है ठीक वैसे यह भी कहा जा सकता है । जलादि पृथ्वीअभिन्न है तो सर्वदा उद्भूत गन्ध ही उसमें उपलब्ध हो-ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि पाषाण पृथ्वी होने पर भी उद्भूत गन्ध की उपलब्धि उसमें नहीं होती है । इसलिए पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन द्रव्य का पुद्गलत्वेन एक विभाग में प्रवेश होने से तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय क्रमशः गति और स्थिति में नियामक होने से अतिरिक्त द्रव्यविधया अवश्य स्वीकार्य होने से 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाश-जीव-समय-पुद्गलाः' ऐसा जो द्रव्यविभागप्रतिपादक जैनेन्द्र वचन है वह भी निर्दोष ही है । परस्पर असंकीर्ण व्याप्य धर्म का प्रतिपादक वचन ही तो विभागवाक्य कहा जाता है । द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य धर्म तो ६ ही है । पृथिवीत्व, जलत्व आदि तो परंपरा से द्रव्यत्वव्याप्य है यानी द्रव्यत्वव्याप्यपुद्गलत्वव्याप्य पृथ्वीत्वादि है । अतः उनका पुद्गल द्रव्य में समावेश करना मुनासिब ही है ।

अत्र यद्यपि उद्देश्यविधेयभावस्थले विधेयतावच्छेदकरूपेण 'धूमवान् वह्निमान्' इत्यादौ विधेयस्य व्यापकत्वलाभो दृष्टः तथापि अत्र धर्मत्वादिना तदसम्भवाद् विधेयतासमव्याप्त-रूपेण व्यापकत्वं संसर्गतया लभ्यत इति धर्माद्यन्यतमत्वादिना व्यापकत्वलाभ इत्येके ।

❁ जयलता ❁

विभजनं न त्वजीवत्वेन । **न च** धर्माधर्मादिवत् पृथिव्यादीनामपि जलादिना परिणतिर्न स्यादिति **वाच्यम्**, प्राणवायुद्विगुणित-हाइड्रूजनवायोर्जलत्वेन परिणमनस्य साम्प्रतमाधुनिकविज्ञानप्रयोगशालादौ प्रमाणप्रसाधितस्य प्रसिद्धस्याऽनपलपनीयत्वात्, नियता-रम्भवादस्तु प्रत्याख्यात एव ।

अत्र = प्रस्तुतविभागवाक्ये, अस्य 'इत्येके' इत्यनेनान्वयः । **यद्यपि उद्देश्यविधेयभावस्थले** विधेयतानिरूपकसम्बन्धेन **विधेयतावच्छेदकरूपेण 'धूमवान् वह्निमान्' इत्यादौ विधेयस्य** संसर्गमर्यादया **व्यापकत्वलाभः** = उद्देश्यव्यापकत्वलाभः **दृष्टः** व्यापकत्वविशिष्टभेदादेः संसर्गत्वात् उद्देश्यस्य च व्याप्यत्वं तादात्म्यसम्बन्धेनेति सर्वसिद्धा व्युत्पत्तिः । तादात्म्यसम्बन्धेन धूमवान् उद्देश्यः विधेयतानिरूपकेण संयोगसम्बन्धेन वह्नित्वेन वह्निः विधेयः, धूमवन्तमुद्दिश्य वह्नेः विधानात् । ततश्च धूमवद्व्यापकत्वं वह्नेः वह्नित्वेन संयोगसम्बन्धेन संसर्गमर्यादया लभ्यते । **तथापि** = उद्देश्यविधेयभावस्थले विधेयतावच्छेदकरूपेण विधेयस्य व्याप-कत्वप्रतिसन्धानेऽपि, **अत्र** = 'द्रव्याणि धर्माऽधर्माकाश-जीव-समय-पुद्गलाः' इति द्रव्यविभागवाक्ये, द्रव्याणि उद्दिश्य धर्मादीनां तादात्म्येन विधानेऽपि **धर्मत्वादिना** = धर्मत्वाधर्मत्वाकाशत्व-जीवत्व-समयत्वादिना रूपेण **तदसम्भवात्** = उद्देश्यव्यापकत्वाऽसम्भ-वात् । कुतः ? उच्यते धर्मत्वाधर्मत्वादेर्विधेयतावच्छेदकस्य नानात्वात् परस्परव्यभिचारेण तेन रूपेण व्यापकत्वप्रत्ययाऽसम्भवः । न हि यस्मिन् कस्मिंश्चिद् द्रव्ये धर्मत्वादिना धर्मादीनां षण्णां तादात्म्येन सम्भवोऽस्ति । अत एव व्यापकत्वविशिष्टभेदसम्बन्धेन द्रव्यत्वावच्छिन्ने धर्मत्वादिना धर्मादीनामन्वयोऽपि बाधितः । अतो न्यूनसङ्ख्याव्यवच्छेदलाभोऽपि न सम्भवति । ततश्चाऽगत्या **प्रकृते विधेयतासमव्याप्तरूपेण** = विधेयतासमनियतधर्मेण विधेयस्य **व्यापकत्वं** = उद्देश्यव्यापकत्वं **संसर्गतया** = विधेयतान्वयिता-वच्छेदकसंसर्गतया संसर्गमर्यादया लभ्यते । धर्मत्वाधर्मत्वाकाशत्वाद्यवच्छिन्न-विधेयताऽन्यूनाऽनतिरिक्तवृत्ति रूपं तु धर्माद्यन्यतमत्वादि-कमेव । अतः धर्मादीनां षण्णां **धर्माद्यन्यतमत्वादिना व्यापकत्वलाभः** = द्रव्यव्यापकत्वबोधः संसर्गमर्यादया । **एतेन** विधेयता-वच्छेदकरूपेणाऽपि व्यापकत्वभाने 'धूमवान् वह्निमान्' इत्यादौ वह्नेः द्रव्यत्वादिनाऽपि व्यापकत्वलाभप्रसङ्ग इति **प्रत्युक्तम्**, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नधूमवन्निष्ठोद्देश्यतानिरूपितसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नविधेयतासमनियतस्य द्रव्यत्वादौ बाधितत्वात् । व्यापकत्वस्य संसर्गमर्यादयैव भानाभ्युपगमेनाऽन्यतमत्वोपस्थापकविरहेऽपि क्षतिविरहात् **इत्येके** व्याचक्षते ।

❁ उद्देश्यविधेयभावविचार ❁

अत्र य. । यहाँ कुछ विद्वान् मनीषियों का यह वक्तव्य है कि —> ''उद्देश्यविधेयभावस्थल में विधेय विधेयतावच्छेदकरूप से उद्देश्य का व्यापक होता है - यह प्रतीतिसिद्ध है । जैसे 'धूमवान् वह्निमान्' यहाँ उद्देश्य है धूमवान् और विधेय है वह्नि। विधेयतावच्छेदक है वह्नित्व । तादात्म्यसम्बन्ध उद्देश्यतावच्छेदकसम्बन्ध है और संयोग विधेयतावच्छेदकसम्बन्ध है, क्योंकि वह्नि संयोग सम्बन्ध से विधेय है । अतः तादात्म्य सम्बन्ध से व्याप्य होगा उद्देश्य = धूमवान् और संयोग सम्बन्ध से वह्नित्वेन व्यापक होगा वह्नि । यह तो सर्वमान्य है । अतः विधेयतावच्छेदक धर्म से ही विधेय उद्देश्य का व्यापक होता है - यह संसर्गमर्यादा से ज्ञात होता है । वैसे 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाशजीवसमयपुद्गलाः' इस विभागवाक्य में द्रव्य उद्देश्य है और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि ६ विधेय हैं । विधेयतावच्छेदक धर्म है धर्मत्व, अधर्मत्व, आकाशत्व, जीवत्व, कालत्व और पुद्गलत्व। तादात्म्यसंबन्ध से यत्किञ्चित् द्रव्य के आश्रय में धर्मत्व अधर्मत्वादिरूप से तादात्म्य से धर्माधर्मादि नहीं रहते हैं, क्योंकि विधेयता-वच्छेदक धर्म अनेक होने से परस्पर व्यभिचारी हैं । अतः धर्मत्व, अधर्मत्व, आदि रूप से विधेय धर्मादि में द्रव्यात्मक उद्देश्य की व्यापकता नामुमकिन है । इसलिए यहाँ विधेयतावच्छेदक रूप से नहीं किन्तु विधेयतासमव्याप्तरूप से धर्मादि में द्रव्यव्यापकता का संसर्गमर्यादा से लाभ होगा - ऐसा माना जायगा । विधेयता धर्मास्तिकाय आदि षट् द्रव्य में रहती है और तादृश विधेयता का समनियत धर्म है धर्माऽधर्म-आकाश-जीव-काल-पुद्गलअन्यतमत्व आदि । किसी भी द्रव्य में धर्मादिअन्यतमत्व रूप से कोई न कोई तादात्म्यसम्बन्ध से रहता ही है । यानी द्रव्याश्रयवृत्तिअभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्मादिअन्यतमत्व नहीं होता है । यह मानने में तो कोई बाधा नहीं है'' <— ।

तदसत् - 'द्रव्यं गुण-कर्मान्यत्वविशिष्टसत्तावत्' इत्यत्र द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्वेन व्यापकतालाभप्रसङ्गात्, विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नव्यापक-

❀ नयलता ❀

दूषयति - **तदसदिति** । उद्देश्यविधेयभावस्थले विधेयतासमव्याप्तरूपेण विधेयस्योद्देश्यव्यापकत्वलाभप्रतिपादनं असत्, यतः **'द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तावत्'** इत्यत्र तादात्म्येन द्रव्यस्योद्देश्यत्वेन व्याप्यत्वं सामानाधिकरण्येन गुणभेद-कर्मभेदविशिष्ट-सत्तायाः समवायसम्बन्धेन व्यापकत्वम् । विधेयतावच्छेदकं तु गुणभेद-कर्मभेदविशिष्टसत्तात्वम् । यदि च विधेयतावच्छेदकरूपेणैव विधेयस्य व्यापकत्वलाभमपोह्य विधेयतासमनियतधर्मेण विधेयस्योद्देश्यव्यापकत्वं संसर्गमर्यादया लभ्यमित्युच्यते तदा प्रकृते विधेयस्य **द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्वेन व्यापकतालाभप्रसङ्गात्** = द्रव्यनिष्ठतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नव्याप्यतानिरूपितव्यापकतायाः संसर्गमर्यादया लाभापत्तेः गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तायाः शुद्धसत्ताया अनतिरेकात् शुद्धसत्तायाश्च गुणादिवृत्तित्वेन तत्र च द्रव्यान्यत्वस्य सत्त्वेन द्रव्यनिरूपितविधेयताश्रयीभूताया गुणनिष्ठायाः सामानाधिकरण्येन द्रव्यान्यत्वविशिष्टायाः सत्तायाः विधेयता-समव्याप्तेन द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्वेन रूपेण द्रव्यव्यापकताऽपि संसर्गमर्यादया लभ्या स्यादिति प्रसङ्गापादनम् । वस्तुतोऽत्र गुणकर्मान्यत्ववैशिष्ट्य-सत्तात्वयोरेव विधेयतावच्छेदकत्वम्, अन्यथा विशेषण-विशेष्यभावे विनिगमनाविरहात् । **एतेन** विधेयता-नवच्छेदकेन विधेयतासमव्याप्तरूपेण व्यापकत्वभानेऽपि 'धूमवान् वह्निमान्' इत्यादौ वह्निघटान्यतरत्वादिना व्यापकत्वलाभप्रसङ्गो नास्ति, विधेयतावच्छेदकनानात्वस्थले एव शब्दोपात्ततत्तद्विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नान्यतमत्वादिना व्यापकत्वं प्रतीयत इति व्युत्पत्तेरिति **परास्तम्,** गुणकर्मान्यत्ववैशिष्ट्यसत्तात्वान्यतरत्वेन व्यापकत्वलाभप्रसङ्गात् ।

ननु विधेयतासमव्याप्तरूपावच्छिन्नव्यापकत्वसंसर्गेण द्रव्यत्वावच्छिन्ने गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ताया अन्वयः स्वीक्रियते किन्तु विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नव्यापकत्वसंसर्गेणैव । द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्वस्य विधेयतासमव्याप्त-त्वेऽपि विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकत्वं नास्ति, तस्य गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वावच्छिन्नायाः समव्यापकताया अनवच्छेदकत्वात्, गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वेन तादृशसत्ताया द्रव्यवृत्तित्वेऽपि द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्वेन सत्ताया द्रव्यवृत्तित्वविर-हात् । न च गुणकर्मान्यत्ववैशिष्ट्य-सत्तात्वयोः विधेयतावच्छेदकत्वेन विधेयतावच्छेदकीभूतसत्तात्वाश्रयीभूतायाः सत्ताया यदधिकरणं गुणः तन्निष्ठाधिकरणतानिरूपकतावच्छेदकत्वस्य तन्निष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य च द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्वे सत्त्वेन तस्य विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नसमव्यापकावच्छेदकत्वमनपायमेवेति **वाच्यम्,** पर्याप्तिसम्बन्धेन विधेयतावच्छेदकताया विवक्षणान्नैष दोषः । न हि पर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्नविधेयतावच्छेदकताश्रयीभूतगुणकर्मान्यत्ववैशिष्ट्यसत्तात्वोभयावच्छिन्नायाः समव्यापकताया अवच्छेदकता द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्वे समस्तीत्याशङ्कायां प्रकरणकार आह - **विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकावच्छिन्न-व्यापकत्वस्य** = पर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्नविधेयतावच्छेदकताया आश्रयेणावच्छिन्ना या समव्यापकता तदवच्छेदकेन रूपेणाऽवच्छिन्नस्य

❀ विधेयतासमनियतरूप से व्यापकतालाभ अमान्य ❀

तदसत् । **मगर विचार करने पर यह बात असंगत प्रतीत होती है, क्योंकि विधेयतासमनियत धर्म से विधेय में उद्देश्यव्यापकता का लाभ मान्य किया जाय तब तो 'द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्ववत्' इस स्थल में द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्वेन द्रव्यव्यापकता का विधेय में स्वीकार करने की आपत्ति आयेगी । यहाँ उद्देश्य है द्रव्य और विधेय है गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता । गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता केवल द्रव्य में ही रहती है । मगर गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता भी शुद्ध सत्ता से अतिरिक्त नहीं होने से गुण और कर्म में भी रहती है । गुण, कर्म में जो सत्ता रहती है वह द्रव्यान्यत्वविशिष्ट है, क्योंकि गुण एवं कर्म में द्रव्यान्यत्व = द्रव्यभेद और सत्ता रहती है । मतलब कि शुद्ध सत्ता से विधेय = गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता अतिरिक्त नहीं है और द्रव्यान्यत्व-विशिष्टसत्ता भी शुद्ध सत्ता से भिन्न नहीं है । अतः द्रव्यनिरूपित विधेयता का समव्याप्त धर्म गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्व की भाँति द्रव्यान्यत्व-विशिष्टसत्तात्वरूप से द्रव्यव्यापकता का संसर्गमर्यादा से लाभ होने का अनिष्ट प्रसंग उपस्थित होता है ।**

❀ परिष्कृत व्यापकता भी दोषग्रस्त ❀

विधे. । **यदि उक्त दोष के निरासार्थ यह कहा जाय कि —> "विधेयतासमव्यापकधर्मावच्छिन्नव्यापकतासम्बन्ध से विधेय का उद्देश्य में अन्वय न मान कर विधेयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नव्यापकता सम्बन्ध से विधेय का उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न में अन्वय मानने पर उक्त दोष का अवकाश नहीं होगा, क्योंकि द्रव्यत्वावच्छिन्न में गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता**

त्वस्य संसर्गत्वे बाधात् । न हि धर्माद्यन्यतमत्वं धर्मत्वाद्यवच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकम् । विधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नव्यापकत्वस्य तथात्वे तु वह्न्यादेः द्रव्यत्वा-

❀ जयलता ❀

व्यापकत्वस्य **संसर्गत्वे** = विधेयान्वयितावच्छेदकसंसर्गत्वे स्वीक्रियमाणे, तस्य 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाश-जीव-समय-पुद्गलाः' इत्यत्र बाधात् । बाधमेव दर्शयति - **न हि धर्माद्यन्यतमत्वं धर्मत्वाद्यवच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकं** = विधेयतावच्छेदकीभूतधर्मत्वादिषट्कावच्छिन्नायाः समव्यापकताया अवच्छेदकं भवति । धर्मादिषट्कान्यतमत्वाश्रयीभूते धर्मास्तिकायद्रव्ये तद्वृत्त्यभावनिरूपितप्रतियोगितावच्छेदकताया विधेयतावच्छेदकेष्वधर्मत्वाकाशत्व-जीवत्व-कालत्वादिषु सत्त्वात् । तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्न-धर्माद्यन्यतमत्वावच्छिन्नाधिकरणनाश्रयवृत्त्यभावप्रतियोगितानवच्छेदकताया अधर्मत्वादिविधेयतावच्छेदकेष्वसत्त्वान्न विधेयतावच्छेदकीभूतधर्मत्वादिषट्कावच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकत्वं धर्माद्यन्यतमत्वे सम्भवति । अतः धर्माद्यन्यतमत्वेन धर्माधर्माकाशजीवकालपुद्गलेषु द्रव्यत्वावच्छिन्नव्यापकत्वलाभोऽपि नैव सम्भवति ।

ननु माऽस्तु विधेयतासमव्याप्तरूपावच्छिन्नव्यापकत्वस्य विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नसमव्यापकतावच्छिन्नधर्मावच्छिन्नव्यापकत्वस्य वा विधेयान्वयितावच्छेदकसंसर्गत्वं किन्तु **विधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नव्यापकत्वस्य तथात्वे** = विधेयान्वयिता-

के अन्वयितावच्छेदकसम्बन्धात्मक व्यापकता का अवच्छेदक धर्म, जो विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नसमव्यापकता के अवच्छेदकविधया अभिमत है, द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्व हो सकता नहीं है । विधेयतावच्छेदकीभूत गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्व से अवच्छिन्न समव्यापकता का अवच्छेदक धर्म द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्व नहीं हो सकने का कारण यह है कि गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वरूप से सत्ता का अधिकरण द्रव्य है फिर भी द्रव्य में द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्व रूप से सत्ता नहीं रहती है । मतलब कि विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरण में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगितावच्छेदक द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्व बनता है । विधेयतावच्छेदकावच्छिन्न के अधिकरण में रहनेवाले अभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक धर्म द्रव्यत्वविशिष्टसत्तात्व नहीं होने से वह कैसे विधेयतावच्छेदकावच्छिन्न की समव्यापकता का अवच्छेदक बन सकता है ? अतः 'द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तावत्' इस स्थल में द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्वेन रूपेण उद्देश्यभूत द्रव्य की व्यापकता का गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तास्वरूप विधेय में लाभ होने के अनिष्ट प्रसङ्ग को अवकाश नहीं है'' <—

तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि विधेयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकावच्छिन्नव्यापकता को विधेयान्वयितावच्छेदक सम्बन्ध मानने पर 'द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तावत्' इस स्थल में दोष का निराकरण होने पर भी 'द्रव्याणि धर्माऽधर्माऽऽकाश-जीव-समय-पुद्गलाः' इस स्थल में वह संसर्ग बाधित होने का दोष उपस्थित होता है । वह इस तरह कि प्रस्तुत में द्रव्य उद्देश्य है और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि विधेय हैं । विधेयतावच्छेदक हैं धर्मत्व, अधर्मत्व, आकाशत्व, जीवत्व, कालत्व और पुद्गलत्व । विधेयताअवच्छेदकधर्मषट्क से अवच्छिन्न समव्यापकता का अवच्छेदक धर्मास्तिकायादिअन्यतमत्व, जो यहाँ प्रतिवादियों को उद्देश्य की विधेय में रहनेवाली व्यापकता के अवच्छेदकविधया अभिमत है, नहीं हो सकता है । समव्यापकतावच्छेदक धर्मादिषट्कअन्यतमत्व नहीं होने का कारण यह है कि धर्मादिषट्कअन्यतमत्व धर्मास्तिकाय में भी रहता है मगर उसमें अधर्म, आकाश, जीव आदि तादात्म्यसम्बन्ध से नहीं है । मतलब कि विधेयतावच्छेदकीभूत अधर्मत्व, आकाशत्व आदि धर्म धर्माद्यन्यतमत्व के आश्रयीभूत धर्मास्तिकाय में रहनेवाले अभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक बन जाते हैं । विधेयतावच्छेदकीभूत धर्मत्व, अधर्मत्व आदिधर्मषट्क की समव्यापकता का अवच्छेदक धर्मादिषट्कअन्यतमत्व तब बनता यदि विधेयतावच्छेदकावच्छिन्न के आश्रय में रहनेवाले अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्मादिषट्कअन्यतमत्व न बने और धर्मादिषट्कअन्यतमत्व के अधिकरण में रहनेवाले अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्मत्व, अधर्मत्व आदि न बने । मगर यहाँ ऐसा नहीं बनता है - यह हम बता चुके हैं । इसलिए विधेयतावच्छेदकसमव्यापकतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नव्यापकत्व को विधेयान्वयितावच्छेदक मानने पर 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाशजीवसमयपुद्गलाः' इस स्थल में धर्मादिषट्कअन्यतमत्वेन धर्मादिषट्क में द्रव्यव्यापकता का लाभ नहीं हो सकेगा और उसे विधेयतान्वयितावच्छेदक सम्बन्ध न मानने पर विधेय में विधेयतासमव्याप्तरूप से उद्देश्यव्यापकतालाभ को मान्य करने की अवस्था में 'द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तावत्' इस स्थल में द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्वेन विधेय में द्रव्यव्यापकता का लाभ = ज्ञान होने का अनिष्ट प्रसङ्ग आयेगा । इस तरह दोनों तरह दोष मुँह फाड कर खडा रहने से उपर्युक्त प्रतिवादिमत अप्रामाणिक है ।

❀ वह्नि में द्रव्यत्वादिना धूमव्यापकताप्राप्ति ❀

विधेयतावत्. । यहाँ बचाव के लिए प्रतिवादी की ओर से यह कहा जाय कि —> ''विधेयान्वयितावच्छेदकसम्बन्धविधया

दिना व्यापकत्वलाभप्रसङ्गात् ।

अथ विधेयतावच्छेदकातिरिक्तधर्मानवच्छिन्ना व्यापकता ग्राह्येति नातिप्रसङ्गो न वा

❋ जयलता ❋

वच्छेदकसम्बन्धत्वे नास्ति कश्चिद् दोषः । न हि धर्मादिषट्कान्यतमत्वाश्रयीभूते यस्मिन् कस्मिंश्चित् धर्मादौ विधेयतावत्त्वा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावोऽस्ति न वा विधेयतावदाश्रये धर्मादिषट्कान्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो वर्तते येन धर्मादिषट्कान्यत-मत्वस्य विधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदकत्वं न स्यात् । अतो धर्मादिषट्कान्यतमत्वेन द्रव्यत्वावच्छिन्नव्यापकत्वं विधेये निराबाधमेवेत्या-शङ्कामपाकर्तुमाह- **विधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नव्यापकत्वस्येति** । उद्देश्यता विधेयता चात्र तादात्म्यसम्बन्धेन ज्ञेया । विधेयतावच्छेदकसम्बन्धेन विधेयतावतः समव्यापकं यत् तन्निष्ठा या तत्समव्यापकता तस्या अवच्छेदकं यद्रूपं तदवच्छिन्न-स्य व्यापकत्वस्य, **तथात्वे** = विधेयतान्वयितावच्छेदकसंसर्गत्वे तु 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाश-जीव-काल-पुद्गला' इत्यत्र विधेयतावत्स-मव्यापकतावच्छेदकीभूतेन धर्माद्यन्यतमत्वेन द्रव्यव्यापकत्वस्य विधेये लाभेऽपि, 'धूमवान् वह्निमान्' इत्यादौ संयोगसम्बन्धा-वच्छिन्नविधेयतावतः **वह्न्यादेः द्रव्यत्वादिना व्यापकत्वलाभप्रसङ्गात्** = तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-धूमवन्निष्ठव्याप्यतानिरूपिताया व्यापकतायाः भानापत्तेः, द्रव्यत्वादेः संयोगसम्बन्धावच्छिन्नविधेयतावद्वह्निमन्निष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वात् । न हि वह्निमति द्रव्यत्वावच्छिन्नाभावो भवति । **न च** द्रव्यत्वस्य विधेयतावद्वह्निव्यापकतावच्छेदकत्वेऽपि वह्निसमव्यापकतानवच्छेदकत्वं, द्रव्याश्रयवृत्त्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वाद् वह्नित्वस्येति **वाच्यम्,** द्रव्यत्वपदस्य द्रव्यत्वविशिष्टवह्नित्वपरत्वान्नैष दोषः । यद्वा द्रव्यत्वं आदौ यस्य द्रव्यत्वविशिष्टवह्नित्वस्य स तथा तेन इति विग्रहः कार्यः । **तेन** द्रव्यत्वपदस्य लक्षणाश्रयणमतिजघन्यमित्युक्तावपि न क्षतिः । न हि द्रव्यत्वविशिष्टवह्नित्वस्य वह्निसमव्यापकतानवच्छेदकत्वम् । आदिपदेनोपलक्षणाद् वा वह्निघटान्यतरत्व - वह्नीतरेतरत्व - पदार्थत्वविशिष्टवह्नित्वादीनां ग्रहणम् । तेषामपि विधेयतावद्वह्निसमव्यापकतावच्छेदकत्वादिति भावः ।

अथेति । चेदित्यनेनान्वयः । **विधेयतावच्छेदकातिरिक्तधर्मानवच्छिन्ना व्यापकता** = उद्देश्यव्यापकता वह्निनिष्ठा विधेया-न्वयितावच्छेदकसम्बन्धविधया **ग्राह्या इति** हेतोः 'धूमवान् वह्निमान्' इत्यादौ **नातिप्रसङ्गः** = न द्रव्यत्वव्याप्यवह्नित्वेन वह्नेः धूमवद्व्यापकत्वापातः, द्रव्यत्वविशिष्टवह्नित्वस्य विधेयतावच्छेदकीभूतवह्नित्वातिरिक्तत्वेन तदवच्छिन्नव्यापकताया वह्निनिष्ठविधेयतान्व-यितावच्छेदकसंसर्गत्वाऽसम्भवात् । अत एव 'द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तावत्' इत्यत्राऽपि न द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्वावच्छिन्न-व्यापकतायाः विधेयतान्वयितावच्छेदकसंसर्गत्वम्, द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्वस्य गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वाऽतिरिक्तत्वात् । न वा

हम विधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नव्यापकता का स्वीकार करते हैं । धर्माद्यन्यतमत्व विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नसमव्यापकता-अवच्छेदक धर्म न हो तो भी क्या ? वह विधेयताविशिष्टसमव्यापकतावच्छेदकधर्म तो है ही, क्योंकि तादात्म्यसम्बन्ध से धर्माद्यन्यत-मत्वविशिष्ट के आश्रय में विधेयतावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव नहीं रहता है और तादात्म्यसम्बन्ध से विधेयतावत् से विशिष्ट में रहनेवाले अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक धर्मादिषट्कअन्यतमत्व भी नहीं बनता है । अतः धर्मादिषट्कअन्यतमत्वेन द्रव्यव्यापकता का धर्मास्तिकाय आदि षट्द्रव्य में भान हो सकता है'' <—

तो यह इसलिए मान्य नहीं हो सकता कि तब धर्मादिषट्क अन्यतमत्वेन षड्द्रव्य में द्रव्यव्यापकता का लाभ होने पर भी 'धूमवान् वह्निमान्' इत्यादि स्थल में वह्नि आदि विधेय में द्रव्यत्वादिरूप से धूमवद्व्यापकता का भान होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि विधेयतावान् वह्नि की समव्यापकता का अवच्छेदक द्रव्यत्वादि = द्रव्यत्वविशिष्टवह्नित्व है ही । जहाँ जहाँ वह्नि होता है वहाँ वहाँ द्रव्यत्वविशिष्ट वह्नि रहता है और जहाँ जहाँ द्रव्यत्वविशिष्ट वह्नि रहता है वहाँ वहाँ वह्नि रहता ही है । अतः विधेयताविशिष्ट वह्नि की समव्यापकता का अवच्छेदक द्रव्यत्वविशिष्टवह्नित्व बन सकता है । अतः धर्मादिषट्कअन्यतमत्वेन द्रव्यव्यापकतालाभ की उपपत्ति करने पर द्रव्यत्वविशिष्टवह्नित्वेन धूमव्यापकता के भान की आपत्ति आयेगी ।

▣ विधेयतावच्छेदकभिन्न धर्म से अनवच्छिन्न व्यापकता दोषग्रस्त ▣

अथ. । यहाँ उपर्युक्त दोष के निराकरणार्थ प्रतिवादी की ओर से यह कहा जाय कि —> ''विधेय में रहनेवाली उद्देश्य की व्यापकता विधेयतावच्छेदकभिन्न धर्म से अनवच्छिन्न हो वैसा विवक्षित है । 'धूमवान् वह्निमान्' यहाँ विधेय है वह्नि। विधेयतावच्छेदक है वह्नित्व । द्रव्यत्वविशिष्टवह्नित्व तो विधेयतावच्छेदक नहीं है । अतः विधेयतावच्छेदकातिरिक्त द्रव्यत्वविशिष्टवह्नित्व से अनवच्छिन्न व्यापकता का विधेयान्वयितावच्छेदकसंसर्गविधया ग्रहण नहीं किया जा सकता । इसलिए वह्नि में द्रव्यत्वविशिष्टवह्नित्वरूप से धूमवद्व्यापकता = तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न धूमवन्निष्ठव्याप्यतानिरूपितव्यापकता के भान की आपत्ति नहीं है । इसी तरह

वह्निभिन्नभेदादिना व्यापकत्वलाभप्रसङ्गः गुरोरनवच्छेदकत्वादिति चेत् ? न, एवं सति प्रकृते बाधात्, तत्र समव्यापकताया द्रव्यत्वाद्यतिरिक्तावच्छिन्नत्वात्; 'सत् द्रव्यं संयोगी'त्यादौ

❀ जयलता ❀

वह्नित्वसमव्यापकेन **वह्निभिन्नभेदादिना** आदिपदेन वह्निभेदाभावादिना वह्नेः **व्यापकत्वलाभप्रसङ्गः** = धूमवद्व्यापकत्वभानापातः, **गुरोः** धर्मस्य **अनवच्छेदकत्वात्** 'सम्भवति लघौ गुरौ तदभावात्' इति **दीधित्युक्तेः** । सम्भवद्विधेयतावच्छेदकताकवह्नित्वरूपलघुधर्मसत्त्वे वह्निभिन्नभेदादिरूपे गुरौ स्वरूपसम्बन्धरूपमवच्छेदकत्वं न स्वीक्रियते । **एतेन** वह्नित्वसमनियतत्वेन वह्निभिन्नभेदस्य ततोऽनतिरिक्तत्वेन वह्नित्वावच्छिन्नविधेयताया वह्निभिन्नभेदाद्यवच्छिन्नत्वस्य न्याय्यत्वादिति **निरस्तम्** । इत्थञ्च वह्नित्वसमनियतस्य वह्निभिन्नभेदस्य न वह्निनिष्ठाया धूमवद्व्यापकताया अवच्छेदकत्वमिति न वह्निभिन्नभेदावच्छिन्नव्यापकताया विधेयान्वयितावच्छेदकसम्बन्धत्वं, निरुक्तरीत्या तस्या एवाऽप्रसिद्धेरित्यथाशयः ।

प्रकरणकारः तन्निराचष्टे - नेति । **एवं सति** = विधेयतावच्छेदकातिरिक्तधर्मानवच्छिन्नाया विधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदकावच्छिन्नाया व्यापकताया विधेयान्वयितावच्छेदकसंसर्गत्वे स्वीक्रियमाणे सति, **प्रकृते** = 'धूमवान् वह्निमान्' इत्यादौ स्थले, **बाधात्** = विधेयान्वयितावच्छेदकसंसर्गस्य बाधितत्वात् । तदेवाह **तत्र** = तहीं, **समव्यापकतायाः** = विधेयतावत्समव्यापकतायाः **द्रव्यत्वाद्यतिरिक्तावच्छिन्नत्वात्** = वह्नित्वलक्षणविधेयतावच्छेदकातिरिक्तद्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नत्वात् । **न च** द्रव्यत्वस्य वह्नीतरवृत्तित्वेन विधेयतावत्समव्यापकतानवच्छेदकत्वं, द्रव्यत्वविशिष्टवह्नित्वस्य विधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदकत्वं तु न सम्भवति, वह्नित्वापेक्षया तस्य गुरुत्वेनानवच्छेदकत्वादिति **वाच्यम्**, वह्न्यनुयोगिकसमवायेन द्रव्यत्वस्य लघुत्वेन वह्नित्वापेक्षया द्रव्यत्वस्य गुरुत्वम् । समनियतानां सर्वेषामेवाऽगुरूणामवच्छेदकता तु न्यायसिद्धान्तसिद्धैव ।

ननु विधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदकता विधेयतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धेन ग्राह्या । द्रव्यत्वनिष्ठा वह्निनिष्ठविधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदकता तु वह्निमात्रानुयोगिकसमवायसम्बन्धावच्छिन्ना न तु समवायावच्छिन्ना । **न च** समवायस्यैक्यात्सा समवायावच्छिन्नैवेति **वाच्यम्**, सम्बन्धितावच्छेदकभेदात्समवायस्य नानात्वाभ्युपगमादित्याशङ्कायां प्रकरणकारो दोषान्तरमाविष्करोति - **'सत् द्रव्यं संयोगी'त्यादा**विति । समवायस्यैक्य पूर्वमपास्तत्वादनुपदमुक्तमपि निरस्तमेव तथापि स्फुटत्वात्तदुपेक्ष्य प्रौढिवादेन दोषान्तरापादनमपि युक्तमेव । 'सत् द्रव्यमि'ति उद्देश्यनिर्देशः, संयोगस्य विधेयत्वम् । विधेयतावच्छेदकता संयोगत्वे । विधेयतावच्छेदकसम्बन्धत्वं विधेयतावच्छेदकतावच्छेदकसंसर्गत्वं च समवायस्य । उद्देश्यतावच्छेदकत्वं सामानाधिकरण्येन सत्त्वविशिष्टद्रव्यत्वे पर्याप्तिसम्बन्धेन सत्त्वद्रव्यत्वयोर्वा । उद्देश्यतावच्छेदकसम्बन्धस्तु तादात्म्यमेव । सद्द्रव्यनिष्ठोद्देश्यतानिरूपितसंयोगनिष्ठविधेयतावत्समव्यापकतायाः समवायसम्बन्धावच्छिन्ना अवच्छेदकता यथा संयोगत्वनिष्ठा तथा द्रव्यत्वादिनिष्ठाऽपि । न हि संयोगाधिकरणनिष्ठस्य तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याऽभावस्य प्रतियोगिताया अवच्छेदकं द्रव्यत्वं भवति । ततश्च यथा 'धूमवान् वह्निमान्' इत्यत्र समव्यापकताया विधेयतावच्छेदकातिरिक्तद्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नत्वेऽपि वह्नित्वेन व्यापकत्वभानं प्रतिवादिनोऽभिमतमस्माभिश्च

वह्निभिन्नभिन्नत्व आदि रूप से भी वह्नि में धूमवद्व्यापकता के भान की भी आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि विधेयतावच्छेदकीभूत वह्नित्व का वह्निभिन्नभेद समव्यापक होने पर भी वह्नित्व से अभिन्न नहीं है, अनतिरिक्त नहीं है । वह्नित्व से अतिरिक्त होने की वजह वह्निभिन्नभेद आदि धर्म से अवच्छिन्न व्यापकता यहाँ विधेयान्वयितावच्छेदकसम्बन्धविधया मान्य नहीं हो सकती । इसलिए 'धूमवान् वह्निमान्' यहाँ वह्नि में वह्निभिन्नभेदरूप से धूमव्यापकता के भान की आपत्ति भी निरवकाश है'' <—

न, एवं । **तो यह भी ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि - 'धूमवान् वह्निमान्' इत्यादि स्थल में विधेयतावच्छेदक है वह्नित्व और विधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदक है वह्निनिष्ठसमवाय = वह्निअनुयोगिकसमवाय सम्बन्ध से द्रव्यत्व, क्योंकि वह्निअधिकरणवृत्ति अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक द्रव्यत्व नहीं होता है और वह्निअनुयोगिक समवाय सम्बन्ध से द्रव्यत्वविशिष्ट के अधिकरण में रहनेवाले अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक वह्नित्व या वह्निनिष्ठविधेयतावत्त्व नहीं होता है । द्रव्यत्व विधेयतावच्छेदकीभूत वह्नित्व की अपेक्षा गुरु धर्म नहीं है और विधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदक धर्म है । इसलिए विधेयतान्वयितावच्छेदकीभूत व्यापकता-सम्बन्ध, जो प्रतिवादी को सम्मत है, विधेयताअवच्छेदकीभूत वह्नित्व से अतिरिक्त द्रव्यत्व से अवच्छिन्न होता ही है । अतः वह सम्बन्ध ही बाधित हो जायगा यदि विधेयतान्वयितावच्छेदकीभूत विधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नव्यापकतासम्बन्ध को विधेयतावच्छेदकातिरिक्तधर्मानवच्छिन्न माना जाय। दूसरा दोष यह है कि 'सत् द्रव्यं संयोगी' इत्यादि स्थल में संयोगादि में द्रव्यत्वादिरूप से व्यापकता के भान की आपत्ति आयेगी । आशय यह है कि उपर्युक्त स्थल में सद् द्रव्य को उद्देश्य बना कर समवायसम्बन्ध से संयोग का विधान होता है । विधेयतावच्छेदक संयोगत्व है । अतः संयोगत्वेन संयोग में उद्देश्यव्यापकता**

संयोगादेः द्रव्यत्वादिना व्यापकत्वलाभप्रसङ्गाच्च ।

*एतेन **विधेयतावच्छिन्नसमव्यापकताग्रहे नाऽतिप्रसङ्गो, लघुवह्नित्वादेरेवावच्छेदकत्वेऽपि***

❀ जयलता ❀

द्रव्यत्वादिना व्यापकत्वभानमापादितं तथैव प्रकृते विधेयस्य **संयोगादेः** विधेयतावत्समव्याप्कतावच्छेदकेन **द्रव्यत्वादिना व्यापकत्वलाभप्रसङ्गात्** = सद्द्रव्यनिरूपितव्यापकत्वस्य भानापत्तेः । **न च** विधेयाधिकरणवृत्तिर्यो विधेयतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावस्तत्प्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य विधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदकविशेषणोपगमान्नायं दोषः, द्रव्यत्वस्य तु विधेयाश्रयवृत्तितादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावीयप्रतियोगितानवच्छेदकत्वं न तु तादृशसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वमिति **वाच्यम्**, तथापि 'सन्ति द्रव्याणि धर्माधर्माकाश-जीव-काल-पुद्गला' इत्यत्र धर्मादीनां द्रव्यत्वेन व्यापकत्वलाभप्रसङ्गात् । उद्देश्यतावच्छेदक-विधेयतावच्छेदकयोर्भिन्नत्वनियमादुद्देश्यकोटौ न सदिति निवेशः प्रकरणकारेण कृतः, विधेयतावच्छेदकीभूतसंयोगत्वस्य द्रव्यत्वातिरिक्तत्वादेव किन्तु 'उद्देश्यतावच्छेदकातिरिक्तरूपेणैव विधेयताया भानमि'ति नियमादभिमतापादानानुरोधेनोद्देश्यकोटौ प्रकरणकृता सदित्युक्तमिति तु ध्येयम् ।

एतेन = निरुक्तप्रसङ्गेन, अपास्तमित्यनेनास्यान्वयः । उद्देश्यविधेयभावस्थले **विधेयतावच्छिन्नसमव्यापकताग्रहे** = विधेयान्वयितावच्छेदकसम्बन्धघटकविधया विधेयतावच्छिन्नायाः समव्यापकतायाः भाने स्वीक्रियमाणे **नातिप्रसङ्गः** = न 'सत् द्रव्यं संयोगी'त्यादौ संयोगादेर्द्रव्यत्वादिना व्यापकत्वभानप्रसङ्गः; द्रव्यत्वस्य संयोगवृत्तिविधेयताव्यधिकरणत्वेन विधेयतावच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकत्वाऽयोगात्, विधेयतासमानाधिकरणे संयोगत्वे एव विधेयतासमानाधिकरणसमव्यापकताया अवच्छेदकताया अवच्छेदकत्वसम्भवात् । ततश्च विधेयतासमानाधिकरणा या समव्यापकता तस्या अवच्छेदको यो विधेयतासमानाधिकरणो धर्मः तदवच्छिन्नस्य व्यापकत्वस्यैव विधेयान्वयितावच्छेदकसम्बन्धत्वमित्युपगमे न कोऽपि दोषः ।

ननु विधेयताया विधेयस्वरूपतयाऽननुगतत्वेन विधेयतावच्छेदकीभूतवह्नित्वाद्यपेक्षया गुरुत्वान्न समव्यापकतावच्छेदकत्वं सम्भवति, गुरोरनवच्छेदकत्वादिति चेत् ? न, 'धूमवान् वह्निमान्' इत्यादौ विधेयतावच्छेदकस्य **लघुवह्नित्वादेः एव अवच्छेदकत्वेऽपि**

का ज्ञान होता है । मगर विधेयतावत्समव्यापकताअवच्छेदकधर्म से व्यापकता का भान माना जाय तब द्रव्यत्वादि रूप से भी संयोग में व्यापकता की बुद्धि होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि विधेय संयोग का समव्यापक तादात्म्यसम्बन्ध से द्रव्य होता है । संयोग केवल द्रव्य में ही रहता है और सभी द्रव्यों में कोई न कोई संयोग तो रहता ही है । अतः द्रव्यत्व विधेयतावान् संयोग के अधिकरण में रहनेवाले अभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक होता है । अतएव विधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदक द्रव्यत्वरूप से भी संयोग में सद्द्रव्यव्यापकता के भान का अनिष्ट प्रसंग उपस्थित होता है । इसलिए प्रतिवादी का कथन मान्य नहीं किया जा सकता ।

❋ विधेयतावच्छिन्न समव्यापकता का भान दोषग्रस्त ❋

एतेन. । उक्त आपत्ति के निरासार्थ उद्देश्यविधेयभावस्थल में कुछ विद्वानों का यह कथन है कि —> **''विधेय में विधेयतावच्छिन्नसमव्यापकता का विधेयान्वयितावच्छेदकसंसर्गघटकविधया भान मानने पर किसी दोष को अवकाश नहीं है । विधेय का जो समव्यापक हो उसमें विधेय की समव्यापकता रहती है । मगर वह समव्यापकता विधेयतावच्छिन्न होनी चाहिए तब विधेयनिरूपित समव्यापकता के अवच्छेदकधर्मरूप से विधेय में उद्देश्यव्यापकता का भान हो सकता है । अतः 'सत् द्रव्यं संयोगि' इस स्थल में द्रव्यत्वरूप से व्यापकता के भान का प्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि द्रव्यत्व जिस समव्यापकता का अवच्छेदक है वह विधेयतावच्छिन्न = विधेयताविशिष्ट = विधेयतासमानाधिकरण नहीं है । विधेयता रहती है संयोग में और द्रव्यत्व रहता है द्रव्य में । दोनों समानाधिकरण नहीं है । विधेयता और द्रव्यत्व व्यधिकरण होने से संयोगनिष्ठविधेयताअवच्छिन्न (=विशिष्ट) समव्यापकता का अवच्छेदक द्रव्यत्व नहीं हो सकता है, किन्तु संयोगत्व ही हो सकता है, क्योंकि वह विधेयतासमानाधिकरण है । इसलिए विधेयतावच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नव्यापकता सम्बन्ध से ही विधेय का उद्देश्य में अन्वय करना उचित है ।** यद्यपि **'धूमवान् वह्निमान्' इत्यादि स्थल में विधेयतावच्छेदक वह्नित्व आदि लघु धर्म प्राप्त है । अतः वही समव्यापकता का अवच्छेदक बन सकता है अर्थात् वह्नित्वावच्छिन्न ही समव्यापकता हो सकती है, न कि विधेयतावच्छिन्न समव्यापकता; क्योंकि गुरु धर्म अवच्छेदक नहीं हो सकता है । वह्नित्व की अपेक्षा स्वरूपसम्बन्धात्मक विधेयता गुरु धर्म ही है ।** तथापि **विधेयता में पारिभाषिक अवच्छेदकता का स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है ।** मतलब यह है कि **स्वरूपसम्बन्धात्मक अवच्छेदकता का विधेयता में**

विधेयतायां पारिभाषिकावच्छेदकत्वानपायात् । न चैवं गौरवं, समव्यापकतावच्छेदकत्वेनोपलक्षणीभूतेनैव तत्तद्धर्मानुगमादि'ति अप्यपास्तम्, तादृशधर्मे विधेयतासमानाधिकरणत्वविशेषणेऽपि संयोगादेर्गुणत्वाद्यवच्छिन्नव्यापकतालाभप्रसङ्गात् । विधेयताऽभाववद्वृत्तितादृश-

❋ जयलता ❋

= स्वरूपसम्बन्धात्मकावच्छेदकतावत्त्वेऽपि विधेयस्वरूपायां **विधेयतायां पारिभाषिकावच्छेदकत्वानपायात्** = स्वरूपसम्बन्धातिरिक्तस्य तान्त्रिकाभिमतस्याऽनुगतस्याऽवच्छेदकत्वस्याऽबाधात् । एतेन 'सम्भवति लघौ, गुरौ तदभावात्' इति **दीधितिकारवचनम**पि व्याख्यातम् । ततश्च विधेयतावच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकावच्छिन्नव्यापकत्वस्य विधेयान्वयितावच्छेदकसम्बन्धत्वे नास्ति दोषलेशोऽपि । न हि वह्निनिष्ठविधेयताऽवच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकवह्नित्वावच्छिन्नव्यापकत्वसम्बन्धेन धूमवत्त्वावच्छिन्ने वह्नेरन्वयो बाधितः । **न च एवं** = विधेयतायां पारिभाषिकस्याऽतिरिक्तावच्छेदकत्वस्य स्वीकारे **गौरवं** = अननुगतावच्छेदककल्पनागौरवं इति **वाच्यम्**, विधेयतात्ववह्नित्वोद्देश्यतानिरूपकतात्वादिना समव्यापकतावच्छेदकीभूतविधेयता-वह्नित्वोद्देश्यतानिरूपकतादीनां अननुगमेऽपि **समव्यापकतावच्छेदकत्वेन उपलक्षणीभूतेन** = परिचायकेन एव, न तु विशेषणरूपेण, **तत्तद्धर्मानुगमात्** = विधेयतावह्नित्वोद्देश्यतानिरूपकत्वादिधर्मसङ्ग्रहसम्भवात् । समव्यापकतावच्छेदकत्वस्य विशेषणत्वे आत्माश्रयदोष इत्यत उपलक्षणीभूतेनेति तदविशेषणम् । इत्थञ्च विधेयतान्वयितावच्छेदकसंसर्गविधया विधेयतावच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकावच्छिन्नव्यापकत्वस्य स्वीकारे नास्ति बाधकं किञ्चित् । न हि 'सत् द्रव्यं संयोगी'त्यत्र संयोगमात्रनिष्ठविधेयतावच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकत्वं द्रव्यत्वेऽस्ति, येन द्रव्यत्वेन संयोगस्योद्देश्यव्यापकत्वलाभः प्रसज्येतेति शङ्काग्रन्थाभिप्रायः ।

तन्निराकुरुते - **तादृशधर्मे** = समव्यापकतावच्छेदकधर्मे, **विधेयतासमानाधिकरणत्वविशेषणेऽपि** = विधेयतासामानाधिकरण्यात्मकविधेयतावच्छिन्नत्वस्य विशेषणत्वोपगमे 'सत् द्रव्यं संयोगी'त्यादौ संयोगादेर्द्रव्यत्वेन व्यापकत्वलाभनिराकरणेऽपि, 'द्रव्यं संयोगी'त्यादौ विधेयस्य **संयोगादेः गुणत्वाद्यवच्छिन्नव्यापकतालाभप्रसङ्गात्,** गुणत्वादेः संयोगादिनिष्ठविधेयतासमानाधिकरणत्वात् । न हि संयोगत्वाद्यवच्छिन्नविधेयतासामान्यनिरूपिताधिकरणतावच्छिन्नवृत्त्यभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नत्वं गुणत्वादेः सम्भवति ।

ननु समव्यापकतावच्छेदकधर्मे विधेयताशून्यनिरूपितवृत्तिताशून्यत्वस्यैव विशेषणत्वमस्तु । ततो न 'द्रव्यं संयोगी'त्यादौ संयोगादेः गुणत्वेनोद्देश्यव्यापकत्वलाभप्रसङ्गः, गुणत्वस्य विधेयताऽतिरिक्तवृत्तित्वादित्याशङ्कायामाह- **विधेयताऽभाववद्वृत्तितादृश-**

स्वीकार करने पर विधेयता विधेयस्वरूप होने से विधेयता में रहनेवाली अवच्छेदकता भी विधेयस्वरूप हो जायगी और विधेय = संयोग अननुगत होने से महागौरव उपस्थित होगा । अतः विधेयता को अवच्छेदक नहीं मानी जा सकती यानी विधेयता में स्वरूपसम्बन्धात्मक अवच्छेदकता मान्य नहीं हो सकती । मगर पारिभाषिक अवच्छेदकता यानी तान्त्रिकपुरुषअभिमत अवच्छेदकता का विधेयता में स्वीकार करने में तो कोई बाध नहीं है, क्योंकि स्वरूपसम्बन्धात्मक अवच्छेदकता से वह विवक्षित अवच्छेदकता भिन्न है, अननुगत नहीं है । वहाँ गौरव दोष का भी अवकाश नहीं है, अर्थात् विधेयता की भाँति अन्य धर्म में भी समव्यापकता-अवच्छेदकता मानने पर भी समव्यापकतावच्छेदक धर्म अननुगत बनने से आते हुए गौरव दोष को भी अवकाश नहीं है, क्योंकि वह्नित्व, विधेयता, उद्देश्यतानिरूपकत्व आदि धर्मों का, जो अननुगतत्वेन प्रतीयमान हैं, समव्यापकतावच्छेदकत्वस्वरूप उपलक्षणीभूत धर्म से अनुगम हो सकता है, क्योंकि समव्यापकतावच्छेदकता उन सब में अनुगत है, साधारण है । समव्यापकतावच्छेदकता विशेषण नहीं है, किन्तु उपलक्षण है । अर्थात् व्यावर्तक नहीं है किन्तु परिचायक है । अतः समव्यापकतावच्छेदकता को अनुगमक मानने में किसी दोष का अवकाश नहीं है । इसलिए विधेयान्वयितावच्छेदकसंसर्गघटकविधया विधेयतावच्छिन्नसमव्यापकता का भान मानने में किसी दोष का अवकाश नहीं है ।'' <—

तादृश. । **मगर यह वक्तव्य भी इसलिए निराधार हो जाता है कि समव्यापकतावच्छेदक धर्म के विशेषणविधया विधेयतावच्छिन्नत्व = विधेयतासामानाधिकरण्य का निवेश करने पर भी 'द्रव्यं संयोगी' इत्यादि स्थल में गुणात्मक विधेय संयोग में रहनेवाली उद्देश्यव्यापकता के अवच्छेदकधर्मविधया गुणत्व का, जो संयोगवृत्ति होने से विधेयतासमानाधिकरण है, ग्रहण मुमकिन होने से गुणत्वावच्छिन्नव्यापकता के भान का अनिष्ट प्रसंग उपस्थित होगा । विधेयताविशिष्ट के अधिकरण में रहनेवाले अभाव (=भेद) की प्रतियोगिता का गुणत्व अनवच्छेदक है । अतः विधेयतावच्छिन्न समव्यापकता का अवच्छेदक गुणत्व हो सकता ही है । इसलिए विधेयतासमानाधिकरण ऐसे धर्म का विधेयनिष्ठ उद्देश्यव्यापकता के अवच्छेदकविधया भान मानना भी नामुनासिब है - यह फलित होता है ।**

धर्मोपादानेऽपि संयोगरूपयोरन्यतरत्वेन विधेयत्वे संयोगत्वेन व्यापकत्वलाभप्रसङ्गाच्च ।
—> "सर्वत्र विभागवाक्ये चरमपदे तावदन्यतमत्वेन लक्षणा स्वीकार्या, धर्मादिपदानां

❀ जयलता ❀

धर्मोपादानेऽपि = विधेयतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाभावविशिष्टस्य समव्यापकतावच्छेदकधर्मस्य विधेयनिष्ठोद्देश्यव्यापकतावच्छेदकत्वेन ग्रहणेऽपि, 'द्रव्यं संयोगरूपान्यतरविशिष्टं' इत्यादौ द्रव्यस्योद्देश्यत्वे **संयोगरूपयोरन्यतरत्वेन विधेयत्वे** = संयोगरूपान्यतरत्वावच्छिन्नविधेयत्वे चाभिमते सति संयोगरूपयोः **संयोगत्वेन व्यापकत्वलाभप्रसङ्गात्** = संयोगत्वावच्छिन्नस्योद्देश्यव्यापकत्वस्य भानापत्तेः, संयोगत्वस्य विधेयतानतिरिक्तवृत्तित्वेन विधेयताशून्यनिरूपितवृत्तित्वशून्यत्वात् । ततश्च विधेयताऽभाववन्निरूपितवृत्तित्वशून्येन विधेयतावच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकेनाऽवच्छिन्नस्य व्यापकत्वस्य विधेयान्वयितावच्छेदकसंसर्गतयोपादानेऽपि न निस्तारः, 'द्रव्यं संयोग-रूपान्यतरवदि'त्यत्र विधेयताशून्याऽवृत्तिविधेयतासमानाधिकरण-समव्यापकतावच्छेदकसंयोगत्वावच्छिन्नव्यापकत्वसम्बन्धेन द्रव्यत्वावच्छिन्ने संयोग-रूपान्यतरान्वयस्याऽबाधितत्वादिति तात्पर्यम् ।

वस्तुतो विधेयतावच्छेदकनानात्वस्थले यत्र विधेयतावच्छेदकरूपेण व्यापकत्वं बाधितं तत्रैव शब्दोपात्ततत्तद्विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नान्यतमत्वादिना व्यापकत्वं प्रतीयत इति व्युत्पत्तिरिति न क्षतिरिति वदंति ।

ननु —> **सर्वत्र विभागवाक्ये** पदार्थ-द्रव्य-गुणादिविभागप्रतिपादकवाक्यत्वावच्छेदेन विधेयांशे **चरमपदे तावदन्यतमत्वेन** = शब्दोपात्तयावद्विधेयान्यतमत्वेन **लक्षणा** = अपरवृत्तिः **स्वीकार्या** । यथा 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाशजीवसमयपुद्गलाः' इत्यत्र जैनेन्द्रे द्रव्यविभागवाक्ये विधेयांशे चरमस्य पुद्गलपदस्य धर्माधर्माकाशजीवसमयपुद्गलान्यतमत्वावच्छिन्ने लक्षणा स्वीकर्तुमुचिता । धर्माद्यन्यतमत्वावच्छिन्नव्यापकत्वविशिष्टतादात्म्यसम्बन्धेन द्रव्यत्वावच्छिन्ने तदन्वयः । नामार्थयोरभेदातिरिक्तसम्बन्धमात्रेणान्वयबोधस्यैव निराकाङ्क्षतया व्यापकत्वस्य संसर्गमध्ये प्रवेशेऽप्यव्युत्पत्तिविरहात् । **एतेन** निपातातिरिक्तनामार्थयोः भेदेनान्वयस्याऽव्युत्पन्नत्वनियमोऽपि **व्याख्यातः**, उद्देश्यविधेयभावमहिम्ना व्यापकत्वभानस्यौत्सर्गिकत्वात् । न च लक्ष्यतावच्छेदकघटकतयैव

विधेयताऽभा. । यदि उक्त दोष के निरासार्थ प्रतिवादी की ओर से यह कहा जाय कि —> "विधेयतान्वयितावच्छेदकसम्बन्धविधया अभिमत व्यापकता के अवच्छेदक धर्म के विशेषणविधया विधेयतासामानाधिकरण्य का नहीं अपितु विधेयताऽभाववदवृत्तित्व का ग्रहण करने पर किसी दोष का अवकाश नहीं है, क्योंकि 'द्रव्यं संयोगी' इत्यादि स्थल में विधेयता केवल संयोग में ही रहती है, और गुणत्व तो विधेयताशून्य ज्ञानादि गुण में भी रहता है । अतः गुणत्वावच्छिन्न व्यापकता के भान का कोई अवकाश नहीं है" <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह 'द्रव्यं संयोगी' इत्यादि स्थल में गुणत्वादिरूप से विधेय में उद्देश्यव्यापकता का परिहार होने पर भी 'द्रव्यं संयोगरूपान्यतरवत्' इस स्थल में संयोगत्वेन उद्देश्यव्यापकत्व का संयोगरूपान्यतरात्मक विधेय में भान होने का अनिष्ट प्रसङ्ग अपरिहार्य है । प्रस्तुत में द्रव्य को उद्देश्य कर के संयोगरूपान्यतरत्वेन संयोगरूपान्यतर का विधान किया जाता है । विधेयतावच्छेदक संयोगरूपान्यतरत्व होने पर भी संयोगत्वेन व्यापकता का भान होने की आपत्ति का कारण यह है कि विधेयताशून्य रस-गन्धादि गुण, घट, पट आदि में संयोगत्व नहीं रहता है । विधेयताऽभाववदवृत्तित्व संयोगत्व में अबाधित होने से संयोगत्वावच्छिन्नव्यापकत्व का विधेय में भान होना तथा संयोगत्वावच्छिन्नव्यापकत्वसम्बन्ध से द्रव्यत्वावच्छिन्न में संयोगरूपान्यतर का अन्वय होना न्यायप्राप्त है, यदि विधेयताअभाववान् में न रहनेवाले धर्म को व्यापकत्वावच्छेदक माना जाय।

❧ चरमपद की तावदन्यतम में लक्षणा भी दोषग्रस्त ❧

सर्वत्र. । यहाँ कुछ विद्वानों का कहना है कि —> "सर्वत्र विभागवाक्य में विधेय अंश में जो चरम पद होता है उसकी तावदन्यतमत्वेन तावदन्यतम में लक्षणा होती है । जैसे 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाश-जीव-काल-पुद्गलाः' इस स्थल में विधेयांश में चरम पद है पुद्गल, उसकी लक्षणा धर्माधर्माकाश-जीव-काल-पुद्गलान्यतम में होगी और लक्ष्यतावच्छेदक होगा धर्माधर्माकाशजीवकाल-पुद्गलान्यतमत्व । लक्ष्यतावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न व्यापकत्व का विधेय में भान होगा । अतः प्रस्तुत स्थल में धर्माधर्माकाशजीव-कालपुद्गलान्यतमत्वेन धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाशास्तिकाय-जीवास्तिकाय-काल-पुद्गलास्तिकाय में द्रव्यव्यापकत्व का भान हो सकता है और तादृशान्यतमत्वावच्छिन्नव्यापकत्वविशिष्टाभेद संबन्ध से विधेय धर्मास्तिकाय आदिपदक का उद्देश्यभूत द्रव्यत्वावच्छिन्न में अन्वय हो सकता है, जो अबाधित है । यहाँ इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि चरमपद की तावदन्यतम में लक्षणा होने पर भी धर्माधर्मादिपदपञ्चक का प्रयोग आवश्यक है, क्योंकि वे तात्पर्यग्राहक हैं । वक्ता के अभिप्राय का ज्ञान कराने से पूर्वोक्त धर्म, अधर्म आदि पद में पुनरुक्ति दोष का भी प्रसङ्ग नहीं है" <—

तु तात्पर्यग्राहकत्वाच्च वैयर्थ्यम्" ⟵ इत्यपि न युक्तम्, प्रथमादिपदेष्वपि तत्स्वीकारसम्भवेन विनिगमनाविरहात् । तस्मात् 'चित्रगुः' इत्यादाविव सर्वेषामेव लक्षकत्वमिति अपरे ।

❀ जयलता ❀

धर्मादीनां भानाद् धर्मादिपदप्रयोगवैयर्थ्यमिति **वाच्यम्, धर्मादिपदानां** अचरमाणां **तु तात्पर्यग्राहकत्वात्** = वक्त्रभिप्रायगोचर-बोधजनकत्वात् **न वैयर्थ्यं** = नैरर्थक्यम् । धर्मादिपदाऽप्रयोगे केवलपुद्गलपदात् घटपटाद्यन्यतमत्वावच्छिन्ने लक्षणा द्रव्य-गुण-कर्माद्यन्यतमत्वावच्छिन्ने वा ? इत्यत्राऽनिर्णयात् । अत एव न पौनरुक्त्यमपि लब्धावकाशम् । इत्थञ्च चरमपुद्गलपदलक्ष्यतावच्छेदकी-भूतेन धर्माद्यन्यतमत्वेनैव विधेयस्योद्देश्यतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वावच्छिन्ननिष्ठव्याप्यतानिरूपितव्यापकत्वलाभः सम्भवतीति तात्पर्यम् ⟵ **इत्यपि न युक्तम्, प्रथमादिपदेष्वपि** = धर्मादिपदेष्वपि, चरमपुद्गलपदवत् **तत्स्वीकारसम्भवेन** = तावदन्यतमत्वावच्छिन्नलक्ष्य-त्वनिरूपितलक्षकत्वाभ्युपगमस्य शक्यत्वेन 'चरमपदस्य तावदन्यतमत्वावच्छिन्ने लक्षणा प्रथमादिपदानां वा ?' इत्यत्र **विनिगमना-विरहात्** = निर्णायकतर्काभावात् । न हि धर्मादिपदानां धर्माधर्माद्यन्यतमत्वावच्छिन्ननिरूपितलक्षकतावत्त्वमङ्गीकृत्य तादृशभानोपगमे किञ्चिद् बाधकमस्ति । **न च** समासघटकधर्मादिपदानां तावदन्यतमत्वावच्छिन्ने लक्षणाऽङ्गीकारे प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वि-तस्वार्थबोधकत्वनियमभङ्गप्रसङ्ग एव बाधकः धर्मादिपदानां प्रथमविभक्ति-प्रकृतित्वाभावादिति **वाच्यम्,** प्रथमायाः साधुत्वमात्र प्रयोगात्, तादृशनियमस्य 'तेषां मोहः पापीयान्, नामूढस्येतरोत्पत्तेः' (न्या.सू.४-१-६) इतिन्यायसूत्रे दूषितत्वाच्च ।

एतेन चरमं पुद्गलपदं धर्मत्वाद्यन्यतमवत्परं, द्रव्यत्वावच्छिन्नेऽभेदसम्बन्धेन धर्मत्वाद्यन्यतमवत्त्वावच्छिन्नस्यान्वयो व्युत्पत्ति-वैचित्र्यात् । तथा च 'द्रव्याणि धर्मत्वाद्यन्यतमवन्ति' इति बोध इत्यपि **परास्तम्**, धर्मादिपदानामपि धर्मत्वाद्यन्यतमवति लक्षणा-स्वीकारेण अभिमतशाब्दबोधनिर्वाहात् । **तस्मात्** = चरमपदस्य लक्षकत्वमुताहो प्रथमादिपदानां ? इत्यत्राऽविनिगमात्, **'चित्रगुः' इत्यादौ** बहुव्रीहिसमासस्थल **इव सर्वेषामेव** समासघटकपदानां विभागवाक्यस्थले **लक्षकत्वं** = तावदन्यतमत्वावच्छिन्न-लक्षकत्वम् । **न च** 'चित्रगुः' इत्यादौ लाघवात् गोपदस्यैव गोमति लक्षणा गवि चित्राऽभेदान्वय इति **वाच्यम्,** पदार्थः पदार्थे-नान्वेति न तु पदार्थैकदेशेनेति नियमस्य भङ्गप्रसङ्गात् । **न च** शरैः शातितपत्रः, चैत्रस्य गुरुकुलमित्यादौ पदार्थैकदेशान्वयस्य सर्वानुमतत्वेन तादृशव्युत्पत्तौ मानाभाव इति **वाच्यम्,** अभेदसम्बन्धेन पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु तदेकदेशेनेत्यत्र तात्पर्यात्, तदनङ्गीकारे तु 'ऋद्धस्य राजमातङ्गाः' इत्यस्यापि प्रसङ्गात् । **न च** गोपदस्यैव चित्रगोमति लक्षणाऽस्तु चित्रपदं तु तात्पर्यग्राहक-मिति **वाच्यम्,** सम्भवति सार्थकत्वे निरर्थकत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति न्यायेन पूर्विलचित्रपदस्य तात्पर्यग्राहकत्वस्वीकारा-नौचित्यात् । तस्मात् चित्रपदस्य गोपदस्य च चित्रगोमति लक्षणास्वीकारौचित्यात् । तद्वदेव 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाशात्मकालपुद्गलाः' इत्यत्रापि धर्मादीनां सर्वेषामेव तावदन्यतमत्वावच्छिन्ने लक्षणां स्वीकृत्याऽभिमतशाब्दबोधनिर्वाहस्यौचित्यात् । **अपरे** इत्यनेनाऽस्वरसः प्रदर्शितः । तद्बीजञ्चेदम् यथा 'द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाभावाः सप्त पदार्थाः' इत्यत्र द्रव्यादीनां सर्वेषामेव तावदन्यतमलक्षकत्वे द्रव्यत्वाद्यन्यतमत्वावच्छिन्नस्य सप्तवारं भानापत्तिः **षड्भिरामेण** प्रदर्शिता तद्वदेव प्रकृते धर्माद्यन्यतमत्वावच्छिन्नस्य षट्कृत्वः भानापत्तेः ।

मगर विचार करने पर यह वक्तव्य भी दोषग्रस्त प्रतीत होता है, क्योंकि तावदन्यतमत्वेन तावदन्यतम में विधेय अंश के चरमपद की लक्षणा की जाय या प्रथम पद की लक्षणा की जाय या द्वितीयादि पद की लक्षणा की जाय ? इस विषय में कोई विनिगमक नहीं है । इसका कारण यह है कि प्रथम धर्मपद की या द्वितीयादि अधर्मआदि पद की धर्माधर्माकाशात्मकाल-जीवपुद्गलान्यतमत्वेन लक्षणा मुमकिन है, नामुमकिन नहीं है, बाधित नहीं है । इसलिए मुनासिब तो यही है कि 'चित्रगु' इत्यादि स्थल की भाँति सभी पदों की लक्षणा की जाय अर्थात् पदों को लक्षक माना जाय । आशय यह है कि 'चित्रगु' यह पद बहुव्रीहिसमासवाला है जिसका अर्थ है चित्रगायवाला । यहाँ गोपद की गोमान् या चित्रगोमान् में लक्षणा करनी या चित्रपद की ? इस विषय में कोई विनिगमक नहीं होने से चित्रपद और गोपद दोनों की चित्रगोमान् में लक्षणा की जाती है यानी चित्रपद और गोपद दोनों लक्षक हैं - यह माना जाता है । ठीक वैसे ही प्रस्तुत में चरम पद की तावदन्यतम में लक्षणा की जाय या प्रथमादि पद की ? इस विषय में कोई विनिगमक नहीं होने की वजह धर्म, अधर्म आदि सभी पदों की धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाश-जीव-काल-पुद्गलअन्यतम में लक्षणा की जाती है-यही मानना मुनासिब है - ऐसा अपर विद्वानों का अभिप्राय है ।

'अन्यतमत्व एव लक्षणा, धर्मादीनां तु तदेकदेशे भेदे प्रतियोगितयाऽन्वय इति अन्ये ।

वस्तुतो भेद एवास्तु लक्षणा, लाघवात् । तस्य च धर्मादिभिः समं स्वयञ्च त्रिधान्वयो व्युत्पत्तिवैचित्र्यादिति न्याय्यः पन्थाः ।

❀ जयलता ❀

ननु धर्मादीनां सर्वेषामेव तावदन्यतमत्वावच्छिन्ने लक्षणाया अङ्गीकारे गौरवमिति लाघवात् **अन्यतमत्व एव लक्षणा** अस्तु । अन्यतमत्वञ्च अनेकभेदावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्वरूपम् । **धर्मादीनां** = धर्मादिपदशक्यार्थानां **तु तदेकदेशे** अन्यतमत्व-पदार्थभूतभेदप्रतियोगितावच्छेदकलक्षणे **भेदे** = अन्योन्याभावे **प्रतियोगितया** = स्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकत्वसम्बन्धेन **अन्वयः** = योगो भवति । इत्थञ्च स्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकत्वसम्बन्धेन धर्मादिपदकविशिष्टभेदावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वेन विधेयस्योद्देश्य-तावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपितव्यापकत्वलाभः 'तादात्म्यसम्बन्धेन द्रव्याणि निरुक्तधर्माद्यन्यतमत्वविशिष्टवन्ति' त्यन्वयबोधस्वीकारा-न्निर्वहतीति तात्पर्यम् ।

अन्ये इत्यनेन प्रकरणकृता स्वाऽस्वरसः प्रदर्शितः । तद्बीजञ्चेदम् नानाभेदावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदत्वेन नानाभेदावच्छिन्न-प्रतियोगिताकभेदे तल्लक्षणायाः स्वीकारेऽपि गौरवानपायात्, 'पृथिवी द्विविधा नित्यानित्या' इत्यत्रान्वयबोधानुपपत्तेश्च । न ह्यत्र पृथिव्यामन्यतमत्वं प्रतीयते किन्तु नित्यानित्यान्यतरत्वमेव । **न चान्यतमत्वान्यतरत्वयोरन्यतरत्लक्ष्यमस्त्विति वाच्यम्**, तथा सति महागौरवादिति हृदि निधायाह - **वस्तुत** इति । **भेद** एव, न तु धर्माद्यन्यतमत्वावच्छिन्ने धर्मत्वाद्यन्यतमवति अन्यतमत्वादौ वा. **अस्तु** सर्वत्र विभागवाक्यस्थले **लक्षणा, लाघवात्** = लक्ष्यतावच्छेदकलाघवात् । प्रकृते भेदत्वस्य लक्ष्यतावच्छेदकत्वम्, तस्य धर्माद्यन्यतमत्वापेक्षया लघुत्वं स्पष्टमेव । अन्वयबोधोपपादनायाह **तस्य** = भेदस्य **च** स्वप्रतियोगिभिः धर्मादिभिः **समं स्वयं** = स्वघटिताऽन्यतमत्वघटकविशेष्यात्मकभेदेन साकं, उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नेन सार्द्धं **च त्रिधा** = त्रिप्रकारेण **अन्वयः** = योगः **व्युत्पत्तिवैचित्र्यात्** = शब्दस्यार्थबोधकशक्तिविशेषमहिम्ना भवति । भेदस्य प्रतियोगितासम्बन्धेन धर्माधर्माकाशजीव-कालपुद्गलैः सहान्वयो भवति । तस्य अन्यतमत्वघटकीभूतविशेष्यात्मकभेदेन समं स्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्वसम्बन्धेनान्वयो भवति । उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्ने च तस्य स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वसम्बन्धेनान्वयः कार्यः, वृत्तिग्रह-पदार्थस्मरण-शाब्दबोधानां समानप्रकारकत्वप्रत्यासत्त्या कार्यकारणभावनियमात् । **एतेन** प्रतियोगितावच्छेदकीभूतभेदे लक्षणाङ्गीकारेऽपि तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वस्यैवोद्देश्ये भानं भवतु इति मुग्धप्रलापः **परास्तः**, पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु तदेकदेशेनेति

❀ अन्यतमत्व में लक्षणा - अन्य विद्वान् ❀

अन्यतमत्व. । **यहाँ उद्देश्यविधेयभावस्थल में अन्य विद्वानों का यह मन्तव्य है कि ''चरमपद की लक्षणा तावदन्यतमत्व में न मान कर केवल अन्यतमत्व में ही माननी चाहिए, क्योंकि उसमें लाघव है । अतः 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाशजीवकालपुद्गलाः' यहाँ चरम पद की लक्षणा केवल अन्यतमत्व में ही होगी, जो तद्भिन्नत्वे सति तद्भिन्नत्वे सति तद्भिन्नभिन्नत्वस्वरूप है अथवा अनेकभेदावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वस्वरूप है । अन्यतमत्व का घटक = एकदेश है अनेकभेद । उस भेद के प्रतियोगी धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय आदि हैं । अतः धर्मास्तिकाय आदि का अन्यतमत्व के एकदेश भेद में प्रतियोगितासम्बन्ध = स्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकत्व सम्बन्ध से अन्वय होगा । अतः स्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकत्वसम्बन्ध से धर्माधर्माकाशात्मकालपुद्गल-विशिष्टभेदावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद, जो धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय आदि छ में रहेगा, में लक्षणा मान कर तादृशभेदावच्छिन्नप्रति-योगिताकभेदावच्छिन्न उद्देश्यव्यापकत्व का विधेय में भान माना जा सकता है । इस मान्यता के अनुसार तादृशव्यापकत्वविशिष्टतादात्म्य सम्बन्ध में उद्देश्यतावच्छेदकद्रव्यत्वावच्छिन्न में धर्मादिपदद्रव्य का अन्वय प्राप्त होता है या तादात्म्यसम्बन्ध से द्रव्यत्वावच्छिन्न में धर्मादिअन्यतम का भान होता है ।**

❀ भेद में ही लक्षणा प्रामाणिक ❀

वस्तु. । **वास्तविकता को लक्ष्य में लिया जाय तब तो सर्वत्र विभागवाक्यस्थल में भेद में ही लक्षणा होती है, क्योंकि तावदन्यतमत्वावच्छिन्न, अन्यतमत्व आदि में लक्षणा मानने की अपेक्षा भेद में लक्षणा का स्वीकार करने पर लक्ष्यतावच्छेदकधर्मशरीर में लाघव होता है । इस पक्ष में लक्ष्यार्थ भेद का प्रतियोगितासम्बन्ध से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि के साथ अन्वय होता है तथा अन्यतमत्व के घटक विशेष्यात्मक भेद में स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्ध से अन्वय होता है और उद्देश्यतावच्छेदक**

*साम्प्रदायिकास्तु **विशेषविधिनिषेधयोः शेषनिषेधाभ्यनुज्ञाफलकत्वान्न्यूनाधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदकत्वमत्र व्युत्पत्तिसिद्धमिति** आहुः ।*

✤ जयलता ✤

नियमस्य भङ्गप्रसङ्गाच्च । ततश्च प्रतियोगितया धर्मादिविशिष्टभेदः स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन भेदान्तरेऽन्वितः सन् स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वसम्बन्धेनोद्देश्ये भासते । **न च** निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदसम्बन्धेनान्वयस्याऽव्युत्पन्नत्वान्नायमन्वयबोधः तान्त्रिकाणामभिमतः स्यादिति **वाच्यम्,** तथापि तस्योद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्ने स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदविशिष्टतादात्म्य-सम्बन्धेनान्वये बाधकाभावात्, निपातभिन्ननामार्थयोर्भेदातिरिक्तसम्बन्धमात्रेणैवान्वयबोधस्य निराकाङ्क्षत्वे न त्वतिरिक्तसम्बन्ध-घटितभेदनेत्यस्य **मथुरानाथ**प्रभृतीनामभ्यामनतत्वात् । **न चान्यत्र** पूर्वोत्तरयोर्द्विधैवान्वयस्य दृष्टचरत्वेन त्रिधान्वयस्याऽव्युत्पन्नत्वमिति **वाच्यम्** तादृशव्युत्पत्तेः विशिष्य विश्रामात् । **एतेन** उक्तयानया दिशा नान्वयो दृष्टचर इत्यपि **निरस्तम्,** तात्पर्यसत्त्वे किमदर्शन-मात्रेण । अत एव व्युत्पत्तिवैचित्र्यादित्युक्तम् । सर्वत्र विभागवाक्ये विधेयांशे चरमपदस्यैव भेदे लक्षणा, अन्यथा प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वनियमभङ्गप्रसङ्गात् ।

न च प्रथमाया निरर्थकत्वान्नायं दोष इति **वाच्यम्,** सम्भवति सार्थकत्वे निरर्थकत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वात्, प्रथमाया अपि सार्थकत्वस्य तत्र तत्रोक्तत्वादित्ययमेव **न्याय्यः** = न्यायानपेतः प्रसिद्धनियमानुरोधी **पन्थाः** = अन्वयबोधोपपादनप्रकारः इति दृढतरं विभावनीयं व्युत्पन्नैः ।

साम्प्रदायिकाः उदयनाचार्यप्रभृतयः तु विशेषविधिनिषेधयोः प्रदर्शितयोः **शेषनिषेधाभ्यनुज्ञाफलकत्वात्** = अनुक्तप्रतिषेध-विधानावबोधजनकत्वनियमात्, **न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदकत्वं** = प्रतिपादितसङ्ख्यापेक्षया न्यूनायाः अधिकायाश्च सङ्ख्यायाः प्रतिषेधकत्वं **अत्र** सर्वत्र विभागवाक्यं **व्युत्पत्तिसिद्धमिति** । अयं तेषामाशयः यथोपस्थितेषु पुरुषेषु 'अस्मै देयं' इति विशेष-विधानेऽन्यस्य दाननिषेधज्ञानं यथा वा तेषामेव मध्ये 'अस्मै न देयं' इति विशिष्य निषेधे तदितरेभ्यो दानविधि[illegible] । तच्च लक्षणादिना शाब्दरूपमनुमितिरूपं वेत्यन्यदेतत् । तथा विभागस्याऽपि न्यूनाधिकसङ्ख्याव्यव[illegible] । सामान्यतः ज्ञातानां विशेषरूपेणाऽभिधानं विभागः । विभाजकोपाधीनां परस्परसामानाधिकरण्यव्यवच्छेदोऽधिकसङ्ख्याव्य-वच्छेदः । वस्तुतः विभाज्यतावच्छेदकसामान्यविभाजकोपाधिमन्निष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकव्यवच्छेदोऽधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदः । विभाजकोपाध्यवच्छिन्नातिरिक्ते विभाज्यतावच्छेदकसामान्यधर्मव्यवच्छेदो विभाज्यतावच्छेदकसामान्यधर्मस्य विभाजकतावच्छेदकं यत् तद्धर्मावच्छिन्नभेदसमुदायवद्वृत्तित्वाभावो न्यूनसंख्याव्यवच्छेदः । तद्बोधकत्वञ्च व्युत्पत्तिसिद्धम् । **न च** साम्प्रदायिकमता-नुसारेणाऽपि 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाशजीवकालपुद्गलाः' इत्यत्र जैनेन्द्रद्रव्यविभागवाक्ये कथं प्रतिषेधः सम्भवति ? न ह्यनवगतस्य प्रतिषेधः सम्भवतीति वाच्यम्, द्रव्यस्य सतः षडनात्मत्वं षड्वाह्यस्य सतो द्रव्यत्वं वा प्रतिषेध्यम् । तथा च प्रतिपन्नस्य प्रतिपन्ने प्रतिषेध इति न किञ्चिद् दूषणम् । अतः परं न शङ्का न चोत्तरम् । तथाहि - इदं द्रव्यमेभ्योऽधिकं स्यादिति वा, इदमेभ्योऽधिकं द्रव्यं स्यादिति वा शङ्क्यते । प्रथमे आधिक्यं निराचिकीर्षितं यथा पुद्गलात्पृथिवीजलानलानिलदिग्मनसां; द्वितीये च द्रव्यत्वं यथा गुणादेः । अतः परं न शङ्का न चोत्तरं, धर्मिण एव बुद्ध्यनारोहात् । यदि कथञ्चिद् बुद्धिमारोक्ष्यते तदाऽस्माभिरुक्तोत्त-

द्रव्यत्व से अवच्छिन्न = द्रव्यसामान्य में स्वावच्छेदकावच्छिन्नभेदविशिष्टतादात्म्यसम्बन्ध से अन्वय होता है । इस तरह लक्ष्यार्थ भेद का त्रिधा अन्वय मानना ही न्याय्य है । इस तरह 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाशजीवकालपुद्गलाः' इस विभाग वाक्य से अन्वयबोध इस तरह होगा कि प्रतियोगितासम्बन्ध से धर्मादिविशिष्ट भेद, जो स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्ध से भेदान्तर में अन्वित होता है, स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदविशिष्टतादात्म्यसम्बन्ध से द्रव्य को स्वविशिष्ट बनाता है अर्थात् 'तादृशसम्बन्धेन भेदविशिष्टानि द्रव्याणि' । अन्वयबोध का यह प्रकार मुनासिब है, क्योंकि इसके स्वीकार में किसी प्रसिद्ध प्रामाणिक शाब्दस्थलीय नियम का भङ्ग नहीं होता है । विशेषजिज्ञासु जयलता पर निगाह डाल सकते हैं ।

✤ विभागवाक्य न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदज्ञापक है - प्राचीन नैयायिक ✤

सां. । **साम्प्रदायिक = गौतमीय न्यायसम्प्रदायानुरोधी मनीषियों का यह कथन है कि विशेष का विधान अनुक्त शेष का निषेध करता है और विशेष का निषेध अनुक्त शेष का विधान करता है । जैसे 'केवलिप्ररूपित धर्म श्रद्धेय है' ऐसा विशेषविधान होने पर इतर = मिथ्यादृष्टिआदिप्ररूपित धर्मों में श्रद्धेयत्व का निषेध होता है तथा 'अयोग्य को दीक्षा नहीं देनी चाहिए' ऐसा विशेष निषेध होने पर इतर = योग्य को दीक्षा देने का विधान होता है । इस तरह विभागवाक्य से यथोक्त संख्या से न्यून या अधिक संख्या का निषेध होता है - यह तो व्युत्पत्तिसिद्ध ही है । यहाँ व्युत्पत्ति का अर्थ है**

अत्र व्युत्पत्तिः सद्व्युत्पन्नीयबोधहेतुत्वग्रहः । तत्त्वञ्च पदार्थे धर्माद्यन्यतमभिन्नाऽतादात्म्य-तद्वृत्तिभेदाऽप्रतियोगित्वोभयसंसर्गकशाब्दबोधं प्रत्युक्तानुपूर्वीज्ञानत्वेन । तेन विपरीत-व्युत्पन्नस्याऽन्यथाबोधेऽपि न क्षतिः ।

अन्यत्र तु 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दातव्यं, कौण्डिन्याय न दातव्यं', 'ब्राह्मणेभ्यो दधि न

❀ जयलता ❀

नान्तर्भावयिष्यते, अनन्तर्भावे वा द्रव्यत्वं तस्य निराकरिष्यत इति तात्पर्यम् ।

अत्र = विभागवाक्ये, **व्युत्पत्तिः** = न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदसाधकव्युत्पत्तिनिष्पन्नप्रतिपाद्यः, **सद्व्युत्पन्नीयबोधहेतुत्वग्रहः** = सम्यग्व्युत्पन्नपुरुषीयान्वयबोधनिष्ठकार्यत्वनिरूपितकारणत्वबोधः, **तत्त्वं** = समीचीनव्युत्पन्नसमवेतशाब्दबोधहेतुत्वं **च पदार्थे** = उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्ने **धर्माद्यन्यतमभिन्नाऽतादात्म्य - तद्वृत्तिभेदाऽप्रतियोगित्वोभयसंसर्गकशाब्दबोधं प्रति उक्तानुपूर्वी-ज्ञानत्वेन** = 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाशजीवकालपुद्गलाः' इत्याकारकानुपूर्वीज्ञानत्वेन । यस्मिन् शाब्दबोधे उद्देश्यतावच्छेदक-द्रव्यत्वावच्छिन्ने विधेयस्य धर्माद्यन्यतमभिन्नाऽतादात्म्य-तद्वृत्तिभेदाऽप्रतियोगित्वोभयसम्बन्धः संसर्गमर्यादया भासते तादृशशाब्दबोध-त्वावच्छिन्नं प्रति निरुक्तानुपूर्वीज्ञानत्वेन कारणत्वम् । न हि द्रव्यत्वावच्छिन्ने धर्माद्यन्यतमभिन्नाभिन्नत्वं धर्मादिवृत्तिभेदाऽप्रतियोगित्वं वा बाधितम् । कार्यतावच्छेदकसंसर्गश्च न केवलं समवायः किन्तु सम्यग्व्युत्पन्नपुरुषानुयोगिकसमवायः, कार्यतावच्छेदकधर्मकोटौ तत्प्रवेशे तु गौरवम् । तत्फलमाह - **तेन** = सम्यग्व्युत्पन्नानुयोगिकसमवायस्य आनुपूर्वीज्ञानकार्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वेन, **विपरीत-व्युत्पन्नस्य** = प्रदर्शितविलक्षणव्युत्पत्तिमतः पुरुषस्य, अन्यथाबोधेऽपि = न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदानवगाहिशाब्दबोधोत्पादेऽपि, **न क्षतिः** = न व्यभिचारः, प्रदर्शितकार्यकारणभावानाक्रान्तत्वात्, व्युत्पत्तौ निरुक्तहेतुत्वग्रहत्वस्याऽबाधितत्वात् । इत्थञ्च विभागवाक्यस्थले विशेषविधि-निषेधयोः शेषनिषेधानुज्ञाबोधजनकत्वेन न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदबोधकत्वमनायासेन प्राचीनगौत-मीयदर्शनाभिप्रायानुसारेणेति फलितम् ।

वस्तुतस्त्वेवमभ्युपगमे 'द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव' इति गौतमीयद्रव्यविभागवाक्ये 'नवैव' इति व्यर्थं स्यात् । **एतेन** यद्यपि विभागस्य न्यूनाधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदपरत्वादेव नवत्वं लब्धं तथापि स्पष्टार्थं नवग्रहणं, परमतभ्रमश्च विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थः' (कि.पृ.५५) इति **उदयनवचनमपि प्रत्याख्यातम्**, सद्व्युत्पन्नस्य तत्सिद्धान्तानुसारेण विभागवाक्यादेव नवत्वलाभात्, विप्रतिपत्तिनिराकरणासम्भवाच्च । न हि संसर्गमर्यादया तत्प्रत्यये किञ्चिद्बाधकमस्तीत्यस्वरसं हृदि निधाय 'आहुः' इत्युक्तमिति ध्येयम् ।

अन्यत्र = विभागवाक्यादन्यत्र विशेषविधिनिषेधस्थले । **करणाकरणविकल्पप्रसक्त्येति** । युगपद् विधिनिषेधविकल्पापत्त्या ।

सम्यक् रीति से व्युत्पन्न पुरुष के बोध की कारणता का ज्ञान, जिससे विभागवाक्य में न्यूनअधिकसंख्याप्रतिषेधकत्व सिद्ध होता है । समीचीनव्युत्पन्नपुरुषसम्बन्धीज्ञानजनक आनुपूर्वी ज्ञान है । आनुपूर्वी का मतलब है पदों का पूर्वोत्तरभाव । आनुपूर्वीज्ञान में रहने वाला तत्त्व = सम्यग्व्युत्पन्नपुरुषीयशाब्दबोधजनकत्व प्रदर्शित आनुपूर्वीज्ञानत्वरूप से है । आनुपूर्वीज्ञान का जो कार्यभूत शाब्दबोध है वह विषयतासम्बन्ध से पदार्थ में उत्पन्न होता है । वह शाब्दबोध पदार्थवृत्तिधर्मादिअन्यतमभिन्नाऽतादात्म्य और पदार्थवृत्तिभेदाऽप्रतियोगित्व उभयसंसर्गक होता है । 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाश-जीव-काल-पुद्गलाः' यहाँ विवक्षित आनुपूर्वीज्ञान से उपर्युक्त शाब्दबोध होने में कोई बाध नहीं है, क्योंकि द्रव्यपदार्थ द्रव्य में धर्मादिअन्यतमभिन्न गुणादि का अतादात्म्य = भेद रहता है और द्रव्यपदार्थ में रहनेवाले भेद = गुणभेद आदि की अप्रतियोगिता भी रहती है । इस तरह तादृशउभयसंसर्गक शाब्द के प्रति प्रदर्शित आनुपूर्वीज्ञानत्वेन कारणता का ज्ञान ही व्युत्पत्ति है, जिससे विभागवाक्य में न्यूनअधिकसंख्याव्यवच्छेदकारणता सिद्ध होती है । ऐसा कहने से जो पुरुष सम्यग्व्युत्पन्न नहीं है किन्तु विपरीतव्युत्पन्न है उसे अन्यथा = प्रदर्शित शाब्द बोध से भिन्न = विलक्षण शाब्दबोध हो तो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि वह विलक्षण शाब्दबोध उस व्युत्पत्ति का कार्य ही नहीं है । यह विभागवाक्यस्थल की बात हुई । मगर जो वाक्य विभागवाक्य नहीं है फिर भी विधि-निषेध करता है वहाँ करण-अकरण विकल्प से सामान्यवाचक पद की विशेष अर्थ में लक्षणा होती है । जैसे 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दातव्यं, कौण्डिन्याय न दातव्यं' इस वाक्य से ब्राह्मणों को दही देने का विधान और कौण्डिन्य को दही देने का निषेध होता है । मगर कौण्डिन्य को दधिदान भी प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्राह्मण तो है ही । कौण्डिन्य को जो दधिदान प्राप्त था उसका निषेध करनेवाले वचन से ब्राह्मण पद की कौण्डिन्यभिन्न ब्राह्मण = ब्राह्मणविशेष में लक्षणा होती है, अन्यथा वाक्य के पूर्वार्ध से करण =

दातव्यं, कौण्डिन्याय दातव्यं' इत्यादौ करणाऽकरणविकल्पप्रसक्त्या सामान्यपदस्य विशेषपरत्वं युक्तं, सामान्यरूपेणैव वा विशेषबोधः ।

नव्यास्तु → इतरबाधादिसहकारेण व्यापकतानवच्छेदकरूपेणाऽनुमितिरिवाऽत्र पदानुपस्थि-

❁ जयलता ❁

'ब्राह्मणेभ्यो दधि दातव्यमि'त्यनेन ब्राह्मणत्वाऽविशेषात्कौण्डिन्ये दानविधानं 'कौण्डिन्याय न दातव्यमि'त्यनेन कौण्डिन्ये दाननिषेधश्च युगपल्लभ्येताम् । तथा 'ब्राह्मणेभ्यो दधि न दातव्यमि'त्यनेन कौण्डिन्ये ब्राह्मणत्वाऽविशेषात् दधिदानप्रतिषेधः 'कौण्डिन्याय दातव्यमि'त्यनेन च तस्मिन्नेव दधिदानविधिश्च युगपदेव लभ्येताम् । न च तद् दृष्टमिष्टं वा, विरोधात्, असम्भवाच्च । इत्यनेन हेतुना तत्र **सामान्यपदस्य विशेषपरत्वं** = विशेषे लक्षणायाः स्वीकरणं **युक्तम्** । ततश्च ब्राह्मणपदे कौण्डिन्येतरब्राह्मणत्वेन लक्षणायाः स्वीकारात् कौण्डिन्येतरब्राह्मणसम्प्रदानक-दधिकर्मक-दानविधिः कौण्डिन्यसम्प्रदानक-दधिकर्मक-दानप्रतिषेधश्च युगपत्प्रथमविधिनिषेधवाक्याल्लभ्येते, द्वितीयविधिनिषेधवाक्यात् कौण्डिन्येतरब्राह्मणसम्प्रदानक-दधिकर्मक-दाननिषेधः कौण्डिन्यसम्प्रदानक-दधिकर्मकदानविधानञ्च समकालमेव प्राप्येते । न च विरोधः, विधानप्रतिषेधकर्माऽभेदेऽपि विधिनिषेधाऽधिकरणभेदात् ।

ननु शक्त्यैव शाब्दबोधोपपादनसम्भवे लक्षणया तदुपपत्तेरन्याय्यत्वात्, लक्षणाश्रयणस्याऽतिजघन्यत्वादित्यत आह - **सामान्यरूपेण** = ब्राह्मणत्वेन **एव वा विशेषबोधः** = ब्राह्मणपदात् कौण्डिन्येतरब्राह्मणविषयकशाब्दबोधो युक्तः, एवकारेण लक्षणया विशेषबोध इत्यस्य व्यवच्छेदः । अतो ब्राह्मणत्वावच्छिन्न-कौण्डिन्येतरब्राह्मणनिष्ठसम्प्रदानताक-दधिकर्मदानविधिः कौण्डिन्यसम्प्रदानक-दधिकर्मक-दाननिषेधश्च प्रथमवाक्यादाप्येते । ब्राह्मणत्वावच्छिन्नकौण्डिन्येतरब्राह्मणनिष्ठसम्प्रदानताक-दधिकर्मक-दाननिषेधः कौण्डिन्यसम्प्रदानक-दधिकर्मक-दानविधानञ्च द्वितीयवाक्यादवगम्येते इति फलितम् । **एतेन** तक्रकौण्डिन्यन्यायोऽपि **व्याख्यातः**, शब्दतः साक्षान्निषेधाऽकरणेऽपि विशेषविधानस्य तदितरनिषेधकत्वलाभात् । तदुक्तं **पातञ्जलमहाभाष्ये** 'लौकिकोऽयं दृष्टान्तः । लोके हि सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति । तद्यथा दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेति सत्यपि सम्भवे दधिदानस्य तक्रदानं निवर्तकं भवति' (पा.म.भा. १-१-४७) इति ।

नव्यास्तु इति आहुरित्यनेनान्वेति । **इतरबाधादिसहकारेण** = महानसीय- चत्वरीयवह्न्यादिबाध- तदनुपस्थित्यादिबलेन, **व्यापकतानवच्छेदकरूपेण** = धूमनिष्ठव्याप्यतानिरूपितव्यापकताया अनवच्छेदकेन पर्वतीयवह्नित्वेन रूपेण, **अनुमितिः** = पर्वतपक्षक-धूमलिङ्गकानुमितिः **इव**, **अत्र** 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दातव्यं, कौण्डिन्याय न दातव्यं', 'ब्राह्मणेभ्यो दधि न दातव्यं, कौण्डिन्याय दातव्यं' इत्यादौ विधिनिषेधस्थले, **पदानुपस्थितेन** = ब्राह्मणादिपदजन्योपस्थितिप्रकारतानवच्छेदकेन **अपि विशेषरूपेण**

दधिदानविधि और उत्तरार्ध से अकरण = दधिदाननिषेध की कौण्डिन्य में युगपत् प्राप्ति होने की आपत्ति आयेगी । इसी तरह 'ब्राह्मणेभ्यो दधि न दातव्यं, कौण्डिन्याय दातव्यं' यहाँ पूर्वार्ध से एक ही ब्राह्मणस्वरूप कौण्डिन्य में दधिदाननिषेध = अकरण और पश्चात् भाग से दधिदानविधान = करण के विकल्प की युगपत् = समकालीन प्राप्ति होती है, जो विरोधग्रस्त है । इसे हटाने के लिए ब्राह्मणपद की, जो ब्राह्मणसामान्य का वाचक होता है, ब्राह्मणविशेष = कौण्डिन्यभिन्न ब्राह्मण में लक्षणा करनी युक्तिसंगत है । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि ब्राह्मणपद से सामान्यरूप से = ब्राह्मणत्वेन विशेष = ब्राह्मणविशेष = कौण्डिन्यभिन्न ब्राह्मण का बोध होता है । अतः प्रथम वाक्य से ब्राह्मणत्वेन ज्ञायमान कौण्डिन्यभिन्नब्राह्मण में दान का विधान होगा और दूसरे वाक्य से उसीमें दान का निषेध होगा । अतः प्रथम वाक्य के उत्तरार्ध से कौण्डिन्य में दान का निषेध या दूसरे वाक्य के उत्तरार्द्ध से कौण्डिन्य में दान का विधान होने में कोई विरोध उपस्थित नहीं होगा । ब्राह्मणत्वेन ज्ञायमान कौण्डिन्येतर ब्राह्मण को दान देना, कौण्डिन्य को नहीं तथा ब्राह्मणत्वेन ज्ञायमान कौण्डिन्येतर ब्राह्मण को दही न देना और कौण्डिन्य को देना - ऐसा अर्थबोध मानने में विरोध को अवकाश कहाँ ? इस द्वितीय पक्ष में ब्राह्मणपद की विशेष अर्थ में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं है ।

❖ पदानुपस्थितरूप से शाब्दबोध - नव्य नैयायिक ❖

नव्या. । यहाँ नव्यनैयायिक का यह वक्तव्य है कि जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थल में धूमव्यापकतावच्छेदक वह्नित्व होने पर भी पर्वतीयवह्नित्वेन ही, जो धूमव्यापकतानवच्छेदक है, वह्नि की अनुमिति होती है, क्योंकि वह्नित्वेन वह्नि की अनुमिति का कोई प्रयोजन नहीं है । यहाँ महानसीयवह्नित्व, चत्वरीयवह्नित्व आदि रूप से वह्नि की अनुमिति नहीं हो सकती; क्योंकि पर्वत में, जो यहाँ पक्षविधया अभिमत है, महानसीय वह्नि आदि का बाध है । इस तरह इतरबाध आदि

तेनाऽपि विशेषरूपेण शाब्दबोध इत्याहुः । तच्चिन्त्यम्, अधिकोऽन्यत्र विस्तरः ।

❀ जयलता ❀

= कौण्डिन्येतरब्राह्मणत्वेन रूपेण शाब्दबोधः सम्प्रदानाद्यन्वयबोधः भवति । अयं तेषामाशयः 'पर्वतो वह्निमान् धूमादि'त्यत्र धूमत्वावच्छिन्न-संयोगसम्बन्धावच्छिन्नधूमनिष्ठव्याप्यतानिरूपित-संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवह्निव्यापकताया अवच्छेदकं वह्नित्वमेव तथापि वह्नित्वेन वह्न्यनुमितिर्न भवति, वह्नित्वेन वह्नेः सिद्धत्वेन सिषाधयिषाविरहकाले पक्षताविरहेणानुमित्यनुदयप्रसङ्गात् । नापि महानसीयवह्नित्वादिना रूपेण तदनुमितिः सम्भवति, बाधात् अनुपस्थितेश्च । किन्तु पारिशेष्यन्यायेन पर्वतीयवह्नित्वेनैवानुमितिर्जायते । एतेन व्यापकतावच्छेदकप्रकारेणैवानुमितिरिति नियमोऽपि प्रत्युक्तः, पर्वतीयवह्नित्वेन सिषाधयिषितत्वे अनुमितेरनुत्पादापत्तेश्च । किञ्च यथा 'घटमानय' इत्यादौ तात्पर्यबाधादिसहकारेण शक्यतानवच्छेदकेन निश्छिद्रघटत्वेन शाब्दबोधो जायते । तद्वदेव 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां न कौण्डिन्याय' इत्यत्र कौण्डिन्याभिधानब्राह्मणे दधिदाननिषेधसहकारेण कौण्डिन्येतरब्राह्मणत्वेनैव ब्राह्मणपदाच्छाब्दबोधो जायते । ततश्च विशेषविधिनिषेधस्थले विशेषरूपेणैव निषेध्य-विधेयसामान्यबोधः सङ्गच्छते न तु सामान्यपदस्य विशेषपरत्वं, लक्षणायां गौरवात् नापि सामान्यरूपेण विशेषबोधः इति ।

आहुरित्यनेन नव्यमते स्वास्वरसः प्रदर्शितः । तदेव दर्शयति - **तच्चिन्त्यमि**ति । चिन्ताबीजञ्चैवं भावनीयम् - व्यापकतावच्छेदकप्रकारेणैवानुमितिरिति नियमानुरोधात्र व्यापकतानवच्छेदकरूपेणानुमितिः सम्मता, गौरवात् । न च वह्नित्वेन वह्नेः सिद्धत्वात्नानुमितिरिति वाच्यम्, पर्वते तदसिद्धेः । पर्वतीयवह्नित्वेन सिषाधयिषितत्वे तु पर्वतीयधूमत्वेनैव हेतुत्वाद् व्यापकतावच्छेदकत्वमेव पर्वतीयवह्नित्वस्य । न च वह्नित्वेनानुमितौ वह्निविशेषलाभो न स्यादिति वाच्यम्, वह्नित्वेनानुमितावपि पश्चात् पक्षधर्मताबलेन तत्सम्भवात् । **एतेन** 'घटमानय' इत्यत्र निश्छिद्रघटत्वेन घटबोधोऽपि **प्रत्युक्तः**, वृत्तिग्रह-पदार्थोपस्थितिशाब्दबोधानां समानप्रकारकत्वेन कार्यकारणभावनियमात्, घटत्वेनैव घटबोधेऽपि तात्पर्यबाधादिसहकारेणैकविशेषणविशिष्टेऽपरविशेषणप्रवृत्तिरिति न्यायान्निश्छिद्रघटमानसम्भवात्, अन्यथा 'घटोऽपसारणीय' इत्यादावपि समीपस्थघटत्वेन शाब्दबोधः स्वीकार्यः स्यात् । तथा च प्रसिद्धकार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्गः ।

एतेन यद्यपि व्यापकतावच्छेदकत्वेन गृहीतधर्मावगाहिपरामर्शात् व्यापकतावच्छेदकीभूततद्धर्मावच्छिन्नप्रकारिकैवानुमितिर्जायते न पुनर्व्यापकतानवच्छेदकधर्मान्तरावच्छिन्नप्रकारिका इति न्यायमर्यादा तथापि एकविशेषबाधकालीनपरामर्शात् व्यापकतानवच्छेदकधर्मावच्छिन्नप्रकारिका अनुमितिः प्रामाणिकी यथा वह्नित्वावच्छिन्नव्यापकतावगाहिनः महानसीयेतरवह्निबाधकालीनपरामर्शात् 'महानसीयवह्निमानयं' इत्येव व्यापकतानवच्छेदकमहानसीयत्वावच्छिन्नप्रकारिका अनुमितिर्भवति एवं लाघवज्ञानसहकृतादपि परामर्शात् व्यापकतानवच्छेदकधर्मावच्छिन्नप्रकारा अनुमितिर्जायते यथा वह्नित्वावच्छिन्नव्यापकतावगाहिनः महानसीयवह्नौ लाघवमितिबुद्धिसहकृतात् परामर्शात् 'महानसीयवह्निमानयं' इत्येवानुमितिर्जायते ।

यद्यपि तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यकत्वतदनिरूपितशक्तिप्रकारकज्ञानजन्यया तद्धर्मावच्छिन्नोपस्थित्या तद्धर्मावच्छिन्नविषयक एव शाब्दबोधो जायते इति न्यायनयः यथा घटत्वावच्छिन्नस्यैव विषयता **तथापि** क्वचित् बाधप्रतिसन्धाने बाधितेतरत्वेन वृत्त्यनवच्छेदकरूपेणापि तस्य शाब्दबोधविषयता यथा 'घटेन जलमानय' इत्यत्र जलानयने सच्छिद्रघटकरणकत्वं बाधितमिति प्रतिसन्धाने वृत्त्यनवच्छेदकसच्छिद्रेतरत्वरूपेणैव घटस्य शाब्दबोधविषयता भवति तत्र हि सच्छिद्रेतरघटकरणकं जलानयनमिति शाब्दबोधात् । एवं 'मा हिंस्यात् सर्वाणि भूतानि' इत्यत्र हिंसात्वसामान्यावच्छेदेन अनिष्टसाधनत्वबोधजनकादपि विधिवाक्यात् 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादिविशेषहिंसाविषयकेष्टसाधनत्वबोधकापवादसहकृतात् तत्तदपवादेतरहिंसामात्र एवानिष्टसाधनत्वविषयकः शाब्दबोधः सम्पद्यते इति सापवादोत्सर्गविधिवाक्यस्थले एकेनैव शाब्दबोधेन कार्यसिद्धौ नौत्सर्गिकापवादिकजन्यानां विभिन्नानां शाब्दबोधानां कल्पना समुचितेति मीमांसकादिमतं **प्रत्याख्यातम्**, श्रुतेः लक्षणायाः अयोगाच्च । **एतेन** भूतबोधेऽपि हिंसाविशेषविषयकेष्टसाधनत्वबोधकापवादसहकारेण तत्तदपवादेतरहिंसामात्रेऽनिष्टसाधनत्वभानमित्यपि **प्रत्युक्तम्**, तथापि सर्वपदार्थान्वयानुपपत्तेश्च ।

के सहकार से जैसे व्यापकतानवच्छेदकरूप से अनुमिति होती है ठीक वैसे ही यहाँ 'ब्राह्मणपद से अनुपस्थित भी कौण्डिन्येतरब्राह्मणत्व धर्म से ब्राह्मण का शाब्दबोध होता है, क्योंकि ब्राह्मणस्वरूप कौण्डिन्य में दधिदान का बाध है । मतलब कि विशेषविधिनिषेध स्थल में विशेषरूप से ही निषेध्यसामान्य और विधेयसामान्य का बोध होता है- यह नव्यनैयायिकों का मत है । प्रकरणकार श्रीमद्जी कहते हैं कि यह नव्य नैयायिकों का कथन चिन्त्य यानी विचार करने योग्य है, बिना विचारविशेष के आँखें मूँद कर स्वीकार्य नहीं है । इस विषय का विस्तार अन्यत्र ज्ञातव्य है - ऐसा कह कर श्रीमद्जी इस विषय पर पर्दा डालते हैं ।

तदेवं षण्णां द्रव्याणां तद्गुणपर्यायाणां च विवेक्ताऽस्ति शरीराद्यतिरिक्तः कश्चिदात्मा । स चायं 'चैतन्यस्वरूपः, परिणामी, कर्ता, साक्षाद्भोक्ता, स्वदेहपरिमाणः, प्रतिक्षेत्रं भिन्नः, पौद्गलिकादृष्टवांश्च' इति सूत्रम् (प्र.न.त.परि.७-सू.५६) । न हि पृथग्भूतयोः ज्ञानात्मनोः

❋ जयलता ❋

वस्तुतस्तु एकत्र द्वयमिति न्यायेन 'घटमानय' इत्यत्र घटत्वेनैव दूरस्थनिश्छिद्रघटबोधः, 'घटोऽपसारणीय' इत्यत्र घटत्वेन समीपस्थघटबोधः इत्थञ्च विशेषविधिनिषेधस्थले सामान्यरूपेणैव विशेषबोधस्य न्याय्यत्वसिद्ध्या 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दातव्यं न कौण्डिन्याय' इत्यत्र ब्राह्मणत्वेनैव कौण्डिन्येतरब्राह्मणबोध इति पूर्वोक्तमेव साध्विति दृढतरं भावनीयम् । अत्रत्यः अधिकः अन्यत्र विस्तरः ज्ञातव्यः । इत्थञ्च 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाशजीवसमयपुद्गलाः' इति विभागवाक्यस्य निर्दोषत्वमेवेति प्रघट्टकार्थः ।

तदेवं प्रदर्शितप्रबन्धेन **षण्णां द्रव्याणां** अन्यतमः वास्तविकः **तद्गुणपर्यायाणां** = द्रव्यानुयोगिक - सहभाविधर्मलक्षणगुण-क्रमभाविधर्मलक्षणपर्यायाणां **च विवेक्ता अस्ति शरीराद्यतिरिक्तः** शरीरेन्द्रियप्रभृतिभिन्नः **कश्चित् आत्मा** = आत्मपदप्रतिपाद्यः । **स चायं** मानसिद्धः **चैतन्यस्वरूपः** = साकारनिराकारोपयोगाख्यं चैतन्यं स्वरूपं यस्यासौ चैतन्यस्वरूपः । पुनः कीदृशः ? **परिणामी** परिणमनं प्रतिसमयं परापरपर्यायेषु गमनं = परिणामः स नित्यमस्यास्तीति परिणामी । पुनः कीदृशः ? **कर्ता**, करोत्यदृष्टादिकमिति कर्ता । पुनः किंस्वरूपः ? **साक्षाद्भोक्ता** साक्षात् = अनुपचरितवृत्त्या भुङ्क्ते सुखादिकं = साक्षाद्भोक्ता । स किं व्यापकोऽणुरन्यादृशपरिमाणो वा ? इत्याह - **स्वदेहपरिमाणः** = स्वोपात्तवपुर्व्यापकः । किमेक एव यद्वत नाना ? इत्याह - **प्रतिक्षेत्रं** = प्रतिशरीरं **भिन्नः** = पृथक् नानेति यावत् । स चायं नित्यनिर्लेपः स्यात्सलेपो वा ? इत्याह - **पौद्गलिकादृष्टवांश्च** = पुद्गलघटितकर्मपरतन्त्रश्च, संसार्यवस्थापेक्षयेदं बोध्यम् । विप्रतिपत्तिनिराकरणाय **प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारसूत्रे** विशेषणसप्तकोपादानम् । प्रथमविशेषणेन योग-वैशेषिक-सांख्य-कुमारिलभट्टमतव्यवच्छेदोऽभिमतः । द्वितीय-तृतीय-चतुर्थविशेषणैः कापिलमततिरस्कारः । पञ्चमविशेषणेन नैयायिक - वैशेषिकादिमतनिरासः । षष्ठविशेषणेनाऽद्वैतमतपराकरणम् । सप्तमविशेषणेन चार्वाक-नैयायिक-सौगतादिमतप्रतिक्षेपः सम्मत इति तद्व्याख्यायामनिरोहितम् । यथा चैतत्तत्त्वं तथा क्रमशः निरूपयिष्यते । तदुक्तं **श्रीनेमिचन्द्रेणापि बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहे** - जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो। भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥ २ ॥ इति । जीवसिद्धिश्चार्वाकं प्रति, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं नैयायिकं प्रति, अमूर्तजीवस्थापनं भट्ट-चार्वाकद्वयं प्रति, कर्मकर्तृत्वस्थापनं सांख्यं प्रति, स्वदेहप्रमितिस्थापनं नैयायिक-मीमांसक-सांख्यत्रयं प्रति, कर्मभोक्तृत्वव्याख्यानं बौद्धं प्रति, संसारस्थव्याख्यानं सदाशिवं प्रति, सिद्धत्वव्याख्यानं भट्ट-चार्वाकद्वयं प्रति, ऊर्ध्वगतिस्वभावकथनं माण्डलिकग्रन्थकारं प्रतीति तद्वृत्तिकारो **ब्रह्मदेवः** ।

तथाहि चैतन्यस्वरूपत्वविशेषणेन जडस्वरूपः नैयायिकादिसम्मतः प्रमाता व्यवच्छिद्यते । स्वरूपेणाऽचिद्रूपस्य जडस्वरूपस्य प्रमातुरर्थग्रहणानुपपत्तेः । न च ज्ञानात्मनोः पृथग्भूतत्वेऽपि व्यतिरिक्तज्ञानसमवायाज्जडस्वरूपोऽप्यसौ अर्थं प्रमास्यतीति वक्तव्यम्, यतो **न हि पृथग्भूतयोः ज्ञानात्मनोः समवायसम्बन्धः** गौतमीयपरिकल्पितः **सम्बद्धः**, **तस्य** = प्रमातृप्रमितिव्यतिरिक्तस्य

❋ आत्मस्वरूपविचार ❋

तदेवं । यहाँ तक के विचारों से 'द्रव्याणि धर्माधर्माकाशजीवसमयपुद्गलाः' इस जैनीय द्रव्यविभागवाक्य का समर्थन हुआ । इससे फलित होता है कि षड् द्रव्य में से अन्यतम एवं द्रव्य के गुण-पर्यायों का विवेक = भेद करनेवाली आत्मा पारमार्थिक है, जो स्वशरीर से भिन्न होती है । उसके स्वरूप के बारे में प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार सूत्र में श्रीवादिदेवसूरिजी महाराजा ने कहा है कि प्रमाणसिद्ध आत्मद्रव्य चैतन्यस्वरूप है, परिणामी = परिणमनशील है, कर्म का कर्ता है तथा कर्मफल का साक्षात् भोक्ता है । इतना ही नहीं वह स्वदेहपरिमाणवाला है, न कि विभु या अणु । तथा प्रत्येक शरीर में वह भिन्न भिन्न होता है और संसारी अवस्था में पौद्गलिक अदृष्ट = शुभाशुभ कर्म से युक्त होता है । इन सात विशेषणों का ग्रहण विप्रतिपत्ति के निरास के लिए किया गया है । प्रथम विशेषण से नैयायिक आदि के मत का निरास हो जाता है । नैयायिकों का यह कथन है कि —> 'आत्मा तो सर्वथा जड ही है मगर ज्ञान का समवाय होने से वह चेतन कही जाती है । जैसे घट और पट सर्वथा भिन्न होता है ठीक वैसे ही जड आत्मा और ज्ञान भिन्न है । विशेषता सिर्फ इतनी है कि जड आत्मा में ज्ञान का समवाय होता है जिसकी वजह वह चेतन कही जाती है' <— मगर यह असंगत है, क्योंकि ज्ञान और जड आत्मा परस्पर सर्वथा पृथक् होने पर तो विन्ध्याचल और हिमाचल की भाँति समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध भी नहीं हो सकते

समवायसम्बन्धः सम्भवेत्, तस्य निरस्तत्वात् । तस्यैकत्वेनाऽतिप्रसञ्जकत्वात्, स्वभावापेक्षिणा तेनाऽतिप्रसङ्गभङ्गे स्वभावस्यैव तत्त्वौचित्यात् ।

किञ्च, परस्यापि 'ज्ञानमय' इत्यादिश्रुत्या ज्ञानरूपतैवात्मनोऽभ्युपगन्तुमुचिता । न च

❀ जयलता ❀

समवायस्य प्राक् प्रथमकारिकाव्याख्याने (पृ.४८) विस्तरतो **निरस्तत्वात्** । अस्तु वा परोऽभिमतः समवायः तथापि यदि समवायमाहात्म्यादात्मनि ज्ञानं समवैति तदात्मनां समवायस्य च व्यापित्वादेकत्वाच्च सर्वात्मसु विवक्षितात्मज्ञानं किं न समवैति विशेषाभावात् । एवञ्च जिनदत्तसंवेदनेन देवदत्तादयोऽपि वस्तुतत्त्वं प्रतिपद्येरन्नित्याशयेनाह - **तस्य** = ज्ञानतत्त्वव्यवस्थितिकारक समवायस्य **एकत्वेन** = एकमात्रव्यक्तिरूपतया, **अतिप्रसञ्जकत्वात्** । चैत्रे ज्ञानोत्पादे मैत्रादेरपि वस्तुसंवेदनप्रसङ्गादिति । योगिनां सर्वविद सत्त्वेन सर्वदा सर्वत्र सर्वेषां सर्वविषयकसाक्षात्कारप्रसङ्गोऽपि दुर्निवारः नैयायिकमते । न च समवायस्यैकत्वेऽपि ज्ञानोत्पादकृतं तेनात्मस्वभावविशेषापेक्षेति नातिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, **स्वभावापेक्षिणा तेन** = समवायेन अतिप्रसङ्गभङ्गे **स्वभावस्यैव** = आत्मस्वभावविशेषस्यैव **तत्त्वौचित्यात्** = ज्ञाननियामकत्वौचित्यात् । यद्वा कस्मिंश्चिदात्मनि ज्ञानोत्पादे घटादावपि समवायेन ज्ञानमुत्पद्येत, समवायस्यैकत्वाद् घटादेश्च समवायानुयोगित्वात् । ततश्च घटादेर्जडस्याऽपि आत्मन इव ज्ञानित्वप्रसङ्गः । **न च** घटादौ ज्ञानसमवायसत्त्वेऽपि ज्ञानविरहान्न ज्ञानित्वव्यवहारप्रसङ्ग इति **वाच्यम्**, प्रतियोगिसम्बन्धसत्त्वे तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाऽयोगादिति पूर्वमुक्तत्वात् । **एतेन** घटादौ ज्ञानसमवायसत्त्वेऽपि ज्ञानोत्पत्तये समवायेनानुयोग्यात्मस्वभावापेक्षणान्नातिप्रसङ्ग इत्यपि **प्रत्युक्तम्**, **स्वभावापेक्षिणा** = आत्मस्वभावापेक्षिणा **तेन** = समवायेन **अतिप्रसङ्गभङ्गे** = घटादौ ज्ञानोत्पादापत्तिप्रतिक्षेपे तु **स्वभावस्य** = आत्मस्वरूपस्य **एव तत्त्वौचित्यात्** = ज्ञानमयत्वौचित्यात् ।

किञ्च परस्य = वेदप्रामाण्यवादिनो नैयायिकस्य **अपि 'ज्ञानमय' इत्यादिश्रुत्या ज्ञानरूपतैव आत्मनोऽभ्युपगन्तुं उचिता**, श्रुतेरन्यार्थकत्वोपपादने प्रमाणाभावात् । **एतेन** तत्र लक्षणाऽपि **प्रत्युक्ता**, श्रुतौ लक्षणाया अयोगात्, अन्यत्र प्रसिद्धस्यैवाऽन्यत्राऽऽरोपसम्भवेनात्मनि ज्ञानमयत्वोपचारस्याऽप्यनवकाशात् । न ह्यात्मव्यतिरिक्तस्य कस्यचिज्ज्ञानमयत्वं सम्मतमिति स्वीक्रियते वा तत्रभवद्भिः भवद्भिः । प्रकृते च मयट्प्रत्ययः प्राचुर्ये प्राधान्ये वा बोध्यः । तदुक्तं **सिद्धहेमशब्दानुशासने** 'प्रकृते मयट्' (सि.हे.७-३-१) इति । 'प्राचुर्येण प्राधान्येन वा कृतं प्रकृतम् । तदर्थात् स्वार्थे मयट् स्यात्' इति **तल्लघुवृत्तिपाठः** । यद्वा 'अस्मिन्' (७-३-२) इति **सिद्धहेमसूत्रेण** मयट्प्राप्तिर्भावनीया । तदुक्तं **लघुवृत्तौ** 'प्रकृतार्थादस्मिन्निति विषये मयट् स्यात्, अपूपमयं पर्व' इति । अस्मिन्निति विषये इत्यस्य सप्तम्यर्थे इत्यर्थः । ततश्च ज्ञानं प्रकृतं = प्रचुरं प्रधानं वा अस्मिन्निति

हैं । समवाय का ही प्रथम कारिका के व्याख्यान में (देखिये प्रथम खण्ड पृष्ठ ४८) निरास किया गया है । जब कि समवाय ही असिद्ध है, तब पृथक् ज्ञान और जड आत्मा समवाय से सम्बद्ध ही कैसे हो सकते हैं ? दूसरी बात यह है कि नैयायिकसम्मत समवाय का अभ्युपगमवाद में 'तुष्यतु..' न्याय से स्वीकार कर लिया जाय तो भी नैयायिकसंमत समवाय एक होने की वजह जैसे हम आत्मा को ज्ञानी-चेतन कहते हैं ठीक वैसे ही घट आदि को भी चेतन कहने का व्यवहार होने लगेगा । घट में रूपादिप्रतियोगिक समवाय तो है ही तथा रूपसमवाय और ज्ञानसमवाय एक होने से ज्ञानसमवाय भी घट में रहता ही है । इस अतिप्रसंग के निवारणार्थ यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'घट में ज्ञानसमवाय होने पर भी ज्ञानोत्पत्ति के लिये समवाय स्वभाव = अनुयोगिविधया आत्मस्वभाव की अपेक्षा रखता है । घट में आत्मस्वभाव नहीं होने से घट में ज्ञानोत्पत्ति की आपत्ति को अवकाश नहीं है' <— तो यह भी निराधार है, क्योंकि घट में ज्ञानोत्पत्ति के अतिप्रसंग को हटाने के लिए स्वभाव की अपेक्षा समवाय करता ही है तब तो आत्मस्वभाव को ही ज्ञानमय मानना उचित है । बीच में समवाय को खड़ा करने की कोई जरूरत नहीं है । ऐसा मानने पर तो आत्मा अनायास ही चैतन्यस्वरूप सिद्ध हो जायेगी, क्योंकि ज्ञानमय कहो या चैतन्यस्वरूप कहो, सिर्फ शब्द में फर्क है, अर्थ में नहीं ।

❀ ज्ञानमय आत्मा श्रुतिसिद्ध ❀

किञ्च. । यह मानना जैसे तर्कसंगत है ठीक वैसे आगमसंमत भी है, क्योंकि नैयायिकसंमत श्रुति = वेद-उपनिषद् से भी सुसंगत ही है । श्रुति में कहा गया है कि - 'ज्ञानमय आत्मा' । इससे ही सिद्ध होता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, क्योंकि मयट् प्रत्यय स्वार्थिक है । प्रकृत अर्थ में मयट् प्रत्यय का व्याकरण से विधान होता है । यहाँ इस शंका का कि —> ''वेद-उपनिषद् में तो 'चक्षुर्मय आत्मा, पृथिवीमय आत्मा' इत्यादि भी कहा गया है । मगर आत्मा चक्षुस्वरूप या पृथिवीस्वरूप

'चक्षुर्मयः पृथिवीमयः' इत्यादिवन्मयटोऽन्यार्थकतया श्रुतिरुपपत्स्यत इति तात्त्पर्यम्, भावचक्षुर्मयत्वस्य पृथिवीजीवानां पृथिवीमयत्वस्य च साक्षादविरुद्धत्वात् ।

❋ जयलता ❋

वाक्ये ज्ञानमय आत्मा इत्यर्थः । एतदुपपत्तिश्च 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पा.सू. ५-४-२१) इति **पाणिनीयसूत्रेणापि** स्वयं भावनीया । एतेन 'विज्ञानमय आत्मा' इति **तैत्तिरीयोपनिषद्**वचनमपि (तै.३ १-४) व्याख्यातम् । तथा 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ.उ. ४-३-७) इति **बृहदारण्यकोपनिषद्वचनं** व्याख्यानयता **शङ्कराचार्येणा**ऽपि **ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये** —> 'तत्र विज्ञानमय इति बुद्धिमय इत्येतदुक्तं भवति, प्रदेशान्तरे 'विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयः चक्षुर्मयः श्रोत्रमय' इति विज्ञानमयस्य मनआदिभिः सह पाठात् । बुद्धिमयत्वञ्च तद्गुणसारत्वमेवाभिप्रेयते, यथा लोके स्त्रीमयो देवदत्त इति स्त्रीरागादिप्रधानोऽभिधीयते तद्वदिति' <— (ब्र.सू.२-३-३- शां.भा.) प्रोक्तम् ।

ननु मयट्प्रत्ययस्य विकारार्थत्वमपि मुख्यमेवेति तदेव 'ज्ञानमय' इत्यस्त्वित्याशयेन परः शङ्कते - **न चेति** वाच्यमित्यनेना-न्वयः । **'चक्षुर्मयः पृथिवीमयः' इत्यादिवत् मयटोऽन्यार्थकतया** = विकारार्थकतया, **श्रुतिः** = विज्ञानमय इति श्रुतिः उपपत्स्यत इति । मूलादर्शेऽत्र मयटोऽन्यार्थत्यशुद्धः पाठः । चक्षुषः तैजसत्वेन चक्षुराद्युपाध्यवच्छिन्नो ह्यात्मा भवति चक्षुरादिविकारो, घटाकाशमिव घटविकारः । तद्वदेव ज्ञानोपाध्यवच्छिन्नो ह्यात्मा भवति ज्ञानविकार एव, विकारेऽपि मयटस्तुल्यमेव मुख्यार्थत्वमिति तु 'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः' (पा.सू. ४-३-१४३) इति **पाणिनीयसूत्र**सिद्धमेवेति शङ्काशयः ।

प्रकरणकारः समाधत्ते - **भावचक्षुर्मयत्वस्य** आत्मनि **साक्षात्** = अनुपचरितवृत्त्या **अविरुद्धत्वात्** = अबाधितत्वात् । भावेन्द्रियं लब्ध्युपयोगात्मकं खल्वात्मैव भवति, न तु तदतिरिक्तम् । इत्थमेव 'अचक्षुर्विश्वतश्चक्षुरकर्णो विश्वतः कर्णः' (भ.जा.उ. २) इति **भस्मजाबालोपनिषद्**वचनमपि सङ्गच्छते, द्रव्येन्द्रियभिन्नत्वेऽपि लब्ध्युपयोगलक्षणभावेन्द्रियात्मना व्यापकत्वोपपत्तेः । पृथिव्या अपि जैनमते एकेन्द्रियजीवत्वेन **पृथिवीजीवानां पृथिवीमयत्वस्य** = पृथिवीस्वरूपत्वस्य च साक्षादविरुद्धत्वं स्फुटमेव । पृथिव्यादेः सचेतनत्वसिद्धिकृते तूक्तं **स्याद्वादमञ्जर्यां** —> 'सात्मिका विद्रुमशिलादिरूपा पृथिवी छेदे समानधातूत्थानात्, अर्शोऽङ्कुरवत् । भौममम्भोऽपि सात्मकं क्षतभूसजातीयस्य स्वभावस्य सम्भवात्, शालूरवत् । आन्तरिक्षमपि सात्मकं अभ्रादिविकारे स्वतः सम्भूय पातात् मत्स्यादिवत् । तेजोऽपि सात्मकं आहारोपादानेन वृद्ध्यादिविकारोपलम्भात्, पुरुषाङ्गवत् । वायुरपि सात्मकः अपरप्रेरितत्वे तिर्यग्गतिमत्त्वाद् गोवत्' (स्या.मं. २९ श्लो.व्या.) इति । ततश्च 'पृथ्वीमय आपोमयो वायुमयस्तेजोमय' इत्याद्या श्रुतिरपि व्याख्याता जलादिजीवानामापोमयत्वादेः साक्षादविरुद्धत्वात् ।

एतेन तस्माद्वा एतस्मादन्न-रसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः, तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः, तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमय' (तै.उ.२/२-३-४-५) इत्यादीनि **तैत्तिरीयोपनिषद्व**चनान्यपि **व्याख्यातानि**, अन्नमय इत्यादौ मयटो विकारार्थत्वेन मुख्यार्थत्वोपपत्तेरपि संज्ञिजीवानां मनोमयत्वस्य सर्वेषामात्मनां ज्ञानमयत्वस्य सिद्धजीवानां आनन्दमयत्वस्य च प्राचुर्यप्राधान्यान्यतरार्थकत्वेन मयटो मुख्यार्थत्वेऽविरोधात् । **एतेन** आनन्दमय इत्यादौ विकारे प्राचुर्ये च मयटस्तुल्यं मुख्यार्थत्वमिति विकारार्थकमयटोऽभिधानाज्ज्ञानमयादि-पदमपि विकारार्थमेव युक्तमित्यपि **परास्तम्**, 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतिविरोधापत्तेश्च । **एतेन** 'आनन्दमित्यस्याप्यानन्द-वदित्यर्थः, अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः, अन्यथा पुल्लिङ्गत्वापत्तेः, आनन्दोऽपि दुःखाभावे उपचर्यते, भाराद्यपगमे सुखी

नहीं है, क्योंकि चक्षु तैजस द्रव्य है, पृथिवी भी आत्मभिन्न द्रव्य है । अतः यहाँ तो मयट् प्रत्यय को अन्यार्थक = विकारार्थक ही मानना होगा । चक्षु का विकार जो आत्मा है वह चक्षुर्मय बनती है । एवं पृथिवीद्रव्य का विकार जो आत्मा है वह पृथिवीमय है । ठीक वैसे ही ज्ञान का विकार जो आत्मा है वह ज्ञानमय है । मतलब कि आत्मा चक्षुरूप, पृथिवीरूप या ज्ञानस्वरूप नहीं है । इस तरह विकारार्थ में भी मयट् प्रत्यय की उपपत्ति हो सकती है'' <— समाधान यह है कि आत्मा में भले ही द्रव्यचक्षुमयत्व बाधित हो मगर भावचक्षुमयत्व तो अबाधित ही है, क्योंकि भावचक्षु ज्ञान ही है । इस तरह पृथिवीकाय जीवों में पृथिवीमयत्व = पृथिवीस्वरूपता भी साक्षात् विरोधी नहीं है । अतः चक्षुमय = भावचक्षुमय = भावचक्षुस्वरूप आत्मा के स्वीकार में कोई बाध नहीं है । इस तरह पृथिवीकाय जीव पृथिवीमय = पृथिवीस्वरूप है - यह भी माना जा सकता है । अतः ज्ञानमय = ज्ञानस्वरूप आत्मा का स्वीकार भी अदुष्ट ही है - यह फलित होता है । इसका स्वीकार करना व्यवहार से भी अविरुद्ध है, क्योंकि व्यवहार में देखा जाता है कि प्रकाशक प्रकाशस्वरूप ही होता है । दीपक प्रकाशात्मक ही है ।

किञ्च प्रकाशकस्य प्रकाशमयत्वमेव युक्तिमत् ।

'अभेदे कर्तृकरणभावो न स्यादि'ति पुनरसारं, 'आत्माऽऽत्मानं जानाती'ति बहुशः प्रयोगदर्शनात् ।

एतेन **'प्रकृतिपरिणामरूपमहत्तत्त्वाऽपरनामकत्रिगुणात्मकबुद्धौ सत्त्वगुणोद्रेकरूपो वृत्त्यपर-**

❋ जयलता ❋

संवृत्तं'ऽहमितिवत् । अस्तु तस्मिन्नानन्दो न त्वसौ आनन्दः, असुखमिति श्रुतेः' (का.४९.मु.पृ.४०१) इति **मुक्तावलीकारवचन**मपि **परास्तम्**. 'आनन्द आत्मा' (तै.उप. २-५) इति **तैत्तिरीयोपनिषद्वचना**नुपपत्तेश्च, छांदसत्वादपि नपुंसकलिङ्गत्वोपपत्तेः, आनन्दपदस्य मुख्यार्थकत्वसम्भवे उपचाराऽयोगात्. असुखमित्यस्य तु पौद्गलिकसुखभिन्नार्थकतयाऽप्युपपत्तेः । अत एव 'मृण्मयो घट' इत्यादौ यथा मयटो विकारार्थत्वं तथैव 'ज्ञानमय आत्मा' इत्यत्राऽपि विकारार्थत्वमेवेत्यपि प्रत्याख्यातम्. तदुक्तं **शाङ्करभाष्ये** 'नास्यात्मनोऽन्तर्बहिर्वा चैतन्यादन्यद्रूपमस्ति, चैतन्यमेव तु निरन्तरमस्य स्वरूपमिति (ब्र.सू.३-२-१६ शां.भा.पृ.९३७) । **एतेन** विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति' (बृ.उप. ४-६-१३) इति **बृहदारण्यकोपनिषद्वचनमपि व्याख्यातम्**, प्रातिस्विकज्ञानापेक्षया विकारित्वेऽपि उपयोगसामान्यात्मना सर्वदाऽवस्थितोपयोगस्वरूपत्वेऽविरोधादिति । न ह्यवबोधप्रवाहः कश्चिदपि विच्छिद्यत इति अवबोधानन्दस्वरूप एवात्मा स्वीकर्तव्य इत्यन्यैरपरिशीलितोऽयं पन्था विभाव्यतां समाकलितश्रुतिरहस्यैः ।

हेत्वन्तरेणात्मनो ज्ञानात्मकत्वं साधयति - **किञ्चेति । प्रकाशकस्य प्रकाशमयत्वमेव**, स्वयमप्रकाशस्वरूपस्य परप्रकाशकत्वानुपपत्तेः । न हि प्रकाशानात्मकः प्रदीपः पदार्थसार्थं प्रकाशयति । ततश्च प्रकाशकस्थानीय आत्माऽपि प्रकाशस्थानीयज्ञानस्वरूप एव घटाकोटिमाटीकते ।

ननु ज्ञानात्मनोः **अभेदे** सति **कर्तृकरणभावो न स्यात्** । न हि दण्ड-कुलालयोरभेदे घटापेक्षया तयोः कर्तृकरणभावः सम्भवति, कर्तृत्व-करणत्वयोः परस्परविरोधित्वादिति **पुनरसारम्**, अभेदेऽपि **'आत्मात्मानं जानाति' इति बहुशः प्रयोगदर्शनात्** । 'आत्मात्मानमात्मनात्मन्यात्मने जानाति' इत्यत्र अभेदेऽपि कर्तृ-कर्म-करणाधिकरणादिभावदर्शनादात्मज्ञानयोरभेदेऽपि कर्तृकरणभावोऽव्याहत एव । **एतेन** कर्तृ-करणयोः यष्टिकावासिवत् भेद एवेत्यपि **प्रत्युक्तम्**, बाह्यकरणस्य कर्तृभिन्नत्वेऽपि आन्तरकरणाऽभेदाऽविरोधात् वस्तुतस्तु ज्ञानात्मनोर्न सर्वथा तादात्म्यं किन्तु कथञ्चिदभेदः । ततो नैकत्वानेककारकविरोध उपधेयसाङ्कर्येऽप्युपाध्यसाङ्कर्यादिति तु चतुर्थकारिकाव्याख्यानिरूपणेऽस्माभिः (दृश्यतां पृष्ठ-२०९) प्रदर्शितमेव ।

अत एव स्वयं जडस्वरूपोऽपि ज्ञानसमवायाचेतन आत्मा इति नैयायिकमतं प्रत्युक्तम् । तदुक्तं मूलकारैरपि **अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकायां** 'सतामपि स्यात्क्वचिदेव सत्ता चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत् । न संविदानन्दमयी च मुक्तिः सुसूत्रमासूत्रितमत्वदीयैः ।। (अन्ययो. द्वा. ८) इति ।

नैयायिकमतमपाकृत्य कापिलमतमपहस्तयितुमुपक्रमते - **एतेनेति** । पूर्वोक्तरीत्या आत्मनो ज्ञानात्मकत्वसाधनेन वक्ष्यमाणदोषेण चेत्यर्थः । **प्रकृतीति** । अकार्यावस्थोपलक्षितत्वे सति गुणसामान्यत्वं प्रकृतित्वम् । सत्त्व-रजस्तमोगुणसाम्यावस्था प्रकृतिरुच्यते ।

ज्ञान है प्रकाश और आत्मा है प्रकाशक = दीपक । अतः आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानना ही युक्तिसंगत है । यहाँ यह शंका कि --> ''आत्मा ज्ञानस्वरूप होने पर तो आत्मा ज्ञानाभिन्न बन जाने की वजह 'आत्मा ज्ञान से घटादि को जानता है' इत्यादि स्थल में घटबोध का आत्मा कर्ता और ज्ञान करण नहीं बन सकते । कर्ता और करण भिन्न होते हैं, अभिन्न नहीं । कुलाल दण्ड से घट बनाता है - इत्यादि स्थल में घटकर्ता कुलाल से घटकरण = दण्ड भिन्न होता है, यह देखा गया है'' <-- इसलिए निराधार हो जाती है कि कर्ता और करण में अभेद होने पर भी कर्तृकरणभाव मुमकिन है । 'आत्मा आत्मानं आत्मना जानाति' इत्यादि प्रयोग व्यवहार में अनेक बार सुनने में आते हैं, जिसमें कर्ता-कर्म-करण केवल एक ही आत्मा है । इस तरह कर्ता और करण में अभेद मानने में किसी दोष को अवकाश नहीं होने से आत्मा ज्ञानमय = ज्ञानस्वरूप = ज्ञानस्वभाव = ज्ञानात्मक = ज्ञानाभिन्न है - ऐसा स्वीकार बिना किसी हिचकिचाहट के हो सकता है ।

❋ आत्मधर्म ज्ञान नहीं है - सांख्यमत ❋

एतेन. । आत्मा के बारे में सांख्य मनीषियों का यह कथन है कि आत्मा तो कूटस्थ नित्य है । ज्ञान उत्पन्न हो या न हो, मगर आत्मा तो कमलपत्र की भाँति निर्लेप रहती है; क्योंकि ज्ञान बुद्धि का धर्म है, न कि आत्मा का ।

नामा घटाकारादिपरिणामो ज्ञानम्, तत्र मुकुर इव निर्मले चैतन्यप्रतिबिम्ब उपलब्धि-रिति, बुद्धावेव च सुखादिगुणाष्टकं आत्मा तु कूटस्थ' इति साङ्ख्यमतमपि अपास्तम्,

❋ नयलता ❋

ब्रह्मवैवर्ते तु 'प्रकृष्टवाचकः प्रश्च, कृतिश्च सृष्टिवाचकः । सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता' ॥ (ब्र.वै.प्रकृतिखण्ड-प्रथमाध्यायः) इत्युक्तम् । **देवीभागवते** च 'गुणे प्रकृष्टसत्त्वे च प्रशब्दो वर्तते श्रुतौ । मध्यमे रजसि कृश्च तिः शब्दस्तमसि स्मृतः ॥ (दे.भा.स्कंध ९) इति प्रोक्तम्। प्रकृतेर्महान् बुद्ध्यपराभिधानः प्रकृतिपरिणामः सञ्जायते । परिणामश्च धर्म-लक्षणा-वस्थाभेदात्त्रिविधः । तदुक्तं **पातञ्जलयोगसूत्रे** 'एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्था परिणामा व्याख्याताः' (पा.यो.सू.पा.२ । सू. १३) इति । अवस्थितस्य वस्तुनः पूर्वावस्थापरित्यागेन धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः कापिलसम्मतः, न तु नैयायिकसम्मतः विनाशलक्षणः सः । सा च बुद्धिः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका । सत्त्वादिगुणस्वरूपं **ईश्वरकृष्णेन** 'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः । गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ इत्येवं **सांख्यकारिका**यामुक्तम् । बुद्धितत्त्वञ्च प्रकृतिविकृतिस्वरूपम् । तदुक्तं तेनैव तत्रैव 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' ॥ इति । तत्र च यदा सत्त्वगुणोद्रेकः चक्षुरुन्मिलनादिना भवति तदा सैव ज्ञानमित्युच्यते इत्याशयेनाह - **प्रकृति-परिणाम-रूपमहत्तत्त्वाऽपरनामकत्रिगुणात्मकबुद्धौ सत्त्वगुणोद्रेकरूपः वृत्त्यपरनामा** चक्षुरादीन्द्रियप्रणालिकया **घटाकारादिपरिणामः** घटादिना बुद्धिसम्बन्धः **ज्ञानं** = घटादिज्ञानमित्युच्यते । घटादिविषयाकारभेदादिज्ञानानामनित्यतया तदाश्रयतया मूलाविद्यैव बुद्धिशब्देन व्यवह्रियते । मूलाविद्यायास्तदाश्रयत्वे तु तस्या अव्यक्ततया 'जानामी'त्याद्याकारकप्रत्यक्षविषयत्वं न सम्भवतीति तदर्थं तूलाविद्यास्वीकारः तत्समवायिकारणत्वेन मूलाविद्यास्वीकारश्चावश्यकः । उभयपार्श्वे बुद्धेः स्वच्छतया **तत्र** = बुद्धितत्त्वे **मुकुरे** = आदर्शे **इव निर्मले चैतन्यप्रतिबिम्ब उपलब्धिरिति** उच्यते । यतः तदैव 'अहं घटज्ञाता' इति पुरुषः चेतयते । अतः घटोपलब्धिकृते बुद्धौ चैतन्यप्रतिबिम्बस्वीकारोऽप्यावश्यकः । तदुक्तं 'प्रतिपुरुषं विभिन्नाः इन्द्रियमनोवृत्तिद्वारेण बुद्धिवृत्तयो निःसरन्ति प्रथमतो विषयाकारेण परिणमन्ति । ततो मनोवृत्तिद्वारेण बुद्धिवृत्तय एकतः संक्रान्तविषयाकारा अन्यतश्च सङ्क्रान्तचिच्छाया विषयव्यवस्थापिका भवन्ति । बुद्धौ च दर्पणप्रतिमायां विषयाकारसङ्क्रमे पुरुषेणार्थः चेतयितुं शक्यते । बुद्ध्यध्यवसितं = बुद्धिप्रतिबिम्बितं हि अर्थं पुरुषः चेतयते' इति । सा च बुद्धिर्न चेतना परिणामित्वात् । यथा ज्ञानं बुद्धेर्गुणः तथा सुखादिरपि, सुखादेः ज्ञानसामानाधिकरण्येन प्रतीतेरित्याह **बुद्धावेव सुखादिगुणाष्टकम्** = सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-कृति-धर्मा-धर्म-विज्ञानलक्षणम् । पुरुषस्तु निर्गुण इति न ज्ञानाद्याश्रयः । तदुक्तं **सांख्यसूत्रे** 'निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा' (सां.सू. १-१४७) इति । तर्हि पुरुषः किंस्वरूपः ? इत्याह **आत्मा तु कूटस्थः** नित्यः सदैवाऽलिप्तः; न कदापि विक्रियतेऽन्यं विकरोति वा । अनुयोगितासम्बन्धेन विजातीयसुखादिसम्बन्धवत्त्वं लिप्तत्वम्, तद्भिन्नत्वमलिप्तत्वम् । वैजात्यञ्चात्र अम्भसा लिप्तं, भस्मना लिप्तं, तैलेन लिप्तं शरीरमित्याद्यनुगतप्रतीतिसिद्धनोदनत्वव्याप्यजातिविशेषस्वरूपमिति वदन्ति । इत्थञ्च विज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि यथाविधः पूर्वदशायामयमात्मा तथाविध एव साम्प्रतमपीति **साङ्ख्यमतं** अपि **अपास्तम्** ।

इस जगत में कुल २५ तत्त्व हैं, जिसमें मूल प्रकृति अविकृत यानी सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्य अवस्थास्वरूप है । प्रकृति में से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है, जिसका दूसरा नाम है बुद्धि । वह प्रकृति का परिणाम है एवं सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुणात्मक है । जड प्रकृति का परिणाम होने से बुद्धि भी जड ही है । जब उस बुद्धि तत्त्व में सत्त्वगुण का उद्रेक = प्राचुर्य होता है तब वह वृत्ति नामक कहा जाता है । मतलब यह है कि बुद्धि का ही ज्ञानवृत्त्यात्मक परिणाम अर्थात् चक्षुरिन्द्रियात्मक नालिका के द्वारा घटादि विषयों के साथ विषयाकारात्मक जो परिणतिस्वरूप सम्बन्ध है वह परिणाम ज्ञानस्वरूप ही है, न कि उससे अतिरिक्त । विषय के आकार से आकारित जो इन्द्रियवृत्तिरूप ज्ञान है, वह बुद्धि का ही धर्म है, आत्मा का नहीं । आरसी की भाँति बुद्धि अत्यन्त निर्मल होने की वजह पुरुषगत चैतन्य का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है । मतलब कि जैसे दर्पण में मुखप्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है वैसे विषयाकारपरिणत बुद्धि में पुरुषगत चैतन्य का प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है जिससे पुरुष को 'चेतनोऽहं जानामि' इत्याकारक उपलब्धि होती है, जो ज्ञानांश में भ्रमात्मक है; क्योंकि ज्ञान बुद्धि का गुण है, न कि पुरुष का । ज्ञान की भाँति सुखादि भी बुद्धि के ही गुण हैं । सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म ये आठ बुद्धि के गुण हैं । अतएव विषयादि का सन्निधान होने पर भी पुरुष तो पुष्करपत्र की भाँति निर्लेप है, क्योंकि वह अपरिणामी है । अतः ज्ञान, इच्छा आदि लेपों से पुरुष सर्वथा रहित है यानी सदा शुद्ध है । अतएव वह कूटस्थ नित्य = सर्वथा अविचलितस्वरूपवाला होता है । यह सांख्य मनीषियों का वक्तव्य है ।

'अहं ज्ञाता' इत्यादावहन्त्वज्ञानयो: स्फुटमेव सामानाधिकरण्यप्रतीते: । सा भेदेऽभेदे वेत्यन्यदेतत् । किञ्च बुद्धौ जडघटाकाराधानं निर्हेतुकं, घटज्ञानसामग्र्याहितविषयरूपघटाकारस्तु न जड:

❋ जयलता ❋

तदात्मत्वे हेतुमाह **'अहं ज्ञाता'** इत्यादौ मानससाक्षात्कारे **अहंत्व-ज्ञानयो: स्फुटमेव सामानाधिकरण्यप्रतीते:** । कृति: स्वसमानाधिकरणमेवादृष्टं जनयति, तच्चाऽदृष्टं स्वसमानाधिकरणमेव भोगं जनयतीति कृत्यदृष्टभोगानां परम्परया सामानाधिकरण्यप्रमितिवत् 'अहं ज्ञाता', 'चेतनोऽहं करोमि' इति सामानाधिकरण्यप्रमितिस्वरूपप्रतीति: ज्ञानमात्मन एव धर्म: । किञ्च, ज्ञातृभिन्ने चेतने मानाभावात् पुरुषत्वसमानाधिकरणमेव ज्ञानादिकम् । न च चेतनोऽहं करोमीतिप्रतीति: चैतन्यांशे भ्रमत्वमिति वाच्यम्, विनिगमकाभावेन कृत्यंशेऽपि तथात्वापत्ते: । एतेन कर्तृत्वाश्रयो न चेतन: जन्यधर्माश्रयत्वादित्यपि **निरस्तं,** बुद्धि: कर्तृत्वाभाववती जन्यधर्माश्रयत्वात् घटवदित्यस्यापि सुवचत्वात् । **न च** 'अहं ज्ञाता' इतिप्रतीतिबलात् नैयायिकादिसम्मतो ज्ञानात्मनोर्भेदोऽपि सिध्येदिति **वाच्यम्,** यत: सा 'अहं ज्ञाते'तिप्रतीतिर्ज्ञानात्मनो: **भेदे** सत्युपपद्यते**ऽभेदे वेत्यन्यदेतत्** = न साम्प्रतं प्रकृतम्, अहंत्व-ज्ञानयोर्वैयधिकरण्यनिरासस्यैव प्रक्रान्तत्वात् । **दशवैकालिकनिर्युक्त्यनुसारेणेदं** द्रव्यानुयोगाधिकारे तदंशोपालम्भोपरमानं ज्ञातव्यम् ।

यच्चोक्तं बुद्धौ घटाकारादिपरिणाम: ज्ञानमिति तदपाकरणायोपक्रमते - **किञ्चेति । बुद्धौ जडघटाकाराधानं निर्हेतुकं** = निष्प्रयोजनम्, बुद्धेरेव ज्ञानत्वात्, उपलब्धिरपि ज्ञानान्नातिरिच्यते । तदुक्तं **न्यायसूत्रे** 'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्' (न्या. सू.१-१-१५) इति । न चैवं घटज्ञानस्य घटावगाहित्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, घटस्य घटज्ञाननिष्ठविषयितानिरूपकत्वेन तदुपपत्ते:, घटादिविषयनिष्ठविषयता-निरूपितविषयितयैव प्रतिनियतविषयभानोपपत्ते: । **एतेन** बुद्धौ विषयाकारानाधाने घटज्ञाने पटस्यापि प्रकाश: स्यादित्यपि **प्रत्याख्यातम्,** घटबुद्धिनिष्ठविषयितानिरूपितविषयतानवच्छेदकत्वेन पटत्वादेराश्रयस्य भानापत्ते: । **न च** मया विषयाकारो ज्ञानं स्वीकृत: त्वया तु विषयिताविशेष इति शब्दभेद एव न तु अर्थभेद इति **वाच्यम्,** विषयिताया ज्ञानानतिरिक्तत्वादिति विशेषात् । **घटज्ञानसामग्र्याहितविषयतारूपघटाकार:** = चक्षुरादिघटज्ञानसामग्रीसम्पादितविषयतानिरूपित-

❋ ज्ञानादि पुरुषधर्म है - स्याद्वादी ❋

अहं. । **मगर पूर्वोक्त युक्तियों के द्वारा आत्मा को ज्ञानमय सिद्ध कर देने से उपर्युक्त सांख्यमत निराकृत हो जाता है । फिर भी प्रकरणकार श्रीमद्‌जी दूसरे ढंग से सांख्यमत का निरसन करते हुए कहते हैं कि - सब लोगों को ऐसी प्रतीति होती है कि 'अहं ज्ञाता' अर्थात् 'मैं ज्ञानवाला हूँ'** । इस सार्वजनीन प्रतीति में अहंत्व के समानाधिकरण ज्ञान का भान होता है । जिसमें अहंत्व रहता है उसीमें ज्ञान की प्रतीति होने की वजह ज्ञान अहंपदार्थ पुरुष का धर्म है । यदि जड बुद्धि का धर्म ज्ञान होता तब तो 'बुद्धि: ज्ञात्री' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए । अहं पद से तो बुद्धि का नहीं किन्तु पुरुष = आत्मा का ही भान होता है । इस तरह 'नीलो घट:' प्रतीति से जैसे घट में ही नील रूप का भान होता है, न कि पट में, ठीक वैसे ही 'अहं ज्ञाता' इस प्रतीति से पुरुष = अहंपदार्थ में ही ज्ञान का भान होता है, न कि बुद्धि में - यह सिद्ध होता है । 'अहं ज्ञाता' यह प्रतीति आत्मा और ज्ञान में भेद मानने पर उत्पन्न हो सकती है या अभेद मानने पर - वह अलग बात है । इस विषय की चर्चा सांख्यमतनिरास में अनुपयोगी है । यहाँ तो ज्ञान जडबुद्धि का धर्म नहीं है - इतना ही सिद्ध करना अभिमत है । इसके अतिरिक्त बात यह है कि सांख्य मनीषियों ने पूर्व में जो कहा था कि --> 'जड बुद्धि में इन्द्रियप्रणालिका से घटाकार = विषयाकार का आधान होता है अर्थात् चक्षुरिन्द्रियादिस्वरूप नालिका के द्वारा बुद्धि घटाकारादि रूप से परिणत होती है' <-- वह भी असंगत है, क्योंकि जड बुद्धि में जड घटाकार मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । बिना हेतु के क्यों जड विषयाकार की बुद्धि में कल्पना की जाय ? बुद्धि में जड विषयाकार का परिणाम उत्पन्न न होने पर भी घटज्ञान में पटादि के अभान की या घट-पट-मठ आदि सब के भान की आपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि घटज्ञानसामग्री से घटज्ञान में घटनिष्ठविषयता से, जो घटत्वावच्छिन्न होती है न कि पटत्व-मठत्वादि से अवच्छिन्न = नियन्त्रित, निरूपित विषयिता का आधान होने से घट का ही भान घटज्ञान में अवश्य होगा । घटज्ञाननिष्ठविषयिता की निरूपकता घट में होने से और पटादि में न होने से उस प्रतीति को घटावगाही मानना और पटादिअवगाही न मानना मुनासिब ही है । हाँ, घटज्ञाननिष्ठ विषयिता को सांख्य लोग विषयाकार कह सकते हैं, मगर वह जड बुद्धि का धर्म नहीं है किन्तु चेतना का धर्म है । यहाँ यह शंका नहीं होनी चाहिए कि --> 'चेतना भी प्रतिबिम्बात्मक होने से जडबुद्धिस्वरूप ही है, क्योंकि बुद्धि में ही चैतन्यप्रतिबिम्ब पडता है' <-- क्योंकि चेतना प्रतिबिम्बस्वरूप नहीं है किन्तु ज्ञानात्मक है ।

चेतनाधर्मत्वात् । अत एव चेतनाऽपि न प्रतिबिम्बः किन्तु ज्ञानमेव, अमूर्तप्रतिबिम्बासम्भवात् ।

भट्टास्तु 'मामहं न जानामी'त्यात्मनि ज्ञायमानेऽपि 'न जानामी'ति ज्ञानाज्ज्ञानाऽज्ञानोभयस्वभाव एवात्मा । अत एव 'मिथ्यादर्शनप्रकर्षापकर्षवत्त्वेन तद्विरोधितया सिद्धस्य सम्य-

❀ जयलता ❀

विपर्ययितास्वरूपो घटाद्याकारः ज्ञानमस्तु । स तु न जडः सम्भवति, **चेतनाधर्मत्वात्** चेतनाधर्मस्य चेतनात्मकत्वात्, जडधर्मस्य जडात्मकत्ववत्, अन्यथा तथाविधधर्मधर्मिभावाऽयोगात् । **अत एव** = विषयिताकाराकारस्य चेतनाधर्मत्वादेव, **चेतनाऽपि न प्रतिबिम्बः**, जडबुद्धिप्रतिबिम्बत्वे जडत्वप्रसङ्गात् । **किन्तु ज्ञानं एव** चेतनापदवाच्यं, **अमूर्तप्रतिबिम्बाऽसम्भवात्** । न हि काल-प्रकृतिप्रभृतिप्रतिबिम्बं कदाचिदपि दृष्टम् । बुद्धेरपि चैतन्यत्वेनाऽमूर्तत्वान्न प्रतिबिम्बोदयाऽसम्भवात् । **एतेन** बुद्धिर्जडा प्रकृति-जन्यत्वादित्यपि **प्रत्युक्तम्**, हेतोरसिद्धत्वात्, ज्ञानाभिन्नत्वेन चैतन्यरूपतासिद्धेर्बाधाच्च । तदत्राऽमूर्तेऽमूर्तप्रतिबिम्बं कल्पयन् कापिलः कथं न विदुषां हास्यतां व्रजेत् ? न ह्यमूर्तस्य विषयाकारधारित्वं कश्चिद् दूषणम् । प्रतिबिम्बस्य पौद्गलिकत्वं तु **स्याद्वादरत्नाकरा**दितोऽवसेयम् । विस्तरतः सांख्यमतनिरासस्तु **स्याद्वादकल्पलता**दितो बोध्यः ।

योगसांख्यौ निराकृत्य साम्प्रतं मीमांसकमतमपाकर्तुमादौ तन्मतमावेदयति **भट्टास्तु** इति । आहुरित्यनेनाऽस्यान्वयः । **'मामहं न जानामी'ति आत्मनि ज्ञायमानेऽपि** = तादृशज्ञानसत्त्वदशायामपि **'न जानामी'तिज्ञानात्** अज्ञानवत्त्वमपि तत्र निराबाधमिति सिद्धं **ज्ञानाज्ञानोभयस्वभाव एवात्मेति** । ततो न केवलमात्मनो ज्ञानमयत्वं युक्तं न वा अज्ञानमयत्वं किन्तु ज्ञानाज्ञानोभयमयत्वं ज्ञानाऽज्ञानोभयात्मकत्वमिति यावत् । ज्ञानञ्च गुणोऽज्ञानञ्च दोष इति सिद्धमात्मनो गुणदोषोभयात्मकत्वम् । ततः गुण-दोषयोः [illegible] । **अत एव** = आत्मनो गुणदोषोभयस्वभावत्वादेव, अस्य चाऽग्रे यदुपक्षिप्तं तत्राऽयमनुयोग इत्यनेनान्वयः । **मिथ्यादर्शनेति** । अत्र सोपयोगित्वात्पूर्वापरानुसन्धानद्योतनाय साम्प्रत-**मष्टसहस्र्या**मुपलभ्यमानः पाठः प्रदर्श्यते । तदुक्तं तत्र **विद्यानन्देन** प्रथमपरिच्छेदे **आप्तमीमांसा**चतुर्थकारिकाव्याख्यायां 'द्विविधो ह्यात्मनः परिणामः स्वाभाविक आगन्तुकश्च । तत्र स्वाभाविकोऽनन्तज्ञानादिरात्मस्वरूपत्वात्, मलः पुनरज्ञानादिरागन्तुकः,

जड बुद्धि में चेतना का प्रतिबिम्ब तो नामुमकिन है, क्योंकि चेतना अमूर्त है । अमूर्त का कभी भी प्रतिबिम्ब पडता नहीं है, अन्यथा काल, आकाश आदि का भी प्रतिबिम्ब आरसी में उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं होगी । अतः चेतना को ज्ञानात्मक मानना ही युक्त है और वह ज्ञानात्मक चैतन्य पुरुष में रहने की वजह पुरुष चेतन कहा जाता है - ऐसा मानना सांख्य मनीषियों के लिए उचित है । ज्ञान को बुद्धि का धर्म मानने पर तो बुद्धि जड न हो कर चेतन बन जायेगी । इसलिए ज्ञान को जड बुद्धि का धर्म माननेवाले सांख्यों का मत अश्रद्धेय है ।

❀ आत्मा ज्ञानाऽज्ञानोभयात्मक है - भट्ट ❀

पूर्वपक्ष :- भट्टा. । आत्मा के बारे में भट्ट के अनुयायियों का यह कथन है कि आत्मा न तो केवल ज्ञानस्वभाव है और न तो केवल अज्ञानस्वभाव है किन्तु ज्ञानाज्ञानोभयस्वभाव है । इसका कारण यह है कि 'मामहं न जानामि' ऐसी प्रतीति लोगों को होती है जिसमें अहंपद से आत्मा ज्ञायमान = ज्ञानाश्रय होने पर भी 'न जानामि' अर्थात् 'ज्ञानवाला मैं नहीं हूँ' यह प्रतीति होती है । उक्त प्रतीति में ज्ञायमान होने से आत्मा ज्ञानस्वभावसिद्ध होती हुई भी केवल ज्ञानस्वरूप इसलिए नहीं कही जा सकती कि तब 'न जानामि' यह प्रतीति अनुपपन्न बन जाती है । केवल ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञानाभाव नहीं हो सकता है । इसलिए उक्त प्रतीति के बल से आत्मा को ज्ञानाज्ञानोभयस्वभाववाली = ज्ञानाज्ञानोभयात्मक माननी ही युक्त है । आत्मा गुणदोषोभयस्वभाववाली है - यह निश्चित होता है । इसलिए अष्टसहस्री ग्रन्थ में विद्यानन्द ने आत्मा में केवल गुणस्वभावत्व का प्रतिपादन किया है वह असंगत है । पहले दिगम्बर आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री ग्रन्थ में क्या कहा है ? यह सुनिये -

❀ आत्मा में केवल गुणस्वभावत्व है - अष्टसहस्रीकार ❀

मिथ्या. । संसार का कारण मिथ्यादर्शन आदि है, जिसका अपकर्ष और प्रकर्ष होता है । वह तभी संगत हो सकता है जब उसके विरोधी गुण का प्रकर्ष और अपकर्ष हो । जैसे शैत्य का प्रकर्ष होने पर उष्णता का अपकर्ष होता है और शैत्य का अपकर्ष होने पर उष्णता का प्रकर्ष होता है, क्योंकि शैत्य और उष्णता परस्पर विरोधी हैं । **मिथ्यादर्शन आदि** के अपकर्ष और प्रकर्ष की उपपत्ति जिसके प्रकर्ष और अपकर्ष के अधीन है वही सम्यग्दर्शनादि शब्द से प्रतिपाद्य है । मिथ्यादर्शनादि-

ग्दर्शनादेः प्रकृष्यमाणत्वेन सिद्धेन परमप्रकर्षेण सिद्धमिथ्यादर्शनात्यन्तनिवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या संसारात्यन्तनिवृत्तिसिद्धेः क्वचित्सिद्धनिवृत्तौ आत्मनि सिद्धं गुणस्वभावत्वमन्यत्राऽप्यात्मत्वान्यथानुपपत्त्या साध्यते । दोषस्वभावत्वं तु विरोधाद् बाध्यते' इति अष्टसहस्र्यां यत्प्रपंचितं

❀ कल्पलता ❀

कर्मोदयनिमित्तकत्वात् । स चात्मनः प्रतिपक्ष एव । ततः परिक्षयी । तथा हि यो यत्रागन्तुकः स तत्र स्वनिर्हासनिमित्तविवर्धनवशात्परिक्षयी यथा जात्यहेम्नि ताम्रादिमिश्रणकृतः कालिकादिः, आगन्तुकश्चात्मन्यज्ञानादिर्मलः इति स्वभावहेतुः । न तावदयमसिद्धः । कथम् ? यो यत्र कादाचित्कः स तत्रागन्तुकः यथा स्फटिकाश्मनि लोहिताद्याकारः । कादाचित्कश्चात्मनि दोष इति । न चेदं कादाचित्कत्वमसिद्धम्, सम्यग्ज्ञानादिगुणाविर्भावदशायामात्मनि दोषानुपपत्तेः । 'ततः प्राक्तनसद्भावाद्गुणाविर्भूतिदशायामपि तिरोहितदोषस्य सद्भावान्न कादाचित्कत्वं, सातत्यसिद्धेरिति' चेत् ? न, गुणस्याप्येवं सातत्यप्रसङ्गात् । तथा च हिरण्यगर्भादेर्वेदार्थज्ञानकालेऽपि वेदार्थाज्ञानप्रसङ्गः । ज्ञानाज्ञानयोः परस्परविरुद्धत्वादेकत्रैकदा न प्रसङ्ग इति चेत् ? तर्हि गुणस्यापि पुनराविर्भूतिदर्शनाद् दोषकालेऽपि सत्तामात्रसिद्धिः, सर्वथा विशेषाभावात् । तथा चात्मनो दोषस्वभावत्वसिद्धिवद् गुणस्वभावत्वसिद्धिः कुतो निवार्येत ? विरोधादिति चेत् ? दोषस्वभावत्वसिद्धिरेव निवार्यतां, तस्य गुणस्वभावत्वसिद्धेः । कुतः सिद्धिरिति चेत् ? दोषस्वभावत्वसिद्धिः कुतः ? संसारित्वान्यथानुपपत्तेरिति चेत् ? तत्संसारित्वं सर्वस्यात्मनो यद्यनाद्यनन्तं तदा प्रतिवादिनोऽसिद्धं, प्रमाणतो मुक्तिसिद्धेः । कुत इति चेत् ? इमं प्रवदामः । क्वचिदात्मनि संसारोऽत्यन्तं निवर्तते तत्कारणात्यन्तनिवृत्त्यन्यथानुपपत्तेः । संसारकारणं हि मिथ्यादर्शनादिकमुभयप्रसिद्धं क्वचिदत्यन्तनिवृत्तिमत्, तद्विरोधिसम्यग्दर्शनादिपरमप्रकर्षसद्भावात् । यत्र यद्विरोधिपरमप्रकर्षसद्भावस्तत्र तदत्यन्तनिवृत्तिमद् भवति, यथा चक्षुषि तिमिरादि । नेदमुदाहरणं साध्यसाधनधर्मविकलं, कस्यचिच्चक्षुषि तिमिरादेरत्यन्तनिवृत्तिमत्त्वप्रसिद्धेस्तद्विरोधिविशिष्टाञ्जनादिपरमप्रकर्षसद्भावसिद्धेश्च निर्विवादकत्वात् । कथं मिथ्यादर्शनादिविरोधि सम्यग्दर्शनादि निश्चीयत इति चेत् ? तत्प्रकर्षे तदपकर्षदर्शनात् । यद्धि प्रकृष्यमाणं यदपकर्षति तत् तद्विरोधि सिद्धम्, यथोष्णस्पर्शः प्रकृष्यमाणः शीतस्पर्शापकर्षंस्तद्विरोधी । मिथ्यादर्शनादिकमपकर्षति च प्रकृष्यमाणं क्वचित्सम्यग्दर्शनादि, तत् (? ततः) तद्विरोधि । कथं पुनः सम्यग्दर्शनादेः क्वचित्परमप्रकर्षसद्भावः सिद्ध इति चेत् ? प्रकृष्यमाणत्वात् । यद्धि प्रकृष्यमाणं तत्क्वचित्परमप्रकर्षसद्भावभाग्दृष्टम्, यथा नभसि परिमाणम् । प्रकृष्यमाणञ्च सम्यग्दर्शनादि । तस्मात्परमप्रकर्षसद्भावभाक् । परत्वापरत्वाभ्यां व्यभिचार इति चेत् ? न, तयोरपि सापेक्षतजगद्व्यापिनो परमप्रकर्षसद्भावभावत्वसिद्धेः । न चापर्यन्तं जगदिति वक्तुं शक्यं, विशिष्टसन्निवेशवत्त्वात्पर्वतवत् । यत्पुनरपर्यन्तं तन्न विशिष्टसन्निवेशं सिद्धं यथा व्योम । विशिष्टसन्निवेशं च जगत् । तस्मात्सर्वतः सपर्यन्तमिति निगदितमन्यत्र । संसारेणानैकान्त इति चेत् ? न, तस्याप्यभव्यजीवेषु परमप्रकर्षसद्भावसिद्धेः प्रकृष्यमाणत्वेन प्रतीतेः । एतेन मिथ्यादर्शनादिभिर्व्यभिचारः प्रत्याख्यातः, तेषामप्यभव्येषु परमप्रकर्षसद्भावात् ।

विरोधितया सिद्ध होने वाले सम्यग्दर्शनादि का अपकर्ष और प्रकर्ष होता है तब चरम = उत्कृष्ट प्रकर्ष भी अवश्य होना चाहिए, क्योंकि तारतम्यवाले भावों का उत्कर्ष अवश्य कहीं पर विश्रान्त होता है, जैसे परिमाण के उत्कर्ष का विश्राम गगनपरिमाण में होता है । जब सम्यग्दर्शनादि का चरम प्रकर्ष होता है तब मिथ्यादर्शनादि की अत्यन्त निवृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि सम्यग्दर्शनादि उसका विरोधी होता है । जैसे गर्मी के दिनों में मध्याह्न काल में गगन स्वच्छ होने पर तप्त रास्ते पर गरमी का प्रकर्ष होता है या टाटा (फैक्टरी) की भट्ठी में उष्णता का प्रकर्ष होता है तब शैत्य की अत्यन्त निवृत्ति = उच्छेद होता है ठीक वैसे ही यह संगत हो सकता है । जब सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान आदि गुणों के परमप्रकर्ष से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान आदि दोषों की अत्यन्त निवृत्ति सिद्ध हो गई तब तो उसकी अन्यथानुपपत्ति के बल से संसार की भी अत्यन्त निवृत्ति सिद्ध हो जायगी । इस तरह परमप्रकृष्ट सम्यग्दर्शनादि से जिस आत्मा में संसार का अत्यन्त उच्छेद सिद्ध होगा उसमें गुणस्वभावत्व की सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि दोषस्वभावत्व का उसमें स्वीकार करने पर तो दोष की सर्वथा निवृत्ति ही अनुपपन्न हो जायेगी । उसका विरोध होगा । आत्मत्व के अधिकरण किसी एक आत्मा में गुणस्वभावत्व की सिद्धि हो जाने पर तो अन्य भव्य, अभव्य, जातिभव्य, दूरभव्य आदि में भी गुणस्वभावत्व की सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि वैसा न मानने पर उसमें आत्मत्व की अन्यथा अनुपपत्ति हो जायेगी । यहाँ अनुमानप्रयोग इस तरह होगा कि - अभव्य, जातिभव्य आदि आत्मा गुणस्वभाववाले हैं, आत्मत्व की अन्यथाअनुपपत्ति होने से, मुक्तजीववत् । ऐसा मानने पर अपसिद्धान्त आदि दोषों का भी अवकाश नहीं है, क्योंकि अभव्य, जातिभव्य आदि में सत्ता से तो केवलज्ञान, सम्यग्दर्शनादि गुण विद्यमान ही है । वह तिरोहित है - वह अलग बात है । यह है अष्टसहस्रीकार दिगम्बर जैनाचार्य विद्यानन्द का वक्तव्य ।

तत्राऽयमनुयोगः, एवं सति सातत्येन सताऽज्ञानादिनाऽनादिनिगोदजीवानां दोषस्वभावत्वस्य सिद्धत्वादन्यत्राप्यात्मत्वान्यथानुपपत्त्या तथात्वं कुतो न सिद्ध्येत् ? गुणः साक्षात्, दोषः पुनरात्मन्युपचारादिति विशेषेऽपि वैपरीत्यस्य सुवचत्वात् ।

❋ जयलता ❋

ततो नानैकान्तिकं प्रकृष्यमाणत्वं परमप्रकर्षसद्भावे साध्ये । नापि विरुद्धं, सर्वथा विपक्षाद् व्यावृत्तेः । इति कश्चिन्मिथ्यादर्शनादिविरोधि सम्यग्दर्शनादि परमप्रकर्षसद्भावं साधयति । स च मिथ्यामिथ्यादर्शनादेरत्यन्तनिवृत्तिं गमयति । सा च गम्यमाना स्वकार्यं संसारात्यन्तनिवृत्तिं निश्चाययति । याऽसौ संसारस्यात्यन्तनिवृत्तिः सा मुक्तिरिति । तदन्यथानुपपत्तेरात्मनो ज्ञानादिगुणस्वभावत्वसिद्धेर्न दोषस्वभावत्वसिद्धिः, विरोधात् । प्रसिद्धायां कस्यचिदात्मनि निःश्रेयसभाजि गुणस्वभावतायामभव्यादावपि तन्निर्णयः, जीवत्वान्यथानुपपत्तेः । प्रसिद्धे च सर्वस्मिन्नात्मनि ज्ञानादिगुणस्वभावत्वे दोषस्वभावत्वासिद्धेः सिद्धं दोषस्य कादाचित्कत्वमागन्तुकत्वं साधयति । ततः स एव परिक्षयी स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्धनवशादिति सुस्पष्टमाभाति, दोषनिर्ह्रासनिमित्तस्य सम्यग्दर्शनादेः विशेषेण वर्द्धनप्रसाधनात्' (अ.स.१-४-पृ.७०) इति । प्रकृतप्रकरणे चेदमेव संक्षेपतः प्रोक्तं मिथ्यादर्शनापकर्षप्रकर्षवत्त्वेनेत्यादिना । सुस्पष्टमेवाऽष्टसहस्रीपाठदर्शनादिति न प्रतन्यतेऽस्माभिः ।

भट्टानुयायिनोऽत्र प्रतिबन्द्या प्रत्यवतिष्ठन्ते - **तत्र** = विद्यानन्दवक्तव्ये **अयं** = अनुपदं वक्ष्यमाणः **अनुयोगः** = पर्यनुयोगः प्रश्न इति यावत् । **एवं सति** = सम्यग्दर्शनादिप्रकर्षसद्भावदशायां सिद्धगतत्वेन ज्ञानादिना मुक्तात्मनां गुणस्वभावत्वस्य सिद्धत्वादन्यत्राऽप्यात्मत्वान्यथानुपपत्त्या गुणस्वभावत्वसाधने सति, मिथ्यादर्शनादिप्रकर्षसद्भावदशायां **सातत्येन सता अज्ञानादिना अनादिनिगोदजीवानां**, अप्राप्तसम्यग्दर्शनादिगुणत्वबोधनायानादीति, **दोषस्वभावत्वस्य सिद्धत्वात्, अन्यत्र** = प्रत्येककायादिमुक्तात्मपर्यन्तेषु **अपि आत्मत्वान्यथानुपपत्त्या तथात्वं** = दोषस्वभावत्वं **कुतो न सिद्ध्येत्** ? सिद्ध्येदेव । प्राप्तसम्यग्दर्शनादीनामपि पूर्वं दोषस्वभावत्वस्य सिद्धत्वात् । **एतेन** निगोदभिन्नजीवानां प्राप्तसम्यग्दर्शनादीनां गुणस्वभावत्वकल्पनमपि **प्रत्याख्यातम्**, तथापि अभव्येषु जातिभव्येषु सर्वदा अज्ञानादिना मिथ्यादर्शनादिदोषस्वभावत्वस्य सिद्धत्वादन्यत्रात्मत्वान्यथानुपपत्त्या दोषस्वभावत्वाऽव्याहतेः । **एतेनात्मत्वान्यथानुपपत्त्या न तत्र दोषस्वभावत्वं किन्तु अभव्यत्वजातिभव्यत्वान्यथानुपपत्त्येति नान्यत्र दोषस्वभावत्वसिद्धिरित्यपि **निरस्तम्**, अवाप्तप्रकृष्टसम्यग्दर्शनानां नात्मत्वान्यथानुपपत्त्या गुणस्वभावत्वं किन्तु प्रकृष्टसम्यग्दर्शनाद्यन्यथानुपपत्त्येति नान्यत्राभव्यादिषु गुणस्वभावत्वसिद्धिरित्यस्यापि जागरूकत्वात् ।

सम्यग्दर्शनादिः **गुणः साक्षात्** = अनौपाधिकः, **दोषः** मिथ्यादर्शनादिः **पुनः** आत्मनि **उपचारात्** = औपाधिकः इति गुणस्वभावत्वमेवानुपचरितं दोषस्वभावत्वं तु काल्पनिकमुपचरितं चेति **विशेषे** सति **अपि वैपरीत्यस्य** = आत्मत्वाऽविशेषेऽपि दोषः साक्षात् गुणः पुनरुपचारादित्यस्य **सुवचत्वात्** दोषस्वभावत्वमेवानुपचरितं गुणस्वभावत्वं तु काल्पनिकमुपचरितं चेत्यत्राऽप्यविनिगमात् गुणदोषोभयस्वभावत्वमात्मनि निराबाधमेवाऽस्माकं भट्टानुयायिनाम् ।

❋ विद्यानन्द का वक्तव्य प्रतिबन्दिग्रस्त - भट्ट ❋

तत्राऽयम. । विद्यानन्द के वक्तव्य के खिलाफ भट्टानुयायियों का यह प्रश्न है कि जैसे परमप्रकृष्ट सम्यग्दर्शनादि के सतत साथ रहनेवाले सम्यग् ज्ञानादि गुणों की अन्यथाअनुपपत्ति से मुक्तात्मा में गुणस्वभावत्व की सिद्धि कर के आत्मत्वान्यथानुपपत्ति से सकल आत्मा में गुणस्वभावत्व की सिद्धि करने पर तो सतत प्रकृष्ट मिथ्यात्वादि दोषवाले अनादि निगोदजीवों में, जिन्होंने कभी भी निगोद से बाहर नहीं निकलने की वजह सम्यग्दर्शनादि गुणों को कभी भी प्राप्त नहीं किया है, दोषस्वभावत्व की सिद्धि हो जाने से अन्य - निगोद से बाहर निकलनेवाले भव्य-आसन्नभव्य, मुक्तात्मा आदि में भी आत्मत्व की अन्यथाअनुपपत्ति के बल से तथात्व - दोषस्वभावत्व की सिद्धि क्यों न होगी ? युक्ति तो दोनों पक्ष में समान ही है । यहाँ यह तो नहीं कहा जा सकता कि --> 'आत्मा में गुण ही साक्षात् = अनुपचरित सम्बन्ध = अपृथग्भाव सम्बन्ध से रहता है । दोष तो उपचार से = परम्परासम्बन्ध से रहता है । अतः आत्मा में गुणस्वभावत्व ही होगा, न कि दोषस्वभावत्व' <-- क्योंकि इस तरह विशेष उद्भावन करने पर तो विपरीत रूप से भी विशेष उद्भावन करना सरल होगा कि - आत्मा में दोष ही साक्षात्सम्बन्ध से रहता है, गुण तो परम्परासम्बन्ध से रहने से औपचारिक है । निगोद के जीव में साक्षात्सम्बन्ध से दोष रहता है - इसका अपलाप तो दिगम्बर भी नहीं कर सकता । इसलिए सभी जीवों में दोषस्वभावत्व मानना भी निर्दोष ही है ।

दोषस्वभावत्वे निर्दोषत्वं कदापि न स्यादिति चेत् ? गुणस्वभावत्वे निर्गुणत्वं कदापि न स्यादित्यपि किं न स्यात् ?

दोषाविर्भावकालेऽपि तिरोहितगुणसत्त्वात् स्यादभिमतमेवेदमिति चेत् ? तदितरत्रापि समानम् । 'तिरोहितोऽपि दोषो गुणविरोधीति' चेत् ? तिरोहितो गुणोऽपि किं न दोषविरोधी ?

जयलता

ननु अनादिनिगोदजीवानां सातत्येनाऽज्ञानादिना **दोषस्वभावत्वे** स्वीकृते सति **निर्दोषत्वं** = मिथ्यादर्शनादिदोषराहित्यं **कदापि न स्यादिति** तदन्यथानुपपत्त्या गुणस्वभावत्वमेवानुपचरितं कल्पयितुमर्हन्ति न तु दोषस्वभावत्वमिति विद्यानन्दानुयायिभिरुच्यते चेत् ? तर्हि अभव्य-जातिभव्यानां सदैव निर्गुणत्वमभिमतमेव । **न च** तदितरेषां कदापि निर्दोषत्वं न स्यादिति **वाच्यम्,** तर्हि क्वचित् परमसम्यग्दर्शनादिना गुणस्वभावत्वे सिद्धे सर्वेषामात्मत्वान्यथानुपपत्त्या **गुणस्वभावत्वे** स्वीकृते सति अनादिनिगोदादिजीवानां **निर्गुणत्वं कदापि** अनादिनिगोदाद्यवस्थायामपि **न स्यात् इत्यपि किं न स्यात्** ? युक्तेः तुल्यत्वात्, अन्यथा अर्धजरतीयप्रसङ्गात् ।

नन्वनादिनिगोदादिदशायां किं कथञ्चिद्गुणस्वभावत्वमापाद्यते सर्वथा वा ? इति पक्षद्वयी । नाद्योऽनवद्यः, **दोषाविर्भाव-कालेऽपि** = विलसन्मिथ्यादर्शनादिदोषाभिव्यक्तिसमयावच्छेदेनाऽपि सर्वेषामेवाऽभव्य-जातिभव्य दूरभव्यादीनां **तिरोहितगुण-सत्त्वात्** = अव्यक्तकेवलज्ञानादिगुणानां सत्त्वात् **स्यादभिमतं** = कथञ्चिदिष्टं **एव इदं** = सर्वेषामात्मनां कथञ्चिन्निर्गुणभिन्नत्वम् । न हि आकाशादिवत् अभव्यादीनां सर्वथा केवलज्ञानादिगुणशून्यत्वमभिमतम्, अन्यथा केवलज्ञानावरणानुपपत्तेः । जीवस्य सतोऽभव्यादेरपि केवलज्ञानावरणवत्त्वादावरणेन च सतामेव ज्ञानादिगुणानामभिभवस्य कर्तुं शक्यत्वादभव्यादेरपि ज्ञानादिगुण-स्वभावत्वमेव । द्वितीयस्तु नास्माभिः स्याद्वादिभिः मुक्तात्मस्वपि स्वीक्रियते । न हि सिद्धोऽपि निगोदाद्यवस्थापेक्षया प्रकट-सम्यग्दर्शनादिगुण-स्वभावोऽभ्युपगम्यते । **तत्** स्याद्वादिभिरुच्यमानं **इतरत्र** = जीवानां दोषस्वभावत्वपक्षे **अपि समानम्** । सम्यग्दर्शनादिगुणा-विर्भावकालेऽपि तिरोहितदोषसत्त्वात् कथञ्चिदभिमतमेव 'दोषस्वभावत्वे निर्दोषत्वं कदापि न स्यात्' इत्युच्यमानम् । न ह्यप्रमत्तादि-गुणस्थाने प्रकृष्टसम्यग्दर्शनसत्त्वेऽपि सर्वथा निर्दोषत्वमस्ति । **न च** मुक्तात्मस्वपि निर्दोषत्वं न स्यादिति **वाच्यम्,** स्यादभिमतमेवेदम् । न हि मुक्तोऽपि संसारावस्थापेक्षया निर्दोषः स्वीक्रियते, अन्यथा स्याद्वादाय जलाञ्जलिः दत्तः स्यात् ।

ननु **तिरोहितोऽपि दोषो गुणविरोधीति** तिरोहितदोषसत्त्वे निर्मलसम्यग्दर्शनादिकमेव न स्यादिति चेत् ? तर्हि अनादि-निगोदजीवानां **तिरोहितो गुणोऽपि किं न दोषविरोधी** = मिथ्यात्वादिदोषप्रतिबन्धकः स्यात् ? ततोऽनादिनिगोदावस्थायामपि जीवानां निर्दोषत्वमभ्युपगन्तव्यं स्यादित्यपसिद्धान्तापत्तेः ।

यहाँ दिगम्बर की ओर से यह कहा जाय कि —> 'सभी जीवों में दोषस्वभावत्व मानने पर तो किसी भी जीव में कभी भी निर्दोषता की सिद्धि नहीं होगी । तब तो मुक्ति भी अनुपपन्न बन जायेगी, क्योंकि कृत्स्नदोषात्यन्तनिवृत्ति ही मुक्तिशब्द से प्रतिपाद्य है' <— तो यह भी इसलिए तथ्यहीन है कि तब तो तुल्य युक्ति से यह भी कहा जा सकता है कि सब जीवों में आत्मत्वान्यथानुपपत्ति से गुणस्वभावत्व मानने पर तो कोई भी जीव कभी भी निर्गुण नहीं हो सकेगा । तब तो अनादिनिगोद के जीव में भी गुण की सिद्धि हो जायगी ।

—> 'हाँ, हम दिगम्बर अनादि निगोदजीव में भी तिरोहित गुण का स्वीकार करते ही हैं । आत्मत्वान्यथानुपपत्ति के बल से सिद्ध होनेवाले गुणस्वभावत्व का अपलाप तो कैसे हो सकता है ?' <— इस वक्तव्य के खिलाफ यह भी कल्पना की जा सकती है कि - भव्य, आसन्नभव्य, मुक्त आत्मा आदि में भी तिरोहित दोष रहता ही है । आत्मत्वान्यथानुपपत्ति के बल से सिद्ध दोषस्वभावत्व का अपलाप तो कैसे हो सकता है ? यहाँ इस कथन का कि —> 'मुक्तात्मा में तिरोहित भी दोष मानने पर तो गुण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि तिरोहित दोष भी गुण का विरोधी होता है । क्या दूधपाक में तिरोहित एक भी विषबिन्दु आरोग्य, पुष्टि आदि गुणों का नाशक नहीं होता है ?' <— समाधान भी सुलभ है कि अनादिनिगोद जीवों में तिरोहित भी गुण मानने पर तो मिथ्यादर्शनादि दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि तिरोहित गुण भी दोष का विरोधी होता है । क्या भोजन में तिरोहित अमृत का एक भी बिन्दु रोग, जडता, थकावट आदि दोषों का नाशक नहीं होता है ? युक्ति तो दोनों पक्षों में समान ही है ।

अथ ***स्फटिकश्वैत्यादिगुणस्य तिरोहितस्यापि तापिच्छश्यामिकादिदोषाऽविरोधित्वं दृष्टमिति चेत्? न, आत्मन्यज्ञानादिदोषस्यौपाधिकस्याऽनभ्युपगमाद् बोधांश-द्रव्यांशयोरेव प्रकाशाप्रकाशरूपत्वात् । न चैकत्र ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधः, भेदाऽभेदवदविरोधात् । अत एव 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमि'ति सुषुप्त्युत्तरकालीनोऽपि बोधः सङ्गच्छते*** *इत्याहुः ।*

❋ जयलता ❋

विद्यानन्दानुयायी शङ्कते **अथेति** । चेदित्यनेनास्यान्वयः । **स्फटिकश्वैत्यादिगुणस्य तिरोहितस्यापि तापिच्छश्यामिकादिदोषाविरोधित्वं दृष्टम्** । स्फटिके तिरोहितश्वैतिमायाः सत्त्वेऽपि तापिच्छश्यामिकारूपो दोष उपजायते तिरोहितनिर्मलतासत्त्वेऽपि तापिच्छमलीनिमा जायत इति दृष्टत्वान्न तिरोहितगुणस्य दोषप्रतिबन्धकत्वम् । अत एवाऽनादिनिगोदजीवानां तिरोहितकेवलज्ञानादिगुणस्य नाज्ञानादिदोषप्रतिबन्धकत्वमित्यात्मत्वान्यथानुपपत्त्या गुणस्वभावत्वकल्पनं न्याय्यमेवेति **चेत्? न** दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः वैषम्यात् । स्फटिके हि तिरोहितशौक्ल्यादिगुणसत्त्वे तापिच्छादिलक्षणोपाधिसम्पादित एव श्यामिकादिदोषो न निवर्तते, न तु अनौपाधिकः दोष इति तिरोहितगुणस्य न दोषप्रतिबन्धकत्वं किन्तु औपाधिकदोषप्रतिबन्धकत्वम् । न चैव प्रतिबध्यतावच्छेदकगौरवदोष इति वाच्यम्, विशेषधर्मेण व्यभिचाराज्ञाने सामान्यधर्मेणान्यथासिद्धत्वात् । न च तथापि तिरोहितज्ञानादिगुणस्याऽनादिनिगोदजीवाज्ञानादिप्रतिबन्धकत्वं न स्यात् अज्ञानादेरौपाधिकत्वादिति वाच्यम्, **आत्मनि** = आत्मत्वावच्छिन्ने **अज्ञानादिदोषस्य औपाधिकस्य** = उपाधिजन्यस्य **अनभ्युपगमात्** । न हि तापिच्छाऽसन्निधाने स्फटिके पूर्वं यथा श्यामिकादेरभावः प्रेक्ष्यते तथाऽनादिनिगोदजीवादिषु पूर्वमज्ञानादिदोषस्याऽभावः स्वीक्रियते स्याद्वादिभिरपि, निगोदजीवानामिवाऽज्ञानादिदोषागमस्याऽनादित्वात् । इत्थञ्च विनिगमनाविरहात् गुणस्वभावत्वमिव दोषस्वभावत्वमप्यात्मत्वावच्छिन्ने स्वीकर्तव्यम् । न हि जीवानभिमतावता प्रबन्धेन गुणस्वभावत्वं प्रतिक्षिप्यते किन्तु दोषस्वभावत्वमपि तुल्ययुक्त्या साध्यते । ततश्च ज्ञानाज्ञानोभयस्वरूप एव जीवोऽभ्युपगन्तव्यः, आत्मनो **बोधांश-द्रव्यांशयोरेव प्रकाशाप्रकाशरूपत्वात्** = ज्ञानाज्ञानात्मकत्वात् । **न च एकत्र** आत्मनि **ज्ञानाज्ञानयोः** विरोधः अन्धकारप्रकाशयोरिवेति **वक्तव्यम्, भेदाभेदवदविरोधात्** । वृक्षे मूलांश-शाखांशयोः कपिसंयोगाभिन्नत्व-तदभिन्नत्ववत् आत्मन्यपि बोधांश-द्रव्यांशयोर्ज्ञानाज्ञानात्मकत्वमनपायमेव । **अत एव** = आत्मनो ज्ञानाज्ञानात्मकत्वादेव, **'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमि'ति सुषुप्त्युत्तरकालीनोऽपि बोधः सङ्गच्छते**, सुखस्याऽवश्यवेदनीयत्वेन सुखबोधेऽपि 'न किञ्चिदवेदिषमि'ति ज्ञानात् ज्ञानाज्ञानोभयस्वभावत्वमेवात्मनः सिध्यति । आत्मनः ज्ञानाज्ञानोभयात्मकत्वानङ्गीकारेऽयं

▣ ज्ञान और अज्ञान एकत्र अविरोधी - मत ▣

अथ स्फ. । यदि दिगम्बर की ओर से यह कहा जाय कि —> 'तिरोहित गुण का निगोद जीवों में स्वीकार करने पर भी मिथ्यादर्शनादि दोषों के विलय की आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि तिरोहित गुण दोषविरोधी नहीं है, किन्तु प्रगट प्रबल गुण ही दोषविरोधी है । यह तो व्यवहार में भी प्रसिद्ध है । जैसे स्फटिक में श्वैत्य आदि गुण होते हैं वे तापिच्छ = तमाल पुष्प आदि के सन्निधान में तिरोहित हो जाते हैं फिर भी स्फटिक में श्यामिका आदि दोष रहते ही हैं । तापिच्छ के श्याम रूप से स्फटिक में श्यामिका दोष का आधान होता है, उसका विरोधी स्फटिकगत तिरोहित श्वेतमादि गुण नहीं होता है । अतः निगोद के जीवों में तिरोहित गुण होने पर भी मिथ्यात्वादि दोष रह सकते हैं' <— तो यह भी असंगत है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में वैषम्य है । स्फटिक में जो श्यामिका आदि दोष हैं वे औपाधिक हैं और निगोदादि जीवों में जो अज्ञानादि दोष हैं वे अनौपाधिक है, स्वाभाविक है । स्फटिक पहले श्वेत होता है बाद में तापिच्छ के सन्निध्य से उसमें श्यामिका आती है और तापिच्छ के चले जाने पर वह चली जाती है । इसलिए स्फटिक में श्यामिका दोष औपाधिक है । जब कि अनादिनिगोद के जीवों में अज्ञानादि दोष औपाधिक नहीं होते हैं । पहले वे जीव अज्ञानादि दोष से रहित थे और बाद में किसी उपाधि के सन्निधान से उसमें अज्ञानादि दोष आते हैं - ऐसा हो तब अनादिनिगोद के जीवों में अज्ञानादि को औपाधिक माने जा सकते । मगर ऐसा नहीं है । अनादि काल से निगोद के जीवों में अज्ञानादि दोष रहते हैं । हमारा यहाँ यह वक्तव्य है कि तिरोहित गुण औपाधिक दोष का विरोधी हो सकता नहीं है, मगर अनौपाधिक = साहजिक दोषों का तो वह विरोधी होगा ही । इसलिए निगोदजीवों में केवल गुणस्वभावत्व मान कर तिरोहित गुण का स्वीकार करना उचित नहीं है । उचित तो यही है कि अनादि निगोदजीवों में भी गुण-दोषोभयस्वभावत्व का स्वीकार किया जाय । प्रकाशाप्रकाशोभयात्मकता यानी ज्ञानाज्ञानस्वभावत्व का अनादि निगोदजीव, व्यवहारराशिजीव, मुक्तजीव आदि में स्वीकार

*अत्रोच्यते - न तावदेकत्रात्मनि **बोधांश-द्रव्यांशौ भिन्नौ**, अन्यथाऽऽत्मद्वयापत्तेः । न चात्रांशोऽवयवः सम्भवति, निरवयवत्वादात्मनः, न वा प्रदेशः सर्वस्यैव बोधांशत्वात्, सर्वस्यैव द्रव्यांशत्वाच्च । तथा च सर्वावच्छेदेन प्रकाशाप्रकाशोभयापत्तेः । विरुद्धं चैतत्, एकावच्छेदेन भावाभावोभयासमावेशात् ।*

❋ जयलता ❋

बोधो न घटादिरूपमादीकित । ततश्च गुणदोषोभयस्वभावत्वमेवात्मनि सिध्यति **इत्याहुः** ।

यद्यप्यस्माकमप्यात्मनि गुणदोषोभयस्वभावत्वमविरुद्धं, परेषामवयविगुणेऽवयवगुणस्येवास्माकं विभावगुणपर्याये स्वभावगुणपर्यायस्य हेतुत्वसम्भवात्, शुद्धात्मत्वावृतत्वावच्छेदकभेदेन चोभयसमावेशस्याऽप्यविरोधादात्म(प्रदेशा)ष्टकनिर्देशकतात्पर्यस्याऽप्येतदर्थानुकूलत्वात् तथापि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायानुसारिणीयमुक्तिरिति प्रकरणकारेणैव **अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे** प्रपञ्चितं तथापि प्रकृते 'बोधांश-द्रव्यांशयोरेव प्रकाशाप्रकाशरूपत्वादि'ति भट्टमतखण्डनार्थं प्रकारान्तरेणोपक्रमते प्रकरणकारः **अत्रोच्यत** इति । एकत्रात्मनि ज्ञानाज्ञानोभयसमावेशस्तदा स्यात् यदा तदवच्छेदकभेदलाभः स्यात्, अन्यथा तद्विरोधात् । न च स सम्भवति । तथाहि **न तावत् एकत्र आत्मनि बोधांश-द्रव्यांशौ** परस्परं **भिन्नौ** सम्भवतः, **अन्यथा** = एकान्ततः आत्मद्रव्य-पर्यायभेदाभ्युपगमे तु **आत्मद्वयापत्तेः** । कपालतन्तूनां परस्परं भिन्नत्वेन घटपटद्वयवत् । **न च अत्र** आत्मनि **अंशो** = ज्ञानांशः **अवयवः सम्भवति**, तस्य गुणत्वादवयवत्वस्य तु द्रव्यमात्रवृत्तित्वात् । **न चात्र** द्रव्यलक्षणोऽपि **अंशः सम्भवति**, त्वन्मते **निरवयवत्वात्** = अवयवानारब्धत्वात् **आत्मनः** । न च स्याद्वादिमतापेक्षया आत्मनोऽसङ्ख्यप्रदेशात्मकत्वात् ज्ञानांशो द्रव्यांशो **वा प्रदेशः** सम्भवतीति **वाच्यम्**, स्याद्वादिमतानुसारेण तु **सर्वस्यैव** आत्मप्रदेशस्य = आत्मप्रदेशत्वावच्छिन्नस्य **एव बोधांशत्वात्**, बोधांशस्य प्रकाशरूपत्वस्वीकारे सर्वावच्छेदेनात्मनि प्रकाशरूपत्वापत्तिः, **सर्वस्यैव** आत्मप्रदेशस्य = आत्मप्रदेशत्वावच्छिन्नस्य **द्रव्यांशत्वात्** द्रव्यांशस्याऽप्रकाशरूपत्वोपगमे च सर्वावच्छेदेनात्मनि अप्रकाशरूपत्वापत्तिः । तदेवाह - **तथा च** = बोधांश-द्रव्यांशयोः प्रकाशाप्रकाशरूपत्वमङ्गीकृत्य स्याद्वादिमतानुसारेण च आत्मप्रदेशः तस्य ज्ञानांशत्व-द्रव्यांशत्वस्वीकारे च आत्मनि **सर्वावच्छेदेन** = सर्वात्मप्रदेशावच्छेदेन **प्रकाशाऽप्रकाशोभयापत्तिः** = ज्ञानाज्ञानोभयस्वभावप्रसङ्गः । ततः किं ? इत्याह - **विरुद्धं चैतत्** = सर्वात्मप्रदेशावच्छेदेनात्मनि ज्ञानाज्ञानोभयस्वरूपत्वकल्पनं, एकत्र धर्मिणि **एकावच्छेदेन भावाभावोभया-**

करने में कोई अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि सभी जीवों में जो बोधांश है वह प्रकाशस्वरूप है और द्रव्यांश है वह अप्रकाशस्वरूप= अज्ञानस्वरूप है । इसलिए सभी जीवों में ज्ञानाज्ञानस्वरूपत्व का स्वीकार ही उचित है । यहाँ इस शंका का कि —> 'ज्ञान और अज्ञान तो परस्पर विरोधी होते हैं । अतः प्रत्येक जीव में ज्ञानाज्ञानोभयस्वभाव की कल्पना नहीं हो सकती है' <— समाधान यह है कि ज्ञान और अज्ञान परस्पर विरोधी नहीं हैं । जैसे स्याद्वादी एक ही घटादि धर्मी में भेद और अभेद दोनों का स्वीकार करते हैं ठीक वैसे ही प्रत्येक जीव में ज्ञान और अज्ञान की कल्पना करना असंगत नहीं है । भेद और अभेद की भाँति ज्ञान और अज्ञान में विरोध न होने से जीव में ज्ञानाज्ञानस्वभाव की स्वीकृति करने पर ही सुषुप्ति के उत्तरकालीन 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषं' अर्थात् 'मैं सुख-चैन से सो गया, कुछ भी मुझे मालूम नहीं हुआ' ऐसी प्रतीति की संगति हो सकती है । सुख तो अवश्यवेदनीय होने से निद्रा में सुख का अनुभव = ज्ञान तो हुआ ही है फिर भी 'न किञ्चिदवेदिषं' इस प्रतीति से अज्ञान का भी स्वीकार करना आवश्यक है । इस प्रतीति की उपपत्ति जीव को ज्ञानाऽज्ञानोभयस्वरूप मानने पर सरलता से संगत हो सकती है । इसलिए जीव को ज्ञानाज्ञानोभयस्वभाववाला मानना ही युक्त है, न कि केवल ज्ञानस्वभाववाला या केवल अज्ञानस्वभाववाला । यह भट्टानुयायिओं का मन्तव्य है । (भेदाभेदाविरोध की सिद्धि प्रथम कारिका की व्याख्या से ज्ञातव्य है, देखिये पृ. ७५)

❋ ज्ञानाज्ञानोभयस्वभाववादि भट्ट के मत की समालोचना ❋

उत्तरपक्ष :- अत्रो. । भट्ट के उपर्युक्त मन्तव्य के खिलाफ प्रकरणकार श्रीमद् का यह वक्तव्य है कि एक ही आत्मा में बोधांश और द्रव्यांश भिन्न हो तब तो 'बोधांश ही प्रकाशस्वरूप है और द्रव्यांश ही अप्रकाशस्वरूप है' यह माना जा सकता है, क्योंकि अवच्छेदकभेद से एक धर्मी में विरोधी धर्म का समावेश हो सकता है । मगर एक ही आत्मा में बोधांश और द्रव्यांश परस्पर भिन्न नहीं होते हैं, क्योंकि तब दो आत्मा के स्वीकार की समस्या मुँह फाड़े खड़ी रहती है । एक बोधांशस्वरूप आत्मा दूसरी द्रव्यांशलक्षण आत्मा । मगर ऐसा नहीं है । इसलिए अवच्छेदक भेद का स्वीकार आत्मा में ज्ञान-

स्यादभिमतमेतत् आत्मत्वावच्छेदेन प्रकाशो द्रव्यत्वावच्छेदेन चाप्रकाश इति, मैवम्, एवं सति सर्वज्ञोऽपि 'मामहं न जानामी'ति जानीयात् । ततो य एवं जानाति तत्र ज्ञानपदं चाक्षुषादिपरम् ।

❀ जयलता ❀

समावेशात् । न हि वृक्षे एकावच्छेदेनैव कपिसंयोग-तदभावसमावेशो दृष्टचरः, किन्त्ववच्छेदकभेदेनैव । ततश्च ज्ञान-तदभावयोरात्मन्यभिन्नात्मप्रदेशावच्छेदेन समावेशोऽपि निशिततरधारकरालविरोधकुठारप्रहारजर्जरित एव । नचाज्ञानं न ज्ञानाभावः किन्तु भावान्तरमेवेति **वाच्यम्**, भावात्मकस्याऽज्ञानस्य **ज्ञानबिन्दावेव मधुसूदनमतसूदने**ऽपास्तत्वात्, भावान्तरस्वरूपाऽज्ञानस्वीकारे तवापसिद्धान्तापाताच्च । ततो नात्मनि ज्ञानाज्ञानोभयस्वभावकल्पना श्रेयस्करी ।

भट्टाः शङ्कन्ते - **स्यादभिमतमेतत्** यदुत आत्मनि आत्मत्वावच्छेदेन **प्रकाशः** = ज्ञानं, आत्मत्वस्य ज्ञानसमवायिकारणतावच्छेदकत्वात्, **द्रव्यत्वावच्छेदेन चाप्रकाशः** = अज्ञानं, द्रव्यत्वस्य ज्ञानसमवायिकारणतावच्छेदकत्वात् । यथा दण्डादौ दण्डत्वावच्छेदेनानन्यथासिद्धत्वं द्रव्यत्वावच्छेदेन चान्यथासिद्धत्वम् । अवच्छेदकभेदेनैव विरोधपरिहारात् । ततः प्रत्येकमात्मनि आत्मत्वद्रव्यत्वावच्छेदेन ज्ञानाज्ञानोभयसमावेशो निराबाध एव । न हि भेदेनावच्छेदकत्वे तदभावावच्छेदकत्वे विरोधं प्रतियन्ति मनीषिणः ।

प्रकरणकारस्तन्निराकुरुते - **मैवमिति । एवं सति** = आत्मत्व-द्रव्यत्वलक्षणावच्छेदकभेदेन ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधमपहत्य सर्वेष्वभिन्नात्मनि ज्ञानाज्ञानोभयस्वरूपत्वकल्पने सति, **सर्वज्ञः** = सर्वविद् **अपि 'मामहं न जानामी'ति जानीयात्** । द्रव्यत्वावच्छेदेन 'न जानामी'ति प्रतीत्युपपत्तेः । ततश्च सर्वज्ञोऽप्यसर्वज्ञः स्यात् । न चाभिमतमिदम् । ततो यः छद्मस्थः 'मामहं न जानामि' इति **एवं जानाति तत्र** छद्मस्थे आत्मनि **ज्ञानपदं** = 'जानामी'तिपदं **चाक्षुषादिपरं** = बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षादिबोधेच्छयोपचरितमिति स्वीकर्तव्यम् । ततो 'मामहं न जानामी'त्यस्य अनुव्यवसायस्य 'अहमात्मकर्मकचाक्षुषादिज्ञानानाश्रय' इत्येवार्थः । आत्मविषयकस्यानुव्यवसायज्ञानस्य सत्त्वेऽपि चाक्षुषादिप्रत्यक्षस्याऽसत्त्वेनात्मनि न ज्ञानाज्ञानोभयस्वरूपत्वमापद्यते । न हि नीलघटवति भूतले पीतघटाऽसत्त्वदशायां भूतलं घट-तदभावोभयाधिकरणं भवति तथा व्यवह्रियते वा । ततश्च नात्मनो ज्ञानाज्ञानोभयस्वरूपत्वं कल्पयितुमर्हति ।

अज्ञान उभय के समावेशार्थ नहीं किया जा सकता । अतएव आत्मा में प्रकाशाप्रकाशउभयात्मकता को भी मान्यता नहीं दी जा सकती । दूसरी बात यह है कि आत्मा में बोधांश या द्रव्यांश के स्वरूप में भट्टानुयायी अवयव का स्वीकार ही नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार आत्मा निरवयव है । यद्यपि जैनमतानुसार आत्मा में असंख्येय प्रदेश है तथापि जैनसम्मत आत्मप्रदेश का स्वीकार भट्ट बोधांशविधया या द्रव्यांशविधया नहीं कर सकता है, क्योंकि जैनसम्मत सर्व आत्मप्रदेश बोधांशात्मक है और सभी आत्मप्रदेश द्रव्यांशस्वरूप है। फिर भी आत्मप्रदेश को बोधांशस्वरूप या द्रव्यांशस्वरूप माना जाय तब तो आत्मा में सर्वात्मप्रदेशावच्छेदेन प्रकाश और अप्रकाश उभयात्मकता की आपत्ति आयेगी, क्योंकि 'बोधांश प्रकाशस्वरूप है और द्रव्यांश अप्रकाशस्वरूप है' - यह भट्टमत है । मगर यह मानना तो विरुद्ध है, क्योंकि बिना अवच्छेदकभेद के एक ही धर्मी में भाव और अभाव का समावेश नहीं हो सकता है । अतः एकावच्छेदेन आत्मा में ज्ञानाज्ञानोभयस्वरूप की कल्पना त्याज्य है । अज्ञान तो ज्ञानाभावात्मक ही है - यह तो पूर्वपक्षी बने हुए भट्ट का ही सिद्धान्त है ।

❀ 'मामहं न जानामि' प्रतीति की उपपत्ति ❀

स्याद. । यदि यहाँ यह कथन हो कि --> 'आत्मप्रदेशात्मक एकावच्छेदेन आत्मा में ज्ञान और अज्ञान दोनों का समावेश मत हो; फिर भी आत्मत्वावच्छेदेन प्रकाश=ज्ञान एवं द्रव्यत्वावच्छेदेन अप्रकाश = अज्ञान का स्वीकार तो एक ही आत्मा में हो सकता है, क्योंकि अवच्छेदकीभूत आत्मत्व और द्रव्यत्व परस्पर भिन्न होने से एक आत्मा में ज्ञान और अज्ञान के विरोध का परिहार हो जाता है । अतएव प्रत्येक आत्मा को ज्ञानाज्ञानोभयात्मक मानना युक्तिसंगत ही है । क्या आप स्याद्वादी को यह अभिमत हो सकता है ?' <-- तो यह भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि अवच्छेदकभेद से ज्ञान और अज्ञान के विरोध का परिहार कर के सर्व आत्मा में ज्ञानअज्ञानोभयस्वभाव का स्वीकार करने पर तो सर्वज्ञ को भी 'मामहं न जानामि' अर्थात 'मैं मुझे नहीं जानता हूँ' ऐसी प्रतीति होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि द्रव्यत्वावच्छेदेन सर्वज्ञ में ज्ञानाभाव का समावेश होने से आपके मतानुसार कोई बाध नहीं आयेगा । इसलिए 'मामहं न जानामि' = अहं आत्मकर्मकज्ञानानाश्रय' इस प्रतीति में ज्ञानपद को चाक्षुषादिज्ञानपरक मानना चाहिए । अर्थात् ज्ञानपद की चाक्षुषादिप्रत्यय में लक्षणा करनी उचित है । तब उक्त प्रतीति का अर्थ होगा 'अहं आत्मकर्मकचाक्षुषादिप्रत्ययानाश्रयः' । अनुव्यवसाय ज्ञान का आश्रय होते हुए भी चाक्षुषादि ज्ञान का अनाश्रय बनने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि अनुव्यवसाय मानस प्रत्यक्ष है, न कि चाक्षुष प्रत्यक्ष और आत्मा में उद्भूत

किञ्च 'मामहं जानामि सुखवन्तं दुःखवन्तं च' इति विपरीतप्रत्ययोऽपि दृश्यते । तथा च ज्ञानवत्त्वज्ञानस्याऽवच्छेदकानन्तर्भावेन ज्ञानाभाववत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकत्वं युक्तिमत् ।

किञ्च तदनवच्छेदकस्य तदभावावच्छेदकत्वे घटकारणतानवच्छेदकस्य द्रव्यत्वस्य घटकारणत्वाभावावच्छेदकत्वापत्तिः, अन्यथा घटादावपि द्वैरूप्यापत्तिरिति दिग् ।

❁ जयलता ❁

दोषान्तरमाविष्करोति - **किञ्चेति** । 'मामहं जानामी'तिप्रत्ययात् विलक्षणः **'मामहं जानामि सुखवन्तं दुःखवन्तञ्चे'ति विपरीतप्रत्ययोऽपि दृश्यते** = अनुभूयते । ततः कथमात्मत्वावच्छिन्ने ज्ञानाज्ञानोभयस्वभावत्वकल्पनं सङ्गच्छते ?

तथा च = 'मामहं न जानामी'त्यत्र ज्ञानपदस्य चाक्षुषादौ लक्षणास्वीकारस्यावश्यकत्वात्, तदन्वयेऽपि 'मामहं जानामि सुखवन्तं दुःखवन्तञ्चे'ति प्रत्ययाच्च, **ज्ञानवत्त्वज्ञानस्य** = ज्ञानत्वावच्छिन्नप्रकारताकज्ञानस्य, **अवच्छेदकानन्तर्भावेन** = ज्ञानत्वातिरिक्तावच्छेदकानवगाहित्वेन **ज्ञानाभाववत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकत्वं** = ज्ञानाभावविषयकज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकत्वं, ज्ञानत्वावच्छिन्न-तदतिरिक्तधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रकारकज्ञानमात्रवृत्तिजात्यावच्छिन्नं प्रति प्रतिबन्धकत्वमिति यावत्, **युक्तिमत्** । इत्थञ्च 'मामहं जानामि सुखवन्तं दुःखवन्तञ्च' इति ज्ञानस्य स्वप्रकारीभूतज्ञाननिष्ठप्रकारतावच्छेदकत्वेन विषयतया सुखाद्यवगाहित्वेन न 'मामहं न जानामी'ति ज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकत्वं सम्भवति । न वा सर्वज्ञस्य 'मामहं न जानामी'ति प्रत्ययापत्तिः, तस्य 'मामहं जानामी'ति ज्ञानस्य स्वनिरूपितप्रकारतावच्छेदकत्वेन ज्ञानत्वातिरिक्तधर्मानवगाहित्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वात् । न वा 'मामहं जानामि'इति प्रत्ययेऽपि 'मामहं चक्षुषा न जानामी'ति प्रतीत्यापत्तिः, तस्या ज्ञानत्वातिरिक्तचक्षुःकरणकत्वावच्छिन्नत्वेन प्रतिबध्यताकोटिबहिर्भूतत्वात् । सा च सर्वज्ञेऽपि निराबाधा, तस्मिन् मत्यादिज्ञानचतुष्कानभ्युपगमेन चाक्षुषलक्षणमतिज्ञानविशेष-विरहस्येष्टत्वात् । न चैवमपि तस्य ज्ञानाज्ञानोभयात्मकत्वं प्रसज्यत इति त्वनुपदमेवोक्तम् ।

किञ्च द्रव्यत्वावच्छेदेनात्मनि ज्ञानाभावस्वरूपाज्ञानसमावेशकृते **तदनवच्छेदकस्य तदभावावच्छेदकत्वे** स्वीक्रियमाणे तु **घटकारणतानवच्छेदकस्य** = घटनिष्ठकार्यतानिरूपितदण्डत्वाद्यवच्छिन्नकारणतानवच्छेदकस्य **द्रव्यत्वस्य घटकारणत्वाभावावच्छेद-कत्वापत्तिः** = घटनिरूपितकारणत्वाभावावच्छेदकत्वं प्रसज्येत । न चेष्टापत्तिः कर्तुं युज्यते, गुणादौ द्रव्यत्वविरहेण घटकारणत्वाभावो न स्यादिति गुणादेः घटकारणत्वं प्रसज्येतेत्यजां निष्काशयतः क्रमेलकागमात् । यद्वा **घटकारणतानवच्छेदकस्य** = घटीयरूपरसादि-निष्ठकार्यतानिरूपितघटनिष्ठकारणतानवच्छेदकस्य **द्रव्यत्वस्य घटकारणत्वाभावावच्छेदकत्वापत्तिः** = घटनिष्ठकारणत्वाभावावच्छेद-कत्वापत्तिः । ततो न तदनवच्छेदकस्य तदभावावच्छेदकत्वकल्पनमुचितम् । **अन्यथा** = तदनवच्छेदकस्य तदभावावच्छेदकत्वं स्वीक्रियमाणे तु, आत्मनि आत्मत्व-द्रव्यत्वावच्छेदेन ज्ञानाज्ञानोभयस्वरूपमिव **घटादावपि** घटत्व-द्रव्यत्वावच्छेदेन **द्वैरूप्यापत्तिः**

रूप न होने की वजह उसका चाक्षुष कभी भी होता नहीं है । दूसरी बात यह है कि 'मामहं न जानामि' इस प्रतीति से विपरीत 'मामहं जानामि सुखवन्तं दुःखवन्तं च' ऐसी प्रतीति भी होती है । द्वितीय प्रतीति ज्ञानवत्त्वज्ञान = ज्ञानविषयक ज्ञान स्वरूप है और प्रथम प्रतीति ज्ञानाभाववत्त्वज्ञान = ज्ञानाभावविषयक ज्ञान स्वरूप है । सामान्यतः तदभाववत्ताज्ञान का तद्वत्ता ज्ञान प्रतिबन्धक होता है । फिर भी उपर्युक्त तदभाववत्ताज्ञान = ज्ञानाभाववत्त्वज्ञान का प्रतिबन्धक तद्वत्ताज्ञान – ज्ञानवत्त्वज्ञान प्रतिबन्धक नहीं होता है, क्योंकि वह अवच्छेदकावगाही है । यदि 'मामहं जानामि' ऐसा ज्ञान उत्पन्न हुआ हो तो 'मामहं न जानामि' ऐसा ज्ञान नहीं होता है । इसलिए अवच्छेदक का अन्तर्भाव किये बिना ही ज्ञानवत्त्वज्ञान और ज्ञानाभाववत्त्वज्ञान में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव मानना आवश्यक है । 'मामहं जानामि सुखवन्तं दुःखवन्तं च' यह ज्ञान तो प्रकारीभूत ज्ञान के विषयविधया अवच्छेदकत्वेन सुख और दुःख का अवगाहन करता है और 'मामहं न जानामि' यह ज्ञान भी प्रकारीभूत अभाव के प्रतियोगी ज्ञान के अवच्छेदकविधया ज्ञानत्वातिरिक्त चाक्षुषत्वादि का अवगाहन करता है । अतः उन दोनों के बीच प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव नहीं माना जा सकता - यह फलित होता है । तब सर्वज्ञ को 'मामहं न जानामि' इस प्रतीति की आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि सर्वज्ञ का 'मामहं जानामि' इस ज्ञान की प्रतिबध्यता के अवच्छेदक धर्म से वह आक्रान्त है । 'मामहं जानामि' यह ज्ञान ज्ञानत्वातिरिक्त धर्म का अवच्छेदकविधया अवगाहन नहीं करता है - यह तो स्पष्ट ही है ।

❁ तदनवच्छेदक तदभावावच्छेदक नहीं हो सकता ❁

किञ्च तद. । भट्टमत में इसके अतिरिक्त दोष यह है कि आत्मा में ज्ञानाज्ञानोभयरूपता के समावेशार्थ ज्ञान के अनवच्छेदक द्रव्यत्व को ज्ञानाभाव का अवच्छेदक मानने पर तो घट में रही हुई घटीय रूप, रस आदि की कारणता के, जो घटत्वावच्छिन्न है, अनवच्छेदक द्रव्यत्व को घटकारणत्वाभाव का अवच्छेदक मानने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि द्रव्यत्व घटीयरूपरसादिनिष्ठकार्यता-

तदेवं यौग-साङ्ख्य-भट्टमतनिरासाय 'चैतन्यस्वरूप' इत्यसूत्रयन् । 'परिणामी कर्ता साक्षाद्भोक्ता' इति सांख्यमतप्रतिक्षेपाय । तथाहि ते खल्विदमाचक्षते –> 'जीवो हि न क्वचिदपि परिणमते, अप्रकृतिविकृतित्वात् । अत एव तस्य कूटस्थत्वं श्रुतिसिद्धम् । न च

❋ जयलता ❋

घटीयरूपादिकारणत्वाकारणत्वोभयात्मकतापत्तिः दुर्वारैवेत्युक्तमेव भट्टमतम् ।

तदेवं दर्शितरीत्या यौग-सांख्य-भट्टमतनिरासाय **'चैतन्यस्वरूप' इत्यसूत्रयन् श्रीवादिदेवसूरिः प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रे** । **'परिणामी, कर्ता, साक्षाद्भोक्ता'** इति आत्मविशेषणत्रिकोपादानञ्च **सांख्यमतप्रतिक्षेपाय** । **तथाहि** ते = साङ्ख्याः खलु **इदमाचक्षते** -**'जीवो हि न परिणमते, अप्रकृतिविकृतित्वात्** । तदुक्तमीश्वरकृष्णेन **सांख्यकारिकायां** 'मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारः न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ (सां.का. ३) व्याख्यानञ्च **माठरवृत्तौ** 'पुरुषस्तु पुनर्न प्रकृतिरनुत्पादकत्वात्, न च विकृतिरनुत्पन्नत्वात्' (मा.वृ.पृ. १०) इति । **अत एव तस्य कूटस्थत्वं श्रुतिसिद्धम्** । तदुक्तं **बृहदारण्यकोपनिषदि** 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ. उप. ६/३/१६) इति । 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति श्रुतिरप्यस्यैव साधिका । तदुक्तं **योगचूडामण्युपनिषदि** 'नित्यं शुद्धं'(यो.चू.पृ.१) इति । अत एव 'असङ्गोऽयं पुरुषः' (सां.सू. १/१५) इति **सांख्यसूत्रमपि** व्यवस्थितम् । **न च नित्यत्वं** = ध्वंसाऽप्रतियोगित्वं एव **तत्** = कूटस्थत्वं,

निरूपित कारणता का अनवच्छेदक है । मगर घट में द्रव्यत्वावच्छेदेन स्वीयरूपादिनिरूपित कारणता के अभाव का व्यवहार नहीं होता है । अतः तदनवच्छेदक धर्म को तदभाव का अवच्छेदक नहीं माना जा सकता । अन्यथा = फिर भी तदनवच्छेदक धर्म को तदभाव का अवच्छेदक माना जाय तब तो घट में भी घटीयरूपादि के कारणाकारणोभयस्वरूप की आपत्ति आयेगी, क्योंकि भट्टमतानुसार घट में घटत्वावच्छेदेन घटीयरूपादि की कारणता और द्रव्यत्वावच्छेदेन घटीयरूपादि की कारणता का अभाव माने जा सकते हैं। घट में घटत्व-द्रव्यत्वावच्छेदेन दोनों का समावेश करने पर विरोध का परिहार भी हो जाता है। मगर घट में घटत्व-द्रव्यत्वावच्छेदेन स्वीयरूपादिकारणत्व-कारणत्वाभावोभयस्वरूप का व्यवहार नहीं होता है । ठीक वैसे ही एक ही आत्मा में आत्मत्व-द्रव्यत्वावच्छेदेन ज्ञानाऽज्ञानोभयस्वरूप का समावेश नहीं हो सकता । अतः आत्मा को ज्ञानाज्ञानोभयस्वरूप - गुणदोषभयस्वरूप माननेवाले भट्ट के मत का स्वीकार नहीं हो सकता - यह फलित होता है । यहाँ जो कहा गया है वह तो एक दिग्दर्शनमात्र है । विद्वान् लोग इसके आगे भी विचार कर सकते हैं । यहाँ तक की विचार शृङ्खला से आत्मा ज्ञानमय-ज्ञानस्वरूप-चैतन्यस्वरूप है - इसका, जो वादिदेवसूरिजी के प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के ७ वें परिच्छेद के ५६ वें सूत्र में सात विशेषण से विशिष्ट आत्मा के प्रथमविशेषणविधया निर्दिष्ट है, समर्थन हुआ जो नैयायिक, सांख्य और भट्ट के मत के निरासार्थ प्रयुक्त है - यह पाठकवर्ग के लिए ध्यातव्य है ।

❋ पुरुष सर्वथा निर्लेप है- सांख्यमत ❋

परि. । सूत्र में 'परिणामी, कर्ता, साक्षाद्भोक्ता' ऐसा आत्मा के तीन विशेषणों का ग्रहण सांख्य मत के निरासार्थ किया गया है । सांख्य मनीषियों का यह मन्तव्य है कि आत्मा अपरिणामी, अकर्ता एवं साक्षात् अभोक्ता है । इसकी सिद्धि के लिए उनका यह वक्तव्य है कि 'जीव = पुरुष नामक २५ वाँ तत्त्व परिणामी नहीं है । वह कभी भी किसी परिणाम से परिणत नहीं होता है, क्योंकि वह अप्रकृतिविकृतिस्वरूप है । परिणाम का मतलब है पूर्व अवस्था का त्याग कर के उत्तर अवस्था की प्राप्ति । यह परिणाम उसीमें मुमकिन है, जो किसीका उपादान कारण हो या किसीका उपादेय कार्य हो । जैसे दूध दही का उपादान कारण होने से उस रूप में परिणत होता है । अतः दूध परिणामी कहा जाता है और दही उसका परिणाम । मगर आत्मा किसीका उपादान कारण या उपादेय = कार्य नहीं होने से वह परिणामी नहीं है । इसीलिए आत्मा का कूटस्थत्व श्रुति से सिद्ध है । उपनिषदादि में कहा भी गया है कि 'पुरुष असंग है' । पुरुष में रहनेवाला कूटस्थत्व नित्यत्वस्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि सत्कार्यवाद में, जो सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिल महर्षि के द्वारा मान्य किया गया है, सभी वस्तुएँ ध्वंस की अप्रतियोगी होने से नित्य ही हैं । किसी भी वस्तु का सर्वथा नाश = अभाव या सर्वथा असत् की उत्पत्ति सांख्यदर्शन में अस्वीकृत है । इसलिए सभी वस्तुओं में ध्वंसनिरूपितप्रतियोगित्वाभावस्वरूप नित्यत्व होने से उन सब की अपेक्षा पुरुष में कुछ विशेषता न आ सकेगी । इसलिए पुरुष में रहनेवाले कूटस्थत्व को जन्यधर्मानाश्रयत्वस्वरूप मानना ही मुनासिब है । जन्य ज्ञानादि धर्म का आश्रय होने से बुद्धि आदि तत्त्व को कूटस्थ नहीं कहा जा सकता किन्तु पुरुष को ही, क्योंकि वह किसी भी जन्य सुख, दुःख, धर्म, अधर्म, ज्ञान, इच्छा आदि का आश्रय नहीं है ।

❋ नैयायिकसंमत कूटस्थत्व आत्मा में नामुमकिन - सांख्य ❋

नित्यत्वमेव तत्, सत्कार्यवादे सर्वस्य नित्यत्वात्, किन्तु जन्यधर्मानाश्रयत्वम् । एतेन रूपान्तरभावः परिणामः तदभावश्चात्मनि यौगाद्यभिमत एवेत्यपास्तम्, अपरिणामिनोऽजनकत्वात्, परिणामिन एव मृत्पिण्डादेर्घटाद्युपादानत्वदर्शनात् । जन्यधर्माश्रयत्वे प्रसह्य परिणामित्वस्यैव प्रसक्तेः । न चैवं तस्य बन्ध-मोक्षाद्यनापत्तिः, इष्टत्वात् । तदुक्तं 'तस्मान्न बध्यते,

❀ नयलता ❀

सत्कार्यवादे सांख्यमते **सर्वस्य नित्यत्वात्** = ध्वंसाप्रतियोगित्वात् । तर्हि किंस्वरूपं तत् ? इत्याह - **किन्तु जन्यधर्मानाश्रयत्वम्** । कश्चित्तु वास्तविकसुख-दुःखादिसम्बन्धाधिकरणत्वाभाव एव कूटस्थत्वमित्याह ।

एतेन = पुरुषस्य जन्यधर्मानाश्रयत्वप्रतिपादनेन वक्ष्यमाणदूषणेन च, अपास्तमित्यनेनास्यान्वयः । **रूपान्तरभावः परिणामः** = परिणामपदप्रतिपाद्यः सांख्यैर्नोच्यते **तदभावः** = रूपान्तराभावः अपरिणामित्वपदवाच्यः **चात्मनि यौगाभिमतः** = नैयायिकाभिमत **एव**। यथा पयसः दधिपरिणामः सांख्यैः प्रतिपाद्यते तथाऽऽत्मनोऽपि भावान्तरप्राप्तिरूपः परिणामो भवतीति नैयायिकैरपि स्वीक्रियत एव । ततश्च यौगाभिमतमात्मनोऽपरिणामित्वमेव सांख्यैः 'अपरिणामी पुरुषः' इति वदद्भिरभिहितमिति तेषां गौतमीयदर्शनप्रवेशो दुर्वार इति शङ्काशयः।

सांख्याः तन्निराकुर्वन्ति - **अपरिणामिनः अजनकत्वात्** । यदि नैयायिकैरात्मा अपरिणामी स्वीक्रियते तदा तस्य सुख-दुःखादिसमवायिकारणत्वं नैयायिकाभिमतं नात्मनि स्यात्, अपरिणामिनोऽनुपादानत्वात् । कुत इदमज्ञायि ? इति चेत् ? उच्यते, **परिणामिनः** = भावान्तरप्रापकस्य **एव मृत्पिण्डादेः घटाद्युपादानत्वदर्शनात्** । मृत्पिण्डादिः प्राक्तनपिण्डावस्थां परित्यज्य कम्बुग्रीवादिसंस्थानलक्षणभावान्तरं परिणामपदप्रतिपाद्यं स्वीकुरुते तदैव घटाद्युपादानं भवति, नान्यथा । इत्थं उपादानकारणत्वस्य परिणामित्वव्याप्यत्वं सिध्यति । अत एवात्मन्यपरिणामित्वमनुपादानत्वं साधयति, व्यापकाभावस्य व्याप्याभावनिश्चायकत्वात् । अत एवात्मनो **जन्यधर्माश्रयत्वे** = जन्यधर्मसमवायिकारणत्वे स्वीक्रियमाणे **प्रसह्य** = बलात्कारेण **परिणामित्वस्यैव प्रसक्तेः**, व्याप्यसत्त्वे व्यापकापलापस्य कर्तुमनर्हत्वात् । ततश्चात्मनोऽपरिणामित्वं व्याहन्येत नैयायिकानाम् । अतो जन्यधर्मानाश्रयत्वमेवाऽपरिणामित्वं वक्तुं युज्यते । चैतन्यव्यवच्छेदाय जन्येति विशेषणम् । जन्यत्वञ्च न प्रागभूत्वा भवनं किन्तु प्रागनभिभूतस्याविर्भावः सत्कार्यवाद्यभिमतः । **न च एवं** = पुरुषस्य जन्यधर्मत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाश्रयत्वस्वीकारे, **तस्य** = पुरुषस्य, **बन्धमोक्षा-**

पत्तेः । यहाँ अमुक मनीषियों का यह वक्तव्य है कि --> 'सांख्य का संमत परिणाम भावान्तरस्वरूप है, जैसे दुग्ध का परिणाम दधि । और भावान्तर का आश्रय होगा परिणामी । भावान्तर के अभाव को अपरिणामस्वरूप मानना होगा जिसका आश्रय होगा पुरुष, क्योंकि वह अपने स्वरूप को छोड़ कर भावान्तर ज्ञान, सुख आदि को प्राप्त नहीं करता है । सुख, दुःख आदि भाव से वह परिणत नहीं होता है । सुख, दुःख की उत्पत्ति के पूर्व जैसे आत्मा की जड़ अवस्था भी ठीक वैसे ही उनकी उत्पत्ति के बाद भी आत्मा की जड़ अवस्था ही होती है, जिसका स्वीकार नैयायिक करता है । ऐसा अपरिणामित्व तो नैयायिक को भी आत्मा में मान्य है । अतएव सांख्य मनीषी का नैयायिकमत में प्रवेश हो जायेगा' <-- मगर यह निरस्त हो जाता है, क्योंकि आत्मा में जन्यधर्मानाश्रयत्वस्वरूप अपरिणामित्व = कूटस्थत्व का हम सांख्य मनीषी स्वीकार करते हैं, जो नैयायिक को मान्य नहीं है । नैयायिक तो मानते हैं कि आत्मा जन्य सुख, दुःख, ज्ञान आदि धर्म का आश्रय है । मगर ऐसा मानने पर पुरुष को नैयायिक के द्वारा अपरिणामी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अपरिणामित्व तो अजनकत्व = अनुपादानत्व का व्याप्य है । अपरिणामी कभी भी किसीका उपादान कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जो कोई भी उपादान कारण बनता है वह परिणामी हो कर ही किसीका उपादान कारण = समवायिकारण हो सकता है । जैसे मृत्पिण्ड आदि अपनी पूर्व पिण्डावस्था का त्याग कर के भावान्तर = कम्बुग्रीवादिसंस्थान को प्राप्त कर के ही घट का उपादान कारण बनता है - यह व्यवहार में देखा गया है। इससे परिणामित्व में उपादानकारणत्व की व्यापकता सिद्ध होती है । यदि नैयायिक को आत्मा में परिणामित्व मान्य नहीं है तब उपादानकारणत्व भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि व्यापकाभाव से व्याप्याभाव की सिद्धि होती है । तब तो सुख, दुःख आदि की उपादानकारणता आत्मा में बाधित हो जायेगी, जिससे न तो नैयायिकमत में हमारा प्रवेश होगा और न तो हमारा अभिमत असिद्ध होगा ।

❀ प्रकृति का ही बन्ध मोक्षादि - सांख्यमत ❀

न चैवं. । यहाँ यह शंका कि --> 'यदि आत्मा को अपरिणामी अनुपादानकारण मानी जाय तब तो आत्मा में

नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् । संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिरिति ।। (सां.का.६२) । तथा च नासौ कर्ता न वा ततो वस्तुतो भोक्ता, अकृतभोगे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । बुद्धिगतभोगयोगात्पुनर्भोक्तेत्युपचर्यते ।' <—

❀ जयलता ❀

नापत्तिः इति वाच्यम्, इष्टत्वात्, प्रकृतेरेव बन्धमोक्षाद्यङ्गीकारात्, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेप एव । **तदुक्तं सांख्यकारिकायामीश्वरकृष्णेन, 'तस्माच्चे'**ति । तस्मात् = पुरुषस्य निर्गुणत्वात् अपरिणामित्वाच्चेत्यर्थः । अत्र च —> 'तस्मात् कारणात् पुरुषो न बध्यते नापि संसरति यस्मात् कारणात् प्रकृतिरेव नानाश्रया दैवमानुषतिर्यग्योन्याश्रया बुद्ध्यहङ्कार-तन्मात्रेन्द्रियभूत-स्वरूपेण बध्यते मुच्यते संसरति चेति । अयं मुक्त एव स्वभावत्वात् । स सर्वगतश्च कथं संसरति ? अप्राप्तप्रापणार्थं संसरणमिति तेन पुरुषो बध्यते, पुरुषो मुच्यते, पुरुषः संसरतीति व्यपदिश्यते येन संसारित्वं विद्यते सत्त्वपुरुषान्यताज्ञानात्तत्त्वं पुरुषस्याऽभिव्यज्यते । तदभिव्यक्तौ केवलः शुद्धः मुक्तः स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इति । अथ यदि पुरुषस्य बन्धो नास्ति ततो मोक्षोऽपि नास्ति, अत्रोच्यते प्रकृतिरेवात्मानं बध्नाति मोचयति च यत्र सूक्ष्मशरीरं तन्मात्रकं त्रिविधकरणोपेतं तत् त्रिविधेन बन्धेन बध्यते । उक्तञ्च 'प्राकृतेन च बन्धेन तथा वैकारिकेण च । दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते ।। तत् सूक्ष्मं धर्माधर्मसंयुक्तम्' <— (सां.का. ६२, गौ.भा.पृ.१३३) इति **गौडपादभाष्ये । तथा** च पुरुषस्य सर्वदा निर्लेपत्वात् अपरिणामित्वाच्च **न असौ** = पुरुषः **कर्ता न वा ततः** = अकर्तृत्वात् **वस्तुतः** = साक्षात् **भोक्ता** = सुखादिसाक्षात्कारवान्, **अकृतभोगे** = अकृतस्य स्वानिष्पादितस्य सुखादेरनुभवे **कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्** इति । प्रकृत्या कृतस्य सुखादेः नाशः = प्रकृत्या अननुभवः = कृतनाशः तस्य, तथा अकृतस्य = पुरुषाजनितस्य सुखादेः अभ्यागमः = पुरुषेणानुभवः = अकृताभ्यागमः, तस्य च प्रसङ्गादित्यर्थः । यद्वा कृतस्य = प्रकृतिप्रयत्नस्य नाशः = उपधानाद्व्याप्यत्वं प्रकृतिनिष्ठफलोत्पादाव्याप्यत्वमिति यावत् अकृतस्य = पुरुषप्रयत्नाभावस्य अभ्यागमः = अनुपधानाद्व्याप्यत्वं, पुरुषनिष्ठफलोत्पादाभावाऽव्याप्यत्वमिति यावत् तयोरापातादित्यर्थः ।

न चैवं पुरुषस्याऽभोक्तृत्वे कथं 'पुरुषः भोक्ता' इति व्यपदिश्यते इति वाच्यम्, **बुद्धिगतभोगयोगात्** = साक्षाद् बुद्धिगतस्यैव सुखादिसाक्षात्कारस्य सम्बन्धात्, **पुनः** पुरुषः **भोक्ता** = सुखादिसाक्षात्कारवा**निति उपचर्यते**, तत्सम्बन्धस्योपचारनिमित्तत्वात् ।

ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि की उत्पत्ति नहीं होने से आत्मा का बन्ध भी नहीं होगा और बन्ध न होने पर आत्मा की मुक्ति भी नहीं हो सकेगी, क्योंकि जो बद्ध होता है उसीकी मुक्ति होती है । बन्ध और मोक्ष समानाधिकरण होने से सांख्यसम्मत अपरिणामी जन्यधर्मानाश्रय पुरुष का बन्ध एवं मोक्ष अनुपपन्न हो जायेगा' <— इसलिए निराधार हो जाती है कि हम सांख्य विद्वानों को पुरुष का बन्ध, मोक्ष न होना अभिमत ही है । प्रतिवादी के इष्ट का आपादन कैसे हो सकता है । ईश्वरकृष्ण ने भी सांख्यकारिका में कहा है कि - 'निर्गुण एवं अपरिणामी होने की वजह पुरुष वस्तुतः बंधता नहीं है, मुक्त भी नहीं होता है एवं संसरण = आवागमन नहीं करता है । (अपितु) प्रकृति (=बुद्धि) ही विभिन्न योनि के चैतन्याधिष्ठित शरीरों का आश्रय प्राप्त करती हुई संसरण, बन्धन एवं मोक्ष को प्राप्त करती है' । इसीसे सिद्ध होता है कि पुरुष वस्तुतः कर्ता नहीं है किन्तु प्रकृति ही कर्त्री है । धर्म, अधर्म आदि का अकर्ता होने की वजह पुरुष वस्तुतः सुख, दुःख आदि का साक्षात् भोक्ता भी नहीं है । सुख, दुःख का उपयोग तो वस्तुतः प्रकृति (बुद्धि) ही करती है । यदि धर्म, अधर्म आदि का कर्ता न होने पर भी सुख, दुःख आदि फल का उपभोग = साक्षात्कार पुरुष करे तब तो कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष की आपत्ति आयेगी । कृतनाश इसलिए कि धर्म, अधर्म को करनेवाली प्रकृति (बुद्धि) है जिसको तत्काल सुख, दुःख का साक्षात्कार नहीं होता है - ऐसा मानना न्यायप्राप्त होता है, जब पुरुष को तत्फलभोक्ता माना जाय । करनेवाले को फल न मिलना ही तो कृतनाश है । एवं धर्म, अधर्म को नहीं करनेवाले पुरुष को तत्फल का अनुभव होता है वह अकृताभ्यागम दोष है । कुछ न करने पर भी फल की प्राप्ति ही तो अकृताभ्यागम दोष है । मगर करनेवाले को फल न मिलना और न करनेवाले को फल की प्राप्ति - यह तो नादिरशाही है, जो न्यायोचित नहीं होने से मान्य नहीं की जा सकती । इसलिए पुरुष को सुख-दुःखादि फल का भोक्ता भी नहीं माना जा सकता । हाँ, उपचार से सुखादि का भोक्ता माना जाय तब तो कोई दोष नहीं है, क्योंकि वास्तव में बुद्धि में सुख, दुःख आदि के साक्षात्कारस्वरूप भोग की उत्पत्ति होती है मगर पुरुष बुद्धिसन्निहित होने से एवं निर्मल बुद्धि में पुरुषगत चैतन्य का प्रतिबिम्ब पडने से पुरुष में सुखादि के भोक्तृत्व = ज्ञातृत्व का आरोप होता है । मतलब कि पुरुष साक्षात् सुखादि का भोक्ता नहीं है । इस तरह सिद्ध होता है कि पुरुष सर्वथा अपरिणामी, एकान्ततः अकर्ता एवं साक्षात् अभोक्ता है ।

तदेतत्सर्वमालजालम्, साक्षाज्जीवगतत्वेन प्रतीयमानानां परिणतीनां प्रकृतिगतत्वकल्पना-ऽयोगात् । प्रकृतेरेव बुद्धिपरिणामित्वे मुक्तायामपि तत्प्रसङ्गात् । जीवसहकृतप्रकृतेस्तथात्वे

❀ जयलता ❀

सुखादिसाक्षात्कारवतो बुद्धितत्त्वस्य सर्वदा सन्निहितत्वात् तत्र निर्मलतया चैतन्यप्रतिबिम्बाच्च पुरुषः भोक्तेत्युपचर्यते, घृतं दहतीति न्यायेन । उदासीनोऽपि पुरुषः कर्तेव भवति, न कर्ता । यथाऽचौरः चौरैः सह गृहीतः चौर इत्यवगम्यते । वस्तुतः पुरुषः साक्षी एव केवलः । यथा कलहे प्रवृत्ते कश्चनाऽन्योऽवास्तव्यः साक्षी । अत्रिगुणत्वान्मध्यस्थ एव पुरुषः परिव्राजकवत् । यथा कश्चित् परिव्राजको ग्रामीणेषु कर्षणार्थेषु प्रवृत्तेषु केवलः मध्यस्थः, पुरुषोऽपि एवं गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवृत्तो भवति । तदुक्तं **सांख्यकारिकायां** - 'तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य । कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ तस्मात्तत्संयोगाद-चेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् । गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्ग्वन्ध-वदुभयोरपि संयोगः तत्कृतः सर्गः ॥ (सां.का. १९-२०-२१) इति । तस्मात्सिद्धमेकान्ततोऽपरिणामित्वमकर्तृत्वं, साक्षादभोक्तृत्वञ्च पुरुषस्येति सांख्यमतसंक्षेपः ।

तदेतत् = अनुपदमुक्तं सांख्यमतं **सर्वं आलजालं** = मायाजालसदृशं आबालगोपालं **साक्षाज्जीवगतत्वेन** = अनुप-चरितसम्बन्धेनात्मवृत्तित्वेन 'अहं ज्ञानी, कर्ता, सुखी, दुःखी'त्यादिरूपेण अहंत्वसामानाधिकरण्येन **प्रतीयमानानां परिणतीनां** = ज्ञान-कृति-सुख-दुःखादिपरिणामानां, **प्रकृतिगतत्वकल्पनाऽयोगात्** । न हि प्रतीतौ प्रकृत्युल्लेखः दृष्टचरः । एतेन स्वाश्रय-संयोगसम्बन्धेन पुरुषे ज्ञानादिमत्त्वकल्पनाऽपि प्रत्युक्ता, परम्परासम्बन्धकल्पने गौरवात्, साक्षात्सम्बन्धकल्पने बाधकाभावाच्च । एतेन विज्ञानोत्पादसमयेऽपि यथाविधः पूर्वदशायामयमात्मा तथाविध एवेत्यपास्तम्, तथा सति पूर्वमिव पश्चादपि पुरुषोऽप्रमातैव स्यात् स्याद्वा पूर्वमपि प्रमाता ।

किञ्च बुद्धेः **पारमार्थिकचैतन्याभावे विषयव्यवस्थापनशक्तिरपि दुर्घटा** । न खलु माणवकस्य पावकोपचाराद् दाहजननशक्ति-र्दृष्टा । **एतेन** पुरुषगतचैतन्यप्रतिबिम्बं बुद्धौ जायत इत्यपि **प्रत्युक्तम्** । ततः परमार्थतो बुद्धिः चिद्रूपैवोपगन्तव्या । तत आत्मन एव बुद्धिपरिणामिकारणत्वमिति सिध्यति । एतेन बुद्धिः जडा प्रकृतिजन्यत्वादित्यपि प्रत्युक्तम्, हेतोरसिद्धेश्च । **प्रकृतेरेव बुद्धिपरि-णामित्वे** = बुद्धिपरिणामिकारणत्वे सति **मुक्तायामपि** प्रकृतौ **तत्प्रसङ्गात्** = बुद्धिजननप्रसङ्गात् । **जीवसहकृतप्रकृतेः तथात्वे** = बुद्धिपरिणामिकारणत्वे तु वैपरीत्येण **प्रकृतिसहकृतजीवस्यापि तथात्वं** = बुद्धिपरिणामिकारणत्वं **किं नाभ्युपैपि ?** युक्तेस्तुल्यत्वात् । **अपि च** प्रकृत्यसम्बद्धस्य पुरुषस्य न प्रकृतिसहकारित्वं सम्भवति, अतिप्रसङ्गात् । ततः प्रकृतिसम्बद्धस्यैव

❀ सांख्यमतनिरास ❀

तदेत. । **मगर यह सांख्यवक्तव्य मायाजाल है । इसका कारण यह है कि आबालगोपाल सब लोगों को ऐसी प्रतीति होती है कि 'मैं सुखी हूँ', 'मैं ज्ञानी हूँ'** इत्यादि, जिसमें **सुख, ज्ञान आदि धर्म की जीवगतत्वेन प्रतीति होती है, क्योंकि अहंत्वसामानाधिकरण्येन** सुखादि का वह अवगाहन करती है । **इसलिए सुखादि में प्रकृतिगतत्व की कल्पना नहीं की जा सकती।** इसलिए आत्मा को ही बुद्धि का उपादानकारण = परिणामी मानना संगत है, न कि प्रकृति को । **फिर भी बुद्धिपरिणामिकारणत्वेन प्रकृति** का स्वीकार करने पर तो **प्रकृति जब मुक्त बनेगी तब भी उसमें बुद्धि की उत्पत्ति का प्रसंग आयेगा,** क्योंकि प्रकृति ही बुद्धि का कारण है, जो बद्ध एवं मुक्त अवस्था में विद्यमान ही है । यदि इसके निरासार्थ सांख्य की ओर से यह कहा जाय कि → 'प्रकृति अकेली बुद्धि को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है, किन्तु सहकारिकारणविधया पुरुष की अपेक्षा रखती है । मुक्त अवस्था में प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध नहीं होने से प्रकृति तब बुद्धि को उत्पन्न नहीं करती है' ← तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि प्रकृति और पुरुष के बीच तादात्म्यसम्बन्ध तो नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह तो सांख्य को ही मान्य नहीं है और उसके स्वीकार में भी पूर्वोक्त दोष तदवस्थ ही रहेगा, क्योंकि मुक्तावस्था में प्रकृतिअभिन्न पुरुष का तादात्म्यसंसर्ग प्रकृति में अबाधित रहेगा । इसलिए प्रकृति और पुरुष के बीच संयोग सम्बन्ध को ही मान्य करना होगा । मगर यह संयोग सम्बन्ध भी जन्य ही मानना होगा, क्योंकि उसे अजन्य मानने पर तो उसका नाश नामुमकिन बन जाने से पुनः मुक्तदशा में प्रकृति में बुद्धिजन्म की आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहेगी । जो भाव अजन्य होता है उसका कभी भी नाश नहीं हो सकता है । अतः प्रकृति और पुरुष के संयोग सम्बन्ध को जन्य ही मानना होगा । मगर तब तो पुरुष जन्य धर्म का आश्रय होने से पूर्व में जो कहा था कि 'पुरुष में जन्यधर्मानाश्रयत्वस्वरूप कूटस्थत्व रहता

प्रकृतिसहकृतजीवस्यापि तथात्वं किं नाभ्युपैषि ? अपि च प्रकृतिजीवयोः न तादात्म्यसम्बन्धोऽनभ्युपगमात्, किन्तु संयोग एव । स च जन्य एव, अजन्यभावस्य नाशायोगात् । तथा च जन्यधर्मानाश्रयत्वसिद्धान्तोऽपि न ते हिताय । अपि च प्रकृतिपुरुषसम्बन्ध एव बन्धः, स च जीव एवेति किं न तत्र मोक्षोऽपि ? तथा च कर्तृत्वभोक्तृत्वे अपि तस्याऽव्याहते एवेति न किञ्चिदेतत् ।

'स्वदेहपरिमाण' इति नैयायिकाद्यभिमतविभुत्वविधूननाय ।

❁ नयलता ❁

तस्य तथात्वमङ्गीकर्तव्यम् परन्तु **प्रकृतिजीवयोः न तादात्म्यसम्बन्धः** सम्भवति, सांख्यैः **अनभ्युपगमात्**, अन्यथा पुरुषस्य प्रकृतिवज्जडत्वापत्तेः प्रकृतेर्वा पुरुषवच्चैतन्यापत्तेः पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्याच्च । नापि तयोः समवायः सम्बन्धः सम्भवति, अनभ्युपगमात् । नापि जन्यजनकभावः, तत एव । किन्तु तयोः **संयोग एव** सम्बन्धः सम्भवति । **स च** संयोगः **जन्य एव** स्वीकार्यः, अन्यथा सर्वदैव प्रकृतेः बुद्धिजननप्रसङ्गस्य तदवस्थत्वापत्तेः, **अजन्यभावस्य नाशायोगात्**, अन्यथा प्रकृतिपुरुषयोरपि ध्वंसप्रतियोगित्वापत्तेः । अस्तु जन्य एव संयोगस्तयोः । तावता किं नश्छिन्नं ? इत्याह - **तथा च** = प्रकृतिपुरुषसंयोगस्य जन्यत्वे च पुरुषस्य **जन्यधर्मानाश्रयत्वसिद्धान्तः अपि न ते** = तव सांख्यस्य **हिताय**, संयोगस्य द्विष्ठत्वेन पुरुषस्य स्वप्रकृतिजन्यसंयोगाश्रयत्वसिद्धेः । **अपि च प्रकृतिपुरुषसम्बन्धः** = प्रकृतिपुरुषजन्यसंयोगसम्बन्ध **एव बन्धः** = बन्धपदप्रतिपाद्यः, संयोगविशेषरूपत्वाद् बन्धपदार्थस्य । **स च जीवे** = चेतने सम्भवति **एव**, तस्योभयनिष्ठत्वात्, **इति** = हेतोः **किं न तत्र** = चेतने **मोक्षोऽपि** स्वीक्रियते ।

तथा च = निरुक्तरीत्या पुरुषस्य बन्धमोक्षसिद्धौ च, **कर्तृत्वभोक्तृत्वे** = धर्माधर्मादिकर्तृत्व-सुखादिभोक्तृत्वे **अपि तस्य** = पुरुषस्य **अव्याहते एव** । 'अहं धर्मकर्ता सुखादिभोक्ता च' इत्येवं **साक्षाज्जीवगतत्वेन** प्रतीतयोः कर्तृत्व-भोक्तृत्वयोः प्रकृतिगतत्वकल्पनाऽयोगात् । प्रकृतेरेव कर्तृत्वे भोक्तृत्वे वा मुक्तायामपि तत्प्रसङ्गात् । जीवसहकृतप्रकृतेस्तथात्वे प्रकृतिसहकृतपुरुषस्यापि तथात्वं किं नाभ्युपैषि ? किञ्च पुरुषस्य नित्यत्वेन तत्सन्निधानस्य सदैव सद्भावेन सर्वदैव कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रसङ्गात् । न च बुद्धौ पुरुषप्रतिबिम्बनमेव पुरुषसंसर्ग इति **वाच्यम्**, अमूर्तप्रतिबिम्बस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात् । **न च** भोग्यभोक्तृभाव एव तयोः संसर्ग इति **वाच्यम्**, पुरुषस्य निरभिलाषत्वेन सुखादिसंवेदनलक्षणभोगाभावात्, तस्य भोक्तृतायां प्रकृतेश्च भोग्यताया अनुपपत्तेः । **एतेन** 'तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।' (सां.का.२०) इति **सांख्यकारिकावचनमपि प्रत्युक्तम्**, अन्यसन्निधानेऽन्यस्यान्यधर्मस्वीकारायोगात्, अन्यथाऽकर्तृत्वादिधर्मार्पितात्मसन्निधानात् प्रकृतेरप्यकर्तृत्वादिधर्मस्वीकारः स्यादिति न किञ्चिदेतत् ।

प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे 'स्वदेहपरिमाण' इति आत्मनः पञ्चमविशेषणं **नैयायिकाद्यभिमतविभुत्वविधूननाय** प्रदर्शितम् ।

है' यह सिद्धान्त उसे ही प्रतिकूल बन जायेगा । प्रकृति-पुरुषसंयोग नामक जन्य धर्म के आश्रय पुरुष में जन्यधर्मानाश्रयत्व का सिद्धान्त सांख्य को हितकर न बनेगा । इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध ही बन्धपदार्थ है । वह सम्बन्ध संयोगात्मक बनने से और संयोग उभयवृत्ति होने से वह बन्ध तो पुरुष में भी रहेगा ही । तब तो पुरुष को बद्ध मानना मुनासिब ही है । बन्ध और मोक्ष समानाधिकरण होते हैं यानी जो बद्ध होता है वही मुक्त बनता है - यह तो पूर्वपक्षी बने हुए सांख्य को भी मान्य होने की वजह पुरुष में मोक्ष का स्वीकार क्या नामुनासिब बनेगा ? बिलकुल नहीं । मतलब कि पुरुष ही बद्ध होता है और पुरुष ही मुक्त होता है, न कि प्रकृति । यह सिद्ध होने पर तो पुरुष में कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी निराबाध ही बनेंगे, क्योंकि 'अहं धर्मकर्ता, घटकर्ता' इत्यादि सार्वजनीन प्रतीति से पुरुष में कर्तृत्व एवं 'अहं सुखभोक्ता' इत्यादि स्वारसिक प्रतीति से पुरुष में भोक्तृत्व सिद्ध होते हैं । तब इन तीन धर्मों की प्रकृति में कल्पना कर के पुरुष को सर्वथा अपरिणामी, अकर्ता एवं साक्षात् अभोक्ता मानने का दुःसाहस करनेवाले सांख्य का मत क्या तथ्य हो सकता है ? अतः यह सांख्यमत कुछ नहीं है, सिवा अपनी बुद्धि की विकृति ।

❁ आत्मा देहपरिमाणवाली है ❁

स्वदेह. । प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारसूत्र में आत्मा के पञ्चम विशेषणविधया 'स्वदेहपरिमाण' ऐसा जो प्रतिपादन किया गया है वह नैयायिक आदि को संमत आत्मविभुत्व को हटाने के लिये किया गया है । इस तरह जब जिनेन्द्रमत का स्वीकार

भाषितेऽत्र भगवन्मतस्पृशां कर्णकोटरकुटुम्बिनि स्फुटं ।
आः किमेतदिति भूरिसम्भ्रमादाह गौतमिकुटुम्बमुच्चकैः ॥१॥

आत्मा विभुर्भवति निःक्रियताख्यहेतोः, व्योमेव मूर्तिमति सक्रियता हि सिद्धा ।
नाऽसिद्धिगन्धमनिबन्धनमेति तस्मादस्माकमेष नियमः खलु तर्कसिद्धः ॥२॥

अत्रोत्तरं —> परिमाणमवच्छिन्नमुत रूपादियोगिता ।
मूर्तिराद्यात्मनि स्पष्टा, द्वितीया व्याप्तिभङ्गभूः ॥३॥

❀ जयलता ❀

आत्माऽविभुत्वमुक्तं हि, न्यायाचार्येण साम्प्रतम् । यदेकाशीतिगाथाभिः तद्रहस्यं निशाम्यताम् ॥१॥

भगवन्मतस्पृशां = जिनेन्द्रदर्शनप्रतिपन्नानां स्फुटं कर्णकोटरकुटुम्बिनि = श्रोत्रगुहयोः स्वस्वजने **अत्र** = आत्मदेहपरिमाणे **भाषिते** स्वकर्णकोटरप्रविष्टे **'आः किमेतत्** स्याद्वादिभिः **उक्तं ?' इति गौतमिकुटुम्बकं** = नैयायिकवृन्दं **भूरिसम्भ्रमात् उच्चकैः आह** ॥१॥ तद्वक्तव्यमेव दर्शयति - **आत्मा विभुः भवति निःक्रियताख्यहेतोः व्योमेव** । प्रयोगस्त्वेवं आत्मा विभुपरिमाणाश्रयः निष्क्रियत्वात्, गगनवत् । **न च** निष्क्रियत्वमात्मनि कुतः सिद्धमिति **वाच्यम्**, यतो **मूर्तिमति हि** = एव **सक्रियता सिद्धा** स्वस्या मूर्तत्वव्याप्तत्वमावेदयति । **सा हि** मूर्तिः जीवाद् व्यावर्तमाना स्वव्याप्यां सक्रियतामपि निवर्तयति, व्यापकाभावस्य व्याप्याभावसाधकत्वात् । अत एवात्मनि विभुत्वसाधनं निष्क्रियत्वं **असिद्धिगन्धं** = स्वरूपासिद्धिदोषलक्षणं दुर्गन्धं **अनिबन्धनं** = निष्कारणं= आकस्मिकं **न एति** = न प्राप्नोति । **तस्मात्** कारणात् **अस्माकं** नैयायिकानां **एष नियमः** = विभुत्व-निष्क्रियत्वयोः व्याप्यव्यापकभावः **तर्कसिद्धः** = विपक्षबाधकयुक्तिसाहाय्यः **खलु** = एव । ततो विभुत्वमेवात्मनो युक्तमिति नैयायिकाशयः ॥२॥

यद्यपि निष्क्रियत्वं गुणादौ विभुत्वव्यभिचारि, द्रव्यत्वे सतीति विशेषणे तु विनिगमनाविरहः तथापि निष्क्रियद्रव्यमात्रवृत्तिवैजात्यस्य हेतुत्वमित्यत्र नैयायिकाशयः प्रतिभाति ।

ननु आत्मनि निष्क्रियत्वसाधिकाऽमूर्तिप्रतियोगिभूता मूर्तिः किं अवच्छिन्नपरिमाणात्मिका यदुत रूपादियोगिता वा ? इति विमर्शाभावमाबिभ्रद् विकल्पयुगलमत्र समुपतिष्ठत इत्याशयेन प्रकरणकारः प्रत्युत्तरयति - **अत्रोत्तरमिति** । **अवच्छिन्नं** = सावच्छिन्नं **परिमाणं मूर्तिः उत रूपादियोगिता ?** आद्या = सावच्छिन्नपरिमाणस्वरूपा मूर्तिः **आत्मनि स्पष्टा** 'अर्धधनुःप्रमाणोऽहमि'त्यादिस्वरसवाहिसार्वजनीनप्रतीतेः प्रसिद्धत्वात् । यदि च रूपादियोगितास्वरूपा **द्वितीया** मूर्तिरभिमता तर्हि **व्याप्तिभङ्गभूः**

करनेवाले स्याद्वादियों के कर्णकोटर के लिए कुटुम्बी जन जैसी 'आत्मा देहपरिमाणवाली है' यह स्फुट वाणी जब गौतमीय (नैयायिक) कुटुम्ब के कर्णकोटर की कुटुम्बिनी बनती है तब नैयायिक वृन्द 'ओह ! यह क्या बोल दिया ?' इस तरह अत्यन्त सम्भ्रम से चिल्लाता है ॥१॥ नैयायिक कहता है कि 'आत्मा विभु है, क्योंकि वह निष्क्रिय है । जो निष्क्रिय होता है वह विभु होता है जैसे गगन। आत्मा भी निष्क्रिय है । अतएव गगन की भाँति वह सर्वव्यापिपरिमाणाश्रय है । यहाँ यह शंका करना कि —> 'आत्मा में निष्क्रियत्व हेतु ही नहीं रहता है, तब उसके बल पर आत्मा में विभु परिमाण की सिद्धि कैसे हो सकेगी ?' <— इसलिए अनुचित है कि आत्मा में निष्क्रियत्व की सिद्धि अमूर्तत्व हेतु से होती है । जो मूर्त होता है उसीमें क्रिया उत्पन्न होती है, जैसे घट, पट । मतलब कि मूर्तत्व का व्याप्य सक्रियत्व है । आत्मा में मूर्तत्व नहीं होने से सक्रियत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि व्यापकाभाव व्याप्याभाव का साधक होता है । अतः आत्मपक्षक विभुत्वसाध्यक निष्क्रियत्व हेतु निष्कारण असिद्धि दोष की गन्ध को भी छूता नहीं है । इसलिए हमारा यह नियम = व्याप्ति तर्कसिद्ध = विपक्षबाधकतर्क से सिद्ध है । अतएव आत्मा में विभुपरिमाण निराबाध है - यह नैयायिकवक्तव्य है ॥२॥

❀ आत्मा में मूर्तत्व है ❀

अत्रो. । मगर यह उपर्युक्त नैयायिककथन विचार करने पर असंगत प्रतीत होता है । इसका कारण यह है कि नैयायिकाभिमत सक्रियत्वव्यापक मूर्ति (मूर्तत्व) का मतलब क्या अवच्छिन्न परिमाण है या रूपादियोगिता = रूपादिआश्रयत्व ? ये दो पक्ष उपस्थित होते हैं । इसमें से प्रथम पक्ष का आश्रय करने पर तो आत्मा में मूर्ति की ही स्पष्टतया सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि 'मैं ५ फीट लम्बा हूँ' इत्यादि सार्वजनीन प्रतीति से आत्मा में सावच्छिन्नपरिमाणवत्त्व सिद्ध ही है । मतलब कि जब मूर्तत्व ही आत्मा में रहता है तब अमूर्तत्व हेतु से आत्मा में निष्क्रियत्व की सिद्धि कर के विभुत्व की सिद्धि करने का नैयायिक का मनोरथ कैसे सफल होगा ? कथमपि नहीं । इसलिए यदि दूसरे पक्ष का स्वीकार किया जाय कि —> 'मूर्ति = मूर्तत्व

किञ्च, अहं पथीह गच्छामि संवित्तिरिति यौक्तिकी ।
क्रियामेवाह जीवस्य हेतुस्ते केतुवीक्षितः ॥४॥

❋ जयलता ❋

मनसाऽनैकान्तिकत्वात्, नीरूपत्वेऽपि = रूपसमवायिकारणतावच्छेदकविरहेऽपि सक्रियत्वात् । **न च** तव मते मनसोऽरूपित्वविरहान्न व्यभिचारित्वमिति **वाच्यम्**, मम मतस्य प्रमाणत्वेन स्वीकारे त्वात्मनो देहपरिमाणत्वमप्यङ्गीकुरु । तव मते तु व्यभिचारः स्पष्ट एवेत्युभयतः पाशारज्जुः । ततो मूर्तिर्व्याप्यत्वं सक्रियत्वे कल्पयितुं **नार्हति** । तदुक्तं **स्याद्वादरत्नाकरे** 'कथं मूर्त्तिर्नाम ? असर्वगतद्रव्यपरिमाणं रूपादिमत्त्वं वा ? तत्राद्यः पक्षः कक्षीकृतत्वान्न दोषावहः । द्वितीये तु नास्ति व्याप्तिः । न खलु सक्रियेण तथाविधमूर्तिमतैव भाव्यम्, मनसानैकान्तिकत्वात् । तस्य रूपादिरहितस्यैव परैः स्वीकारात् । अथात्मनः सक्रियत्वे कुम्भादिवदनित्यत्वं स्यात्, तन्न, परमाणुभिर्मनसा च व्यभिचारात् । (प्र.न.त. ५/८ स्या.र.पृ. ९०२) इति । ॥३॥

आत्मनः विभुत्वसाधकत्वेनोपन्यस्तस्य निष्क्रियत्वहेतोः स्वरूपासिद्धिं भागासिद्धिं वा प्रदर्शयितुमुपक्रमते - **किञ्चेति** । '**अहमिह पथि गच्छामि**' इति **यौक्तिकी** = युक्तिसंगता स्वरसवाहिनी **संवित्तिः** = प्रतीतिः **जीवस्य क्रियां** = सक्रियत्वं एवाह । अतः **ते** = तव नैयायिकस्य आत्मविभुत्वसाधकः **हेतुः** = निष्क्रियत्वहेतुगुरुः **केतुवीक्षितः** = स्वरूपासिद्धिरूपदुष्टकेतुग्रहदृष्टः । ततो नात्मनो विभुत्वसिद्धिः । ज्योतिर्विदां केतुदर्शनस्याऽनिष्टत्वेनाऽभिमतत्वात्, यथोक्तं **वराहमिहिरेण बृहत्संहितायां** —> दृश्योऽमावास्यायां कपालकेतुः सधूम्ररश्मिशिखः । प्राङ्नभसोऽर्द्धविचारी क्षुन्मरकाऽवृष्टिरोगकरः ॥ (बृ.सं.केतुचार गा. ३१) **गर्गे**णाऽपि —> क्षुच्छस्त्रमरकव्याधिभयैः सम्पीडयेत् प्रजाः । मासान् दश तथाऽष्टौ च चलकेतुः सुदारुणः ॥ प्रकृते निष्क्रियत्वस्य स्वरूपाऽसिद्धत्वमाविष्कुर्वद्भिरुक्तं **वादिदेवसूरिभिः** - 'नात्मा सर्वगतः क्रियावत्त्वात् । यदेवं तदेवं यथा वायुः । तथा चायं तस्मान्तथेति । न चास्य क्रियावत्त्वमसिद्धं प्रत्यक्षेणैव तत्प्रतीतेः । तथाहि - प्रत्यक्षेण सर्वो देशान्तरमायान्तमात्मानं प्रतिपद्यते । तथा च वदति 'अहमद्य योजनमेकमागत' इति । मनः शरीरं वा समागतमिति चेत् ? किं पुनस्तदहं प्रत्ययवेद्यम् ? तथा चेचार्वाकमतानुषङ्गः । अतः यथा स्थूलोऽहमिति शरीरमात्रनिमित्तः प्रत्ययस्तथा 'आगतोऽहमि'त्यादिरपीति चेत् ? नन्वहं सुखीत्यादिरपि किं न तथा स्यात् ? 'सुखस्यात्मनि सम्भवादात्मगोचर एवायमिति' चेत् ? गतिरप्यात्मनि सम्भवत्येवेति सोऽपि तन्निमित्तः किं न स्यात् ? अथ नात्मा क्रियावान् सर्वगतत्वात् गगनवदित्यनुमानबाधितत्वात्तत्र गतेरसम्भव एव । नैवम् । इतरेतराश्रयापत्त्या हेतोरत्रासिद्धत्वात् । सिद्धे हि तस्य क्रियावत्त्वाभावे सर्वगतत्वसिद्धिः तत्सिद्धौ च क्रियावत्त्वाभावसिद्धिरिति सिद्धं प्रत्यक्षेणैव तत्र क्रियावत्त्वम् । अनुमानतोऽपि तत्सिध्यति । तथाहि - क्रियावान् आत्मा अन्यत्र द्रव्ये क्रियाहेतुत्वात्,

---

का अर्थ है रूपादिआश्रयत्व । अर्थात् जो रूपादिआश्रय होता है वही सक्रिय हो सकता है, जैसे घट-पटादि । आत्मा में तो रूपादिआश्रयता नहीं है । अतएव उसमें सक्रियत्वाभाव की सिद्धि हो जायगी, जिसके फल स्वरूप में आत्मा को विभुपरिमाणाश्रय मानना आवश्यक बन जायेगा' <— तो यह पक्ष तो नितरां मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि मूर्त्ति = रूपादियोगिता = रूपादिआश्रयत्व सक्रियत्व का व्यभिचारी होने से वह व्याप्ति ही भग्न हो जाती है । मन में रूपादि आश्रयत्व नहीं होने पर भी सक्रियत्व रहता ही है - यह तो प्रतिवादी बने हुए नैयायिक के सिद्धान्तानुसार ही सिद्ध होता है । व्यापक रूपादिआश्रयत्व का अभाव होने पर भी सक्रियत्व हेतु, जो रूपादिआश्रयत्वव्याप्यत्वेन अभिमत है, रह जाने पर उसमें वस्तुतः व्याप्ति धराशायी हो जायगी । तब व्यभिचारी रूपादिआश्रयत्वाभाव के बल पर आत्मा में सक्रियत्वाभाव की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? और जब तक आत्मा में निष्क्रियत्व की सिद्धि न हो तब तक आत्मा में विभुत्व की सिद्धि भी कैसे हो सकेगी ? नहीं ही होगी । अतः 'आत्मा विभुः निष्क्रियत्वात्' यह नैयायिक अनुमानप्रयोग असंगत प्रतीत होता है ॥३॥

◙ आत्मा सक्रिय है ◙

किञ्च । इसके अतिरिक्त बात यह है कि सब लोगों को यह प्रतीति होती है कि - 'मैं इस रास्ते पर चलता हूँ' 'मैं वहाँ से आ रहा हूँ' इत्यादि, वह युक्तिसंगत ही है, क्योंकि आत्मा में सुखादि की भाँति क्रिया की उत्पत्ति भी मुमकिन है। उपदर्शित प्रतीत ही आत्मा में क्रिया की सिद्धि करती है । अतः हे नैयायिक ! तेरा निष्क्रियत्व हेतु आत्मा में स्वरूपासिद्धि दोष स्वरूप केतुग्रह से दृष्ट है तब भला उस हेतु से आत्मा में विभुत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है ? कथमपि नहीं । दुष्टग्रह की दृष्टि बुध, गुरु आदि अच्छे ग्रह पर पड़ने से जैसे शुभग्रह के प्रकृष्ट फल की सिद्धि नहीं हो सकती है - वैसे स्वरूपासिद्धिरूप दुष्ट केतुग्रह की दृष्टि निष्क्रियत्वहेतुस्वरूप गुरु आदि शुभ ग्रह पर पड़ने से उसके साध्य-फल की सम्भावना नहीं की जा सकती - यह तात्पर्य है ॥४॥

ननु यदि न विभुर्वः चेतनः तद्गुणः तत् कथमहह समग्रव्यापृतिव्यग्रमूर्तिः ।
न हि सपदि विहाय स्वाश्रयं कोऽपि जाग्रद्भुवनभवनभूयः सम्भ्रमी बम्भ्रमीति ॥५॥
सहाऽदृष्टस्य कार्येण योगः स्वाश्रययोगिता । जन्यसत्त्वेन जन्यत्वमतो न व्यभिचारिता ॥६॥

❋ जयलता ❋

समीरणवदिति । कालेन व्यभिचारान्न हेतुर्गमकोऽत्रेति चेत् ? न, कालस्य क्रियाहेतुत्वाभावात् । क्रियानिर्वर्तकत्वं हि क्रियाहेतुत्वमिह साधनम् । न पुनः क्रियानिमित्तमात्रत्वम् । तस्य काले सद्भावाभावान्न व्यभिचारः । कालो हि परिणामिनां निमित्तमात्रम् स्थविरगतौ यष्टिवत्, न पुनः क्रियानिर्वर्तकः पर्णादौ पवनवत् । (स्या.र.पृ. ९००) इति ॥४॥

किञ्च, अस्त्वात्मनि निष्क्रियत्वं मास्तु तत्र विभुत्वं तर्हि को दोषः ? इति पर्यनुयोगे न किमपि विपक्षबाधकं बलवत्तरं प्रमाणं नैयायिकेन दर्शयितुं पार्यत इत्यप्रयोजकोऽयं निष्क्रियत्वहेतुरिति न ततो स्वाभिमतसाध्यसिद्धिः ।

कारिकाद्वयेन अत्र नैयायिक आह - ननु **यदि वः** = युष्माकं स्याद्वादिनामभिमतः **चेतनः न विभुः तत्** = तस्मात् कारणात् **तद्गुणः अहह ! समग्रव्यापृतिव्यग्रमूर्तिः** = शरीराद् दूरतरवर्तिषु देशेषु जायमानानां समग्राणां कार्याणां व्यापृतौ व्यग्रा मूर्तिः = स्वरूपं यस्य स अदृष्टाख्यगुणः **कथं** स्यात् ? **न हि** = नैव **स्वाश्रयं विहाय** = परित्यज्य **सपदि कोऽपि** पदार्थः **जाग्रद्भुवनभवनभूयः संभ्रमी बम्भ्रमीति** = अत्यन्तं भ्रमति । अयं नैयायिकाभिप्रायः अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मारभते एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात् प्रयत्नवत् । न चास्य क्रियाहेतुगुणत्वमसिद्धम्, अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनं, अणुमनसोश्चाद्यं कर्म देवदत्तविशेषगुणकारितं कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात् पाण्यादिपरिस्पन्दनवदित्यनुमानतः तत्सिद्धेः । नाप्येकद्रव्यत्वमसिद्धम्, एकद्रव्यमदृष्टं विशेषगुणत्वाच्छब्दवदित्यनुमानतः तत्सिद्धेः । एकद्रव्यत्वादित्युच्यमाने रूपादिभिर्व्यभिचारः । क्रियाहेतुगुणत्वमित्युच्यमाने करमुसलसंयोगेन स्वाश्रयासंयुक्तस्तम्भादिक्रियाहेतुना व्यभिचारः । यदि चात्मा न विभुस्तर्हि देशान्तरे स्वाश्रयासंयुक्ते कथमदृष्टं कर्म जनयेत्, अतिप्रसङ्गात् । अतः तत्र तत्कारणादृष्टसिद्धिः । गुणश्च स्वाश्रयं गुणिनमनुमापयतीति तत्रात्मास्तित्वं स्वीकर्तव्यमेव । इत्थञ्चात्मनो विभुत्वसिद्धिः ॥५॥

नन्वात्मगुणस्यादृष्टस्य कथं देशान्तरे जायमानकार्यसामानाधिकरण्यमित्याशङ्कायां नैयायिक आह - **कार्येण सह अदृष्टस्य** = आत्मगुणस्य **योगः** = सम्बन्धः **स्वाश्रययोगिता** = स्वसमवायिसंयोगः । समवायेन घटस्याधिकरणे कपाले स्वाश्रयसंयोगेनाऽदृष्टं वर्तते देवदत्तभोग्यघटसमवायिकारणकपालस्याऽदृष्टाश्रयदेवदत्तात्मसंयुक्तत्वात् । अतः कार्यकारणसामानाधिकरण्योपपत्तिः । **न चादृष्टस्य** स्वसमवायिसंयोगसम्बन्धेन जन्यमात्रं प्रति कारणत्वे घटध्वंसादिना व्यभिचारः, न च घटध्वंसाश्रयस्य कपालस्याऽदृष्टसमवाय्यात्मसंयुक्तत्वेन न व्यतिरेकव्यभिचार इति वाच्यम्, कपालध्वंसे घटध्वंसस्य निराश्रयत्वापत्तेः, कपालिकायाः तदा घटध्वंसाश्रय-

❋ अदृष्ट स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से कार्यमात्र का जनक - नैयायिक ❋

पूर्वपक्ष :- ननु य. । यहाँ नैयायिक विद्वानों का यह कथन है कि - 'यदि तुम्हारी आत्मा विभु नहीं है तब तो उसका गुण अदृष्ट भिन्न भिन्न देशों में अनेक व्यापारों में व्यग्र = प्रवृत्ति के जनक स्वरूपवाला कैसे हो सकेगा ? आत्मा विभु न होने से आत्मा के अनाश्रय देशावच्छेदेन तो आत्मा का अदृष्ट गुण नहीं रह सकता है, क्योंकि अपने आश्रय को छोड़ कर कोई भी गुण जागृत विश्वभवन में अनेकशः तो क्या एक भी बार घूम सकता नहीं है । गुण स्वानाश्रय में रह नहीं सकता तब उससे सम्बद्ध हो कर कार्यजनक कैसे हो सकता है ? मतलब यह है कि देवदत्त कर्णाटक में रहता हो और उसके भोग्य छिद्र घट की उत्पत्ति महाराष्ट्र में होती हो तब देवदत्त के अदृष्ट की उत्पत्तिस्थल में उपस्थिति होनी जरूरी है, अन्यथा वह घट निश्छिद्र न हो और सछिद्र हो - उसका कोई नियामक नहीं बन सकता है । कुम्हार की इच्छा तो सछिद्र घट बनाने की है ही कहाँ ? मगर देवदत्त (= आत्मविशेष) को व्यापक न माना जाय तब वह स्वभोग्यसछिद्रघटोत्पादस्थल से संयुक्त नहीं हो सकता और तब देवदत्तअदृष्ट भी स्वाश्रयासंयुक्त स्थल में सछिद्र घट को नहीं बना सकेगा । इसकी अन्यथा अनुपपत्ति से आत्मा को विभु माननी होगी, जिससे देवदत्त स्वभोग्य के उत्पत्तिस्थान से संयुक्त होने से देवदत्तअदृष्ट स्वाश्रयसंयुक्त में सछिद्र घट को उत्पन्न करेगा । अतः कुम्हार हजारों घट को बनाता है जिनमें से चैत्र, मैत्र, जैत्र आदि के अदृष्ट से निश्छिद्र घट की उत्पत्ति और देवदत्त के अदृष्ट से सछिद्र घट की उपपत्ति आत्मविभुत्ववाद में सुकर है ॥५॥

यहाँ यह शंका हो कि --> 'अदृष्ट स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से कार्यमात्र का जनक है-ऐसा मानने पर तो व्यतिरेक व्यभिचार आयेगा, क्योंकि घटध्वंस काल में उत्पन्न होता है जो काल विभु होने की वजह विभु आत्मा से संयुक्त नहीं हो सकता। कपालादि को घटादिध्वंस का उत्पत्तिस्थल नहीं माना जा सकता, क्योंकि कपालादि का भी नाश हो जाने पर घटादिध्वंस

नाशं प्रति पृथगेव हि हेतुत्वमसङ्ग्रहस्ततो नास्ति ।
विभुनाऽपि परम्परया संयोगो युज्यते जन्तोः ॥७॥

❁ जयलता ❁

त्वाऽयोगात्, एककार्यतावच्छेदेन सतः कार्यस्य कालान्तरेऽधिकरणान्तरवृत्तित्वाऽयोगादिति कालस्यैव ध्वंसाधिकरणत्वनियमात्, तस्य च विभुत्वेन सर्वमूर्त्तसंयोगिन आत्मनस्तत्संयुक्तत्वाऽसम्भवात्, संयोगस्याऽप्राप्तिपूर्वकप्राप्तिरूपत्वादिति दुर्वार एव व्यतिरेकव्यभिचार इति **वक्तव्यम्, यतो जन्यसत्त्वेन जन्यत्वमुपेयते** । जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रत्येवाऽदृष्टस्य स्वसमवायिसंयोगसम्बन्धेन कारणत्वात्, ध्वंसे च नोक्तसम्बन्धावच्छिन्नादृष्टनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यताया अवच्छेदकमित्यतो **न व्यभिचारिता** । सत्त्वस्य कार्याकार्यसाधारणत्वेनाऽदृष्टकार्यतावच्छेदकत्वाऽयोगादिति जम्भेत्युक्तम् । ध्वंसे व्यभिचारवारणाय सत्त्वेति । तच्च न जन्यत्वविशिष्टसत्त्वं उक्तनोत्तरत्वात् किन्तु जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यम् । जन्यत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वे परस्पराश्रयत्वेन कार्यताधीः कार्यतावच्छेदकत्वाऽयोगात् । इत्थञ्च जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसंयोगेनाऽदृष्टस्य कारणत्वादात्मवैभवसिद्धिरिति गौतमीयाभिप्रायः ॥६॥

नन्वेवमदृष्टस्य कार्यमात्रजनकत्वनियमोऽनुपसङ्गृहीतः स्यादित्याशङ्कायां यौग आह - **नाशं** = ध्वंसत्वावच्छिन्नं **प्रति पृथगेव हि हेतुत्वं** = अदृष्टनिष्ठकारणत्वम् । **ततोऽसङ्ग्रहः** = ध्वंसनिरूपितकारणत्वाभावः **नास्ति** अदृष्टे । ध्वंसत्वावच्छिन्नं प्रति स्वसमवायिसंयुक्तसंयोगेनादृष्टस्य कारणत्वस्योपगमात्र कार्यमात्रं प्रत्यदृष्टस्य साधारणकारणत्वसिद्धान्तप्रच्यवः । न च विभुना कालेन सहात्मनः संयोगाऽसम्भवान्नाऽदृष्टस्य ध्वंसजनकत्वं सम्भवतीति **वाच्यम्**, विभुनाऽपि कालद्रव्येण साकं **जन्तोः** = जीवस्य **परम्परया** = स्वसंयुक्तसंयोगलक्षणपरम्परासम्बन्धेन **संयोगः** = सम्बन्धः **युज्यत** एव । स्वेन = आत्मना संयुक्तो यः परमाण्वादिः तत्संयुक्ते काले आत्मनः स्वसंयुक्तसंयोगसम्बन्धेनाऽदृष्टस्य च स्वसमवायिसंयुक्तसंयोगेन वृत्तित्वान्नोक्तकार्यकारणभावो लेशतोऽपि दुष्ट इति आत्मवैभवसिद्धिरिति नैयायिकाभिप्रायः ॥७॥

में निराधारता की आपत्ति आयेगी । संयोग का अर्थ है 'अप्राप्तयोः प्राप्तिः' । अतः विभु कालद्रव्य में अदृष्ट स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से नहीं रहने पर भी घटध्वंस आदि कार्य की उत्पत्ति काल में हो जाने से अदृष्टनिष्ठ स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्न कारणता का स्वीकार नहीं किया जा सकता' <— तो इसका समाधान नैयायिक की ओर से इस तरह बताया जा सकता है कि स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्न अदृष्टनिष्ठ कारणता से निरूपित कार्यता का अवच्छेदक केवल जन्यत्व नहीं है किन्तु जन्यसत्त्व है । घटध्वंस आदि में जन्यत्व होते हुए भी सत्त्व = सत्ता जाति नहीं होने से वह कार्यतावच्छेदक धर्म से शून्य है । अत एव स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से अदृष्ट के अनधिकरण काल द्रव्य में घटध्वंस की उत्पत्ति हो तो भी व्यतिरेक व्यभिचार दोष को अवकाश नहीं है ॥६॥

यहाँ यह शंका हो कि —> ''जन्यसत्त्व को अदृष्टकार्यतावच्छेदक मानने पर तो कार्यमात्र के प्रति अदृष्टकारणता का नैयायिकसिद्धान्त धराशायी हो जायगा'' <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि हम नैयायिक नाश के प्रति अदृष्ट में पृथक् कारणता का स्वीकार करते हैं । मतलब कि जन्यसत्त्व अदृष्टनिरूपितकार्यता का अवच्छेदक नहीं है किन्तु स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्न अदृष्टनिष्ठ कारणता से निरूपित कार्यता का अवच्छेदक है । अन्य = स्वाश्रयसंयोग से भिन्न सम्बन्ध से अवच्छिन्न = नियन्त्रित अदृष्टनिष्ठ कारणता से निरूपित कार्यता का अवच्छेदक तो ध्वंसत्व भी बन सकता है । कारणतावच्छेदकसम्बन्ध का कारणताशरीर में प्रवेश होने से कारणतावच्छेदकसम्बन्ध पृथग् बनने पर उससे घटित कारणता भी पृथक् बन जाती है । अतः यहाँ नाश के प्रति पृथक् कारणता के स्वीकार का प्रतिपादन किया गया है । मगर ध्वंसनिष्ठ कार्यता से निरूपित कारणता अदृष्ट में रहती तो है ही । यहाँ इस शंका का कि —> ध्वंस के प्रति अदृष्ट में अन्य सम्बन्ध से पृथक्कारणता का स्वीकार करने पर भी कालद्रव्य विभु होने से आत्मा को विभु मानने पर काल के साथ आत्मा का सम्बन्ध कैसे हो सकेगा ?' <— समाधान यह है कि विभु कालद्रव्य के साथ भी जीव का परम्परा से सम्बन्ध माना जा सकता है । यह सम्बन्ध होगा संयुक्तसंयोग । स्व = आत्मा से संयुक्त परमाणुआदि से संयुक्त काल होने से स्वसंयुक्तसंयोगनामक परम्परासम्बन्ध से जीव कालसम्बद्ध हो सकता है । तब ध्वंसनिष्ठ कार्यता से निरूपित अदृष्टनिष्ठ कारणता का अवच्छेदक सम्बन्ध बनेगा स्वाश्रयसंयुक्तसंयोग। स्व = अदृष्ट के आश्रय = आत्मा से संयुक्त परमाणु आदि से संयुक्त = काल में स्वाश्रयसंयुक्तसंयोग सम्बन्ध से अदृष्ट रहने से काल में घटध्वंस आदि की उत्पत्ति हो सकती है । कारण की उपस्थिति में ही कार्य की उत्पत्ति होने से व्यतिरेक व्यभिचार को भी अवकाश नहीं है । अतः आत्मा का विभु परिमाण मानना ही मुनासिब है - यह फलित होता है ॥७॥

विजृम्भितं व्याघ्रभयात्तदेतत्तद्गर्तनिपातोपमितिं प्रसूते ।
यज्जन्यमात्रं प्रति कालिकेन हेतुत्वमेकं प्रतिपन्नमस्य ॥८॥
शङ्कते -> कालिकेन घटत्वादि जन्यत्वं किल नैकधा ।
अथ स्वरूपसम्बन्धोऽनित्याभावत्वमेव तत् ॥९॥

❀ जयलता ❀

प्रकरणकृता साम्प्रतं नैयायिकोक्तिपराकरणाय प्रक्रियते - **विजृम्भितमिति । तदेतत्** = जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं प्रत्यदृष्टस्य स्वसमवायिसंयोगेन ध्वंसत्वावच्छिन्नं प्रति च स्वसमवायिसंयुक्तसंयोगेन कारणत्वमिति यौगवचनं **व्याघ्रभयात्** = आत्मवैभवासिद्धिलक्षणव्याघ्रभयात्, **गर्तनिपातोपमितिं** = कारणताद्वयकल्पनागौरवगर्तपतनोपमां **प्रसूते । यत्** = यतो नैयायिकेन **अस्य** = अदृष्टस्य **जन्यमात्रं** = जन्यमात्रवृत्तिधर्मावच्छिन्नं **प्रति कालिकेन** = कालिकविशेषणतासम्बन्धेन **एकं हेतुत्वं प्रतिपन्नम्** । साम्प्रतञ्च कारणतावच्छेदकसम्बन्ध-कार्यतावच्छेदकधर्मभेदेनाऽदृष्टे कारणताद्वयमात्मवैभवसाधनार्थमुपगम्यत इति । अयं भावः अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां घटादावदृष्टस्य हेतुत्वसिद्धेः तत्र घटत्व-पटत्वादीनामानन्त्यात्कार्यत्वमेव साधारण्यात् तत्कार्यतावच्छेदकम् । **एतेन** प्रागभावप्रतियोगित्वलक्षणजन्यत्वापेक्षया घटत्वादावेव कार्यतावच्छेदकत्वं लघुत्वादिति **निरस्तम्,** शरीरलाघवमपेक्ष्य सङ्ग्राहकलाघवस्य न्याय्यत्वात्, यद्विशेषयोरिति न्यायात्सामान्यतोऽपि अदृष्टस्य हेतुत्वसिद्धिः । तत्र च कालिकसम्बन्धावच्छिन्नैव जन्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणता स्वीकृता, लाघवात् । **एतेन** जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं स्वसमवायिसंयोगेन ध्वंसं च स्वसमवायिसंयुक्तसंयोगेनादृष्टस्य कारणत्वमिति **परास्तम्,** कारणताद्वयकल्पनेन गौरवात्, मानाभावाच्च । एतेनादृष्टं स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मारभते एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वादित्यपि **प्रत्याख्यातम्,** अप्रयोजकत्वात्, अदृष्टस्य पौद्गलिकत्वसाधनेन स्वरूपासिद्धत्वाच्च ॥८॥

साम्प्रतं नैयायिकः **शङ्कते - जन्यत्वं किल** न प्रागभावप्रतियोगित्वलक्षणमेकविधं किन्तु **कालिकेन** = कालिकविशेषणतासम्बन्धेन **घटत्वादि** = घटत्वपटत्वादिस्वरूपं **नैकधा** = अनेकविधम् । अयं नैयायिकाशयः सकलकार्यसाधारणमतिरिक्तं प्रागभावप्रतियोगित्वलक्षणं कार्यत्वं तदैव स्वीकर्तुमर्हति यदा क्लृप्तस्य तथात्वाऽसम्भवः । स च नास्ति कालिकेन घटत्वादेरेव तत्त्वसम्भवात् । तदुक्तं **सामान्यलक्षणाजागदीशीकाशिकानंदिवृत्तौ** 'कालिकसम्बन्धेन घटत्वादेर्जन्यमात्रवृत्तितया घटत्वादेरपि कार्यत्वसमनियतत्वादिति (सा.ल.का.पृ. ५८) । क्लृप्तस्य कल्प्याद् बलाधिकत्वात्कालिकेन घटत्व-पटत्वादिरूपमेव कार्यत्वम् ।

❋ अदृष्ट में कालिकावच्छिन्न कारणता गुणाविशेष ❋

उत्तरपक्ष :- विजृ. । वाह ! नैयायिक महाशय ! तुम्हारा यह कथन तो बाघ के भय से खाई में गिरने जैसा है, क्योंकि आप नैयायिक ने अदृष्ट में कालिक सम्बन्ध से जन्यमात्र के प्रति कारणता का स्वीकार किया है । आत्मा का अदृष्ट कालिकसम्बन्ध से कपाल आदि में भी रहता है और काल में भी रहता है । अतः एक ही कालिक सम्बन्ध का कारणतावच्छेदकसम्बन्धविधया स्वीकार कर के घट, घटध्वंस आदि के प्रति अदृष्टकारणता को आपने मान्य की है, जिसमें कारणताद्वय के स्वीकार का गौरव नहीं है अपितु एक ही कारणता के स्वीकार से लाघव भी है । मगर आत्मा में अविभुत्व = अपरम महत्परिमाण की सिद्धि के भय से आप उक्त कालिकसम्बन्धावच्छिन्न अदृष्टनिष्ठकारणता को छोड कर स्वाश्रयसंयोग-स्वाश्रयसंयुक्तसंयोगसम्बन्धावच्छिन्न पृथक् पृथक् अदृष्टनिष्ठकारणता का स्वीकार करने के लिये तैयार हो रहे हैं, गौरव दोष होने के बावजूद भी ! आप नैयायिक तो कमाल करते हैं । यहाँ यह ध्यान में रखना जरूरी है कि अदृष्ट कालिकसम्बन्ध से अनित्य पदार्थ में ही रहता है मगर काल नित्य होने पर भी कालिक सम्बन्ध से तो काल में कोई भी अनित्य पदार्थ रह सकता है, क्योंकि अनित्य अदृष्ट आदि कालोपाधि - कालविशेषण बनता है । नित्य पदार्थ कालिकसम्बन्ध से केवल अनित्य पदार्थ में ही रह सकता है,नित्य पदार्थ में नहीं, चूँकि अनुयोगी-प्रतियोगी दोनों नित्य होने पर कालोपाधिता = किञ्चित्कालवृत्तिता ही नामुमकिन बन जाती है । अस्तु ! ॥८॥

❋ कालिकसम्बन्ध से अदृष्टकारणतापक्ष में गौरव की आशंका ❋

नैयायिक :- कालिकसम्बन्ध से अदृष्ट को कार्यमात्र के प्रति कारण मानने में गौरव दोष उपस्थित होता है, क्योंकि कालिकसम्बन्ध से जन्यता घटत्व, पटत्व आदि अनेकस्वरूप बन जाती है । मतलब यह है कि कार्यत्व, जो संपूर्ण कार्यों का संग्राहक है, एक धर्मस्वरूप न हो कर कालिकसम्बन्ध से घटत्व-पटत्वादिस्वरूप है, कार्यत्व को सकल कार्यों में एक अनुगत धर्म के रूप में तभी स्वीकार किया जा सकता है जब संपूर्ण कार्यों का अनुगम करने का कोई मार्ग न रहे किन्तु यहाँ

अत्र प्रतिक्रिया —> युक्तं तज्जन्यसत्त्वं लघुगदितमवच्छेदकं जन्यतायाः, तत्किं तत्रापि हेतुर्न भवति नियतिः कालिकेनैव वादिन् ! पाशरज्जुः किलात्र प्रभवति भवतो बन्धनावन्ध्य-बीजं, साक्षी नाक्षीणमूर्तिर्विभुनि भवति भोः कोऽपि संगोपितात्मन् ॥१०॥

❀ जयलता ❀

घटत्व-पटत्वादीनामानन्त्येन कार्यतावच्छेदकानन्त्यप्रयुक्तानन्तकार्यकारणभावापत्तिः । ततो न कार्यत्वावच्छिन्ननिरूपितकालिक-सम्बन्धावच्छिन्नाऽदृष्टनिष्ठकारणता स्वीकर्तुमर्हति ।

ननु जन्यत्वं न कालिकेन घटत्वादिस्वरूपं नानाविधं किन्तु स्वरूपसम्बन्ध एव जन्यत्वमिति न जन्यत्वावच्छिन्नेऽदृष्टस्य कालिकेन हेतुत्वे गौरवमित्याशङ्कायां नैयायिक आह - **अथ स्वरूपसम्बन्धः तत्** = जन्यत्वं अभिमतं, अस्तु तथा, तथापि **अनित्याभावत्वं** = अनित्याभावप्रतियोगित्वं = प्रागभावप्रतियोगित्वं **एव तत्** = जन्यत्वं स्वीकर्तुमर्हति । परन्त्वेवमपि गौरवम-परिहार्यमेव, स्वरूपसम्बन्धरूपस्य प्रागभावप्रतियोगित्वलक्षणस्य जन्यत्वस्य प्रतियोगिभेदेन भिन्नत्वात् । तथा च कार्यतावच्छेद-कानन्त्यप्रयुक्तानन्तकारणतायाः कालिकसम्बन्धावच्छिन्नाया अदृष्टनिष्ठायाः स्वीकर्तव्यत्वेनानन्तकार्यकारणभावापत्तिस्तदवस्थैव । ततो न जन्यत्वावच्छिन्नं प्रति कालिकेनाऽदृष्टस्यैकं कारणत्वमुक्तं युक्तं किन्त्वस्मदभिमतं द्विविधमेवेति नात्मवैभवोऽस्माकं दुर्लभ इति नैयायिकाशयः ॥९॥

अत्र = निरुक्तनैयायिकनये स्याद्वादिनामियं **प्रतिक्रिया —>** कालिकसम्बन्धावच्छिन्नजनकतानिरूपितायाः **जन्यतायाः अवच्छेदकं** कालिकेन घटत्वपटत्वाद्यपेक्षया प्रागभावप्रतियोगित्वापेक्षया वा **लघुगदितं जन्यसत्त्वं** एव **युक्तं** = युक्त्यनपेतं तस्य द्रव्यजन्यतावच्छेदकतया सिद्धत्वेन क्लृप्तत्वात्, अदृष्टकार्यताऽन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वाच्च। **तत्** = ततः तस्मात् कारणात् हे **वादिन् ! तत्राऽपि** = जन्यसत्त्वावच्छिन्नेऽपि **कालिकेनैव नियतिः** = तत्तद्द्रव्यक्षेत्रकालभावभवभाविपरिणामनैयत्यान्यथानुपपत्त्या लब्धात्मलाभा नियतिपदवाच्या **किं हेतुः न भवति ?** भवतीति स्वीक्रियते नैयायिकेन तदा परमतप्रवेशः आत्मवैभवासिद्धिश्च, नियत्यैव विप्रकृष्ट-देशादौ जायमानकार्यजातनैयत्योपपत्तेः । न चैतद् नैयत्यं स्वभावप्रयोज्यं, स्वभावस्य कार्यैकजात्यप्रयोजकत्वात् । न भवतीत्युच्यते नैयायिकेन तदा नात्मवैभवस्वीकारेऽपि नियतरूपावच्छिन्नसमग्रकार्यव्यवस्था सङ्गच्छत इति **किलात्र** उभयतः **पाशरज्जुः प्रभवति** यस्मात् **भवतो** नैयायिकस्य उभयत्रापि प्रदर्शितरीत्या **बन्धनाऽवन्ध्यबीजं** भवति । अतो भोः ! **संगोपितात्मन् !**

ऐसे मार्ग का अभाव नहीं है, क्योंकि कालिकसम्बन्ध से घटत्व सभी कार्यों में ही रहने से कार्यत्वसमनियत होने की वजह समस्त कार्यों का अनुगमक हो सकता है । मगर इस तरह कार्यता कालिकसम्बन्ध से पटत्वादि स्वरूप भी बनती है । मतलब कि कालिकसम्बन्ध से घटत्व-पटत्वादि धर्म से भिन्न कार्यत्वनामक एक अतिरिक्तधर्म की अप्रामाणिक कल्पना नहीं हो सकती है । एवं घटत्व, पटत्वादि धर्म अनन्त होने से घटत्व, पटत्वादि अनन्त धर्मों से अवच्छिन्न अदृष्टनिष्ठ कालिकसम्बन्धावच्छिन्न कारणता अत्यन्त गुरु बन जायेगी । अतः कार्यत्वावच्छिन्न के प्रति अदृष्ट को कालिकसम्बन्ध से कारण नहीं माना जा सकता । यदि कार्यत्व को स्वरूपसम्बन्धात्मक माना जाय तब वह अनित्याभावत्व = प्रागभावप्रतियोगित्वात्मक ही हो सकता है । स्वरूपसम्बन्धात्मक प्रागभावप्रतियोगिता प्रतियोगिभेद से भिन्न होने की वजह पुनः कार्यताअवच्छेदक आनन्त्य प्रयुक्त अनन्त कारणता के स्वीकार का गौरव वज्रलेप बन जायेगा । इसलिए जन्यत्वावच्छिन्न के प्रति कालिकसम्बन्धावच्छिन्न अदृष्टनिष्ठकारणता का स्वीकार संगत नहीं है ॥९॥

॥ जन्यसत्त्व में कार्यतावच्छेदकता मुमकिन ॥

स्याद्वादी :- मगर विचार करने पर कालिकसम्बन्धावच्छिन्न कारणता से निरूपित कार्यता के अवच्छेदकविधया जन्यसत्त्व का स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि वह कालिकसम्बन्ध से घटत्व, पटत्व आदि की अपेक्षा एवं प्रागभावप्रतियोगित्व की अपेक्षा लघुधर्मस्वरूप कहा गया है । अब तो अदृष्ट में कालिकसम्बन्ध से अवच्छिन्न कारणता का, जो जन्यसत्त्वावच्छिन्न है, स्वीकार मुमकिन ही है । तब आत्मा के विभुपरिमाण की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? क्योंकि इस कार्यकारणभाव में संयोग सम्बन्ध का ही निवेश नहीं किया गया है । दूसरी बात यह है कि हम तो नियति में भी कालिकसम्बन्ध से अवच्छिन्न कारणता का, जो जन्यसत्त्वावच्छिन्न है, स्वीकार कर सकते हैं । हे वादी नैयायिक ! कालिकसम्बन्ध से ही नियति जन्यसत्त्वावच्छिन्न के प्रति कारण हो सकती है या नहीं ? यदि हाँ, ऐसा जवाब आप देंगे तब तो कार्यनैयत्य की संगति नियति से ही हो जायेगी । कहाँ, कब, किसको, किस तरह, किस प्रमाण में, किस चीज का मिलना ? इस नियम की व्यवस्था तो नियति ही कर लेगी, क्योंकि नियत रूप से ही पदार्थों की उत्पत्ति के अनुरोध से यह मानना आवश्यक है कि सभी पदार्थ किसी

(शङ्का) -> द्रव्यप्रत्यक्षहेतुत्वान्महत्त्वं सिध्यदात्मनि ।
व्योम्नीव ननु विश्रान्ततारतम्यमनादि सत् ॥११॥
सादित्वे जन्यतापत्तिर्हेतुस्तत्र तु कोऽपि न ।
बहुत्वं वा महत्त्वं वा तद्धेतुः प्रचयश्च यत् ॥१२॥

❀ जयलता ❀

अतोऽसाक्षिकोऽयमात्मवैभववादः सर्वैरेव बहिष्कार्यः । किञ्च नैयायिकमते जन्यसत्त्वावच्छिन्ने सत्तावच्छिन्ने च कालिकेनाऽदृष्टस्य हेतुत्वस्वीकारेऽपि व्यवस्थोपपत्तेर्नात्मविभुत्वसिद्धिः ॥१०॥

अत्र नैयायिकः पुनः कारिकायुग्मेण प्रत्यवतिष्ठते- **द्रव्ये**ति । नन्वात्मनो महत्त्वानाश्रयत्वे 'अहं सुखी'त्यादिसाक्षात्कार एव न स्यात्, विषयतासम्बन्धेन द्रव्यप्रत्यक्षं प्रति समवायेन महत्त्वस्य हेतुत्वात् । महत्त्वस्य **द्रव्यप्रत्यक्षहेतुत्वात्** 'अहं सुखी'-त्यादिप्रतीत्या **आत्मनि सिद्ध्यद् महत्त्वं,** = महत्परिमाणम् । तच्च स्वीक्रियत एव स्याद्वादिभिरिति सिद्धसाधनमित्याशङ्कायामाह- **ननु** = खलु **विश्रान्ततारतम्यम्** विश्रान्तं तारतम्यं यस्मिन् महत्परिमाणे तत्, दृष्टान्तमाह **व्योम्नीव**, तत्र हेतुविशेषणमाह **अनादि सत्** = प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति भावत्वं नित्यत्वमिति यावत् । द्रव्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नस्य हेतोर्महत्त्वस्यात्मनि सिद्धौ तस्य नित्यत्वे लाघवमिति 'आत्मा विभुः नित्यमहत्त्वात्, गगनवदि'त्यनुमानात् तस्य विभुत्वं सिध्यतीति नैयायिकाशयः ॥११॥

नन्वात्ममहत्त्वस्य प्रागभावाप्रतियोगित्वलक्षणाऽनादित्वे गौरवेण प्रागभावप्रतियोगित्वलक्षणं सादित्वमेवास्तु लाघवादित्यसिद्ध एव हेतुरित्याशङ्कायामक्षपादतनय आह **सादित्वे** = तन्महत्त्वस्य प्रागभावप्रतियोगित्वे **जन्यत्वापत्तिः । न च** प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वलक्षणनित्यत्वापेक्षया जन्यत्व एव लाघवमिति **वाच्यम्,** तथापि तदुत्पादकादिकल्पनागौरवात् । **न च** तस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वमिति **वाच्यम्,** तत्कारणस्यैवात्मन्यसम्भवादित्याह- **तत्र** = आत्मनि, **कोऽपि हेतुः** = महत्त्वजनकः **न विद्यते** । कुतः ? इत्याह **यत्** = यस्मात् कारणात् **बहुत्वं** = एकत्वभिन्नसंख्या, **वा महत्त्वं** = अवयवमहत्त्वं, **वा प्रचयश्च** = शिथिलाख्यः संयोगश्च **तद्धेतुः** = महत्त्वजनकः सम्भवति । अयमत्र नैयायिकाभिप्रायः महत्त्वं क्वचित् एकत्वभिन्नसंख्यातः जायते यथा द्व्यणुकस्य त्रसरेणोश्च परिमाणं प्रति परमाणुपरिमाणं द्व्यणुकपरिमाणं वा न कारणं, परिमाणस्य स्वसजातीयोत्कृष्ट-

ऐसे तत्त्व से उत्पन्न होते हैं जिससे उत्पन्न होनेवाले पदार्थों में नियतरूपता का नियमन होता है, पदार्थों के कारणभूत उस तत्त्व का नाम ही नियति है । मगर तब तो दूर देश आदि में उत्पन्न होनेवाले कार्यों के प्रातिस्विक नैयत्य की उपपत्ति नियति से हो जाने से अदृष्ट में तादृश नैयत्य का नियामकत्व नामुमकिन बन जाने से आत्मविभुत्व की पुनः असिद्धि ही होगी । और यदि नैयायिक जन्यसत्त्वावच्छिन्न के प्रति कालिकसम्बन्ध से नियति को कारण न माने तब तो सभी कार्यों के नियतस्वरूप की संगति नैयायिक मतानुसार कथमपि नहीं हो सकती है । इस तरह यहाँ नैयायिक नियति में कालिकसम्बन्धावच्छिन्न कारणता का स्वीकार करे या न करे दोनों पक्ष में नैयायिक के लिये बन्धन का अवंध्य = अमोघ बीज = कारण बननेवाला उभयतः पाशारज्जुन्याय अपना प्रभाव दिखलायेगा । इसलिए ओ ! नैयायिक के शागिर्द ! अपने को लज्जा से छुपानेवाले ! तुम्हारे लिए आत्मा में विभुत्व का साक्षी बननेवाला कोई भी अक्षीणस्वरूपवाला हेतु नहीं है तब कैसे आत्मा में सर्वव्यापकता सिद्ध होगी ? कथमपि नहीं ॥१०॥

❀ महत्त्व में द्रव्यप्रत्यक्षकारणता से आत्मवैभवसिद्धि का प्रयास ❀

नैयायिक :- विषयतासम्बन्ध से द्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति समवाय सम्बन्ध से महत्त्व कारण होता है । अतः 'अहं सुखी दुःखी' इत्यादि आत्मप्रत्यक्ष के अनुरोध से आत्मा में भी महत्त्व सिद्ध होता है । वह महत्त्व = महत्परिमाण गगन में विश्रान्ततारतम्यवाले परम महत्परिमाण की भाँति अनादि सत् = प्रागभावाऽप्रतियोगी होते हुए भावात्मक यानी नित्य ही सिद्ध होगा । नित्य महत्त्व का आश्रय होने की वजह आत्मा में विभु परिमाण की सिद्धि होगी । अनुमानप्रयोग इस तरह हो सकता है कि- आत्मा विभु है, क्योंकि वह नित्य महत्त्व का आश्रय है । जो जो नित्य महत्त्व का आश्रय है वह सब विभु होता है जैसे गगन । अतः आत्मा को विभु मानना ही युक्तिसंगत है ॥११॥

यहाँ यह शंका हो कि —> 'आत्मा अनित्य महत्त्व का आश्रय हो तो क्या बिगड़ता है ?' <— तो इसका समाधान यह है कि आत्मा के महत्त्व को सादि = अनित्य मानने पर उसमें जन्यत्व की आपत्ति आयेगी । 'फिर भी आपका क्या बिगड़ता है ?' यह प्रश्न भी निराधार है, क्योंकि आत्मा में महत्त्व की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है । महत्त्व की उत्पत्ति

विनाऽवयवमात्मनि त्रयमिदं किल क्लीबतः सुतोद्भवकुतूहलं कलयति प्रतिश्रूयताम् । विभुत्वमभिकाङ्क्षतां मुकुलितं पिपासावशात् जयानकरवः श्रवः श्रयतु तेन विश्वाङ्गिनाम् ।।१३।।

अत्रोच्यते —> परिमाणमत्र किं नापकृष्यते ?

अपकर्ष इवोत्कर्षोऽवच्छिन्द्याज्जन्यतां यतः ।।१४।।

❀ जयलता ❀

परिमाणजनकत्वनियमात्, द्व्यणुकपरिमाणं तु परमाणुपरिमाणापेक्षया नोत्कृष्टं, त्रसरेणुपरिमाणं तु न सजातीयम् । अतः परमाणौ द्वित्वसंख्या द्व्यणुकपरिमाणस्य द्व्यणुके त्रित्वसङ्ख्या च त्रसरेणुपरिमाणस्याऽसमवायिकारणम् । क्वचिदवयवमहत्त्वपरिमाणादपि महत्परिमाणं जायते यथा समवायेन घटादिपरिमाणं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन कपालादिमहत्परिमाणस्य कारणत्वम् । क्वचिच्च प्रचयाज्जायते यथा तूलकादिपरिमाणम् । अत्र **नृसिंहः** 'प्रचयत्वं चावयवसंयोगगतो जातिविशेषः, तादृशजातिविशेषावच्छिन्न एव शिथिल इत्युच्यते' इत्याचष्टे । (का.११२ नृ.पृ.) ।।१२।।

एतावता किमायातं ? इत्याह **किल अवयवं विना आत्मनि इदं** = अनुपदोक्तस्वरूपं **त्रयं** = एकत्वान्यसङ्ख्या-महत्त्व-प्रचयान्यतमं, **क्लीबतः** = नपुंसकात् **सुतोद्भवकुतूहलं कलयति** । यथाऽऽत्मादृक्शुक्रशून्यषण्ढत्वेन नपुंसकस्य सन्तानाजनकत्वेऽपि ततः कुमारार्थी पुत्रोत्पादाभिलाषः यादृशो भवति तादृश एवाभिलाषो जन्यात्मपरिमाणवादिनां, आत्मनो निरवयवत्वेन एकत्वान्य-सङ्ख्या-महत्त्व-प्रचयशून्यत्वेऽपि जन्यपरिमाणाश्रयत्वकाङ्क्षणात् । **तेन** कारणं सावधानं **प्रतिश्रूयतां, विश्वाङ्गिनां** = सकलजनानां यत् **पिपासावशात् मुकुलितं** जातं तत् **श्रवः** = श्रोत्रयुगलं **विभुत्वं** = आत्मवैभवं अभिकाङ्क्षतां नैयायिकानां **जयानकरवः** = जयकारः **श्रयतु** । नित्यमहत्त्वस्य स्वरूपासिद्धत्वापनयनेनात्मनः सर्वव्यापित्वसाधनादिति गौतमीयाशयः ।।१३।।

अत्र = आत्मनो नित्यमहत्त्वहेतुना विभुत्वप्रतिपादने स्याद्वादिभिः उच्यते **अत्र** = आत्मनि **परिमाणं किं** = कुतो हेतोः **नापकृष्यते** ? नित्यमहत्त्वेऽप्यपकृष्टपरिमाणवत्त्वे बाधकाभावेनाऽप्रयोजकत्वात् । न हि नित्यमहत्त्वमस्तु मास्तु विभुत्वं तर्हि को दोषः ? इति पर्यनुयोगे नैयायिकेन किञ्चिद्वक्तुं पार्यते । न च तस्यापकृष्टत्वे जन्यत्वापत्तिर्बाधिका, गगनमहत्त्वावधिकापकर्षस्य बहुत्वादिजन्यतावच्छेदकत्वादिति **वाच्यम्, यतः** तस्य विभुत्वे जन्यत्वापत्तिर्बाधिका, परमाण्वपकर्षावधिकोत्कर्षस्य बहुत्वादि-जन्यतावच्छेदकत्वादित्यस्याऽपि सुवचत्वेन **अपकर्षः** गगनमहत्त्वावधिकापकर्षः **इवोत्कर्षोऽपि** परमाण्वपकर्षावधिकोत्कर्षोऽपि

के तीन कारण हो सकते हैं (१) बहुत्व = स्वाश्रयावयवगत बहुत्वसंख्या, जैसे द्व्यणुकपरिमाण के प्रति द्व्यणुकावयवपरमाणुगत द्वित्वसंख्या, (२) महत्त्व = स्वाश्रयावयव का महत्परिमाण, जैसे घटपरिमाणाश्रय घट के अवयव कपालद्वय का परिमाण घटपरिमाण का कारण होता है, (३) प्रचय = शिथिलसंयोग, जैसे तूलिकापरिमाण के प्रति इसके आश्रय के अवयवों का शिथिलसंयोग हेतु होता है ।।१२।।

मगर आत्मा निरवयव होने की वजह न तो आत्मा में स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से महत्परिमाण रह सकता है और न तो प्रचय = अवयवशिथिलसंयोग रह सकता है । परिमाण के जनक तीनों कारणों में से एक भी कारण आत्मा में न रहने पर भी आत्मा के परिमाण में जन्यत्व की कल्पना हिजड़े से बेटे के जन्म की कुतूहलता की तुलना करती है । इसलिए पिपासा की वजह वैभव-ऋद्धि की कामना करनेवाले विश्वजन के बंध हो गये हुए कर्ण विभुत्व की कामना करनेवाले नैयायिकों के जयानकरव = विजयध्वनि का आश्रय करें, क्योंकि जन्यमहत्त्व की आत्मा में कथमपि सिद्धि नहीं हो सकती है और पारिशेषन्याय से सिद्ध होता हुआ नित्य महत्त्व विभुत्व का व्याप्य होता है । इसलिए आत्मविभुत्ववादी को ही विजयमाला प्राप्त होगी ।।१३।।

❀ नित्यमहत्त्व विभुत्वव्याप्य नहीं है - स्याद्वादी ❀

स्याद्वादी :- यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा में नित्य महत्त्व होने पर भी उसमें अपकृष्ट परिमाण मानने में क्या बाधा है ? इस प्रश्न का कोई प्रत्युत्तर न होने से उक्त अनुमान अप्रयोजक है, विपक्षबाधकतर्क शून्य है । यदि यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'आत्मा के परिमाण को अपकृष्ट परिमाण मानने पर उसे जन्य मानना होगा, क्योंकि गगन के परिमाण से अपकृष्ट परिमाण त्र्यणुकपरिमाण की भाँति अवयवगत बहुत्वादि से जन्य है' <— तब तो तुल्य युक्ति से स्याद्वादी की ओर से यह भी कहा जा सकता है कि – 'आत्मा के परिमाण को उत्कृष्ट = परममहत् मानने पर उसे जन्य मानना होगा, क्योंकि परमाणु के परिमाण से उत्कृष्ट परिमाण अवयवगत बहुत्वादि से जन्य है, जैसे त्र्यणुकपरिमाण' –। इस तरह तो अपकर्ष की भाँति उत्कर्ष भी परिमाण को जन्यता से अवच्छिन्न = विशिष्ट बना देगा । तब तो आत्मविभुत्वपक्ष में भी वह समस्या ज्यों की त्यों बनी रहेगी ।।१४।।

अणोरपरिमाणत्वादपकर्षस्तथेति चेत् ? व्योम्नोऽप्यपरिमाणत्वादुत्कर्षः किं न तादृशः ॥१५॥
विनेयत्तां समं सत्त्वं काष्ठाप्राप्ततया द्वयोः । ततो जातिविशेषेण जन्यतैवानुशील्यताम् ॥१६॥
वस्तुतो जन्यमेवेदं प्रचयात् प्रतिजानीते । प्रदेशैर्जाग्रतो जन्तोः शाश्वतैकत्वशालिभिः ॥१७॥

जयलता

जन्यतां = बहुत्वादिनिरूपितजन्यतां, **अवच्छिन्द्यात्** = नियच्छेत्, गगनमहत्त्वावधिकापकर्षस्येव परमाण्वपकर्षावधिकोत्कर्षस्यापि बहुत्वादिजन्यतावच्छेदकत्वेऽविनिगमादात्मविभुत्वपक्षेऽपि प्रागुक्तदोषप्रच्यव इति भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिरिति न्यायपात इति स्याद्वादिनोऽभिप्रायः ॥१४॥

कारिकार्द्धेन नैयायिकः समाधत्ते - **अणोः अपरिमाणत्वात्** = स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन परिमाणशून्यत्वात् **अपकर्षः** = गगनमहत्त्वावधिकापकर्षः **तथा** = बहुत्वादिजन्यतावच्छेदक इत्यात्मपरिमाणस्याऽपकृष्टत्वे जन्यत्वापत्तिरिति **चेत्** ? स्याद्वादी प्रतिबन्द्या समाधत्ते - **व्योम्नः अपि अपरिमाणत्वात्** = स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन परिमाणरहितत्वात्, **उत्कर्षः** = परमाण्वपकर्षावधिकोत्कर्षः **किं** = कस्माद्धेतोः **न तादृशः** = न बहुत्वादिजन्यतावच्छेदकः ? युक्तेरविशेषात् । ततश्चात्मविभुत्वेऽपि जन्यत्वापत्तिः तदवस्थैव । **एतेन** परमाण्वपकर्षावधिकमहत्त्वस्य गगनपरिमाणसाधारण्यादपि न कार्यतावच्छेदकत्वमित्यपि **प्रत्युक्तम्**, गगनमहत्त्वावधिकापकर्षस्य परमाणुपरिमाणसाधारण्यतया न कार्यतावच्छेदकत्वमित्यस्य तुल्यत्वात् ॥१५॥

अत **इयत्तां विना द्वयोः** गगनपरमाणुपरिमाणयोः **काष्ठाप्राप्ततया** = विश्रान्ततया **समं सत्त्वम्** । **ततो जातिविशेषेण** परमाणुपरिमाणात्मपरिमाणगगनादिपरिमाणव्यावृत्तवैजात्येन घटादिपरिमाणसाधारणेन **एव जन्यता** – बहुत्वादिनिष्ठजनकता-निरूपितजन्यता **अनुशील्यतां** = विमृश्यताम् । ततो न नित्यमहत्त्वाश्रयत्वेऽपि आत्मनो विभुत्वं किञ्चित्साधकं न वाऽपकृष्टपरिमाणाश्रयत्वे बाधकं किञ्चित् तस्याऽपकृष्टत्वेऽपि बहुत्वादिजन्यतावच्छेदकशून्यत्वात् ॥१६॥

इदञ्चाभ्युपगमवादेनोक्तं, **वस्तुतः जन्यमेव इदं** = आत्ममहत्परिमाणं, कुतो जन्यत्वमस्य ? इत्याह **प्रचयात्** = शिथिलाख्यसंयोगात् इति स्याद्वादिनः **प्रतिजानते** । **न च** निरवयवे आत्मनि कथं प्रचयसम्भव इति **वाच्यम्**, तस्य लोकाकाशप्रदेशप्रमिताऽसङ्ख्यप्रदेशानामभ्युपगमात् । तदेवाह - **शाश्वतैकत्वशालिभिः प्रदेशैः जाग्रतः** = अवष्टब्धस्य जन्तोरिति । **एतेन** विनाऽव-

---

यदि नैयायिक की ओर से समाधानार्थ यह कहा जाय कि —> 'अणु के कोई अवयव नहीं होने से स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से अणु परिमाणशून्य होने की वजह गगनमहत्त्वावधिक अपकर्ष तथा = बहुत्वादिजन्यतावच्छेदक बनता है । इसलिए आत्मपरिमाण को परममहत् न मानने पर उसमें जन्यता की आपत्ति आयेगी । अतएव आत्मा विभुपरिमाणवाली सिद्ध होती है' <— तो तुल्ययुक्ति से स्याद्वादी की ओर से कहा जा सकता है कि - 'गगन के कोई अवयव नहीं होने से वह स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से परिमाणशून्य होने की वजह परमाणुअपकर्षावधिक महत्त्व तादृश = बहुत्वादिजन्यतावच्छेदक बनता है । तब तो आत्मा के परिमाण को परममहत् = विभु मानने पर उस परिमाण में जन्यता की आपत्ति ईंट कर खड़ी रहेगी । मतलब कि जिस दोष का आपादन शरीरपरिमाणात्मवादी के मत में आत्मविभुत्ववादी की ओर से किया जाता है उस दोष से मुक्त होना उसके लिए भी मुश्किल बनता है ॥१५॥

मगर अणुत्व-महत्त्व को छोड़ कर गगनपरिमाण एवं अणुपरिमाण दोनों ही काष्ठाप्राप्त = विश्रान्ततारतम्यवाले होने की वजह दोनों समान ही है । इसलिए न तो गगनमहत्त्वावधिक अपकर्ष को जन्यताअवच्छेदक माना जा सकता है और न तो परमाणुअवधिक उत्कर्ष को । इसलिए मुनासिब तो यही है कि जातिविशेष से ही बहुत्वादिजन्यता का परिमाण में स्वीकार किया जाय । अर्थात् परिमाणनिष्ठ जातिविशेष को ही बहुत्वादिजन्यतावच्छेदक मानना युक्त है । वह वैजात्य = जातिविशेष जैसे गगनपरिमाण, परमाणुपरिमाण आदि से व्यावृत्त होता है ठीक वैसे ही आत्मपरिमाण से भी व्यावृत्त है - ऐसा माना जा सकता है । अतएव आत्मा में नित्य महत्त्व के होने पर भी अपकृष्ट परिमाण का स्वीकार करने पर उस अपकृष्टपरिमाण में जन्यता की आपत्ति को अवकाश नहीं हो सकती ॥१६॥

यह तो अभ्युपगमवाद से बात की गई है । वस्तुस्थिति तो यह है कि आत्मा का महत्त्व नित्य नहीं है किन्तु जन्य ही है । इसलिए विभुत्व को सिद्ध करनेवाला नित्य महत्त्व हेतु भी स्वरूपासिद्ध है । तब आत्मा में विभुत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है । यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि —> 'आत्मा का महत्त्व जन्य कैसे माना जा सकता है ?' <— क्योंकि

स्यातां सङ्कोचविस्तारौ जीवपुद्गलयोर्द्वयोः । नामकर्मोदयादेव नैकस्यातिप्रसङ्गतः ॥१८॥

स्मर्यते –> 'अविरलगलल्लालाजालावलीढमुखः शिशुः, परिणतदृढस्कन्धद्वन्द्वो युवाऽपि स जायते । पतितदशनो वृद्धः प्रायः स एव कदाचन प्रथयति किल स्वाधीनत्वं भवे क इवाङ्गभृत् ॥१९॥

इत्थञ्च तनुमानत्वे परिमाणभिदात्मनः । भेदापत्तिः परास्तैव स्याद्वादानतिलङ्घिनी ॥२०॥

❀ जयलता ❀

यथमात्मनि नयमिदमिति यदुक्तं परेण **तन्निरस्तम्**, स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेनात्मनि बहुत्वसत्त्वान्न जन्यापकृष्टपरिमाणाऽसम्भवः । अत एवापकृष्टमहत्त्वं प्रत्यनेकद्रव्यवत्त्वस्य प्रयोजकत्वमित्युक्तावपि न क्षतिः, असङ्ख्यप्रदेशात्मकावयवानामबाधात् । **एतेन** 'सादित्वे तस्य जन्यत्वापत्तिर्हेतुस्तत्र तु कोऽपि न' इत्यादि **परास्तम्** ॥१७॥

प्रदीपप्रभाया इवात्मनः संकोचविकासाभ्यां परिमाणभेदस्याभ्युपगमेन सर्वथा नित्यमहत्त्वाऽसिद्धेर्नात्मवैभवसिद्धिः किन्तु शरीरावच्छेदेनैव तद्गुणोपलब्धेः कायमानत्वमेव युक्तमिति साधयितुमुपक्रमते स्याद्वादी- **द्वयोरेव जीवपुद्गलयोः** अन्योन्यानुविद्धयोः आत्म-शरीरयोः **नामकर्मोदयात् सङ्कोच-विस्तारौ स्याताम्**, न **एकस्य** = जीवस्य शरीरस्य वा सङ्कोचविकासौ, अविनिगमाद्, अतिप्रसङ्गतश्च ॥१८॥

ननु कायमानत्वे आत्मनः परिमाणभेदेऽनित्यत्वापत्त्या एकं जीव्यतोऽपरश्च्युतिरित्याशङ्कायामाह- **स्मर्यते** चेति । **अविरलेति** स्पष्टार्थम् । बालमध्यमपर्यन्तावस्थायां 'स एवाहमि'ति प्रत्यभिज्ञानान्नात्मनः क्षणिकत्वापत्तिः शरीरभेदेऽपि शरीरिणोऽभेदात् श्याम-रक्ततादशायां घटवदिति कारिकातात्पर्यम् ॥१९॥

तदेव दर्शयति-**इत्थञ्च परिमाणभिदात्मनः** = परिमाणभेदं भजतो जीवस्य **तनुमानत्वे** = शरीरपरिमाणत्वे सिद्धे आत्मनः सर्वथा **भेदापत्तिः परास्तैव**, अत्र हेतुविशेषणमाह-**स्याद्वादानतिलङ्घिनी**, परिमाणभेदेऽपि परिणामिनोऽभेदेन स्याद्वादानतिलङ्घनात् ॥२०॥

प्रचय से वह जन्यस्वरूप मालूम पडता है । उपचय और अपचय से आत्मपरिमाण में जन्यता का अपलाप नहीं किया जा सकता । आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं, जो नित्य हैं एवं नित्य एकत्वसंख्यावाले हैं । अतः अवयवगत बहुत्वसंख्या से आत्मपरिमाण की उत्पत्ति मानी जा सकती है ॥१७॥

जीव संसारी अवस्था में कर्मों से आवृत होता है । अष्टविध कर्मों से आवृत जीव के नामकर्मोदय की वजह शरीर और आत्मा दोनों का ही संकोच एवं विस्तार होता है, किसी एक का नहीं । जीव या शरीर में से किसी एक का विस्तार होने पर तो अनेक दोषों की आपत्ति आयेगी, जैसे बालक के शरीर का विस्तार होने पर भी बालक की आत्मा का विस्तार न हो तब तो विस्तारवाले अवयवों में जीव न रहेगा । फलतः बढे हुए अवयव में दाह आदि का अनुभव न हो सकेगा । यदि केवल आत्मा का विस्तार माना जाय तब तो आत्मा का शरीर ८० साल होने पर भी जन्मावस्थावाला ही रहेगा । अतः नामकर्मोदय से शरीर एवं आत्मा दोनों का विस्तार मानना न्याय्य है । ठीक इसी तरह नामकर्मोदय से शरीर एवं आत्मादोनों के संकोच के बारे में भी स्वयं विचार करना चाहिए ॥१८॥

कहा भी गया है कि सतत गिरनेवाली लाला की आवली से व्याप्त मुँहवाला बालक ही कालान्तर में दृढ एवं परिणत दो कंधेवाला युवान बनता है और कदाचित् वही वृद्ध बनता है, जिसके मुँह के दांत भी टूट गये हैं एवं इन्द्रियाँ भी शिथिल हो गई है । सचमुच यह बात सूचना देती है कि इस संसार में कौन प्राणी स्वाधीन है ? किसी भी जीव की युवा अवस्था आदि स्वाधीन नहीं है ॥१९॥

उपर्युक्त कथन से भली भाँति जान पडता है कि एक ही जीव शिशु आदि विविध अवस्था को धारण करता है, भले ही उसका परिमाण भिन्न भिन्न बनता है । परिमाण के बदलने पर भी परिमाणी = परिमाणवाला = परिमाणाधिकरण बदलता नहीं है । इसलिए यहाँ यह शंका कि –> 'आत्मा कायपरिमाणवाली होने पर आत्मा का शरीर छोटा-बडा होने पर आत्मपरिमाण में भेद होने की वजह आत्मा भी बदल जायगी । पूर्विल आत्मा से भिन्न नवीन आत्मा की उत्पत्ति को मान्य करनी होगी' <– भी निरस्त हो जाती है, क्योंकि आत्मपरिमाणभेद का भी हम स्याद्वाद का अवलम्बन कर के स्वीकार

विशिष्टोत्पादसंवित्तिर्विशेष्ये बाधके सति । विशेषणोपपन्ना किं विशिष्टाधिक्यवादिनाम् ॥२१॥
ननु नियामकमेव हि वैभवं वदति कष्टमदृष्टमिहात्मनः ।
इतरथा प्रतिगृह्णत तं विना कथमहो जगति(ती ?) व्यवतिष्ठते ॥२२॥

❀ जयलता ❀

ननु 'रक्तो जात' इत्यादिप्रत्ययवत् 'युवा जात' इत्यादिप्रतीतिः सविशेषणौ हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामतः सति विशेष्यबाधे इति न्यायेन विशेषणावगाहित्वमेव, विशेष्ये आत्मनि प्रागभावप्रतियोगित्वादेर्बाधादिति जीवस्यैकान्तेन नित्यत्वमेव विशिष्टे आत्मन्युत्पादपदार्थान्वये तु 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते' इतिन्यायेन शुद्धे आत्मन्यपि तदन्वयः स्यादित्याशङ्कायां स्याद्वाद्याह - **विशिष्टोत्पादसंवित्तिः** = युवाद्यवस्थाविशिष्टात्मोत्पादसंवित्तिः, विशेष्ये आत्मनि प्रागभावप्रतियोगित्वाद्यवगाहित्वे तु **बाधके सति** = ऐकान्तिकात्मविनाशनदुत्पादकर्त्वपणादिबाधके सति, विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत इति वादिनां नैयायिकानां नये **विशेषणोपपन्ना** = रक्ताद्युत्पादावगाहित्ववत् युवादिशरीरात्मकविशेषणोत्पादावगाहित्वेनोपपन्ना इति **किं विशिष्टाधिक्यवादिनां** मते तथा स्यात् ? नैव स्यात् । यथा सार्वभौमादिभिः विशिष्टं शुद्धादतिरिक्तं स्वीक्रियते तथा स्याद्वादिभिरपि कथञ्चिदतिरिक्तं तदिष्टम् । ततश्च विशेषणोत्पादे विशेषणविशिष्टत्वेन विशेष्यस्याऽपि प्रागभावप्रतियोगित्वमव्याहतमेव । न चैवमात्मनोऽनित्यत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, विशिष्टोत्पादस्य विशिष्टध्वंसप्रयोजकत्वेनाऽविशिष्टावस्थानाऽप्रतिपन्थित्वेन द्रव्यपर्यायाद्यादेशेनात्मनो नित्यानित्यत्वोपपत्तेः । सर्वथा विशिष्टानतिरिक्तत्वनये तु नारकशरीरविशिष्टात्मनि तदवस्थे सुखाभावः कष्टसाध्य इत्यधिको विस्तर **आत्मख्यातौ** ॥२१॥

अत्र नैयायिकः कारिकाविवेकेणात्मनो विभुत्वं साधयति ननु अहो **कष्टं** तत् यत इह **आत्मनः अदृष्टं एव नियामकं** = वैभवनियामकं सत् स्वनियम्यं **वैभवं** = आत्मविभुपरिमाणं **वदति** इति भो ! स्याद्वादिनः यूयमिदं **प्रतिगृह्णत** । **इतरथा** = आत्मनोऽविभुत्वे **तं** = आत्मवैभवं **विना** कथं जगति क्वचिदपि शुद्धस्यैकदेशोत्पादक्षितिनियतव्यवस्था व्यवतिष्ठते ? नैवेत्यर्थः । अदृष्टस्य स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मजनकत्वादिति हेतोरित्यादिकमनुपदमेव 'ननु यदी'ति (५) श्लोकव्याख्याने भावितमेव ॥२२॥

करते हैं । पूर्वपरिमाणविशिष्ट आत्मा का नाश होने पर भी उत्तर परिमाणविशिष्टरूप से आत्मा का अवस्थान अबाधित ही है । इसलिए आत्मा का कथंचित् भेद = नाश होता है, सर्वथा नहीं । इसलिए आत्मा में क्षणिकत्व की आपत्ति को अवकाश नहीं है ॥२१॥

यहाँ नैयायिक की यह शंका कि —> ''आत्मा और शरीर तो जल और अनल की भाँति भिन्न है । अतः 'चैत्रः युवा जातः' इत्यादि **प्रतीति में** भासमान उत्पत्ति का प्रतियोगी तो युवावस्थावाला शरीर होगा न कि चैत्रात्मा, क्योंकि आत्मा तो नित्य होने की वजह **प्रागभाव** का प्रतियोगी ही नहीं होने से आद्यक्षणसम्बन्धस्वरूप उत्पत्ति का अन्वय आत्मा में बाधित है । यह एक न्याय है कि जब विशिष्ट विधान या निषेध किया जाता है तब विशेष्य में विधान या निषेध का अन्वय करने में बाध होने पर उसका अन्वय केवल विशेषण में होता है जैसे 'रक्त उत्पन्नः' इत्यादि स्थल में पूर्व उत्पन्न घट में पुनः उत्पत्ति का अन्वय बाधित होने से केवल रक्त रूप में ही उत्पत्तिपदार्थ का अन्वय होता है । ठीक वैसे ही आत्मा में उत्पत्तिपदार्थ का अन्वय बाधित होने से केवल युवाशरीरात्मक विशेषण में ही होगा । मतलब कि आत्मा तो सर्वथा नित्य है । किसी भी तरह उत्पन्न नहीं होती है । यदि ऐसा न माना जाय तब तो 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते'न्याय से विशिष्ट में उत्पत्तिपदार्थ का अन्वय करने पर शुद्ध आत्मा में भी उत्पत्ति की आपत्ति आयेगी'' <— भी निराधार है, **क्योंकि हम स्याद्वादी विशिष्ट को शुद्ध से अतिरिक्त मानते हैं** । विशिष्ट और शुद्ध पदार्थ परस्पर भिन्न हैं । इसलिए **हमारे मतानुसार** 'युवा जातः' इस बुद्धि को सिर्फ विशेषण में उत्पत्तिपदार्थ का अन्वय कर के उपपन्न नहीं की जा सकती, क्योंकि युवावस्थाविशिष्ट आत्मा में उत्पत्तिपदार्थ का अन्वय किया जा सकता है । विशिष्ट शुद्ध से भिन्न होने की वजह युवाशरीरविशिष्ट आत्मा में उत्पत्तिपदार्थ का अन्वय करने पर शुद्ध = विशेषणविनिर्मुक्त आत्मा में उत्पत्ति की आपत्ति को अवकाश नहीं रहता है, क्योंकि विशिष्ट रूप से उत्पत्ति का प्रतियोगी होने पर भी आत्मत्वेन उत्पत्ति का अप्रतियोगित्व आत्मा में अबाधित रहता है । इसलिये हम स्याद्वादियों के मतानुसार आत्मा में नित्यानित्यत्व अच्छी तरह संगत होता है ॥२१॥

नैयायिक :- अहो कष्टं ! अदृष्ट ही आत्मवैभव का नियामक है और वही आत्मवैभव को बोलता है - बताता है । फिर भी आप स्याद्वादी आत्मा के विभु परिमाण का अपलाप कर रहे हैं ! मगर आत्मा के विभु परिमाण का स्वीकार किये बिना जगत कैसे व्यवस्थित रह सकेगा ? जगत की व्यवस्था कैसे उपपन्न हो सकेगी ? यह तुम ही बताओ ! ॥२२॥

हुतघृतमिलज्ज्वालामालाजटालमहानले(?ल)लो, ज्वलति न तिरो नाधो नोर्ध्वं न धावति तूद्धतः । चरति पवनस्तिर्यग्नाधो न चाम्बरसञ्चरो न खलु नियामकाद्दृष्टाकृष्टां गतिं हि विमुञ्चति ॥२३॥

अत एव तत्र कर्मणि संयोगोऽदृष्टशालिनो भणितः ।
ध्रुवमसमवायिकारणमात्मन इति मन्यतामेतत् ॥२४॥

❀ जयलता ❀

किञ्च देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तो गोमहिषादयो देवदत्तविशेषगुणाकृष्टाः तं प्रत्युपसर्पणत्वाद्ग्रासादिवत् । ग्रासो हि देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्देवदत्तविशेषगुणेन प्रयत्नसंज्ञेनाकृष्यमाणो दृष्टः । ततः पश्वादयोऽपि तथैव युक्ता इति तदाकृष्टिहेतोर्गुणस्य सिद्धिः । न चा प्रयत्नो तेषां तेन गुणेनाकर्षणं सम्भवतीति तैः तद्गुणस्य प्रागिसिद्धिः । तथा देवदत्ताङ्गनादिकं देवदत्तगुणपूर्वकं कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्, ग्रासादिवत् । कार्यदेशे च सन्निहितं कारणं कार्यं जन्मनि व्याप्रियते नान्यथा, अतिप्रसङ्गात् । अतः तदङ्गनादिकार्यप्रादुर्भावदेशे तत्कारणजनन्यादिवत् देवदत्तगुणसिद्धिः । यत्र च गुणाः प्रतीयन्ते तत्र तद्गुण्यप्यनुमीयते तमन्तरेण तेषामनुपपत्तेः । स्वाश्रयसंयोगापेक्षाणां गुणानां आश्रयान्तरे कर्मारम्भकत्वोपपत्तेश्चाग्नेरूर्ध्वज्वलनादिकमपि कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वेन तद्विशेषगुणकारितमित्यनुमानात्तत्राऽदृष्टसिद्धिः स्वाश्रयमात्मानमनुमापयतीति वैभवमात्मनो मन्यतामित्याशयेन नैयायिक आह **हुतघृतेत्यादि** । मूलादर्शे 'महानिलो ज्वलति' इति पाठः । वस्तुतः 'महानलो ज्वलती'ति पाठेन भवितव्यम् । महानलः तिरो न ज्वलति, अधो न ज्वलति, उद्धतः सन् ऊर्ध्वं न धावतीति न, किन्तु धावत्येव शेषं तु विभावितमेव ॥२३॥

अत एव = एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वस्य स्वाश्रयसंयुक्ताश्रयान्तरानुयोगिककर्मारम्भकत्वादेव, **तत्र कर्मणि** = ज्वलनपवनोपसर्पणादिकर्मत्वावच्छिन्नं प्रति, ध्रुवं **अदृष्टशालिनः** = अदृष्टाश्रयस्य **आत्मनः** संयोगः **असमवायिकारणं** इति **मन्यतां एतत्** = आत्मनो विभुत्वम् । अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति नैयायिकाशयः ।

अत्र सोपयोगित्वात् प्रथमगुणगपरीक्षायाः **श्रीवादिदेवसूरिश्लोकाः** प्रदर्श्यन्ते । तदुक्तं **स्याद्वादरत्नाकरे** --> तदेतदफलं सर्वं तृषे कूपिकर्मवत् । निर्निमेषपरीक्षाख्यचक्षुषा लक्ष्यते बुधैः ॥१॥ तथाहि शरीरमात्मना तद्योगः शरीरं युक्तमात्मना । आत्मा शरीरसंयुक्त आत्मांशो वा तथाविधः ॥२॥ देवदत्तश्चनेत्यादिप्रयोगः प्राचि कथ्यते । इत्युक्तोऽभेति षड्भेदी षण्मुखस्येव षण्मुखी ॥३॥ शरीरं चेत्तदा सिध्येत्तदेव व्याप्तिमत्तव । नात्मा तथा च जातोऽयं पिपासोः पयःकागमः ॥४॥ अथात्मा तत्र नित्यत्वव्यापित्वाख्यधर्मवत् यतः । आकृष्यमाणवस्तूनां विद्यते देशकालयोः ॥५॥ न चामूदृगात्मानं प्रति कस्यापि सर्पणम् । युज्यतेऽत्यन्तमाश्लिष्टं यथा मातुः शिशुं प्रति ॥६॥ तथाहि - अर्थोऽन्यदेशोऽपरदेशमर्थं प्रति प्रयातीह यथा शरादिः । यद्वाऽन्यकालोऽपरकालनेतं यथा घटादीन् प्रति भूमिकादिः ॥७॥ एकश्च यत्प्रोक्तमिहानुमाने विशेषणं धर्मिणि पक्षमाध्यम । तथापि हेतुः सकलं तदेतत्तस्य पक्षे स्वविकल्पनात्मम् ॥८॥ नापि तत्त्वात्मसंयोगपक्षः सङ्गतिमङ्गति । यतो गुणत्वम् पोऽयमिष्यते कणभुक्सुतैः ॥९॥ युक्तो गुणो न चैकस्मिन्गुणानां निर्गुणत्वतः । तथाप्याकृष्टिकृत्तस्मिन्नदृष्टं तत्कृतो भवेत् ॥१०॥ षष्ठप्रकारं पुनरात्मनोंऽशः सतात्त्विकः स्यात्किमतात्त्विको वा । अतात्त्विकश्चेत्कथमत्र सिध्येत्र तात्त्विको नैव भवद्गुणः सः ॥१२॥ तादृशांशगुणनिर्मिता ततः प्रेत्यतापि परिकल्पिता भवेत् । कल्पिताभिरनिर्गिता कथं चतात्त्विका किमिह तिष्ठतारिति भोः ॥१३॥ स्वकृतं हन्त वैशेषिकेण त्वया व्यक्तमेवं च नाथागतं दर्शनम् । आत्मसक्तः प्रदेशस्ततोऽतात्त्विकः कोल्प्यमानः कथं कीर्तये कल्पनाम् ॥१४॥ तात्त्विकश्चेदयं नोऽथवा भेदवान्स्यादयं तावदाद्यो न पक्षः क्षमः । प्राक्तनात्मप्रकारप्रतिक्षेपकृत्प्रपञ्चनिश्शङ्कितादोषदोषाश्रितः ॥१५॥ भिन्नं तं चेदाश्रयेथा-

हम नैयायिक तो कह सकते हैं कि घी डालने से परस्पर मिलित ज्वाला की श्रेणी से व्याप्त महाकाय अग्नि न तो तिर्यक् जलती है, न तो अधोदिशा के अभिमुख जलती है । मगर उद्धत होकर ऊर्ध्व दिशा के अभिमुख जलती नहीं है - ऐसा नहीं है । मतलब कि अग्नि की केवल ऊर्ध्व जलन क्रिया होती है । एवं आकाश में घूमनेवाला पवन अधोगति नहीं करता है किन्तु तिर्यक् दिशा में ही गति करता है । ऐसी प्रतिनियत दिशा में गति ही अपने नियामक अदृष्ट को बता रही है, क्योंकि नियामक अदृष्ट से आकृष्ट गति का कभी भी अग्नि, पवन अतिक्रमण नहीं करता है ।।२३।।

इस तरह गति अदृष्ट से नियम्य होती है यह सिद्ध होने से ही क्रिया = गति के प्रति अदृष्टवाले जीव के संयोग को कर्म का असमवायिकारण अवश्य मानना ही होगा । बिना असमवायिकारण के तो किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है । भोक्ता के अदृष्ट से गतिमान अग्नि आदि की गति जहाँ होती है वहाँ स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से अदृष्ट (पुण्य-पाप) एवं

शृणुत पूर्वमपूर्वमिहेदृशं ननु विलक्षणमेव समीक्ष्यते ।
अयि ! विलक्षणतेव पणाङ्गना, परकटाक्षविलक्षणवीक्षिणी ॥२५॥
कुलवधूरिव नायकमात्मनः सुरतरङ्गतरङ्गतरङ्गिणी ।
यदि न मुञ्चति हेतुमियं न तत्कथमहो न कृतिं प्रति चेष्टते ॥२६॥

॥ जयलता ॥

स्तदानीं पश्चादिः स्यात्तद्गुणाकृष्ट एव । एवञ्चैतस्यैव सत्यात्मभावे किं कर्तव्यं भोस्तदन्येन पुंसा ॥२६॥ (प्र.न.त. ७/८ स्या.र. पृ.९०४) इत्यादिकम् । अधिकं ततोऽवसेयम् ।

अत्रैव प्रकरणकारः पूर्वं कारिकाभिर्कोपदर्शितं नैयायिकमलमपाकर्तुं कारिकायुग्मेनोपक्रमते - **शृणुतेति** । **पूर्वं** = प्रथमं भो ! नैयायिका ! यूयं **शृणुत**. अदृष्टं हि स्वाश्रयसंयोगेनानले इव पवनेऽपि वर्तते । ततः तत्राऽप्यूर्ध्वगमनं स्यादेव । एवं पवनतिर्यग्गमनकारणाऽदृष्टस्य स्वाश्रयसंयोगेनाऽनलेऽपि सत्त्वेन तत्रापि तिर्यग्गतिः स्यादेव । अतः तन्निराकरणाय त्वया स्वी-कर्तव्यमेव यदुत अनलोर्ध्वगमनादिकारणादृष्टापेक्षया **विलक्षणमेव अपूर्वं** – अदृष्टं **इह** = अनिलतिर्यग्गमनादौ **ईदृशं** = कारण-मिति **समीक्ष्यते** । परन्तु **अयि** ! मुग्धाः ! **परकटाक्षविलक्षणवीक्षिणी** = पतित्वसम्बन्धेनाऽसम्बद्धस्य परस्य कटाक्षे या विलक्षणता तस्या अवलोकिनी सम्पादिका च **पणाङ्गना** = वेश्या इव, अपूर्वनिष्ठा **विलक्षणता** अपि स्वाश्रयसमवायिसंयोगसम्बन्धे-नाऽसम्बद्धस्य गत्यादौ या विलक्षणता ऊर्ध्वाभिमुखत्वादिलक्षणा तस्याः सम्पादिका स्यादेव । विलक्षणमदृष्टमेवेदृशं यत् असम्बद्धे-ऽपि नियतकार्यादिकमुत्पादयेदित्येव कल्पयितुमर्हति । तथा च नात्मविभुत्वसिद्धिरिति स्याद्वादिनो गूढोऽभिप्राय उन्नीयते ॥२५॥

नन्वियं विलक्षणता न पणाङ्गना किन्तु कुलवधूरेवेति नैयायिकाशङ्कायां स्याद्वादी वदति - यदि **सुरतरङ्गतरङ्गतरङ्गिणी** = कामकेलिकलाकटाक्षकल्लोलप्रवाहिनी **कुलवधूरिव इयं** = विलक्षणता **आत्मनः** = स्वस्य **नायकं हेतुं** = गमनादिकारणं **न मुञ्चति, तत्** = तस्मात् **कथं नु अहो ! कृतिं प्रति न चेष्टते** ? इत्यन्वयार्थः । अयं भावः यथा कुलजा स्वस्वामिपरिहारिणी नैव भवति तथैयं विलक्षणता ऊर्ध्वगमनादिकारणताव्यावृत्ता नैव भवतीति स्वीक्रियते तदा सा विलक्षणता कथमदृष्टमिव कृतिं प्रति न चेष्टते ? अदृष्ट इव कृतावपि गमनादिहेतुत्वस्याऽविशेषात् । ततश्च कृतेरपि तेनैव सम्बन्धेन कारणता प्राप्ता । न चेष्टापत्ति-रेवेति वाच्यम्, ध्यानदेशावस्थितानां प्रयत्नेन व्यवहिताऽस्पृष्टघटस्फोटनादेरदर्शनेन व्यभिचारात् । **न** चैतदन्यथानुपपत्त्यैवाऽदृष्टनियमे-नात्मविभुत्वसिद्धिरिति **वाच्यम्**, तस्यान्यथाप्युपपत्तिसिद्धत्वात् । न च कृतेरप्यदृष्टवत्पक्षत्वमिति न व्यभिचार इति वाच्यम्, तथा सति अयोगोलको धूमवान् वह्निमत्त्वस्यापि प्रमात्वापत्तेरिति दिक् ॥२६॥

समवाय सम्बन्ध से अदृष्टविशिष्ट आत्मा के संयोग की सिद्धि होती है । यह तब उत्पन्न हो सकता है यदि आत्मा को कायपरि-माणवाली न मान कर विभुपरिमाणवाली मानी जाय, क्योंकि अग्नि, पवन आदि भोक्ता के शरीर से दूर होते हैं। इस तरह आत्मा का विभु परिमाण ही सिद्ध होता है ॥२४॥

स्याद्वादी :- ओ नैयायिक ! पहले हम क्या कहते हैं वह सुनिये । सच बात यह है कि यहाँ वैसा विलक्षण ही अदृष्ट कारणविधया देखा जाता है । इसका कारण यह है कि आत्मविभुत्वपक्ष में जो अदृष्ट स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से अग्नि में रहता है वही पवन में भी उसी सम्बन्ध से रहता है । तब वह अग्नि की भाँति वायु में ऊर्ध्व गति ही क्यों न उत्पन्न करेगा? अतः मानना होगा कि अग्नि की ऊर्ध्व गति के कारणीभूत अदृष्ट से वायु की तिर्यग् गति का कारणीभूत अदृष्ट विलक्षण है। इस तरह जब विलक्षणता का अदृष्ट में स्वीकार करना नैयायिक के लिए आवश्यक ही है तब हम स्याद्वादी नैयायिक से यही कहते हैं कि जैसे पणांगना = वेश्या पतित्वसम्बन्ध से असम्बद्ध परपुरुष के कटाक्ष की विलक्षणता को देखती है ठीक वैसे ही विलक्षणता अपने आश्रय अदृष्ट से असम्बद्ध = अदृष्टविशिष्टात्माऽसंयुक्त अग्नि, वायु में गति की विलक्षणता - ऊर्ध्वाभिमुखत्व, तिर्यगभिमुखत्वादि का सम्पादन करेगी । इसमें क्या क्षति है ? मतलब कि अदृष्ट की विलक्षणता ही ऐसी है जिसकी वजह अदृष्ट स्वाश्रयाऽसंयुक्त वह्नि आदि में गतिविशेष को उत्पन्न करता है । तब आत्मविभुत्व की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? कथमपि नहीं होगी ॥२५॥

यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'जैसे कामक्रीडा की कला के तरंगवाली नदीतुल्य कुलवधू अपने नायक = स्वामी को छोडती नहीं है ठीक वैसे ही यह विलक्षणता भी हेतु को छोडती नहीं है यानी ऊर्ध्वज्वलनादिकारणतावच्छेदकीभूत विलक्षणता ऊर्ध्वज्वलनादि के कारण में ही रहती है' <— तब तो यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होगा कि विलक्षणता अपने आश्रयविधया अदृष्ट को पसंद करती है ठीक वैसे ही कृति प्रयत्न को क्यों पसंद नहीं करेगी ? कृति भी नैयायिक मतानुसार कार्यमात्र

कुलवधूरपि नेयमहो तव व्यभिचचार विचारय वारय ।
सभिदि रूपभिदैव निबन्धने न हि रिरंसति पूर्वविवोढरि ॥२७॥
तमेष तस्मान्नियमं स्वभावविजृम्भितं चारु चरीकरीति ।
सा हेतुता चेत्प्रकृते तथापि स्ववृत्तिरूपेण वरीवृधीति ॥२८॥

❀ जयलता ❀

अहो ! वस्तुत इयं = विलक्षणता **तव कुलवधूरपि** = ऊर्ध्वगत्यादिकारणत्वाऽपरिहारिणी **अपि न**, यतः सा **व्यभिचचार** तादृशविलक्षणताशालिनोऽदृष्टस्य द्वीपान्तरवर्तिमुक्ताफलोर्ध्वगमनक्रियाजनकत्वाभावेनान्वयव्यभिचारादिति त्वं यौग ! **विचारय** ।

यत्तु आत्मनोऽविभुत्वे नानादिग्वर्तिदहनादिषु ज्वलनादिक्रियाणां युगपददृष्टवदात्मसंयोगाभावाद् युगपदनुत्पत्तिप्रसङ्गः, आत्मगुणस्य साक्षात् क्रियाद्वारकस्याश्रयसंयोगेनैव क्रियाजनकत्वस्य प्रयत्नस्थले दृष्टत्वादिति प्राचां वचनं तत्तु 'जनयतु प्रयत्नो यथा तथा, अदृष्टं तु यथाकथञ्चित् परम्परया स्वाश्रयसंयोगादेव जनयति, अतिप्रसङ्गस्तु विभुत्वेऽपि तुल्य' इति ग्रन्थेन **शिरोमणि**नैव दूषितम् ।

अतो नैयायिकंमन्य ! अन्वयव्यभिचारं **वारय** = अपसारय । 'समवायेनोर्ध्वज्वलनत्वावच्छिन्नं वह्नेः स्वरूपविशेषेण हेतुत्वं कल्पयित्वाऽतिप्रसङ्गवारणं तु वृथैव विशिष्याऽदृष्टहेतुत्वप्रत्याशा' इत्याशयेन स्याद्वाद्याह - **सभिदि** = पवनादिभेदवति वह्नौ **रूपभिदा** = स्वरूपविशेषेण **एव निबन्धने** = ऊर्ध्वज्वलनादिकारणत्वे नैयायिकेन स्वीक्रियमाणे तु पूर्वप्रदर्शिता **विलक्षणता न हि** = नैव **पूर्वविवोढरि** = पूर्वं स्वाश्रयत्वेन प्रतिपन्नं अदृष्टं प्रति **रिरंसति** = रन्तुं आश्रयितुं इच्छति, तस्या विलक्षणताया वह्निनिष्ठत्वेऽपि वह्नेरूर्ध्वज्वलनाद्युपपत्तेः । अदृष्टस्य कारणत्वानभ्युपगमेऽपि वह्नेरेवोर्ध्वज्वलनं नान्यस्येति व्यवस्था स्यादेव, समवायेनोर्ध्वज्वलनत्वावच्छिन्नं प्रति स्वरूपविशेषावच्छिन्नस्यान्यत्राऽसत्त्वादिति भावः ॥२७॥

तस्मात् कारणात् **एषः** = 'स्वभावविशेषेणोर्ध्वज्वलनत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वविचारः, **स्वभावविजृम्भितं तं** = पूर्वाचार्यविदितं **नियमं** = कार्यकारणभावं **चारु चरीकरीति** = अत्यन्तं चारुतामापादयति । तदुक्तं **श्रीमल्लिषेणसूरिभिः** 'अथास्त्येव प्रमाणं वह्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनं चादृष्टकारितमिति चेत् ? न, तयोः तत्स्वभावत्वादेव तत्सिद्धेः, दहनस्य दहनशक्तिवत्' (अ.व्य.९, स्या.मं. पृ.१३०) इति ।

ननु **तथापि प्रकृते** = वह्नेरूर्ध्वज्वलनादौ **सहेतुता** तु अनिराकार्येति **चेत् ? न, स्ववृत्तिरूपेण** वह्नित्वादिना कारणवृत्तिधर्मेण ऊर्ध्वज्वलनादिनिरूपितकारणता **वरीवृधीति** = अत्यन्तं वर्धते सङ्कच्छत इति यावत् । समवायेनोर्ध्वज्वलनत्वावच्छिन्न

का कारण है ही । तब तो अर्थान्तर आदि दोष आदि उपस्थित हो जायेंगे ॥२६॥

मगर वस्तुस्थिति को लक्ष्य में लिया जाय तब तो यह विलक्षणता तुम नैयायिक लोगों की कुलवधू भी नहीं बन सकती है, क्योंकि वह व्यभिचारिणी है । इसका कारण यह है कि नैयायिकअभिमत विलक्षणता का आश्रय अदृष्ट जैसे स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से अग्नि में रहता है ठीक वैसे ही उसी सम्बन्ध से वही अदृष्ट पवन में भी रहता है फिर भी पवन में ऊर्ध्वगमन क्रिया नहीं होती है । इसलिए अन्वय व्यभिचार दोष अनिवार्य है । हे नैयायिक ! तुम यह सोचो और उसका निवारण करो । यदि उक्त अन्वय व्यभिचार दोष का वारण करने के लिए नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'जैसे ऊर्ध्वगमन में अदृष्ट कारण होता है ठीक वैसे ही स्वरूपविशेष भी प्रयोजक होता है । वह स्वरूपविशेष अग्नि में ही रहता है, न कि पवन में । इस तरह ऊर्ध्वगमन में स्वरूपविशेष से वह्नि को कारण मानने से उपर्युक्त अन्वय व्यभिचार का अवकाश नहीं रहता है । सामग्री के विरह में कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?' <— तब तो विलक्षणता, जो नैयायिक को कुलवधू के रूप में अभिमत है, अपने पूर्व स्वामी अदृष्ट को नापसंद करेगी । मतलब कि उक्त विलक्षणता की वह्नि में ही कल्पना की जा सकती है । विलक्षणता कहो, या स्वरूपविशेष कहो अर्थ में कुछ फर्क नहीं है । अर्थात् विलक्षणता = स्वरूपविशेष से वह्नि को ही ऊर्ध्वगमन का कारण मान लेने पर भी अग्नि में ही ऊर्ध्वज्वलन की संगति एवं पवन में ऊर्ध्वगमन की आपत्ति का परिहार मुमकिन होने से एतदर्थ अदृष्ट में ऊर्ध्वज्वलनादि के प्रति कारणता की कल्पना अनावश्यक है । तब आत्मविभुत्व को कहाँ अवकाश है ? ॥२७॥

इस तरह अदृष्ट को बीच में लाये बिना ही वह्नि के ऊर्ध्वज्वलन आदि की संगति हो जाने से स्वभाव से ही कार्यकारणभाव बहुत अच्छी तरह उपपन्न हो जाता है । फिर भी सहेतुता का यहाँ नैयायिक को आग्रह ही हो तो भी स्ववृत्तिरूप = स्वनिष्ठ धर्म से ही कार्यकारणभाव मुमकिन ही है । जैसे कि समवाय सम्बन्ध से ऊर्ध्वज्वलनत्वावच्छिन्न के प्रति तादात्म्येन

तेन चेद्भुवनमस्ति समस्तं स्वस्वभावविहितस्थिति नूनम् ।
तर्हि गर्हितमिदं किल सर्वं हेतुमीलनमिति प्रतिचक्रे ॥२९॥
स्वेन सम्भवति हि स्वकधर्मे नर्मकर्मणि परः क इवास्तु ।
स्वप्रकाशनिपुणाः खलु दीपा न प्रकाशमपरं मृगयन्ते ॥३०॥
मृत्पिण्डेऽप्रभवति सति चक्रं दण्डश्च वस्त्रखण्डश्च ।
प्रभवन्ति हि परमाणौ द्व्यणुकाविर्भाविनि तु न परे ॥३१॥

❋ जयलता ❋

तादात्म्येन वह्नित्वेन रूपेण हेतुत्वसम्भवेनाऽदृष्टकारणत्वाऽयोगात् ॥२८॥

तेन = स्ववृत्तिरूपेण **समस्तं भुवनं** = कार्यजातं नूनं **स्वस्वभावविहितस्थिति** – स्वस्य स्वभावेन विहिता स्थितिर्येन। तत् भुवनं इति **अस्ति चेत् ? तर्हि** किल इदं वह्नेरूर्ध्वज्वलनादौ **सर्वं हेतुमीलनं** अदृष्टकारणताप्रतिपादनं स्वस्य स्वाश्रयसंयोगेन कार्येण सह मीलनं अदृष्टसमवायिसंयोगाऽसमवायिकारणतानिरूपणं च **इति गर्हितं प्रतिचक्रे** – निराकृतमेव, दहनस्योर्ध्व-ज्वलनस्य स्वभावेनैव देशप्रतिनियमात् ॥२९॥

तदेव समर्थयति स्याद्वादी - **स्वेन** = स्ववृत्तिरूपेण वह्नित्वादिना **हि** = एव **स्वकधर्मे** ऊर्ध्वज्वलनादौ **सम्भवति** = जायमाने सति **परः** अदृष्टादिः **कोऽस्तु ? नर्मकर्मणीव** । प्रियया साकं कामक्रीडाक्रियादौ स्वाधीने सति यथा कोऽपि परं नापेक्षते तथैव स्वरूपेणैव स्वस्मात्कार्यसम्भवे परमदृष्टादिकं नैवानलादिरपेक्षते । **न खलु** = नैव **स्वप्रकाशनिपुणाः दीपाः** स्वप्रकाशायाऽपरं **प्रकाशं मृगयन्ते । एतेन** स्वधर्मोत्पत्तिः स्वरूपेण स्वाधीना कथं स्यादित्यपि **प्रत्युक्तम्**, प्रकाशशक्तिवत्तदुपपत्तेः ॥३०॥

ननु यथाऽनलोऽनलत्वेनैव स्वस्मिन्नूर्ध्वज्वलनादिकं जनयति नापरमदृष्टादिकमपेक्षते तथैव मृत्पिण्डोऽपि मृत्पिण्डत्वेन रूपेण घटमुत्पादयेत्, अपरं दण्डवस्त्रादिकं नैवापेक्षेत इति नैयायिकाशङ्कायां स्याद्वादी प्राह - **मृत्पिण्डे** - इतरनिरपेक्षेण घटोत्पादं प्रति **अप्रभवति** = असमर्थे **सति हि** = एव **परे चक्रं दण्डश्च वस्त्रखण्डश्च प्रभवन्ति** = घटोत्पादनकृते व्याप्रियन्ते किन्तु **द्व्यणुकाविर्भाविनि** द्व्यणुकाविर्भावनं प्रति प्रत्यले सति **परमाणौ परे** = दण्डचक्रवस्त्रखण्डादयो **न हि** = नैव **प्रभवन्ति** = व्याप्रियन्ते, परमाणुद्वयस्यैव द्व्यणुकं प्रति समर्थत्वात् । ततश्च यदुपादानकारणमितरानपेक्षया स्वकार्योत्पादने नालं तदेव परमपेक्षते किन्तु यदुपादानमितराऽसाहाय्येन स्वधर्माविर्भावने शक्तं तत्रैवान्यं तदर्थमपेक्षते न वा तद्विलम्बेन कार्यं तत्र विलम्ब्यत इति फलितार्थः । अतोऽनलादेः स्वरूपेणोर्ध्वज्वलनादिकं प्रत्यन्यनिरपेक्षतया समर्थत्वान्नादृष्टादिकं तत्रापेक्ष्यते अन्यथा घटादेरप्यपेक्षा-प्रसङ्गात् ।

किञ्च यथा शैलादिव्यावृत्तं देवकुलाद्यनुवृत्तं कृतबुद्धिजनकं सकलजनव्यवहारसिद्धं प्रायोगिकत्वमेव प्रयत्नजन्यतावच्छेदकमिति **सम्मतितर्कवृत्तावुक्तं** तथैवोर्ध्वज्वलनादिक्रियाव्यावृत्तं देवदत्तगत्याद्यनुवृत्तं वैजात्यमेवाऽदृष्टजन्यतावच्छेदकमित्यभ्युपगन्तुमर्हति ।

वह्नित्वेन वह्नि कारण है । समवाय सम्बन्ध से तिर्यग्गमनत्वावच्छिन्न के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से वायुत्वेन वायु कारण है.. इत्यादिरूप से कारणवृत्ति धर्म से ही कारणता का स्वीकार करने से पवन में ऊर्ध्वगमन की या वह्नि में तिर्यग्गमन की आपत्ति नहीं रहती है ॥२८॥

इस तरह कारणवृत्ति धर्म से ही समस्त भुवन के कार्यों की उत्पत्ति की उपपत्ति होने से अपने स्वभाव में ही सारा जहाँ स्थित हो जायेगा । अदृष्ट की सब कार्यों के प्रति कारणता को मान्य कर के अदृष्ट हेतु का स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से कार्याधिकरण में मीलन करने की जो नैयायिक प्रक्रिया है वह गर्हित हो जायेगी, क्योंकि अदृष्ट में कारणता का स्वीकार किये बिना ही स्ववृत्ति धर्म रूप से वह्नि के ऊर्ध्वज्वलनादि की संगति हो जाती है ॥२९॥

वह्नित्वरूप से वह्नि से ही स्वधर्म = ऊर्ध्वज्वलनात्मक कार्य की उत्पत्ति हो जाय तब अन्य अदृष्ट आदि की अपेक्षा वह्नि क्यों रखे ? अपने धर्म की उत्पत्ति अपने से ही सम्भवित हो तब पर की अपेक्षा क्यों की जाय ? क्या प्रिया के साथ कामक्रीडा स्वाधीन हो तब तदर्थ कोई भी पति अन्य मित्र आदि की सहायता की अपेक्षा रखता है ? जिस तरह प्रदीप अपने को दिखाने में अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता है ठीक वैसे ही वह्नि अपने ऊर्ध्वज्वलन में अन्य अदृष्ट आदि की अपेक्षा नहीं रखता है । तब अदृष्टकारणता का प्रतिपादन अरण्यरुदनतुल्य ही सिद्ध होगा ॥३०॥

हाँ, अकेला मृत्पिण्ड घट को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है । इसलिए वह चक्र, दण्ड, वस्त्रखण्ड आदि की अपेक्षा रखता है मगर परमाणु तो द्व्यणुक की उत्पत्ति में अन्य चक्र, दण्ड, कुलाल आदि की अपेक्षा रखता नहीं है, क्योंकि

**परे पुनः प्राहुरिदं वचस्विनो न संस्क्रिया जातु विनात्मवैभवम् ।
धृतावघातोचितवृत्तिरात्मनो न गौरवादन्यगता तु कल्प्यते ॥३२॥**

❀ जयलता ❀

ततो नोर्ध्वज्वलनाद्यनुरोधेन नैयायिकोक्तरीत्याऽऽत्मवैभवसिद्धिः । एतेन नोदनाभिघातवेगगुरुत्वद्रवत्वगुरुत्वप्रयत्नादृष्टानां नोदनत्वाभिघातत्वादिभिः प्रत्येकरूपैः क्रियात्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वं न सम्भवति, अनेकेषां तथामेककार्यं प्रति यत्र प्रातिस्विकरूपेण कारणता तत्रैककारणविरहेऽपि कारणान्तरेण कार्योत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारादिति क्रियायां वैजात्यं कल्पयित्वा तत्तद्विजातीयक्रियात्वावच्छिन्नं प्रति नोदनत्वादिना कारणत्वं कल्पनीयं स्यादित्यनेककार्यकारणभावप्रसक्त्या गौरवम् । तदपेक्षया नोदनादीनां गुणत्वव्याप्यैकजातिरूपेण क्रियात्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वकल्पनमेव लाघवान्न्याय्यम् । तथा च वह्न्यूर्ध्वज्वलनमपि क्रियात्वरूपकार्यतावच्छेदकाक्रान्तम् । न च तत्र नोदनाद्येकमपि दृष्टं कारणमनुभूयत इत्यदृष्टमेव गुणत्वव्याप्यजातिरूपेण कारणमङ्गीकार्यम् । तस्य च समवायेनोर्ध्वज्वलनाधिकरणे वह्नौ स्वाश्रयसंयोगेनैव वृत्तित्वमात्मनो विभुत्वमन्तरेण न सम्भवतीति तत्सिद्धिरित्यपि **परास्तम्**, गुणसाक्षात्कारजनकतावच्छेदकतया साङ्कर्येण तथाहेतुत्वाऽसिद्धेः । यदि चादृष्टहेतुत्व एवाग्रहस्तत्र तत्र तदास्तु कार्यसामान्यजनकतावच्छेदकसम्बन्धेन तत् । न हि सोऽपि स्वाश्रयसंयोग एव, आकाशगतशब्दाव्याप्तेः, अजसंयोगनिषेधेन परैरात्माकाशसंयोगस्यानभ्युपगमात्, कालाकाशदिशामिवाऽदृष्टस्यापि कार्यसामान्यजनकतावच्छेदकसम्बन्धस्यानिरुक्तस्यैव सिद्धेः । परम्परया अदृष्टस्य गगनसम्बद्धत्वकल्पने पृथक्कारणताकल्पनागौरवात् । अत एव **योगशास्त्रे** 'न ज्वलत्यनलस्तिर्यग् यदूर्ध्वं वाति नानिलः । अचिन्त्यमहिमा तत्र धर्म एव निबन्धनम्' ॥ (४/९७) इति **श्रीहेमचन्द्रसूरिप्रो**क्तमपि व्याख्यातम् ।

वस्तुतोऽनलानिलयोर्गतिप्रसनामकर्मोदयात्मकस्वादृष्टविशेषेण साक्षादेव क्रियाजननं न तु देवदत्ताद्यदृष्टविशेषेणेति न कोऽप्यनुपपत्तिः । अत एव तयोरनन्यप्रेरितगतिमत्त्वेन सचित्तत्वं तत्र तत्र प्रसिद्धम् । न च जीवविप्रमुक्तयोस्तयोर्व्यभिचार इति शङ्कनीयम्, यदाकदाचिज्जीववत्त्वस्य साध्यस्य विवक्षितत्वेन तत्सम्भवात् । तदवस्थायां क्रियावत्त्वञ्च तयोः पूर्वप्रयोगाहितवेगवशादित्यादि विभावनीयम् ॥३१॥

प्रकरणकार आत्मविभुत्ववादिनां परेषां मतं दूषितव्यतया उपदर्शयति - परे पुनः **वचस्विनः** = वाचाटाः इदं अनुपदं वक्ष्यमाणं **प्राहुः** तथाहि **आत्मवैभवं विना संस्क्रिया** = व्रीह्यवहननजन्यसंस्कारो **न जातु** = कदाचित् उपपद्यते । **न** चावघातक्रियया व्रीहावेव संस्कार उत्पद्यतां तत्रैव समवायेन अवघातक्रियायाः सत्त्वात् इति **वाच्यम्**, व्रीहीणामनेकत्वेन तत्र नानासंस्कारोत्पादकल्पने **गौरवात् आत्मनोऽन्यगता** = आत्मभिन्नव्रीहिसमवेता **संस्क्रिया तु न कल्प्यते** = नानुमीयते । अत आत्मन एव **धृतावघातोचितवृत्तिः** = प्राप्तावघात-क्रियानिष्ठवृत्तितानिरूपिताधिकरणताकत्वं अनुमीयते । समवायेन व्रीहिनिष्ठाऽवहननक्रिया स्वसमवायिसंयोगसम्बन्धेनात्मनि वर्तते । अतस्तत्रात्मन्येव समवायेन संस्कार उत्पद्यते । **एतेन** कार्यकारणयोर्वैयधिकरण्यमपि **प्रत्युक्तम्**, नानासंस्कारोत्पादाऽकल्पनेन लाघवाच्च । कायपरिमाणस्यात्मनो दूरस्थव्रीहिसंयुक्तत्वविरहेण संस्कारानुत्पत्तिप्रसङ्ग इत्यत आत्मवैभवसिद्धिरिति पराशयः ॥३२॥

वह स्वयं ही द्व्यणुक को उत्पन्न करने में समर्थ है । परमाणु जैसे द्व्यणुक की उत्पत्ति में समर्थ है ठीक वैसे ही अग्नि भी अपने ऊर्ध्वज्वलन आदि में समर्थ है । अतः मृत्पिण्ड की तरह वह अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं रखेगी । तब अदृष्ट में कारणता का आविर्भावन करना निरर्थक ही है । अतः अदृष्टनिष्ठ स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्न कारणता पर निर्भर आत्मवैभव भी धराशायी हो जाता है ॥३१॥

❧ अवघातविचार ❧

कुछ वाचाट लोगों का यह कथन है कि —> 'यज्ञ में व्रीहिकर्मक अवहनन क्रिया से जो संस्कार उत्पन्न होता है वह आत्मा को विभु माने बिना संगत नहीं हो सकता है । मतलब यह है कि व्रीहि के अवघात = ताडनविशेष से व्रीहि में संस्कार की उत्पत्ति मानने में गौरव है । अतः यही मानना होगा कि आत्मा ही अवघातयोग्य वृत्ति को धारण करती है । मगर ताडन क्रिया व्रीहि में होने से संस्कार की उत्पत्ति आत्मा में मानने पर वैयधिकरण्य दोष प्राप्त होता है । उसके निराकरणार्थ यही मानना होगा कि जहाँ अवघात क्रिया हो रही है वहाँ भी आत्मा का अस्तित्व है । तब अवच्छेदकतासम्बन्ध से आत्मा में भी अवघात क्रिया रह जाने से आत्मा में संस्कार की उत्पत्ति हो सकती है । इस तरह शरीर के बाहर भी आत्मा के अस्तित्व को मान्य करना होगा । अवघातक्रियाजन्य संस्कार के अनुरोध से शरीर के बाहर आत्मास्तित्व सिद्ध होने पर तो अनायास ही आत्मविभुपरिमाण सिद्ध हो जायेगा' <— ॥३२॥

अत्रोत्तरम् → अनुकुरुतेऽनभ्युपगमविधुरितवाचाटवचनविन्यासम् ।
तदिदं गुर्जरनारीकुचयोर्निष्कञ्चुकीकरणम् ॥३३॥
अपि चेयमहो परम्पराहितसम्बन्धमपेक्ष्य लाघवात् ।
सकलाश्रयनाशनाशभाग् निखिलव्रीहिगतैव युज्यते ॥३४॥

❋ जयलता ❋

अत्र स्याद्वादिनः प्रतिविधानम् → **तदिदं** अनुपदोक्तं **अनभ्युपगमविधुरितवाचाटवचनविन्यासं गुर्जरनारीकुचयोः निष्कञ्चुकीकरणं अनुकुरुते** । यथा परेणानाहूताऽपि गुर्जरनारी स्वाभिलषितसिद्धिकृते आत्मनः स्तनद्वयकपाटोद्घाटनानन्तरं परेणानङ्गीकृता निष्फलकामा विह्वलीभवति तथा स्याद्वादसदसि अनाहूता अपि परे स्वमनीषितात्मवैभवप्रसिद्धये अवघातजन्यसंस्कारानुपपत्तिगुह्यप्रकटनानन्तरं स्याद्वादिनाऽसन्मानितमनङ्गीकृतं संस्कारनिष्ठावघातजन्यत्वमवगत्य निरस्तमनोरथा विह्वलीभवन्ति । न हि प्रतिवादिना यदनभ्युपगतं तदवष्टम्भेनानुपपत्त्या वादिनोऽभिमतसिद्धिर्भवितुमर्हति, अतिप्रसङ्गादिति स्याद्वादिनोऽभिप्रायः ॥३३॥

वस्तुतः स्याद्वादिभिः ताडनविशेष एवाऽवघातपदार्थः स्वीक्रियते न तु संस्कारजनकताडनव्यापारविशेषः । तथापि प्रौढिवादेन परोक्तनिराकरणार्थमुपक्रमते प्रकरणकारः कारिकाद्वयेन - **अपि च** = किञ्च, समवायेन संस्कारोत्पादो व्रीहौ स्वीक्रियते यदा तत्कारणतावच्छेदकसम्बन्धः समवायः, आत्मनि तदङ्गीकारे तु स्वसमवायिसंयोगस्य तथात्वमिति कारणतावच्छेदकसम्बन्धगौरवम् । अतो **लाघवात् निखिलव्रीहिगतैव इयं** = अवघातजन्या संस्क्रिया **युज्यते** स्वीकर्तुम् । न त्वेकव्रीहिसमवेता न वाऽऽत्मसमवेता । एवञ्च निखिलव्रीहिसमवेता संस्क्रिया **सकलाश्रयनाशनाशभाग्** भवति, स्वरूपेण संस्कारनाशं प्रति प्रतियोगितया स्वाश्रयनाशस्य कारणत्वात् । यदि चैकस्मिन्नात्मनि संस्क्रिया समवेता स्वीक्रियते तर्हि निखिलव्रीहिनाशस्य स्वप्रतियोगिसंयोगसम्बन्धेन तन्नाशकत्वमङ्गीकर्तव्यं स्यादिति नाशकतावच्छेदकसम्बन्धगौरवमपि । अपि च सर्वेषामेवात्मनां विभुत्वपक्षे व्रीहिसंयुक्तत्वाच्चैत्रनिष्ठसंस्कारनाशे व्रीह्यन्तरगतावघातजन्या मैत्रादिसमवेता संस्क्रियाऽपि नश्येत । **एतेन** स्वप्रतियोगिसंयुक्तसमवेतत्व-स्वप्रतियोगिसमवेतावघातजन्यत्वोभयसम्बन्धेन निखिलव्रीहिनाशस्य प्रतियोगितया संस्कारनाशं प्रति कारणत्वमित्यपि **प्रत्युक्तम्**, गौरवात् । किञ्चात्मविभुत्वपक्षे व्रीह्यवघातेन स्वसमवायिसंयोगसम्बन्धेन सर्वेष्वात्मसु संस्क्रियाया उत्पत्तिर्निराकार्यैव सम्बन्धान्तरकल्पने च गौरवम् । ततो निखिलव्रीहिगतैव संस्क्रिया स्वीकर्तुमर्हति । **न चैकव्रीहिसमवेतत्वमेव संस्कारस्याऽस्त्विति वाच्यम्**, विनिगमनाविरहेण

मगर इसके समाधानार्थ कहा जा सकता है कि हम व्रीहि में अवघातक्रिया से संस्कार की उत्पत्ति को ही नहीं मानते हैं । जब उसकी उत्पत्ति ही स्याद्वादी को अमान्य है तब - 'उसकी उत्पत्ति व्रीहि में नहीं बल्कि आत्मा में होती है'- यह मुखरपुरुष का वचनविन्यास विधुरित = विह्वल हो जाता है । जब गुर्जर नारी अपने दोनों स्तनों को प्रकट करती हो और सामनेवाला पुरुष उसका स्वीकार न करे तब वह गुर्जर स्त्री जैसे विह्वल बन जाती है ठीक वैसे ही अपने गुप्तसिद्धान्त को जब नैयायिक उपर्युक्त रीति से प्रकट करते हैं और हम उसका अस्वीकार करते हैं तब वे भी विह्वल बन जाते हैं । प्रतिवादी जिसका स्वीकार ही नहीं करता है उसके बल पर प्रतिवादी के सामने कैसे अपने अभिमत पदार्थ की, जो प्रतिवादी को अनिष्ट है, सिद्धि वादी कर सकेगा ? तब वादी विवश ही बन जाता है - यह तो स्पष्ट बात है ॥३३॥

व्रीहि में अवघात क्रिया से स्याद्वादी संस्कार की उत्पत्ति वास्तव में मान्य नहीं करते हैं । फिर भी अभ्युपगमवाद से उसका स्वीकार कर लिया जाय तब भी संस्कार की उत्पत्ति सब व्रीहि में ही माननी युक्त है, न कि आत्मा में । इसका कारण यह है कि अवघातक्रिया साक्षात् = समवाय सम्बन्ध से व्रीहि में ही रहती है, न कि आत्मा में । आत्मा में तो वह स्वसमवायिसंयोगसम्बन्ध से रहती है, जो परम्परा सम्बन्ध है । इसके स्वीकार में कारणतावच्छेदक सम्बन्ध में गौरव होता है । इसकी अपेक्षा लाघव से समवाय को ही संस्कारनिरूपित कारणता का अवच्छेदक सम्बन्ध मानना मुनासिब है । समवाय सम्बन्ध से अवहनन क्रिया (=ताडनक्रियाविशेष) व्रीहि में होने से व्रीहि में ही समवाय सम्बन्ध से संस्कार उत्पन्न होगा । व्रीहि में संस्कार उत्पन्न होने से संस्कार का नाश भी सकलव्रीहिनाश से ही हो जायगा। संस्कार को आत्मसमवेत मानने पर तो परम्परासम्बन्ध से सकलव्रीहिनाश को आत्मा में रख कर उसे संस्कारनाशक मानने की क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ेगी, जिसमें गौरव है । वह परम्परासंबन्ध होगा स्वप्रतियोगिसंयोग । स्व = सकलव्रीहिनाश के प्रतियोगी = निखिलव्रीहि से संयुक्त आत्मा में अखिलव्रीहिनाश स्वप्रतियोगिसंयोगसम्बन्ध से रह कर आत्मा में संस्कारनाश उत्पन्न करेगा । इसकी अपेक्षा लाघव से सकलव्रीहिनाश को प्रतियोगिता सम्बन्ध से ही व्रीहिसमवेत संस्कार का नाशक मानना मुनासिब है । संस्कार का आश्रय एवं सकलव्रीहिनाश का प्रतियोगिविधया आश्रय सकल व्रीहि होने से नाश्यनाशकभाव की संगति हो सकती है । इस तरह

तेन न सम्प्रति नैकगतत्वाद् गौरवमेव विभाव्य विभाव्यम् ।
दोषकृते व्यवहारविलोपात् कार्यमुखं हि न तत्प्रवदन्ति ॥३५॥
अथ कथमपि सर्वव्रीहिसंस्कारयोगो यदि लघु लघुभावात् कल्पते कश्चिदेकः ।
तदिह निजनिवासात् कर्षयंश्छागमेकं युवरवणसमूहाभ्यागमन्यायभूमिः ॥३६॥
यतः —> अनुरुणद्धि न वैभवमात्मनः स हि भवन्नयोः परमन्तरा ।
न युवतीस्तनयोर्दृढपीनयोर्लवणिमा परमन्तरमपेक्षते ॥३७॥

❀ जयलता ❀

प्रतिनियतैकव्रीहिसमवेतत्वानुपपत्तेः, एकव्रीहिनाशे संस्कारनाशापत्तेश्च । **एतेन** प्रतिष्ठाकारयितृगतादृष्टमेव पूजाफलप्रयोजकमिति **प्रत्युक्तम्**, परेषां तदभावाददृष्टनाशे प्रतिमापूज्यतानापत्तेः तन्मते चाण्डालस्पर्शादिना व्यधिकरणेन तन्नाशायोगाच्च । वस्तुतः प्रतिष्ठितत्वज्ञानाहितभक्तिविशेषद्वारा प्रतिष्ठायाः पूजाफलप्रयोजकत्वं अस्पृश्यस्पर्शादिप्रतिसन्धानस्य च भक्तिविशेषव्याघातकत्वेनाऽनुपपत्तिविरहादित्यधिकं [1]'**कल्याणकन्दल्यां** वक्ष्यामः । **एतेन** संस्कारस्यैकात्मसमवेतत्वकल्पनापेक्षया सकलव्रीहिसमवेतत्वकल्पने गौरवमित्यपि **प्रत्युक्तम्**, उक्तरीत्या तस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वात् ॥३४॥

एतदेव समर्थयति - **तेन** = संस्क्रियाया निखिलव्रीहिसमवेतत्वस्यैव प्रदर्शितरीत्या युक्तिसिद्धत्वेन, **सम्प्रति** अवघातजन्य-संस्क्रियाया **नैकगतत्वाद्** = निखिलव्रीहिसमवेतत्वात् **गौरवमेव** इति **विभाव्य** आत्मसमवेतत्वं **न विभाव्यम्, व्यवहारविलोपात्** सकलव्रीहिनाशस्य व्रीहिगतसंस्कारनाशकत्वव्यवहारविलयापत्तेः । यद्वा 'यत्रैव क्रिया तत्रैव संस्कारोत्पादो यथा शरे क्रियासत्त्वे तत्रैव वेगोत्पाद' इत्यादिप्रसिद्धव्यवहारस्य विलोपापत्तेः । **न हि कार्यमुखं** = फलमुखं = कार्यकारणभावनिश्चयाधीनं **तत्** = गौरवं **दोषकृते** = दोषाय इति **प्रवदन्ति** मनीषिणः, बाधकावतारे लाघवसहस्रस्याऽकिञ्चित्करत्वात्, अन्यथाऽद्वैतदर्शनप्रवेश-प्रसङ्गात् । एतेन व्रीहिसमवेतावघातेनात्मनि संस्कारोत्पादान्यथानुपपत्त्या आत्मविभुत्वसिद्धिरिति **पराकृतम्** ॥३५॥

प्रत्यवतिष्ठमानेन नैयायिक आत्मविभुत्वं साधयति - **अथ कथमपि** = येन केन प्रकारेण, **लघुभावात्** = लाघवात् **यदि** कश्चित् **एकः सर्वव्रीहिसंस्कारयोगः** सकलव्रीहीणां अवघातजननसंस्कारसमवायित्वं **लघु कल्पते** स्याद्वादिनां **तत्** = तादृशकल्पनं **इह** = प्रकृते **निजनिवासात् एकं छागं कर्षयन्** = बहिर्निष्काशयन् **युवरवणसमूहाभ्यागमन्यायभूमिः** = मदोद्धुरक्रमेलक-वृन्दसमागमदृष्टान्तस्थानं, 'रवणो रवणोऽदंशाली रवणः क्रमेलकः दीर्घग्रीव' इति वचनात् ॥३६॥

कथमत्रोक्तन्यायापातः ? इत्याशङ्कायामाह नैयायिकः - **यतः** = यस्मात्कारणात्, **परं सः** = अवघातजन्यः संस्कारः **अनयोः** आत्म-व्रीहिसमूहयोः **अन्तरा** = असंयुक्तत्वे सति **न भवन्** = अनुत्पद्यमान **आत्मनो विभुत्वं** सर्वमूर्तसंयोगित्वं

यह संस्क्रिया संपूर्ण व्रीहि में ही समवायसम्बन्ध से रहती है - यह सिद्ध होता है ॥३४॥

इस तरह युक्ति से सिद्ध होता है कि अवघातजन्य संस्कार सकल व्रीहि में उत्पन्न होता है तब इस वचन का कि —> 'आत्मा में संस्कार की उत्पत्ति मानने में लाघव है । इसकी अपेक्षा विचार करने पर अनेक व्रीहिसमवेतत्व की संस्कार में कल्पना करने पर गौरव है' <— तो उद्भावन ही नहीं करना चाहिए, क्योंकि तब तो व्रीहि में अवघात करने से व्रीहि में संस्कार उत्पन्न होता है एवं सकल व्रीहि के नाश से उसका नाश होता है, जिसमें क्रिया होती है उसीमें संस्कार उत्पन्न होता है - इत्यादि प्रसिद्ध व्यवहार का विलय हो जायेगा । इसलिए कार्यकारणभाव, प्रसिद्ध व्यवहार आदि का निर्वाहक होने से उपर्युक्त गौरव दोष के लिए नहीं होगा । अतः अवघातजन्य संस्कार में सकलव्रीहिसमवेतत्व की कल्पना ही संगत प्रतीत होती है ॥३५॥

❀ आत्मवैभव के बिना शरीर में आद्यक्रिया नामुमकिन ❀

नैयायिक :- येन केन प्रकारेण आप स्याद्वादी लाघव से अवघातक्रियाजन्य संस्कार को सकल व्रीहि में मानते हैं, जो लघुभाव से एक ही है । मगर यहाँ आपकी यह कल्पना - अपने घर से एक बकरे को निकालने पर युवान ऊँट का समूह घर में घुस जाये-इस न्याय की भाजन बनती है ॥३६॥

इसका कारण यह है कि अवघातजन्य संस्कार आत्मा और व्रीहिसमूह के बीच अन्तर रहने पर उत्पन्न नहीं होता हुआ आत्मा के विभुपरिमाण का अनुरोध करता है । जैसे युवती के दृढ एवं पुष्ट दो स्तन का लावण्य दोनों स्तनों के बीच में अंतर की अपेक्षा नहीं रखता है । मतलब कि युवती के स्तन नम्र एवं अल्पपरिमाणवाले होते हैं तब उन दोनों

१. द्रष्टव्य, षोडशकप्रकरणगत **आठवाँ** षोडशक कल्याणकन्दलीटीका - पृष्ठ-१८६

विना विभुत्वमात्मनोऽणुभिस्तमाप्तसंयुतैः । न चाद्यकर्मसम्भवस्ततः कुतस्तनुर्ननु ? ॥३८॥
अत्रोत्तरम् —> अयस्कान्तमयस्कान्तमाकर्षतीति न संयुतम् ।
आकर्षणेन तत्प्राज्ञैः संयोगव्याप्यता मता ॥३९॥

❀ जयलता ❀

अनुरुणद्धि = अनुमापयति । अत्र दृष्टान्तमाह - **दृढपीनयोः युवतीस्तनयोः लवणिमा परमन्तरं नापेक्षते** = नैवापेक्षते = व्यवधानाभावमपेक्षत एव । यथा ललनाकुचकलशयोः शिथिलसंकुचितयोः व्यवहितत्वे लावण्यमयत्वं नैव भवेत्किन्तु विपर्यय सत्येव । तथा संस्कार्यधान्य-पुरुषयोः परस्परमन्तरितत्वे सति व्रीहिसमवेतसंस्कारेणात्मगुणोत्पादो नैव सम्भवति, अतिप्रसङ्गात् किन्तु परस्परं संयुक्तत्वे सत्येव तदुपपत्तिः सुकरा । अत आत्मनो विभुत्वमेव सिध्यति ॥३७॥

ननु आत्मनो विभुत्वं विना नाणुभिः आद्यकर्मसम्भवः, अदृष्टवदात्माऽसंयुक्तत्वात् । **ततः कुतः तनुः** = भवान्तरीयशरीरसम्भवः ? अयं नैयायिकाशयः आत्मनो देहपरिमाणत्वे दिग्देशान्तरवर्तिभिः परमाणुभिर्युगपत्संयोगविरहादाद्यकर्माभावस्तदभावादन्त्यसंयोगस्य तन्निमित्तशरीरस्य तेन तत्सम्बन्धस्य चाभावादनुपायसिद्धः सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात्, सावयवत्वेन तद्विनाशे परलोकाभावापातेन नास्तिकत्वकलङ्कपङ्ककालिमा च न निर्मलीकरणाय प्रभूयते प्रभुणाऽपि । आत्मविभुत्वपक्षे तु नैतदवकाशः यतः तं = वैभवं **आप्तसंयुतैः** वैभवमाप्तं येनादृष्टशालिना आत्मना तेन साकं संयुतैः = संयुक्तैः देशान्तरवर्तिभिः अणुभिः युगपददृष्टवदात्मसंयोगादाद्यकर्मोत्पादः, ततो विभागः ततः पूर्वसंयोगनाशः ततः उत्तरसंयोगस्य द्व्यणुकारम्भकस्योत्पादः ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः एवमन्त्यसंयोगेन भवान्तरीयशरीरनिष्पत्तिः तेनात्मसम्बन्धश्चेत्यविकलमार्वाचीनैर्का विद्याऽऽकलय्यत्येवेति आत्मवैभवपक्ष एव विजयततरामिति नैयायिकाशयः ॥३८॥

न हि यद्येन संयुक्तं तदेव तं प्रत्युपसर्पतीति नियमः सम्भवी, अयस्कान्तं प्रत्ययस्कान्तस्याऽसंयुक्तस्याऽप्युपसर्पणोपलब्धेरित्याशयेन स्याद्वादी अत्रोत्तरं व्याचष्टे **अयस्कान्तं** न स्वेन संयुतं = संयुक्तं भिन्नं **अयस्कान्तमाकर्षति** किन्त्वसंयुक्तमेव । **तत्** = तस्मात् कारणात् **प्राज्ञैः आकर्षणेन संयोगव्याप्यता** मता, आकर्षणस्य संयोगव्याप्यत्वम् । संयोगश्चाप्राप्तयोः प्राप्तिः । अतः पूर्वमसंयुक्तयोरेवाकर्षणं कारणान्तरेण सम्भवति, न तु स्वेन संयुक्तस्य । **अनेन** कुतो न स्वसंयुक्तस्यायस्कान्तस्यायस्कान्तान्तरेणाकर्षणं सम्भवतीत्याशङ्का **निरस्ता,** प्राप्तयोः संयोगान्तरोत्पत्तिसम्भवाभावात् । अत आत्मनो विभुत्वे अण्वादीना-

स्तनों के बीच अंतर = रिक्त स्थान रहता है, जिसकी वजह प्रेक्षक को वहाँ लावण्य का दर्शन नहीं होता है । ठीक वैसे ही आत्मा और व्रीहि के बीच अंतर हो यानी आत्मा विभुपरिमाणवाली न हो तब तो व्रीहि में संस्कार की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है, क्योंकि संस्कार व्रीहिसमूह में होने पर उसके कार्य की उत्पत्ति आत्मा में नहीं हो सकती है, जो प्रकृत दृष्टान्त के लावण्यस्थान पर अभिषिक्त है । इसलिए आत्मा को विभु मानना आवश्यक है ॥३७॥

❋ भवान्तरीय शरीर का जन्म ❋

दूसरी बात यह है कि आत्मा में विभुपरिमाण का स्वीकार न करने पर अनेक परमाणुओं में शरीरारम्भक आद्य क्रिया कैसे उत्पन्न होगी ? क्योंकि आत्मा शरीर से अन्य देश में रहती है - यह मानने को आप स्याद्वादी तैयार नहीं है, जिसकी वजह परलोक में प्राप्त होनेवाले शरीर के आरम्भक परमाणुओं से आत्मा संयुक्त हो सके । तब तो शरीर की निष्पत्ति ही कैसे होगी ? भवान्तरीय शरीर की निष्पत्ति न होने पर तो परलोक का ही उच्छेद हो जायगा, जिसकी वजह नास्तिकता की आपत्ति से अपने को बचाना स्याद्वादी के लिए मुश्किल बन जायगा । हम नैयायिक तो कह सकते हैं कि विभुत्व को प्राप्त = विभु अदृष्टवाली आत्मा के संयोगवाले अनेक अणुओं में स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से अदृष्ट रहता है, जो उन परमाणुओं में आद्य क्रिया को उत्पन्न करता है । बाद में परमाणु में पूर्वदेशविभाग, बाद में पूर्वदेशसंयोगनाश, बाद में उत्तरदेश में अन्य परमाणु से संयोग, बाद में द्व्यणुक की निष्पत्ति इस तरह क्रमशः त्र्यणुक, चतुरणुक... एवं अनन्ता गत्वा भवान्तरीय शरीर की निष्पत्ति होगी, जिसकी वजह परलोकाभाव या तन्मूलक नास्तिकता की आपत्ति नैयायिकपक्ष में नहीं आयेगी । मगर आत्मा के विभुपरिमाण का अस्वीकार करने पर यह सब नामुमकिन सा बन जायगा । इसलिए आत्मा को विभु मानना आवश्यक है ॥३८॥

❋ स्वाश्रयसंयोग से अदृष्टकारणता नामुमकिन - स्याद्वादी ❋

स्याद्वादी :- नैयायिकों की यह मान्यता कि —> 'क्रिया के प्रति अदृष्ट स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से ही हेतु है' <— इसलिए

❀ जयलता ❀

प्याकर्षणमेव न प्राप्नोति, सदा सन्निहितत्वात्तेषामित्यादिकमुक्तमेव पूर्वमत्रानुसन्धेयम् ॥३५॥

एतेनाऽसंयुक्तस्याकर्षणे तच्छरीरारम्भं प्रत्यभिमुखीभूतानां त्रिभुवनोदरवर्तिसकलपरमाणूनामाकर्षणप्रसङ्गान्न जाने तच्छरीरं कियत्प्रमाणं स्यादिति **प्रत्युक्तम्**, आत्मनो व्यापकत्वेन सकलपरमाणूनां तेन संयोगात्तद्दोषस्य विभुत्वपक्षेऽपि समत्वात् । **न च** तद्भावाविशेषेऽप्यदृष्टवशाद्विवक्षितशरीरोत्पादनानुगुणा नियता एवाणव उपसर्पन्तीति **वाच्यम्**, अन्यत्रापि तुल्यत्वात् । **एतेन** देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः पश्वादयः तद्गुणेनाकृष्टा इत्यपि **प्रत्युक्तम्** । तदुक्तं **वादिदेवसूरिभिः** 'देवदत्तशरीरसंयुक्तात्मप्रदेशे वर्तमानमदृष्टं देशान्तरवर्तिपश्वादिषु देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत्सु क्रियाहेतुरुत देशान्तरवर्तिपश्वादिसंयुक्तात्मप्रदेशे किं वा सर्वत्र ? तत्राद्यः पक्षो न श्रेयान्, अतिव्यवहितत्वेन तस्य प्राप्तेरभावादाकर्षणहेतुत्वासम्भवात् । अथ स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धसम्भवात्तदभावोऽसिद्धः, तदसत्, तस्य सर्वत्र सद्भावतः सर्वस्याकर्षणप्रसक्तेः । 'यददृष्टेन यज्जन्यते तददृष्टेन तदेवाकृष्यते न सर्वं' इति अवश्यम्, देवदत्तोपभोग्यपश्वादिशरीरारम्भकपरमाणूनां नित्यत्वेन तददृष्टाजन्यतयाकर्षणाभावप्रसङ्गात् । तथापि आकर्षणेऽतिप्रसङ्गः । अथ यदेव योग्यं तदेवाकृष्यते, तदयुक्तम्, स्वरूपसहकारिव्यतिरिक्ताया योग्यतायाः त्वयाऽनभ्युपगमात् । तस्याश्च विवक्षिताकृष्यमाणपदार्थवदविवक्षितेऽपि भावात् । द्वितीयपक्षेऽपि यथा वायुः स्वयमुपसर्पन्नन्येषां तृणादीनां तं प्रत्युपसर्पणहेतुः । तथाऽदृष्टमपि स्वयं तं प्रत्युपसर्पदन्येषां उपसर्पणहेतुः देशान्तरवर्तिद्रव्यसंयुक्तात्मप्रदेशस्थमेव शब्दवत्प्रतिक्षणमन्यदन्यच्चोत्पद्यमानं वा ? प्रथमपक्षे सक्रियत्वेनाऽदृष्टस्य वायुवत् द्रव्यत्वापत्त्या गुणत्वं बाध्येत । किञ्चेदं स्वयमेव तं प्रत्युपसर्पत्यदृष्टान्तराद्वा ? स्वयमेवास्य तं प्रत्युपसर्पणे देशान्तरवर्तिपश्वादीनामपि तथैव तत्प्रसङ्गाददृष्टकल्पनावैफल्यम् । तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वादिति हेतुश्च सव्यभिचारः । अदृष्टान्तरात्तस्य तं प्रत्युपसर्पणेऽनवस्था तस्याप्यदृष्टान्तरात्तं प्रत्युपसर्पणप्रसङ्गात् । **अथ** देशान्तरवर्तिपश्वादिसंयुक्तात्मप्रदेशस्थमेव तत्तेषां तं प्रत्युपसर्पणहेतुः । नैवम्, अन्यत्र प्रयत्नादौ गुणे तथाऽनभ्युपगमात् । न खलु प्रयत्नो ग्रासादिसंयुक्तात्मप्रदेशस्थ एव ग्रासादेः देवदत्तमुखं प्रत्युपसर्पणहेतुः, अन्तरालप्रयत्नवैफल्यप्रसङ्गात् । अथ प्रयत्नवैचित्र्यदृष्टेरदृष्टेऽप्यन्यथा कल्पनम् । तथाहि कश्चित्प्रयत्नः स्वयमपरापरदेशवानपरत्र क्रियाहेतुः । यथाऽनन्तरोदितोऽपरश्चान्यथा यथा शरासनाध्यासस्थानसंयुक्तात्मप्रदेशस्थ एव शरादीनां लक्ष्यप्रदेशप्राप्तिक्रियाहेतुरिति **चेत् ? तर्हीयं** विचित्रता पश्वादिसमाकर्षणहेतुभूतगुणानां स्वाश्रयसंयुक्तासंयुक्तपश्वाद्याकर्षणहेतुत्वेन किं नेष्यते ? विचित्रशक्तित्वाद्भावानाम् । तथादर्शनाभावादिति न वाच्यम्, अयस्कान्तस्पर्शगुणस्य स्वाश्रयासंयुक्तलोहद्रव्यं प्रत्याकर्षणदर्शनात् तथाऽत्र द्रव्यमाकर्षणकारणं न स्पर्शगुणो द्रव्यरहितस्य तस्याकृष्टिहेतुत्वादर्शनात् । एवं तर्हि तत एव प्रयत्नस्यापि न ग्रासाद्याकर्षणनिमित्तता स्यात् । तथा च ग्रासादिवदिति दृष्टान्तः साध्यविकलो भवेत् । अथ द्रव्यस्य तत्कारणत्वे प्रयत्नरहितस्यापि तत्प्रसक्तिरिति चेत् ? स्पर्शरहितस्यायस्कान्तस्यापि किं न तत्प्रसक्तिः ? तद्रहितस्य तस्यादृष्टेर्नायं दोष इति चेत् ? दृष्टिश्चेत् प्रमाणं तर्हि लोहद्रव्याकर्षणोत्पत्तावुभयं दृश्यत इत्युभयमपि तत्तत्र कारणमस्तु विशेषाभावात् । तथा च तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वादिति व्यभिचारी हेतुः । तृतीयपक्षेऽपि शब्दवदपरापरस्योत्पत्तावपरमदृष्टं कारणं तदुत्पत्तौ प्रसक्तं तत्राऽप्यपरमित्यनवस्था, अन्यथा शब्देऽपि किमदृष्टलक्षणनिमित्तपरिकल्पनया ? अत्र सर्वत्राऽदृष्टस्य वृत्तिस्तर्हि सर्वद्रव्यक्रियाहेतुत्वं यददृष्टं तद्द्रव्यमुत्पादयति तत्रैव क्रियामुपरचयतीत्यभ्युपगमे शरीरारम्भकेषु परमाणुषु क्रिया न स्यादिति प्रागेवोक्तम् । (प्र.न.त.७/८ स्या.र.पृ.९०७) इति ।

ननु प्रयत्नादृष्टादीनां कृतित्वादिना प्रत्येकरूपेणाऽऽकर्षणत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वं न सम्भवति, कारणान्तरविरहेऽपि कारणविशेषेण कार्योत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारादिति आकर्षणे वैजात्यं कल्पयित्वा तत्तद्विजातीयाकर्षणत्वावच्छिन्नं प्रति कृतित्वादिना

अप्रामाणिक है कि जैसे लोहचुम्बक अपने से असंयुक्त लोहचुम्बक में भी आकर्षण क्रिया को उत्पन्न करता है । ठीक वैसे ही अदृष्टशाली आत्मा भी परमाणुओं से असंयुक्त होने पर भी उनमें आकर्षण क्रिया को उत्पन्न कर सकती है । यह जरूरी नहीं है कि अदृष्टशाली आत्मा का परमाणुओं से संयोग होना ही चाहिए । इसलिए दूरदेशवर्ती परमाणुओं से आत्मा को असंयुक्त मान कर उनमें परस्पर आकर्षण क्रिया की उत्पत्ति हो जाने से आत्मा के विभुपरिमाण की सिद्धि नहीं होगी । दूसरी बात यह है कि आकर्षण क्रिया संयोग की व्याप्य होती है - यह प्राज्ञ पुरुषों की मान्यता है । मतलब कि आकर्षण क्रिया से संयोगनामक गुण की उत्पत्ति होती है । संयोग का मतलब है अप्राप्तपदार्थ की प्राप्ति । यदि आत्मा को विभु मानी जाय तब तो दूरस्थ परमाणु ही नहीं, सभी मूर्त पदार्थ आत्मसंयुक्त हो जायेंगे । मतलब कि परमाणु आदि आत्मप्राप्त ही है, अप्राप्त नहीं । तो फिर उनमें आकर्षण क्रिया कैसे उत्पन्न होगी ? दूरस्थ पदार्थ का, जो अपने से असंयुक्त है, आकर्षण होता है, न कि स्वसंयुक्त पदार्थ का। इसलिए आत्मविभुत्वपक्ष में तो आकर्षण क्रिया ही नामुमकिन हो जायेगी ।।३५।।

उत्क्षेपणत्वादिकजातिसङ्करादाकर्षणत्वं च न जातिरीक्ष्यते ।
व्योमादिना संयुतिरस्ति चान्ततः संकल्पितव्याप्तिहतिर्न वा ततः ॥४०॥

❀ जयलता ❀

कारणत्वकल्पने नानाकार्यक ।गौरवप्रसङ्गः । अत आकर्षणत्वावच्छिन्नं प्रति कृत्यदृष्टादीनां गुणत्वव्याप्यैकजात्या हेतुत्वं लाघवात्कल्प्यते । तथा चायस्कान्ताकर्षणस्यापि कार्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वेन कृत्यादिविरहात्तत्रादृष्टमेव गुणत्वव्याप्यजातिरूपेण कारणमङ्गीकार्यम् । तस्य च समवायेनाकर्षणाधिकरणेऽयस्कान्ते सत्त्वं स्वाश्रयसंयोगेनैव । न ह्यात्मनो विभुत्वमन्तरेण न सम्भवतीत्यात्मनो विभुत्वसिद्धिरित्याशङ्कायां स्याद्वादी प्राह-**न च** कृत्यदृष्टादिजन्यतावच्छेदकं **आकर्षणत्वं जातिरीक्ष्यते** = जातित्वेन कल्पयितुं शक्यम्, **उत्क्षेपणत्वादिकजातिसङ्करात्** । स्वयं अनलोत्क्षेपणे आकर्षणत्वं नास्ति, उत्क्षेपणत्वं चास्ति, पर्णस्याधः आकर्षणक्रियायामाकर्षणत्वमस्ति, उत्क्षेपणत्वं च नास्ति । प्रस्तरादेरूर्ध्वमाकर्षणे त्वाकर्षणत्वमुत्क्षेपणत्वञ्च स्त इत्युत्क्षेपणत्वेन साङ्कर्यमाकर्षणत्वस्य । एवमवक्षेपणत्वादिना समसपि तत्साङ्कर्यं बोध्यम् । अत एव आकर्षणत्वावच्छिन्नं प्रति कृत्यदृष्टादीनां गुणत्वव्याप्यैकजात्येन कारणत्वासम्भवः ।

किञ्च गुणसाक्षात्कारजनकतावच्छेदिकया जात्या साङ्कर्येण कृत्यदृष्टादीनां गुणत्वव्याप्यजातिविशेषरूपेण तत्कारणत्वमपि न सम्भवति । तथाहि गुणसाक्षात्कारं प्रत्यदृष्ट-भावना-गुरुत्व-स्थितिस्थापकसंस्कारभिन्नगुणानां विषयविधया कारणत्वे तत्राऽयुक्तरीत्या रूपत्वादिना प्रत्येकरूपेण कारणत्वे व्यतिरेकव्यभिचाराद् योग्यगुणगतेन गुणत्वव्याप्यैकजात्येन कारणत्वमङ्गीकर्तव्यम् । तथा च गुणसाक्षात्कारजनकतावच्छेदकजातिं विहायाऽदृष्टे वर्तमानस्याकर्षणकारणतावच्छेदकैकजात्यस्य आकर्षणजन्यतावच्छेदकैकजात्यं परित्यज्य रसादौ वर्तमानस्य गुणसाक्षात्कारकारणतावच्छेदकैकजात्यस्य च कृत्यादौ सत्त्वेन साङ्कर्यान्न कृत्यदृष्टादीनां गुणत्वव्याप्यैकजात्येन हेतुत्वसम्भव इत्यप्यवधेयम् ।

न वा आत्मनो **व्योमादिना** सार्धं **संयुतिः** = संयोगः **अस्ति**, अजसंयोगनिषेधेन परैराकाशात्मसंयोगस्यानभ्युपगमात् तथा चाकाशसमवेतशब्दे व्यभिचारः, शब्दस्याऽदृष्टकार्यसामान्यान्तर्गतस्य समवायेनाश्रये गगने स्वाश्रयसंयोगेनाऽदृष्टस्याऽसत्त्वात् । **ततोऽन्ततो** गत्वा नैयायिकैः **सङ्कल्पितव्याप्तिहतिः** समवेतकार्यमात्रं प्रत्यदृष्टस्य कारणत्वनिश्चयः नैयायिकोपकल्पितः स्वयमेवापसरतीति न तन्मूलात्मनो विभुत्वसिद्धिरिति स्याद्वादिनोऽभिप्रायः ॥४०॥

इसके अतिरिक्त बात यह है कि आकर्षणत्वावच्छिन्न के प्रति भी अदृष्ट को कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि आकर्षणत्व जाति ही नहीं है । इसका कारण यह है कि आकर्षणत्व का उत्क्षेपणत्व आदि के साथ सांकर्य होता है । वह इस तरह - स्वयं ऊर्ध्वगामी अग्नि की उत्क्षेपण क्रिया में उत्क्षेपणत्व है मगर आकर्षणत्व नहीं है । पेड़ के पत्ते को नीचे की ओर खींचने पर उस क्रिया में आकर्षणत्व रहता है मगर उत्क्षेपणत्व रहता नहीं है । इस तरह उत्क्षेपणत्व और आकर्षणत्व परस्पर व्यधिकरण धर्म सिद्ध होते हैं । फिर भी पत्थर आदि को नीचे से ऊर्ध्वदिशा की ओर खींचने पर उस क्रिया में उत्क्षेपणत्व और आकर्षणत्व दोनों ही रहते हैं । परस्पर व्यधिकरण धर्मों का एक अधिकरण में समावेश होने पर दार्शनिक जगत में सांकर्य का व्यवहार होता है, जो जाति का बाधक है । अतः आकर्षणत्व को जाति नहीं मानी जा सकती । अतएव 'आकर्षणत्वनामक जाति से अवच्छिन्न के प्रति अदृष्ट निमित्तकारण है' - यह नैयायिकनियम असिद्ध हो जाता है ।

❊ शब्द के प्रति अदृष्टकारणता व्यभिचारग्रस्त - स्याद्वादी ❊

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि समवेतकार्यमात्र के प्रति अदृष्ट को स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से कारण मानने पर शब्दोत्पत्ति में व्यतिरेक व्यभिचार भी प्रसक्त होता है । इसका कारण यह है कि नैयायिक विद्वानों ने विभु द्रव्यों के संयोग का निषेध किया है, क्योंकि 'अप्राप्तयोः प्राप्तिः' यह संयोगलक्षण वहाँ नहीं रहता है । अतएव अदृष्ट भी स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से गगन में नहीं रह सकता है । फिर भी समवाय सम्बन्ध से शब्द की उत्पत्ति गगन में होती है-यह तो नैयायिक को सम्मत है । कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्य के अधिकरण में कारणतावच्छेदकसम्बन्ध से कारण के नहीं होने पर भी वहाँ कार्य की उत्पत्ति का होना ही तो व्यतिरेक व्यभिचार दोष है । इस तरह अदृष्टकारणता व्यतिरेकव्यभिचारग्रस्त होने पर नैयायिकों से संकल्पित व्याप्ति को = समवेतकार्य के प्रति अदृष्टकारणता के नियम को अन्ततो गत्वा व्याहत बनने के लिये विवश बनना पड़ता है । तब अदृष्ट में समवेतकार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपित स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्न कारणता के बल पर जो विभुत्वसिद्धि नैयायिक को अभिमत थी वह सिद्ध हो सकती नहीं है । अतः आत्मा को कायपरिमाणवाली मानना ही युक्त है-यह हम स्याद्वादियों

(शङ्का) अथात्मनश्चेन्निजकायमानता भवेत्तनोः खण्डनमङ्गसङ्गरे ।
सुयोधदोर्मण्डलकुण्डलीभवद्धनुः प्रकाण्डोद्गतकाण्डताडने ॥४१॥
अङ्गीकारपरास्तं नोत्सहते किल तदेतदुत्थातुम् । छिन्ने खलु नो चेच्चेष्टा कथमुदेतु ? ॥४२॥
तस्माददृष्टाकृष्टस्वान्तागमनिर्गमाभ्युपगमस्तु ।
अज्ञानमेव गमयति यौगानां गौरवविगीतः ॥४३॥

❀ जयलता ❀

यत्तु 'अयस्कान्तकृत्स्नदृष्टानामेकशक्तिमत्त्वेनैवाकर्षणहेतुत्वम् । एतेन शत्रुजिघांसया कृतेन श्येनयागेनाऽदृष्टजननात्तस्य शत्रावसम्बन्धात्कथमात्मविभुत्वं विना क्रियाफलोपपत्तिरित्यपि प्रत्याख्यातम्, शक्तिविशेषरूपस्य कारणत्वस्याऽसम्बन्धेऽप्यविरोधात्, सम्बन्धघटितत्वे वा तस्य प्रकृतेऽपि कल्पयितव्यः कश्चित्सम्बन्धः कल्प्यताम् । एतेन 'विभुत्वश्चात्मनो वह्नेरूर्ध्वज्वलनाद् वायोस्तिर्यग्गमनादवगतम् । न ह्यदृष्टकारितं । न च तदाश्रयेणासम्बद्धं अदृष्टं तयोः कारणं भवितुमर्हतीति, अतिप्रसङ्गात् । न चात्मसमवेतस्याऽदृष्टस्य साक्षात् अग्न्यादिसम्बन्धो घटते इति स्वाश्रयसम्बन्धद्वारेण तस्य सम्बन्ध इत्याश्रितम् । ततः समस्तमूर्तद्रव्य-सम्बन्धलक्षणमात्मनो विभुत्वं सिध्यती'ति (न्या. कं. पृ.२१८) **न्यायकन्दलीकारवचनं निरस्तम्** ।

एकचत्वारिंशत्तमपद्येन यौगः शङ्कते —> **अथ आत्मनो निजकायमानता चेत्** ? तर्हि **अङ्गसङ्गरे** = प्राणियुद्धे **तनोः सुयोधदोर्मण्डलकुण्डलीभवद्धनुःप्रकाण्डोद्गतकाण्डताडने** = सुभटबाहुयुगलयोः कुण्डलमिव भवतः प्रकाण्डचापादुत्क्षिप्तैः शरैः प्रहारे सति शरीरस्येवात्मनोऽपि **खण्डनं** = विनाशः भवेत् । तथा चात्मनोऽनित्यत्वप्रसङ्गः परलोकाभावश्च दुर्वाराविति नैयायिकाशयः ॥४१॥

अत्र स्याद्वादिनः प्रत्युत्तरः - **तदेतत्** अनन्तरोक्तं **किल अङ्गीकारपरास्तं** = कथञ्चिदभ्युपगमनिरस्तं **उत्थातुं** = स्याद्वादिमतपराकरणाय **नोत्सहते** = न क्षमीभवति । **नो चेत्** आत्मनः कथञ्चित्खण्डनं, **कथं खलु छिन्ने गोधाङ्गे** = गृहगोधिकापुच्छादौ **चेष्टा** कम्पादिस्वरूपा **उदेतु** ? अयं स्याद्वादिनोऽभिप्रायः शरीरस्य खण्डने कथञ्चिदात्मखण्डनमभिमतमेव । शरीर-सम्बद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशानां खण्डितशरीरप्रदेशेऽवस्थानात् आत्मनः खण्डनम् । तच्चात्र विद्यत एव । अन्यथा शरीरात्पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात् । शरीराच्छरीरिणः सर्वथा भेदे तच्छेदादिना कथं तस्य दुःखम् ? 'परम्परासम्बन्धेन तदात्मसम्बन्धादि'ति चेत् ? साक्षादेव कथं न तत्सम्बन्धः ? शरीरावयवच्छेद एव हि शरीरात्पृथग्भूतस्यावयवस्य कम्पोपलब्धि-र्यौक्तिमेवोपपद्यते नान्यथा, प्राणक्रियाया अपि तन्मात्रोपग्रहं विनाऽभावात् तस्यैकान्तनित्यत्वं तु श्रुतिबाधितम् । तदुक्तं 'असद्वेदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत (तै. २-७) इति **तैत्तिरीयोपनिषदीति** दिक् ॥४२॥

ननु च्छिन्ने शरीरात्पृथग्भूतावयवे आत्मनो मनः प्रविशति तदनुभावादेव **तत्र** कम्पोपलब्धिः ततस्तन्निर्गमे तु निश्चेष्टतैव तस्येत्येवमपि वक्तुं शक्यते शरीरात्मनोः सर्वथा भेदे । अदृष्टस्यैव तन्नियामकत्वेनानतिप्रसङ्गात् इति नैयायिकाशङ्कायां स्याद्वादी

का अटूट सिद्धान्त विजयी बनता है ॥४०॥

नैयायिक :- यदि आत्मा को शरीरप्रमाण मानी जाय तब तो प्राणियों के युद्ध में जब अपने शरीर में प्रतिपक्ष के सुभट के दोनों दृढ हाथ से कुण्डल की भाँति वर्तुलाकारप्राप्त प्रकाण्ड धनुष से निकले हुए बाणों का प्रहार होता है तब जैसे शरीर के खण्डशः टुकडे हो जाते हैं ठीक वैसे ही आत्मा का भी खण्डन = टुकडा हो जायेगा । फलतः आत्मा में अनित्यत्व की आपत्ति आयेगी । यही आत्मा को शरीरपरिमाणवाली मानने में बाधक है ॥४१॥

❋ आत्मा का कथंचित् छेद अभिमत - स्याद्वादी ❋

स्याद्वादी :- मगर नैयायिक का उपर्युक्त आक्षेप अभ्युपगम से पराहत हो जाने की वजह हम स्याद्वादी के प्रति अनिष्टापादन करने को खडा होने के लिए भी उत्साहित नहीं हो रहा है । मतलब कि शस्त्र आदि के प्रहार से शरीर के टुकडे हो जाने पर आत्मा का भी कथञ्चित् खण्डन होता ही है - यह हम स्याद्वादी को इष्ट है । यदि आत्मा का छेद कथमपि न माना जाय तब तो गोधा = गिरोली की छिन्न पुच्छ के टुकडे में कम्पन आदि चेष्टा कैसे उत्पन्न हो सकेगी ? क्योंकि शरीर तो जड है। शरीर से पृथक् शस्त्रछिन्न अवयव में चैतन्य न माना जाय तब घट आदि की भाँति उसमें भी कम्पनादि की उत्पत्ति हो नहीं सकती । मगर होती है । इसीसे सिद्ध होता है कि शस्त्रहत अवयव में भी आत्मा रहती है ॥४२॥

नैयायिक :- शस्त्र से छिन्न अवयव में कम्पनादि चेष्टा होने का कारण यह है कि भोक्ता आत्मा के अदृष्ट से मन, जो मूल शरीर में रहता था, खण्डित अवयव में जाता है जिसकी वजह से वहाँ कम्पनादि चेष्टा उत्पन्न होती है । जब अदृष्ट की बजह वह मन खण्डित अवयव से निकल कर मूल शरीर में चला जाता है उसके बाद खण्डित अवयव में कम्पनादि

खण्डितमपि तमखण्डितज्ञानशालिनो ब्रुवते ।
न हि पद्मनालतन्तौ च्छेदाच्छेदौ न संसिद्धौ ॥४४॥
खण्डनं न पृथग्भावो बहिर्निर्गम एव तु । सङ्कोचितप्रदेशस्य तत्र न प्रपमानता ॥४५॥

❀ जयलता ❀

प्रकृ-**तत्र** = छिन्नावयवे, **अदृष्टाकृष्टस्वान्तागमनिर्गमाभ्युपगमः** = आत्मसमवेतापूर्वनियन्त्रितमनःप्रवेशबहिर्निर्गमस्वीकारः तु **यौगानां** = शैवानां **अज्ञानमेव गमयति** = ज्ञापयति । अज्ञानसाधकं तादृशाभ्युपगमविशेषणमाह-**गौरवविगीतः** अप्रामाणिकगौरवकलङ्कितः। तथाहि छिन्नेऽवयवे यथा कम्पाद्युपलब्धिर्भवति तथा मूलशरीरेऽपि तदानीं सा प्रसिद्धा । आत्मनो मनस्त्वेकमणुः चेति न युगपदुभयत्र संयुज्यते । अतः प्रतिसमयं मनसो देहतदवयवयोर्यातायातत्वं तत्संयोग-तत्प्रागभावनाशादिकल्पनागौरवम् । वस्तुतो न तयोः क्रमशः चेष्टा दृश्यते किन्तु युगपदेव । अतो युगपदेव तयोः मनःसंयुक्तत्वमभ्युपगन्तव्यम् । न च यौगपद्यप्रत्ययस्य भ्रमत्वं सम्भवति युगपज्ज्ञानद्वयानुत्पादेऽपि नानाक्रियोत्पादस्य त्वयाऽपि स्वीकृतत्वात् ; न च त्वन्मये युगपदुभयत्र मनःसन्निकर्षसम्भवः । किञ्च मनसः शरीरादन्यत्र गमनेऽदृष्टसहस्राणामकिञ्चित्करत्वम् ॥४३॥

अत्र हि **अखण्डज्ञानशालिनो** जिनेन्द्रगणधरपूर्वधरादयः **खण्डितमपि** = शरीरात्पृथग्भूतावयवावस्थितं तं आत्मानं **अखण्डितं** = तदानीं मूलशरीरस्थासङ्ख्यात्मप्रदेशसम्बद्धं **ब्रुवते**, एकान्तेनाऽच्छिन्नत्वात् । न हि **पद्मनालतन्तौ च्छेदाच्छेदौ न संसिद्धौ** किन्तु प्रसिद्धावेव । न च पद्मनालतन्तुः पद्मनालादेकान्तेन छिन्नः, पद्मद्वयप्रसङ्गात् । नाप्येकान्तेनाच्छिन्न एव तन्तुव्यवहाराभावप्रसङ्गात् । **एतेन** च्छेदाच्छेदौ परस्परविरुद्धौ कथमेकत्र ? विरोधादिति **निरस्तम्**, अविगीतप्रत्यक्षस्यैव तद्विरोधापहारित्वात्, कथञ्चित्पदसंवलनेन निराकाङ्क्षशाब्दबोधोपपत्तेश्च । **एतेन** तदवयवस्थाः आत्मप्रदेशास्तत्रैव नष्टा इति **प्रत्युक्तम्**, तेषां नित्यत्वात्, कथञ्चिदनित्यत्वञ्च सङ्कोचविकाशभावमात्रेण तथा-तथापरिणमनापेक्षया, न तु न्यूनाधिकभावेनोत्पादविनाशापेक्षया, प्रदेशानां नियतसङ्ख्यत्वात् । न च ते सक्रियत्वेनान्यत्र गता इति **वक्तव्यम्**, अन्येषामपि तैः सह गमनं स्यात्, नित्यमविष्वग्भावेन तेषां सम्बद्धत्वाभ्युपगमात् । अत एव मनसो यातायातत्वकल्पनागौरवं न सावकाशमिति दिक् ॥४४॥

तदेव समर्थयति **खण्डनं** हि प्रकृतं न पृथग्भावः परस्पराऽजहद्वृत्तित्वात्तेषां, किन्तु शरीरसम्बद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशानां खण्डितावयवपर्यन्तं शृङ्खलावयवन्यायेन **बहिर्निर्गमः एव तु** खण्डनपदेनात्र विवक्षितम् । तर्हि मूलशरीर

नहीं होता है । इस तरह भी उसकी संगति की जा सकती है, तब क्यों आत्मप्रदेशों की वहाँ जाने की कल्पना की जाय?

स्याद्वादी :- यह नैयायिकों की कल्पना उनके अज्ञान की द्योतक है, क्योंकि वह अप्रामाणिक गौरव से कलङ्कित है । जब मूलशरीर से शस्त्रहत अवयव पृथक् हो जाता है तब खण्डित अवयव की भाँति मूल शरीर में भी कंपन, गति आदि चेष्टा होती है । मन तो एक एवं अणु होता है - इस नैयायिक मान्यता के अनुसार उपर्युक्त वस्तुस्थिति की संगति तभी हो सकती है जब मन प्रतिक्षण मूलशरीर और खण्डित अवयव में गमनागमन करे । इस तरह अनेक बार मन के अनेक संयोग और विनाश की खण्डित अवयव में कल्पना करने से गौरव तो स्पष्ट ही है । इसलिए नैयायिक के उपर्युक्त वक्तव्य का स्वीकार नहीं किया जा सकता ॥४३॥

❀ पद्मनालतंतु दृष्टान्त से आत्मा की खंडितता-अखंडितता सुसंगत ❀

इसकी अपेक्षा तो यही कल्पना करनी उचित महसूस होती है कि मूलशरीर में रहे हुए सर्व आत्मप्रदेशों में से ही कतिपय आत्मप्रदेश खण्डित अवयवपर्यन्त फैलते हैं । इस पक्ष में अनेक बार अदृष्ट से नवीन संयोग की उत्पत्ति एवं विनाश की कल्पना का गौरव निरवकाश है । मूल शरीर से अमुक आत्मप्रदेश खण्डित अवयव में जाते हैं इसकी अपेक्षा आत्मा का खण्डन = छेद कहा जाता है और तब भी वे खण्डित अवयव में रहनेवाले आत्मप्रदेश मूलशरीर के आत्मप्रदेशों से सम्बद्ध होने से आत्मा अखण्डित ही है - ऐसा अखण्डज्ञानवाले तीर्थंकर-गणधरादि महापुरुष कहते हैं । एक ही आत्मा में खण्डितत्व और अखण्डितत्व की कल्पना अपूर्व या अप्रामाणिक नहीं है, क्योंकि कमलनाल के छिन्न तन्तु का छिन्न नाल के साथ छेद और छेदाभाव दोनों ही प्रसिद्ध हैं । जैसे कमलनाल के छिन्न तन्तु एकान्ततः छिन्न नहीं है और सर्वथा अविच्छिन्न भी नहीं है ठीक वैसे ही आत्मा भी न तो सर्वथा खण्डित ही है और न तो सर्वथा अखण्डित ही है किन्तु अंशतः खण्डित और अखण्डित है ॥४४॥

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि आत्मा की खण्डितता का मतलब यह नहीं है कि जैसे शरीरावयव शस्त्र की बदौलत

एकसन्तानगामित्वं स्मृतं पुनरखण्डनम् । तेन नानात्मतापत्तिर्न तनुद्वयगामिनः ॥४६॥

✻ नयलता ✻

यावत्काले प्राणसंयोगः तावत्काले खण्डितावयवे कम्पोपलब्धिः स्यादित्याशङ्कायामाह- **संकोचितप्रदेशस्य** = पृथग्भूतहस्ताद्यवयवात् अदृष्टवशेन समाकृष्टाः स्वप्रदेशा येन तस्यात्मनः तदानीं **तत्र** = छिन्नहस्तादौ **न कम्पमानता** = कम्पमानता, तदानीं हस्तादेः चेतनात्मप्रदेशशून्यत्वात् ॥४५॥

खण्डनपदार्थो ज्ञातः सम्प्रतमखण्डनपदप्रतिपाद्यं निरूपयितुमुपक्रमते इत्याह **अखण्डनं** = अखण्डनपदप्रतिपाद्यं **पुनः एकसन्तानगामित्वं** – मूलशरीरस्थस्वात्मप्रदेशसमूहानुप्रवेशनं **स्मृतम्** । तेन कारणेन **तनुद्वयगामिनः** सतः स्वस्य **नानात्मतापत्तिः न** लब्धावकाशा । तदुक्तं **न्यायखण्डखाद्ये** प्रकरणकारेणैव —> छेदप्ररोहाद्वापि चात्मनः कायच्छेदप्ररोहयोः कथञ्चिदिष्टावेव, कायात्मनोरन्योन्यानुस्यूतप्रदेशत्वात् । इयांस्तु विशेषः छिन्नशरीरावयवप्ररोहस्तज्जातीयोत्पत्तिः आत्मप्रदेशप्ररोहश्च तत्रानुप्रवेशः । एवं छेदोऽपि शरीरस्य छिन्नावयवत्वेनोत्पत्तिः कथञ्चिदात्मच्छेदश्च शरीरसम्बद्धात्मप्रदेशानां कतिपयानां छिन्नावयवानुप्रवेश इति । यदि च नैवं स्वीक्रियते तदा शरीरात्पृथग्भूतावयवस्थकम्पोपलब्धिर्न स्यात्, पद्मनालतन्तुवदच्छेदस्यापि स्वीकारादेकान्तेन छेदानभ्युपगमाद्भयावयवस्थात्मप्रदेशानां पश्चात्सङ्घटनोपपत्तिः । आकृष्यमाणप्रदेशत्वाच्चास्य मूर्तत्वं स्पष्टमेव । अत एव न छिन्नावयवानामात्मप्रदेशानुप्रवेशेन पृथगात्मकत्वप्रसङ्गः, प्रविभक्तप्रदेशत्वस्यैव पृथक्त्वलक्षणत्वात् । न चात्रात्मप्रदेशाः प्रविभक्ताः, शृङ्खलावयवन्यायेन परस्पराजहद्वृत्तित्वात्, अवस्थाभेदेनावस्थावच्छेदस्तु नात्यन्तभेदनियतः, उत्कर्णविकर्णावस्थसर्पवदिति (म.स्त. ७४.न्या.खं.पृ.००३) इति ।

स्याद्वादकल्पलतायामपि —> 'नन्वेवं छिन्नावयवानुप्रविष्टस्य पृथगात्मत्वप्रसक्तिः स्यादिति चेत् ? न, तत्रैव पश्चादनुप्रवेशात्, किन्तु हस्तादौ कम्पादिलिङ्गाऽदर्शनादित्थं कल्पनात् । न चैकत्वादात्मनो विभागाभावाच्छेदाभाव इति वाच्यम्, शरीरद्वारेण तस्यापि सविभागत्वात्; अन्यथा सावयवशरीरव्यापिता तस्य न स्यात् । तथा च तच्छेदनान्तरीयकस्तच्छेदो न स्यात् । 'छिन्नाऽछिन्नयोः कथं पश्चात्सङ्घटनम्' ? इति **चेत्** ? न, एकान्तेनाऽछिन्नत्वात्, 'पद्मनालतन्तुवच्छेदेऽपि च्छेदाभ्युपगमात् । सङ्घटनमपि तथाभूतादृष्टवशादविरुद्धमेव । 'हन्त ! एवं शरीरदाहेऽप्यात्मदाहः स्यादि'ति चेत् ? न, क्षीरनीरयोरिवाऽभिन्नत्वेऽपि भिन्नलक्षणत्वेन तद्दोषाभावादिति' <— (शा.स. ७-३२ स्या.क.ल.पृ.१९५) इति प्रतिपादितं प्रकरणकारेणैव ॥४६॥

किञ्चात्मनो विभुत्वे शरीरावच्छेदेनेवान्यावच्छेदेन ज्ञानाद्युत्पादवारणाय ज्ञानादेरव्याप्यवृत्तित्वं कल्पनीयमिति गौरवम् । तच्च स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वरूपं अवच्छिन्नवृत्तिकत्वस्वरूपं प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिसामानाधिकरण्यलक्षणं वेत्यन्यदेतत् । तथा च ज्ञानादीनां ज्ञानाद्यभावविरोधोऽप्यवच्छेदकगर्भ एव कल्पनीय इत्यपि गौरवम् । अस्माकं तु तदगर्भस्यैव तद्विरो-

शरीर से पृथक् हो जाता है वैसे कतिपय आत्मप्रदेश आत्मा से पृथक् हो जाते हैं । खण्डन का मतलब यहाँ यह है कि शरीर से बाहर खण्डित शरीरावयव तक आत्मप्रदेशों का फैलना । शरीर के बाहर आत्मप्रदेशों का निर्गम ही खण्डनपद से यहाँ अभिप्रेत है । मगर वे आत्मप्रदेश भी सर्वदा छिन्नावयव में नहीं रहते हैं किन्तु बाद में वहाँ से अपने आत्मप्रदेशों को आत्मा खींच लेती है जिसकी वजह बाद में पूर्ववत् छिन्न अवयव में कम्पमानता देखी जाती नहीं है ॥४५॥

अखण्डितत्व का मतलब है एकसन्तानगामित्व । अपने शरीर में रहे हुए एक जीव में खण्डितावयवस्थ आत्मप्रदेशों का पुनः प्रवेश होना ही आत्मा की अखण्डितता है । आत्मा के प्रदेश भी आत्मा की भाँति नित्य हैं । अतः छिन्न अवयव में रहनेवाले आत्मप्रदेशों का भी बाद में नाश होता नहीं है किन्तु छिन्न अंशी के साथ पुनः संघटन हो जाता है । अदृष्ट में वह शक्ति रहती है, जिसकी वजह छिन्न अंश का छिन्न अंशी के साथ संघटन होने में कोई बाधा नहीं रहती है । इसलिए यहाँ इस शंका का कि —> 'देहअवयव के छेद से आत्मअवयव का छेद होता है - ऐसा मानने पर देह के छिन्न अवयव में आत्मा का जो भाग अनुप्रविष्ट होता है वह एक पृथग् जीव बन जायेगा । मूल शरीर में भी तब आत्मा तो रहती ही है । अतः दो शरीर में रहने की वजह अनेक आत्मा के स्वीकार की आपत्ति आयेगी' <— भी समाधान हो जाता है, क्योंकि आत्मा का जो भाग छिन्न देहावयव के साथ बाहर आता है वह मूल आत्मा से संलग्न होने से थोड़े समय के बाद अदृष्टमहिमा से पूर्व शरीर में रहनेवाली आत्मा में अनुप्रविष्ट हो जाता है । यह कल्पना इसलिए की जाती है कि देह के छिन्न अवयव में कुछ समय तक कम्प होता है और बाद में कम्प नहीं होता है ॥४६॥

✻ ज्ञान की अन्यत्र उत्पत्ति अप्रामाणिक - स्याद्वादी ✻

इसके अतिरिक्त आत्मविभुत्व पक्ष में यह आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहती है कि आत्मा तो स्वदेह की भाँति अन्यत्र भी रहती है तब तो जैसे शरीर में ज्ञान उत्पन्न होता है ठीक वैसे ही शरीर से अन्यत्र भी ज्ञानोत्पत्ति का अपलाप नहीं

ज्ञानस्याव्याप्यवृत्तित्वं नैवमित्यत्र लाघवम् । न वा तदनुरोधेनाऽनन्तहेतुत्वकल्पना ॥४७॥
व्यभिचारि समुद्घाते तनुमानत्वमस्ति चेत् ? नैवं तत्रापि सूक्ष्माङ्गसद्भावादिति भावय ॥४८॥

❀ जयलता ❀

धर्म्य कल्पनाल्लाघवम्, ज्ञानादेरप्यव्याप्यवृत्तित्वाकल्पनादित्याशयेन स्याद्वादी प्राह **ज्ञानस्य** उपलक्षणात् इच्छा-प्रयत्न-सुखादेः नैयायिकनये उदयकल्पनीयं **अव्याप्यवृत्तित्वं नैवं** प्रदर्शितरीत्या **अत्र** = आत्मनोऽविभुत्वे कल्पनीयं **इति** स्याद्वादिनये **लाघवम्** ।

किञ्चात्मनो विभुत्वे अवच्छेदकतासम्बन्धेन ज्ञानादौ शरीरादेरपि तादात्म्येन हेतुत्वं कल्पनीयमिति गौरवम् ? शरीरमानत्वनये तु नैवं कल्पनीयमिति लाघवमित्याशयेनोत्तरार्धमाह - **न वा तदनुरोधेन** = ज्ञानादेरव्याप्यवृत्तित्वानुरोधेन **अनन्तहेतुत्वकल्पना** स्याद्वादिनये आवश्यकी । ननु परनये कथं तदानन्त्यकल्पनमिति चेत् ? उच्यते, आत्मनो विभुत्वे स्वकीययोः आत्ममनसोः संयोगात् स्वशरीरावच्छेदेनात्मविशेषगुणोत्पत्तिदशायां परकीयशरीरेऽप्यवच्छेदकतासम्बन्धेन तदुत्पत्तिवारणाय तच्छरीरत्वविशिष्टाव-च्छेदकतासम्बन्धेनात्मविशेषगुणत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्येन तच्छरीरत्वेन कारणता वाच्या । तच्छरीरं च चैत्रत्वादिजातिविशेषेण ग्राह्यं तथा च विशेषणसामग्रीविरहादेव तदानीं तादृशपरशरीरे आत्मविशेषगुणसामान्योत्पादापत्त्यसम्भवः । स्वात्मसमवेतज्ञानादेः स्वशरीरावच्छिन्नस्यैव सम्भवादवच्छेदकतया तदुत्पत्तौ च तादात्म्येन स्वशरीरस्यैव हेतुत्वात् परात्मसमवेतज्ञानादेश्च परशरीरे आपादनस्यैवासम्भवात्, समवायसम्बन्धेनोत्पत्तिं विनाऽवच्छेदकतासम्बन्धेनोत्पत्तिविरहादिति तत्तच्छरीरस्य विशिष्य हेतुत्वकल्पनायां महागौरवम् । किञ्च सुषुप्त्युपधायकात्ममनःपूर्वसंयोगनाशोत्पादकाले तदुत्तरं च सुषुप्तिकाले आत्ममनोविभागक्षणोत्पत्त्यविशेषगुणज्ञानादिकं ज्ञानाद्युत्पादप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वम्, तदानीमप्यात्मनि पुरुषान्तरीयमनःसंयोगसत्त्वात् । न च तत्तन्मनःसंयोगत्वेन तत्तदात्मसमवेतात्म-विशेषगुणत्वेन हेतु-हेतुमद्भावान्नायं दोष इति वाच्यम्, आत्मनो विभुतायां स्वशरीरावच्छेदेन स्वात्मनि स्वीयमनःसंयोगोत्पत्तिदशायां स्वशरीरावच्छेदेन पुरुषान्तरीयात्मन्यपि स्वीयमनःसंयोगोत्पत्त्या पुरुषान्तरीयात्मन्यपि स्वात्मसमवेतात्मविशेषगुणोत्पादप्रसङ्गात् । **न च** तत्तदात्मविशेषगुणत्वावच्छिन्नं प्रति तदात्मत्वेनाऽपि समवायिकारणत्वान्नायमतिप्रसङ्ग इति **वाच्यम्**, प्रत्येकात्मस्थले एव कार्यकारणभावद्वयापत्तौ महागौरवात् । शरीरपरिमाणत्वनये तु सामान्यत एव समवायेन ज्ञानादौ स्वजन्यपर्यायगत्यापारसम्बन्धेन मनःसंयोगत्वेनैक एव हेतु-हेतुमद्भाव इति लाघवम् । अस्तु वा सुषुप्तिव्यावृत्तमनःसंयोगविशेषत्वेनैव सामान्यतो हेतुता तथाप्युक्त-गौरवविरहात् । आत्मविभुत्ववादे त्वेकस्य मनःसंयोगविशेषोत्पादेऽन्यात्मन्यप्यत्राऽवर्जनीयहेतुकतया तदापत्तिवारणायानन्तकार्यकारणभाव-कल्पनागौरवं दुष्परिहारमेव । **एतेन** तत्तदात्मत्वविशिष्टसमवायेन तत्तदात्मनिष्ठत्वोपलक्षितस्वसमवायावच्छिन्नाधारतानिष्ठसम्बन्धेन वाऽऽत्मविशेषगुणत्वावच्छिन्नं प्रति तेनैव सम्बन्धेन तत्तन्मनःसंयोगत्वेन कार्यसहवृत्तितया हेतुत्वमित्यपि **निरस्तम्**, एवमप्यात्मभेदे नानन्तहेतु-हेतुमद्भावस्य दुर्वारत्वादित्यधिकं **आत्मख्यातौ** द्रष्टव्यम् ॥४७॥

ननु आत्मनः **तनुमानत्वं** = शरीरपरिमाणत्वं **समुद्घाते** = केवलिसमुद्घाते **व्यभिचारि अस्ति इति चेत् ? नैवम्, तत्र**

किया जा सकता । मगर वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञान का उत्पाद शरीर से अन्यत्र नहीं होता है । इसकी संगति के लिए नैयायिक मनीषी ज्ञान आदि को अव्याप्यवृत्ति = स्वाभावसमानाधिकरण मानता है । मतलब कि शरीरावच्छेदेन आत्मा में ज्ञान आदि रहते हैं और घटादिअवच्छेदेन आत्मा में समवाय सम्बन्ध से वे नहीं रहते नहीं हैं । इस तरह ज्ञान आदि में अव्याप्यवृत्तिता की कल्पना का गौरव नैयायिकमत में आवश्यक है । मगर आत्मा को शरीरपरिमाणवाली मानने पर ज्ञानादि में अव्याप्यवृत्तिता = स्वाभावसामानाधिकरण्य की कल्पना का गौरव अनावश्यक है, क्योंकि संपूर्ण आत्मा में सुख, ज्ञान आदि की उत्पत्ति का अनुभव होता है जैसे 'सर्वाङ्गीणं सुखं अनुभूतं मया' इत्यादि प्रतीति तो सर्वजनप्रसिद्ध है । आत्मा शरीर से अन्यत्र नहीं रहने से ज्ञान, सुख आदि में अव्याप्यवृत्तिता की कल्पना आवश्यक नहीं है । अतः शरीरपरिमाणवाली आत्मा का स्वीकार करने में लाघव है । दूसरी बात यह है कि आत्मा को सर्वगत मानने पर जैसे अपने शरीर के साथ उसका सम्बन्ध होता है उसी प्रकार अन्य द्रव्यों के साथ भी उसका सम्बन्ध होता है । अतः अपने शरीर को छोड कर अन्य शरीरावच्छेदेन भी आत्मा में ज्ञानादि की उत्पत्ति की आपत्ति आयेगी, जिसको हटाने के लिए नैयायिक को यही कहना पड़ेगा कि - 'अवच्छेदकतासम्बन्ध से तत्तत् आत्मा के ज्ञानादि के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से तत्तत् आत्मा का शरीर कारण होता है' । इस तरह विशेषरूप से कारणता का स्वीकार करने पर फलतः अनन्त कार्यकारणभाव की आपत्ति आयेगी । मगर आत्मा को देहपरिमाणवाली मानने पर इस अनन्त कार्यकारणभाव की समस्या को अवकाश नहीं रहता है, क्योंकि तब ज्ञानादि के प्रति विशेषरूप से शरीर में कारणता का स्वीकार अनावश्यक है । अतः आत्मा को शरीरप्रमाण मानने में ही लाघव है- यह फलित होता है ॥४७॥

❋ समुद्घातविचारविमर्श ❋

यहाँ नैयायिक की ओर से स्याद्वादी के प्रति यह आक्षेप किया जाय कि --> ''आत्मा को शरीरप्रमाण नहीं मानी

कश्चित्तु → भवतो विभुनस्तथात्मनो ननु नानात्वमयुक्तमीक्ष्यते ।
नियतं यदुपाधिगामिनी भवति व्योम्न इव व्यवस्थितिः ।।४९।। तथाहि

❀ जयलता ❀

= केवलिसमुद्घातादौ **अपि** स्वशरीरबहिःस्थात्मप्रदेशेषु **सूक्ष्माङ्गसद्भावात्** कार्मणकाययोगादिलक्षणातीन्द्रियशरीरस्य विद्यमानत्वात् । समुद्घातो हि स्वशरीरमविहायात्मप्रदेशानां प्रयोजनविशेषेण वेदनाविशेषादिना वा बहिःनिःसरणमुच्यते । बहिर्निर्गतात्मप्रदेशेषु औदारिकादिकायविरहेऽपि कार्मणादिशरीरमस्त्येव । अतो न व्यभिचारि कायमानत्वमात्मनः । अस्माकमनेकान्तवादिनां समुद्घातातिरिक्तस्थले शरीरस्य विशिष्य हेतुत्वाऽकल्पनाल्लाघवम्, आत्मनः शरीरपरिमाणत्वेनैवानतिप्रसङ्गात् । वस्तुतः संसार्यात्मपरिमाणे शरीरनामकर्मपरिणतिविशेषः सिद्धात्मपरिमाणे च चरमभवीयत्रिभागहीनावगाहनापरिणामो योगनिरोधजनितो हेतुरित्यादिकं व्यक्तमेव **आत्मख्यातौ** । तदुक्तं **न्यायखण्डखाद्ये** प्रकरणकृतैव 'स आत्मा इह जगति लोकमितप्रदेशो लोकाकाशप्रदेशसमसङ्ख्यप्रदेश इति कृत्वा शक्त्या विभुः । न हि सकलमूर्त्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वं परेषामप्येकदा सम्भवति अतीतानागतसंयोगानां युगपदभावात् किन्तु तदवच्छेदकस्वरूपवत्त्वम् । तच्च लोकतुल्यप्रदेशत्वमिति शक्त्या आत्मनो विभुत्वाविरोधः। व्यक्त्या तु कर्मणा कृतं यत् सौवं = स्वकीयं शरीरं तन्मानस्तावन्मात्र इत्यविभुरेव' (न्या.खं.खा.गा. ७० पृ.४१६) इति ।

वस्तुत आत्मनि विभुत्वमत्र सकलमूर्त्तद्रव्यसंयोगित्वरूपं नैयायिकादिमतमनुरुध्योक्तम् । स्वनयेन तात्त्विकं विभुत्वं लोकालोकव्यापिन्याकाशे एव न त्वन्यत्रेति ध्येयम् । **एतेन** 'ज्यायानन्तरिक्षात्' (छा.उप.३/१४/३) इति **छान्दोग्योपनिषद्वचनं**, तथा 'ज्यायानाकाशात्' (शत.ब्रा. १०/६/३/२) इति **शतपथब्राह्मणवचनं**, आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' (गौड.३/३) इति **गौडपादकारिकावचनञ्च प्रत्याख्यातानि** समविधसमुद्घातस्वरूपं च सिद्धान्तरत्नाकरादवसेयम् ।।४८।।

पद्यपञ्चकेन **कश्चित्तु** = ब्रह्माऽद्वैतवादी तु व्याचष्टे-**ननु तथा** = नैयायिकोक्तप्रकारेण **विभुनो भवतः** = सिध्यत **आत्मनो नानात्वमयुक्तमीक्ष्यते** = अनुमीयते नैयायिकेन । कुतः ? गौरवात् । तर्हि चैत्रमैत्रादिभेद-जन्म-मरण-बन्ध-मोक्षादिव्यवहारसङ्गतिः कथं स्यात् ? एकस्मिन् मुक्ते सर्वेषां मुक्तिः प्रसज्येत तदभिन्नत्वात्, यद्वैकस्याऽपि मुक्तिर्न स्यात् तदभिन्नानामपरेषां संसारित्वादित्यादिकं बहु विप्लवते आत्माऽद्वैतमत इत्याशङ्कायामात्माऽद्वैतवादी ब्रूते-**यत्** = यस्मात् कारणात् **व्यवस्थितिः** चैत्रमैत्रादिभेद-जन्ममरण-बन्धमोक्षादिव्यवस्था **व्योम्न इव नियतं** = अवश्यं **उपाधिगामिनी** भवति । यथैकमेवाकाशं घटाद्यवच्छेदकभेदाद्भिद्यते घटाकाशं पटाकाशमिति, घटविनाशे सति घटाकाशविनाशेऽपि पटाकाशमवतिष्ठते महाप्रलये घटपटादिसकलोपाधिविलये निरवच्छिन्नं शुद्धमाकाशं भवति तथैवात्माद्वैतपक्षेऽपि व्यवस्थोपपद्यते ।।४९।।

जा सकती, क्योंकि वेदनासमुद्घात आदि में आत्मा का परिमाण अपने देह के परिमाण से अधिक होता है, जिसका स्वीकार जैन मनीषी भी करते हैं । अतः 'यत्र यत्र आत्मत्वं तत्र तत्र स्वशरीरपरिमाणतुल्यपरिमाणत्वं' · यह व्याप्ति व्यभिचारदोषग्रस्त बन जाती है'' ← तो यह भी निराधार है, क्योंकि औदारिक देह के बाहर आत्मप्रदेशों की समुद्घात अवस्था में विद्यमानता होने पर बाहरी आत्मप्रदेशों में सूक्ष्म कार्मणशरीर का हम स्याद्वादी स्वीकार करते हैं । इसलिए कार्मण शरीर के परिमाण से अधिक आत्मपरिमाण का हम स्वीकार नहीं करते हैं । तब आत्मत्व शरीरपरिमाणत्व का व्यभिचारी कैसे होगा ? हे नैयायिक ! तुम यह सोचो ।।४८।।

❀ अनेक विभु आत्माओं का स्वीकार नामुमकिन- अद्वैतवादी ❀

विभु एवं अनेक आत्मा का स्वीकार करनेवाले नैयायिक के मत के खिलाफ किसी वेदान्ती का यह कथन है कि → नैयायिकप्रदर्शित रीति से विभु = सर्वव्यापी सिद्ध होती हुई आत्मा में नैयायिक विद्वानों के द्वारा नानात्व = अनेकत्व का दर्शन किया जाता है वह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि विभु आत्मा को एक मान कर भी जगत् की सर्व व्यवस्था की सङ्गति हो जाती है । जैसे आकाश एक एवं सर्वव्यापक होने पर भी घट, पट आदि उपाधिभेद से घटाकाश, पटाकाश आदि भिन्न होते हैं । घट का नाश होने पर घटाकाश का नाश होने पर भी पटाकाश का नाश नहीं होता है। पटाकाश की उत्पत्ति होने पर भी पुनः घटाकाश की उत्पत्ति नहीं होती है । ठीक वैसे ही विभु आत्मा को एक मानने पर भी चैत्र, मैत्र आदि प्रत्यगात्मा में भेद की उपाधिभेद से उपपत्ति हो सकती है, क्योंकि उपाधिभूत जिस अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य में चैत्र का व्यवहार होता है उस उपाधि से भिन्न अन्तःकरणात्मक उपाधि से वह चैतन्य अवच्छिन्न = विशिष्ट है, जिसमें मैत्र का व्यवहार होता है । चैत्रान्तःकरण एवं मैत्रान्तःकरण भिन्न होने की वजह चैत्र और मैत्र में भेद का व्यवहार हो सकता है ।।४९।।

चैत्रमैत्रकरणे न लभेते पश्य जन्ममरणव्यतिहारम् ।
कामिनीपृथुपयोधररोधोरोधिनौ प्रियकराविव भिन्नौ ॥१०॥
अङ्गसङ्गमभिदेलिमभावाज्जायते स्वपरसंव्यवहारः ।

❀ जयलता ❀

तथाहि तत्तदन्तःकरणाद्युपाधिभेदेन चैत्रमैत्रादिः प्रत्यगात्मा परस्परं भिद्यते । अत एव **चैत्रमैत्रकरणे** = चैत्रीयमैत्रीयान्तःकरणे **जन्ममरणव्यतिहारं** = परस्परीयोत्पादव्ययैकक्रियाकरणं **न लभेते** इति हे नैयायिक ! त्वं **पश्य** । यतः **कामिनीपृथुपयोधररोधोरोधिनौ** = नितम्बिनीविशालवक्षोजारोहावरोहव्यापृतौ **प्रियकरौ** = एकस्यैव प्रियतमस्य हस्तौ **इव** = यथा **भिन्नौ** । यथा पत्युरेकत्वेऽपि तत्करभेदात् एकस्य करस्य स्तनावरोहव्यापृतत्वेऽप्यन्यः करः तदारोहे व्याप्रियमाणो दृश्यते न तु परस्परैकक्रियाकरणलक्षणव्यतिहार-भाग्भवति । तथैव ब्रह्मण एकत्वेऽप्यन्तःकरणभेदादेकस्यान्तःकरणस्योत्पत्तिव्यग्रत्वेऽप्यन्यस्मिन्नन्तःकरणे विलयव्यग्रत्वं न सङ्कीर्णं विरुद्धं वा भवति । न चैवं ब्रह्मणोऽपुत्पादव्ययापत्तिः, तदाह **मधुसूदनसरस्वती अद्वैतसिद्धौ**- 'दर्पणस्य मुखमात्रसम्बन्धेऽपि प्रतिमुखे मालिन्यवत् प्रतिबिम्बे जीवे संसारः, न बिम्बे ब्रह्मणि, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्' (अ.सि.पृ.५७७) । न चैवमपि प्रत्यगात्मनि कर्तृत्वं कथमिति वाच्यम्, अविद्यावशात्तदुपपत्तेः । तदुक्तं **वाचस्पतिमिश्रेण भामत्यां**- 'अन्तःकरणाद्यवच्छिन्नः प्रत्यगात्मा इदमनिदंरूपः चेतनः कर्ता भोक्ता कार्यकारणाविद्याद्वयाधारः अहङ्कारास्पदं संसारी सर्वानर्थसम्भारभाजनं जीवात्मा इतरेतराध्यासोपादानः तदुपादानश्चाध्यासः इत्यनादित्वात् बीजाङ्कुरवन्नेतरेतराश्रयत्वमिति' (भा.पृ.४५)। तद्विलय एव मुक्तिः । तदुक्तं **नैष्कर्म्यसिद्धौ सुरेश्वराचार्येण** 'ऐकात्म्याप्रतिपत्तिर्या स्वात्मानुभवसंश्रया । साऽविद्या संसृतेर्बीजं तन्नाशो मुक्तिरात्मनः ॥' (नै.सि.१/७) इति । अज्ञानाश्रयत्वेऽपि मतद्वयं; **संक्षेपशारीरकवार्तिककारेण सर्वज्ञात्ममुनिना**ऽज्ञानस्य ब्रह्माश्रितत्वं **सुरेश्वराचार्य**-प्रणीतनैष्कर्म्यसिद्धिव्याख्यावर्णितमुपगतं **विश्वरूपाचार्य**प्रभृतिभिरुपपादितं **प्रकाशात्मयतिनाम्ना विवरणाचार्येण** प्रतिपक्षखण्डनपूर्वकं समर्थितं **विद्यारण्यस्वामिना विवरणप्रमेयसङ्ग्रहे** उपोद्बलितञ्च । **मण्डनमिश्रेणा**ऽज्ञानस्य जीवाश्रयत्वं स्वीकृतं **भास्कराचार्येण** परिष्कृतं **भामतीकारेण वाचस्पतिमिश्रेणो**पबृंहितञ्च । **मधुसूदनसरस्वती** तु पक्षद्वयमद्वैतसिद्धौ सविस्तरं समर्थयते । यथा चैतत्तत्त्वं तथा तत्तद्ग्रन्थेभ्योऽवसेयमित्यलं प्रसङ्गेन ॥५०॥

आत्माद्वैते स्वपरव्यवहारः कथं ? इत्याशङ्कायां ब्रह्माद्वैतवाद्याह- **अङ्गसङ्गमभिदेलिमभावात्** = तत्तत्तनुसंयोगभेदसद्भावात् ब्रह्माद्वैतेऽपि **स्वपरसंव्यवहारःजायते** = उपपद्यते । स्वत्वपरत्वप्रकारकप्रतीतिव्यवहारौ तत्तच्छरीरसंयोगभेदमूलौ न त्वात्मान्यत्व-निमित्ताविति तात्पर्यम् । **एतेन** जीव-शिवयोर्भेदव्यवहाराऽसम्भवोऽपि **प्रत्याख्यातः**, शरीरसंयोगाऽसंयोगाभ्यामेव तद्भेदात् ।

इसीलिये यहाँ यह शंका कि —> 'आत्माद्वैत पक्ष में तो एक के जन्म से सभी का जन्म और एक की मौत से सभी के मौत की आपत्ति आयेगी । चैत्र की जन्मक्रिया में मैत्र भी व्यापृत हो जायेगा, क्योंकि चैत्र और मैत्र की आत्मा एक ही है । तब तो चैत्र का जन्म होने पर मैत्र का भी जन्म होने लगेगा । एवं मैत्र जब मौत = मरणक्रिया में व्यापृत हो रहा होगा तब चैत्र भी मरणक्रिया के अनुकूल प्रयत्न करने लगेगा, क्योंकि दोनों की आत्मा अभिन्न है । तब तो मैत्र की मौत होने पर चैत्र का भी निधन हो जायेगा । इस तरह जन्म - मरण में व्यतिहार को = परस्पर की क्रिया में परस्पर की प्रवृत्ति को मान्य करना होगा, जो कि लोकव्यवहार से विरुद्ध है' <— भी निराकृत हो जाती है, क्योंकि चैत्रात्मा और मैत्रात्मा अभिन्न होने पर भी चैत्र का अन्तःकरण और मैत्र का अन्तःकरण ठीक उसी तरह भिन्न होते हैं जैसे अपनी प्रिया के विशाल स्तनयुगम में से एक स्तन पर आरोह करनेवाले और दूसरे स्तन पर अवरोह करनेवाले दो हाथ, जो एक ही प्रियतम के हैं, परस्पर भिन्न हैं । परस्पर भिन्न होने की वजह जैसे वहाँ 'एक हाथ जिस क्रिया को करता है उसी क्रिया को दूसरा कर रहा है या दूसरा हाथ जिस प्रवृत्ति को करता है उसीको दूसरा हाथ कर रहा है' ऐसा व्यवहार या प्रतीति नहीं होने से व्यतिहार दोष को अवकाश नहीं है, भले ही दोनों हाथ के स्वामी में अभेद हो । ठीक वैसे ही चैत्रात्मा और मैत्रात्मा एक ही होने पर भी चैत्रान्तःकरण और मैत्रान्तःकरण परस्पर भिन्न होने की वजह जब चैत्र का जन्म होता है तब मैत्रान्तःकरण जन्म क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता है एवं मैत्र का निधन होने पर चैत्रान्तःकरण की उसमें प्रवृत्ति होने की आपत्ति को अवकाश नहीं है ॥५०॥

चैत्रात्मा, मैत्रात्मा, देवदत्तात्मा, यज्ञदत्तात्मा परस्पर अभिन्न होने पर भी भिन्न भिन्न शरीर का संयोग होने की वजह उनमें स्व और पर का व्यवहार जगत में होता है । मतलब कि 'मैं पर से भिन्न हूँ', 'पर मुझ से भिन्न होता है' इस

आपतेदनुमितिः परवृत्तिस्तत्परामृशति नापरपुंसि ॥५१॥

अवच्छिन्ना त्वनुमितिर्नापाद्या मायता त्वया । आपाद्यता हि जन्यत्वावच्छेदकपुरस्कृता ॥५२॥

※ जयलता ※

वाचस्पतिमिश्रस्तु 'अज्ञानविषयीकृतं चैतन्यमीश्वरः, अज्ञानाश्रयीभूतं च जीव' इति व्याचष्टे । 'अस्मिंश्च पक्षेऽज्ञाननानात्वाज्जीवनानात्वम् । प्रतिजीवञ्च प्रपञ्चभेदः जीवस्यैव स्वाज्ञानोपहिततया जगदुपादानत्वात् । प्रत्यभिज्ञा चापि सादृश्यात् । ईश्वरस्य च सप्रपञ्चजीवाविद्याधिष्ठानत्वेन कारणोपचारादिति । अयमेव चावच्छेदकवादः' (सि.बि.पृ.२२७) इति **सिद्धान्तबिन्दौ** स्पष्टमुक्तम् ।

अथात्माद्वैतनये **तत्परामृशति** = तस्मिन् चैत्रे 'पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्' इति परामृशति सति **अपरपुंसि** परामर्शशून्ये मैत्रे **परवृत्तिः** = चैत्रवृत्तिः **अनुमितिः** = पर्वतपक्षक-वह्निविधेयकानुमितिः **आपतेत्**, ज्ञानाज्ञानयोः विरोधादिति **चेत्** ? **न**, भिन्नाश्रययोः ज्ञानाज्ञानयोरेकविषययोरपि विरोधित्वाऽदर्शनात् । करणाश्रयमज्ञानं कर्त्राश्रयज्ञानेन विरुध्यत इति **चेत्** ? न, प्रमाणाभावात्, पुरुषान्तरसुषुप्तौ च तदीयेनान्तःकरणेन लीयमानेन करणभूतेन तन्निमित्तकर्मानुमानेऽपि तदीयान्तःकरणाज्ञाननिवृत्त्यदर्शनादिति (पं.विव.पृ.४६) **पञ्चपादिकाविवरणकारः** । तदुक्तं **भास्करमतापाकरणे विद्यारण्यस्वामिनाऽपि विवरणप्रमेयसङ्ग्रहे**- ''आत्माश्रितज्ञानेनान्तःकरणाश्रितस्याऽज्ञानस्य विरोधासम्भवात् । एकस्मिन्नपि विषये देवदत्तनिष्ठज्ञानेन यज्ञदत्तनिष्ठाज्ञानस्यानिवृत्तेः । 'अन्यत्र भिन्नाश्रययोरविरोधेऽपि करणगतमज्ञानं कर्तृगतज्ञानेन विरुध्यत' इति **चेत्** ? **न**, 'यज्ञदत्तोऽयं अन्तःकरणलयहेतुदृष्टवान् सुषुप्तौ लीयमानान्तःकरणत्वात्' इत्यनुमातरि देवदत्ते स्थितेनाऽनेन ज्ञानेनाऽनुमितिकरणभूते सुषुप्तयज्ञदत्ताऽन्तःकरणे स्थितस्याऽज्ञानस्याऽनिवृत्तेः'' (विव.प्र.पृ.४९) इति ॥५१॥

प्रकरणकारस्तु **मधुसूदनसरस्वती**मतं पुरस्कृत्योक्तदोषनिराकरणाय नानाविध्यात्मवादिनैयायिकमतखण्डनोद्देशेनोपक्रमते - **मायता त्वया** नानाविध्यात्मवादिना नैयायिकेन **अवच्छिन्ना** = तत्तदन्तःकरणाद्यवच्छिन्ना **अनुमितिस्तु नापाद्या**, **हि** = यस्मात् कारणात् **आपाद्यता जन्यतावच्छेदकपुरस्कृता** भवतीति शेषः । अयं वेदान्तिनोऽभिप्रायः शुद्धं ब्रह्म तावत्स्वयमपरोक्षप्रकाशस्वरूपमिति न तस्मिन् परोक्षानुमित्यापादनं सम्भवति किन्तु तत्तदन्तःकरणावच्छिन्ने प्रत्यगात्मनि परोक्षानुमितेरेवापादनं सम्भवति । परं चैत्रान्तःकरणावच्छेदेनात्मनि परामर्शे सति मैत्रान्तःकरणावच्छेदेनानुमितेरापादनं नैव सम्भवति, मैत्रान्तःकरणावच्छिन्नानुमितित्वस्य चैत्रान्तःकरणावच्छिन्नपरामर्शकार्यतानवच्छेदकत्वात्, कार्यतानवच्छेदकावच्छिन्नस्यानापाद्यत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । न हि वृक्षस्यैकत्वेऽपि शाखायां कपिसंयोगसत्त्वे मूलावच्छिन्नकपिसंयोगो निवर्तते । चैत्रान्तःकरणावच्छिन्नाऽनुमितिस्तु भवत्येव तदानीमिति न कश्चिद्दोषः । न च चैत्रादेर्मैत्राद्यभिन्नत्ववत् खपुष्पाद्यभिन्नत्वमिष्टं चेत्तदा खपुष्पादीनामपि ब्रह्मात्मकत्वं ब्रह्मणो वा तुच्छत्वं प्रसज्येत तदनङ्गीकारे च द्वैतप्रसङ्ग इत्युभयतः पाशारज्जुरिति **वाच्यम्**, सदद्वैतस्यैवाभ्युपगमात्, असदद्वैतं त्वङ्गीक्रियत एवेति **मधुसूदनसरस्वती** ॥५२॥

प्रकार का जो स्व-परव्यवहार होता है वह भिन्न भिन्न शरीरसंयोगात्मक उपाधि के भेद से होता है, न कि चैत्रात्मा और मैत्रात्मा आदि के भेद से । इसी तरह आत्माद्वैतमत में इस आपत्ति को भी कि —> ''चैत्रात्मा और मैत्रात्मा परस्पर अभिन्न है तब तो चैत्र को 'पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्' इत्याकारक परामर्श होने पर उत्तर क्षण में जैसे चैत्र को यह अनुमिति होती है कि 'पर्वतो वह्निमान्' ठीक वैसे ही वह अनुमिति मैत्र में भी होने लगेगी, क्योंकि चैत्रात्मा और मैत्रात्मा परस्पर अभिन्न ही है और ज्ञान अज्ञान का विरोधी होता है'' <— अवकाश नहीं है ॥५१॥

इसका कारण यह है कि आप चैत्रात्मा में अनुमिति होने पर मैत्रात्मा में अनुमिति की उत्पत्ति का आपादन कर रहे हैं । इसका अर्थ यही है कि चैत्रान्तःकरणावच्छेदेन आत्मा में परामर्श होने पर मैत्रान्तःकरणावच्छेदेन आत्मा में अनुमिति उत्पन्न होनी चाहिए । अर्थात् सावच्छिन्न = अन्तःकरणावच्छिन्न = मैत्रान्तःकरणावच्छिन्न अनुमिति की उत्पत्ति का आपादन आपको अभिमत है । मगर नानात्मवाद से मदोन्मत्त आप नैयायिक उक्त सावच्छिन्न अनुमिति का आपादान नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वास्तव में आपाद्यता जन्यतावच्छेदक के पुरस्कार से होती है । जिस सामग्री का कार्यतावच्छेदक जिसमें रह सकता हो उसीका आपादन उस सामग्री से हो सकता है । चैत्रात्मा, मैत्रात्मा परस्पर अभिन्न होने पर भी मैत्रान्तःकरणावच्छिन्न अनुमिति का आत्मा में आपादन करना हो तब उसकी सामग्री मैत्रान्तःकरणावच्छिन्न परामर्शज्ञान की आत्मा में उपस्थिति होनी चाहिए । यहाँ तो आपादकविधया चैत्रान्तःकरणावच्छिन्न परामर्श ज्ञान का निर्देश किया गया है तब उससे कैसे मैत्रान्तःकरणावच्छिन्न अनुमिति का आपादन हो सकता है ? विद्यमान सामग्री के जन्यता अनवच्छेदक से अवच्छिन्न का आपादन कभी भी नहीं हो सकता, अन्यथा दण्ड, चक्र, कुलाल आदि होने पर पट का भी आपादन होने लगेगा ॥५२॥

बाधबुद्धिरपराधिनी पुनः शश्वदेव न विशेषदर्शिनः ।
चैत्रवृत्तिकृतभेदतद्धियश्चैत्रतत्प्रतिहतौ हि वैभवम् ॥९३॥

❀ जयलता ❀

नन्वात्माद्वैते विशेषदर्शिनः चैत्रादेः 'अहं मैत्रादिप्रमातृ-घटादिप्रमेयभिन्न' इति बाधबुद्धिरेव विरोधिनीत्याशङ्कायां नव्यं पद्यं वेदान्ती व्याचष्टे-**विशेषदर्शिनः** = भेददर्शिनः पुरुषस्य **अपराधिनी** = श्रुत्यादिप्रमाणसिद्धात्माद्वैतविरोधिनी **बाधबुद्धिः** निरुक्तस्वरूपा **पुनर्न शश्वदेव** = सदैव भवति । यतः सा **चैत्रवृत्तिकृतभेदतद्धियः** = चैत्रान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यलक्षणप्रमातृ-चैतन्यभेद-तदन्तःकरणवृत्तिलक्षणप्रमेय-चैतन्यभेदविशिष्टायाः विशेषबुद्धेः सकाशात् भवति । अत एव **चैत्रतत्प्रतिहतौ** = चैत्रान्तःकरण-विशेषबुद्ध्योर्विच्छेदे हि सा बाधबुद्धिर्निवर्तते इति सिद्धमात्मनो **वैभवं** = निरवच्छिन्नत्वम् । अयमात्माद्वैतवादिनोऽभिप्रायः अज्ञानविरोधि हि ज्ञानं न चैतन्यमात्रं किन्तु अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितं हि तत् प्रमाणाभिधानं चैतन्यम् । अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यम् । विषयाकारा अन्तःकरणवृत्तिर्हि प्रमेयचैतन्यम् । तयोश्च संव्यवहारदशायां भेदात् तद्विशिष्टाया विशेषबुद्धेः = भेदबुद्धेः बाधबुद्धिर्भवति । सा च 'तत्त्वमसि' इत्यादिवेदान्तवाक्योत्पन्नतत्त्वज्ञानद्वारा निवर्तते तदानीमविद्याया विलयेन तन्मूलकप्रमातृचैतन्यभेद-प्रमेयचैतन्यभेद-प्रमाणचैतन्यभेदा अपि विलीयन्ते । अद्वैततत्त्वं तु श्रुतिसिद्धम् । तदुक्तं **छान्दोग्योपनिषदि** 'यथा सोम्य ! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा.उप. ६/१/४) इति । वाचैव केवलमस्तीति आरभ्यते विकारो घटः शराव इति न तु वस्तुवृत्तेन विकारोऽस्ति । नामधेयमात्रं ह्येतदनृतं, मृत्तिकेत्येव सत्यम् । एष ब्रह्मणो दृष्टान्त आम्नातः । तत्र श्रुताद् वाचारम्भणशब्देन दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यजातस्याभाव इति निश्चीयते । यथा घटपटाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वं यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्, स्वरूपेणानुपाख्यत्वात् एवमस्य प्रमातृप्रमेयादिविकारजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति निश्चेयम् । तदुक्तं **ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये** –> 'मृत्तिकेत्येव सत्यमिति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात् वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्यानृतत्वाभिधानात् । दार्ष्टान्तिकेऽपि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' इति च परमकारणस्यैवैकस्य सत्यत्वावधारणात्, 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो !' इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात् । स्वयं प्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते न यत्नान्तरप्रसाध्यम् । अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मत्वस्य बाधकं सम्पद्यते, रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम् । बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति, यत्प्रसिद्धये नानात्वांशोऽपरो ब्रह्मणः कल्प्येत । दर्शयति च 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ.४/५/१५) इत्यादिना ब्रह्मात्मत्वदर्शिनं प्रति समस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याभावम् । न चायं व्यवहाराभावोऽवस्थाविशेषनिबद्धोऽभिधीयत इति युक्तं वक्तुम्, 'तत्त्वमसी'ति ब्रह्मात्मभावस्यानवस्थाविशेषनिबन्धनत्वात् । तस्करदृष्टान्तेन चानृताभिसंधस्य बन्धनं सत्याभिसन्धस्य च मोक्षं दर्शयन्नेकत्वमेवैकं पारमार्थिकं दर्शयति । मिथ्याज्ञानविजृम्भितञ्च नानात्वम् । उभयसत्यतायां हि कथं व्यवहारगोचरोऽपि जन्तुरनृताभिसन्ध इत्युच्येत ? 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ.४/४/१९) इति च भेददृष्टिमपवदन्नेतदेव दर्शयति' <– (ब्र.सू. २/१/१४ शां.भा.) इति ।

एवञ्चात्मनो विभुत्वेऽद्वैतत्वादिना साम्येऽपि सिद्धे नैयायिकेन किमपि वक्तुं न पार्यते । न चैवमद्वैतनयाश्रयेण संगमनापाकरणे स्याद्वादिनामद्वैतमतप्रवेश इति वाच्यम्, अभिनिविष्टस्यान्यस्य नयान्तरेण खण्डनस्यापि शास्त्रार्थत्वात्, दृष्टान्तच्छेदतो नाद्वै

–> 'मैत्र, चैत्र आदि प्रमाता एक नहीं है किन्तु भिन्न है' यह बाध बुद्धि होने से आत्माद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती- ऐसा यहाँ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि विशेषदर्शी की वह विरोधी बाधबुद्धि सदा के लिये नहीं रहती है । चैत्र के अन्तःकरण की वृत्ति के भेद से चैत्र की बुद्धि में मैत्रबुद्धिभिन्नता रहती है । जब चैत्रान्तःकरण का विच्छेद हो जाता है तब अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यस्वरूप प्रमाता का उच्छेद हो जाता है एवं अन्तःकरणवृत्ति का उच्छेद होने पर वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यात्मक ज्ञान का उच्छेद हो जाता है । इसी तरह घटाकार अन्तःकरणवृत्तिस्वरूप प्रमेय का विलय घटादि के तिरोभान से हो जाता है । तब प्रमाता एवं प्रमेय के भेद से होनेवाली भेदबुद्धि का भी विलय हो जाने से केवल एकमेवाद्वितीय निरवच्छिन्न विभु शुद्ध ब्रह्मतत्त्व रहता है । 'तत्त्वमसि' इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से अविद्या = अज्ञान का दूरीकरण होता है । तब नित्य, विभु, शुद्ध, एक, ब्रह्मतत्त्व स्वप्रकाशात्मक व्यक्त होता है । यह वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती आदि का मन्तव्य है । इसके अनुसार तो विभु आत्मा को एक मानने पर भी लोकव्यवहार आदि की उपपत्ति हो सकती है । तब नैयायिक को, जो विभु एवं अनेक आत्मा का स्वीकार करता है, उसका समाधान देना दुर्लभ हो जायेगा ॥९३॥

एवं प्रयुञ्जतेऽस्मिन्नात्मा भवति देहपरिमाणः । तन्मात्रवृत्तिनिजगुणयोगान्नियमानुरोधेन ॥५४॥
तथा च स्तुतिकृतः → 'यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतत् ।
तथापि देहाद् बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहताः पठन्ति ॥५५॥ (अन्य.व्य.९)

❋ नयलता ❋

दुष्टबोद्धृपरकण्टक इति न्यायेन । आत्माद्वैतमतं तु 'प्रतिक्षेत्रं भिन्नं' इत्येतद्व्याख्याने निराकरिष्यत इति मा त्वरय ॥५३॥

इति आत्मनानात्वसिद्ध्यन्तरक्षार्थमद्वैतमताप्रवेशकृते चात्मनो देहपरिमाणत्वमेवाभ्युपगन्तुमर्हति नैयायिकस्येत्याशयेन स्याद्वादी प्राह- **एवं अस्मिन्** आत्मविभुत्वपक्षे नानात्मसिद्धौकारसम्भवे सति तन्नानात्वोपगतये प्रामाणिकाः **प्रयुञ्जते आत्मा देहपरिमाणो भवति तन्मात्रवृत्तिनिजगुणयोगात्** = देहमात्रवृत्तिस्वगुणाभिसम्बन्धात् । कुतः ? 'यो यत्रैव दृष्टगुणः स तत्रैव' इति**नियमानुरोधेन** ॥५४॥

न चैतन्मूलकाराशयविरुद्धमित्याशयेन प्रकरणकार आह - **तथा च स्तुतिकृतः** = स्तुतिकारत्वेन प्रसिद्धा मूलकृतः श्रीहेमचन्द्रसूरयः **अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकायां** प्राहुः यदुत-**यत्रैवेति** । → यत्रैव देशे **यः** = पदार्थः **दृष्टगुणः** = दृष्टाः प्रत्यक्षादिप्रमाणतोऽनुभूताः गुणाः यस्य स तथा **स** पदार्थः **तत्रैव** = विवक्षितदेश एव, उपपद्यते इति क्रियाध्याहारो गम्यः, पूर्वस्यैवकारस्यावधारणार्थस्यात्रापि सम्बन्धात् तत्रैव नान्यत्रेत्यन्ययोगव्यवच्छेदः । अमुमेव दृष्टान्तेन दृढयति-**कुम्भादिवदिति** पदाविवत् । यथा कुम्भादेर्यत्रैव देशे रूपादयो गुणा उपलभ्यन्ते तत्रैव तस्यास्तित्वं प्रतीयते नान्यत्र । एवमात्मनोऽपि गुणाः चैतन्यादयो देह एव दृश्यन्ते न बहिः । तस्मात् तत्प्रमाण एवात्मेति । **निष्प्रतिपक्षमेतदिति** । एतद् निष्प्रतिपक्षं = बाधक-रहितम्, न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम इति न्यायेन । **तथापि** = एवं निःसपत्नं व्यवस्थितेऽपि तत्त्वे, **अतत्त्ववादोपहताः** कुत्सित-तत्त्ववादेन तदभिमताप्ताभासपुरुषविशेषप्रणीतेन तत्त्वाभासप्ररूपणेनोपहताः व्यामोहिताः, **देहाद् बहिः** = शरीरव्यतिरिक्तेऽपि देशे **आत्मतत्त्वं** = आत्मरूपं **पठन्ति** = शास्त्ररूपतया प्रणयन्ते ← इति **श्रीमल्लिषेणसूरि**व्याख्यालेशः । विस्तरस्तु तत्रत्यः प्रकरणकृता प्रायः सर्व एवात्र पूर्वं पद्यप्रणालिकया प्रदर्शितः किञ्चिदनुपदं दर्शयिष्यते च । तथा च स्वदेहमात्रव्यापकत्वेन हर्षविषादाद्यनेकविवर्तात्मकस्य 'अहं' इति स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वादात्मनो विभुत्वसाधकत्वेनोपन्यस्यमानः सर्व एव हेतुः प्रत्यक्ष-बाधितानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः । 'देवदत्तात्मा देवदत्तशरीरमात्रव्यापकः तत्रैव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणत्वात् । यो यत्रैव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणः स तन्मात्रव्यापकः यथा देवदत्तस्य गृह एव उपलभ्यमानभास्वरत्वादिगुणः प्रदीपः, देवदत्तशरीर एव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणस्तदात्मा इति । तदात्मनो हि ज्ञानादयो गुणाः । ते च तद्देह एव व्याप्त्योपलभ्यन्ते, न परदेहे नाप्यन्तराले' (स.त.१/१ पृ.५८२) इति **सम्मतिटीकाकारो**ऽपि व्याचष्ट । विशेषणाय यत्रैवेति द्रष्टव्यः, दृष्टत्वं गुणविशेषणं हेतोः प्रामाणिक-त्वलाभाय न तु हेतुप्रविष्टम् । तथा च आत्मा शरीरनियतवृत्तिताकः शरीरनियतवृत्तिताकगुणवत्त्वात् कुम्भवदिति लब्धम् । तत्र च साध्ये शरीरनियतपदोपादानमनर्थकं स्ववृत्तिताकत्वमात्रसिद्धयैवात्ऽविभुत्वसिद्धेः ।

वस्तुतस्तु आत्मा स्वकर्मकृतशरीरसमानावगाहनाकः स्वध्वंसभोगवत्त्वादित्यत्र तात्पर्यम् । स्वकर्मकृतत्वञ्च स्वकर्मनिष्प-

ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती के निराकरणार्थ एवं नानात्मवाद के उपपादनार्थ यही स्वीकार करना नैयायिक के लिये उचित है कि आत्मा देहपरिमाण है । यहाँ पूर्व जैनाचार्यों ने सबल प्रमाण भी पेश किया है कि - आत्मा शरीरपरिमाणवाली है, क्योंकि केवल शरीर में ही ज्ञान, इच्छा आदि की वृत्तिता होती है, जैसे कि घट । यह एक नियम है कि जिसके गुण की उपलब्धि यावन्मात्रदेशावच्छेदेन होती है तावन्मात्र ही उसका परिमाण होता है । कम्बुग्रीवादिसंस्थानविशिष्ट में ही घट के गुण की उपलब्धि होने से घट का परिमाण उतना ही होता है । अन्यथा घट, पट आदि भी आत्मा की भाँति व्यापक हो जायेंगे ॥५४॥

❋ अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकासंवाद ❋

यहाँ जो बात कही गई है वह मूलकार श्रीकलिकालसर्वज्ञ के आशय के विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि स्तुतिकाररूप में प्रसिद्धि पानेवाले मूलकारश्री ने ही अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका की नवम कारिका में कहा है कि - जिसके गुण की जहाँ उपलब्धि होती है वह पदार्थ वहाँ ही होता है-यह बात बिना विरोध के सिद्ध है । जैसे घटादि के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुण जहाँ उपलब्ध होते हैं वहाँ ही घट आदि विद्यमान होता है, ठीक वैसे ही आत्मा के ज्ञानादि गुणों की उपलब्धि शरीर में ही होने से आत्मा शरीरप्रमाण ही है । फिर भी अतत्त्ववाद से जिसकी बुद्धि विकृत हो गई है ऐसे नैयायिक आदि आत्मतत्त्व को देह के बाहर भी (सर्वव्यापकविधया) बताते हैं, स्वीकार करते हैं ॥५५॥ मूलकारश्री के उक्त कथन से भी देहपरिमाणवाली आत्मा का समर्थन होता है ।

नन्वत्र मूलमिलदग्रसमग्रवृत्ति स्वच्छन्दचन्दनतरौ व्यभिचारचारः ।
शाखासु चारुपवनाभ्यवहारलग्नव्यासङ्गसङ्गमभुजङ्गमसङ्गभाजि ॥५६॥ (अत्रोत्तरम् —>)
आजीविका ननु तवास्ति किलेयमेव देवाधिदेवसमयाज्ञ ! यदाग्रहोऽसौ ।
बोधं प्रयोगरचना वचनावतीर्णा स्याद्व्याप्यवृत्तिमिह तु प्रथमं प्रसाध्य ॥५७॥

❁ जयलता ❁

यितप्रतियोग्यनुयोगिभावसम्बन्धाश्रयकृतत्वम्, तेन स्वकर्मक्षयकृतत्रिभागहीनचरमशरीरावगाहनावस्थितक्षीणसकलक्लेशप्रदेशशालिनि सिद्धे नाऽव्याप्तिः। तत्समानावगाहनाकलश्च तदवगाहकनभःप्रदेशसङ्ख्यासमव्याप्तसङ्ख्याकनभःप्रदेशावगाहनाकत्वमित्यधिकं **न्यायखण्डखाद्ये** (न्या.खं.खा.गा.७० पृ. ४०८) द्रष्टव्यं बुभुत्सुभिरित्यलं विस्तरेण ॥५५॥

नैयायिकः पदपञ्चाशत्तमपद्येन शङ्कते- **ननु अत्र** = 'यो यावन्मात्रव्याप्योपलभ्यमानगुणः स तावन्मात्रव्यापकः' इति नियमे **व्यभिचारचारः** = करालकरालव्यतिरेकव्यभिचारप्रचारः दुर्वार एव, यतः **शाखासु चारुपवनाभ्यवहारलग्नव्यासङ्गसङ्गमभुजङ्गमसङ्गभाजि** = प्रवहमानसुरभिमारुतास्वादसम्प्रासक्तसञ्चरत्सर्पसंयोगशालिनि **स्वच्छन्दचन्दनतरौ** = सुललितविलाससरसचन्दनपादपे **मूलमिलदग्रसमग्रवृत्ति** = व्याप्यवृत्ति सौरभमिति गम्यते । चन्दनतरोः स्वसंलग्नसर्पघ्राणेन्द्रियव्याप्योपलभ्यमानगुणत्वेऽपि तावद्व्यापकत्वाऽभावात् । इत्थञ्चावस्थानदेशादन्यत्राऽपि गुणोपलब्धेर्हेतुर्व्यभिचारीति यौगाशयः ॥५६॥

स्याद्वादी तमपक्षिपति - **ननु** भो ! **देवाधिदेवसमयाज्ञ** ! जैनेन्द्रराद्धान्तापरिचित ! नैयायिक ! **तव किल इयमेव** = 'यो यावदुपलभ्यमानगुणः स तावद्व्यापकः' इति **वचनरचना** आत्मविभुत्वसाधनाय **आजीविका स्यात्**, अन्यथा कथं दूरवर्तिदेशानुमीयमानादृष्टाश्रयव्यापकात्मतत्त्वसिद्धिः ते स्यात् ? 'तर्हि अस्तु तत एवात्मवैभवसिद्धिरिति' चेत् ? मैवं वोचः **यदाग्रहः** = यस्मात् कारणात् कदाग्रहः **असौ** आत्मविभुत्वसिद्धिमनोरथः । कुतः कदाग्रहत्वमस्य सेत्स्यति ? उच्यते, यतः **प्रथमं इह** सभायां **व्याप्यवृत्तिं** = स्वाभावाऽसमानाधिकरणं **बोधं प्रसाध्य** पश्चात् तु 'आत्मा सर्वगतः सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्' इत्येवंस्वरूपा **तव प्रयोगरचना वचनावतीर्णा स्यात्** । न चैवं सम्भवति कायव्यतिरिक्तदेशे आत्मगुणानां बोधादीनां त्वयाऽप्यनङ्गीकारात् ।

'यो यत्रैव...' यहाँ व्यभिचार की शंका और निराकरण

नैयायिक :- जिसके गुण की जहाँ उपलब्धि होती है वह केवल वहीं होता है-यह नियम व्यभिचारदोषग्रस्त है । इसका कारण यह है कि मूल से लेकर अग्र शाखा पर्यन्त समग्र भाग में रहनेवाली खुशबू चन्दन के वृक्ष में, जिसकी शाखाओं में बहनेवाले मनोहर पवन का आस्वाद लेने में मग्न बने हुए और चारों ओर घूमते साँप का संगम उपलब्ध होता है, व्यभिचारग्रस्त है । पद्य का तात्पर्य यह है चन्दन की सौरभ केवल चन्दनवृक्ष में ही रहती है फिर भी उसका ज्ञान तो चन्दनवृक्ष की शाखा में रहे हुए सर्प को भी होता है । सर्प की घ्राणेन्द्रिय में चन्दनसौरभ नहीं होने पर भी वहाँ सुगन्ध की उपलब्धि होती है । इसलिए —> 'अपने आश्रय को छोड कर गुण की उपलब्धि अन्यत्र नहीं होती है और गुण की उपलब्धि जहाँ होती है उसको छोड कर अन्यत्र गुणी नहीं रहता है' <— यह स्याद्वादिकथन निरस्त हो जाता है । अन्यथा सर्पादि की घ्राणेन्द्रिय को भी चन्दनीय सौरभ का आश्रय मानना होगा

स्याद्वादी :- ओ ! नैयायिक ! आपने यह क्या बोल दिया कि - 'यो यावन्मात्रोपलभ्यमानगुणः स तावद्व्यापकः' यह व्याप्ति व्यभिचारदोषग्रस्त है । तुम नैयायिक भी आत्मा में विभुत्व की सिद्धि के लिए यही तो वचन कहते हो कि - 'आत्मा व्यापक है क्योंकि, उसके गुण की सर्वत्र उपलब्धि होती है ।' यदि उपर्युक्त व्याप्ति व्यभिचारग्रस्त है तब तो तुम उसके बल से कैसे उपर्युक्त अनुमानप्रयोग की रचना को वचननिबद्ध कर सकते हो ? सचमुच तुम देवाधिदेव सर्वज्ञ के सिद्धान्त से अपरिचित हो । इसीलिये यह कदाग्रह रखते हो कि - आत्मा विभु है । आत्मा में विभुत्व की सिद्धि के लिए तो सब से पहले आत्मा के गुण ज्ञान को व्याप्यवृत्ति = स्वाभावासमानाधिकरण सिद्ध करना पड़ेगा, बाद में तुम उपर्युक्त अनुमानप्रयोग कर सकते हो कि - 'आत्मा सर्वव्यापक है, क्योंकि उसके गुण की सर्वत्र उपलब्धि होती है' । मगर यह तुम्हारे बस की बात नहीं है, क्योंकि ज्ञानादि को न तो तुम सर्वत्र वृत्ति मानते हो और न तो हम । तब कैसे आत्मा में विभुत्व की सिद्धि हो सकेगी ? दूसरी बात यह है कि आत्मा में विभुत्व की सिद्धि के लिये आपको उपर्युक्त व्याप्ति में व्यभिचार को भी दूर करना पड़ेगा । पहले व्यभिचार को दूर कीजिये, क्योंकि आपने ही व्यभिचार का उद्भावन किया है ॥५७॥

तत्सञ्चराध्वनि दुरध्वनि जातपातः किं कालिकाकुपितलोचनगोचरोऽसि ।
सख्यं भजस्व भगवन्मतमाद्रियस्व स्वीयं हितं रचय ते हितदेशकोऽस्मि ॥५८॥
कलयसि किमिहात्मन्यास्थितच्छेदखेदं वयमपि भृशमात्मव्यापकत्वं प्रपन्नाः ।
न हि महति चिदात्मन्यात्तसङ्क्रान्तिको यो न खलु न खलु तस्मिन्नस्ति किञ्चित्प्रमाणम् ॥५९॥

❀ जयलता ❀

तदुक्तं **श्रीधरेणैव न्यायकन्दल्यां** 'आत्मनो देहप्रदेशे ज्ञातृत्वं, नान्यत्र, शरीरस्योपभोगायतनत्वात्, अन्यथा तस्य वैयर्थ्यात्' (न्या.कं.पृ.) इति । ततो वयस्य ! प्रतिकूलमेवेदं तव व्यभिचारोद्भावनं, त्वयाऽपि तस्य समाधेयत्वात् ॥५७॥

ननु मया नैयायिकेन चन्दनसौरभस्याश्रयीभूताः सूक्ष्मा भागाः तादृशाः स्वीक्रियन्ते ये वायुना सुदूरमपि यान्ति । ततश्च **तत्सञ्चराध्वनि** = वायुगमनमार्गे **दुरध्वनि** = दुर्गे पथि चन्दनसुगन्धः **जातपातः** घ्राणदेशं प्राप्तः सन् अस्मदादिभिरुपलभ्यत इति न पूर्वप्रदर्शितव्याप्तिर्व्यभिचारग्रस्ता इति चेत् ? भो ! नैयायिक ! किं त्वं **कालिकाकुपितलोचनगोचरोऽसि** ? येनेत्थं वक्तुं प्रवृत्तः । वायुपनीतसुरभिभागानामन्यत्र गमनस्वीकारे त्वं **सख्यं भजस्व**, तदुक्तमस्मत्सम्प्रदायाचार्येण **स्याद्वादमञ्जर्यां** 'तदाश्रया हि गन्धादिपुद्गलाः, तेषाञ्च वैस्रसिक्या प्रायोगिक्या वा गत्या गतिमत्त्वेन तदुपलम्भकघ्राणादिदेशं यावदागमनोपपत्तेरिति' (अन्य. व्य.९ स्या.मं.पृ.१२८) । 'अस्त्वेवमावयोः मैत्री किन्त्वेवमपि विभुत्वमात्मनोऽनिराकार्यमेव त्वया स्याद्वादिना' इति चेत् ? अयि ! मैवं मुग्धो भव, सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वस्यानन्तरमेव स्वरूपासिद्धत्वमावेदितं किं विस्मर्यते ? '**न च** बुद्धीच्छादीनामतथात्वेऽपि अदृष्टस्य आत्मविशेषगुणस्य सर्वव्यापकत्वं न विरुद्धमिति **वाच्यम्**, अदृष्टे पौद्गलिकत्वस्य प्रागेव प्रतिपादितत्वेन हेतोः स्वरूपासिद्धत्वमनिर्वार्यमेव । अत एव आत्मा सर्वगतो न भवति सर्वत्र तद्गुणानुपलब्धेरिति **भगवन्मतं** = जैनदर्शनं त्वं **आद्रियस्व** । इत्थं कृत्वा **स्वीयं हितं** = असिद्धिबाधादिदोषपरिहारं **रचय**, सत्यं वदामि '**ते** = तव **हितदेशकोऽस्मि**' मा शङ्कां कार्षीः ॥५८॥

ननु स्याद्वादिदर्शनाभ्युपगमे न आत्मविभुत्वसिद्धान्तो विलुप्यत इति कथं नः त्वया सार्धं मैत्री स्यादित्याशङ्कायां स्याद्वादी नैयायिकमाह- **किं इह** = जैनप्रवचनप्रवेशे त्वं **आत्मनि** = स्वस्मिन् **आस्थितच्छेदखेदं** = प्राप्तापसिद्धान्तशङ्काकुशङ्कुप्रहारोद्वेगं **कलयसि** = पश्यसि ? खिन्नत्वं जहाहीत्यर्थः । कुतः ? इत्याह- **वयं** स्याद्वादिनः **अपि आत्मव्यापकत्वं** = आत्मनः सर्वगतत्वं **भृशं** = सुतरां **प्रपन्नाः** । कथमिति चेत् ? उच्यते दूरस्थव्यवहितस्थूलसूक्ष्मातीतानागतवर्तमानद्रव्यगुणपर्यायाणां सर्वेषामेव केवलज्ञानगोचरत्वेन ज्ञानस्वरूपस्यात्मनः स्वात्मककेवलज्ञाननिष्ठविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धेन सर्वगत्वात् । त्वया स्वीकृतं सर्व-

नैयायिक :- ⟶ ''चन्दन के सुरभि सूक्ष्म अवयव पवन के संचार के मार्ग को, जो अति दुर्गम और दुःसंचार है, प्राप्त कर के सर्पादि की घ्राणेन्द्रिय तक पहुँचने पर ही गन्ध की उपलब्धि होती है । अतः अपने आश्रय को छोड कर अन्यत्र गुण की उपलब्धि नहीं होती है, यह व्याप्ति अबाधित रहती है - ऐसा हम नैयायिक स्वीकार करते हैं । अतः आत्मा में विभुत्व की सिद्धि होने में कोई हरकत नहीं है'' ⟵ ।

जैन :- ओ ! नैयायिक ! क्या तुम महाकाली देवी के कुपित लोचन से देखे गये हो ? क्या तुमको यह मालूम नहीं है कि - ऐसा तो स्याद्वादी भी मानते हैं ? तब तो स्याद्वादी के मत में ही तुम्हारा प्रवेश हो जायेगा । ठीक है आप वैसा मानो और हमसे मैत्री रखो । मगर इस तरह भी आत्मा में विभुत्व की सिद्धि होनेवाली नहीं है, क्योंकि सर्वत्र उपलभ्यमानगुणत्व हेतु आत्मा में नहीं रहने से स्वरूपासिद्धिदोषग्रस्त है । इसलिए 'आत्मा कायपरिमाण है' ऐसे जैनमत का ही तुम स्वीकार करो । इसमें ही तुम्हारा हित रहा हुआ है । मैं तुमको यह सत्य बात कहता हूँ । तुम्हारा मैं (प्रकरणकार) हितचिन्तक एवं हितोपदेशक हूँ । इसलिए नैयायिक! आत्मा के बारे में जो कुछ जैनदर्शन बताता है उसका प्रेमपूर्ण तुम स्वीकार करो - यह हमारा उपदेश है ॥५८॥

❀ ज्ञानात्मना आत्मा विभु है - स्याद्वादी ❀

हे नैयायिक ! जैनमत का स्वीकार करने पर अपने में आत्माऽविभुत्वस्वीकारात्मक छेद के खेद को क्यों तुम देख रहे हो ? हम स्याद्वादी भी आत्मा में विभुत्व का स्वीकार करते ही हैं । इसका कारण यह है कि सभी वस्तुओं का केवलज्ञान में प्रतिबिम्ब पड़ता है । केवलज्ञानस्वरूप आत्मा में किसी चीज का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है - ऐसा नहीं है । एवं (न खलु=) सर्वथा तुच्छ वस्तु तो चित्स्वरूप आत्मा में कभी भी संक्रान्त नहीं होती है । जिसकी संक्रान्ति = प्रतिबिम्ब केवलज्ञानात्मक आत्मा में अनुपलब्ध हो उसके स्वीकार में दूसरा प्रमाण क्या हो सकता है ? क्या केवलज्ञान से बढ कर अन्य कोई बलवान प्रमाण इस दुनिया में विद्यमान है ? जो केवलज्ञान के अविषय को अपना विषय बनाये । सभी द्रव्य-गुण-पर्याय केवलज्ञान

अप्राप्यकारिणि चिदात्मनि सर्वगत्वं गौणं न मुख्यमिति तु प्रवदन्ति सन्तः ।
धत्ते मतां च भवताऽपि समस्तदेशसंयोगितामपि समुद्धतसर्वदर्शी ॥६०॥
अपि च → व्यवहारनयो ब्रूते देहमानत्वमात्मनः ।

जयलता

मूर्तसंयोगित्वलक्षणं विभुत्वं तु सङ्कुचितं सर्वैर्गुणादिभिस्तस्याऽसम्बद्धत्वात्, अतीतादिमूर्तद्रव्यैरनन्तैरसंयुक्तत्वाच्च । मदभ्युपगतं वैज्ञानिकसम्बन्धेन सर्वद्रव्यगुणपर्यायसम्बद्धत्वलक्षणं विभुत्वं तु व्यापकमिति तदेव गृहाण, मुञ्च च कदाग्रहविषम् । न चैवं नरशृङ्गादिभिरपि आत्मनः सम्बद्धत्वं कथं न स्यात् ? एकज्ञानज्ञायमानत्वलक्षणवैज्ञानिकसम्बन्धेनात्मनः तत्र वृत्तित्वादिति वाच्यम्, तथापि स्वात्मककेवलज्ञाननिरूपितविषयतासम्बन्धेनात्मनस्तत्राऽवृत्तित्वेन तथापादनासम्भवात् । **न हि यो न खलु** = अमत्पदार्थः स **महति चिदात्मनि** केवलज्ञानस्वरूपे आत्मनि **आत्तसङ्क्रान्तिकः** = आहितस्वाकारः = ज्ञानसामग्र्याहित-विषयतारूपस्वाकारः सम्भवति । कुतः ? यतः **न खलु** = नैव **तस्मिन्** नरशृङ्गादौ **किञ्चित्प्रमाणं अस्ति** । अतो नातिप्रसङ्ग-कलङ्कपङ्ककालिमासम्भवः स्याद्वादिसङ्गमे तवेति विचारय ॥५९॥

तर्हि कस्मादेतावात्मनो विभुत्वनिराकरणं स्याद्वादिनामायासः ? इति नैयायिकाशङ्कायां स्याद्वाद्याह- **अप्राप्यकारिणि** स्वसंयोग-स्वसंयुक्तसमवायादिनः सम्बन्धेन विषयदेशमगत्वा ज्ञातरि **चिदात्मनि** = ज्ञानस्वरूपे आत्मपदार्थे स्वात्मकज्ञाननिरूपित-विषयतासम्बन्धेन **सर्वगत्वं** = सर्वार्थगामित्वं **गौणं** = उपचरितं **न तु मुख्यं** = अनुपचरितं **इति सन्तः** = तीर्थंकरादयः **प्रवदन्ति** । 'तर्हि स्याद्वादिदर्शनाभ्युपगमे नो हि आत्मविभुत्वसिद्धान्तो भज्यते इत्यलं स्याद्वादिना साकं मित्रतया' इति नैयायि-काशङ्कायां स्याद्वाद्याह-**भवता** नैयायिकेन **मतां** = स्वीकृतां **समस्तदेशसंयोगितां** सर्वमूर्त्तसंयोगित्वलक्षणां अपि विभुतां **समुद्धतसर्वदर्शी** = समुद्घातचतुर्थसमयवर्ती केवली **धत्ते** = बिभर्ति अपि इति मा हताशो भव अस्मन्मित्रतया । **न** चैवमपि सर्वदा सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वलक्षणं विभुत्वं स्यादात्मनोऽपीति **वाच्यम्**, तादृशस्य तस्य तैकदा त्वन्मतेऽप्यसम्भवात् । न ह्यतीतानागत-मूर्तद्रव्यसंयोग एकदात्मनि सम्भवति । अतः सकलमूर्तद्रव्यसंयोगितावच्छेदकरूपवत्त्वलक्षणमेव विभुत्वं त्वया स्वीकर्तव्यम् । तच्च लोकाकाशप्रदेशतुल्यत्वमिति प्रागुपदर्शितमेवेति मा स्याद्वादिमैत्रीं परित्यज, यदि कल्याणमिच्छसि ॥६०॥

इत्थञ्च स्याद्वादाऽविरोधेन आत्मविभुत्वविषये नैयायिकं प्रति सौहार्दमुपदर्श्य साम्प्रतं नयभेदेनात्मपरिमाणमावेदयति - अपि चेति । **आत्मनो देहमानत्वं** = स्वदेहपरिमाणतुल्यपरिमाणं इति **व्यवहारनयो** लौकिकोपचारबाहुल्यार्पितदृष्टिः **ब्रूते** ।

के विषय होने से केवलज्ञानस्वरूप आत्मा स्वविषयता सम्बन्ध से वस्तुमात्र में सम्बद्ध होने से ज्ञानात्मना आत्मा को हम स्याद्वादी सर्वव्यापी ही मानते हैं । इसलिए स्याद्वादी के मत का सन्मान करने पर आत्मा के विभुत्व का अस्वीकार या अपसिद्धान्त दोष की चिन्ता करना हे नैयायिक ! तुम्हारे लिए उचित नहीं है । इसलिए तुम खुशी से जैनेन्द्रसिद्धान्त का आदर-सत्कार-स्वीकार करो । इसमें तुम्हारा, हमारा, सब का हित है ॥५९॥

→ ''यदि आत्मा ज्ञानात्मना सर्वव्यापी है तब आप स्याद्वादी उसे कायपरिमाण क्यों मानते हैं और उसमें विभुत्व का ९ से लेकर ४७ कारिका तक खण्डन क्यों किया ?'' ← इस शंका के समाधान में सत्पुरुषों की ओर से यह कहा जाता है कि ज्ञान का विषय जो चीज होती है वह संयोगसम्बन्ध से ज्ञानाश्रय से सम्बद्ध नहीं होती है, क्योंकि सूक्ष्म, व्यवहित, अतीत, अनागत आदि सब चीजों से संयुक्त हो कर चित्स्वरूप = ज्ञानस्वरूप आत्मा उनका भान नहीं करती है किन्तु अपनी काया में रह कर ही अपने से असंयुक्त व्यवहित - अतीत आदि विषयों का अवगाहन करती है । इसलिए ज्ञानात्मना आत्मा में जो सर्वगतत्व है वह मुख्य नहीं है, किन्तु गौण है । यहाँ नैयायिक का यह कथन कि → 'आप आत्मा में ज्ञानात्मना सर्वगतत्व मान कर भी सर्वमूर्तसंयोगित्वस्वरूप विभुत्व का स्वीकार तो नहीं ही करते हैं तब आप स्याद्वादी के साथ हम नैयायिक मित्रता कैसे रख सकते हैं ? हम तो सर्वमूर्तसंयोगित्वस्वरूप विभुत्व का आत्मा में स्वीकार करते हैं ? ← इसलिए नामुनासिब है कि आप नैयायिक के सम्मत सर्वदेशसंयोगित्वस्वरूप = सर्वमूर्तसंयुक्तस्वरूप विभुत्व को भी समुद्घात अवस्थावाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अवश्य धारण करते हैं - यह तो हम भी मानते ही हैं । इसलिए हम स्याद्वादी से दोस्ती तोड़ने की जरूरत नहीं है । तोड़े से भी टूटे ना यह हमारी जोड़ी ! ॥६०॥

यहाँ इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि स्याद्वाद अनेकनय के वक्तव्य से सापेक्ष रह कर वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन

नैवमाकाशप्रमाणत्वं निश्चाययति निश्चयनयः ।।६१।।
सङ्कोच एव विस्तारः प्रदेशाऽपरिहाणितः । तेन नात्र नये कोऽपि दोषः स्याद्वाददेशिते ।।६२।।
जीवं प्रदेशं मनुते किलान्त्यप्रदेशवादी पुनरन्त्यमेव ।

❀ जयलता ❀

निश्चयः = निश्चयनयस्तु **नैवमिति** ब्रूते । स हि आत्मनः **आकाशप्रमाणत्वं** = लोकाकाशप्रदेशप्रमितप्रदेशत्वं **निश्चाययति** । यदि आत्मनो देहमानत्वं स्यात् तर्हि मक्षिकाभवधारणीयदेहं परित्यज्य हस्तिभवधारणीयशरीरस्वीकारे मक्षिकादेहातिरिक्तभागावच्छेदेन ज्ञानाद्यनुभवो नैव स्यादिति लोकाकाशतुल्यमानत्वमेवात्मनोऽभ्युपेयं, अन्यथा समुद्घातदशायां तस्य लोकव्यापित्वं न स्यादिति निश्चयनयाभिप्रायः ।।६१।।

तर्हि किं तत्त्वं ? इत्याशंकायां स्याद्वादमुद्राविनिर्मुक्तस्य(?) अनाचीर्णमसद्वादिनो नवनतिक्रमे तु आचार्येतो सदादेशाविस्याशयेनाह - **विस्तार एव प्रदेशाऽपरिहाणितः सङ्कोच** उच्यते । अयमाशयः द्विरदशरीरवृत्त्यात्मप्रदेशविस्तार एव लोकाकाशप्रदेशप्रमित-प्रदेशाऽविनाशनेन द्विरेफशरीरवृत्त्यात्मप्रदेशसङ्कोचोऽभिधीयते । तुल्यन्यायेनोपलक्षणात् द्विरेफभवधारणीयशरीरवृत्त्यात्मप्रदेशसङ्कोचो ह्यात्मप्रदेशाधिक्यपरिहारेण द्विरदशरीरप्रमाणाकाशप्रदेशसमानावगाहनाकारमप्रदेशविस्तारो भवति । **तेन** = शक्त्या आत्मनो लोकाकाशप्रदेशप्रमितप्रदेशकत्वं व्यक्त्या तु तत्तत्कर्मकृतशरीरावगाढाकाशप्रदेशसमसङ्ख्यप्रदेशत्वमिति निश्चयव्यवहारयोः सम्यक्त्वमन्व-यात्मकः स्याद्वादागमो हि परास्तसमस्तकलङ्कपङ्कः प्रमाणतामास्पदीकरोत्येवेति हेतुना **स्याद्वाददेशिते** = स्याद्वादानतिक्रान्ता-ध्यवसायप्रादुर्भूते **अत्र** = आत्मपरिमाणविचारे **नये न कोऽपि दोषः** । इत्थमेव 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (श्वे. ३/२० महा.ना. ८/३ नारायणोत्तर. १) इति **श्वेताश्वतर-महानारायण-नारायणोत्तरतापनीयोपनिषदादिवचनमपि** सङ्गच्छते । स्याद्वादमहाराजाज्ञोल्लङ्घने तु तस्य मिथ्यात्वमेव । ततश्च शक्त्या इव व्यक्त्या अपि लोकाकाशव्यापित्वमात्मन इति एकान्त-निश्चयनयस्य मिथ्यात्वमेव । नैयायिकाभ्युपगतमात्मविभुत्वञ्चैतत्स्वरूपमेवेत्यतः तस्य प्रमाणबाधितत्वम् । व्यक्त्येव शक्त्याऽपि कायमानत्वमेवात्मनः तद्विलये चात्मनो विलय इति तु व्यवहाराभासः । एतमधिकृत्य चार्वाकदर्शनं प्रवृत्तमिति तस्याऽपि प्रमाण-बहिर्भूतत्वमित्यादिकं विभावनीयं सुधीभिः । **एतेन** 'अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा' (छा.उप.३/१४/३) इति **छान्दोग्योपनिषद्वचनं**, 'यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयः' (शत.ब्रा.१०/६/३/२) इति **शतपथब्राह्मणवचनं**, 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' (श्वे.३-१३) इति **श्वेताश्वतरोपनिषद्वचनं**, 'अणोरणीयान्' (ना.परि. ९/२३) इति **नारायणपरिव्राजकोपनिषद्वचनं च प्रत्याख्यातानि**, अनुपदमेव वक्ष्यमाणयुक्तिसद्भावाच्च ।।६२।।

श्रीमन्महावीरजिनेन केवलज्ञानस्योत्पादितस्य षोडश वर्षाण्यभूवन् तदा ऋषभपुराऽपरनाम्नि राजगृहे नगरे गुणशिलके

करता है । इसलिए भिन्न भिन्न नयों का क्या वक्तव्य है ? यह जानना अनिवार्य बन जाता है । आत्मपरिमाण के विषय में व्यवहारनय का वक्तव्य ऐसा है कि आत्मा का परिमाण काया के परिमाण के तुल्य है, क्योंकि आत्मगुण की उपलब्धि केवल वहीं होती है । मगर निश्चय नय कहता है कि यह बात ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कायप्रमाण ही आत्मा का स्वीकार करने पर केवली समुद्घात अवस्था में संपूर्ण लोक में उसकी व्यापिता अनुपपन्न बन जाती है । अतः आत्मा को लोकाकाश के प्रदेश के तुल्य प्रदेशवाली माननी चाहिए - ऐसा निश्चय निश्चयनय कराता है ।।६१।।

स्याद्वादी का यह कथन है कि हाथी के शरीर में रहनेवाली आत्मा के प्रदेश का जो विस्तार है वही मक्षिकाशरीर में बिना आत्मप्रदेशविनाश के संकोच कहा जाता है और मक्खी के शरीर में रहनेवाली आत्मा का जो संकोच है वही बिना आत्म-प्रदेशआधिक्य के विस्तार कहा जाता है, जब वह आत्मा हाथी आदि के शरीर को धारण करती है । इसलिए शक्तिरूप से आत्मा को लोकाकाशप्रदेशप्रमाण कहनेवाला निश्चयनय जैसे प्रामाणिक है ठीक वैसे ही अभिव्यक्तिरूप से आत्मा को कायप्रमाण बतानेवाला व्यवहारनय भी प्रामाणिक है । इसलिए सापेक्ष दोनों नय के स्वीकार में कोई दोष नहीं है । यह स्याद्वाद का ऐदम्पर्य है ।।६२।।

आत्मा अणुपरिमाण नहीं है

यहाँ तिष्यगुप्त नामक द्वितीय निह्नव का यह कथन है कि —> ''आत्मा असंख्यप्रदेशात्मक नहीं है किन्तु अन्त्यप्रदेश ही आत्मा है । इसका कारण यह है कि 'जो जिसके होने पर ही होता है वह तदात्मक = तत्स्वरूप सिद्ध = प्रमाणप्रसिद्ध होता है-यह अटल नियम है । दृष्टान्त के लिए घट लिया जा सकता है । जैसे स्थास, कोश, शिवक, कपाल आदि संस्थान

यद्यत्र सत्येव हि तत्तदात्मसिद्धः स्वसंस्थानमयो घटो यत् ॥६३॥
सत्यन्त्यदेश एव हि भवंस्तदात्मा स्मृतस्ततो जीवः ।
तदिदं निजाभिमानाद् गगनाङ्गणवल्गनप्रायम् ॥६४॥
यतः, इह भावः किमुत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वृत्तित्वमेव वा । आद्ये सा बाधिता द्रव्ये पर्याये सर्वसाक्षिणी ॥६५॥
तथाहि -> संसारे संसरन्तः सपदि तनुभृतो बिभ्रति स्वाङ्गदेशान्, दीर्घज्वालाजटालज्वलन-

❋ जयलता ❋

चैत्ये चतुर्दशपूर्विणो **वसुनामान** आचार्याः समागताः तेषां **तिष्यगुप्ताभिधानस्य** शिष्यस्य **आत्मप्रवादपूर्वम**धीयानस्य ''एगे भंते ! जीवपएसे जीवेत्ति वत्तव्वं सिया नो इणट्ठे । एवं दो तिन्नि जाव दस, संखेज्जा, असंखेज्जा भंते ! जीवपएसा जीव त्ति वत्तव्वं सिया ? नो इणट्ठे समट्ठे । एगपएसूणे वि णं जीवे नो जीवे त्ति वत्तव्वं सिया । से केणं अट्ठेणं ? जम्हा णं कसिणे पडिपुन्ने लोगागासपएसतुल्ले जीवे जीवे त्ति वत्तव्वं सिया, से तेणं अट्ठेणं'' इत्येवं स्वरूपमालापकं वदतः 'कस्यापि नयस्येदमपि मतं न तु सर्वनयानां' इत्येवमजानतः मिथ्यात्वोदयात् यो दृष्टिविपर्यासो जातः तं पद्यद्वयेन प्रकरणकारः प्रदर्शयति- **किल अन्त्यप्रदेशवादी** = 'चरममात्मप्रदेशमात्मत्वेनोपदिशन् **तिष्यगुप्ताभिधानो वसुसूरि**शिष्यः, **पुनः अन्त्यं** = चरमं **एव प्रदेशं** = आत्मप्रदेशं **जीवं मनुते स्म** । कस्माद्धेतोः ? उच्यते, **यत्** = यस्मात् कारणात् **यत्** वस्तु **यत्र** = यस्मिन् **सत्येव तत्** वस्तु भवति । **तद्** वस्तु **हि** = खलु **तदात्मसिद्धः** = तदात्मकत्वे प्रसिद्धं भवति यथा **स्वसंस्थानमयो घटः** । स्थास-कोश-शिवक-कपालाद्यवस्थायां घटव्यपदेशमननुभवन् कम्बुग्रीवादिसंस्थानदशायां घटव्यवहारभाग् घटः तादृशस्वसंस्थानमयो भवति ॥६३॥

तथैव एकाद्येकप्रदेशोनप्रदेशपर्यन्तं जीवव्यपदेशमननुभवन् **सत्येव अन्त्यदेशे** = चरमप्रदेशे **हि** = खलु जीव इतिव्यवहारभाग् **भवन् जीवः ततः** = तस्मात् कारणात् **तदात्मा** = चरमप्रदेशस्वरूपः **स्मृतः** । 'एगादओ पएसा नो जीवो नो पएसहीणो वि । जं तो स जेण पुण्णो स एव जीवो पएसो त्ति' ॥२३३६॥ इति **विशेषावश्यकभाष्यगाथां** विवृण्वता **श्रीमलधारिहेमचन्द्रसूरिणा**ऽपि 'यत = यस्मात् एकादयः प्रदेशास्तावज्जीवो न भवति, 'एगे भंते ! जीवपएसे' इत्याद्यालापके निषिद्धत्वात् । एवं यावदेकेनाऽपि प्रदेशेन हीनो जीवो न भवति, अत्रैवालापके निवारितत्वात् । ततः = तस्मात् येन केनाऽपि चरमप्रदेशेन स जीवः परिपूर्णः क्रियते स एव प्रदेशो जीवो न शेषप्रदेशाः एतत्सूत्रालापकप्रामाण्यादिति' प्रोक्तम् । तस्माच्चरम एव प्रदेशो जीवो भवति । **तदिदं** अनन्तरव्यावर्णितं **निजाभिमानात्** = स्वमिथ्याहङ्कारवशात् **गगनाङ्गणवल्गनप्रायं** विदुषामुपहासपात्रं भवति ॥६४॥

कस्मात् कारणात् ? उच्यते **यतः** = यस्मात् कारणात् **इह** = विप्रतिपत्तिस्थले 'अन्त्यप्रदेशे सत्येव भवंस्तदात्मा जीव' इत्यत्र भूधात्वर्थः **भावः किं उत्पत्तिः ज्ञप्तिः वृत्तित्वमेव वा** ? इति विकल्पत्रयी त्रिपथगाप्रवाहत्रयीव जगत्त्रयीं पवित्रयन्ती ढौकते । **आद्ये** विकल्पे कक्षीक्रियमाणे सा उत्पत्तिः **सर्वसाक्षिणी द्रव्ये पर्याये** च **बाधिता** भवति । यतस्तदा 'यत्सद्भावे एव उत्पद्यमानः पदार्थः तत्स्वरूप' इत्यर्थः प्राप्तः । तत्र च बाध एव ॥६५॥

तथाहि **संसारे संसरन्तः तनुभृतः** = शरीरिणः **सपदि स्वाङ्गदेशान्** = स्वावयवभूतप्रदेशान् सकलान् **दीर्घज्वालाजटालज्वल-**

होने पर घटव्यवहार का भाजन न बनता हुआ घट कम्बुग्रीवादिसंस्थान होने पर ही घट कहा जाता है । इसलिए घट कम्बुग्रीवादि-संस्थानस्वरूप है ॥६३॥

ठीक वैसे ही एक, दो, संख्यात आदि प्रदेश होने पर वह जीव नहीं कहा जाता है किन्तु चरमप्रदेश होने पर ही जीव कहलाता है । इसलिए जीव चरमप्रदेशात्मक = अन्त्यप्रदेशस्वरूप ही है । वह चरम प्रदेश ही जीव है, न कि शेष प्रदेश-यह सिद्ध होता है'' <— मगर यह जो कहा गया है वह अपने मिथ्या अहङ्कार से गगनाङ्गण को नाप भिड़ने के समान है ॥६४॥

इसका कारण यह है कि —> 'विप्रतिपत्तिस्थल में भाव क्या उत्पाद है या ज्ञप्ति = ज्ञान है या वृत्तित्व = स्थिति ?' ये तीन विकल्प उपस्थित होते हैं । इनमें से एक भी विकल्प ठीक तरह संगत नहीं हो पाता है । अतः उपर्युक्त मन्तव्य का स्वीकार नहीं किया जा सकता । वह इस तरह - भाव को उत्पत्तिस्वरूप मानने के प्रथम विकल्प को मान्य करने पर उत्पत्ति द्रव्य एवं पर्याय में बाधित है, जिसमें सर्व जीव साक्षी है ॥६५॥

देखिये, इस संसार में भटकते हुए सशरीरी जीव एक ही काल में अपने अवयवस्वरूप उन प्रदेशों को धारण करते

परिचितक्षीरनीरातिदेशान् । येऽष्ट स्पष्टप्रदेशा नियतमपिहितास्तेऽपि मध्या न बन्ध्याः, पूर्वाकारातिचारादिति परिणमते सर्वतः सर्वतमः ॥६६॥

नापि क्वापि नियतं द्वितीयके ज्ञप्तिरस्ति चरमांशगोचरा ।
वृत्तिताऽपि चरमेन तत्र वा सर्वदेशगतया घटादिवत् ॥६७॥

❀ जयलता ❀

नपरिचितक्षीरनीरातिदेशान् = महाज्वालज्वालाग्न्यभितप्तपयोजलोपगान् सर्वतः क्वाथ्यमानमिव **बिभ्रति** तथापि **ये** मध्या **अष्ट स्पष्टप्रदेशाः नियतं** = अवश्यं सर्वदैव **ते अपिहिताः** = अनावृताः, कुतः ? यतस्ते **पूर्वाकारातिचारात्** = पूर्वविकल्पपरिशुद्ध-पर्यायप्रणाशात् **न बन्ध्या** = न कर्मबन्धनयोग्याः भवन्ति । जीवः खलु कर्मावृतदशायां **सर्वतः सर्वतमः** भवति । तत्र स्थिरशुद्ध-प्रदेशाष्टके सत्येव शेषप्रदेशा उत्क्वाथ्यमानत्वेनोत्पद्यन्ते तथापि परिभ्रमच्छेषपिहितप्रदेशा न स्थिरानावृतप्रदेशाष्टकस्वरूपा इति 'यत्सद्भाव एव भवन् = उत्पद्यमानः पदार्थः तदात्मकः' इति प्रथमो विकल्पः प्रत्यक्षमेव बाध्यते । न हि करकङ्कणदर्शनायादर्श उपादीयते सद्भिः ॥६६॥

अस्तु तर्हि द्वितीयो विकल्प एव नः शरणं यदुत 'यत्सद्भाव एव **भवन्** = ज्ञायमानः पदार्थः तदात्मकः' इति यथा कम्बुग्रीवादिसंस्थाने सत्येव ज्ञायमानो घटः तदात्मकः तथैव चरमे प्रदेशे सत्येव यथोक्तसूत्रप्रामाण्येन ज्ञायमानो जीवोऽन्त्यप्रदेशस्वरूप एवेत्याशङ्कायां प्रकरणकारः प्राह-नापि **द्वितीयके** विकल्पे व्यावर्णितस्वरूपे **चरमांशगोचरा नियतं ज्ञप्तिरस्ति** । यतो विवक्षितः प्रदेशो यथा चरमत्वेनाभिमतः तथैवान्यप्रदेशोऽपि चरमत्वेन ज्ञातुमर्हत्येव विवक्षितचरमप्रदेशतुल्यपरिमाणत्वात् । तथा च चरम-प्रदेशविषयिणी **ज्ञप्तिरेवाऽव्यवस्थिता सती कथमात्मानं व्यवस्थापयेत्** ? नैवेत्यर्थः ।

अस्तु तर्हि तृतीय एव विकल्पः त्रिलोचनतृतीयलोचनसमोऽतिप्रसङ्गादिदोषभस्मकारी नः शरणम् । यथा कम्बुग्रीवादि-संस्थानसद्भाव एव भवन् = वर्तमानो घटः तादृशसंस्थानमयः तथैव चरमप्रदेशे सत्येव भवन् = विद्यमानो जीवः तन्मय एवेत्याशङ्कायां प्रकरणकारः प्राह- **चरमे** विकल्पे **अपि** वा कक्षीक्रियमाणे **न तत्र** = विवक्षितान्त्यप्रदेशे **वृत्तिता** = जीवविद्यमानता सङ्गच्छते । यतः सा हि वृत्तिता सर्वेषु प्रदेशेषु गता । **सर्वदेशगतया** वृत्तितया विवक्षितचरमप्रदेशे एव वर्तितव्यं न शेषप्रदेशेषु इत्यत्र प्रमाणाभावात्, विनिच्छाम । दृष्टान्तमाह **घटादिवत्** यथा घटवृत्तिता सर्वकपालगता एकस्मिन्नेव कपाले

हैं जो लम्बी ज्वालावाली अग्नि से तप्त एवं उबलते हुए क्षीर-नीर की भाँति सतत ऊर्ध्व-अधः दिशा में घूम रहे हैं । मगर तभी भी आत्मा के मध्य में रहे हुए आठ शुद्ध आत्मप्रदेश सदा कर्म से अनावृत ही रहते हैं । पूर्व शुद्ध आकार को छोड कर वे कर्मबन्धन के अयोग्य होते हैं । आत्मा संसारी अवस्था में चारों ओर से कर्म से संपूर्णतया तप्त होती है । परिशुद्ध स्थिर प्रदेशाष्टक होने पर ही शेष प्रदेश अविशुद्ध एवं अस्थिररूप से उत्पन्न होते हैं फिर भी वे प्रदेशाष्टकस्वरूप नहीं होते हैं जिसकी वजह 'जिसके होने पर ही होता हुआ पदार्थ तदात्मक होता है' इस नियम का 'जिसके होने पर ही उत्पन्न होता हुआ पदार्थ तत्स्वरूप होता है' इस तरह स्वीकार करना बाधित होता है ॥६६॥

यदि आप द्वितीय विकल्प का स्वीकार कर के उपर्युक्त नियम का इस तरह अर्थघटन करें कि 'जिसके होने पर ही ज्ञायमान पदार्थ तत्स्वरूप होता है जैसे कम्बुग्रीवादिसंस्थान होने पर ही ज्ञायमान घट कम्बुग्रीवादिसंस्थानस्वरूप होता है' तब भी नियत चरम प्रदेश को ही जीव कहना नामुमकिन बन जायेगा, क्योंकि विवक्षित चरम प्रदेश की भाँति अन्य प्रदेश को भी चरमत्वेन विवक्षित करने पर जीव ज्ञायमान होने की वजह तब जीव को उस चरमप्रदेशान्तर स्वरूप मानना पड़ेगा । एवं उस चरम प्रदेश में प्राधान्य की विवक्षा करने पर उससे भिन्न चरमप्रदेश के होने पर ही जीव ज्ञायमान होने के सबब जीव को उस चरमप्रदेशस्वरूप न मान कर अलग अन्तिम प्रदेशात्मक मानना पड़ेगा । मतलब की जीव को निश्चितरूप से किसी एक चरमप्रदेशात्मक नहीं माना जा सकता है, यदि भावपद का अर्थ ज्ञप्ति माना जाय । इस तरह भावपद का वृत्तित्व अर्थ मान्य कर के उपर्युक्त नियम का इस तरह स्वीकार करना कि —> 'जिसके होने पर ही जो वृत्ति = विद्यमान होता है वह पदार्थ तत्स्वरूप होता है, जैसे कम्बुग्रीवादिसंस्थान होने पर ही रहनेवाला घट कम्बुग्रीवादिसंस्थानात्मक होता है' <— भी सङ्गत नहीं हो सकता है, क्योंकि जैसे घट सर्व अवयवों में रहता है न कि एक अवयव में, ठीक वैसे ही जीव भी अपने सकल आत्मप्रदेश में, जो लोकाकाशप्रमाणसंख्यावाले होते हैं, रहता है, न कि किसी एक प्रदेश में । अतःजीव चरमप्रदेशस्वरूप ही है- यह नहीं माना जा सकता । अन्त्य प्रदेश में अन्य प्रदेश की अपेक्षा कुछ विशेषता नहीं होती है जिसकी वजह जीव

अनन्त्येभ्यश्च काऽन्त्यानां देशानामतिशायिता ।
पूरणं वोपकारित्वमुत सिद्धान्तसिद्धता ॥६८॥
आद्यः पक्षः पक्ष्मलाक्षीकटाक्षैः स्थातुं प्रायो नो सपक्षः क्षमेत ।
यस्मादेतन्न्यूनतावर्जकत्वं देशेऽन्त्ये चेत् ? किं नु नान्यत्र तुल्यम् ॥६९॥
अस्तित्वं ननु तथापि विवक्षापूरणस्य चरमेऽन्तनिरुक्तेः ।
आः किमत्र न विवक्षणदण्डाद्बम्भ्रमीति तव चक्रकचक्रम् ॥७०॥

❀ नयलता ❀

न नियन्त्रितुं पार्यते तथैव सर्वप्रदेशगता जीववृत्तिता सर्वकलगता विवक्षितचरमप्रदेशं कल्पयितुमर्हति, अन्यथाऽस्मिन्नप्येकस्मिन् प्रदेशे तत्कल्पनाप्रसङ्गात्, प्रदेशत्वाऽविशेषात् ॥६७॥

अथ शेषप्रदेशेभ्यो विवक्षितचरमप्रदेशस्य तुल्यपरिमाणत्वेऽप्यस्ति कश्चिदतिशयो येन जीवः तत्रैव वर्तते नान्यत्रेत्याशङ्कायामाह- **अनन्त्येभ्यश्च** प्रदेशेभ्यः **अन्त्यानां** = चरमाणां **देशानां** = प्रदेशानां **काऽतिशायिता** ? किं **पूरणं उत उपकारित्वं सिद्धान्तसिद्धता वा** ? इत्यत्राऽपि पक्षत्रयी प्रगुणगुणत्रयीव सर्वत्राऽप्रतिहतप्रसरा प्रसरीसरीति ॥६८॥

अथ विवक्षिताऽसङ्ख्येयप्रदेशराशेरन्त्यः प्रदेशः पूरणाभिधानातिशयशाली इति **आद्यः पक्षः** स्वीक्रियते तर्हि **सपक्षः** = शेषप्रदेशराशिः प्रायः **पक्ष्मलाक्षीकटाक्षैः स्थातुं नो क्षमेत**, कुतः ? यतो यथा विवक्षितोऽन्त्यः प्रदेशः पूरणः तथैकैकः प्रथमादिप्रदेशः तस्य विवक्षितजीवप्रदेशराशेः पूरण एव, एकमपि प्रदेशमन्तरेण तस्याऽपरिपूर्तेरित्याशयेनाह-**यस्मात्** कारणात् **अन्त्ये देशे** = प्रदेशे **एतन्न्यूनतावर्जकत्वं** = जीवाऽपरिपूर्तिप्रणाशकत्वं अभिमतं **चेत्** ? **किं नु अन्यत्र** = प्रथमादिप्रदेशे **न तुल्यम्** ? समानमेव । ततः चरमप्रदेश इव प्रथमादिप्रदेशेऽपि जीवत्वमनिवारितमेव ॥६९॥

ननु तथापि शेषप्रदेशेऽपि तन्न्यूनतावर्जकत्वसद्भावेऽपि, **विवक्षापूरणस्य** = विवक्षाविषयभूतस्य पूरणस्य = न्यूनतावर्जकत्वस्य **चरमे** एव **अस्तित्वं**, कुतः ? **अन्तनिरुक्तेः** = चरमपदनिर्वचनात् । चरमत्वं हि स्वसमानजातीयानुत्तरकत्वादिस्वरूपम् । अन्यप्रदेशानां जीवन्यूनतावर्जकत्वेऽपि तस्य स्वसमानजातीयोत्तरकत्वेन न विवक्षितन्यूनतावर्जकत्वमिति विशेषाच्चरमस्य प्रदेशस्यैव वैवक्षिकपूरणसद्भावेन जीवत्वं न शेषप्रदेशानाम् इति **चेत्** ? आः ! द्वितीयनिह्नव ! किमुक्तं त्वया ? श्रीमन्महावीरचरणशरणं प्रपद्यस्व विचारय च तं वन्दित्वा यदुत **किमत्र** चरमप्रदेशजीवत्वसंसिद्धिलक्षणघटनिष्पत्तौ **विवक्षणदण्डात्** = वैवक्षिकपूरणलक्षणदण्डात् **तव चक्रकचक्रं न बम्भ्रमीति** ? पूर्वोक्तविवक्षितविकल्पत्रिकान्तिमविकल्पस्वीकारविमर्शविलपक्षत्रितयप्रथमपक्षस्वीकारसिद्धि-

को केवल चरमप्रदेशवृत्ति मान कर केवल चरमप्रदेशस्वरूप माना जाय । सभी प्रदेश समानपरिमाणवाले हैं ॥६७॥

यदि अन्त्यप्रदेशजीववादी तिष्यगुप्त की, जो द्वितीय निह्नव के स्वरूप में जिनशासन में प्रसिद्ध है, ओर से यह कहा जाय कि —> 'चरम प्रदेश में अन्य अचरमप्रदेश की अपेक्षा एक ऐसा अतिशय रहता है जो केवल चरम प्रदेश में ही होता है, न कि अन्य अचरमप्रदेश में । इसलिए जीव चरमप्रदेशस्वरूप ही है, न कि अचरमप्रदेशस्वरूप' <— तो यह वक्तव्य भी अरण्यरुदन की भाँति निष्फल है, क्योंकि वैसा मान्य करने पर यह प्रश्न होता है कि - अचरम प्रदेश की अपेक्षा चरम प्रदेश में रहनेवाला अतिशय क्या (१) पूरणस्वरूप है ? या (२) उपकारात्मक है ? या (३) सिद्धान्तसिद्धत्व = जैनागमप्रसिद्धत्वरूप है ? ॥६८॥ जैसे अपक्वब्रह्मचर्यवाला आदमी स्त्रीकटाक्ष के सामने नहीं टिकता है वैसे प्रथम विकल्प को अन्यप्रदेश सहन नहीं कर सकते, क्योंकि प्रथम विकल्प का स्वीकार किया जाय तब उसका अर्थ यह प्राप्त होता है कि जीव का चरमप्रदेश जीव में न्यूनता का वर्जक होता है । मगर क्या वैसा पूरण अन्य अचरमप्रदेश में रहता नहीं है ? रहता ही है । जैसे विवक्षित एक प्रदेश के बिना संपूर्ण जीव अपूर्ण बन जाता है ठीक वैसे ही अन्य अचरमप्रदेश न रहने पर भी जीव अधूरा ही रहता है । इसलिए जैसे चरमप्रदेश से जीव की परिपूर्ति होती है ठीक वैसे ही अन्य अचरमप्रदेश से भी जीव की पूर्णता होनी न्यायप्राप्त है । तब - 'चरमप्रदेश में ही पूरणनामक अतिशय रहता है, न कि अन्य अचरमप्रदेश में' - यह कहना कैसे संगत हो सकता है ? कथमपि नहीं ॥६९॥

—> "जी हाँ, चरम प्रदेश की भाँति अचरम प्रदेश में भी पूरकत्वनामक अतिशय रहता है, फिर भी विवक्षित पूरण अतिशय तो केवल चरम प्रदेश में ही रहता है । इसका कारण यह है कि सब अचरमप्रदेश होने पर भी चरमप्रदेश नहीं होने पर जीव पूर्ण नहीं कहलाता है । इस विवक्षा से पूरण अतिशय केवल चरमप्रदेश में ही रहेगा" <— ओ अनाथ ! यह आपने क्या बोल दिया ? अन्त्यप्रदेशजीवत्ववादस्वरूप घट की सिद्धि के लिये विवक्षात्मक दण्ड की सहायता लेने पर क्या

अन्त्यत्वमव्यवस्थितमनवस्थितवृत्तिजीवदेशानां ।
उपकारग्रहविमुखे तेन विशेषाग्रहः को वा ? ॥७१॥

❁ जयलता ❁

प्रयोजनस्वीकृतवैवक्षिकपूरणनियमार्थं पूर्विलाङ्गीकृतान्तिमविकल्पाश्रयणेन निशिततरदूषणधारोद्धुरारानिचक्रकचक्रनिस्फेटित एवान्त्य-प्रदेशजीवत्ववादघट इति गूढार्थः । अयमाशयः चरमप्रदेशसद्भावे एव वृत्तिः जीवः तन्मयः इति पूर्विलतृतीयविकल्पकक्षाकारे कुतः चरमप्रदेश एव जीवस्य वृत्तित्वं ? इति पर्यनुयोगे पूरणातिशयसद्भावादित्युत्तरदानानन्तरं 'तत्रैव किं पूरणातिशयः ?' इति चालनायां वैवक्षिकपूरणसद्भावादिति प्रत्यवस्थाने कृते 'तत्रैव किं वैवक्षिकपूरणातिशयो नान्यत्र प्रदेशे' इति प्रश्ने तत्रैव जीवस्य वृत्तित्वादिति प्रत्युत्तरप्रदाने स्पष्टमेव चक्रकदूषणमिति नान्त्यप्रदेशजीवत्वमतिः मतिमतां रतिदायिनी ॥७०॥

किञ्च जीवानां येऽनावृतप्रदेशाष्टकभिन्नाः प्रदेशास्ते सर्वे एवानवस्थिता इति न केवलं विवक्षितप्रदेशस्य चरमत्वं किन्तु सर्वेषामेव प्रदेशाष्टकव्यतिरिक्तानां प्रदेशानामिति विवक्षितप्रदेश इव शेषप्रदेशेष्वपि पूरणत्वप्राप्तौ बहु विप्लवेन । तथाहि शेष-प्रदेशानां विवक्षितप्रदेशमानपूरणत्वेऽन्त्यप्रदेशवत् प्रत्येकं जीवत्वात् प्रतिजीवं जीवबहुत्वमसङ्ख्येयजीवात्मकं प्राप्नोति । अथवा प्रथमादिप्रदेशवत् चरमप्रदेशस्यापि अजीवत्वे सर्वथा जीवाभावः प्रसज्यते । किञ्च यद् विष्वगेकैकस्मिन्नवयवे सर्वथा नास्ति तत् सर्वेष्वप्यवयवेषु समुदितेषु न भवति, प्रत्येकमवृत्तिधर्मस्य समुदायाऽवृत्तित्वनियमात्, अन्यथा रेणुकणराशेरपि तैलमुत्पद्येत । तथा च प्रथमादिक एकैकस्मिन् प्रदेशे सर्वथा जीवत्वं नास्ति चेत् ? तर्हि प्रथमादिप्रदेशेऽसज्जीवत्वं परिमाणादिना तुल्ये चरमप्रदेशे कथमकस्मादेव समायातम् ? न च प्रथमादिप्रदेशे देशतो जीवत्वं चरमे च कार्त्स्न्येनेति न दोष इति वाच्यम्, तत्राऽपि देशत एव जीवः कल्पयितुमर्हति, तस्यापि प्रदेशत्वात्, प्रथमादिप्रदेशवत् । अन्त्यप्रदेशे सर्वात्मना जीवसद्भावे यो हेतुः स शेषप्रदेशेष्वपि समान एव, तुल्यधर्मकत्वात् । तथा च जीवबहुत्वप्रसङ्गः पूर्वोक्तः तदवस्थ एवेत्याद्याशयेन प्रकरणकारः प्राह- **अनवस्थितवृत्ति-जीवदेशानां** = निरन्तरं ऊर्ध्वमधो गतिशीलानां जीवप्रदेशानां **अन्त्यत्वं** = चरमत्वं अपि **अनवस्थितं** = अनिश्चितम् । ततश्च सर्वेषामेवान्त्यत्वप्राप्तौ जीवत्वं प्रसज्येत, न वा विवक्षितचरमप्रदेशोऽपि जीवः स्यात् प्रदेशत्वात् प्रथमादिप्रदेशवत् । न च विवक्षितचरमप्रदेशेऽन्यप्रदेशाऽपेक्षया कश्चिद्विशेषोऽस्ति । शेषप्रदेशाऽसद्भावे तु विवक्षितचरमप्रदेशोऽपि न जीवन्यूनतावर्जन समर्थ इति केवलस्य तस्य **उपकारग्रहविमुखे** = उपकारोपलब्धिविमुख्ये **तेन** विवक्षितचरमप्रदेशेन **को वा विशेषाग्रहः** तव यद्वा जीवप्रदेशानां संसारिदशायामनवस्थितत्वेन चरमत्वस्य दुर्ज्ञेयत्वप्राप्तौ पूरणाद्युपकारो नैकस्मिन् प्रदेशे ज्ञायेतेत्युपकारज्ञानविमुखे त्वयि तेन चरमप्रदेशेन को विशेषाग्रहः तव यदुत 'चरम एव प्रदेशः सर्वात्मना जीवो न त्वचरम' इति । ततो न पूरणाभिधाना-तिशयस्य सर्वेष्वेवात्मप्रदेशेषु सतः शेषप्रदेशेभ्योऽन्त्यप्रदेशव्यावर्तकत्वं सम्भवतीति न प्रथमः पक्षः ते हिताय ॥७१॥

चक्रक दोषस्वरूप चक्र जोर से घूमने नहीं लगेगा ? हम यह भी कह सकते हैं कि अन्तिम प्रदेश होने पर भी शेष प्रथमादि प्रदेश नहीं होने पर जीव पूर्ण नहीं कहलाता है । इस विवक्षा से पूरण अतिशय केवल अन्य प्रथमादि प्रदेश में ही रह सकता है, न कि चरमप्रदेश में। तब आप क्या बोलोगे ? आप कहेंगे कि —> 'जीव चरमप्रदेशरूप होने से हम विवक्षित पूरण अतिशय की कल्पना अन्तिमप्रदेश में ही करते हैं' <— तब तो चक्रक दोष ही आयेगा । इसका कारण यह है कि 'जीव अन्तिमप्रदेशात्मक क्यों है ?' इसका जवाब आपने दिया कि 'जीव चरमप्रदेशवृत्ति होने की वजह चरमप्रदेशात्मक है । फिर 'जीव चरमप्रदेशवृत्ति क्यों है ?' इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में आपने 'पूरणनामक अतिशय चरमप्रदेश में होने की वजह जीव चरमप्रदेशवृत्ति है' ऐसा कहा । बाद में 'पूरणातिशय चरमप्रदेश में ही क्यों रहता है ?' इस समस्या के समाधान में आपने यह बताया कि - 'विवक्षित पूरण अतिशय चरमप्रदेश में ही रहता है' । इसके पश्चात् 'विवक्षित पूरण अतिशय केवल चरमप्रदेश में ही क्यों होता है ?' इस शंका के निराकरणार्थ आपने 'क्योंकि जीव चरमप्रदेश में ही रहता है' ऐसा कहा । तब तो वापस वही प्रश्न उपस्थित होगा कि 'जीव चरमप्रदेश में ही क्यों रहता है ?' इस तरह तो प्रश्नों का चक्र घूमता ही रहेगा और उससे आपका चरमप्रदेशजीवत्ववादस्वरूप घट टूट जायेगा । इस बात को क्या आप भूल गये ? शांति से सोचिये ॥७०॥

दूसरी बात यह है कि संसारी अवस्था में जीव के प्रदेश उबलते पानी के अवयव की भाँति सतत घूमते रहते हैं । अतः अंत्यत्व भी किसी एक ही जीवप्रदेश में निश्चितरूप से नहीं रह सकेगा । इस परिस्थिति में चरमप्रदेश किसको कहा जाय ? - यह निर्णय करना भी मुश्किल बन जायेगा । तब जीव चरमप्रदेश में ही रहता है - यह कहना भी कैसे आसान होगा ? क्योंकि तब कौन प्रदेश जीव में विशेष उपकार करता है जिसकी वजह उसे चरम मान लिया जाय ? यह निर्णय करने में आप विमुख बन जायेंगे । फिर क्यों अंत्यप्रदेश में दुराग्रह आप रखते हैं ? यह हमारी समझ में नहीं आता है ॥७१॥

अभित्तिचित्रार्पित एव भाति द्वितीयपक्षोऽपि परीक्षकाणां ।
येनोपकारो हि फलोपधानं युक्तं बहूनां न तदेककस्य ॥७२॥
तदुक्तं -> 'जुत्तो य तदुवयारो देसूणे न उ पएसमेत्तंमि ।
जह तंतूणंमि पडे पडोवयारो न तंतुम्मि ॥७३॥ (वि.आ.भा.२३४७)

❋ जयलता ❋

अस्तु तर्हि चरमप्रदेशस्योपकारित्वलक्षणातिशय इत्याशङ्कायामाह- **द्वितीयपक्षः** उपकारित्वलक्षणः **अपि परीक्षकाणां अभित्तिचित्रार्पित एव भाति, येन** कारणेन **उपकारो हि** प्रकृते न फलस्वरूपयोग्यत्वं, चरमप्रदेश इव शेषप्रदेशेष्वपि कारणतावच्छेदकधर्मवत्त्वात्मकस्य तस्य गतत्वेनाऽतिशयतापातात्तेव किन्तु **फलोपधानं** = स्वाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन फलोत्पादव्याप्यत्वमिति स्वीकर्तव्यं । तच्च **बहूनामेव** प्रदेशानां **युक्तं न तदेककस्य** चरमस्य प्रदेशस्य, सामग्री वै कार्यजनिका न त्वेकं कारणमिति वचनात् । न ह्येकेनैव तन्तुना पटो जायते किन्तु स्वकारणकलापेन । तथैवैकेन प्रदेशेन चरमेणाऽचरमेण वा न ज्ञानादिलक्षणं कार्यमुत्पाद्यते किन्तु सर्वैरेव जीवप्रदेशैः सम्भूय एव । ततः फलोपधानलक्षणोपकाराभिधानातिशयेनान्त्येभ्यः प्रदेशेभ्योऽन्त्यः प्रदेशो भिद्यत इति रिक्तमेव वचः ॥७२॥

अत्रैव **जिनभद्रगणि**क्षमाश्रमणवचनं प्रमाणयति - **तदुक्तं** विशेषावश्यकभाष्ये इति शेषः । **जुत्तो य** इति । देशोने जीवप्रदेशे सति चरमप्रदेशेन तत्सहकारीभूय **तदुपकारः** = ज्ञानादिफलोपधानलक्षणोपकारः कर्तुं **युक्तः न तु** एकस्मिन् चरमे प्रदेशमात्रे सति । यथा **तन्तूने** = एकेन तन्तुना हीने = विवक्षितैकतन्तुविरहेणानुत्पद्यमाने **पटे** = विवक्षितसङ्ख्याकतन्तुजन्यपटेऽवयविनि शेषैकतन्तुना पूर्वतन्तुभिः सम्भूय **पटोपकारः** = विवक्षितपटजननलक्षणोपकारो भवितुमर्हति, **न तु** एकस्मिन्नेव **तन्तौ** स्वतन्त्रे सति । तत एकस्मिन्नेव चरमप्रदेशे ज्ञानादिफलोत्पत्तिव्याप्यत्वाभिधानं स्वसमयापरिचयविजृम्भितम् । इदञ्च प्रकृतप्रकरणकाराशयमनुसृत्य व्याख्यातम् । अन्ये तु तदुवयारो इत्यस्य तदुपचारः इत्येवं छायामङ्गीकुर्वन्ति अग्रेऽपि पटोपचार इति । तदुक्तं मलधारिश्रीहेमचन्द्रसूरिभिः 'ऽत्यन्तप्रदेशैक एवान्त्यप्रदेशो जीवो न भवति किन्तु देशोन एव जीवे जीवोपचारो युज्यते यथा तन्तुभिः कतिपयैरूने पटे पटोपचारो दृश्यते न त्वेकस्मिंस्तन्तुमात्रे' (वि.भा.२३४७ म.वृ.) इति ॥७३॥

प्रसङ्गेन सोपयोगित्वाद् **विशेषावश्यकभाष्य**गाथातद्व्याख्यानोपदर्शनं क्रियतेऽस्माभिः । अंतोऽवयवो न कुणइ समत्तकज्जं ति जइ न सोऽभिमओ । संववहाराईए तो तम्मि कओऽवयविगाहो ? ॥२३५१॥ यदि नामान्त्यावयवः समस्तस्याप्यवयविनो यत्साध्यं कार्यं तन्न करोति इत्यतोऽसौ नाभिमतो भवतां कूर-पकान्न-वस्त्रादीनां सिक्थ-सुकुमारिकादिसूक्ष्मखण्ड-तन्त्वादिरूपोऽन्त्योऽवयवो यदि न परितोषकरो भवतामित्यर्थः, तर्हि संव्यवहारादौ तस्मिन्नन्त्यावयवे कुतः किल समस्तावयविग्रहो भवताम् ? इति ॥२३५१॥ प्रमाणयन्नाह- 'अंतिमतंतू न पडो तक्कज्जाऽकरणओ जहा कुंभो । अह तयभावे वि पडो सो किं न घडो खपुप्फं व ?' ॥२३५२॥ अन्त्यतन्तुमात्रं न पटः, तस्य पटस्य कार्यं शीतत्राणादिकं = तत्कार्यं, तस्याऽकरणं = तत्कार्याकरणं

यदि दूसरे पक्ष का आश्रय लिया जाय कि —> 'अचरम प्रदेश की अपेक्षा चरम प्रदेश में उपकार नामक एक अतिशय रहता है, जिसकी वजह जीव चरमप्रदेशस्वरूप है' <— तो यह परीक्षकों को विना भित्ति के चित्रकामतुल्य लगेगा । इसका कारण यह है कि उपकार का अर्थ है फलोपधान यानी स्वाऽव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्ध से फलोत्पादव्याप्यत्व । जिसकी अव्यवहित उत्तर क्षण में कार्य की निष्पत्ति हो वह उपकारक कहा जाता है । मगर ऐसा उपकार अन्य अचरम जीवप्रदेशों से निरपेक्ष केवल एक चरम प्रदेश नहीं कर सकता है । अनेक कारण होने पर ही कार्य का जन्म होता है, न कि केवल कारण से ही । अतः चरम प्रदेश में अचरम प्रदेश की अपेक्षा उपकार नामक अतिशय भी नामुमकिन है ॥७२॥

इस विषय में विशेषावश्यक भाष्य में भी कहा गया है कि 'उस ज्ञानादि फल का उपकार आंशिक सामग्रीन्यूनता होने पर या कार्य में आंशिक न्यूनता होने पर ही हो सकता है, न कि प्रदेशमात्र = केवल चरम प्रदेश होने पर । जैसे एक-दो तन्तु की न्यूनता होने पर एवं शेष सकल तन्तु आदि सामग्री उपस्थित होने पर अवशिष्ट एक-दो तन्तु पटोपकार = स्वाऽव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्ध से पटोत्पत्ति का व्याप्य बनने में समर्थ होते हैं, न कि केवल एक-दो तन्तु से ही पट की तदुत्तर क्षण में उत्पत्ति होती है । इसलिए एक चरमप्रदेश में ज्ञानादिफलोपहितकारणता नहीं मानी जा सकती । अतएव चरमप्रदेश में अन्य प्रदेश की अपेक्षा फलोपधानात्मक उपकार का स्वीकार कर के उसीमें अतिशय का प्रतिपादन कर के जीव को चरमप्रदेशात्मक बताना नामुनासिब है - यह उपर्युक्त भाष्यगाथा के अर्थ को शांति से सोचने पर फलित होता है ॥७३॥

सर्वेषामेव तन्तूनामन्त्यसंयोगशालिनां । तथात्वमिति नादेयमेकदा तत्पटोदयात् ।।७४।।
तृतीयपक्षः पुनरक्षराणां कलामपि ज्ञातवता न मान्यः ।
व्यवस्थितो यत्समयस्तदाशावल्लीवितान्रे कठिनः कुठारः ।।७५।।

❀ जयलता ❀

तस्मादिति । यथा कुम्भो घटः । अथ तदभावेऽपि = पटकार्याभावेऽपि तन्तुः पट इष्यते, तर्हि किमित्यसौ पटे घटः खपुष्पं वा न भवति ? पटकार्याऽकर्तृत्वस्याऽविशेषात् ।।२३५२।। तथा 'उवलंभव्ववहाराभावाओ नत्थि तं खपुप्फं व । अंतावयवेऽवयवी दिट्ठंताभावओ वाचि ।।२३५३।।तवाभिमतोऽवयवी अन्त्यावयवे नास्ति, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः, व्यवहाराभावाच्च, खपुष्पवदिति । अथवा अन्त्यावयवमात्रमवयवी अवयविसंपूर्णहेतुत्वात् इत्यत्र तावद् दृष्टान्ताभावान्न साध्यसिद्धिरिति ।।२३५३।। यदि नाम नोपलभ्यते नापि व्यवह्रियते दृष्टान्ताभावाच्च नानुमीयते, ततः किम् ? इत्याह -'पच्चक्खओऽणुमाणादागमओ वा पसिद्धि अत्थाणं । सव्वप्पमाणविसयाईयं मिच्छत्तमेवं भे ।।२३५४।।प्रत्यक्षादिप्रमाणैरर्थानां सिद्धिः, तानि च त्वत्पक्षसाधकत्वेन न प्रवर्तन्ते । अतः सर्वप्रमाणविषयातीतं 'भे' भवताभिमतं मिथ्यात्वमेवेति ।।२३५४।। इति **मलधारवृत्तिः** । विस्तरस्तु भाष्यतो बोध्यः ।

साम्प्रतं चतुःसप्ततितमपद्यमवसरप्राप्तं व्याख्यायते । **सर्वेषामेव तन्तूनां अन्त्यसंयोगशालिनां** = चरमतन्तुसंयोगवतां **तथात्वं** = प्रत्येकं स्वाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन पटोत्पादव्याप्यत्वमिति । न चैवमेकोऽपि तन्तुः चरमतन्तुसंयोगेन पटमुत्पादयेदिति वाच्यम्, द्वितन्तुकपटोत्पत्तेरिष्टत्वात्तदानीं, शततन्तुकपटोत्पत्तिस्तु नापाद्या तत्कार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वात् । **एतेन** शततमतन्तुसंयुक्तेन प्रथमतन्तुना द्वितीयादितन्तुविकलेन शततन्तुकपटोत्पादापत्तिः **परास्ता,** तदानीं प्रथमतन्तुसंयुक्ते तन्तौ शततमत्वस्यैव विरहेण शततन्तुकपटकारणस्य शततमतन्तुसंयुक्तस्य तन्तोरेव विरहादिति तु **नादेयं** = न स्वीकर्तव्यम्, **एकदा** = युगपत् **तत्पटोदयात्** = तन्तुसमसङ्ख्याकपटोत्पादप्रसङ्गात् । प्रथमतन्तोः चरमतन्तुसंयुक्तस्य पटविशेषहेतुत्वं, द्वितीयतन्तोः चरमतन्तुसंयुक्तस्य पटान्तरहेतुत्वमित्येवं स्वीकारे तेषां सर्वेषां प्रथमादितन्तूनां चरमतन्तुसंयोगाश्रयाणां सत्त्वदशायां समकालमेव तत्तत्पटत्वावच्छिन्नानां नानापटानामुत्पत्तेः सुरगुरुणाऽपि निवारयितुमशक्यत्वात् । एतेन पूर्वतन्तव एव तन्त्वन्तरसहकारात्पूर्वपटे सत्येव पटान्तरमारभन्तामिति निरस्तम्, एकदा नानापटोपलम्भस्य बाधितत्वात् । **यत्तु मुक्तावलीकृता** 'मूर्तयोः समानदेशताविरोधात् तत्र पटद्वयाऽसम्भवादिति' (का.११२.मु.पृ.७११) गदितं, **तन्न** चारु, प्रकाशपवनधूमादीनां मूर्तद्रव्याणां समानदेशताया अविगानेनोपलम्भादिति **दिक्** ।।७४।।

तर्हि सिद्धान्तसिद्धत्वलक्षण एवातिशयोऽस्तु चरमप्रदेशस्याचरमप्रदेशेभ्यो व्यावर्तकत्वेन । **न च** सिद्धान्तसिद्धत्वमेवासिद्धमत्रेति **वाच्यम्**, यतः पूर्वोक्तालापकरूपे सिद्धान्ते शेषाः प्रथमादिप्रदेशा जीवत्वेन निषिद्धाः न पुनरन्त्यप्रदेशः तस्य तत्र जीवत्वाऽनुज्ञानात् । **अनेन** अन्त्यप्रदेशो न जीवः प्रदेशत्वात्, प्रथमादिप्रदेशवत् इति **प्रत्याख्यातम्**, आगमबाधितत्वादिति निह्नवाशङ्कायां स्याद्वादी प्राह- **तृतीयपक्षः** अष्टषष्ठितमकारिकाप्रदर्शितः सिद्धान्तसिद्धत्वलक्षणः **पुनः अक्षराणां कलामपि ज्ञातवता न मान्यः, यत्** = यस्मात्कारणात् **समयः** = 'जम्हा णं कसिणे पडिपुन्ने लोगागासपएसतुल्ले जीवेत्ति वत्तव्वं सिआ' इत्येवंस्वरूप आत्मप्रवादपूर्वालापकग्रथितः सिद्धान्तः **व्यवस्थितः** सन् **तदाशावल्लीविताने** = अन्त्यप्रदेशजीवत्वविषयिण्याः निष्प्रमाणनिलापलताया

यहाँ यह कहा जाय कि —> 'प्रत्येक तन्तु चरमतन्तुसंयुक्त हो कर पट के जनक होते हैं अर्थात् स्वाऽव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्ध से पटोत्पाद के व्याप्य होते हैं । सब तन्तुओं में चरमतन्तुसंयोग तभी हो सकता है यदि अचरम सकल तन्तु एवं चरम तन्तु विद्यमान हो । अन्य एक भी तन्तु न होने पर चरमतन्तु संयोग ही विद्यमान तन्तु में नहीं रह सकेगा, क्योंकि तब कोई भी तन्तु चरम नहीं बनता है' <— तो यह भी असंगत है, क्योंकि तब तो एक ही काल में अनेक पटों की उत्पत्ति होने लगेगी । चरमतन्तुसंयोगविशिष्ट प्रत्येक तन्तु तत् तत् पट के कारण है - यह स्वीकार करने पर यावत् संख्याक तन्तु होंगे उतनी संख्या में पट की उत्पत्ति होने लगेगी । तब तो १०० तन्तु से १०० पट की उत्पत्ति हो जायेगी, जो व्यवहार से बाधित है । इसलिए वैसा अभ्युपगम नहीं किया जा सकता ।।७४।।

६८ वीं कारिका में जो तृतीय विकल्प बताया गया था कि —> 'अचरम प्रदेश की अपेक्षा चरम प्रदेश में सिद्धान्तसिद्धत्व नामक अतिशय रहता है यानी जैनागम ही चरमप्रदेश में जीवत्व का समर्थन करता है' <— वह तो संस्कृतभाषा की मात्रा आदि को जाननेवाले को भी मान्य नहीं हो सकता है, क्योंकि 'केवल एक प्रदेश जीव नहीं है' ऐसा ही सिद्धान्त जैनशास्त्रों में उपलब्ध होता है । इसलिए शास्त्र तो आपकी 'अन्त्यप्रदेश ही जीव है' इस तथ्यहीन मान्यता की सिद्धि की आशास्वरूप जो बेल है उसके विस्तार को काटने के लिए कठिन तीक्ष्ण कुठार समान हो जायेगा । इसलिए तृतीय विकल्प का प्रदर्शन करने पर तो आपकी इज्जत दो कौड़ी की हो जायेगी ।।७५।।

आगमपाठश्चायं -> 'एगे भंते ! जीवप्पएसे जीवेति वत्तव्वं सिआ ? णो इणट्ठे समट्ठे । एवं दो जीवप्पएसा, तिण्णि संखेज्जा, असंखेज्जा वा जाव एगपएसूणे वि अ णं जीवे णो जीवेति वत्तव्वं सिआ । जम्हा कसिणे पडिपुण्णे लोगागासपएसतुल्लप्पएसे जीवेति वत्तव्वं सिआ ।' युक्तश्चैतत्, अन्यथा ->

कतिपयसमुदायिध्वंसविश्रम्भदम्भात्कथमिह तव राशिर्नास्ति कार्यप्रकाशी ।
यदि तु चरमदेशे राशिता नाशिता ते मतिरतिगहनेनानेन दुष्टाग्रहेण ॥७६॥

❀ जयलता ❀

विस्तारे कठिनः = तीक्ष्णः कुठारः = कुठारसमः ॥७५॥

आलापकमेव दर्शयति **आगमपाठश्चायमिति** । अस्माभिः पूर्वं मलधारवृत्तिप्रदर्शितः पाठो गृहीतः । ततः यदि श्रुतं तस्य प्रमाणं तर्हि सोऽन्त्यप्रदेशोऽपि जीवत्वेन निषिद्ध एव, तस्यैकत्वात् । तथाहि तत्रैवमुक्तं - 'एगे भन्ते ! जीवपएसे जीवेत्ति वत्तव्वं सिया ? णो इणट्ठे समट्ठे' इति । प्रयोगस्त्वेवम्- अन्त्यप्रदेशो न जीवः एकत्वात्, प्रथमाद्यन्यतरप्रदेशवत् । सर्वेऽपि परिपूर्णा एव जीवप्रदेशा जीवत्वेन श्रुते प्रोक्ता न त्वेक एव चरमप्रदेशः । अतः श्रुतप्रामाण्यमिच्छता नैक एवान्त्यप्रदेशो जीवत्वेनेष्टव्यः । ततःचरमप्रदेशे शेषप्रदेशापेक्षया सिद्धान्तसिद्धान्तरश्रयणं तु प्रादायि प्राञ्जलहृदयैः स्वहस्तेनैव कठिनकुठारप्रहारः स्वमनोरथलतावितान इति सम्यगुक्तम् । उक्तञ्च **विशेषावश्यकभाष्येऽ**पि 'तंतू पडोवयारी न समत्तपडो य समुदिया ते उ । सव्वे समत्तपडओ सव्वपएसा तहा जीवो ॥२३४४॥ तद्वृत्तिश्चैवम् - एकतन्तुर्भवति समस्तपटोपकारी तमन्तरेण समस्तपटस्याभावात् । परं स एकस्तन्तुः समस्तपटो न भवति, किन्तु ते तन्तवः सर्वेऽपि समुदिताः समस्तपटव्यपदेशं लभन्त इति प्रतीतमेव । तथा जीवप्रदेशोऽपि एको जीवो न भवति किन्तु सर्वेऽपि जीवप्रदेशाः समुदिता जीव इति (वि.आ.भा.म.वृ.पृ.४७०)।

तदेव समर्थयति - **युक्तश्चैतदिति । अन्यथा** = एकप्रदेशस्याऽप्यन्त्यस्य कृत्स्नजीवत्वस्वीकारे, तु **कतिपयसमुदायिध्वंसविश्रम्भदम्भात्** = अल्पप्रदेशे प्रदेशिपर्यवसानाभिपात् **कथमिह** चरमप्रदेशादौ **तव** मिथ्यागुरुस्य **राशिः** जीवादिः **कार्यप्रकाशी** = ज्ञानादिलक्षणार्थक्रियाकारी **नास्ति** ? अन्यथा घटादिर्नरशृङ्गादिर्वा जीवव्यपदेशभाक् स्यात्, तत्कार्यकारित्वाभावस्याऽविशेषादिति पूर्वमुक्तमेव । **यदि तु चरमदेशे** = चरमे प्रदेशे राशिता त्वया स्वीकृता तर्हि **अनेनाऽतिगहनेन दुराग्रहेण नाशिता ते** = तव **मतिः** । अतिगहनत्वं कथमिति चेत् ? कथं वा मतिनाशनं ? किं वा तत्र प्रमाणम् ? इति चेत् ? 'एवंभूयनयमयं देस-पएसा न वत्थुणो भिन्ना । तेणाऽवत्थुत्ति मया कसिणं चिय वत्थुमिट्ठं से । जइ तं पमाणमेव कसिणो जीवो अहावयाराओ । देसे वि सव्वबुद्धी पवज्ज संसे वि तो जीवं ॥२३४७-२३४८॥ इति **विशेषावश्यकभाष्यगाथे** एवात्र प्रमाणत्वेन गृहाण । तद्वृत्तिश्चैवम् - एवंभूतनयस्येदं मतं यदुत देश-प्रदेशा न वस्तुनो भिन्नाः तेन तावद्वस्तुरूपौ मतौ । अतो देश-प्रदेशकल्पनारहितं कृत्स्नं परिपूर्णमेव वस्तु से = तस्य एवम्भूतनयस्येष्टम् । ततो यदि तदेवम्भूतनयमतं प्रमाणं जानासि त्वं एवं तर्हि कृत्स्नः

आप शास्त्रसिद्धान्त की बाँग पुकारते हैं, मगर शास्त्र क्या कहता है ? यह तो पहले सुनिये । यह रहा वह आत्मप्रवादनामक पूर्व श्रुत का पाठ जिसका अर्थ है - ''हे भगवंत ! एक प्रदेश जीव कहा जा सकता है ?'' इस प्रश्न का जवाब यह है कि 'यह नहीं हो सकता है । यह अर्थ समर्थ = योग्य नहीं है' । इस तरह दो जीवप्रदेश, जीव के तीन प्रदेश, संख्यात प्रदेश, असंख्यात प्रदेश यावत् एकप्रदेशन्यूनसंख्याक असंख्य प्रदेश को भी जीव नहीं कहा जा सकता । वस्तुस्थिति यह है कि कृत्स्न प्रतिपूर्ण लोकाकाशप्रदेशतुल्यसंख्याक प्रदेशों को ही जीव कहा जा सकता है'' । इस सिद्धान्त को समझने से ही मालूम हो जाता है कि चरम प्रदेश को जीव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह एक है, जैसे कि प्रथम प्रदेश । इसलिए शास्त्र को प्रमाण कहना हो तब तो लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतनी संख्यावाले जीवप्रदेश को ही जीव कहना मुनासिब हो सकता है ।

विचार करने पर यह बात युक्तिसंगत भी प्रतीत होती है, क्योंकि सभी प्रदेशों में अवयवी आत्मा का विश्राम न मान कर कतिपय प्रदेशों में ही आत्मा का विश्राम = संपूर्णजीव की विद्यमानता मानने का अच्छा ढोंग रचाने पर तो समस्या यह आयेगी कि - 'राशि = संपूर्ण जीव कतिपय प्रदेश में विद्यमान है तब कतिपय प्रदेश ही कार्यप्रकाशी = ज्ञानादि कार्य के जनक क्यों होते नहीं हैं ?'जिसका जवाब प्रतिवादी के सामने कोई भी न रहेगा । फिर भी यदि चरमप्रदेश में ही राशिता = संपूर्ण चैतन्य माना जाय तब तो लगता है कि अत्यन्त गहन इस कदाग्रह से तुम्हारी मति नष्ट हो गई है । अतएव संपूर्ण अवयवों के होने पर ही अवयवी माना जा सकता है - इस आगमिक एवं यौक्तिक बात का तुम अपलाप

तथा च स्थितमेतत् भवन् सर्व-स्वदेशेषु घटो यद्वत्तदात्मकः ।
भवन् सर्व-स्वदेशेषु तद्वदात्मा तदात्मकः ॥७७॥ इति ।
स्यादेतत् —> सर्वेषामेव देशानां जीवत्वं यदि यौक्तिकं ।
एकैकस्याऽपि देशस्य हठादापतितं तदा ॥७८॥
न वर्तते यत् प्रत्येकं समुदायेऽपि नास्ति तत् ।
ततोऽन्यथोपपत्त्यैव पर्याप्तिरपि नोचिता ॥७९॥

❊ जयलता ❊

संपूर्णो जीवो न त्वन्त्यप्रदेशमात्रमिति प्रतिपद्यस्व । अथ 'ग्रामो दग्धः, पटो दग्धः' इत्यादिन्यायादेकदेशेऽपि समस्तवस्तूपचारा-दन्त्यप्रदेशलक्षणे देशेऽपि समस्तजीवबुद्धिः तत्र प्रवर्तते तर्हि शेषे प्रदेशादिप्रदेशे उपचारतो जीवं प्रतिपद्यस्व, न्यायस्य समानत्वा-दिति ॥ (वि.आ.भा.म.वृ.पृ.४७०) ॥७६॥

निष्कर्षमाह- **तथा च स्थितमेतत्** - प्रदर्शितरीत्या प्रमाणसिद्धमिदं यदुत - **सर्व-स्वदेशेषु** = सर्वेषु स्वकीयेषु अवयवेषु **भवन्** = उत्पद्यमानः प्रमीयमाणो वर्तमानश्च **घटो यद्वत् तदात्मकः** सकलस्वकीयावयवात्मको भवति न तु कतिपयावयवस्वरूपः **तद्वत्** = तथैव **सर्व-स्वदेशेषु** = संपूर्णेषु स्वकीयेषु प्रदेशेषु **भवन्** = तत्तत्पर्यायपरिग्रहेणोत्पद्यमानः प्रमीयमाणो वर्तमानश्च **आत्मा तदात्मकः** = अखिल-स्वकीयप्रदेशात्मक एव न त्वन्त्यप्रदेशात्मक इति ॥७७॥ इत्येवं **मित्रश्रीश्रावकप्रतिबोधितः तिष्यगुप्तः** प्रवचनं प्रपन्नः । ननु स्वप्रदेशत्वावच्छेदेन जीवत्वं स्याद्वादिभिः स्वीक्रियते न वा ? इति द्विपक्षीराक्षसी प्रत्यक्षीबोभ-वीति इत्याशयेन त्रिभिः पद्यैः परः शङ्कते **स्यादेतदिति** । प्रथमपक्षे आह- **सर्वेषामेव देशानां** = स्वप्रदेशानां **यदि जीवत्वं यौक्तिकं तदा एकैकस्याऽपि देशस्य** = जीवप्रदेशस्य **हठात्** जीवत्वं **आपतितम्** । ततश्च प्रत्येकं जीवत्वात् प्रतिजीवं जीवबहुत्व-मसङ्ख्येयजीवात्मकत्वं वा प्रसज्येत । किञ्चैवमन्त्यप्रदेशजीवत्ववादोऽपि जयतात् । अतो न प्रथमः पक्षः समचतुरस्रः ॥७८॥

द्वितीयपक्षे पर आह **यत् प्रत्येकं न वर्तते तत् समुदायेऽपि नास्ति** यथा रेणुकणेषु प्रत्येकमसत्तत्समुदाये तैलम् । नाभ्युपगम्यते चैकैकस्मिन् प्रदेशे जीवत्वं तत्कथं तत्समुदायेषु लोकाकाशतुल्यसंख्याकप्रदेशेषु जीवत्वं **स्यात्** ? प्रत्येकमवृत्तिधर्मस्य समुदायवृत्तित्वाऽयोगादित्यनुपदं त्वयैवोक्तत्वात् ।

नन्वस्माभिः पर्याप्तिसम्बन्धेनैव जीवत्वं लोकाकाशप्रदेशसमसङ्ख्याकजीवप्रदेशेषु स्वीक्रियते घटपटयोर्द्वित्वसङ्ख्यावदित्या-शङ्कायां पर आह - **ततः** = प्रत्येकं जीवप्रदेशेषु जीवत्वाऽस्वीकारात्, **अन्यथानुपपत्त्यैव** = 'कसिणे पडिपुण्णे लोगागासपएसतुल्ले जीवे' इति शास्त्रवचनान्यथानुपपत्त्यैव गत्यन्तरविरहेण त्वया कल्प्यमाना **पर्याप्तिः** = जीवत्वपर्याप्तिः **अपि नोचिता** । घटपटयोः

कर रहे हो ॥७६॥

इस तरह ६५ से लेकर ७६ कारिका तक के विचारविमर्श से यह फलित होता है कि - जैसे अपने अखिल अवयवों में रहनेवाला, उत्पन्न होनेवाला घट सकलस्वकीयावयवात्मक होता है, न कि कतिपयस्वावयवात्मक । ठीक वैसे ही अपने निखिल प्रदेशों में रहनेवाली आत्मा भी संपूर्णस्वकीयप्रदेशस्वरूप ही होती है, न कि अन्त्यप्रदेशात्मक ॥७७॥

❊ असंख्यप्रदेशात्मक आत्मा के स्वीकार में दोषोद्भावन और निराकरण ❊

पूर्वपक्ष :- आप स्याद्वादी जीव को संपूर्णस्वप्रदेशात्मक मानते हो - यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि यदि सभी आत्मप्रदेशों में आप जीवत्व का स्वीकार करोगे तब तो प्रत्येक जीवप्रदेश में जीवत्व के स्वीकार से एक एक जीवप्रदेश भी जीव हो जायेगा । तब तो अन्त्यप्रदेश को भी बलात्कार से जीव मानना होगा । इस स्थिति में तिष्यगुप्त विजयी बन जायेगा ॥७८॥

यदि आप स्याद्वादी जीव के प्रत्येक प्रदेश में जीवत्व का स्वीकार नहीं करोगे तब तो निखिल जीवप्रदेशों में भी जीवत्व का स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्येक अंश=समुदायी = अवयव में न रहनेवाला धर्म समुदाय में नहीं रहता है। क्या पानी के प्रत्येक बिन्दु में घी न होने पर समुद्र में घी आ जाता है ? इस स्थिति में लोकाकाशप्रदेशसमसंख्याक जीवप्रदेशों के समूह में भी जीवत्व नामुमकिन हो जायेगा । यहाँ यह शंका कि —> 'आगम में जीवप्रदेशों के संपूर्ण समुदाय में जीवत्व का प्रतिपादन किया है । उसकी अन्यथा = अन्य प्रकार से अनुपपत्ति = असंगति होने की वजह हम सकल जीवप्रदेशों में जीवत्व की पर्याप्ति मान कर स्वपर्याप्तिसम्बन्ध से वहाँ जीवत्व का स्वीकार करते हैं' <— भी इसलिए निराधार हो जाती है कि प्रत्येक अंश में असत् धर्म उसके समुदाय में नहीं रह सकता है । प्रत्येक घट, पट में समवाय सम्बन्ध

किञ्चैवं गौणमेकत्वं प्रसक्तं परमात्मनि ।
योगस्त्वेकसंख्याया एकस्मिन्नेव युज्यते ॥८०॥
उत्तरम्, → तद्गोलाङ्गूललाङ्गूलचापलव्यापभागिदम् ।
कथञ्चिद्भेदपक्षस्य प्रत्यक्षाऽऽदर्शदर्शनात् ॥८१॥

❋ जयलता ❋

प्रत्येकं समवायेन द्वित्वं वर्तते इत्यत उभयोः द्वित्वपर्याप्तिः पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वञ्च वर्तते । प्रकृते तु प्रत्येकं सकलस्वप्रदेशेषु समवायेन जीवत्वस्य स्याद्वादिनाऽनङ्गीकृतत्वात् निखिलस्वप्रदेशेषु जीवत्वपर्याप्तिर्न कल्पयितुं शक्या, अन्यथा पुद्गलादिष्वपि तत्कल्पनाप्रसङ्गात् । अत एव पर्याप्तिसम्बन्धेनाखिलजीवप्रदेशेषु जीवत्वकल्पनाऽपि प्रत्युक्ता, अजीवेऽपि धर्मास्तिकायादौ पर्याप्त्या जीवत्वकल्पनाप्रसङ्गात् ॥७९॥

किञ्च, एवं = एकस्यापि जीवस्य लोकाकाशप्रदेशसमसङ्ख्याकस्वप्रदेशात्मकत्वे स्वीक्रियमाणे **परमात्मनि** आत्मत्वावच्छिन्ने **गौणं** = अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपं **एकत्वं** प्रसक्तम् । यथा धव-प्लक्ष-खदिर-बकुलादिसमुदायात्मके वने भाक्तमेकत्वं तथैवासङ्ख्यात्मप्रदेशात्मके आत्मनि तदुपसर्जनीभूतमेव न त्वनुपसर्जनीभूतमिति प्रसज्येत । नहि अनुपचरितमेकत्वं कुत्र ? इत्याशङ्कायां पर आह **एकसंख्यायाः** = एकत्वसङ्ख्यायाः **योगः** = समवायः पुनः **एकस्मिन्नेव** = अनेकानात्मके द्रव्य एव **युज्यते** = अर्हति ॥८०॥

अत्रोत्तरं स्याद्वादी प्राहैकेन पद्येन - **तदिदम्** अनन्तरं पद्यद्वयेनोक्तं, **गोलाङ्गूललाङ्गूलचापलव्यापभाग** = धेनुदीर्घलाङ्गूलचापलतुल्यम् । कुतः ? इत्याह - **कथञ्चिद्भेदपक्षस्य** = अवयवावयविनोः स्याद्भेदनयस्य **प्रत्यक्षादर्शदर्शनात्** = अध्यक्षमेवोपलम्भात् । तदेकान्ताभेदे साङ्कर्यमनप्रवेशप्रसङ्गः, तदेकान्तभेदे च नैयायिकमतापातः, उभयत्र दोषाः प्रागेवोपदर्शिताः । 'इमानि कपालान्येव घटतया परिणतानि' इत्यादेराबालगोपालमस्खलद्वाहिप्रत्ययात् तद्भेदाभेदसिद्धेः । नयभेदापेक्षयाऽऽत्मन्येकत्वबहुत्वे नैव विरुद्धे । अयं भावः सर्वेषु स्वप्रदेशेषु प्रत्येकं देशतो जीवः समस्ति, तत्समुदाये च सर्वात्मनाऽसौ वर्तते । अतो नैकैकस्य हठात् कार्त्स्न्येन जीवत्वप्रसङ्गो न वा सकलतत्समूहे सर्वात्मना जीवाऽसम्भवः । अवयवेभ्योऽवयविनः स्याद्भेदात् जीवेऽनुपचरितमेकत्वमपि निरपायम् । सङ्ग्रहनयार्पणयैकत्वेनावधारितेऽपि जीवेऽवयवावयविभेदाभेदावगुण्ठितस्याद्वादाऽविरोधिनानेकत्वस्याऽविरोधात् । तदुक्तं प्रकरणकृतैव **आत्मख्यातौ** 'अवयविनोऽप्येकान्तभेदे प्रत्येकसमुदायापेक्षायामवयववृत्तित्वं दुर्निरूपम्, नयभेदाश्रयणे तु न काप्यनुपपत्तिः एकत्वेन सङ्गृहीतस्यावयविनः स्वद्रव्यत्वेन सङ्गृहीतयावदवयववृत्तित्वसम्भवात् । तत् किम् ? अवयव्येकत्वमपि द्वित्वादिवद् बुद्धिजन्यमेवेति चेत् ? न, एकत्वद्वित्वादीनां अनन्तानां सङ्ख्यापर्यायाणामेकद्रव्यवृत्तीनामेव सतां यथाक्षयोपशमं बुद्धिविशेषेण प्रतिनियतानामेव ग्रहणमित्युपगमात् । युक्तञ्चैतत् अन्यथा एकत्रैव घटे तद्रूप-तद्रसयोरैक्यमित्यादिना द्विवचनप्रयोगस्य

से द्वित्व रहने पर ही घटपटोभय में द्वित्वपर्याप्ति रह सकती है एवं पर्याप्तिसम्बन्ध से द्वित्व रह सकता है । मगर आप स्याद्वादी तो प्रत्येक जीवप्रदेश में समवायसम्बन्ध से जीवत्व का स्वीकार नहीं करते हैं । तब सकलप्रदेशसमुदाय में जीवत्व की पर्याप्ति कैसे रह सकेगी ? और उसकी अनुपस्थिति में पर्याप्तिसम्बन्ध से जीवत्व भी वहाँ कैसे रहेगा ? कथमपि नहीं ॥७९॥

इसके अतिरिक्त एक अन्य दोष यह आयेगा कि आत्मा को असंख्यप्रदेशात्मक मानने पर परमात्मा में यानी सभी आत्मा में एकत्व मुख्य नहीं रह सकेगा, किन्तु गौण = अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वस्वरूप एकत्व रहेगा, क्योंकि मुख्य एकत्वसंख्या तो अनेकानात्मक केवल एक द्रव्य में ही रहती है । आत्मा को तो आपने असंख्यप्रदेशात्मक मानी है । इस तरह आत्मा को असंख्य स्वप्रदेशात्मक नहीं मानी जा सकती ॥८०॥

उत्तरपक्ष :- जवाब ! जैसे गाय की लम्बी पुच्छ अस्थिर होती है वैसे आपका वक्तव्य भी स्याद्वादकेशरी के सामने अस्थिर-चंचल बन जाता है । इसका कारण यह है कि आपने जिन दोषों की संभावना का उद्भावन किया है वे अवयव और अवयवी में सर्वथा भेद मानने पर ही प्रसक्त होते हैं । मगर हम स्याद्वादी तो अवयव और अवयवी में कथंचित् भेद मानते हैं, जो कि दर्पण जैसे निर्मल प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उपलब्ध होता है । 'ये कपाल ही घटात्मना परिणत हो गये', 'ये तन्तु ही पट बन गये' इत्याकारक अवयव और अवयवी में कथञ्चित् अभेद का ज्ञान होने से कथञ्चित् भेद को प्रत्यक्ष अपना विषय बनाता है । अतएव प्रतिअवयव में जीवत्व का हम कथञ्चित् स्वीकार करते हैं । अर्थात् प्रथम, द्वितीय आदि सर्व प्रदेश में देशतः जीव रहता है और सकल आत्मप्रदेश में सर्वात्मना जीव रहता है - ऐसा हम मानते हैं । इसलिए

ये तु वदन्ति → एक एवात्मा प्रतिशरीरं रजनीकरबिम्बमिव प्रतिसरः सरस्वतीसरस्वदन्तरनुबिम्बतीति तन्मतनिर्दलनाय 'प्रतिक्षेत्रं भिन्न' इति ।

❀ जयलता ❀

बहुषु च करितुरगरथपादातिषु सेनेत्येकवचनप्रयोगस्यानुपपत्तेः । अथैकत्र द्वित्वादितत्तद्धर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्वादिकं गौणमेव द्वित्वादिव्यवहारनिमित्तं, तच्च तत्तद्धर्मावच्छेदेनैव पर्याप्तमिति नैको द्वावित्यादेः प्रसङ्ग इति चेत् ? न, उक्तविषयतारूपद्वित्वादेरप्येकत्र पर्याप्तत्वात्, तत्तद्धर्मप्रकारतानिरूपितत्वविशिष्टविषयताया अपि कश्चित्सम्बन्धादिभेदेन प्रकारताभेदादेकस्या अभावात्, गत्वेऽपि च द्रव्यस्य प्रत्येकानतिरिक्तत्वेनैकधर्मावच्छेदेन द्वित्वादिपर्याप्तिप्रसङ्गात्, धर्मगतद्वित्वस्यैव तत्पर्याप्त्यवच्छेदकत्वस्वीकारे च तत्रापि द्वित्वस्य वास्तवस्याभावाद्भूतत्वरसत्वादिप्रकारकबुद्धिविषयत्वरूपस्यैव गौणस्य स्वीकारे तत्पर्याप्त्यवच्छेदकादिगवेषणेऽनवस्थेति वास्तवद्वित्वाभावे ज्ञानाकारतैव तत्र पर्यवस्येदिति द्रव्यत्वावच्छिन्नैकत्वावच्छेदेन पर्याप्त्यवच्छिन्नद्वित्वादेः पर्याप्त्यवच्छिन्नद्वित्वाद्यवच्छेदेन च द्रव्यत्वावच्छिन्नैकत्वादेः पर्याप्तिर्व्यक्तिभेदेनानेकान्तेनाऽऽश्रयणीया व्यवस्थेति ध्येयम् । अत एव 'दव्वट्ठया एगे अहं नाणदंसणट्ठया दुवे अहं' इत्यादि सामञ्जस्यम् ।" (आ.व्या.पृ.४५) ॥४१॥

तर्कानुमानशब्दैरद्वैतविवक्षया कश्चित् । निह्नवमतभङ्गेन चात्ममानं निरूपितम् ॥१॥

ये तु वेदान्तिनो ब्रह्माद्वैतवादिनो **वदन्ति एक एवात्मा**, न तु नाना, 'तर्ह्येकस्मिन् गच्छति परः किं न गच्छति ?' इत्याद्याशङ्कायामाह **प्रतिशरीरं** प्रत्येकं शरीरं **रजनीकरबिम्बमिव प्रतिसरः सरस्वतीसरस्वदन्तः अनुबिम्बतीति** । यथैक एव चन्द्रः प्रतिसरोजलं प्रतिबिम्बति सरोजलगतं निशाकरप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति, जलचलने चलति, जलभेदे च भिद्यत इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति न तु परमार्थतः चन्द्रमसः तथात्वमस्ति । एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद् ब्रह्म देहाद्यन्तः नानात्वेन प्रतिबिम्बति देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्भजत इवोपाधिधर्मान् वृद्धिह्रासगमनागमनचलनादीन् । तदुक्तं **ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये** 'दर्शयति च श्रुतिः परस्यैव ब्रह्मणो देहादिषूपाधिष्वन्तरनुप्रवेशम् 'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्' (बृ.उप.२/५/१८) इति । 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य' (छा.६-३-२) इति च । तस्माद्युक्तमेतत् 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' (ब्र.सू.३/२/१८) इति ।" (ब्र.सू.३/२/२१ शां.भा. पृ.५३८) । अत एवेति अस्योपा-

एक प्रदेश में बलात्कार से सर्वात्मना जीवत्व की आपत्ति या सकलप्रदेशसमुदाय में अजीवत्व की आपत्ति को अवकाश नहीं है । अवयवों से अवयवी यानी सकल प्रदेशों से जीव कथंचित् भिन्न होने से प्रत्येक जीव में मुख्य एकत्व की अनुपपत्ति भी नहीं हो सकती है । स्याद्वाद चक्रवर्ती के शरण में जानेवाले सदा बेखौफ रहते हैं । समझे ! ॥४१॥

◙ आत्माद्वैतमत का निरूपण एवं निराकरण ◙

ये तु. । यहाँ वेदान्तियों का यह कथन है कि - 'आत्मा केवल एक है । जैसे आकाश में चाँद एक होता है फिर भी जैसे सारे जहाँ के प्रत्येक सरोवर में उसका भिन्न भिन्न प्रतिबिम्ब पड़ता है एवं कोई प्रतिबिम्ब पानी के चलने पर चलता है, पानी के स्थिर होने पर स्थिर रहता है ठीक वैसे ही जगत्स्वरूप आकाश में सत् ब्रह्मस्वरूप केवल एक चाँद होता है फिर भी अनेक शरीरस्वरूप सरोवर में उस ब्रह्मतत्त्व का प्रतिबिम्ब पड़ता है एवं शरीर के चलने पर वह चलितस्वरूप ज्ञात होता है एवं स्थिर रहने पर स्थिरस्वरूप । शरीर की वृद्धि से वह बढ़ता हो-ऐसा लगता है एवं शरीर के क्षीण होने पर वह कृशतया ज्ञायमान होता है । जैसे जलचन्द्र चलने पर भी गगनगत वास्तविक चन्द्र = बिम्ब तो आकाश में जहाँ होता है वहाँ ही रहता है । जलचन्द्र तरंगित होने पर आकाशचन्द्र तरंगित नहीं होता है । ठीक शरीर के चलने, बैठने, घूमने पर भी विशुद्ध ब्रह्मतत्त्व न तो चलता है, न तो बैठता है और न तो घूमता है । शरीर की वृद्धि एवं ह्रास होने पर उसकी वृद्धि या हानि नहीं होती है । यहाँ ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती के मत के जो तर्क हैं उनका बयान तो हम अभी आत्मविभुत्वनिराकरण के अवसर ५०-५१-५२-५३ श्लोक में कर चुके हैं ।'

मगर वेदान्ती के उपर्युक्त मत के निराकरणार्थ श्रीवादिदेवसूरिजी महाराज ने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के सूत्र में आत्मा के विशेषणविधया 'प्रतिक्षेत्रं भिन्न' ऐसा ग्रहण किया है; जिसका अर्थ है आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न होती है, न कि एक । पूर्वपक्षी वेदान्ती के सामने सिद्धान्ती का उत्तरपक्ष यह है कि - यदि चैत्र, मैत्र आदि आत्मा को एक ही मानी जाय तब तो मैत्र जब सो रहा हो तब भी मैत्रशरीर में अवच्छेदकतासम्बन्ध से ज्ञान की उत्पत्ति होने लगेगी, क्योंकि चैत्रीय त्वगिन्द्रियमनःसंयोगादिस्वरूप ज्ञानसामग्री भी समवायसम्बन्ध से आत्मा में तब रहती है । आत्मा तो एक ही है तब 'चैत्रीयत्वगिन्द्रियमनःसंयोग आदि ज्ञानसामग्री का आत्मा में अभाव है' ऐसा नहीं कहा जा सकता । यदि यहाँ वेदान्ती की ओर

तत्पक्षतर्कस्त्वात्मविभुत्वनिराकरणेऽनुपदमेव भावितः ।

सिद्धान्तस्तु —> एवं सति सुषुप्तिदशायां मैत्रशरीरेऽवच्छेदकतासम्बन्धेन ज्ञानोत्पत्त्यापत्तिः चैत्रीयत्वङ्मनोयोगादिरूपायाः समवायेन ज्ञानसामग्र्या अपि तदानीं सत्त्वात् । न च शरीरनिष्ठपरम्परासम्बन्धेनैव त्वङ्मनोयोगस्य हेतुत्वान्न दोष इति वाच्यम्, तदानीमात्ममानसो-

❋ जयलता ❋

धिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलचन्द्रसूर्यादृष्टान्तोपादर्शितं वेदान्तेषु 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानापो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्न उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा' इति । **तत्पक्षतर्कः** = ब्रह्माऽद्वैतवादिमततर्कः **तु आत्मविभुत्वनिराकरणे** नवचत्वारिंशत्तमकारिकाविवरणे प्रसङ्गप्राप्तप्रपञ्चपर्यन्तं **अनुपदमेव भावितः** किञ्चिच्चाग्रेऽपि मया विभावित एव । विस्तरस्तु **शाङ्करभाष्याऽद्वैतसिद्धि-तत्त्वप्रदीपिका-सिद्धान्तबिन्दु-वेदान्तकल्पलतिकादिभ्यो**ऽवसातव्यः । गौरवभयान्नेह प्रतन्यतेऽस्माभिः ।

व्यवस्थितः **सिद्धान्तस्तु एवं सति** = आत्मनो विभुत्वे एकत्वे च स्वीक्रियमाणे सति, **सुषुप्तिदशायां** = सुषुप्त्युपधायककात्ममनःपूर्वसंयोगनाशोत्पत्तिकाले तदुत्तरं च सुषुप्तिक्षणे आत्ममनोविभागकालोत्पन्नविशेषणज्ञानादिना **मैत्रशरीरेऽवच्छेदकतासम्बन्धेन** = स्वनिष्ठावच्छेद्यतानिरूपितावच्छेदकतासंसर्गेण **ज्ञानोत्पत्त्यापत्तिः** = ज्ञानोत्पादप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वम्, **चैत्रीयत्वङ्मनोयोगादिरूपायाः** = चैत्रशरीरावच्छिन्नस्पर्शनमनःसंयोगप्रभृतिस्वरूपायाः, **समवायेन ज्ञानसामग्र्याः अपि तदानीं** आत्मनि **सत्त्वात्**, चैत्रमैत्रादिशरीरलक्षणोपाधिभिरवच्छिन्नस्यात्मनः सर्वगतत्वादेकत्वाच्च । **न च** तत्तन्मनःसंयोगत्वेन हेतुत्वान्नायं दोष इति **वाच्यम्**, एवं विशिष्यानन्तकार्यकारणभावकल्पने महागौरवात् तदपेक्षया नानात्मकल्पनाया एवौचित्याच्च । **न च शरीरनिष्ठपरम्परासम्बन्धेनैव** = स्वाश्रयसंयुक्तसंयुक्तत्वसम्बन्धेनैव न त्वात्मनिष्ठसमवायसम्बन्धेन **त्वङ्मनोयोगस्य हेतुत्वात्** = ज्ञानादिकारणत्वात् **नायं** = सुषुप्तिकाले मैत्रशरीरे ज्ञानोत्पादलक्षणः **दोषः** तदानीं चैत्रीयत्वङ्मनोयोगस्याश्रयीभूतेन मनसा संयुक्तस्येन्द्रियस्य मैत्रशरीराऽसंयुक्तत्वेन, स्वाश्रयसंयुक्तसंयोगसम्बन्धेन मैत्रशरीरेऽविद्यमानत्वादिति **वाच्यम्**, एवं सति मैत्रसुषुप्तिदशायां, चैत्रीयत्वङ्मनःसंयोगस्य स्वाश्रयसंयुक्तसंयोगसम्बन्धेन मैत्रीयशरीरे सत्त्वेनात्ममनःचैत्रीयमनःसंयुक्तत्वेन चात्ममानसप्रत्यक्षोदयस्य दुर्वारत्वात् । न हि मैत्रशरीरं चैत्रीयत्वङ्मनःसंयोगाश्रयमनःसंयुक्तात्मसंयुक्तं न भवति, आत्मन एकत्वाद्विभुत्वाच्च । अतो न शरीरनिष्ठप्रत्यासत्त्या त्वङ्मनःसंयोगस्य ज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वं वक्तुमर्हति । 'तर्हि कथं सुषुप्तिक्षणे मैत्रशरीरेऽवच्छेदकतासम्बन्धेन ज्ञानोत्पादापत्तिर्निराकार्या' ? इति चेत् ? उच्यते **तदानीं** = सुषुप्तिदशायां मैत्रशरीरेऽवच्छेदकतासम्बन्धेन **आत्ममानसोत्पत्तिवारणाय**

से यह कहा जाय कि —> 'त्वगिन्द्रियमनःसंयोग समवायसम्बन्ध से आत्मा में रह कर आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति का कारण नहीं बनता है किन्तु स्वाश्रयसंयुक्तसंयोगस्वरूप परम्परासम्बन्ध से शरीर में रह कर ज्ञान का जनक होता है । जब मैत्र सो गया है तब चैत्रीय त्वगिन्द्रियमनःसंयोग के आश्रय मन से संयुक्त इन्द्रिय से संयुक्त चैत्रशरीर है, न कि मैत्रशरीर । अतः तब चैत्रीयत्वगिन्द्रियमनःसंयोग स्वाश्रयसंयुक्तसंयोगसम्बन्ध से चैत्र शरीर में ही रहेगा, न कि मैत्रीय शरीर में । अतः मैत्र की सुषुप्तिदशा में चैत्रीय त्वगिन्द्रियमनःसंयोग से मैत्रीय शरीर में अवच्छेदकतासम्बन्ध से ज्ञान की उत्पत्ति का उपर्युक्त दोष नहीं आयेगा' <— तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि त्वगिन्द्रियमनःसंयोग को शरीरनिष्ठप्रत्यासत्ति से ज्ञानकारण नहीं माना जा सकता किन्तु आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से ही ज्ञानकारण माना जा सकता है । यदि त्वगिन्द्रियमनःसंयोग को आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति (= समवाय) से ज्ञानकारण न मान कर शरीरनिष्ठप्रत्यासत्ति (= स्वाश्रयसंयुक्तसंयोग) से ज्ञान का जनक माना जाय तब तो सुषुप्तिकाल में आत्मा के मानस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति की आपत्ति आयेगी । इसका कारण यह है कि चैत्रीय त्वगिन्द्रियमनःसंयोग स्वाश्रयसंयुक्तसंयोगसम्बन्ध से जैसे चैत्रशरीर में रहता है वैसे मैत्रशरीर में भी रहता है, क्योंकि स्व = चैत्रीय त्वगिन्द्रियमनःसंयोग के आश्रय चैत्रीय मन से संयुक्त आत्मा से मैत्रीय शरीर भी संयुक्त ही होता है । आप वेदान्ती तो आत्मा को एक ही मानते हैं । इसलिए चैत्रीय शरीर की भाँति मैत्रीय शरीर का आत्मा से, जो चैत्रीयत्वङ्मनःसंयोगाश्रयमनःसंयुक्त है, संयुक्त होना न्यायप्राप्त है । आत्मा तो सर्वदा सन्निहित ही रहती है । अतः सुषुप्ति काल में उक्त सामग्री के बल से मैत्र को आत्मविषयक मानस प्रत्यक्ष होना दुर्निवार ही होगा । हाँ, उस आपत्ति का निवारण करना हो तब यही कहना मुनासिब होगा कि त्वङ्मनःसंयोग आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से कारण है । मतलब कि मैत्र को आत्मविषयक मानस प्रत्यक्ष तभी हो सकता है यदि त्वङ्मनःसंयोग मैत्रात्मा में रहता हो । जब मैत्र निद्राधीन होता है तब मैत्रीय त्वङ्मनःसंयोग ही नहीं रहता है, क्योंकि तब मन त्वगिन्द्रिय को छोड़ कर पुरीतत् नाडी में चला जाता है । चैत्रीय त्वङ्मनःसंयोग तो मैत्रात्मा में नहीं रहता है किन्तु केवल चैत्रात्मा में ही रहता है । इसलिए निद्रादेवी के अधीन मैत्र में तब आत्मविषयक मानस प्रत्यक्ष की

त्पत्तिवारणायात्मनिष्ठसम्बन्धेनैव हेतुत्वौचित्यात् । चाक्षुषादेश्चक्षुरादिना विषयमनोयोगाद्यभावेनैवाऽनापत्तेः ।

वस्तुतो विजातीयात्ममनोयोगस्यैवात्ममानसत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वकल्पनमुचितम्, तस्य

❀ जयलता ❀

= आत्मगोचरमानसप्रत्यक्षोत्पादनिवारणकृते त्वङ्मनोयोगस्य **आत्मनिष्ठसम्बन्धेनैव** = समवायेनैव **हेतुत्वौचित्यात्** । चैत्रीयत्वङ्मनःसंयोगस्य समवायेन चैत्रात्मवृत्तित्वं न तु सुषुप्तमैत्रात्मवृत्तित्वम् । अतो न सुषुप्तौ मैत्रस्यात्ममानसोदयसम्भवः, सामग्रीविरहात् । किन्त्वेवं सति नानात्मसिद्धिः परेषां दुर्निवारा, अन्यथा तदोपलापादवस्थ्यात् । न चात्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानकारणत्वे कथं सुषुप्तमैत्रे नात्ममानसोदयप्रसङ्ग इति वाच्यम्, तदानीं मैत्रात्मनि त्वङ्मनोयोगस्यैव विरहात्, 'यदा मनः त्वचं परिहृत्य पुरीततिमनुविशति तदा सुषुप्तिः' इति वचनात् । चैत्रीयत्वङ्मनोयोगस्य चैत्रात्मवृत्तित्वं, न तु मैत्रात्मवृत्तित्वमिति न तत्प्रसङ्गः । न चैवमपि जाग्रदवस्थायां मैत्रे निमीलितनेत्रे घटचाक्षुषप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वम्, मैत्रात्मनि त्वङ्मनोयोगस्य तदानीं सत्त्वादिति **वक्तव्यम्**, त्वङ्मनःसंयोगस्य ज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वेऽपि चाक्षुषादौ विषयचक्षुर्योगस्य चक्षुर्मनोयोगादेश्च विशिष्य हेतुत्वात्, नेत्रयुगलपिधानदशायां **चाक्षुषादेः चक्षुरादिना विषयमनोयोगाद्यभावेनैवाऽनापत्तेः** । न ह्येकस्मादेव कारणात्सेतरकारणविकलात्कार्यापादानमर्हतीति पूर्वं बहुधा उक्तत्वात् ।

वस्तुतस्तु त्वङ्मनःसंयोगस्य जन्यज्ञानसामान्यकारणत्वमेव नास्ति, प्रमाणाभावात् । न चैवं सति तस्याऽसमवायिकारणजन्यत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, आत्मविशेषगुणं प्रति केवलात्ममनःसंयोगत्वेनाऽसमवायिकारणत्वस्वीकारेणैव तस्याऽप्यसमवायिकारणजन्यत्वोपपत्तेः । अत एव सुषुप्तिकाले जीवनयोनियत्नोपपत्तिरपि सङ्गच्छते किन्तु परात्मनः परेण मनसा सुषुप्तिकाले स्वीयात्मनः स्वीयमनसा प्रत्यक्षापत्तिवारणाय परात्मवृत्तिस्वीयमनःसंयोगव्यावृत्तं स्वात्मवृत्तिसुषुप्तिकालीनस्वीयमनःसंयोगव्यावृत्तं च वैजात्यमङ्गीकृत्य तत्पुरस्कारेणात्ममनःसंयोगस्यात्ममानसं प्रति हेतुत्वं कल्प्यते । अनेनैव सुषुप्तौ ज्ञानोत्पादवारणसम्भवे त्वङ्मनोयोगस्य जन्यज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति न कारणत्वमित्याशयेन प्रकरणकार आह - **वस्तुत** इति । इदञ्च नवीननैयायिकमतेनोक्तम् । अयमाशयः तेषाम् - सुषुप्त्यव्यवहितप्राक्काले ज्ञानोत्पत्तिर्यदि स्यात्तदा तत्प्रत्यक्षापत्तिभिया त्वङ्मनःसंयोगस्य हेतुत्वं सम्भवति । सैव तु न युक्तिसिद्धा । तथाहि सुषुप्त्यनुकूलमनःक्रियया मनसा आत्मनो विभागस्ततः आत्ममनःसंयोगनाशः ततः पुरीतति रूपोत्तरदेशेन मनःसंयोगरूपा सुषुप्तिरुत्पद्यते । एवञ्च सुषुप्त्यव्यवहितपूर्वक्षणे आत्ममनःसंयोगरूपाऽसमवायिकारणनाशात् तत्क्षणे ज्ञानो-

आपत्ति नहीं दी जा सकती। सामग्रीविरह में आपादन कैसे हो सकता है ? मगर ऐसा मानने पर चैत्रात्मा और मैत्रात्मा भिन्न सिद्ध हो जायेंगे, जिसका स्वीकार करने में वेदान्ती को जरूर हिचकिचाहट का अनुभव होगा । मगर प्रमाण से और अन्यथानुपपत्ति के बल से सिद्ध होनेवाली वस्तु का अपलाप करना भी आस्तिक के लिए नामुनासिब है । इसलिए अनेक आत्मा का स्वीकार करना वेदान्ती के लिए भी अनिवार्य है । यहाँ यह शंका नहीं की जा सकती कि —> 'त्वङ्मनःसंयोग को आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से ज्ञानमात्र का कारण मानने पर तो जागृत अवस्था में आँखें मूँद कर बैठे हुए मैत्रात्मा में त्वङ्मनःसंयोग रहने के सबब घटचाक्षुष प्रत्यक्ष आदि की भी आपत्ति आयेगी' <— इसका कारण यह है कि चाक्षुष आदि के प्रति केवल त्वङ्मनःसंयोग कारण नहीं है किन्तु विषय के साथ चक्षु आदि इन्द्रिय का सम्बन्ध एवं चक्षुआदि इन्द्रिय का मन के साथ संयोग भी कारण होता है । आँखें मूँद लेने पर मैत्र की चक्षुरिन्द्रिय का घट आदि विषय के साथ संयोग सम्बन्ध ही नहीं है तब अकेले त्वङ्मनःसंयोग से घटचाक्षुष आदि के ज्ञान की उत्पत्ति का आपादन कैसे हो सकता ? कथमपि नहीं । सामग्री होने पर ही कार्य के जन्म का आपादन किया जा सकता है । इसलिए आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से त्वङ्मनःसंयोग को ज्ञानमात्र का जनक मानना मुनासिब है ।

वस्तुतो. । वस्तुस्थिति को लक्ष्य में ली जाय तब यही मानना संगततर होगा कि आत्मविषयक मानस प्रत्यक्ष के प्रति विजातीय आत्ममनःसंयोग कारण है । निद्रा अवस्था में व्यापक आत्मा का मन के साथ संयोग होने पर भी वह संयोग विजातीय = आत्मगोचरमानसप्रत्यक्षकारणतावच्छेदकधर्माक्रान्त नहीं होने से तब मैत्र को आत्मविषयक मानस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति का आपादन नहीं किया जा सकता । यदि विजातीय आत्ममनःसंयोग को शरीरनिष्ठप्रत्यासत्ति से आत्ममानस का कारण माना जाय तब तो स्पष्ट ही गौरव दोष प्रसक्त होगा, क्योंकि तब कारणतावच्छेदक सम्बन्ध साक्षात् न हो कर परम्परया अवच्छेदकतासम्बन्ध बनता है एवं अवच्छेदकतासम्बन्ध से ज्ञान आदि के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से शरीर में कारणता का स्वीकार करना अपेक्षित बन जाता है । अतः आत्मा को अनेक मानना एवं शरीरपरिमाण मानना ही युक्ति संगत प्रतीत होता है ।

शरीरनिष्ठसम्बन्धेन हेतुत्वे तु स्फुटमेव गौरवम् ।

किञ्चैवं जन्मिनोऽपि स्वतःसिद्धस्वर्गापवर्गशङ्कया यमनियमादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्, सिद्धे इच्छाविरहात् । न च तत्तच्छरीरावच्छेदेन सुख-दुःखहान्यन्यतरकामतया प्रवर्तते कश्चिद्-

❀ जयलता ❀

त्पत्तेरभावात्, असमवायिकारणस्य कार्यसहभावेन हेतुत्वात् । यदि च कार्यनाशजनकनाशप्रतियोगिन एवाऽसमवायिकारणस्य कार्यसहभावेन हेतुत्वमिति मन्यते तथापि सुषुप्त्यव्यवहितप्राक्कालोत्पन्नज्ञानव्यक्तेः सुषुप्तिकाले प्रत्यक्षापत्तिभिया न त्वङ्मनःसंयोगस्य कारणत्वम्, विजातीयात्ममनःसंयोगस्य हेतुत्वस्वीकारेणैव सुषुप्त्यव्यवहितपूर्वक्षणोत्पन्नज्ञानप्रत्यक्षवारणात्, पुरीतदवच्छेदेनात्ममनःसंयोगे वैजात्यानङ्गीकारात्, वैजात्यस्य परात्ममनःसंयोगपुरीतत्त्वावच्छिन्नात्ममनःसंयोगान्यावृत्तत्वात् । न च वैजात्यकल्पने गौरवमिति **वाच्यम्,** आत्ममनःसंयोगस्य कारणता क्लृप्तैव वैजात्यस्य तदवच्छेदकत्वमेव कल्पनीयं त्वङ्मनोर्योगस्य तु कारणतैव न क्लृप्तेति धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघीयस्त्वाद् वैजात्यमेव कल्पनीयम् । **एतेन** विजात्येनात्ममनःसंयोगस्य त्वङ्मनोयोगस्य वा हेतुत्वमित्यत्र विनिगमनाविरह इत्यपि **प्रत्युक्तम्,** त्वङ्मनःसंयोगस्य हेतुत्वे चाक्षुषादिसामग्र्याः स्पार्शनादिप्रतिबन्धकत्वकल्पनागौरवात् त्वङ्मनःसंयोगस्याऽवच्छेदकतासम्बन्धेन हेतुत्वापेक्षया समवायेनात्ममनःसंयोगस्य हेतुत्वे लाघवाच्चेति । **एतेन** शरीरनिष्ठप्रत्यासत्त्या विजातीयात्ममनःसंयोगस्यात्ममानसत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वकल्पनाऽपि **प्रत्युक्ता,** अवच्छेदकताया: तत्तदवच्छेदकत्वरूपाया: कारणतावच्छेदकसम्बन्धेन आत्ममानसत्वावच्छिन्नं प्रति **हेतुत्वे तु स्फुटमेव गौरवम्** । तदपेक्षया आत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्यैव विजातीयात्ममनःसंयोगहेतुता कल्पनोचिता, समवायस्याऽपृथग्भावस्य चैकत्वेन लाघवात् । **एतेन** शरीरनिष्ठपरम्परासम्बन्धेन तस्य हेतुत्वकल्पनाऽपि **परास्ता,** साक्षात्सम्बन्धसत्त्वे परम्परासम्बन्धे तदयोगात् । तावदेव देवदत्तभ्रातृतनया देवदत्तधने 'ममाधिकृतिर्ममाधिकृतिः' इति विवदन्ते यावद् देवदत्तस्य साक्षादङ्गभूर्न भवति । अस्तु वा तथा, तथापि न सा समीचीना, चैत्रीयविजातीयात्ममनःसंयोगाचैत्रीयशरीरावच्छेदेनात्ममानसोत्पादावस्थायां मैत्रशरीरावच्छेदेनात्ममानसोत्पादापत्तेः । **न च** मैत्रशरीरेऽवच्छेदकतासम्बन्धेन तदुत्पत्तिवारणाय मैत्रशरीरत्वविशिष्टावच्छेदकतासम्बन्धेन आत्ममानसत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्येन मैत्रशरीरत्वेन कारणत्वाभ्युपगमान्न दोषः विशेषसामग्रीविरहादिति **वाच्यम्,** तत्तच्छरीरस्य विशिष्य हेतुत्वकल्पने महागौरवापातादिति दिक् ।

दोषान्तरमावेदयति - **किञ्च एवं** चैत्र-मैत्राद्यात्मभेदस्वीकारे सति **जन्मिनोऽपि** = शरीरिणोऽपि **स्वतःसिद्धस्वर्गापवर्गशङ्कया यमनियमादौ प्रवृत्तिर्न** स्यात् । नारद-शुकदेवादीनां स्वर्गापवर्गश्रवणेन तदभिन्ने स्वात्मनि तत्सिद्धत्वप्रकारको निश्चय एव भवितुमर्हति तथापि तदज्ञानदशायां तादृशसंशयोऽपि न विरुद्धः । प्रवृत्त्यभावे हेतुमाह - **सिद्धे** = सिद्धत्वेन ज्ञाते **इच्छाविरहात्** = कृतिसाध्यत्वप्रकारकेच्छाया असम्भवात्, सिद्धत्व-साध्यत्वयोः सहानवस्थानात् । सुखत्वेनेच्छां प्रति सुखत्वेन सिद्धत्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वात् चिकीर्षाविरहे प्रयत्नाभावः तद्विरहे च यमादौ प्रवृत्त्यनुपपत्तिरित्याशयः ।

यद्यपि सामानाधिकरण्येन सिद्धत्वज्ञानेऽपि सामानाधिकरण्येनेच्छाया आनुभविकत्वं कथमन्यथा प्रोषितस्याऽज्ञानकान्तासमरणस्य

❀ ब्रह्माद्वैतमत में प्रयत्नाभाव की आपत्ति ❀

किञ्चैवं. । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि चैत्र, मैत्र, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि की आत्मा को एक ही मानने पर तो कोई भी व्यक्ति स्वर्ग या मोक्ष के लिये प्रयत्न ही नहीं करेगी, क्योंकि 'नारद आदि स्वर्ग में गये हैं एवं शुकदेवजी आदि मुक्त बने हैं तथा नारद, शुकदेवजी और अन्य चैत्र, मैत्र आदि की आत्मा एक ही है, अलग नहीं' यह ज्ञान होते ही अपने में चैत्र, मैत्र आदि को स्वर्ग, मोक्ष की प्राप्ति का निश्चय हो जाता है । प्रवृत्ति उसीमें होती है जिसके उद्देश से कृति हो और कृति = प्रयत्न की निष्पत्ति तब होगी जब उसकी इच्छा हो । मगर जिसमें साध्यत्व का ज्ञान होता है उसीमें कृतिसाध्यत्वप्रकारक इच्छा हो सकती है । जो सिद्ध है, निष्पन्न है, प्राप्त है उसमें तो कृतिसाध्यत्व ही नहीं रहता है, क्योंकि उसका विरोधी कृतिसिद्धत्व धर्म वहाँ रहता है, जिसका ज्ञान चैत्र आदि को हो चुका है । इस तरह स्वर्ग, मोक्ष आदि में सिद्धत्वप्रकारक ज्ञान से कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान का प्रतिबन्ध हो जाता है तब कृतिसाध्यत्वप्रकारक इच्छा कैसे उत्पन्न होगी ? और उसके विरह में प्रयत्न भी उत्पन्न नहीं होगा । फलतः स्वर्ग, मोक्ष आदि के लिए कोई भी यम-नियम आदि प्रवृत्ति ही नहीं करेगा । यदि किसी अद्वैतवादी नरेश, परेश, हरेश आदि को अपने में स्वतःसिद्ध स्वर्ग एवं मुक्ति का निश्चय न हो तो भी स्वर्गादि में स्वतःसिद्धत्व की शंका होने पर कृतिसाध्यत्वप्रकारक इच्छा = चिकीर्षा एवं प्रयत्न की उत्पत्ति न होने से यम-नियम आदि में प्रवृत्ति न हो सकेगी । यहाँ यह तो नहीं कहा जा सकता कि —> 'अपनी

विपश्चित्, स्वस्मिन् सुख-दुःखहान्यतरमात्रस्यैव काम्यत्वात् ।

अथ कण्टकविद्धचरणस्य चरणावच्छेदेन तत्कामनादर्शनात् स्वशरीरावच्छेदेन तत्कामना-ऽप्यविरुद्धेति चेत् ? तर्हि विशेषदर्शिनस्तव सकलशरीरावच्छेदेनैव तत्कामनौचित्यात् प्रतिनियतप्रवृत्त्यनुपपत्तिः । अपि चादृष्ट-फलयोः प्रतिनियमदर्शनान्नानात्मान एव व्यवतिष्ठन्ते ।

❀ जयलता ❀

तत्कामनावलोकनादाविच्छा ? सामान्यधर्मावच्छेदेन सिद्धत्वधीस्तु यावदाश्रयसिद्धत्वधियं विना विशेषदर्शिनो न सम्भवति तथाप्या-त्माद्वैतनये त्वात्मत्वावच्छेदेनैव विजातीयसुखस्वरूपस्वर्ग-कृतनदुःखध्वंसात्मकापवर्गसिद्धत्वज्ञानसम्भवान्न यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिषु चिकीर्षा-प्रयत्न-प्रवृत्तिसम्भव इति तात्पर्यम् । **एतेन** स्वस्मिन् सुखस्य सिद्धत्वेऽपि तत्तच्छरीरा-वच्छेदेन तदज्ञानान्न यमादौ प्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति **परास्तम्,** यतो **न च** = नैव **तत्तच्छरीरावच्छेदेन** = अवच्छेदकतासम्बन्धेन तत्तच्छरीरे, **सुख-दुःखहान्यन्यतरकामनया प्रवर्तते कश्चिद्विपश्चित्, स्वस्मिन्नेव सुख-दुःखहान्यन्यतरमात्रस्य** स्वतः **काम्यत्वात्** । अन्यथा तयोः पुरुषार्थत्वहान्यापत्तेः, 'यज्ज्ञातं सत्स्ववृत्तितयेष्यते स पुरुषार्थः' इति तल्लक्षणात्, स्ववृत्तित्वप्रकारिका या ज्ञान-जन्या अन्यकामनानधीनकामना तद्विषयत्वं पुरुषार्थत्वं इति तदर्थात् । ततश्चाद्वैतमते सुखात्मकस्य दुःखोच्छेदस्वरूपस्य वा मोक्षस्याऽपुरुषार्थत्वापत्तिर्दुर्वारैवेत्यर्थः ।

वेदान्ती शङ्कते - **अथ कण्टकविद्धचरणस्य** अविशेषदर्शिनः पुरुषस्य **चरणावच्छेदेन** = अवच्छेदकतया चरणे **तत्काम-नादर्शनात्** = सुख-दुःखोच्छेदान्यतरकामनोपलब्धेः तद्वदेव **स्वशरीरावच्छेदेन** अपि अविशेषदर्शिनः पुरुषस्य **तत्कामना** = सुख-दुःखोच्छेदान्यतराभिलाषा **अविरुद्धा** इति सङ्गच्छत इति **चेत् ? तर्हि विशेषदर्शिनः तव** वेदान्तिनः **सकलशरीरावच्छेदेनैव** = अवच्छेदकतासम्बन्धेन चैत्र-मैत्र-यज्ञदत्त-देवदत्तादिनिखिलशरीरेषु एव **तत्कामनौचित्यात्** = सुख-दुःखाभावान्यतराभिलाषस्य न्याय्यत्वात् न तु अवच्छेदकतया स्वशरीरे एव, अन्यथा स्वस्मिन्नात्मनि परशरीरावच्छेदेन दुःखादेरिष्टत्वापत्तेः । तथा च **प्रति-नियतप्रवृत्त्यनुपपत्तिः** सर्वेषामेव शरीरिणां यमादौ प्रवृत्तिः स्यान्न वा कस्यचित्, अविशेषात् । इत्थञ्चात्माद्वैते प्रवृत्तौ नैयत्यमनु-पपन्नम् ।

अपि च अदृष्ट-फलयोः प्रतिनियमदर्शनात् । धर्मादीनां सामानाधिकरण्येन सुखादिजनकत्वनियमादित्यर्थः । तदुक्तं **वैशेषिकसूत्रे** 'आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात्' (वै.सू. ६/१/५) इति । व्याख्यातञ्च **न्यायकन्दल्यां श्रीधरेण** 'आत्मान्तरगुणानां सुखादीनां आत्मान्तरगुणेषु सुखादिषु कारणत्वाभावात् धर्माधर्मयोरन्यत्र वर्तमानयोरन्यत्रारम्भकत्वमयुक्तमिति' (प्र.पा.भा.न्या.क.पृ.२२९) । ततः **नानात्मान एव व्यवतिष्ठन्ते** । प्रतिशरीरं भिन्ना एव आत्मानो न त्वभिन्ना इत्यर्थः ।

आत्मा में स्वर्ग = सुख एवं मुक्ति = दुःखाभाव होने पर भी अपने शरीर में सुख या दुःखाभाव की निष्पत्ति की कामना से यम-नियम आदि में मुमुक्षु की प्रवृत्ति हो सकती है' <— क्योंकि जड शरीर में अवच्छेदकतासम्बन्ध से सुख या दुःखाभाव उत्पन्न करने के लिए किसीकी कामना नहीं होती है । कोई भी मुमुक्षु आदि अपने में ही सुख की प्राप्ति एवं दुःख के ध्वंस की कामना रखता है । इस तरह परमार्थ से स्ववृत्तित्वेन सुख-दुःखध्वंसान्यतर ही काम्य = कामनाविषय बनता है । यह सिद्ध होने पर स्वशरीरवृत्तित्वेन सुख या दुःखोच्छेद कैसे काम्य बनेंगे ? कथमपि नहीं । अतः अद्वैतवाद में तो सुखादि के लिये यमादि में प्रवृत्ति ही नामुमकिन बन जायेगी ।

❦ अमुक शरीरावच्छेदेन सुखकामना असंभव ❦

अथ. । यहाँ यह शंका हो कि —> 'जब अपने पाँव में काँटा चुभ जाता है तब अपने चरणावच्छेदेन दुःखहानि की या सुख की कामना देखी जाती है, न कि अपने में । ठीक इसी तरह अपने शरीरावच्छेदेन भी दुःखोच्छेद या सुख की कामना होने में कोई विरोध नहीं है । चैत्रात्मा, मैत्रात्मा, देवदत्तात्मा परस्पर अभिन्न होने पर भी चैत्रीय, मैत्रीय, देवदत्तीय शरीर में भिन्नता ही है । अतः शरीरावच्छेदेन सुख की या दुःखोच्छेद की कामना का स्वीकार किया जा सकता है' <-- तो यह असंगत है । इसका कारण यह है कि सामान्य अबुध लोगों को भले ही चरणावच्छेदेन या स्वशरीरावच्छेदेन सुखादि की कामना हो मगर आप वेदान्ती तो बुद्धिमान हैं, विशेषदर्शी हैं । 'यत्किञ्चित् शरीरावच्छेदेन दुःखध्वंस होने पर भी सकलशरीरावच्छेदेन दुःखोच्छेद नहीं हो पायेगा, अन्य शरीरावच्छेदेन मेरे में ही दुःख रह जायेगा' ऐसा आपको ज्ञान होने की वजह आपके लिए तो सकलशरीरावच्छेदेन ही सुखादि की कामना होनी उचित है । तब तो केवल तुम यम-नियम आदि में प्रवृत्ति करोगे तो भी सकल शरीरावच्छेदेन दुःख का क्षय हो जायेगा । इस परिस्थिति में प्रवृत्ति का नियमन नहीं होगा । चैत्र, मैत्र शरीर

तदुक्तं 'नानात्मानो व्यवस्थात' इति ।

अन्यथाऽन्यशरीरावच्छिन्नादृष्टस्यान्यशरीरावच्छिन्नफलजनकत्वे कथं नातिप्रसङ्गः ?

'एकसन्तान एव फलजननान्नायं' इति चेत् ? किमैक्यमत्र सन्ताने एकजातीयत्वं वा पूर्वापरभावापन्नत्वं वा ? द्वयमपीदमतिप्रसक्तम्, अन्यसन्तानत्वेनाऽभिमतानामपि तथात्वात् ।

❀ जयलता ❀

तदुक्तं नानात्मानो व्यवस्थात इति । व्याख्यातञ्च **न्यायकन्दलीकारेण** ''नानात्मानो व्यवस्थात' इति सूत्रेणात्मनानात्वप्रतिपादनाद् बहुत्वसंख्या सिद्धेत्यर्थः । अथ केयं व्यवस्था ? नानाभेदभाविनां ज्ञानसुखादीनां अप्रतिसन्धानम् । ऐकात्म्ये हि यथा बाल्यावस्थायामनुभूतं वृद्धावस्थायामनुसन्धीयते 'मम सुखमासीन्मम दुःखमासीदि'ति । एवं देहान्तरानुभूतमप्यनुसन्धीयेत, अनुभवितुरेकत्वात् । न चैवमस्ति । अतः प्रतिशरीरं नानात्मानः । यथा सर्वत्रैकस्याकाशस्य श्रोत्रत्वे कर्णशष्कुल्याद्युपाधिभेदाच्छब्दोपलब्धिव्यवस्था तथात्मैकत्वेऽपि देहभेदादनुभवादिव्यवस्थेति चेत् ? विषमोऽयमुपन्यासः, प्रतिपुरुषं व्यवस्थिताभ्यां धर्माधर्माभ्यां उपगृहीतानां शब्दोपलब्धिहेतूनां कर्णशष्कुलीनां व्यवस्थानाद्युक्ता तदधिष्ठाननियमेन शब्दग्रहणव्यवस्था । ऐकात्म्ये तु धर्माधर्मयोरव्यवस्थानाच्छरीरव्यवस्थाऽभावे किं कृता सुख-दुःखोत्पत्तिव्यवस्था ? मनस्सम्बन्धस्यापि साधारणत्वात् । (न्या.कं. पृ.२१०) इति । साम्प्रतं तु **वैशेषिकसूत्रे** 'व्यवस्थातो नाना' (वै.सू.३/२/२०) इत्येवमुपलभ्यते ।

विपक्षबाधमाह - **अन्यथा** = नानात्माऽनभ्युपगमे, **अन्यशरीरावच्छिन्नादृष्टस्य** = चैत्रशरीरावच्छिन्नादृष्टस्य **अन्यशरीरावच्छिन्नफलजनकत्वे** = देवदत्तशरीरावच्छिन्नसुखादिकारणत्वे **कथं नातिप्रसङ्गः** ? उपलक्षणात् चैत्रानुभूतस्य देवदत्तस्मृतत्वादिप्रसङ्गोऽपि द्रष्टव्यः ।

ननु बालशरीरानुभूतस्य वृद्धशरीरावच्छेदेन स्मरणं नैवं स्यात्, बालशरीराद् वृद्धशरीरस्य भिन्नत्वात् । **न च** शरीरभेदेऽपि शरीरिण एकत्वेन नानुभवस्मरणयोर्वैयधिकरण्यमिति **वाच्यम्**, एवं सति ब्रह्माद्वैतनयेऽपि **एकसन्ताने** = चैत्रशरीरसन्ताने एव चैत्रशरीरावच्छिन्नाऽदृष्टेन **फलजननात्** = सुखादिकार्योत्पादनात् **नायं** अनुपदोक्तातिप्रसङ्गलक्षणो दोष इत्यपि तुल्यमिति चेत् ? न, यतः **किं ऐक्यं** = ऐक्यपदप्रतिपाद्यं **अत्र** चैत्रशरीरादौ **सन्ताने एकजातीयत्वं** = सजातीयत्वं वा **पूर्वापरभावापन्नत्वं वा** ? इति कल्पनोभयी समुपतिष्ठते । **द्वयमपीदमतिप्रसक्तम्, अन्यसन्तानत्वेन** = देवदत्तशरीरसन्तानान्तरविधया **अभिमतानां अपि तथात्वात्** शरीरत्वेन रूपेण सजातीयत्वात्, **पूर्वापरभावापन्नत्वात्** । न हि चैत्रशरीर - मैत्रशरीरयोः पूर्वापरत्वं

आदि को बुखार होने पर तुम दवा खाने लगोगे, देवदत्त को ठंड लगने पर तुम काश्मीरी साल से अपने को आच्छादित करने के लिए प्रवृत्त हो जाओगे । इस तरह अद्वैतवाद में प्रवृत्ति के नैयत्य का उच्छेद हो जायेगा ।

❀ अदृष्ट-फल में कार्यकारणभाव से आत्मा अनेक है ❀

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि अदृष्ट यानी धर्म-अधर्म और सुख-दुःख के बीच कार्यकारणभाव होता है। धर्म से सुख उत्पन्न होता है और अधर्म से दुःख - यह सर्वमान्य है । सुख उसीको मिलता है जिसमें पुण्य = धर्म हो और दुःख उसीको प्राप्त होता है जिसमें अधर्म=पाप हो । मगर आत्मा को एक मानने पर तो चैत्र पाप करेगा और मैत्र धर्म करेगा तो भी चैत्र को सुख की प्राप्ति एवं मैत्र को दुःख की प्राप्ति हो जायेगी, क्योंकि चैत्रात्मा और मैत्रात्मा परस्पर अभिन्न हैं । मगर ऐसा नहीं होता है । इसीसे सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं है किन्तु अनेक हैं । इसलिए तो अन्यत्र भी कहा गया है कि - 'व्यवस्था से आत्मा अनेक हैं' । व्यवस्था का मतलब है भिन्न व्यक्ति के अदृष्ट से भिन्न व्यक्ति को फल न मिलना, भिन्न व्यक्ति से अनुभूत वस्तु का अन्य को स्मरण न होना,, इत्यादि । यदि आत्मा को अनेक न मानी जाय तब तो अन्य शरीरावच्छेदेन अदृष्ट होने पर अन्य शरीरावच्छेदेन सुखादि फल उत्पन्न होने का अतिप्रसंग आयेगा, क्योंकि आत्मा तो दोनों की एक ही है ।

❀ सन्तान में ऐक्य कल्पना अप्रामाणिक ❀

एकसं.। यदि वेदान्ती की ओर से कहा जाय कि —> 'चैत्र-मैत्र शरीर अलग अलग होने पर भी चैत्रीय शरीर की जो परम्परा चलती है वह एकसन्तान है एवं मैत्रीय बालशरीर, युवाशरीर, वृद्धशरीर की जो परम्परा चलती वह भी एक सन्तान है जो चैत्रीयशरीरसंतान से भिन्न है । अतः चैत्रशरीर से जन्य अदृष्ट से मैत्रशरीर में सुखादि फल की उत्पत्ति का कोई अनिष्ट प्रसङ्ग नहीं आयेगा, क्योंकि अदृष्ट एक ही सन्तान में सुखादि फल को उत्पन्न करता है' <— तो यह भी

तथा च भिन्नात्मवाद एव सामानाधिकरण्येनाऽदृष्टफलयोर्हेतु-हेतुमद्भावो युज्यते ।

❀ जयलता ❀

परेण नाभ्युपगम्यत इति । ततश्च यथाऽनुभवितुरेकत्वेन बाल्यावस्थायामनुभूतं वृद्धावस्थायां स्मर्यते एवं देहान्तरानुभूतमपि स्मर्येत, अनुभवितुरेकत्वात्, अनुभवावच्छेदकशरीरभिन्नत्वं तूभयत्रैव स्मृत्यवच्छेदकविधयाऽभिमते शरीरेऽस्त्येव । **तथा च भिन्नात्मवाद एव सामानाधिकरण्येन** = स्वसमानाधिकरणत्वसम्बन्धेनैव **अदृष्टफलयोः** उपलक्षणात् अनुभव-स्मरणयोश्च **हेतु-हेतुमद्भावो युज्यते**, न त्वात्माद्वैतनये ।

एतेन एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ (ब्र.बि. १२) इति **ब्रह्मबिन्दूपनिषद्**वचनम्, 'आत्मैवेदं सर्वं' (छा. ७/२५/२) इति **छान्दोग्योपनिषद्**वचनम्, 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ.उप. ४/४२९.) इति **बृहदारण्यकोपनिषद्**वचनम्, 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' (मु.उप. २/२/११) इति **मुण्डकोपनिषद्**वचनम्, मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ (क. ४/११) इति **कठोपनिषद्**वचनम्, 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ. १/१) **ऐतरेयोपनिषद्**वचनञ्च **प्रत्याख्यातानि** ।

सोपयोगित्वात् **स्याद्वादरत्नाकर**पाठः प्रदर्श्यते । तदुक्तं **श्रीवादिदेवसूरिभिः** तत्र 'प्रतिक्षेत्रं भिन्न' इत्यमुना पुनर्विशेषणेनात्माद्वैतवादिदर्शनं निरस्यते । दृष्टेष्टबाधितत्वात् । तथाहि संसारिणस्तावदात्मन एकत्वे जननमरणकारणादिप्रतिनियमो नोपपद्यते । तदा खल्वेकस्मिन् जायमाने सर्व एव जायेरन्, म्रियमाणे म्रियेरन्, अन्धादौ त्वेकस्मिन् सर्व एवान्धादयः । विचित्ते चैकस्मिन् सर्व एव विचित्ताः स्युरिति प्रतिनियमानुपपत्तिः। प्रतिक्षेत्रं तु पुरुषभेदे युज्यत एव जननादिप्रतिनियमः । न चैकस्यापि पुरुषस्य देहोपधानभेदाज्जननादिप्रतिनियमः इति युक्तम्, पाणिस्तनाद्युपधानभेदेनापि जननादिप्रतिनियमापत्तेः । न हि पाणौ छिन्ने स्तनादौ महत्यवयवे जाते युवतिर्मृता जाता वा भवतीति। किञ्च संसार्यात्मन एकत्वस्वीकृतावेकस्मिन् शरीरे व्याप्रियमाणे सर्वाण्यपि शरीराणि व्याप्रियेरन् । नानात्वोपगमे पुनस्तस्य नायं दोषः । ननु जनन-मरणादिप्रतिनियमः समस्तोऽपि भ्रान्त एवेति चेत् ? न, भवत इव सर्वस्य तद्भ्रान्तत्वनिश्चयप्रसक्तेः । ममैव तन्निश्चयस्तदविद्याप्रक्षयादिति चेत् ? न, सर्वस्य तदविद्याप्रक्षयप्रसङ्गात्, अन्यथा त्वत्तो भेदप्रसक्तिर्विरुद्धधर्माध्यासात् । ममाविद्याप्रक्षयो नान्येषामिति अप्यविद्याविलसितमेवेति चेत् ? तर्हि सर्वोऽप्येवं प्रतिपद्येत । तवैवेत्थं प्रतिपत्तौ परेषामप्रतिपत्तौ तु न कदाचिद्विरुद्धधर्माध्यासान्मुच्यसे । तथा च प्रत्यात्मदृष्टेनात्मभेदेन बाधितोऽयं संसार्यात्मैकत्ववादः । तथेष्टेनापि प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावादिनेति प्रागेव प्रदर्शितम् । तथा मुक्तात्मनोऽप्येकत्वे मोक्षसाधनाभ्यासवैफल्यं परमात्मनोऽन्यस्य मुक्तस्याऽसम्भवात्, सम्भवे वा मुक्तानेकत्वसिद्धिः । यो यः संसारी निर्वाति स स परमात्मन्येकत्र लीयत इत्ययुक्तम्, तस्य विकारित्वप्राप्त्याऽनित्यत्वप्रसङ्गात् । तथा च कुतस्त्यनेकत्वप्रवाद इत्यसावपि दृष्टेष्टबाधितः । नन्वविद्यावशादेव नानात्माभिमानः इति चेत् ? नैवम्, यतः कस्येयमविद्या ? न तावत्परमात्मनः, तस्य मुक्तत्वेनाऽविद्यासम्पर्कानुपपत्तेः । नापि जीवात्मनामविद्या, ते हि परमात्मनः सकाशादन्येऽनन्ये वा ? यद्यन्ये तदात्माद्वैतविरोधः । अथानन्ये तर्हि

असंगत है, क्योंकि सन्तान में रहनेवाला एकत्व क्या है ? इसका सम्यक् निर्वचन नहीं हो सकता है । यदि ऐक्य का अर्थ यह किया जाय कि —> 'संतानस्थ ऐक्य एकजातीयत्व स्वरूप है अर्थात् चैत्र के बालशरीर, युवाशरीर, वृद्धशरीर में एक अनुगत जाति रहती है जिसकी वजह वह एकसन्तान कहा जाता है' <— तो यह अतिप्रसक्त बन जायेगा, क्योंकि अद्वैतमत में आत्मा एक ही होने की वजह एक ही चैत्र के बाल, युवा आदि शरीर में जैसे एक जाति रहती है ठीक वैसे ही मैत्रीय शरीर आदि भी चैत्रात्मा के ही होने की वजह उनमें भी वह जाति अवश्य रहेगी जो चैत्रीय शरीर में रहती है । तब तो चैत्रशरीरावच्छिन्न अदृष्ट से मैत्रशरीरावच्छिन्न सुखादिस्वरूप फल की उत्पत्ति की आपत्ति दुर्निवार बन जायेगी, क्योंकि विवक्षित ऐक्य मैत्रशरीर में विद्यमान है । यदि संतानगत ऐक्य का अर्थ यह किया जाय कि 'पूर्वापरभावापन्नत्व ही संतानगत ऐक्य है' तो यह भी अतिप्रसक्त ही होगा, क्योंकि जैसे चैत्रीय बालदेह और चैत्रीय वृद्धशरीर में पूर्वोत्तरभावापन्नत्व रहता है ठीक वैसे ही ज्येष्ठ चैत्र के देह की अपेक्षा मैत्र की काया में पूर्वापरभावापन्नत्व = पूर्वोत्तरकालीनभावत्व रहता ही है । तब तो वापस चैत्रशरीरावच्छिन्न अदृष्ट से मैत्रशरीरावच्छिन्न फल के उत्पाद का अनिष्ट प्रसङ्ग ज्यों का त्यों बना रहेगा । इसलिए यही मानना ठीक है कि चैत्र आत्मा और मैत्र आत्मा आदि परस्पर भिन्न हैं । तभी इस नियम का अच्छी तरह निर्वाह हो सकेगा कि - जो अदृष्ट को उत्पन्न करता है उसीको सुखादि फल की प्राप्ति होती है, न कि अन्य को । इस तरह सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से अदृष्ट और सुखादि के बीच कार्य-कारणभाव के मुताबिक भी आत्माएँ अनेक हैं - यह सिद्ध होता है ।

'पुत्रकृतगयाश्राद्धादिजन्याऽदृष्टस्य परम्परासम्बन्धेन पितृनिष्ठफलजनकत्वं दृष्टमित्यन्यत्रापि तथोपपत्स्यत' इति चेत् ? न, स्फुटगौरवेणाऽनभ्युपगमात् ।

❀ जयलता ❀

कथं तेषां संसारः स्यात् ? नित्यमुक्तपरमात्मनोऽपृथग्भूतत्वात् । तत्राविद्यावशात्तानात्माभिमान इत्युपपन्नम् । यदप्युच्यते यथैकमाकाशं घटाद्यवच्छेदकभेदाद्भिद्यते घटाकाशं पटाकाशमिति तथैकमेवात्मतत्त्वं देहस्वरूपावच्छेदकभेदाद्भिद्यते न तु तत्त्वत इति । तदपि न्यायबाह्यम् । न हि स्याद्वादिमते व्योमापि सर्वथैकरूपमस्ति, तस्य सावयवत्वेन कथञ्चिन्नानास्वभावस्य प्रसाधितत्वात् । किञ्च घटनिवृत्तावेव घटाकाशं मुक्तं भवत्येवं देहनिवृत्तावेव तदवच्छिन्नः पुमान् मुक्तः स्यादित्येवमसिद्धो मोक्षः प्रसक्तः । ततश्च मोक्षशास्त्रं व्यर्थम् । देहनिवृत्तावप्यविद्यासंस्कारस्तत्कृतोऽस्ति ततस्तदवच्छिन्नस्यात्मप्रदेशस्यैव संसार इति चेत् ? न, विकल्पानुपपत्तेः । स हि देहकृतः संस्कारः किं देहवत्परिच्छिन्नदेशः किञ्चाकाशवद्व्यापक इति ? प्राच्ये पक्षे चित्रकूटदेशस्थेन देहेन स्वावच्छिन्न एवात्मप्रदेशे कृतः संस्कारस्तत्रैव जन्मान्तरं जनयेत्, सुख-दुःखाद्युपभोगोऽपि तत्रैव स्यादन्यप्रदेशस्य तत्संस्कारेणावच्छिन्नत्वात् । अथ गत्वा संस्कारः प्रदेशान्तरमप्यवच्छिनत्ति, नैवम्, अविद्यासंस्कारस्य निष्क्रियत्वेन गमनानुपपत्तेः । किञ्च संस्कारो मुक्तमपि देशं गत्वाऽवच्छिन्द्यात्, तदवच्छेदेन च मुक्तस्य पुनः संसारित्वप्रसङ्गः । तत्रैव स्थितः प्रदेशान्तरेऽपि स्वकार्यं संस्कारः करोतीति चेत् ? एवमपि मुक्तप्रदेशेऽपि कुर्यादिति स एव प्रसङ्गः । अथाकाशवद्व्यापकः संस्कारस्तेन सर्वेऽप्यात्मप्रदेशा व्याप्ता इति न कश्चित् प्रदेशो मुक्तः स्यात् । तस्मान्न सर्वदेहेष्वेक एवात्मेति । एतेन तप्तायःपिण्डादग्निकणा इवात्मतत्त्वाज्जीवात्मानोऽसङ्ख्याता उत्पद्यन्ते । तेषां संसार-मोक्ष-ज्ञानादिव्यवस्थेति समुद्रादुदकबुद्बुदा एव निःसरन्ति पुनस्तत्रैव लीयन्त इति परेषां वचः प्रलापमात्रतया स्थितमवसेयम् । उक्तनीत्या संसारिणि मुक्ते चात्मन्यनेकत्वस्य प्रसाधितत्वात् (प्र.न.त.७/५६ - स्या.र. पृ.१०९०) इत्यादिकम् । विस्तरस्तत एवावसेयः ।

ननु 'यः कर्ता स फलभोक्ता' इति नियमः न सार्वत्रिकः किन्तु बहुस्थलेषु तथासम्भवाभिप्रायक एव । अत एवोक्तं 'शास्त्रदर्शितं फलं अनुष्ठानकर्तरीत्युत्सर्ग' इति । सार्वत्रिकत्वे तु पितृप्रीतेः कर्तृनिष्ठत्वाभावात् तस्याः श्राद्धफलत्वं न स्यात् । न हि व्यधिकरणयोः कार्यकारणभावः सम्भवति । किन्तु **पुत्रकृतगयाश्राद्धादिजन्याऽदृष्टस्य** = पुत्रकृतेन गयातीर्थीयश्राद्ध-ब्रह्मकपालश्राद्धादिना जन्यस्य पुत्रसमवेतस्याऽदृष्टस्य परम्परासम्बन्धेन **पितृनिष्ठफलजनकत्वं** पितृसमवेतसुखविशेषात्मकप्रीतिकारणत्वं दृष्टम्, 'गयायां पिण्डदानञ्च पितृप्रीतिकरं भवेदि'ति वचनेन गयाश्राद्धस्य पितृतृप्तिहेतुत्वप्रतिपादनात् । **इति** हेतोः **अन्यत्रापि** आत्माद्वैतमतेऽपि **तथोपपत्स्यते** = वैयधिकरण्येन परम्परासम्बन्धेनेति यावत् एकशरीरसन्ताने अदृष्ट-फलयोः हेतुहेतुमद्भावो युज्यते इति **चेत् ? न, स्फुटगौरवेण** = कारणतावच्छेदकसम्बन्धादिगौरवेण परम्परासम्बन्धेनाऽदृष्टफलयोः जन्यजनकभावस्य **अनभ्युपगमात्** मन्मते त्वपृथग्भावस्थानाभिषिक्तेन समवायस्यैव फलजनकतावच्छेदकसम्बन्धत्वं सम्भवति । त्वन्मते च परम्परासम्बन्धः स्वाश्रयपितृत्वं न सम्भवति, भवान्तरीयपितुरपि तत्फलत्वाभप्रसङ्गात् । न च स्वाश्रयतद्भवीयपितृत्वमपि तथा, अदृष्टाश्रयस्याऽऽत्मनः नित्यत्वेन प्रोक्तसम्बन्धद्वयस्याऽसम्भवात् । न च स्वाश्रयावच्छेदकशरीरनिरूपितपितृत्वस्य तथात्वमिति वाच्यम्, समवायापेक्षया तस्य गुरुतरत्वात्, मुक्तपितृकपुरुषानुष्ठिततादृशश्राद्धे व्यभिचाराच्च । **एतेन** गयाश्राद्धादावितोदृश्यत्वसम्बन्धेनैव फलजनकत्वस्य क्वचित्कल्पनादिति (का. १५० पृ.पृ. ८२३) **मुक्तावलीकारवचनं प्रत्याख्यातम्,** पितृणां मुक्तत्वे स्वस्वर्गादिफलकल्पने नानाकार्यकारणभावगौरवात्, वस्तुतो वेदानामप्रमाणत्वाच्च । ततः चैत्रशरीरसन्ताने परम्परासम्बन्धेनाऽदृष्टस्य सुखादिजनकत्व-

❋ गयाश्राद्ध से पितृतृप्ति नामुमकिन ❋

यदि वेदान्ती की ओर से यह कहा जाय कि —> 'अदृष्ट सामानाधिकरण्य= स्वसमवायसम्बन्ध से ही फल को उत्पन्न करता है, ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । इसका कारण यह है कि गयातीर्थ में पुत्र श्राद्ध करता है जिससे पुत्र में अदृष्ट उत्पन्न होता है और वह स्वर्गस्थ पिता में प्रीति=तृप्ति को उत्पन्न करता है । अदृष्ट समवायसम्बन्ध से पुत्र में रहने पर भी मृत पिता में सुखविशेष को परम्परासम्बन्ध से उत्पन्न करता है, न कि सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से । यहाँ जैसे परम्परासम्बन्ध से फलजनकत्व को मान्य किया जाता है ठीक वैसे ही परम्परा सम्बन्ध से चैत्रीय बालशरीरस्थ अदृष्ट भी चैत्रीय वृद्ध शरीर में फल को उत्पन्न कर सकता है । इसलिए आत्माद्वैत का स्वीकार करने पर भी कोई दोष नहीं है' <— तो यह भी असंगत है, क्योंकि साक्षात्सम्बन्ध को छोड़ कर परम्परा सम्बन्ध से कार्यकारणभाव के स्वीकार में स्पष्ट गौरव होने से यह मान्य नहीं किया जाता है । इसलिए समवाय सम्बन्ध से ही अदृष्ट और फल के बीच हेतु-हेतुमद्भाव का स्वीकार करना मुनासिब है, जिसके फलस्वरूप

यौगादीनामपौद्गलिकाऽदृष्टवादं समूलमुन्मूलयितुं 'पौद्गलिकाऽदृष्टवानि'ति । यथा चास्य पौद्गलिकत्वं तथोपपादितं प्रागेव ।

एवञ्चात्मनः चैतन्यादिधर्मयोगभणनाद् वेदान्तिनां निर्धर्मकत्ववादोऽपि परास्तः । न हि मनसो ज्ञान-सुख-दुःखाद्याश्रयत्वमात्मनश्चाऽनिर्वचनीयज्ञानाद्यंतरयोग इति युक्तम् । 'अहं जानामी'त्यादिप्रतीत्या तत्र साक्षाज्ज्ञानादिमत्त्वस्यैव युक्तत्वात्,

❋ जयलता ❋

मयुक्तमिति, स्थितम् ।

यौगादीनां = यौग-वैशेषिक-सौगत-वेदवादि-गणक-सांख्य-शैवादीनां **अपौद्गलिकाऽदृष्टवादं** आत्मगुण-वासना-माया-प्रधान-परिणाम-शक्त्यादिरूपाऽदृष्टमतं **समूलमुन्मूलयितुं पौद्गलिकाऽदृष्टवानिति** एवं **श्रीवादिदेव**सूरिभिरुक्तम् । **यथा चास्य** अदृष्टस्य **पौद्गलिकत्वं तथोपपादितं प्रागेव** वीतरागस्तोत्राऽष्टमप्रकाशतृतीयकारिकाव्याख्याने (प्रथमखण्ड-पृ.१५३) इति नेह पुनः प्रतन्यते । अदृष्टस्यात्मगुण-वासना-माया-प्रधान-परिणाम-शक्त्यादिरूपताप्रतिक्षेपपूर्वकं पौद्गलिकत्वं विस्तरतः **स्याद्वादरत्नाकरे** व्यवस्थितं बुभुत्सुभिः प्रोक्तसूत्रव्याख्यायां दृश्यम् ।

एवं च 'चैतन्यस्वरूप' इत्यादिरूपेण सूत्रेण च **चैतन्यादिधर्मयोगभणनात्** = आत्मनि चैतन्य-कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिधर्मसम्बन्धप्रतिपादनात् **वेदान्तिनां** ब्रह्माद्वैतवादिनां ब्रह्मणि **निर्धर्मकत्ववादः** धर्मत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावप्रवादः **अपि परास्तः** ।

ननु तत्रान्तःकरणमध्यस्यतेऽहमिति रज्ज्वामिव सर्पः केवलस्य तस्य साक्षिभास्यत्वात्, तत्तत्कार्याकारपरिणतस्यैव साक्षिणा भानमित्यहमाकारेण परिणतस्य तस्याध्यासोऽयमहङ्काराध्यास इति गीयते । अयञ्च न सोपाधिक उपाधेरभावात् 'अहमज्ञ' इति त्वहङ्कार-ज्ञानयोरेकचैतन्याध्यासात् दग्धृत्वायसोरेकवह्निसम्बन्धादयो दहतीतिवत् । तच्चान्तःकरणं स्मृतिप्रमाणवृत्ति-सङ्कल्पविकल्पाद्यंवृत्त्याकारेण परिणतं चित्तबुद्धिमनोऽहङ्कारशब्दैर्व्यवह्रियते । इदमेवात्मतादात्म्येनाध्यस्यमानमात्मनि सुख-दुःखादि-स्वधर्माध्यासे उपाधिः, स्फटिके जपाकुसुममिव लौहित्यावभासे । ततो वस्तुगत्या स्वभिन्नधर्मशून्यत्वलक्षणं निर्धर्मकत्वं ब्रह्मणि निरपायमेवेत्याशङ्कायां प्रकरणकार आह - **न हि मनसो ज्ञान-सुख-दुःखाद्याश्रयत्वं आत्मनश्चाऽनिर्वचनीयज्ञानाद्यंतरयोग** इति कल्पयितुं **युक्तम् 'अहं जानामी'त्यादिप्रतीत्या तत्र** = आत्मनि **साक्षात्** = अनौपाधिकसम्बन्धेनैव **ज्ञानादिमत्त्वस्य युक्तत्वात्**, अन्यथा 'मन्मनो जानाति न त्वहं' इति प्रतीतिप्रसङ्गात् । किञ्च तात्त्विके ब्रह्मण्यनिर्वचनीयज्ञानादिकल्पनमपि युक्तिबाह्यम् । तदुक्तं प्रकरणकृतैव **अनेकान्तव्यवस्थाप्रकरणे** 'शुद्धब्रह्मणि शक्यसम्बन्धरूपा बोध्यसम्बन्धरूपा वा लक्षणापि न सङ्गच्छते, तात्त्विकेऽर्थेऽनिर्वचनीयसंसर्गस्य युक्त्यसहत्वात् । न च देवदत्तव्यक्ताविवाऽखण्डब्रह्मणि तात्पर्यसम्बन्धोऽपि

अनेक आत्मा का स्वीकार अवश्य करना होगा । इस तरह आत्माऽद्वैतवादी वेदान्ती के मत का निरसन पूर्ण हुआ ।

यौग = **नैयायिक आदि विद्वान अदृष्ट को अपौद्गलिक मानते हैं । अतः उनके मत के प्रतिक्षेपार्थ प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के सप्तम परिच्छेद के ५६ वें सूत्र में आत्मा के सप्तमविशेषणविधया 'पौद्गलिकाऽदृष्टवान्' ऐसा श्रीवादिदेवसूरीश्वरजी ने कथन किया है । अदृष्ट, जिसे जैन कर्म कहते हैं, पौद्गलिक है न कि आत्मगुणस्वरूप - इस विषय का प्रतिपादन तो पहले ही तीसरी कारिका के निरूपण में हो चुका है (देखिये प्रथम खण्ड पृ.१५४) । इसलिए पुनः उसी बात को दोहराकर समझाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है ।**

❋ आत्मा निर्धर्मक नहीं है ❋

एवं च. । **इस तरह सूत्र में 'आत्मा चैतन्यस्वरूप है' अर्थात् चैतन्य धर्म का आत्मा में सम्बन्ध है - ऐसा कहने से वेदान्ती की यह मान्यता कि - 'आत्मा निर्धर्मक = धर्मशून्य है' भी परास्त हो जाती है, क्योंकि चैतन्य नामक धर्म का आत्मा में अस्तित्व है । यहाँ यह तो नहीं कहा जा सकता कि —> 'आत्मा तो निर्धर्मक है । ज्ञान, सुख, दुःख आदि तो मन का धर्म है । इसलिए आत्मा को अनिर्वचनीय ज्ञानादि के साथ योग नहीं होता है' <— क्योंकि लोगों को 'मम मनो जानाति' ऐसी प्रतीति नहीं होती है किन्तु 'अहं जानामि' ऐसी प्रतीति होती है । इसके अनुसार तो आत्मा में ही साक्षात् ज्ञान, सुख आदि का सम्बन्ध सिद्ध होता है । अतः मन में साक्षात् = समवाय सम्बन्ध से ज्ञान आदि का स्वीकार कर के आत्मा में परम्परा सम्बन्ध से ज्ञानादि की कल्पना करना संगत नहीं है । दूसरी बात यह है कि ज्ञान, सुख, दुःख आदि परस्पर भिन्न धर्म हैं । एक ही आत्मा में ज्ञान, सुख आदि के भेद से भिन्नता का स्वीकार आवश्यक**

ज्ञानसुखादिभेदेनैकत्रानेकात्मतापत्तेश्च ।

अथ नित्यज्ञानसुखादीनामभेद एव । अत एव 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (तै.आ.) इति अत्राऽभेदोक्तिः सङ्गता, नित्यज्ञानसुखादीनां तु चित्ताश्रयत्वमेवेति नायं दोष इति चेत् ? न, कथञ्चिद्भेदाऽभावे 'विज्ञानमानन्दमि'त्यस्य 'घटो घट' इतिवन्निराकाङ्क्षत्वापत्तेः । आनन्दत्वविज्ञानत्वयोर्भेदे च निर्धर्मकत्वस्य दूरप्रोषितत्वात् ।

❋ जयलता ❋

पदानां सङ्गच्छते तथाऽनधिगतेऽर्थे तात्पर्यानुपपत्तेः तात्पर्यान्तथाऽधिगमे चान्योन्याश्रयः प्रत्यक्षादखण्डानुभवस्त्वनुभवकलहग्रस्त इति न किञ्चिदेतत्' (अने.व्य. पृ. २६) इति ।

नन्वस्तु ब्रह्मण्येव विज्ञानसुखाद्यभिसंबन्धः किन्तु स न भेदनियतः किन्त्वभेदनियत इति न तत्र स्वभिन्नधर्मशून्यत्वलक्षणं निर्धर्मकत्वं व्याहतमित्याशङ्कायामाह- **ज्ञानसुखादिभेदेन एकत्र** ब्रह्मणि **अनेकात्मतापत्तेः** ज्ञानसुखादेः परस्परं भिन्नत्वेन ज्ञानादिस्वरूपस्य ब्रह्मणो नानात्वमनिवार्यमेव, अन्यथा ज्ञान-सुखादीनामभेदापत्तेः ।

वेदान्तीष्टापत्त्या शङ्कते - **अथ नित्यज्ञान-सुखादीनां अभेद इष्ट एव** । किं तत्र प्रमाणं ? इत्याह - **अत एव** = नित्य-विज्ञानसुखादीनां परस्परमभिन्नत्वादेव, **'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यत्राऽभेदोक्तिः सङ्गता**, समानविभक्तिकविशेषण-विशेष्ययोः तादात्म्यनियतत्वात् । 'एवं ब्रह्मणि ज्ञानत्वादिधर्मयोगान्निर्धर्मकत्वं व्याहन्येते'त्याशङ्कायामाह - **नित्यसुखादीनां तु चित्ताश्रयत्वमेवेति न** अयं निर्धर्मकब्रह्मसिद्धान्तव्याकोपलक्षणो दोष इति चेत् ? न, विज्ञान-सुखयोः **कथञ्चिद्भेदाभावे** = सर्वथाऽभेदे **'विज्ञानमानन्दं' इत्यस्य** वाक्यांशस्य **'घटो घट' इतिवन्निराकाङ्क्षत्वापत्तेः** = शाब्दबोधाजनकत्वापत्तेः । उत्तरपदार्थस्य पूर्वपदेनैवोक्तत्वेन तत्र पौनरुक्त्यमित्यपि वदन्ति ।

ननु नित्यविज्ञानानन्दयोरभेदेऽपि ज्ञानत्वानन्दत्वयोर्भेदात्कृतऽभेदान्वयाऽसम्भवः 'नीलो घट' इतिवत् अन्वयानुयोगिप्रतियोगि-नोर्विरूपोपस्थितत्वादित्याशङ्कायामाह स्याद्वादी- **आनन्दत्व-विज्ञानत्वयोः भेदे** च स्वातिरिक्तधर्मशून्यत्वलक्षणस्य **निर्धर्मकत्वस्य दूरप्रोषितत्वात्** = विलयापत्तेः आनन्द-विज्ञानादिस्वरूपे ब्रह्मणि स्वस्मात् परस्परतश्च भिन्नयोः सुखत्व-ज्ञानत्वयोः स्वीकारापातात् । एवञ्च ब्रह्मणि नानात्वमपि दुर्निवारम् । **एतेन** तत्र मिथ्यात्वाभावोऽधिकरणात्मकः सत्यत्वं, दुःखाभावः तादृशः सुखं, अज्ञाना-

है । तब तो एक में अनेकात्मकता की आपत्ति आयेगी । एक ही व्यक्ति ज्ञानात्मक एवं सुखात्मक नहीं हो सकती है।

अथ. । यदि यहाँ यह शंका हो कि —> 'नित्य ज्ञान, नित्य सुख आदि वस्तुतः परस्पर अभिन्न ही हैं । अतः एक ही आत्मा नित्यविज्ञानस्वरूप एवं नित्यसुखस्वरूप हो सकती है । इसीलिए तो 'नित्यं विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति में ब्रह्मतत्त्व का नित्य विज्ञान और नित्य सुख के साथ अभेद का प्रतिपादन भी संगत हो सकता है । यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि नित्य सुख, नित्य विज्ञान आदि का आश्रय तो चित्त यानी अंतःकरण ही है । इसलिए ब्रह्म = आत्मा में निर्धर्मकत्व की हानि भी नहीं होगी' <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि विज्ञान और आनन्द में कथंचित् भी भेद न हो तब तो जैसे 'घटो घटः' यह वाक्य निराकांक्ष हो जाता है ठीक वैसे ही 'विज्ञानमानन्दं' यह वचन भी निराकांक्ष हो जायेगा, क्योंकि आनन्दपद से जिसका बोध करना है उसका बोध तो विज्ञानपद से ही हो गया है तब इन दोनों में परस्पर अन्वय भी कैसे हो सकेगा ? अधिक में पुनरुक्ति दोष की आपत्ति आयेगी । यदि यहाँ ऐसा कहा जाय कि —> 'विज्ञान और आनन्द तो एक ही है, मगर उसमें रहनेवाले विज्ञानत्व और आनन्दत्व धर्म परस्पर भिन्न हैं । अतः विज्ञान और आनन्द की विरूप उपस्थिति 'विज्ञानमानन्दं' इस वाक्य से होने की वजह विज्ञान और आनन्द में परस्पर अभेद अन्वय हो सकता है । इसलिए निराकांक्षत्व की वाक्य में प्रसक्ति नहीं होगी' <— तो तो ब्रह्म में निर्धर्मकत्व की ही हानि हो जायेगी, क्योंकि 'ब्रह्म विज्ञानस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप है एवं उनमें रहनेवाला विज्ञानत्व धर्म और आनन्दत्व धर्म परस्पर भिन्न है' ऐसा स्वीकार करने पर तो सिद्ध हो जायेगा कि विज्ञानत्व और आनन्दत्व धर्म का विज्ञानादिस्वरूप ब्रह्म आश्रय है । अब निर्धर्मकत्व को अवकाश कहाँ ? वह तो परदेश में चला जायेगा । निर्धर्मकत्व का देशनिकाल (= ब्रह्मनिकाल) हो जाने से विज्ञानत्व एवं आनन्दत्वरूप भिन्न धर्म का आश्रय होने की वजह ब्रह्म में भी भेद = नानात्व की सिद्धि हो जायेगी । तब तो ब्रह्माद्वैतसिद्धान्त भी धराशायी हो जायगा । मतलब कि 'आत्मा अनेक है' यह सिद्ध होता है । उपर्युक्त विचार से आत्मा तात्त्विक चीज है - यह सिद्ध होता है ।

इत्थम्भूतश्चायं स्वोपार्जिततथाविधकर्मयोगेन परलोकमुपसर्पति, ज्ञानदर्शनचारित्रप्रकर्षेण निर्मूलकाषंकषितनिःशेषदोषविसरः पुनः परमानन्दं विन्दति इति ।

❀ जयलता ❀

भावश्च तादृशं विज्ञानमित्यपि **प्रत्याख्यातम्**, मिथ्यात्वाभावे सत्यत्वोपचारे मानाभावात्, गौरवाच्च ।

अथ 'सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म' इति श्रुत्या सदद्वैतं चिदानन्दब्रह्मैकरसमेव सिध्यतीति चेत् ? तर्हि सत्त्व-चित्त्वानन्दत्वब्रह्मत्व-रूपधर्मचतुष्टययोगान्निर्धर्मकत्वव्याघातः । 'सदाद्यात्मकमपि निर्विकल्पकदृष्ट्यैकमेव स्यादिति' चेत् ? तर्हि सर्वात्मकमपि तदेक-रूपं किं न स्यात् ? एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानादतीतानागतानामपि द्रव्यार्थतया ध्रौव्याविगानात् । इत्थं हि 'जो एगं जाणइ सो सव्वं जाणइ' इति पारमेश्वरवचनानुसारिताऽपि सङ्गच्छत इत्यधिकं **जैनतर्के**ऽवसेयम् ।

इत्थम्भूतः = अनुपदोक्तसमविशेषणविशिष्टः चायं आत्मा **स्वोपार्जिततथाविधकर्मयोगेन** = स्वीयमिथ्यादर्शनाविरति-कषाययोगप्रमादपञ्चकोत्पादितभवान्तराक्षेपकशुभाशुभायुष्कादिकर्मसाचिव्येन **परलोकं** = देवनारकतिर्यग्नरभवान्यतरगतिं **उपसर्पति**= गच्छति । परलोकसिद्धिस्तु **विशेषावश्यकभाष्य-गणधरवाद-धर्मसङ्ग्रहण्यादितो** विस्तरतोऽवसेया । कर्मणामौपाधिकत्वेन उत्कर्षापकर्षशालित्वेन चोपायविशेषादात्यन्तिकोच्छेदोऽप्यनुमीयते । तदेवाह - **ज्ञानदर्शनचारित्रप्रकर्षेण निर्मूलकाषंकषितनिःशेष-दोषविसरः** = आत्यन्तिकैकान्तिकसकलदोषोच्छेदः जीवः **पुनः परमानन्दं** = सकलसांसारिकसुखातिशायि-दुःखलेशाऽसम्पृक्ताक्षय-सुखविशेषं **विन्दते** = लभत इति । तदुक्तं **श्रीउमास्वातिभिः** 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' (त.सू.१/१) इति । यद्यपि 'कृत्स्नकर्मक्षय एव मोक्षः' इत्येव स्वदर्शने प्रसिद्धं तथापि इष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वात् तत्र काम्यतासम्पादनार्थं 'परमानंद' इत्युक्तिर्न विरुद्धा । वस्तुतस्तु कृत्स्नकर्मक्षयो न मोक्षः किन्तु मोक्षकारणं, यथोक्तं **निशीथपीठिकाचूर्णौ** कृत्स्न-कर्मक्षयात् मोक्षः (गा.४६५ पृ.१५७) इति । मोक्षस्तु कृत्स्नकर्मक्षयजन्य-परमानन्दस्वरूप एव । यथा चैतत्स्वरूपं तथा **न्यायालोकवृत्तौ भानुमत्य**भिधानायां विस्तरो वक्ष्यामः । प्रकृते काम्यतावच्छेदकं तु विजातीयसुखत्वमेव । न च तत्र मानाभाव इति वाच्यम्, आगमस्यैव मानत्वात्, अन्यथा तत्रापि कथं 'नित्यं विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म' इति **तैत्तिरीयकारण्यक**वचनं सङ्गच्छेत ? उक्तञ्च 'सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् । तं वै मोक्षं विजानीयाद् दुष्प्राप्यमकृतात्मभिः' ॥ इति । न च सुखत्वा-वच्छेदेन शरीरादीनां कारणत्वात्तान् विना कथं मुक्तौ सुखमिति वाच्यम्, एवं सति तवेश्वरेऽपि ज्ञानादिकं न सिध्येत्, ज्ञानत्वाद्य-वच्छेदेनात्ममनोयोगशरीरादीनां कारणत्वावधारणात् । **न च** शरीरादेः जन्यात्मविशेषगुणत्वावच्छिन्नं प्रत्येव हेतुत्वान्नायं दोष इति **वाच्यम्**, ध्वंसप्रतियोगित्वरूपस्य जन्यत्वस्येश्वरज्ञानादेरिव मुक्तिकालीनज्ञानसुखादेरपि व्यावृत्तत्वात् । **अनेन** अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत' इति मुक्तौ सुखाभावसिद्धिः द्वित्वेनोपस्थितयोः प्रियाप्रिययोः प्रत्येकं निषेधासम्भवादिति **निरस्तम्**, प्रियाप्रियोभयत्वावच्छिन्नाभावस्यैवात्र विषयत्वात्, द्वित्वस्याप्यनतिप्रसक्ताभावप्रतियोगितामतयैवोपपत्तेः । न च तत्र कारणान्तरकल्पने गौरवम्, आगममूलत्वात् । न च जन्यभावस्य सतो ध्वंस आवश्यक इति वाच्यम्, अभावस्यैव भावस्यापि कस्यचिदुत्पन्नस्याप्यवि-नाशसम्भवात्, जन्यभावत्वेन नाशहेतुत्वे मानाभावात्, नाशकारणानां नाश्यनिष्ठतया एव हेतुतया दोषाभावात् । किञ्च जन्यभाव-त्वेन नाशहेतुत्वेऽपि कथं मुक्तौ सुखादिध्वंसः ? तत्र प्रतियोगितया योग्यात्मविशेषगुणनाशं प्रति एकाधिकरण्यावच्छिन्नस्वपूर्व-वृत्तितासम्बन्धेन योग्यविशेषगुणत्वेन हेतुत्वात् मुक्तौ तदनन्तरं विशेषगुणान्तरानुत्पत्त्या पूर्वविशेषगुणनाशाऽयोगादिति दिक् ।

नैयायिकास्तु अशेषविशेषगुणोच्छेदरूपा मुक्तिरिति वदन्ति, **तन्न**, विशेषगुणोच्छेदत्वस्यानिष्टतावच्छेदकत्वेन कस्यापि पुरुषस्य तत्र प्रवृत्त्यनापत्तेः । न च दुःखध्वंसत्वमेव काम्यतावच्छेदकमिति वाच्यम्, समनियताभावानामैक्येन तदानीन्तनसुख-

❀ परलोक-मुक्ति की सिद्धि ❀

इत्थं. । इस तरह आत्मा है, आत्मा कर्म (= धर्म-अधर्म) की कर्ता है एवं उनके फल सुखादि की भोक्ता है - यह सिद्ध होने से समस्या यह उपस्थित होती है कि –> 'जिसने इस लोक में बहुत बुरे पाप किये हैं, सैकडों की हत्या की है उनको क्या एक ही फाँसी की सजा मिलने से उनके सब पाप कर्म नष्ट हो सकते हैं ? तब तो एक खून की सजा एवं हजारों हत्या की सजा एक बन जाने से भारी अन्याय हो जायेगा । अतः बचे हुए कर्म की सजा (=फल) उसे कहाँ मिलेगी ?' <— मगर विचार करने से यह मालूम पडता है कि कोई ऐसा स्थान अवश्य कहीं भी होगा जहाँ शेष बुरे कर्मों के फल का वह पुरुष अनुभव करेगा । उस स्थान का शास्त्रकारों ने नरक नाम से हमें परिचय कराया है। एवं उत्कृष्ट पुण्य के फल का भोग जहाँ होता है उस स्थान का नाम है स्वर्ग । मतलब कि तथाविध अपने कर्म के सम्बन्ध से जीव परलोक में जाता है - यह सिद्ध होता है । मतलब कि परलोक भी सचमुच है ही । जब सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के प्रकर्ष से जीव अपने कर्मों की जंजीरों को संपूर्ण तोड देता है, सब दोषों को चूरचूर कर देता है तब क्षीणदोषवाला

युक्तश्चैतत् ज्ञानकर्मणोः समुच्चित्य मोक्षकारणत्वात् ।

ननु इदमसिद्धम्, योगनिरोधरूपकर्मण एव साक्षाद्धेतुत्वात्, तत्त्वज्ञानस्य तु पूर्वमपि

❋ जयलता ❋

दु:खध्वंसयोरैक्याद् दु:खध्वंसे सुखध्वंसत्वरूपानिष्टतावच्छेदकज्ञानस्य प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वात् ।

कश्चित्तु विशिष्टदु:खसाधनध्वंस एव मुक्तिरिति, **तन्न**, प्रायश्चित्तादावपि दु:खं मा भूदित्युद्देश्येन प्रवृत्तेर्दु:खानुत्पादस्यैव प्रयोजनत्वात् । न च तस्याऽसाध्यत्वं, योगक्षेमसाधारणजन्यतायाः प्रागभावेऽपि सत्त्वात् ।

आत्यन्तिकदु:खप्रागभावो मोक्षस्तस्य प्रतियोगिजनकाधर्मनाशमुखेन कृतिसाध्यत्वादित्य**तिमन्दम्**, प्रागभावस्य प्रतियोगिजनकत्वनियमेन मुक्तस्य पुनरावृत्तिप्रसङ्गात् । सहकारिविरहेण दु:खानुत्पादे तस्योत्तरावधिविधुरत्वेनात्यन्ताभावत्वप्रसङ्गात् ।

अपरे तु दु:खेनात्यन्तविमुक्तश्चरतीति श्रुतिबलेन दु:खात्यन्ताभाव एव मुक्तिः दु:खसाधनध्वंस एव स्ववृत्तिदु:खस्यात्यन्ताभावसम्बन्धः स च साध्य एवेत्याहुः । **तन्न**, दु:खसाधनध्वंसस्य दु:खात्यन्ताभावसम्बन्धत्वे मानाभावात् ।

दु:खध्वंसस्तोम एव मुक्तिरित्यपि न, स्तोमस्य कथमप्यसाध्यत्वात् ।

त्रिदण्डिनस्त्वानन्दमयपरमात्मनि जीवात्मलयो मोक्ष इत्याहुः । तत्र लयो यद्येकादशेन्द्रियसूक्ष्ममात्रावस्थितपञ्चभूतात्मलिङ्गशरीरापगमस्तदा नामकर्मक्षय एव स इति कर्मक्षयरूपमोक्षवादिकक्षाप्रवेशः । यदि चोपाधिशरीरनाशे औपाधिकजीवनाशस्तदा तेन रूपेणाऽकाम्यत्वादपुरुषार्थत्वम् ।

सुगतास्तु अनुपप्लवा चित्तसन्ततिरपवर्ग इत्याहुः **तदसत्** अन्वयिद्रव्याभावे बद्धमुक्तव्यवस्थानुपपत्तेः, सन्तानस्याऽवस्तुत्वात्, अतिशयाधायकत्वेनाभिमतादेव सहकारिचक्रात् कार्योत्पत्तावेकान्तक्षणभिदेलिमचित्तसन्ततौ मानाभावाच्च ।

स्वातन्त्र्यं मुक्तिरित्य**न्ये** । तेषां स्वातन्त्र्यं यदि कर्मनिवृत्तिस्तदा सिद्धान्त एव । प्रकृतितद्विकारोपधानविलये पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिरिति **साङ्ख्याः** । तदपि न चारुतया चकास्ति, स्वरूपावस्थानस्यात्मस्वरूपस्याऽसाध्यत्वात्, प्रकृत्यादिप्रक्रियायां मानाभावाच्च ।

अग्रिमचित्तानुत्पादे पूर्वचित्तनिवृत्तिः मुक्तिरित्य**न्ये** । तदपि न सम्यक्, अग्रिमचित्तानुत्पादस्य प्रागभावरूपस्याऽसाध्यत्वात्, चित्तनिवृत्तेरनुद्देश्यत्वाच्च ।

आत्महानं मुक्तिरिति **लौकायतिकाः**, तन्न, वीतरागजन्मादर्शनन्यायेन नित्यतया सिद्धस्यात्मनः सर्वथा हातुमशक्यत्वात्, आत्महानस्यानुद्देश्यत्वाच्च । नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिः मुक्तिरिति **तौतातिताः**, तत्रेति नैयायिकादयः, नित्यसुखे मानाभावादित्यधिकं **न्यायालोके** दृश्यम् । यथा चैतत्तत्त्वं तथा चिकीर्षिततट्टीकायां वक्ष्यामः[1] ।

इदन्त्ववधेयम् - सूक्ष्मर्जुसूत्रनयार्पणया नित्यसुखाभिव्यक्तिक्षणस्वरूपो मोक्षः, व्यवहारनयप्राधान्ये नित्यसुखस्वरूपः सः । प्रमाणार्पणया तु द्रव्यपर्यायोभयस्वरूप एव स इति व्यक्तं **लघुस्याद्वादरहस्यादौ** ।

प्रकृतं प्रस्तुमः - **युक्तश्चैतत्** = ज्ञानदर्शनचारित्रप्रकर्षहेतुकपरमानन्दप्राप्तिप्रतिपादनं युक्तिसङ्गतमेव, **ज्ञानकर्मणोः समुच्चित्य मोक्षकारणत्वादिति** । सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानेनैवाक्षेपात्, तत्सहचारित्वाच्च न पृथगुपादानमिति न दोषः ।

क्रियावादी शङ्कते - **ननु इदं** = सम्यग्ज्ञानक्रिययोः समुच्चित्य मोक्षहेतुत्वं **असिद्धम्** = प्रमाणाऽप्रसिद्धम्, **योगनिरोधरूपकर्मणः** = शैलेश्यवस्थाचरमसमयभावियोगत्रिककृत्स्ननिरोधरूपायाः क्रियाया **एव साक्षाद्धेतुत्वात्** = अविलम्बेन स्वोत्तरत्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन मोक्षजनकत्वात्, **तत्त्वज्ञानस्य** = केवलज्ञानलक्षणस्य सम्यग्ज्ञानस्य तु योगनिरोधात् **पूर्वमपि**

वह जीव परमानन्द को प्राप्त करता है, जिसे मोक्ष कहते हैं । सम्यग् ज्ञानादि से कृत्स्नकर्मक्षय होना युक्तिसंगत भी है, क्योंकि ज्ञान एवं क्रिया दोनों मिल कर मोक्ष के हेतु हैं । न तो अकेले ज्ञान से कभी मोक्ष होता है और न तो केवल क्रिया (ज्ञानशून्य) से । क्या अकेले आटे से रोटी बनेगी? या केवल पानी से बनेगी ? नहीं । पानी और आटा मिल कर ही रोटी बनती है । ठीक वैसे ही ज्ञान एवं कर्म = सदनुष्ठान भी परस्पर मिलित हो कर ही मोक्ष के कारण बन सकते हैं ।

ननु. । यहाँ यह शंका हो कि –> 'ज्ञान और क्रिया दोनों मिल कर ही मुक्ति के कारण बनते हैं, यह बात प्रमाण से असिद्ध है, क्योंकि योगनिरोधस्वरूप क्रिया ही मुक्ति का साक्षात्कारण है । तत्त्वज्ञान = केवलज्ञान तो पहले

१. द्रष्टव्यं दिव्यदर्शनट्रस्टप्रकाशिते भानुमतीटीका-प्रीतिदायिनीव्याख्योपेते न्यायालोके पृष्ठ-१५/२२ ।

सत्त्वादिति चेत् ? न, न हि समकालोत्पत्तिकत्वेन समुच्चयोऽपि तु परस्परसहकारमात्रेण । अधिकं मत्कृत-ज्ञानकर्मसमुच्चयवादे ।

❋ जयलता ❋

सत्त्वात् योगनिरोध एव उपक्षीणत्वेन मोक्षं प्रत्यन्यथासिद्धत्वादिति चेत् ? **न, न** हि प्रकृते **समकालोत्पत्तिकत्वेन** ज्ञानकर्मणोः **समुच्चयः** विवक्षितः अपि तु **परस्परसहकारमात्रेण** एव । तच्च द्वयोरप्यविशेष एवेति समुच्चित्य तयोः मोक्षकारणत्वमव्याहतमेव । अत्र सोपयोगित्वात् ज्ञाननयक्रियानययोः विप्रतिपत्तिप्रदर्शनपूर्वं स्थितपक्षः **नयोपदेशश्लोकै**रेव दर्श्यते । तदुक्तं तत्र प्रकरणकारेणैव → क्रियानयः क्रियां ब्रूते, ज्ञानं ज्ञाननयः पुनः । मोक्षस्य कारणं तच्च भूयस्यो युक्तयो द्वयोः ॥१२९॥ क्रियैव फलदा पुंसां न ज्ञानं फलदं मतं । यतस्स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥१३०॥ ज्ञानमेव शिवस्याध्वा मिथ्या-संस्कारनाशनात् । क्रियामात्रं त्वभव्यानामपि नो दुर्लभं भवेत् ॥१३१॥ तण्डुलस्य यथा चर्म्म यथा ताम्रस्य कालिका । नश्यति क्रियया पुत्र ! पुरुषस्य तथा मलः ॥१३२॥ वठरश्च तपस्वी च शूरश्चाप्यकृतव्रणः । मद्यपा स्त्री सती चेति राजन्न श्रद्दधाम्यहम् ॥१३३॥ ज्ञानवान् शीलहीनश्च त्यागवान् धनसङ्ग्रही । गुणवान् भाग्यहीनश्च राजन्न श्रद्दधाम्यहम् ॥१३४॥ इति युक्तिवशात्प्राहुरुभयोस्तुल्यकक्षताम् । मन्वेऽप्याह्वानं देवादेः क्रियायुग्ज्ञानमिष्टकृत् ॥१३५॥ ज्ञानं तुर्ये गुणस्थाने क्षायोपशमिकं भवेत् । अपेक्षते फलं षष्ठगुणस्थानजसंयमम् ॥१३६॥ प्रायः सम्भवतः सर्वगतिषु ज्ञानदर्शने । तत्प्रमादो न कर्तव्यो ज्ञाने चारित्रवर्जिते ॥१३७॥ क्षायिकं केवलज्ञानमपि मुक्तिं ददाति न । तावन्नाविर्भवेद्यावच्छैलेश्यां शुद्धसंयमः ॥१३८॥ व्यवहारे नयो ज्ञानसंयमा मुक्तिहेतवः । एकः शब्दर्जुसूत्रेषु संयमो मोक्षकारणम् ॥१३९॥ सङ्ग्रहस्तु नयः प्राह जीवो मुक्तः सदाशिवः । अनवाप्तिभ्रमात्कण्ठस्वर्णन्यायात्क्रिया पुनः ॥१४०॥ अनन्तमर्जितं ज्ञानं त्यक्त्वाश्चानन्तविभ्रमाः । न चित्रं कल्याप्यात्मा हीनोऽभूदधिकोऽपि वा ॥१४१॥ धावन्तोऽपि नयाः सर्वे स्युर्भावे कृतविश्रमाः । चारित्रगुणलीनः स्यादिति सर्वनयाश्रितः ॥१४२॥

अधिकं तु **मत्कृतज्ञानकर्मसमुच्चयवाद** इति । तदुक्तं प्रकरणकृता **नयामृततरङ्गिण्यां** - ''अत्र ज्ञानकर्मसमुच्चयवादे स्वपरसमयविचारः कश्चिल्लिख्यते - तत्र मुमुक्षुकर्म्मव्यापारतन्त्वं तत्त्वज्ञानवृत्ति न वेति विप्रतिपत्तिः, विधिकोटिरुदयनाचार्याणां निषेधकोटिर्भास्करीयाणां, तत्र भास्करीयाणामयमाशयः - तीर्थविशेषस्नान-महादान-यम-नियमादिकर्म्मणां निःश्रेयसकारणत्वं तावच्छब्दबलादेवावगम्यते, तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वं तु तेषां निःश्रेयसे जनयितव्ये न तावच्छब्द एव बोधयति, तत्र तस्योदासीन-त्वात् । न च साक्षात् साधनताव्या(वि)घेः साधनताऽप्रतीतेः परम्पराघटकव्यापारमविषयीकृत्य न घटत इत्यपूर्ववाच्यतान्यायेन शब्द एव वस्तुतः तत्त्वज्ञानव्यापारकतां बोधयितुं प्रगल्भत इति शङ्कापदं हृदि निधेयं, सामान्यशब्दोऽन्यतरविशेषबाधे तं त्यजति, न तु विशेषान्तरमुपादित्सितमपि विशिष्य बोधयतीति स्वभावात् दृष्टान्तस्यैवासम्प्रतिपत्तेः । न च कर्म्मणामाशुतरविनाशित्वेन व्यापारोऽवश्यं स्वीकरणीयस्तत्र दृष्टेन तत्त्वज्ञानेनैवोपपत्तावदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्, लाघवसहकृतानुपपत्तेरेव तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वे मानमिति वाच्यं, तत्त्वज्ञानस्यापि व्यवहितत्वेन तत्रापि कर्मणोऽदृष्टद्वारकत्वस्यावश्यकत्वात् निःश्रेयसे द्वारद्वयकल्पने गौरवात्, निःश्रेयसे कर्म्मणामदृष्टद्वारा हेतुत्वे तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमपि यमनियमाद्यनुष्ठानं स्यात् इति चेत् ? स्यादेव, तदानीमपि मुमुक्षाया अधिकारस्याक्षतेः, न च तत्त्वज्ञानत्वेनैव मोक्षजनकत्वात् प्राथमिकतत्त्वज्ञानादेव मोक्षोपपत्तौ क्व कर्मानुष्ठानमिति शङ्कनीयं, ''नित्यनैमित्तिकैरेव, कुर्वाणो दुरितक्षयम् । ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत् ॥१॥ अभ्यासात् पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः'' इत्यादिपुराणेषु तदभ्यासश्रवणात्, श्रुतिरप्यत्र विपक्षबाधकतया प्रमाणमस्ति तथाहि ''अन्धं तमः प्रविशन्ति ये

१३ वें गुणस्थानक पर भी होता है फिर भी तब मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है किन्तु योगनिरोधात्मक क्रिया से ही १४ वें गुणस्थानक के अंत में मोक्ष की प्राप्ति होती है । मतलब कि ज्ञान तो क्रिया को उत्पन्न कर के ही चरितार्थ हो जाता है। अतः मोक्ष के प्रति ज्ञान को भी कारण मान लेने की आवश्यकता नहीं है किन्तु केवल क्रिया को ही मोक्ष का हेतु कहना ठीक है' ← ।

न. । तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान और क्रिया समुच्चित हो कर मोक्ष को उत्पन्न करते हैं - इसका अर्थ यह नहीं है कि ज्ञान और क्रिया एक ही काल में उत्पन्न हो कर मुक्ति के कारण बनते हैं । उसका मतलब तो यह है कि ज्ञान एवं क्रिया परस्पर के सहकार से मुक्ति को उत्पन्न करते हैं । ज्ञाननिरपेक्ष क्रिया से या क्रियानिरपेक्ष ज्ञान से कर्ममुक्ति नहीं होती है किन्तु सापेक्ष ऐसी क्रिया और ज्ञान से मुक्ति होती है । परस्पर के सहकारी होने की वजह दोनों में सापेक्षता है । इस विषय में यहाँ जो कुछ कहा गया है वह नगण्य है । इस विषय का बड़ा विस्तार तो प्रकरणकारकृत ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद ग्रन्थ में ज्ञातव्य है । आनन्द की बात है कि साम्प्रत काल में यह वाद नयोपदेशटीका में संपूर्णतया उपलब्ध होता है ।

❀ नयलता ❀

अविद्यामुपासते ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः'' अस्या अर्थः अविद्या कर्म्म तदुपासते ज्ञानत्यागेन तत्रासक्ता भवन्ति ये ते अन्धं तमः प्रविशन्ति संसारान्न मुच्यन्ते, तेन केवलकर्म्मोपासने न जन्मादिविच्छेदः, ये च विद्यायां रताः विद्या तत्त्वज्ञानं तन्मात्रासक्ताः ''उ'' इत्यव्ययं चकारार्थे ते भूयोऽतिशयेनान्धं तमः प्रविशन्ति, नित्याकरणे प्रत्यवायस्य बहुलत्वात् । ननु ''मोक्षाश्रमश्चतुर्थो वै यो भिक्षोः परिकीर्तितः'' इत्यागमाच्चतुर्थाश्रमिणामेव मोक्षे अधिकारः, तत्र च ''सन्न्यस्य सर्वकर्माणि'' इति स्मृतेः कर्म्मसामग्र्यत्यागात् क्व समुच्चयः क्व वा अकरणे प्रत्यवायः इति चेत् ? न, यानि कर्म्माण्युपरमीतमात्रकर्तव्यत्वेन विहितानि तत्परित्यागस्याशास्त्रीयत्वात्, तत्त्यागे मानाभावात्, निषिद्धानि काम्यानि च बन्धहेतुत्वात् धनमूलानि च धनत्यागादेव त्यज्यन्ते, इत्येतावदेव सन्न्यासपदार्थत्वात्, तथा च गीतावचनं ''काम्यानां कर्म्मणां न्यासं, सन्न्यासं कवयो विदुः। नियतस्य तु सन्न्यासः, कर्म्मणो नोपपद्यते ॥१॥ मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः'' ॥ इति साक्षात् समुच्चयप्रतिपादिकापि श्रुतिः ''विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते'' ॥ अत्राविद्या = कर्म्म विद्या च तत्त्वज्ञानं तुल्यवद् यो वेद प्राप्नोतीति पूर्वार्द्धार्थः, वेदेति प्रयोगात् ''विदॢ लाभे'' इति धातोः छान्दसत्वेन भास्करर्षिदर्शितत्वात्, ''तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'' इति वाक्यं तु एवकारस्य विदित्वेत्यनन्तरं योजनात्तत्त्वज्ञानस्याप्यपवर्गसामग्र्यान्निवेशननियमपरं, न तु वाक्यान्तरावधृतकारणताककर्म्मव्युदासपरं, समुच्चये चान्यान्यपि भूयांसि वचनानि सन्ति, तथा च गीतावचनं ''स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः । स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥१॥'' विष्णुपुराणेऽप्युक्तं —> 'तस्मात्तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः । तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म्म चोक्तं महामते ! ॥१॥ हारीतः ''उभाभ्यामपि पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः । तथैव ज्ञानकर्म्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतं ॥१॥'' श्रुतिश्च ''सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण च'' इति एतन्मूलकमेव 'परिज्ञानाद्भवेन्मुक्तिरेतदालस्यकं परं । काय(य)क्लेशभयाच्चैव कर्म्म नेच्छन्ति पण्डिताः ॥१॥ ज्ञानं प्रधानं न तु कर्म्महीनं, कर्म्म प्रधानं न तु बुद्धिहीनं । तस्माद्द्वयोरेव भवेत्प्रसिद्धिर्न ह्येकपक्षो विहगः प्रयाति ॥२॥'' इत्यादि ॥ न च काम्यनिषिद्धनैमित्तिकाभ्यां कर्म्मभ्यां न समुच्चयः तयोस्त्यागात्, न निमित्तकनित्येन, एकैकशो व्यभिचारात्, साकल्येनासम्भवात्, नापि यत्याश्रमविहितेन, ''न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः । श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥१॥'' इत्यागमेन गृहस्थस्यापि मोक्षश्रवणात् इत्युपपत्तिविरोधादेव न समुच्चय इति वाच्यम् । यत्राश्रमे यानि मोक्षहेतुतया विहितानि तैरेव तदाश्रमित्वज्ञानस्य समुच्चयोपपत्तेः, न च कर्म्मणां परस्परव्यभिचारान्निःश्रेयसे च स्वर्गवद्वैचित्र्याभावान्न तत् प्रति कारणत्वमिति वाच्यं, स्वाभाविकविशेषविरहेऽपि प्रतियोगिभेदेन विशेषस्य निःश्रेयसेऽप्यविरोधात्, तत्तत्पुरुषीयमुमुक्षुविहितकर्म्मत्वेन तत्तत्पुरुषीयविजातीयदुःखध्वंसे हेतुत्वसम्भवात्, अवश्यञ्चाभावरूपे कार्ये प्रतियोगिभेदेन विशेषोऽभ्युपेयः, कथमन्यथा आश्रयनाश-पाकयोः रूपकारणत्वमिति, न च ज्ञानस्य विहितत्वाददृष्टजनकत्वेनादृष्टस्यैव प्राधान्यं, न च रागाद्यभावाद्योगिनोऽदृष्टोत्पत्त्यसम्भवः, मुक्तिविरोध्यपूर्वोत्पत्तावेव रागादेः सहकारित्वात्, तावतैव मोक्षफलकविध्यनुपपत्तिपरिहारादिति वाच्यम् । शुकादितत्त्वज्ञानसाध्यतया क्लृप्तेन मिथ्याज्ञानध्वंसेन दृष्टेनैवोपपत्तावदृष्टकल्पनाऽयोगात्, अन्यथा भेषजादिष्वपि तत्कल्पनापत्तेः, एवञ्च विहितत्वं तत्रैव व्यभिचारीति द्रष्टव्यम् । न चावघातवन्नियमादृष्टकल्पना, तत्र वैतुष्य(?गुण्य)स्यान्यथापि सम्भवेन सा, अत्र तु मिथ्याज्ञानस्य निवृत्तेरन्यथाऽसम्भव इति विशेषात् ।

नन्वत्रापि विरोधिगुणान्तरोत्पत्तेरपि मिथ्याज्ञानध्वंसः सम्भवति, न च मिथ्याज्ञानपदं तद्वासनापरं, तत्त्वज्ञानात्तद्ध्वंसस्यैवाङ्गीकारात्, तस्य चान्यथा असम्भव एवेति वाच्यं, अचिकित्स्यरोगादिनापि तस्यापि सम्भवात् । न चेतरवासनानाशेऽपि ततः संसारवासनाया अनाश इति वाच्यं, सामान्यावच्छेदेन पाक्षिकप्राप्तेरेव नियममूलत्वात्, अन्यथा अपूर्वीयव्रीहिविशेषे नखनिर्भेदाप्राप्तेः तत्रापि नियमादृष्टानुपपत्तिरिति चेत् ? न, शक्यपरिवर्जनपाक्षिकप्राप्तेरेव नियममूलत्वात्, यथा ''व्रीहीनवहन्ति'' इत्यत्र पक्षे प्राप्तस्य नखनिर्भेदादेः शक्येन परिवर्जनेनाभिघातो नियम्यते 'अवहन्तव्या एव, न नखैर्निर्भेतव्या' इति, नैवमत्र, तत्त्वज्ञानेनैव मिथ्याज्ञानं निवर्तयेन्न विरोधिगुणरोगादिनेति शक्यं प्रतिज्ञातुं तस्यापुरुषतन्त्रत्वात् । अत एव प्रोक्षि(त)व्रीह्यवघातत्वेने(ने)व श्रवणजन्यतत्त्वज्ञानत्वेन नियमादृष्टहेतुत्वमौच्यमिति निरस्तम्, प्रोक्षणादेः प्रधानाङ्गत्वेन प्रधानापूर्वफलकादृष्टजनकत्वात्तत्र तथोक्तिसम्भवेऽप्यत्र प्रधानस्यैव दृष्टफलत्वेन तथा वक्तुमशक्यत्वात् । किञ्च अत्र विजातीयतत्त्वज्ञानत्वेनैव दृष्टद्वारा मुक्तिहेतुत्वाच्च श्रेयसी अदृष्टकल्पना, तत्र वैजात्येनैव हेतुत्वे तदवच्छिन्ने प्रोक्षणहेतुत्वोक्तौ कृष्णले प्रोक्षणबाधापत्तेः । न चावहन्तव्यप्रोक्षणत्वेनाप्यदृष्टहेतुत्वात्तत्रापि नियमादृष्टं कल्पनीयं, दृष्टार्थस्यैव नियमाददृष्टार्थस्य सिद्धान्तितत्वादित्यन्यत्र विस्तरः ।

❀ जयलता ❀

उदयनानुसारिणस्तु अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य ज्ञानार्थिनस्तत्प्रतिबन्धकदुरितनिवृत्तिद्वारा प्रायश्चित्तवदारादुपकारकं कर्म स नित्योपकारकं च तत्त्वज्ञाने, उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य त्वन्तरलब्धदुष्टःकारारिसमाप्तिवदारब्धाग्निसंपालनं लोकसङ्ग्रहार्थं. यद्यपि लोकसङ्ग्रहे न प्रयोजनं, सुखदुःखाभावतत्साधनेतरत्वात्, तथापि लोकानां नित्यत्वेन यद् ज्ञानं तत्परित्यागार्थं (तत्प्रपालनार्थं) तत्तद्दुःखयोगेन कर्मनाशार्थं वा तत्, इदमेव च द्वारि-द्वारयोः कर्म्म-तत्त्वज्ञानयोः कारणत्वं तुल्यकक्षतया समुच्चयो नेष्ट इत्यनेन विवक्ष्यते । यद्यपि च तीर्थविशेषस्नानादीनां तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वं न शाब्दं, तथापि तीर्थविशेषस्नानादीनि तत्त्वज्ञानद्वारकाणि मोक्षजनककर्म्मत्वात् यमादिवत्, इत्यनुमानात्तथात्वसिद्धिः । न च योगत्वम् उपाधिः ''कथयति भगवानिहान्तकाले भवभयकातरतारकं प्रबोधम्' इत्यादिपुराणात् 'रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे' इति श्रुतेश्च काशीप्रयागादेस्तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वसिद्धौ तत्र साध्याव्यापकत्वादित्याहुः ।

स्वतन्त्रास्तु तत्त्वज्ञानं प्रत्यङ्गत्वपक्षे कर्म्मणामपूर्वद्वारा जनकत्वं दुरितध्वंसकल्पनातो लघुत्वात् । वस्तुतः कर्म्मणां निःश्रेयसहेतुत्वे तज्जन्यनिःश्रेयसजनकतया तत्त्वज्ञानस्य कर्म्मव्यापारत्वं वाच्यम्, तदेव तु न युक्तं ''न कर्म्मणा न प्रजया धनेन' 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'' (श्वेता.उप.३/८६/१८) । 'नास्त्यकृतः कृतेन' (मुण्ड.१/२/१२) ''कर्म्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात् कर्म्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः'' ॥१॥ इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेन निषेधात् कर्म्मजन्यत्वाभावाच्च 'तपसा कल्मषं हन्ति अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः कषायपङ्क्तिः कर्म्मभ्यः ॥'' इत्यादिभिस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकदुरितनिवृत्त्यैवान्यथासिद्धेः प्रदर्शनात् । **न च** ''विविदिषन्ति यज्ञेन'', ''सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'' (भ.गी.४/२३) इत्यादिभिः कर्म्मजन्यताऽपि प्रतीयत इति वाच्यं, सा हि न अपूर्वद्वारा प्रतिबन्धकदुरितानुच्छेदे अपूर्वसहस्रस्यापि अकिञ्चित्करत्वात्, तदुच्छेदेन तज्जनने तु प्रमान्तरावधृतकारणभावेन प्रतिबन्धकाभावेनैवान्यथासिद्धेः । न चैवं यागादेरप्यपूर्वेणान्यथासिद्धिः स्यात्, तस्य यागकारणताग्रहोत्तरकल्प्यत्वेनोपजीव्यापरिपन्थित्वात्, इह तु प्रतिबन्धकाभावस्य कार्य्यमात्रे कार(ण)तायाः प्रागेवावधारणादिति विशेषात् । अत एव मङ्गल-कारीर्य्योः प्रतिबन्धकदुरितनिवृत्तिमात्रफलकत्वं, वृष्टिसमाप्ती तु स्वकारणादेवेति सिद्धान्तः । **किञ्च** कर्म्मकारणताग्रहानुपजीवनेन लौकिकान्वयव्यतिरेकावधृतमिथ्याज्ञाननिवर्त(न)भावसम्भावितस्य मोक्षसाधनत्वस्य ''ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'' ''तरति शोकमात्मवित्'' ''ब्रह्मविदाप्नोति परं'' (तैत्ति.२/१/१ + भस्मजा. २/७) ''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेन तत्त्वज्ञानस्यैष्टतया ग्रहणात्तदेव मोक्षसाधनम्, कर्म्माणि तु तत्रैवान्यथासिद्धानीत्युक्तम्, यथा च न तत्रापि व्यापारस्तथोक्तमेव । अत एवार्थावबोधपर्य्यन्तताऽध्ययनविधेः, न तु तेन क्रत्वनुष्ठानेन स्वर्गादिफलकत्वमिति **सम्प्रदायः** । न च तत्त्वज्ञानस्य कर्म्मणां निःश्रेयसप्रागभावव्याप्यप्रागभावप्रतियोगित्वरूपतदनुकूलताबोधने एव तात्पर्य्यात्(र्यम्)श्रुत्यन्तरसिद्धेऽन्यथासिद्धत्वे तदनन्यथासिद्धताया बोधयितुमशक्यत्वात्, तावतैव श्रुतेःकर्म्मप्रवृत्तिपरतानिर्वाहादित्याहुः ।

अत्र वयं वदामः मोक्षस्तावत्पुरुषार्थत्वाद्दुःखसाधनध्वंस एव, न तु दुःखध्वंसः, उत्पन्नानुत्पन्नविवेकेन तद्ध्वंसस्यासाध्यत्वात्, तत्र च ज्ञान-कर्म्मणोः वैजात्येन मुमुक्षुविहितत्वादिना वा हेतुत्वं तुल्यमेवत्येकतरपक्षपातो न श्रेयान्, ज्ञाने केवलज्ञानत्वरूपस्य कर्म्मणि च यथाख्यातचारित्रस्वरूपस्य वैजात्यस्य कल्पनायाः क्षायिकस्थले क्षायोपशमिकस्थले च तदनुकूलतामात्रस्य द्वयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वादिति । **एतेन** कारणोच्छेदक्रमेण कार्य्योच्छेदान्मुक्तिरिति ज्ञानं कर्म्मसहकारि(त्वं) मिथ्याज्ञानोन्मूलने, कर्म्म विनाकृतस्यैव यस्य दिङ्मोहादौ हेतुत्वावधारणादिति **निरस्तं**, मिथ्याज्ञाननाशेऽपि विरोधिगुणमात्रस्य हेतुत्वान्मिथ्याज्ञानप्रागभावाऽसहवृत्तिमिथ्याज्ञानध्वंसे च हेतुताया लोकप्रमाणविषयत्वेन ज्ञानकर्म्मणोर्द्वयोरेव कल्पनौचित्यात् । वस्तुतः अर्थसमाजसिद्धत्वात्तद्रूपावच्छिन्नेऽपि न हेतुता, किं तु सामान्यावच्छिन्नध्वंसनये कर्म्मत्वावच्छिन्नध्वंसे तत्ताम(? या)वत्कर्म्मक्षयसमनियतक्षायिकसुखत्वावच्छिन्ने वेति न कस्यापि न्यूनत्वं पराभिमतद्वारस्थाने एव फलाभिषेकात्, एकपुरस्कारेणान्यनिराकरणवचनं च तत्तदर्थवाद एवेति न कर्म्मकारणताबाधकवचनेऽनुकूलत्वमात्रं अर्थः, कारणताशक्तपदस्यानुकूलत्वे लक्षणायां गौरवात्, अन्यथासिद्धिचतुष्टयराहित्यगर्भत्वेन तत्र लाघवमिति दृष्टिदाने च विधिप्रत्य(य)मात्रार्थोऽपीष्टानुकूलत्वमात्रमेव स्यादिति यागादेरप्यपूर्वेणान्यथासिद्धिः स्यात् यागादिकारणताग्रहमनुपजीव्यैव तत्रापूर्वकल्पनादिति न किञ्चिदेतत् । यदपि प्रतिबन्धकनिवृत्त्यैवान्यथासिद्धेः कर्म्मणां न तत्त्वज्ञाने न वा तद्द्वारा मुक्तौ हेतुत्वमित्युक्तं, तदपि न युक्तं, प्रतिबन्धकत्वस्य विशिष्य विश्रामेण तदभावत्वेन कार्य्यमात्रेऽनुगतहेतुताया अयोगात्, प्रतिबन्धकविशेषनिवृत्तिहेतुतायाश्च कर्म्मकारणताग्रहोत्तरकल्पनीयत्वेन तदन्यथासिद्ध्यनापादकत्वात् । किञ्च प्रतिबन्धकनिवृत्त्यान्यथासिद्धत्वेन कर्म्मणोऽहेतुत्वोक्तौ तत्त्वज्ञानस्य सुतरां तथात्वं स्यात्, न ह्युत्पन्नकेवलज्ञाना अपि भवोपग्राहिकर्म्मचतुष्टयं प्रतिबन्धकमनिवर्तयित्वा सद्य एव मुक्तिमासादयन्ति इति मुक्तिप्रतिबन्धककर्म्मनिवर्तकत्वेन तत्त्वज्ञानस्य

❀ जयलता ❀

कुतो नान्यथासिद्धिः ? अथ कर्म्मणो भोगनाश्यत्वेन ज्ञानस्य तन्नाशकत्वान्नान्यथासिद्धिः, न हि भोगस्तत्त्वज्ञानव्यापारः, तथाऽश्रवणात्, तेन विनापि कर्म्मण एव तदुत्पत्तेश्च । न च वासुदेवादीनां कायव्यूहश्रवणात्तत्त्वज्ञानेन कायव्यूहमुत्पाद्य भोगद्वारा कर्म्मक्षय इत्यपि **साम्प्रतम्,** तपःप्रभावादेव तत्त्वज्ञानानुत्पादेऽपि कायव्यूहसम्भवात्, भोगजननार्थं कर्म्मभिरवश्यं तत्कार्य्यनिष्पादनमिति न तत्र तत्त्वज्ञानोपयोगः, यौगपद्यं च कायानां तज्जनककर्म्मस्वभावात् तपःप्रभावाद्वेति । न च ''तावदेवास्य चिरं यावन्न विमोक्षोऽथ सम्पत्स्यते कैवल्येन'' इति श्रुतौ तावदेवास्य उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य चिरं विलम्बो यावन्नोत्पन्नकर्म्मणो विमोक्षः । अथ सम्पत्स्यते कैवल्येन भोगेना(न)क्षपयित्वेति शेषः इति व्याख्यानाद्भोगस्य तत्त्वज्ञानव्यापारत्वं युक्तमेव । न च शेषदाने माना-भावः सत्यपि ज्ञाने कर्म्मावस्थाने कल्पसामान्यस्य भोगस्यैव नाशकत्वेनाक्षेपादिति **वाच्यं,** तत्त्वज्ञाने सति तत्त्वज्ञानदशायां न मोक्षः किं तु तदपि प्रक्षण इत्यर्थेनाप्युपपत्तेरिति चेत् ? मैवं, कर्म्मणो भोगनाश्यत्वेऽपि ज्ञानस्य कर्म्मनाशकत्वं, भोगस्य तत्त्वज्ञाना(न)व्यापारत्वात्, न च तत्त्वज्ञानं विनापि भोगेन कर्म्मनाशे व्यभिचारः, कर्म्मप्रागभावासहवृत्तिकर्म्मनाशे युगपद्भोग वा व्यभिचाराभावादिति **मणिकृतैवोक्तत्वात्,** अस्मत्सिद्धान्तेऽपि नाशार्थिप्रवृत्तौ नाश्यनिश्चयविधयैव केवलज्ञानस्य कर्म्महेतुत्वमन-पायं । तदुक्तं **निर्युक्तौ** समुद्घाताधिकारे ''णाऊण वेयणिज्जं अइबहुअं आउयं च थोवागं । कम्मं पडिलेहेउं वच्चंति जिणा समुग्घायं'' ।। अत्र क्त्वा प्रत्ययबलादेव नियतपौर्वापर्य्यस्याथाचानन्यथासिद्धत्वस्य प्रतीतेः कारणत्वलाभः । अन्यदप्याभोगवीर्य्यस्यैव केवलिनः कर्मक्षयहेतुत्वादाभोगान्वितवीर्य्यत्वेनेव वीर्य्यान्विताभोगत्वेनापि हेतुत्वादुक्तार्थसिद्धिः ।

यत्पुनः -''दोषपक्तिर्मतिज्ञानादकिञ्चिदपि केवलात् । तमःप्रचयनिःशेषविशुद्धिफलमेव तत् ।। (सिद्धसेनसूरिकृत-द्वात्रिंशिकाप्रकरणम-१९/१४)'' इत्यनेन केवलज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वमुक्तं तद्दोषपक्तिरूपकार्य्यापेक्षया, न तु पक्वानां भवोपग्राहिणां क्षपणरूपकार्य्यमाश्रित्य, तत्तद्व्यापारस्य तदा जागरूकत्वात् । यदि च स्वरूपशुद्धिग्राहकनयेन केवलज्ञानस्य निर्व्यापारत्वं स्वी-क्रियते तदा यथाख्यातचारित्रात्मकक्रियाया अपि तथात्वमेवाभ्युपगन्तुं युक्तं, समुद्घातादिना कर्म्मक्षपणव्यापारस्य योगविशेषेणैव वक्तुं शक्यत्वात् ।।१।। मुक्तिबन्धहेतुविवेकेन फलशुद्धिग्राहकनयेन तत्र चारित्रहेतुत्वा(? ता)भ्युपगम्यमानो(? ना) ज्ञानहेतुतामपि न व्याहन्ति ।।२।। अनन्त(र)कारणग्राहकनयेन तत्र चारित्रमेव हेतुरिति चेत्, न, उत्पत्त्यवनन्तरत्वस्य यथाख्यातचारित्रापेक्षया केवलज्ञान एव सम्भवात्, व्यापारानन्तर्य्यस्य च कल्प्यमानस्योभयत्राप्यविनिगमात् ।।३।। **एतेनाक्षेपककारणग्राहकनयेन** ''जम्हा दंसणनाणा' इत्यादिवचनाच्चारित्रमेव मुक्तिहेतुरित्यपि **निरस्तं,** आक्षेपकत्वं हि ''स्वेतरसकलकारणसमवधाननियतसमवधानकत्वं'', तच्च यथाख्यात इव केवलज्ञानेऽपीत्यविशेषात्, क्षयोपशमदशायामप्यपुनर्बन्धकादिचारित्रव्यावृत्तजातिविशेषवतश्चारित्रस्यैव विषयप्रतिभा-सात्मपरिणामज्ञानोदूर्ध्वभावितत्त्वज्ञानस्याक्षेपकत्वाविशेषात् ।।४।। मुख्यैकशेषनयेन चारित्रमेवोत्कृष्यत इति चेत् ? न, तत्र मुख्यत्वस्यैव विनिगन्तुमशक्यत्वात् ।।५।। पुमर्थग्राहकनयेन क्रियायामेव मुख्यत्वं विनिगम्यत इति चेत् ? न, परमभावग्राहकनयेन ज्ञान एव तद्विनिगमनायाः सुवचत्वात् ''जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा'' इत्यादिवचनात् ।।६।।७।। **कारकसम्यक्त्व-शरीरनिर्वाहकत्वनयेन** चारित्रमेवोत्कृष्यत इति चेत् ? न, ''जं अन्नाणी कम्मं खवेई'' इत्यादिवचनात् सम्यक्क्रियाशरीरनिर्वाहकत्वनयेन ज्ञानेऽप्युत्कर्षस्य वक्तुं शक्यत्वात् ।।८।।९।। एतेन ''णिच्छयणयस्स चरणस्सुवघाएण नाणदंसणवहोवि'' इत्यादिवचनात् ज्ञान-नाशव्याप्यनाशप्रतियोगित्वग्राहकशुद्धनयेन ज्ञानातिशयस्याप्यदुर्वचत्वात् ।।१०।। व्यापारप्राधान्यग्राहकक्रियानयेन चारित्रोत्कर्ष इत्युक्तावपि दर्शनप्रधानग्राहकज्ञाननयेन ज्ञानोत्कर्षः सुवच एव ।।११।।१२।। दृष्टान्तौ चात्र पङ्ग्वन्धौ तयोरन्यतरस्याकिञ्चित्करत्वेन संयोगपक्ष एव श्रेयान् । **न च** कुर्वद्रूपत्वनये शैलेश्यन्त्यक्षणभाविचारित्रमेव मुक्तिरूपफलोपधायकत्वेन विशिष्यत इत्यपि **शङ्कनीयं,** कुर्वद्रूपक्षणस्य सहकारिसमवधाननियतत्वेन तत्कालीनज्ञानक्षणस्यापि मुक्तिहेतुत्वात् । पुञ्जात्पुञ्जोत्पत्तिपक्षे बीजपाथःपवनादीनामेक-त्रोपादानत्वेनान्यत्र च निमित्तत्वेन हेतुत्वमिति चारित्रक्षणस्य मुक्तावुपादानत्वेन हेतुत्वात् विशेष इत्यप्यसाम्प्रतं, ज्ञानादि-संवलितमुक्तिक्षणे संवलितक्षणस्यैव हेतुत्वात्तच्चातद्व्यावृत्त्या शक्तिविशेषादिना चेत्यन्यदेतत्, कथं तर्हि ''सद्दुज्जुसुआणं पुण निव्वाणं संजमो चेव'' इति **निर्युक्तिवचनश्रद्धानवतां** तेषां कुर्वद्रूपक्षणावगाहित्वात् तत्र चैकान्तस्यानुपदमेव निरस्तत्वादित्याशङ्कनीयं, एकैकस्य शतभेदत्वेनाक्षेपककारणत्वरूपस्थूलापेक्षयैव तदेकान्ताभिधानोपपत्तेः । अत एव शैलेश्यन्त्यक्षणभाविधर्म्महेतुत्वमिति विशुद्धैवम्भूताभिप्रायेणैवास्माभिस्तत्र तत्र समर्थितम् ।

यत्तु मिथ्यादृशो मिथ्याज्ञानोन्मूलनद्वारा तत्त्वज्ञानमेव मुक्तिहेतुरिति मन्यन्ते ते मिथ्याज्ञानोन्मूलनेऽपि तत्तन्मनःप्रणिधान-रूपायाःक्रियाया हेतुत्वं कथं न पश्यन्ति, मिथ्याज्ञानवासनोन्मूलनत एव कर्म्मनिरपेक्षं तत्त्वज्ञानं हेतुरिति चेत् ? तर्ह्यदृष्टपरिकल्पनमेतत् मिथ्याज्ञानवासनायाः स्मृत्यैकनाश्यत्वात् तत्त्वज्ञानस्य तन्नाशकताया लोकेऽदृष्टत्वात्, अदृष्टकल्पने चाऽऽगमानुसारेण ज्ञानवत्

नन्वत्र किं कारणत्वमिति चेत् ? नियतान्वयव्यतिरेकव्यङ्ग्यः परिणामविशेष इत्यवेहि ।

❋ जयलता ❋

कर्म्मणोऽपि मलक्षयद्वारा मुक्तिहेतुत्वकल्पनमेव न्याय्यः, तथा चाभ्यधायि सुरेणाऽपि **वासिष्ठे** ''तन्दुलस्य यथा चर्म्म यथा ताम्रस्य कालिका । नश्यति क्रियया पुत्र ! पुरुषस्य तथा मलं'' ॥१॥ इत्यादि । किञ्च विहितत्वेन पुण्यपापक्षयान्यतरहेतुत्वव्याप्तिस्तत्त्वज्ञानस्य कर्म्मतुल्यत्वं । न च चिकित्सादाविव व्यभिचारः, मुमुक्षुविहितत्वेन व्याप्तौ व्यभिचाराभावादिति पुष्टिशुद्ध्यनुबन्धद्वारा ज्ञानकर्म्मणोर्मुक्तौ तुल्यवदेव हेतुतया समुच्चयपक्ष एव अनाविल इति सिद्धम् । (नयो.टीका. पृ.९७/१०२)

ननु निखिलेषु लौकिकेष्वलौकिकेषु च कर्मादिषु तत्तत्फलस्य कारणत्वं निर्णीयैव सन्तः प्रवर्तन्ते न तु तदपलपन्तः । तत्र किं नाम कारणत्वमभिप्रेतं यदवच्छेदकावच्छिन्नसमुदायः सामग्रीति प्रोच्यते मनीषिभिः ? न तावत् तत्तत्फलाऽव्यवहितपूर्वसत्त्वम्, रासभादावतिप्रसङ्गात् । नापि तद्गतप्रयोजकीभूताभावप्रतियोगित्वं तत्, यतः प्रयोजकत्वं हि न व्यापकत्वम्, घटारम्भकसंयोगादिकं प्रत्यपि घटादिजनकत्वापत्तेः । नाऽपि स्वरूपसम्बन्धविशेषः प्रमाणाभावात् । दण्डाभावप्रयुक्तो घटाभाव इत्यादिप्रतीतौ दण्डाभाव-प्रतियोगिजन्यप्रतियोगिकत्वादिलक्षणस्य दण्डाभावप्रयुक्तत्वस्य घटाभावेऽवगाहनात्, अन्यथाऽसम्भवतया स्वरूपसम्बन्धविशेषमेव कारणत्वं किमिति न ब्रूषे ? न चात्र निर्भरः कर्तव्यः । स हि स्वरूपसम्बन्धविशेषो न कारणस्वरूपः, तत्तदवच्छेदकीभूतधर्मस्वरूपो वा, तन्मात्रग्रहेऽपि कारणत्वाऽप्रत्ययात्, दण्डः कारणमित्यादिसहप्रयोगानुपपत्तेश्च ।

किञ्च प्रकृतहेतुत्वग्रहे स्वहेतुत्वग्राहकापेक्षायामात्माश्रयोऽन्यहेतुत्वग्राहकापेक्षायां च परस्पराश्रय इति समुच्चितज्ञानक्रिययोः मोक्षकारणत्वाभिधानमयुक्तमित्याशयेन शङ्कते-**ननु अत्र** = ज्ञान-कर्मणोः समुच्चित्य मोक्षकारणत्वप्रतिपादने **किं कारणत्वं** = कारणत्वपदप्रतिपाद्यमिति **चेत्** ? उच्यते, **नियतान्वयव्यतिरेकव्यङ्ग्यः परिणामविशेष** एव कारणत्वपदार्थ **इत्यवेहि** । न च स्वाश्रयादिप्रसङ्गः; यतः समूहान्वयव्यतिरेकाभ्यां समूहे कारणत्वग्रहे तदितरगृहीततत्कार्यकारणतावकसमूहसत्त्वे यद्व्यतिरेकेऽवश्यं कार्यव्यतिरेकस्तावत्समूहसत्त्वे तत्सत्त्वं चावश्यं तत्कार्यसत्त्वमित्यन्वयव्यतिरेकयोर्ग्रहस्य विशिष्य तत्कारणत्वग्राहकत्वे दोषाभावात् ।

यत्तु स्व-स्वव्याप्याऽभिन्नासु यावतीषु व्यक्तिषु सतीषु सव्यापारयदवच्छिन्नाधिकरणक्षणोत्तरक्षणे यदवच्छिन्नाधिकरणत्वं तावतीषु व्यक्तिषु सतीष्वेव सव्यापारयदवच्छिन्नानधिकरणक्षणोत्तरक्षणे यदवच्छिन्नानधिकरणत्वं तदवच्छिन्नं प्रति तदेव जनकत्वम्, आकाशाभावकाले रासभादेर्घटादावुभयसत्त्वात् सतीष्वेवेत्यन्तम् । इत्थञ्च यावतां सत्त्वे रासभाधिकरणक्षणोत्तरक्षणे घटसत्त्वं तावतां सत्त्वे तं विना घटासत्त्वं नास्तीति नातिप्रसङ्गः । घटसत्त्वकालीनयावद्व्यक्तिनिविष्टदण्डादिसत्त्वकालेऽसत्त्वस्याऽसम्भवात् भिन्नास्वित्यन्तम् । न च मङ्गलाभावरूपविघ्नहेतुमति मङ्गलतद्ध्वंसान्यतरयावद्विघ्नहेतुसमवधानकाले मङ्गलसत्त्वस्याऽसम्भवात् स्वाभावभिन्नास्वित्यपि विशेषणीयमिति वक्तव्यम्, स्व-स्वव्याप्येतरयावद्व्यक्तिसत्त्वे मङ्गलाऽसत्त्वे विघ्नप्रागभावाभावस्य सत्त्वेन तद्विशेषणानौचित्यात् । न ह्यत्र स्वस्वव्याप्येतरयावद्विघ्नहेतुत्वेन निवेश इति, तन्न चारु, यावतां सत्त्वे दण्डसत्त्वे घटसत्त्वं तावतां सत्त्वे दण्डासत्त्वे घटासत्त्वस्यासम्भवात्, घटप्राक्कालोत्पत्तिकानामुदासीनानन्तसंयोग-विभाग-तत्तदङ्कुरादीनामन्यदाऽभावात्, यावत्पदस्येच्छोपगृहीतयावत्परत्वे रासभाद्यतिप्रसङ्गात्, चक्रादियावत्सत्त्वे रासभसत्त्वे दण्डसमवधाने घटसत्त्वात्तदभावसमवधाने घटासत्त्वाच्च । **तस्माद्** यादृशसमूहसत्त्वे सव्यापारयत्सत्त्वेऽग्रिमक्षणेऽवश्यं कार्यं तादृशसमूहसत्त्वे सव्यापारयद्व्यतिरेके चावश्यं

❋ कारणतास्वरूपविचार ❋

यहाँ यह शंका हो सकती है कि —> 'समुचित = परस्परसहकारी ज्ञान एवं क्रिया में मोक्ष की कारणता का प्रतिपादन किया गया मगर वह कारणता किस्वरूप है ? इसका निरूपण तो नहीं किया गया है । अतः कारणता का क्या स्वरूप है? यह बताइए' <— इसके समाधानार्थ प्रकरणकार श्रीमद् कहते हैं कि कारणता परिणामविशेषस्वरूप है । कारणों में रहा हुआ वह कारणतास्वरूप परिणामविशेष नियत अन्वय एवं व्यतिरेक से ज्ञात होता है । जैसे दण्ड, चक्र, कुलालादि के होने पर भी कपाल के न होने पर घट उत्पन्न नहीं होता है और कपाल के आने पर अवश्य घटोत्पाद होता है । इस अन्वय-व्यतिरेक से मालूम हो जाता है कि कपाल में कोई ऐसा परिणाम अवश्य होना चाहिए जिसकी वजह शेष कारणों की उपस्थिति होने पर भी कपालशून्यदशा में घट का जन्म नहीं होता है और कपाल के होने पर वहाँ घट की निष्पत्ति होती है । यदि कपाल में तंतुआदि की भाँति घट कार्य की अपेक्षा कोई परिणामविशेष न हो तो क्यों कपाल के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण घटोत्पाद करता है । कपाल में परिणामविशेष न होने पर भी यदि घटजन्म उसके अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करे तब तो तन्तु आदि के अन्वय-व्यतिरेक का उसे अनुसरण करना चाहिए । मगर ऐसा नहीं होता है । इसीसे निश्चित

अन्ये तु - अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं तत् ।

जयलता

कार्यव्यतिरेकस्तत्तस्य कारणमित्येवं योगक्षेमसाधारणस्य कारणत्वस्य लक्षणं वाच्यम् । भवति हि चक्रादिसमूहसत्त्वे सव्यापारदण्डसत्त्वेऽग्रिमक्षणे घटसत्त्वं सव्यापारदण्डव्यतिरेके घटव्यतिरेक इति । इत्थञ्च समूहान्वयव्यतिरेकग्रहानन्तरं प्रत्येकान्वयव्यतिरेकग्रहस्य प्रत्येककारणताग्राहकत्वं नाप्रामाणिकं न वा नियतान्वयव्यतिरेकव्यङ्ग्यस्य परिणामविशेषस्य कारणतात्वमप्रामाणिकमिति व्यक्तमेव **अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे** । न चातिरिक्तस्य परिणामविशेषलक्षणस्य कारणत्वस्याऽसिद्धिरिति **वाच्यम्**, इष्टसाधनत्वादिज्ञानकारणतावच्छेदकतयाऽतिरिक्तस्यैव कारणत्वस्य सिद्धेरिति व्यक्तमेव **जैनतर्के** ।

अन्ये = नैयायिकाः **तु**, 'वदन्ति' इत्यनेनास्याऽग्रेऽनुसंहितपदेनान्वयः । **अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं** = अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति नियतत्वे सति पूर्ववर्तित्वं **तत्** = कारणत्वम् । दण्डत्वादिवारणायान्यथासिद्धिशून्यत्वे सतीति, घटत्वावच्छिन्ननिरूपितान्यत्र क्लृप्तेत्याद्यन्यथासिद्धिशून्ये तद्रासभेऽतिव्याप्तिवारणाय नियतेति । घटस्य घटत्वावच्छिन्ननिरूपितान्यत्रक्लृप्तत्वाद्यन्यथासिद्धिशून्यतया घटत्वावच्छिन्ननिरूपितव्यापकत्ववत्तया च घटत्वेन स्वस्य स्वकारणत्वापत्तिवारणाय पूर्ववृत्तीति । अत्र संयोगेन घटं प्रति दण्डस्य न हेतुता, भूतलादावपि संयोगेन घटसत्त्वेन तत्र संयोगेन दण्डाभावात् किन्तु संयोगसम्बन्धावच्छिन्नोत्पत्त्यवच्छेदकतासम्बन्धेन । तथा च तत्सम्बन्धेन कार्याधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वघटितं घटकारणत्वं दण्डस्य वाच्यम् । तदपि न सम्भवति, घटोत्पत्त्युत्तरकालावच्छेदेन तेन सम्बन्धेन घटाधिकरणे दण्डाभावसत्त्वात् । अतः कार्याधिकरणवृत्त्यभावे कार्याव्यवहितप्राक्कालावच्छेद्यत्वमपि निवेशनीयम् । न च तथापि कार्याधिकरणे चक्रे दण्डाभावस्य कालिकसम्बन्धेन वर्तमानतया दण्डेऽव्याप्तिरिति वाच्यम्, वर्तमानत्वस्याऽभावीयदैशिकविशेषणतासम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वस्य विवक्षणात् । न चैवं सम्बन्धान्तरावच्छिन्नप्रतियोगिताकदण्डाभावस्य तेन सम्बन्धेन चक्रे सत्त्वादव्याप्तितादवस्थ्यमिति वाच्यम्, प्रतियोगितायां कारणतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्वनिवेशात् । न च तथापि दण्डादेः विशिष्टाभावोभयाभावमादायाऽव्याप्तिरिति वाच्यम्, अप्रतियोगित्वशब्देन प्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वविवक्षणात् । न चैवं सति पृथक् पूर्ववृत्तित्वविशेषणं व्यर्थमिति वाच्यम्, इष्टापत्तेः, एतादृशव्यापकत्वलाभायैव तदुपादानात् । तथा च संयोगसम्बन्धावच्छिन्नोत्पत्त्यवच्छेदकत्वसम्बन्धेन घटत्वावच्छिन्नाधिकरणे घटाऽव्यवहितप्राक्कालावच्छेदेन दैशिकविशेषणतासम्बन्धेन वर्तमानो योऽभावः तादृशाभावीयकारणतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वं दण्डनिष्ठघटकारणत्वमिति फलितम् ।

नन्वेवमपि तादृशप्रमेयत्वरूपधर्ममादाय रासभादेः कारणत्वापत्तिः, रासभादेः तादृशप्रमेयत्वरूपधर्मवत्त्वेऽपि तेषामन्यथासिद्धत्वाभावात् हेतुतापत्तिरिति चेन्न, अन्यथासिद्ध्यनिरूपकत्वेनाऽपि धर्मस्य विशेषणीयत्वात्, प्रमेयत्व-द्रव्यत्वादीनां दण्डत्वव्यापकधर्मत्वेन तेषामन्यथासिद्ध्यनिरूपकत्वात् । न चैवमपि रासभत्वादीनामपि अन्यथासिद्ध्यनिरूपकत्वादेव तेन रूपेण रासभादीनां कारणत्वापत्ति-

हो जाता है कि घट की अपेक्षा कपाल में जरूर कोई परिणामविशेष रहता है । वही घटकारणतापद से व्यवहर्तव्य है । यह स्याद्वादियों का सिद्धान्त है ।

नैयायिकसंमत कारणता एवं अन्यथासिद्धि का निरूपण

अन्ये. । यहाँ नैयायिकों का यह कथन है कि कारणता दूसरा कुछ नहीं है किन्तु अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तिता ही कारणता है । जैसे कि घट के प्रति दण्ड अनन्यथासिद्ध एवं नियत पूर्ववर्ती होने से दण्ड घटकारण कहा जाता है । यदि अनन्यथासिद्धत्व का कारणता के शरीर में निवेश न किया जाय तब तो दण्डरूप, दण्डत्व, आकाश आदि में भी घटकारणता के स्वीकार की आपत्ति आयेगी, क्योंकि वे भी नियमेन घटोत्पादपूर्ववर्ती हैं । उसके निवारणार्थ अनन्यथासिद्ध ऐसा कहा गया है । कार्योत्पत्ति से अव्यवहित पूर्ववर्तिता तो कदाचित् आनेवाले रासभ (गधा) में भी हो सकती है तो उसे भी घटोत्पत्ति में कारण कहना होगा। अतः इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'नियत' ऐसा कहा गया है । यदि पूर्ववर्ती न कहा जाय तब तो अनुत्पन्न या मृत कुलालादि में भी साम्प्रत काल में उत्पन्न होनेवाले घट की कारणता का व्यवहार होने की आपत्ति आयेगी । अतः तन्निवारणार्थ पूर्ववर्ती ऐसा कहा गया है । अतः अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति नियतत्वे सति कार्याव्यवहितपूर्ववृत्तिता को ही कारणता कहना संगत है । यहाँ 'अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति' ऐसा जो कहा गया है उसके घटक अन्यथासिद्ध के पाँच प्रकार हैं । उसमें पहला अन्यथासिद्ध वह है जो येन सहैव कार्यपूर्ववृत्तित्वग्रह का आश्रय हो । जिसका किसीके साथ ही कार्य के प्रति पूर्ववृत्तित्व हो, न कि स्वतंत्र वह प्रथम अन्यथासिद्ध है । अर्थात् किसी कार्य के प्रति जिस वस्तु का अन्वय एवं व्यतिरेक स्वतन्त्ररूप से नहीं बन सकता है, अपितु कारण को लेकर ही जिसके अन्वय-व्यतिरेक का निश्चय जिस कार्य के प्रति किया जाय उस कार्य के प्रति वह वस्तु अन्यथासिद्ध है । जैसे घट के प्रति दण्डरूप । घट के प्रति दण्डरूप का

तच्चाऽन्यथासिद्धं पञ्चविधम् । तत्र येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तत्र तत् आद्यम् । न च दण्डत्वादिना दण्डादेर्दण्डादिना दण्डसंयोगादेर्वाऽन्यथासिद्धिः, पृथगन्वय-व्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वे सति पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोग्यवच्छिन्नान्वयव्यतिरेकप्रति-

❋ जयलता ❋

वारणसम्भवेऽनन्यथासिद्धत्वविशेषणवैयर्थ्यमिति वाच्यम्, इष्टापत्तेः, अन्यथासिद्धत्वनिरूपकधर्मलाभायैव तादृशविशेषणोपादानादिति **मुक्तावलीप्रभाकारः** । एतच्चाग्रे स्फुटीभविष्यति ।

इहान्यथासिद्धिशून्यत्वं न विशेषणम्, अन्यथासिद्धेरनुगताया अभावात् किन्तु यत्र यत्रान्यथासिद्धिव्यवहारः तत्तद्व्यक्तित्वाभाव-कूटवत्त्वं तत्तद्व्यक्तिभेदकूटवत्त्वं वा विशेषणम् । न च तत्तद्व्यक्तिभेदकूटस्यैव विशेषणत्वेऽन्यथासिद्धिनिर्वचनायासवैयर्थ्यमिति वाच्यम्, तत्तद्व्यक्तिपरिचयायैव तन्निर्वचनादिति **मुक्तावलीमञ्जूषाकारः** । नियतपूर्ववृत्तित्वमिति नियतपूर्ववृत्तिजातीयत्वमित्यर्थः । तेनाऽरण्यस्थदण्डादावपि स्वरूपयोग्यतासम्पत्तिः तज्जातीयत्वञ्च नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकदण्डत्वादिमत्त्वमेवेति **महादेवः** । न च दण्डत्ववद् द्रव्यत्वादिकमपि नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकमेवेति पटादीनामपि घटकारणतापत्तिरिति वाच्यम्, नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकपदेन लघुनियतपूर्ववर्तितावच्छेदकस्योक्तत्वात् । द्रव्यत्वस्य घटनियतपूर्ववर्तितावच्छेदकत्वेन तस्यैव घटकारणतारूपत्वेऽनन्तद्रव्येषु घटकारणत्व-कल्पनापत्त्या गौरवाद् दण्डत्वादिकमेव लघ्विति **रामरुद्रभट्टः** ।

तत्र = निरुक्तकारणत्वे, सप्तम्यर्थो घटकत्वं, ततः निरुक्तकारणत्वघटकीभूतं **अन्यथासिद्धं पञ्चविधम्** । मणिकारमते च त्रिविधमन्यथासिद्धमिति ध्येयम् । **तत्र** = पञ्चविधाऽन्यथासिद्धत्वे **येन** दण्डादिना **सहैव यस्य** दण्डरूपादेः **यं** = घटादिकं **प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते** = ज्ञायते **तत्र** = घटादौ कार्ये **तेन** दण्डादिना **तत्** = दण्डरूपादि अन्यथासिद्धं **आद्यम्** । यथा घटं प्रति दण्डरूपादेः । दण्डादिना सहैव दण्डरूपादेर्घटादिकं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहाद् दण्डरूपादिकं घटं प्रत्यन्यथासिद्धम् ।

मुसलगाँवकरस्तु- 'दण्डरूपस्य घटम्प्रति न स्वतन्त्रतया पूर्वभावः किन्तु स्वकारणस्य दण्डस्य पूर्वभावं गृहीत्वैव दण्ड-रूपस्यापि घटम्प्रति पूर्वभावो गृह्यते । अतः दण्डरूपं घटोत्पत्तेः पूर्वक्षणे सदपि अन्यथासिद्धमेवेत्याह ।

नन्वेवं सति घटं प्रति दण्डादेरपि दण्डत्वादिनाऽन्यथासिद्धत्वप्रसङ्गः दण्डत्वादिना सहैव दण्डादेर्घटादिकं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहात् । एवं दण्डादिना सहैव दण्डसंयोगादेर्घटादिकं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहाद् दण्डसंयोगादेरपि दण्डादिना घटं प्रत्यन्यथासिद्धत्वमापद्येत । न वा दण्डादिना दण्डरूपादेरपि घटं प्रत्यन्यथासिद्धत्वं स्यात्, अविशेषादित्याशङ्कामपाकर्तुमुपक्रमते - **न चेति** । शङ्काग्रन्थो विभावित एव । समादधते - **पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वे सति** = स्वातन्त्र्येण तत्कार्यनिरूपितान्वयव्यतिरेकनिरूपित-

अन्वय-व्यतिरेक अपने कारण दण्ड को लेकर ही बन पाता है । इसलिये दण्डरूप घट के प्रति अन्यथासिद्ध हो जाता है। दण्डरूप को दण्ड से कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता है । अन्वय का अर्थ है स्वकाल में अपने अधिकरण में कार्य का होना । व्यतिरेक का अर्थ है अपने अभाव के अधिकरण में कार्य का न होना ।

आद्य अन्यथासिद्ध का परिष्कृत स्वरूप

न च दण्ड. । यहाँ इस शंका का कि → 'जैसे दण्ड से दण्डरूप घट के प्रति अन्यथासिद्ध बताया गया है ठीक वैसे ही दण्डत्वादि से दण्ड एवं दण्ड से दण्डसंयोग भी घट के प्रति अन्यथासिद्ध बन जायेंगे, क्योंकि जैसे घट के प्रति दण्डरूप का अन्वय-व्यतिरेक दण्ड को लेकर ही बन पाते हैं ठीक वैसे घट के प्रति दण्ड का अन्वय-व्यतिरेक दण्डत्व को लेकर ही मुमकिन है एवं दण्डसंयोग का अन्वय-व्यतिरेक अपने कारण दण्ड को लेकर ही हो सकता है' ← समाधान यह है कि यहाँ प्रथम अन्यथासिद्धविधया वह विवक्षित है जो पृथक् अन्वय-व्यतिरेक के प्रतियोगी से भिन्न होते हुए पृथक् अन्वय-व्यतिरेक के प्रतियोगी = कारण से अवच्छिन्न अन्वय-व्यतिरेक का प्रतियोगी हो । अब घट के प्रति दण्डसंयोग को दण्ड से अन्यथासिद्ध नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि दण्ड के होते हुए भी दण्डसंयोग के व्यतिरेक से घटोत्पत्ति का व्यतिरेक प्रसिद्ध होने से दण्डसंयोग पृथक् अन्वय-व्यतिरेक के प्रतियोगी से भिन्न नहीं है, अपितु पृथक् अन्वय-व्यतिरेक का प्रतियोगी ही है । इस तरह स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धेन दण्डत्वादि होने पर दण्डादि का व्यतिरेक ही असिद्ध होने से पृथगन्वयव्यतिरेक के प्रतियोगी से विशिष्ट अन्वय-व्यतिरेक का प्रतियोगित्व दण्डादि में नहीं रहेगा। इस तरह विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव से दण्डसंयोग आदि में अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति का परिहार हो जाता है । एवं विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव से दण्डादि में घट की अपेक्षा दण्डत्वादि से अन्यथासिद्धत्व का निवारण हो जाता है । इसलिए पृथगन्वयव्यतिरेकाऽप्रतियोगित्वे सति पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिविशिष्ट अन्वय-

योगित्वस्य विवक्षितत्वात् ।

नन्वत्र स्वान्वयव्यतिरेकाऽव्यापकत्वस्य पृथक्पदार्थत्वे सत्यन्तवैयर्थ्यम्, दण्डान्वयव्यतिरेकयोर्दण्डसंयोगान्वयव्यतिरेकव्यापकत्वात् । न हि दण्डसंयोगे सति दण्डव्यतिरेकेण कार्यव्यतिरेकः सम्भवी । न च चक्षुःकपालादिना तत्संयोगस्यान्यथासिद्धिवारणार्थं तत्;

❀ जयलता ❀

प्रतियोगिताशून्यत्वे सति, **पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोग्यवच्छिन्नान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वस्य** = तत्कार्यनिरूपितस्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकनिरूपितप्रतियोगिताश्रयविशिष्टान्वयव्यतिरेकनिरूपितस्य प्रतियोगित्वस्य **विवक्षितत्वात्** । कार्योत्पादं प्रति पृथगन्वयव्यतिरेकाऽप्रतियोगित्वे सति यः पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिनियन्त्रितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगी स तत्कार्यं प्रति प्रथमोऽन्यथासिद्ध इत्यर्थः । तेन दण्डत्वादिना दण्डादेर्नान्यथासिद्धिः न वा दण्डसंयोगादेर्दण्डत्वादिना; सत्यपि दण्डादौ विना दण्डसंयोगादिना घटादिलक्षणकार्यव्यतिरेकात्तस्य पृथगन्वयादिमत्त्वात् । न चैवं दण्डादेरपि पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वादेव दण्डत्वादिनाऽन्यथासिद्धिः येन 'पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगी'ति व्यर्थम्, स्वाश्रयसंयोगेन सति दण्डत्वादौ दण्डादिव्यतिरेकाऽसिद्धेर्दण्डादेरतथात्वात् । ततो विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टाभावान्न दण्डादेरन्यथासिद्धत्वं, विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावान्न दण्डसंयोगादेरन्यथासिद्धिरिति भावः ।

एवं स्थिते कश्चिच्छङ्कते- **नन्विति** अग्रे चेदित्यनेनास्यान्वयः । **अत्र** = आद्यान्यथासिद्धिलक्षणे, **स्वान्वयव्यतिरेकाऽव्यापकत्वस्य** तदन्वयव्यतिरेकानियतान्वयव्यतिरेकशालित्वस्य, पृथक्पदार्थत्वे विवक्षिते तु **सत्यन्तवैयर्थ्यं** = पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोग्यवच्छिन्नान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वेनैव यथोक्तोपपादनसम्भवात् पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वे सतीत्यस्य निष्फलत्वम्, **दण्डान्वयव्यतिरेकयोः दण्डसंयोगान्वयव्यतिरेकव्यापकत्वात्** । यत्र समवायेन दण्डसंयोगस्तत्र संयोगेन दण्डः कार्योत्पादश्च । यत्र च समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकदण्डसंयोगाभावस्तत्र संयोगावच्छिन्नप्रतियोगिताकदण्डाभावः कार्योत्पादाभावश्च इत्येवमन्वयव्यतिरेकयोः दर्शनेन तादृशव्याप्यव्यापकभावलाभात् । **न हि दण्डसंयोगे सति दण्डव्यतिरेकेण कार्यव्यतिरेकः सम्भवी** । दण्डव्यतिरेके दण्डसंयोगस्यैवाऽसम्भवात्, व्यापकाभावस्य व्याप्याभावसाधकत्वात् । इत्थञ्च दण्डसंयोगादौ दण्डादिव्यतिरेकाद् घटादिव्यतिरेकासिद्धेर्दण्डान्वयव्यतिरेकयोर्दण्डसंयोगान्वयव्यतिरेकाव्यापकत्वाभावात् पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोग्यनियन्त्रितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगितया दण्डसंयोगादेरनन्यथासिद्धौ पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वस्य वैफल्यमेवेति सिद्धम् ।

न च चक्षुःकपालादिना तत्संयोगस्य = चक्षुःकपालसंयोगस्य, कपालचाक्षुषं प्रति **अन्यथासिद्धिवारणार्थं तत्** =

व्यतिरेक की प्रतियोगितास्वरूप प्रथम अन्यथासिद्धि फलित होती है ।

❋ अन्यथासिद्धि के विशेषण की व्यर्थता की शंका एवं उसका निरसन ❋

पूर्वपक्ष :- नन्वत्र. । प्रथम अन्यथासिद्धि के लक्षण में निविष्ट पृथक्पदार्थ को यदि अपने अन्वय-व्यतिरेक की व्यापकता के अभावस्वरूप माना जाय तब तो पृथक् अन्वय-व्यतिरेक के प्रतियोगी से भिन्नत्व पर्यन्त जो विशेषण प्रथम अन्यथासिद्ध के लक्षण में प्रविष्ट है वह व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि पृथगन्वय-व्यतिरेक के प्रतियोगी से अवच्छिन्न = नियन्त्रित अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगितास्वरूप विशेष्यांश का ग्रहण करने से ही दण्डादि से दण्डसंयोगादि में घट के प्रति अन्यथासिद्धत्व का परिहार हो सकता है । दण्डसंयोग के अन्वय एवं व्यतिरेक के व्यापक हैं दण्ड के अन्वय-व्यतिरेक । दण्डसंयोग के होने पर अवश्य दण्ड होता है और घट की निष्पत्ति भी होती है । एवं दण्ड की अनुपस्थिति में दण्डसंयोग का भी अवश्य व्यतिरेक होता है और घटानुत्पत्ति रहती है । कभी भी दण्डसंयोग के होने पर दण्ड के व्यतिरेक = अभाव से कार्य घट का अभाव (व्यतिरेक) नहीं हो सकता है, क्योंकि दण्डसंयोग की उपस्थिति में दण्ड का व्यतिरेक ही नामुमकिन है । मतलब यह है कि पृथक्शब्द व्यवहार में स्वतन्त्र अर्थ में प्रसिद्ध है । अर्थात् जिसका होना या न होना अन्य किसीके होने और न होने पर अवलम्बित नहीं हो उसके अन्वयव्यतिरेक में स्व = कारण के अन्वय-व्यतिरेक की अव्यापकतास्वरूप पृथक्त्व रहेगा - यह अर्थ मान्य करने पर विशेष्य अंश से ही दण्ड, दण्डसंयोग आदि में अन्यथासिद्धत्व का वारण हो जाता है; क्योंकि दण्ड, दण्डसंयोग आदि के अन्वय-व्यतिरेक में विवक्षित पृथक्त्व = कारणान्वयव्यतिरेकाऽव्यापकत्व नहीं होने से पृथगन्वयव्यतिरेक-प्रतियोगिनियन्त्रितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगिता नहीं रहती है ।

न च च. । यहाँ यह कहना कि —> ''चक्षुकपालादि से चक्षुकपालसंयोग की चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति अन्यथासिद्धि के वारण के लिए 'पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वे सति' इस विशेषण का अन्यथासिद्ध के लक्षण में प्रवेश करना अनिवार्य

तथापि दण्डरूपादावव्याप्त्यनुद्धारात्, दण्डत्वादित इव दण्डरूपादितो दण्डादेः पृथगन्वयाद्यभावात् । न च तज्ज्ञानं विना ज्ञायमानत्वस्य तदर्थत्वान्नायं दोषः, दण्डरूपज्ञानं विनैव

❋ जयलता ❋

पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वोपादानं सार्थकं, चक्षुःकपालसंयोगे सत्यपि चक्षुःकपालादिनाशकाले तद्व्यतिरेके कार्यव्यतिरेका-चक्षुःकपालादेः पृथगन्वयादिमत्त्वाच्चक्षुःकपालसंयोगे पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिचक्षुःकपालनियन्त्रितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगितायाः सत्त्वात् । तन्निवेशे च न कपालचाक्षुषं प्रति चक्षुःकपालसंयोगस्यान्यथासिद्धत्वप्रसङ्गः, तस्य पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वेन विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावाश्रयत्वादिति वाच्यम्, **तथापि** = चक्षुःकपालादिना तत्संयोगान्यथासिद्धिनिराकरणाय तदुपादानस्य सार्थकत्वेऽपि, घटं प्रति **दण्डरूपादौ अव्याप्त्यनुद्धारात्** = प्रथमान्यथासिद्धिलक्षणाऽव्याप्तेरवस्थलपाथिनत्वात् । तत्र नवुगादौ हेतुमाह - **दण्डत्वादित इव दण्डरूपादितः दण्डादेः पृथगन्वयाद्यभावात्** । न हि दण्डरूपादौ सति दण्डव्यतिरेकेण घटोत्पादव्यतिरेकः सम्भवति । अतो दण्डाद्यन्वय-व्यतिरेकयोः दण्डरूपाद्यन्वयव्यतिरेकव्यापकत्वेन निरुक्तपृथक्त्वविरहेण पृथगन्वय-व्यतिरेकप्रतियोगित्वं दण्डादौ न सम्भवति । अतो दण्डरूपादौ पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वलक्षणस्य विशेषणांशस्य सत्त्वेऽपि पृथगन्वयव्यतिरेकनिरूपितप्रतियोगित्वविशिष्टदण्डाद्यन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वस्य विशेष्यांशस्याऽसत्त्वेन नाद्यान्यथासिद्धलक्षणसम्भवः । यद्यपि दण्डरूपादौ दण्डाद्यन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वमस्त्येव किन्तु दण्डादौ निरुक्तरीत्या पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वं नास्तीति दण्डरूपादौ पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिनियन्त्रितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वस्याऽसत्त्वम् । ततो निरुक्ताद्यान्यथासिद्धलक्षणस्य दण्ड-रूपादावव्याप्तिर्दुर्वारेति नवुवादितात्पर्यमिति ध्येयम् ।

न च तज्ज्ञानं विना ज्ञायमानत्वस्य तदर्थत्वात् = पृथक्पदार्थत्वात् **नायं** दण्डरूपादावन्यथासिद्धत्वाव्याप्तिलक्षणः दोषः, तज्ज्ञानविरहप्रयुक्तज्ञानविषयत्वाभावानाश्रयत्वं पृथक्पदप्रतिपाद्यमिति भावः । दण्डान्वयव्यतिरेकयोः पृथक्त्वसङ्गतिः कथं ? उच्यते,

है, क्योंकि वैसा न कहने पर तो चक्षुकपालसंयोग होने पर भी चक्षु या कपाल के नाश की उत्पत्ति क्षण में चक्षु या कपाल के व्यतिरेक से कपालचाक्षुष का व्यतिरेक = अनुत्पाद होने से चक्षु एवं कपालसंयोग में भी पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगी चक्षुःकपाल से नियन्त्रित अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता रहती है । इस तरह चक्षुकपालसंयोग में प्रसक्त अन्यथासिद्धत्व का परिहार तभी हो सकता है यदि 'पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वस्वरूप विशेषण का प्रथम अन्यथासिद्ध के लक्षण में निवेश किया जाय, क्योंकि चक्षु एवं कपाल के होने पर भी चक्षुकपालसंयोग के व्यतिरेक से कपालचाक्षुषात्मक कार्य का व्यतिरेक = अनुत्पाद प्रसिद्ध होने से पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्व चक्षुकपालसंयोग में नहीं रहता है । चक्षुकपालसंयोग भी पृथगन्वयव्यतिरेक का प्रतियोगी ही है । इस तरह कपालचाक्षुष प्रत्यक्षात्मक कार्य के प्रति चक्षु या कपाल आदि से चक्षुकपालसंयोग में अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति के निवारणार्थ आद्य अन्यथासिद्ध के लक्षण में पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्व का विशेषणविधया निवेश करना आवश्यक है - यह फलित होता है'' <— भी ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षुकपालसंयोग में अन्यथासिद्धत्व के परिहारार्थ भले ही पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभेद का प्रथम अन्यथासिद्ध के शरीर में निवेश किया जाय फिर भी घट के प्रति दण्डरूप आदि में अन्यथासिद्ध के लक्षण की अव्याप्ति का परिहार हो सकता नहीं है । इसका कारण यह है कि जैसे दण्डादि का पृथक् अन्वय-व्यतिरेक दण्डत्व को छोड़ कर हो सकता नहीं है ठीक वैसे ही दण्डरूपादि को छोड़ कर भी हो सकता नहीं है । पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्व दण्डरूपादि में होने पर भी दण्डादि के अन्वय-व्यतिरेक में दण्डरूपान्वयव्यतिरेकाऽव्यापकत्व नहीं होने से दण्डादि में पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्व ही नहीं होने की वजह पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगि ऐसे दण्डादि से नियन्त्रित अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता दण्डरूपादि में रहती नहीं है । विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव दण्डरूपादि में सुलभ होने की वजह दण्डरूपादि घट के प्रति अन्यथासिद्ध बन सकते नहीं हैं ।

न च त. । यदि उक्त अव्याप्ति के निवारणार्थ यह कहा जाय कि —> ''पृथक्पद का अर्थ है उसके ज्ञान के बिना ज्ञायमानत्व। मतलब कि अन्य किसीके ज्ञान के बिना जिसके अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान हो सके वे अन्वय-व्यतिरेक पृथगन्वय-व्यतिरेकशब्द से ग्राह्य हैं । अब तो दण्ड के अन्वय-व्यतिरेक में पृथगन्वयव्यतिरेकत्व के अभाव की आपत्ति को अवकाश नहीं है, क्योंकि दण्डरूप के ज्ञान के बिना ही दण्ड के अन्वय एवं व्यतिरेक का ज्ञान हो सकता है । यह कोई राजाज्ञा नहीं है कि दण्डरूप का ज्ञान न होने पर दण्ड के अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान न हो । इस तरह दण्डान्वयव्यतिरेक पृथगन्वयव्यतिरेक-स्वरूप सिद्ध हो जाने की वजह पृथगन्वय-व्यतिरेकप्रतियोगिभिन्न दण्डरूप में पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगी = दण्ड से नियन्त्रित अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता भी रहती है । अतः दण्डरूप में अन्यथासिद्ध के लक्षण की अव्याप्ति को अवकाश नहीं

दण्डान्वय-व्यतिरेकयोर्ज्ञायमानत्वादिति वाच्यम्, एवं सति दण्डज्ञानं विनाऽज्ञायमानान्वय-व्यतिरेकप्रतियोगिनो दण्डसंयोगस्यान्यथासिद्धत्ववारणादिति चेत् ?

अत्र वदन्ति- प्रथमपृथक्पदस्य स्वान्वयघटकाऽघटितत्वार्थकत्वान्नायं दोषः; दण्डरूपाद्यन्वयस्य दण्डाद्यन्वयघटकसम्बन्धघटितत्वात् ।

॥ जयलता ॥

दण्डरूपज्ञानं विनैव **दण्डान्वयव्यतिरेकयोः ज्ञायमानत्वात्** । ननु दण्डान्वयव्यतिरेकयोः पृथक्त्वानपायात् पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्ने दण्डरूपादौ पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिदण्डनियन्त्रितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वस्याऽप्यन्यवात् दण्डरूपादौ प्रथमान्यथासिद्धलक्षणाऽव्याप्तिरिति **वाच्यम्; एवं सति** = तदग्रहप्रयुक्ताज्ञायमानत्वशून्यस्य पृथक्पदार्थत्वे सति **दण्डज्ञानं विनाऽज्ञायमानान्वयव्यतिरेकप्रतियोगिनः दण्डसंयोगस्य** घटं प्रति **अन्यथासिद्धत्ववारणात्** । दण्डसंयोगे पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वस्य दण्डसंयोगं विना ज्ञायमानान्वयव्यतिरेकप्रतियोगिदण्डनियन्त्रितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वस्य च सत्त्वात् । तत एकं संधित्सतोऽपरप्रच्युतिः ।

वस्तुतस्तु विनापि दण्डादिज्ञानं रूपत्वादिना दण्डरूपादौ घटादिपूर्ववृत्तित्वग्रहसम्भवाद्रूपत्वादिना दण्डरूपादेः घटकारणत्वप्रसङ्गः । प्रत्यक्षेण ग्रहे नियमोक्तौ च द्व्यणुकादिकं प्रति परमाण्वादिना तद्रूपादेरन्यथासिद्धत्वानापत्तिः । नियमाऽविवक्षायां तु वैयर्थ्यमपि स्यादिति फक्किकातात्पर्यम् ।

अत्र सिद्धान्तिनो नैयायिका **वदन्ति- प्रथमपृथक्पदस्य** = पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वमित्यत्र गृहीतस्य पृथक्पदस्य, **स्वान्वयघटकाघटितत्वार्थकत्वान्न अयं** दण्डरूपादावाद्यान्यथासिद्धलक्षणाऽव्याप्तिलक्षणो **दोषः** । ततश्च स्वान्वयघटकाऽघटितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वं सतीति विशेषणार्थः । अतो न दण्डरूपादावव्याप्त्यनुद्धारः **दण्डरूपाद्यन्वयस्य दण्डाद्यन्वयघटकसम्बन्धघटितत्वात्** दण्डरूपादेः स्वाश्रयवत्त्वसम्बन्धेन = दण्डघटितपरम्परासम्बन्धेनैवान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वात् दण्डरूपादेः दण्डान्वयघटकघटितसम्बन्धावच्छिन्नान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वेन दण्डान्वयघटकाऽघटितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वात्प्रथमाद्यान्यथासिद्धलक्षणाऽव्याप्तिप्रसङ्गः । दण्डादेस्तु दण्डरूपादितः नाऽन्यथासिद्धत्वं, दण्डाद्यन्वयस्य दण्डरूपाद्यन्वयघटकतत्समवायाऽघटितत्वात् । दण्डादेः स्वजन्यव्यापारवत्त्वसम्बन्धेनान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वमिति तत्र स्वाश्रयत्वेन दण्डनिवेशान्न घटकारणत्वप्रसङ्गः; तस्य घटं प्रति नियतपूर्ववृत्तित्वेऽपि अनन्यथासिद्धत्वविरहेण विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाववत्त्वात् ।

है । विशेषण एवं विशेष्य के होने पर विशिष्ट के अभाव का रहना नामुमकिन है'' <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो दण्डसंयोग में अन्यथासिद्धि की आपत्ति आयेगी, जिसका वारण नहीं हो सकेगा । देखिये, दण्ड के ज्ञान के बिना दण्डसंयोग के अन्वय एवं व्यतिरेक का ज्ञान नहीं हो सकता है । अतः दण्डसंयोगान्वयव्यतिरेक में पृथक्त्व नहीं रह सकता । तब तो दण्डसंयोग में पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्व, जो आद्य अन्यथासिद्ध के लक्षण का विशेषण अंश है, रह जायेगा एवं पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगी दण्ड से अवच्छिन्न = नियन्त्रित अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता भी दण्डसंयोग में रहती है । इस तरह विशेषण एवं विशेष्य अंश दण्डसंयोग में रह जाने की वजह दण्डसंयोग भी घट के प्रति अन्यथासिद्ध बन जायेगा । इसलिए प्रथम अन्यथासिद्ध का प्रदर्शित लक्षण निर्दोष नहीं है - यह सिद्ध होता है ।

❖ पृथक्पदार्थनिर्वचन - नैयायिक ❖

उत्तरपक्ष :- अत्र वद. । जनाब ! हीरे की परख तो जौहरी ही जाने । पृथक्पदार्थ का संगत स्वरूप तो हम नैयायिक ही जानते हैं । आद्य अन्यथासिद्ध के लक्षण के विशेषण अंश में जो पृथक् पद है उसका अर्थ है **स्वान्वयघटकाघटितत्व** । अतः **पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्व** का अर्थ होगा स्वान्वयघटकाऽघटितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभेद । ऐसा अर्थघटन करने पर घट के प्रति दण्डरूप आदि में अन्यथासिद्धत्व के लक्षण की अव्याप्ति नहीं आयेगी, क्योंकि दण्डरूप आदि का अन्वय दण्डादि के अन्वय के घटक सम्बन्ध से घटित होने से दण्डरूपादि में दण्डादि के अन्वय के घटक से घटित अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता रहती है । अतएव दण्डरूप आदि में पृथक् = दण्डान्वयघटकाऽघटित अन्वय-व्यतिरेक के प्रतियोगि का भेद रह जाने से आद्य अन्यथासिद्ध का विशेषणांश अबाधित है । पूर्वोक्त रीति से पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगि दण्ड से अवच्छिन्न अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगितास्वरूप विशेष्य अंश तो दण्डरूपादि में रहता ही है । अतः घट के प्रति दण्डरूप को अन्यथासिद्ध मानने में कोई क्षति नहीं है । दण्ड स्वजन्यव्यापारवत्त्वसम्बन्ध से घट को उत्पन्न करता है जब कि दण्डरूप को घटकारण मानने पर स्वाश्रयजन्यव्यापारसम्बन्ध को कारणतावच्छेदकसम्बन्ध मानना होगा । इस तरह दण्डरूपादि के अन्वय में स्वाश्रयविधया दण्ड का ग्रहण करना आवश्यक बनता है । अतएव दण्डरूपादि में घट के प्रति नियतपूर्ववृत्तिता होने पर भी कारणता नहीं

न चैवं स्वजन्यव्यापारसम्बन्धेन दण्डस्य हेतुत्वाद् दण्डसंयोगस्य तेन तथात्वं न स्यादिति वाच्यम्, स्वत्वघटितजन्यताभेदेन सम्बन्धभेदात् ।

वस्तुतः पृथगित्यादेः तदन्वयादिभिन्नान्वयादिमत्त्वार्थकत्वेऽपि न क्षतिः । निरुक्तरूपेण

❋ जयलता ❋

न च एवं = तदन्वयघटकाघटितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वस्य पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभेदत्वे स्वीक्रियमाणे सति घटं प्रति **स्वजन्यव्यापारसम्बन्धेन** = स्वनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यत्वविशिष्टभ्रमणात्मकव्यापारवत्त्वसंसर्गेण **दण्डस्य** = दण्डत्वावच्छिन्नस्य **हेतुत्वात् दण्डसंयोगस्य तेन** = स्वजन्यव्यापारसम्बन्धेन **तथात्वं** = घटहेतुत्वं **न स्यात्**, तस्य दण्डान्वयघटकघटितान्वयव्यतिरेकनिरूपितप्रतियोगिताश्रयत्वेन दण्डान्वयघटकाऽघटितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वे सति पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिदण्डावच्छिन्नान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वादिति विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टकारणत्वाभावस्य तत्र सत्त्वादिति **वाच्यम्; स्वत्वघटितजन्यताभेदेन सम्बन्धभेदात्** = दण्ड-तत्संयोगकारणतावच्छेदकसम्बन्धभेदात् । अयं भावः दण्डः संयोगेन चक्रभ्रमणं प्रति कारणं दण्डसंयोगस्तु समवायेन । ततः चक्रभ्रमणस्वरूपे व्यापारे या दण्डनिष्ठ-संयोगसम्बन्धावच्छिन्नजनकतानिरूपिता जन्यता ततो भिन्नैव दण्डसंयोगनिष्ठ - समवायसम्बन्धावच्छिन्नजनकतानिरूपिता जन्यता । अत एव घटं प्रति दण्डस्य स्वनिष्ठसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यत्वविशिष्टव्यापारवत्त्वसम्बन्धेन कारणत्वं दण्डसंयोगस्य च स्वनिष्ठसमवायसम्बन्धावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यत्वविशिष्टव्यापारवत्त्वसम्बन्धेन कारणत्वम् । ततश्च दण्डसंयोगान्वयस्य न दण्डान्वयघटकघटितत्वम् । अत एव दण्डसंयोगे दण्डान्वयघटकाऽघटितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वमव्याहतम् । ततो न दण्डसंयोगे पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वम् । इत्थञ्च विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टान्यथासिद्धलक्षणविरहेण न घटं प्रति दण्डसंयोगस्याद्यान्यथासिद्धत्वप्रसङ्गः । **एतेन** दण्डसंयोगस्य स्वजन्यव्यापारसम्बन्धेन घटहेतुत्वं न स्यादिति **प्रत्युक्तम्;** शब्दाऽभेदेऽप्यर्थभेदेन अनन्यथासिद्धत्वस्वीकर्तव्याऽनपायात् ।

ननु प्रथमपृथक्पदस्य तदन्वयघटकाघटितत्वार्थकत्वं द्वितीयपृथक्पदस्य च तदन्वयव्यतिरेकाऽव्यापकत्वार्थकत्वमित्यननुगमेन गौरवमित्याशङ्कायामाह - **वस्तुत** इति । **पृथगित्यादेः** संपूर्णस्य प्रथमान्यथासिद्धलक्षणस्य **तदन्वयादिभिन्नान्वयादिमत्त्वार्थकत्वेऽपि** = तदन्वयव्यतिरेकभिन्नान्वयव्यतिरेकवत्त्वार्थकत्वेऽपि **न क्षतिः** = न दण्डरूपादावाद्यान्यथासिद्धलक्षणाऽव्याप्तिः । **निरुक्तरूपेण**

१८ सकती है - यह फलित होता है ।

न चैवं. । यहाँ इस शंका का कि —> 'पृथक्पद को स्वान्वयघटकाघटितत्वार्थक मानने पर तो दण्डसंयोग घट का कारण न बन सकेगा, क्योंकि दण्ड घट के प्रति स्वजन्यव्यापारसम्बन्ध से कारण है एवं दण्डसंयोग भी स्वजन्यव्यापारसम्बन्ध से ही घट का कारण है मगर स्वजन्यव्यापारसम्बन्ध से दण्डसंयोग कारण नहीं हो सकेगा, क्योंकि तब दण्डान्वयघटक से घटित सम्बन्ध से ही दण्डस ाग में अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता प्राप्त होने से दण्डसंयोग में दण्डान्वयघटकाऽघटित अन्वय-व्यतिरेक के प्रतियोगी का भेद एवं पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगि दण्ड से नियन्त्रित अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता रह जाने से प्रथम अन्यथासिद्ध का लक्षण रह जायेगा । तब तो दण्ड से दण्डरूप की भाँति दण्डसंयोग को भी घट के प्रति अन्यथासिद्ध मानना पड़ेगा' <— समाधान यह है कि स्वत्वघटित जन्यता के भेद से सम्बन्ध बदल जाता है । आशय यह है कि स्वविलक्षण-संयोगसम्बन्ध से दण्ड चक्र में भ्रमणस्वरूप व्यापार को उत्पन्न करता है जब कि दण्डसंयोगविशेष समवायसम्बन्ध से चक्र में रह कर भ्रमिस्वरूप व्यापार को उत्पन्न करता है । अतः भ्रमणस्वरूप व्यापार में रहनेवाली दण्डजन्यता एवं दण्डसंयोगजन्यता भिन्न बनने की वजह स्वजन्यत्वविशिष्टव्यापारात्मक सम्बन्ध भी बदल जाता है । मतलब कि एक ही सम्बन्ध से दण्ड एवं दण्डसंयोग चक्रभ्रमण के जनक नहीं है । अतः जन्यता के भेद से उससे घटित वह सम्बन्ध भिन्न हो जाने से दण्डान्वय के घटक से दण्डसंयोगान्वय घटित बनता नहीं है । इसलिए दण्डान्वयघटकघटितान्वयव्यतिरेक की प्रतियोगिता दण्डसंयोग में रह सकती नहीं है । तब तो दण्डान्वयघटकाऽघटित अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता दण्डसंयोग में रह जाने से पृथगन्वय-व्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नता दण्डसंयोग में न रहेगी । इस तरह विशेषणांश के विरह से प्रयुक्त विशिष्टाभाव दण्डसंयोग में रह जाने से आद्य अन्यथासिद्ध के लक्षण की दण्डसंयोग में प्रवृत्ति न हो सकेगी । अतएव अनन्यथासिद्धत्व एवं घटनियतपूर्ववृत्तित्व दण्डसंयोग में अबाधित रहने से दण्डसंयोग में घट के प्रति कारणता निराबाध है - यह सिद्ध होता है ।

वस्तुतः । मगर वस्तुस्थिति को लक्ष्य में ली जाय तब पृथगित्यादि जो प्रथम अन्यथासिद्ध का लक्षण बनाया गया है उसका अर्थ यही फलित होता है कि उसके =कारण के अन्वय-व्यतिरेक से भिन्न अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता का आश्रय आद्य अन्यथासिद्ध है । दण्डरूप आदि का अन्वय-व्यतिरेक स्वाश्रयजन्यव्यापार सम्बन्ध से है । जब कि दण्ड आदि का अन्वय-व्यतिरेक स्वजन्यव्यापारसम्बन्ध से है । मतलब कि दण्डादि एवं दण्डरूप आदि के अन्वय-व्यतिरेक भिन्न हैं । अतः दण्डात्मक

दण्डरूपाद्यन्वयस्य दण्डाद्यन्वयभिन्नत्वात् ।

केचित्तु येन = पृथगन्वयव्यतिरेकवता यस्य = तद्रहितस्ये'ति यथाश्रुत एव वाच्यम् । साहित्यञ्च पूर्ववृत्तित्वग्रहे विशेष्यतया विशेष्यतावच्छेदकतया वेत्याहुः ।

❀ जयलता ❀

= दण्डस्य स्वजन्यव्यापारवत्त्वसम्बन्धेनान्वयः दण्डरूपस्य च स्वाश्रयजन्यव्यापारसम्बन्धेनान्वयः इति प्रोक्तप्रकारेण **दण्डरूपाद्यन्वयस्य** उपलक्षणाद् दण्डरूपादिव्यतिरेकस्य च **दण्डाद्यन्वयभिन्नत्वात्,** उपलक्षणात् दण्डादिव्यतिरेकभिन्नत्वात् न दण्डरूपादावव्याप्तिः ।

केचित्तु = येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तत्र तदाद्यमित्यत्र **येन = पृथगन्वयव्यतिरेकवता यस्य = तद्रहितस्य** = पृथगन्वयव्यतिरेकरहितस्य **इति यथाश्रुत एव वाच्यम्** । लक्षणघटकं **साहित्यं च** दण्डादिना दण्डरूपादेः **पूर्ववृत्तित्वग्रहे विशेष्यतया विशेष्यतावच्छेदकतया वेति** । 'दण्डसहितं दण्डरूपं घटपूर्ववर्ती'त्याकारके 'दण्डरूपसहितो दण्डो घटपूर्ववृत्तिः' इत्याकारके वा कार्यपूर्ववृत्तित्वप्रकारके ज्ञाने विशेष्यविधया विशेष्यतावच्छेदकविधया वा दण्डरूपे दण्डसाहित्यभानात्तस्य घटं प्रत्यन्यथासिद्धत्वमिति भावः । तेन न दण्डत्वादिना दण्डादेः न वा दण्डादिना दण्डसंयोगादेरन्यथासिद्धिरिति **आहुः** ।

नीलकण्ठस्तु 'येन तन्तुना सहैव यस्य तन्तुरूपस्य यं पटं प्रति पूर्ववृत्तित्वमवगम्यते तं पटं प्रति तत्तन्तुरूपं तेन तन्तुनाऽन्यथासिद्धमित्यर्थः। सहितत्वमेकज्ञानविषयत्वं बोध्यम् । तन्तुरूपस्य पटपूर्ववृत्तित्वज्ञानेऽतिप्रसक्ततन्तुरूपत्वेनैव विषयता वाच्या । तथा च तन्तुरूपमन्यथासिद्धमिति। एवं तन्तुत्वस्य पूर्ववृत्तित्वज्ञानमपि तन्तुविषयकमेवेति तदन्यथासिद्धमिति भावः । अत्र येनेत्यस्य स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशालिनेति यस्येत्यस्य च स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशून्यस्येति विशेषणं बोध्यम् । तेनाऽतथाभूतेन तन्तुत्वेन तन्तोरनन्यथासिद्धिः न वा तन्तुसंयोगस्य तन्तुनाऽन्यथासिद्धिरिति (त.सं.नी.प्र.पृ.२३१) इत्याह ।

नृसिंहप्रकाशिकाकारस्तु - येन सहैवेति यद्घटितधर्मावच्छिन्नं यद्धर्मावच्छिन्नञ्चेत्यर्थः । यस्येति यन्निष्ठमित्यर्थः । यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमिति यत्कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वमित्यर्थः । यद्घटितत्वञ्च यत्पदं प्रकृतकार्यनिरूपितसाक्षात्सम्बन्धाघटितान्वयव्यतिरेकशालिपरम् । एवञ्च तादृशान्वयव्यतिरेकशालिघटिततद्धर्मावच्छिन्नतत्कार्यनिरूपितनियतपूर्ववृत्तित्वाश्रयत्वं तत्कार्यनिरूपितान्यथासिद्धत्वमित्येकोऽर्थः । यद्धर्मावच्छिन्नं यन्निष्ठयन्निरूपित-पूर्ववृत्तित्वम् । यन्निष्ठयन्निरूपितनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदको यो धर्म इत्यर्थः । तथा च तत्कार्यनिरूपितनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकत्वं तत्कार्यनिरूपितान्यथासिद्धत्वमित्यपरोऽर्थः । प्रथमे द्वितीये च स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशून्यत्वं विशेषणीयम् । तेन घटं प्रति कपालसंयोगस्य कपालघटितकपालसंयोगत्वावच्छिन्ननियतपूर्ववृत्तिताश्रयत्वेऽपि कपालस्य तादृशनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकताश्रयत्वेऽपि च कपालसंयोगस्य कपालस्य नान्यथासिद्धत्वप्रसङ्ग' (त.सं.नृ.प्र.पृ.२३१) इत्याह ।

घटकारण के अन्वय-व्यतिरेक से भिन्न अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता दण्डरूप आदि में होने की वजह घट के प्रति दण्डरूप आदि में अन्यथासिद्धि निराबाध है ।

❖ प्रथम अन्यथासिद्ध के लक्षण में अन्य मत ❖

केचि. । यहाँ कुछ विद्वानों का यह मन्तव्य है कि 'येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तत्र तत् आद्यं अन्यथासिद्धम्' इस लक्षण में 'येन' पद का अर्थ है 'पृथगन्वयव्यतिरेकवता' यानी स्वतन्त्र अन्वय-व्यतिरेकवाले जिस (कारण) से । तथा 'यस्य' पद का अर्थ है 'तद्रहितस्य' अर्थात् स्वतन्त्र अन्वय-व्यतिरेक से शून्य जिसका । इस तरह यथाश्रुत अन्यथासिद्ध के लक्षण का ग्रहण करने पर भी कोई दोष नहीं है । तब प्रथम अन्यथासिद्ध का लक्षण इस तरह बनेगा कि स्वतन्त्र अन्वय-व्यतिरेकवाले जिस (कारण) के साथ ही स्वतंत्र अन्वय-व्यतिरेकरहित जिस वस्तु में कार्य के प्रति पूर्ववृत्तिता का भान हो वह पृथगन्वयव्यतिरेकशून्य वस्तु उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है । जैसे स्वतन्त्र अन्वयव्यतिरेकवाले दण्ड के साथ ही स्वतन्त्रान्वय-व्यतिरेकशून्य दण्डरूप की घट के प्रति पूर्ववृत्तिता का ज्ञान मुमकिन होने से दण्डरूप घट के प्रति अन्यथासिद्ध है । दण्डसंयोग पृथगन्वयव्यतिरेकशून्य नहीं होने की वजह उसमें दण्ड के द्वारा घट के प्रति अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति नहीं आयेगी । यहाँ 'येन सहैव' ऐसा जो कहा है उसमें सहपदार्थ साहित्य कार्यपूर्ववृत्तित्वप्रकारक ज्ञान में विशेष्यविधया या विशेष्यतावच्छेदकविधया ग्राह्य है । 'दण्डरूपं दण्डसहितं घटपूर्ववर्ती' इस ज्ञान में दण्डरूप का विशेष्यरूपेण भान होता है । अतः दण्ड के साहित्य का दण्ड के विशेष्यविधया दण्डरूप में भान होने से दण्डरूप घट के प्रति अन्यथासिद्ध फलित होता है । अथवा 'दण्डरूपसंहितो दण्डो घटपूर्ववर्ती' इस पूर्ववृत्तित्वप्रकारक ज्ञान के विशेष्यभूत दण्ड में साहित्य का भान होता है एवं विशेष्यतावच्छेदकविधया दण्डरूप का भान होता है । अतः पूर्ववृत्तिज्ञान के विशेष्यतावच्छेदकविधया दण्डरूप में साहित्य रहने से दण्डरूप घट के

ननु अत्र रूपत्वादिना दण्डरूपादेः कुतोऽन्यथासिद्धिरिति चेत् ? 'पूर्ववृत्तित्वमि'त्यस्याऽन्वयव्यतिरेकित्वमित्यर्थात् । न ह्यतिप्रसक्तेन रूपत्वादिनाऽन्वय-व्यतिरेकः सम्भवतीत्येके । तच्चिन्त्यमित्यपरे –> रूपत्वादिनाऽपि स्वाश्रयेत्यादिसम्बन्धेनान्वयव्यतिरेकसम्भवात् ।

❀ जयलता ❀

मुक्तावलीकारस्तु - 'यस्य स्वातन्त्र्येणान्वयव्यतिरेकौ न स्तः किन्तु कारणमादायैवान्वयव्यतिरेकौ गृह्येते तदन्यथासिद्धं यथा दण्डरूपमिति' (का. १९ मु.पृ.२१२) इत्युक्तवान् । तत्र च **प्रभाकारः** 'कारणपदस्य स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशालितरतया तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितसाक्षात्सम्बन्धावच्छिन्नान्वयव्यतिरेकशालियद्धितधर्मावच्छिन्नतत्कार्यनिरूपितनियतपूर्ववृत्तितदाश्रयत्वं तत्कार्यनिरूपितान्यथासिद्धत्वमिति' व्याचष्टे ।

महादेवस्तु - 'स्वातन्त्र्येण तत्कार्यनिरूपितान्वयव्यतिरेकशून्यत्वे सति तत्कार्यकारणावच्छिन्नस्वनिष्ठतत्कार्यनिरूपितनियतपूर्ववृत्तित्वग्रहविशेष्यताकं यत् तत् तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धमित्यर्थः। कपालसंयोगो घटपूर्ववर्तीत्यादिपूर्ववृत्तित्वग्रहविशेष्यतायाः कपालसंयोगनिष्ठायाः कपालावच्छिन्नत्वात् कपालसंयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम् । दण्डत्वादिवारणाय विशेष्यमिति' व्याख्यातवान् ।

गदाधरस्तु कारणतावादे 'कारणान्तरेण सह यद्रूपावच्छिन्नस्य यादृशकार्यं प्रति पूर्ववर्तित्वमवगम्यते तद्रूपावच्छिन्नं तादृशकार्यं प्रत्यन्यथासिद्धम्, यथा घटादिकं प्रति दण्डरूपत्वाद्यवच्छिन्नं दण्डसमवहितचक्रत्वाद्यवच्छिन्नञ्च' इति व्याचष्टे ।

ननु अत्र = आद्यान्यथासिद्धलक्षणे **रूपत्वादिना दण्डरूपादेः** घटं प्रति **कुतोऽन्यथासिद्धिः** स्यात्, विनाऽपि दण्डादिज्ञानं रूपत्वादिना दण्डरूपादौ घटपूर्ववृत्तित्वादिग्रहसम्भवात् इति चेत् ? तत्र वदन्ति - येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तत्र तदाद्यमिति तल्लक्षणघटकस्य **'पूर्ववृत्तित्वमि'त्यस्य अन्वयव्यतिरेकित्वमित्यर्थात्** अन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वमित्यर्थादिति यावत् । ततश्च येन सहैव यद्रूपावच्छिन्नस्य यं प्रति अन्वयव्यतिरेकित्वं गृह्यते तत्र तद्रूपावच्छिन्नं प्रथममित्यर्थो लभ्यते । दण्डरूपादेः घटादिकं प्रति दण्डरूपत्वादिना अन्वयव्यतिरेकित्वं ग्राह्यं न तु रूपत्वेन, अतिप्रसक्तत्वात् । **न ह्यतिप्रसक्तेन रूपत्वादिना दण्डरूपादेः** घटं प्रति **अन्वयव्यतिरेकः सम्भवति**। रूपत्वस्य घटोत्पादान्वयव्यतिरेकप्रतियोगितावच्छेदकत्वेऽनन्तेषु घटीय-पटीय-दण्डीयरूपादिषु घटकारणत्वकल्पनापत्त्या गौरवात् दण्डरूपत्वादिकमेव लघ्वीति ग्रहात् दण्डरूपत्वेनैव तथात्वे दण्डरूपत्वावच्छिन्नस्य दण्डान्वयव्यतिरेकभिन्नान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वेन घटं प्रत्यन्यथासिद्धत्वसिद्ध्या घटकारणत्वप्रत्यवायात् विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावाश्रयत्वादिति **एके** ।

तच्चिन्त्यमिति अपरे वदन्ति- **रूपत्वादिनाऽपि** दण्डरूपादेः घटं प्रति **स्वाश्रयेत्यादिसम्बन्धेन** = स्वाश्रयजन्यव्यापारसम्बन्धेन

प्रति अन्यथासिद्ध सिद्ध होता है - ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है ।

❀ रूपत्वेन दण्डरूप में घटकारणता की शंका एवं परिहार ❀

ननु अ. । यहाँ इस शंका का कि —> "यदि 'येन सहैव यस्य पूर्ववृत्तित्वं...' इस रूप में आद्य अन्यथासिद्ध का लक्षण बनाया जाय तब तो रूपत्वेन दण्डरूप में घट कारणता की आपत्ति आयेगी, क्योंकि दण्डरूप का दण्डरूपत्वेन भान करना हो तभी दण्ड के साथ ही दण्डरूप का ज्ञान हो सकता है । मगर रूपत्वेन दण्डरूप का भान करना हो तब दण्ड के साथ ही उसका भान हो - यह नियम नहीं हो सकता, क्योंकि दण्ड का उसमें प्रवेश ही नहीं होता है । तब तो बिना दण्ड के रूपत्वेन दंडरूप में घटपूर्ववृत्तिता का भान हो जाने से रूपत्वेन दण्डरूप घट के प्रति अन्यथासिद्ध नहीं बन सकेगा" <— समाधान यह है कि प्रथम अन्यथासिद्ध के लक्षण में जो पूर्ववृत्तित्वपद है उसका अर्थ है कार्योत्पादान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्व । अर्थात् जिस धर्म से जिसमें कार्योत्पाद के अन्वय एवं व्यतिरेक की प्रतियोगिता । तब लक्षण यह प्राप्त होगा कि जिस कारण के साथ ही जिस धर्म से जिसमें कार्य की उत्पत्ति के अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता का भान हो वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है । दण्डरूप में घटोत्पाद के अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता का भान रूपत्वेन नहीं किन्तु दण्डरूपत्वेन ही होता है, क्योंकि रूपत्व तो दण्डरूप को छोड़ कर घटरूप, पटरूप आदि में भी रहता है, जिसमें घट के अन्वय-व्यतिरेक निरूपित प्रतियोगिता किसीको मान्य नहीं है । अन्वय-व्यतिरेकप्रतियोगितावच्छेदक धर्म तो अन्वय-व्यतिरेक निरूपित प्रतियोगिता से अतिरिक्तवृत्ति नहीं होना चाहिए । इसलिए दण्डरूपत्वेन ही दण्डरूप में तादृश अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता का भान मानना होगा । मगर तब तो दण्ड का भी अवश्य भान हो जायेगा, क्योंकि दण्डरूपत्व का शाब्दिक घटक दण्ड है और घटक के भान के बिना घटित का भान कभी भी नहीं होता है । इसलिए रूपत्वेन दण्डरूप में घट के प्रति अनन्यथासिद्धत्व की आपत्ति को अवकाश नहीं है - ऐसा कुछ विद्वानों का कथन है ।

तच्चि. । मगर यह कथन विचारणीय है, न कि बिना विचार के स्वीकार्य है - ऐसी अपर मनीषियों की राय है ।

किन्तु 'अन्यत्र क्लृप्ते'त्यादिनैव तेन रूपेणान्यथासिद्धिः । निःकृष्टे तत्रैव तत्सम्बन्धापेक्षया लाघवकृतावश्यकत्वस्याऽप्रवेशेऽपि कारणाल्पत्वकृतलाघवस्य प्रवेशात् ।

❀ जयलता ❀

अन्वयव्यतिरेकसम्भवात् = अन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वभानसम्भवात्, अन्यथा प्रथमं जलत्वे स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतां गृहीत्वा जन्यजलत्वे जन्यस्नेहत्वावच्छिन्नसमवायिकारणतावच्छेदकत्वप्रतिपादनमपि विलुप्येत । इत्थं प्रथमं कदाचिदतिप्रसक्तधर्मेणाऽपि कारणत्वग्रहस्यानपलपनीयत्वात् पूर्ववृत्तित्वपदस्यान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वार्थकत्वस्वीकारेऽपि न रूपत्वेन दण्डरूपादौ घटकारणत्व-वारणसम्भवः **किन्तु 'अन्यत्र क्लृप्ते'त्यादिनैव** तृतीयान्यथासिद्धलक्षणेन **तेन रूपेण** = रूपत्वेन दण्डरूपादेः घटं प्रति **अन्यथा-सिद्धिः** । दण्डं विनैव रूपत्वेन दण्डरूपादेः घटं प्रति अन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वग्रहेण प्रथमान्यथासिद्धलक्षणानाक्रान्तत्वेऽपि अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिनः दण्डादेरेव घटलक्षणकार्यसम्भवे तत्सहभूतत्वेन दण्डरूपादेस्तृतीयान्यथासिद्धत्वाक्रान्तत्वेन घटकारणत्वा-नापातात्, अनन्यथासिद्धत्वलक्षणविरहप्रयुक्तानन्यथासिद्धत्वविशिष्टनियतपूर्ववृत्तित्वप्रतियोगिकाभावाश्रयत्वात् ।

ननु वक्ष्यमाणतृतीयान्यथासिद्धलक्षणनिष्कर्षे सम्बन्धगर्भितलाघवकृतावश्यकत्वस्य न प्रवेशो येन दण्डरूपस्य स्वाश्रयजन्य-व्यापारसम्बन्धेनान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वात् स्वजन्यव्यापारसम्बन्धावच्छिन्नान्वयव्यतिरेकप्रतियोगिदण्डापेक्षयाऽनावश्यकत्वं स्यादिति न घटं प्रति रूपत्वेन दण्डरूपस्य तृतीयान्यथासिद्धलक्षणाक्रान्तत्वम् । नापि प्रदर्शितरीत्या प्रथमान्यथासिद्धलक्षणाक्रान्तत्वम् । नापि वक्ष्यमाणद्वितीयाद्यन्यथासिद्धिलक्षणकलितत्वम् । ततश्च घटं प्रति रूपत्वेन दण्डरूपस्याऽनन्यथासिद्धत्वमपरिहार्यम्, विशेषाभावकूटस्य सामान्याभावसाधकत्वादित्याशङ्कायां नैयायिका व्याचक्षते- **निःकृष्टे** = पर्यवसिते **तत्रैव** = तृतीयान्यथासिद्धलक्षणे एव, **तत्सम्बन्धापेक्षया लाघवकृतावश्यकत्वस्य** = तत्सम्बन्धकृतलाघवप्रयुक्तावश्यकत्वस्य **अप्रवेशेऽपि** = अघटकत्वेऽपि **कार-णाल्पत्वकृतलाघवस्य प्रवेशात्** = वक्ष्यमाणतृतीयान्यथासिद्धलक्षणघटकत्वात् घटं प्रति रूपत्वेन दण्डरूपस्य कारणत्वे दण्डीय-घटीय-पटीयादिरूपेषु घटकारणत्वकल्पनापत्त्या कारणबाहुल्येन रूपत्वेनानावश्यकत्वात्तृतीयान्यथासिद्धत्वमेव घटं प्रति रूपत्वेन रूपेण दण्डरूपस्य । न च रूपत्वेन कारणत्वकल्पने कारणबाहुल्यापत्त्या दण्डरूपत्वेनैव दण्डरूपस्य घटं प्रति कारणत्वमस्त्विति

उनका यह कथन है कि - रूपत्व भले ही दण्डरूप को छोडकर घटरूप, पटरूप आदि में भी रहने से अतिप्रसक्त हो मगर यह कोई नियम नहीं है कि अतिरिक्तवृत्ति धर्म से कारणता अवच्छिन्न नहीं ही होती है । अतिप्रसक्त धर्म से भी कदाचित् कारणता का स्वीकार तो जलत्वजाति में स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकत्व के प्रथम भान को मान्य करनेवाले नैयायिकों ने किया ही है । तब तो पूर्ववृत्तित्वपद का कार्योत्पादान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्व अर्थ करने पर भी रूपत्वेन दण्डरूप में घट के प्रति कारणता की आपत्ति का निवारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि दण्ड के साथ ही दण्डरूप में घटपूर्ववृत्तिता = घटोत्पादान्वयव्यति-रेकप्रतियोगिता का भान हो - यह असिद्ध है । तब तो घट के प्रति दण्डरूप में अनन्यथासिद्धत्व का निवारण प्रथम अन्यथासिद्ध के लक्षण से कैसे हो सकेगा ? किन्तु विचार करने पर यहाँ यही मानना संगत प्रतीत होता है कि दण्डरूप में भले ही प्रथम अन्यथासिद्ध का लक्षण न रहता हो मगर 'अन्यत्र क्लृप्त...' इत्यादि वक्ष्यमाण तृतीय अन्यथासिद्ध का लक्षण रह जाने से दण्डरूप में घट के प्रति अन्यथासिद्धि निराबाध है। अवश्यक्लृप्त नियत पूर्ववर्ती दण्ड से ही घट = कार्य की उत्पत्ति मुमकिन होने से तत्सहभूत दण्डरूप तृतीय अन्यथासिद्ध बनता है । इसलिए दण्डरूप में तृतीय अन्यथासिद्ध के लक्षण से ही घटकारणता का निराकरण किया जा सकता है, न कि प्रथम अन्यथासिद्ध के लक्षण से - यह फलित होता है ।

निःकृष्टे. । यदि यहाँ यह शंका हो कि —» 'घट के प्रति रूपत्वेन दण्डरूप में कारणता का वारण तृतीय अन्यथासिद्ध के लक्षण से करना संगत नहीं है, क्योंकि परिष्कृत तृतीयान्यथासिद्धलक्षण में सम्बन्ध की अपेक्षा लाघवकृत आवश्यकता का निवेश नहीं किया गया है । इसलिए दण्डरूप को स्वाश्रयजन्यव्यापारसम्बन्ध से घटपूर्ववर्ती मानने की अपेक्षा दण्ड को स्वजन्यव्यापारसम्बन्ध से घटपूर्ववर्ती मानना आवश्यक होने से दण्डरूप अनावश्यक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । अतः रूपत्वेन दण्डरूप में अनन्यथासिद्धत्व की आपत्ति का परिहार नहीं हो सकता' «— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि तृतीय अन्यथासिद्ध के लक्षण में सम्बन्ध की अपेक्षा लाघवकृत आवश्यकत्व का भले निवेश न हो मगर कारणाल्पत्वलाघवकृत आवश्यकता का तो निवेश किया गया ही है । रूपत्वेन दण्डरूप में घटकारणता का स्वीकार करने पर दण्डरूप की भाँति घटरूप, पटरूप, मठरूप आदि में भी घटकारणता को मान्य करना पड़ेगा, जिसकी वजह कारणबाहुल्यप्रसक्त होता है । इसकी अपेक्षा दण्ड को ही कारण मानने में कारणाल्पत्वलाघवकृत आवश्यकत्व दण्ड में रहता है । अतः रूपत्वेन दण्डरूप में अनावश्यकता सिद्ध

अत्र कदाचिद् दण्डेन सहाऽपि चक्रादेः पूर्ववृत्तित्वग्रहसम्भवादन्यथासिद्ध्यापत्तेः 'येन सहैवे'त्यत्रैवकारः । तथा च तज्ज्ञानव्यतिरेकप्रयुक्तव्यतिरेकप्रतियोगिग्रहविषयपूर्ववृत्तित्वकत्वमर्थः । अतो नेश्वरज्ञानमादायाऽतिप्रसङ्गः । यथोक्तविवक्षायां तु नायमादेयः ।

❋ जयलता ❋

वक्तव्यम्, तथा सति प्रथमान्यथासिद्धलक्षणाक्रान्तत्वस्य पूर्वमेवोक्तत्वात् । इत्थञ्च दण्डरूपस्य रूपत्वेन तथात्वे तृतीयान्यथासिद्धत्वं दण्डरूपत्वेन तथात्वे चाद्यान्यथासिद्धत्वं प्रकारान्तरस्य त्वसम्भव इति न घटं प्रति दण्डरूपस्य कारणत्वापत्तिः, विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावादिति निगूढो नैयायिकाशयः ।

ननु प्रथमान्यथासिद्धलक्षणे एवकाराऽनिवेशेऽपि निरुक्तरीत्या दण्डरूपस्यान्यथासिद्धत्वोपपत्तेः व्यर्थः तन्निवेश इत्याशङ्कायां गौतमीया आहुः - **अत्र** = प्रथमान्यथासिद्धलक्षणे **कदाचित् दण्डेन सहाऽपि चक्रादेः पूर्ववृत्तित्वग्रहसम्भवात्** = घटोत्पादपूर्ववृत्तित्वभानसम्भवात्, घटं प्रति चक्रादेः **अन्यथासिद्ध्यापत्तेः** = प्रथमान्यथासिद्धलक्षणराहुविलोकितत्वप्रसङ्गात् **'येन सहैव' इत्यत्र एवकारः** निवेशितः । न हि 'दण्डसहितं चक्रादि घटनियतपूर्ववर्ति' इति ज्ञानस्यापलापः कर्तुं शक्यते । ततश्चात्रैवकारनिवेश आवश्यक इति फलितम् । ततो निष्कर्षमावेदयन्ति - **तथा च तज्ज्ञानव्यतिरेकप्रयुक्तव्यतिरेकप्रतियोगिग्रहविषयपूर्ववृत्तित्वकत्वं** प्रथमान्यथासिद्धलक्षणस्य **अर्थः** । तद्विषयकस्य ज्ञानस्य व्यतिरेकेण = अभावेन प्रयुक्तो यो व्यतिरेकः = पूर्ववृत्तित्वविषयकज्ञानाभावः तस्य प्रतियोगिनो ज्ञानस्य विषयः पूर्ववृत्तित्वं = कार्यानन्यव्यवहितपूर्ववृत्तित्वं यस्मिन् स तथा तद्भावः तत्त्वम् । तत्पदेन कारणस्य यत्पदेन चान्यथासिद्धस्योपादानं कार्यम् । तथाहि दण्डज्ञानाभावप्रयुक्तो यो घटोत्पादपूर्ववृत्तित्वविषयकज्ञानाभावः तत्प्रतियोगिज्ञानविषयीभूतं घटपूर्ववृत्तित्वं यस्मिन् स दण्डरूपादिस्तथा । तद्भावस्तत्त्वं च दण्डरूप एव । न हि दण्डज्ञानं विना दण्डरूपे घटपूर्ववृत्तित्वज्ञानं सम्भवति । दण्डज्ञानं विनाऽपि चक्रादौ घटोत्पादपूर्ववृत्तित्वग्रहसम्भवात्तस्य न दण्डज्ञानव्यतिरेकप्रयुक्ताभावप्रतियोगिज्ञानविषयघटोत्पादपूर्ववृत्तित्वकत्वमिति नान्यथासिद्धत्वं घटं प्रतीति ध्येयम् ।

एतेन व्युत्पन्नस्य ईश्वरज्ञानेन सहैव दण्डादेः घटं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यत इति घटं प्रति दण्डादेरन्यथासिद्धत्वापत्तिरिति प्रत्युक्तम् इत्याशयेनाहुः **अतो नेश्वरज्ञानमादाय** दण्डादौ प्रथमान्यथासिद्धलक्षणस्य **अतिप्रसङ्गः** ईशज्ञानस्य नित्यत्वेन तद्व्यतिरेकस्यैवाऽसम्भवेन महेश्वरज्ञानव्यतिरेकप्रयुक्ताभावप्रतियोगिज्ञानविषयत्वकत्वस्यैव दण्डादावसम्भवात् ।

यथोक्तविवक्षायां = तदन्वयव्यतिरेकभिन्नान्वयव्यतिरेकप्रतियोगिनिष्ठपूर्ववृत्तित्वकत्वविवक्षायां तु **न अयं** एवकारः प्रथमान्यथासिद्धलक्षणे **आदेयः**, प्रयोजनविरहात्, यथोक्तेनैव दोषवारणसम्भवात् ।

हो जाने से तृतीय अन्यथासिद्ध के लक्षण की प्रवृत्ति निराबाध है । यदि दण्डरूपत्वेन दण्डरूप को घटकारण माना जाय तब तो पूर्वोक्त रीति के अनुसार प्रथम अन्यथासिद्ध के लक्षण की प्रवृत्ति होगी । इसलिए दण्डरूप में घटकारणता के स्वीकार की आपत्ति को कोई अवकाश नहीं है ।

अत्र. । **यहाँ इस बात को भी ध्यान में** रखना जरूरी है कि **प्रथम** अन्यथासिद्ध के लक्षण में यदि एवकार का प्रवेश न किया जाय तब तो 'येन सह यस्य यं प्रति **पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते** तत्र तत् आद्यं अन्यथासिद्धं' ऐसा लक्षण प्राप्त होने से कदाचित् चक्र आदि भी घट के प्रति अन्यथासिद्ध बन जायेंगे, क्योंकि कभी दण्ड के साथ चक्र आदि में भी घटोत्पादपूर्ववृत्तिता का ज्ञान मुमकिन है । अतः तन्निवारणार्थ एवकार का ग्रहण किया गया है कि 'येन सहैव' इत्यादि । चक्र में घटोत्पादपूर्ववृत्तिता का ज्ञान दण्ड के साथ ही हो, दण्ड के बिना न हो - ऐसा नहीं होने से दण्ड से चक्र आदि में अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति निरवकाश है । मतलब कि इस तरह प्रथम अन्यथासिद्ध का लक्षण यह पर्यवसित होता है कि - जिसके ज्ञान के व्यतिरेक = अभाव से प्रयुक्त ऐसे अमुकपदार्थविषयकज्ञानाभाव = व्यतिरेक के प्रतियोगी ज्ञान के विषय अमुक पदार्थ में कार्यपूर्ववृत्तित्व होना । जैसे दण्डज्ञान के अभाव से प्रयुक्त दण्डरूपविषयकज्ञानाभाव के प्रतियोगी दण्डरूपविषयक ज्ञान के विषय दण्डरूप में घटपूर्ववृत्तिता रहने से दण्डरूप घट के प्रति अन्यथासिद्ध है । मगर चक्र में घटोत्पादपूर्ववृत्तिता का ज्ञान दण्डज्ञान के विरह में नहीं होता है - ऐसा नहीं है । मतलब कि दण्डज्ञानाभावप्रयुक्त अभाव के प्रतियोगी ज्ञान का विषय चक्रनिष्ठ घटपूर्ववृत्तिता नहीं होने से घट के प्रति चक्र को अन्यथासिद्ध नहीं कहा जा सकता । इसीलिए यहाँ इस शंका का भी कि —> 'ईश्वर के ज्ञान के बिना व्युत्पन्न पुरुष को दण्डादि में घटपूर्ववृत्तिता का भान नहीं होता है, क्योंकि ईश्वर का नित्य ज्ञान कार्यमात्र के प्रति कारण है । अतः ईश्वरज्ञान को लेकर दण्ड आदि भी घट के प्रति अन्यथासिद्ध बन जायेगा' <— निराकरण हो जाता है, क्योंकि ईश्वरज्ञान नित्य होने से उसका व्यतिरेक ही व्युत्पन्न को नामुमकिन है । तब दण्ड में घटपूर्ववृत्तित्व के

अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञात एव यं प्रति यस्य पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तत्र तद् द्वितीयम्,

❀ जयलता ❀

रामरुद्रस्तु 'कारणान्तराऽघटितसम्बन्धेन नियतान्वयव्यतिरेकशून्यत्वे सति येन सह पूर्वभावः तदन्यथासिद्धम् । दण्डरूपेऽव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम् । सत्यन्तमात्रोक्तौ चक्षुषोऽपि चाक्षुषं प्रति अन्यथासिद्धिः स्यात्, तत्प्रतियोगिकसंयोगस्य चाक्षुषं प्रति कारणत्वेन तत्सम्बन्धेनैव चक्षुषः कारणत्वात् । अतः विशेष्यदलमिति (न.सं.रा.पृ.२३४) व्याचष्टे ।

इतरान्वयव्यतिरेकशालि यत्तदन्यथासिद्धमिति तु परे ।

स्वेतरान्वयव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयव्यतिरेकशालि यत्तदन्यथासिद्धमित्यपि **कश्चित्** ।

तत्कार्यकारणाघटितसम्बन्धावच्छिन्ननियतपूर्ववृत्तिताशून्यत्वे सति नियतपूर्ववृत्तित्वमन्यथासिद्धत्वम् । घटं प्रत्यनियतपदार्थानां कारणताघटककुक्षिप्रवेशिपणेनैव न प्रसक्तत्वात् तदन्यथासिद्धत्वरूपपरिचायकधर्मवत्त्वमावश्यकमतोऽत्र नियतपूर्ववृत्तित्वनिवेश **इत्यपरे** ।

अवसरसङ्गतिकलितं द्वितीयान्यथासिद्धलक्षणमावेदयति - **अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे** = प्रकृतकार्यातिरिक्तकार्यनिरूपितपूर्ववृत्तित्वे, अन्यपदस्य प्रकृतकार्यभिन्नकार्यपरत्वात् । **ज्ञात एव** = ज्ञानविषये सत्येव, तादृशपूर्ववृत्तित्वज्ञानानन्तरमेवेति यावत् । **यं प्रति यस्य पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते** = यन्निरूपितयन्निष्ठपूर्ववृत्तित्वं ज्ञानविषयतावदित्यर्थः, तादृशपूर्ववृत्तित्वज्ञानं भवतीति यावत् । तथा चान्यपूर्ववृत्तित्वज्ञानस्य प्रकृत-कार्यपूर्ववृत्तित्वज्ञानहेतुत्वलाभात् तादृशकार्यकारणभावबलादन्यपूर्ववृत्तित्वस्य प्रकृतपूर्ववृत्तितावच्छेदकत्व-सिद्धिः । एवञ्च प्रकृतकार्यातिरिक्तकार्यनिरूपितनियतपूर्ववृत्तित्वघटितधर्मावच्छिन्नप्रकृतकार्यनिरूपितनियतपूर्ववृत्तिताश्रयत्वं प्रकृतकार्य-निरूपितान्यथासिद्धत्वमिति फलितमिति भावः । एतादृशान्यथासिद्धमुदाहरति - **यथा घटादावाकाशमिति** । शब्दं प्रति पूर्व-वृत्तित्वे ज्ञाते एव घटादिकं प्रति गगनस्य पूर्ववृत्तित्वग्रहात् तत्र घटादौ आकाशस्य द्वितीयान्यथासिद्धत्वम् । अयमाशयः विनाऽऽ-काशत्वज्ञानादाकाशं घटपूर्ववृत्तीतिज्ञानासम्भवादाकाशत्वस्य घटादिपूर्ववृत्तितावच्छेदकत्वसिद्धिरनुभवबलादायाता । आकाशत्वञ्च न जातिः, व्यक्तेरभेदात्, स्वाश्रयनिष्ठस्वाश्रयप्रतियोगिकभेदाभावादिति यावत् । किन्तु शब्दसमवायिकारणत्वं हि तत् । नच शब्दपूर्ववृत्तित्वघटितमिति शब्दसमवायिकारणत्वस्वरूपाकाशत्वेनाकाशस्य घटपूर्ववृत्तित्वग्रहादाकाशस्य प्रकृतघटादिस्वरूपकार्यभिन्न-शब्दस्वरूपकार्यपूर्ववृत्तित्वघटितशब्दसमवायिकारणत्वरूपाकाशत्वावच्छिन्नघटादिरूपकार्यनिरूपितनियतपूर्ववृत्तिताश्रयत्वरूपद्वितीयान्य-

ज्ञान का अभाव ईश्वरज्ञानाभावप्रयुक्त कैसे हो सकेगा ? कथमपि नहीं । इसलिए ईश्वरज्ञानविरहप्रयुक्त अभाव के प्रतियोगी ज्ञान के विषय दण्डनिष्ठ घटपूर्ववृत्तिता ही नामुमकिन होने से दण्ड में ईश्वरज्ञान को ले कर अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति आ सकती नहीं है । यदि पूर्वोक्त 'यदन्वय-व्यतिरेकभिन्नान्वयव्यतिरेक की प्रतियोगिता के आश्रय में कार्यपूर्ववृत्तित्व का ज्ञान होना' ऐसी विवक्षा से प्रथम अन्यथासिद्ध के लक्षण की प्ररूपणा की जाय तब इस लक्षण के शरीर में एवकार के निवेश की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि तब विना एवकार प्रयोग के भी किसी दोष की संभावना नहीं रहती है । इस तरह प्रथम अन्यथासिद्ध के लक्षण का निरूपण पूर्ण हुआ ।

◈ द्वितीय अन्यथासिद्ध का प्रतिपादन ◈

अन्यं. । अब कारणशरीर के घटक अन्यथासिद्ध के द्वितीयभेद का प्रकरणकार नैयायिकमतानुसार निरूपण कर रहे हैं । किसी अन्य कार्य के प्रति जिसके पूर्ववृत्तित्व (=कारणत्व) का ज्ञान करने के पश्चात् ही जिस कार्य के प्रति उसके पूर्ववृत्तित्व (=कारणत्व) का ग्रहण किया जाता है वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है जैसे घट के प्रति आकाश। आकाश नित्य एवं व्यापक है । अतः वह कार्यमात्र के प्रति नियत पूर्ववृत्ति है । एवं घट के प्रति भी नियतपूर्ववृत्तित्वरूप कारणत्व आकाश में सिद्ध ही है । परन्तु घट के प्रति आकाश को आकाशत्वेन रूपेण कारण मानना होगा । मगर आकाशत्व क्या वस्तु है ? यह पूछने पर कहना होगा कि शब्दसमवायिकारणत्व । इसका कारण यह है कि शब्द जन्यगुण होने की वजह द्रव्यहेतुक ही होगा। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि —> 'शब्द भले ही जन्यगुण हो मगर द्रव्यहेतुक न हो तो क्या बिगड़ा ?' <— क्योंकि जन्यगुणमात्र के प्रति द्रव्य समवायिकारण होता है । यदि शब्द में जन्यगुणत्व के होते हुए भी द्रव्यसमवायिकारणकत्व को न माना जाय तब तो जन्यगुण एवं द्रव्य के बीच प्रसिद्ध उपर्युक्त कार्य-कारणभाव का भंग हो जायेगा । इस विपक्षबाधक तर्क की सहायता से एवं शब्द के प्रति घटादि में नियतपूर्ववृत्तिता न होने से आकाश में ही शब्दसमवायिकारणत्व की सिद्धि होगी । शब्दसमवायिकारणत्वरूप आकाशत्व धर्म से आकाश को घटपूर्ववर्ती मानने पर

यथा घटादावाकाशम् । तस्य 'शब्दो द्रव्यहेतुको गुणत्वादि'त्यनुमानात्कार्यकारणभावलक्षणानुकूलतर्कसध्रीचीनात्सिध्यतः शब्दपूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव घटादिपूर्ववृत्तित्वग्रहात् । शब्दस्य घटान्वयव्यतिरेकाननुविधायित्वाच्च पूर्वान्यथासिद्ध्यन्तर्भावशङ्का । संयोगादौ तु द्रव्यत्वेन

❀ जयलता ❀

थासिद्धत्वमिति तर्कसङ्ग्रह **नृसिंहीयकारः** (त.सं.नृ.) ।

अथ शब्दो द्रव्याश्रितो गुणत्वादित्यनुमानाच्छब्दाश्रयत्वेनोपस्थिते आकाशे विनापि शब्दपूर्ववृत्तित्वग्रहं घटादिपूर्ववृत्तित्वग्रहसम्भव इति **चेत्** ? **नैवम्** गुणस्य साश्रयकत्वव्याप्तौ विपक्षबाधकतर्काभावस्य पूर्वमुक्तत्वात्. शब्दो द्रव्यहेतुको जन्यगुणत्वादित्यानुमानादेव कार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्गलक्षणविपक्षबाधकतर्कप्रयुक्तात्तत्सिद्धिरित्याशयेनाह - **तस्य** = आकाशस्य '**शब्दो द्रव्यहेतुकः गुणत्वात्** = जन्यगुणत्वात्' **इत्यनुमानात् कार्यकारणभावलक्षणानुकूलतर्कसध्रीचीनात् सिध्यतः** = स्वात्मलाभं लभत: **शब्दपूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव** = विज्ञायैव **घटादिपूर्ववृत्तित्वग्रहात्** । यदि शब्दे जन्यगुणत्वे सत्यपि द्रव्यहेतुकत्वं न स्यात्स्यादेव तर्हि जन्यगुण-द्रव्ययोः कार्यकारणभावभङ्ग इति विपक्षबाधकतर्कसहकारिणोऽनुमानात्क्लृप्तपृथिव्यादिद्रव्यप्रतियोगिकान्वयव्यतिरेकाननुविधायिनि शब्दे आकाशसमवायिकारणकत्वसिद्धिः । ततः शब्दसमवायिकारणत्वेनैवाकाशस्य घटादिपूर्ववृत्तित्वग्रहादन्यथासिद्धत्वं घटादिनिरूपितमनपायमेव ।

कश्चित्तु - 'शब्दो द्रव्यजन्यो जन्यगुणत्वादित्यनुमित्यात्मक-कार्यकारणभावग्रहरूपानुकूलतर्कसहकृतेनैव 'शब्दो द्रव्याश्रितो गुणत्वादि'त्यनुमानेन शब्दाश्रयत्वं गगने गृहीत्वा तेन रूपेण घटपूर्ववृत्तित्वं ग्राह्यम् । तथा च शब्दपूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव गगनस्य घटपूर्ववृत्तित्वग्रहाद् घटनिरूपितान्यथासिद्धत्वमनपायमेवे'ति व्याचष्टे ।

एतेन शब्दाश्रयत्वेनान्यथासिद्धत्वमाद्येनैवेति किमनेन द्वितीयान्यथासिद्धनिर्वचनेनेति **प्रत्युक्तम्**; शब्दस्य घटादिकं प्रति पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वशून्यतया तेन प्राक्तनान्यथासिद्धेर्दुर्वचत्वादित्याशयेनाह - **शब्दस्य** = शब्दत्वावच्छिन्नस्य **घटान्वयव्यतिरेकाननुविधायित्वाच्च पूर्वान्यथासिद्ध्यन्तर्भावशङ्का** ।

न चैवं घटाकाशसंयोग-विभागादावाकाशस्यान्यथासिद्धत्वप्रसङ्गो दुर्वारः; शब्दसमवायिकारणत्वेनैवाकाशस्य घटाकाशसंयोग-विभागादिकं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहे शब्दपूर्ववृत्तित्वघटितधर्मावच्छिन्नकारणतानिरूपितघटाकाशसंयोगादिनिष्ठकार्यताश्रयनिरूपितनियतपूर्ववृत्तित्वाश्रयत्वादिति **वाच्यम्, संयोगादौ** = घटाकाशसंयोग-विभागादिकं प्रति तु गगनस्य **द्रव्यत्वेन पूर्ववृत्तित्वग्रहसम्भवात्** ।

'शब्द के प्रति आकाश पूर्ववर्ती = कारण है' - यह ज्ञान हो ही जाता है । इस रीति से आकाश में शब्द के प्रति पूर्ववृत्तिता = कारणता का निश्चय कर के ही घटादि कार्य के प्रति उसमें पूर्ववृत्तिता = कारणता का हम निश्चय कर पाते हैं । ऐसी स्थिति में शब्द के प्रति ही आकाश को कारण माना जाता है और घटादि के प्रति उसे अन्यथासिद्ध ही कहा जाता है।

शब्दस्य. । यहाँ इस शंका का कि —> 'शब्द के प्रति पूर्ववृत्तिता का घट के साथ ही आकाश में ज्ञान होने से 'येन सहैव...' इत्यादि प्रथम अन्यथासिद्ध के लक्षण की आकाश में प्रवृत्ति होने की वजह आकाश का अन्तर्भाव आद्य अन्यथासिद्ध में हो जायेगा' <— समाधान यह है कि शब्द के प्रति घट नियत पूर्ववृत्ति नहीं होने से शब्द घट के अन्वय व्यतिरेक का अनुसरण करता नहीं है तब घट का ज्ञान कर के ही आकाश में शब्द के प्रति पूर्ववृत्तिता के भान का प्रामाणिक नियम कैसे बनाया जा सकता है? इससे सिद्ध होता है कि प्रथम अन्यथासिद्ध के लक्षण की आकाश में प्रवृत्ति नहीं होती है । तदर्थ द्वितीय अन्यथासिद्ध का स्वीकार आवश्यक बन जाता है । अतः आकाश का प्रथम अन्यथासिद्ध में अन्तर्भाव अप्रामाणिक है - यह निश्चित होता है ।

संयोगादौ. । यहाँ यह शंका करना भी कि —> 'आकाश शब्द का कारण होने की वजह शब्दहेतुत्वेन रूपेण ही आकाश को घट के प्रति पूर्ववृत्ति माना जाय तब तो जैसे आकाश घट के प्रति अन्यथासिद्ध है ठीक वैसे ही संयोग, विभाग आदि के प्रति भी आकाश अन्यथासिद्ध हो जायेगा, क्योंकि घटाकाशसंयोग आदि के प्रति भी आकाश को शब्दहेतुत्वस्वरूप आकाशत्व धर्म से ही कारण मानना होगा, जिससे आकाश में शब्द के प्रति पूर्ववृत्तिता = कारणता का भान कर के ही घटाकाशसंयोग आदि के प्रति पूर्ववृत्तिता = कारणता का भान सिद्ध होता है' <— नामुनासिब है, क्योंकि घटाकाशसंयोग आदि के प्रति तो आकाश द्रव्यत्वेन रूपेण पूर्ववृत्ति बन सकता है । यह जरूरी नहीं है कि आकाश को शब्दहेतुत्वेन ही घटाकाशसंयोग आदि के प्रति पूर्ववृत्ति माना जाय । तब तो शब्द के प्रति पूर्ववृत्तिता का भान किये बिना भी आकाश

पूर्ववृत्तित्वग्रहसम्भवान्नान्यथासिद्धिः ।

अत्रेदं चिन्त्यम् —> शब्दपूर्ववृत्तित्वग्रहं विनाऽपि (शब्दादेः)आकाशस्य घटादिपूर्ववृत्तित्व-ग्रहःसम्भवी, अष्टद्रव्याऽन्यद्रव्यत्वादिनाऽप्याऽऽकाशपदशक्तिग्रहसम्भवात् । कथमन्यथा तत्र शब्दसमवायिकारणताग्रहः ?

❈ जयलता ❈

न हि शब्दसमवायिकारणत्वेनैवाकाशस्य संयोगादिपूर्ववृत्तित्वग्रहसाधकं किञ्चिदस्तीति गगनस्य संयोगादौ **नान्यथासिद्धिः** = न द्वितीयान्यथासिद्धत्वप्रसङ्गः । अत एवाधारत्वेन कालदिशोः कार्यसामान्यहेतुत्वं निष्प्रत्यूहम्, विनाऽपि कालिकदैशिकपरत्वादि-पूर्ववर्तित्वग्रहमाधारत्वेन कालिकदैशिकपरत्वापरत्वादौ पूर्ववृत्तित्वग्रहसम्भवात् । न चैवं विभुत्वेनाकाशस्यापि कार्यसामान्यहेतुत्वं स्यादिति वाच्यम्, आत्मत्वव्यापकविभुत्वेनान्यथासिद्धत्वादिति दिक् ।

गदाधरस्तु कारणतावादे - 'अन्यं प्रति पूर्ववर्तित्वे ज्ञात एव यद्रूपावच्छिन्नस्य प्रकृतकार्यं प्रति पूर्ववर्तिताग्रहस्तद्रूपावच्छिन्नं तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धम्, यथा ज्ञानादिकं प्रत्याकाशत्वाद्यवच्छिन्नम् । तत्र हि शब्दादिसमवायिकारणतयाऽऽकाशादिसिद्धावेव तस्य ज्ञानादिपूर्ववर्तित्वं गृहीतव्यमिति तत्र शब्दादिपूर्ववर्तिताग्रहापेक्षा । यथा वा घटादिकं प्रति कुलालपितृत्वाद्यवच्छिन्नं, कुलाल-पितृत्वादेः कुलालादिपूर्ववर्तिताघटितत्वात्तदवच्छिन्नस्य घटादिपूर्ववर्तित्वग्रहे कुलालादिपूर्ववर्तित्वग्रहस्यापेक्षितत्वात् । अपूर्वादिपूर्ववर्ति-त्वमगृहीत्वाऽपि यागत्वाद्यवच्छिन्ने स्वर्गादिपूर्ववर्तित्वग्रहसम्भवादपूर्वद्वारा न यागत्वाद्यवच्छिन्नस्य स्वर्गादिकार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम् । एतादृशस्थल एव व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धिः । कुलालादिपितृत्वाद्यवच्छिन्नस्य कुलालादिव्यापारकत्वसम्भवेऽपि अन्यथा-सिद्धिरेव' (का.वा.का.वा. पृ.२०२) **इत्युक्तवान्** ।

अत्रेदं चिन्त्यम् - शब्दपूर्ववृत्तित्वग्रहं विनापि आकाशस्य घटादिपूर्ववृत्तित्वग्रहः सम्भवी । अत्र मूलादर्शे 'विनापी'त्यनन्तरं शब्दादेरिति अधिकः पाठः सम्पातायात इति प्रतिभाति । आकाशस्य शब्दपूर्ववृत्तित्वग्रहमृते घटादिपूर्ववृत्तित्वग्रहमुपपादयति - **अष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वादिनापि आकाशपदशक्तिग्रहसम्भवादिति** । **कथं अन्यथा** - अष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वादिनाऽऽकाशभानानङ्गीकारे **तत्र शब्दसमवायिकारणताग्रहः** स्यात् ? धर्मितावच्छेदकानिश्चये तत्र कारणताग्रहासम्भवात्, निरवच्छिन्नकारणताया असम्भवात् । **न च** कवर्गत्वस्यैव शब्दसमवायिकारणतावच्छेदकत्वमिति **वाच्यम्**, बहूनां वर्णानां विनिगमकाभावेन कारणतावच्छेदकत्वे गौरवात्, वर्णानामसार्वकालिकत्वाच्च । न च विशेषपदार्थस्य तथात्वमिति वाच्यम्, तदसिद्धेः पूर्वमुक्तत्वात् । न च शब्दसमवायिकारणत्वस्यैव

में घटाकाशसंयोग आदि के प्रति पूर्ववृत्तिता= कारणता का भान हो सकता है । ऐसी स्थिति में आकाश को घटाकाशसंयोग आदि के प्रति अन्यथासिद्ध नहीं माना जा सकता है, क्योंकि घटआकाशसंयोग आदि की अपेक्षा द्वितीय अन्यथासिद्ध के लक्षण की प्रवृत्ति ही आकाश में हो सकती नहीं है ।

❈ द्वितीय अन्यथासिद्ध के लक्षण में अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति ❈

अत्रेदं. । द्वितीय अन्यथासिद्ध के उपर्युक्त लक्षण में यह बात सोचने योग्य है कि घट के प्रति पूर्ववृत्तिता का आकाश में शब्दसमवायिकारणत्व का भान मान कर ही भान हो - यह कोई नियम नहीं है । आकाश में शब्दसमवायिकारणता का भान माने बिना भी घटादि के प्रति पूर्ववृत्तिता का गगन में ज्ञान मुमकिन है । यहाँ यह शंका करने की कोई जरूरत नहीं है कि —> 'आकाश को आकाशत्वेन घटपूर्ववृत्ति मानने पर तो द्वितीय अन्यथासिद्ध के लक्षण की प्रवृत्ति मुमकिन ही है, क्योंकि आकाशत्व शब्दसमवायिकारणत्वस्वरूप है । आकाशपद की शक्ति का ज्ञान शब्दसमवायिकारणत्वेन ही हो सकता है, क्योंकि वह आकाशपद का शक्यतावच्छेदक है' <— इसका कारण यह है कि आकाशपद की शक्ति का ज्ञान शब्दसम-वायिकारणत्वेन न मान कर अष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वेन भी माना जा सकता है ।

यहाँ यह शंका कि —> 'आकाशपद के शक्यतावच्छेदकविधया अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यत्व का स्वीकार न कर के शब्दसमवायिकारणत्व को मान्य किया जाय तो क्या दोष है ?' <— भी निराधार है, क्योंकि तब तो आकाश में शब्दसमवायिकारणता का ज्ञान ही न हो सकेगा । देखिये, शब्द की कारणता आकाश में रहती है, उस कारणता का अवच्छेदक (=भेददर्शक = भेदक) कोई धर्म तो मानना ही होगा । वह कौन सा धर्म होगा ? यह जिज्ञासा होने पर 'वह धर्म आकाशत्व = शब्दसमवायिकारणता है', यह कहें तब शब्दसमवायिकारणतास्वरूप आकाशत्व और उससे अवच्छेद्य आकाशनिष्ठ शब्दसमवायिकारणता एक ही बन जायेंगे। ऐसी स्थिति में दोनों का भेद नहीं समझा जा सकेगा । तब तो गगन में शब्दकारणता का ज्ञान ही नामुमकिन बन जायेगा।

किञ्च यागादेः स्वर्गं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैवाऽपूर्वं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहात्तं प्रति तस्याऽन्यथासिद्धिवारणाय 'अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वानुपपादकं यस्य पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते' इति वाच्यम् ।

❀ जयलता ❀

तत्त्वमिति वाच्यम्, तथा सति स्वावच्छेदकत्वस्य स्वस्मिन्कल्पनापत्तेः । न चेदं युक्तं अवच्छेद्यावच्छेदकभावस्य भेदनियतत्वात् । न च पृथिवीजलतेजोवाय्वात्मदिक्कालमनोद्रव्यान्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदविशिष्टद्रव्यत्व - दिक्कालात्मभिन्नविभुद्रव्यत्वादिनाऽऽकाशपदशक्यतावच्छेदकत्वोपगमे गौरवमिति वाच्यम्, तथापि अखण्डोपाधिस्वरूपस्याकाशत्वस्य तत्त्वे बाधकाभावात् । ततो नोक्तलक्षणेन गगनस्य घटादावन्यथासिद्धत्वोपपादनसम्भवः । गगने घटापेक्षयाऽन्यथासिद्धलक्षणाव्याप्तिमुपदर्श्य यागेऽपूर्वापेक्षयाऽन्यथासिद्धलक्षणातिव्याप्तिमाविष्करोति - **किञ्चेति । यागादेः** 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिविधिना **स्वर्गं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव** गृहीतकारणत्वान्यथानुपपत्त्या चिरविनष्टस्य यागादेः व्यापारत्वेन अपूर्वकल्पनात् अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव **अपूर्वं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहात्** । ततश्च स्वर्गपूर्ववृत्तित्वघटितस्वर्गजनकत्वेन यागादेः अपूर्वं प्रत्यन्यथासिद्धत्वापत्तिर्दुर्वारैव । अतः **तं** = अपूर्वं **प्रति तस्य** = यागादेः **अन्यथासिद्धिवारणाय 'अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वानुपपादकं यस्य पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते** तं प्रति तद् द्वितीयमन्यथासिद्धं **इति** द्वितीयान्यथासिद्धिलक्षणं **वाच्यम्** । तथा च नापूर्वं प्रति यागादेरन्यथासिद्धत्वम् । पूर्ववृत्तित्वानुपपादकमित्यत्र पूर्ववृत्तित्वं स्वनिष्ठत्वेन विशेषणीयम्, अन्यथा शब्दजनककण्ठादिव्यापारं प्रति शब्दकारणत्वेन गगनस्यान्यथासिद्धत्वं न स्यात्, तस्य कृतिनिष्ठशब्दपूर्ववृत्तित्वघटकत्वात् । स्वनिष्ठत्वोक्तौ चोक्तव्यापारस्य कृतिनिष्ठशब्दपूर्ववृत्तित्वोपपादकत्वेऽपि आकाशनिष्ठशब्दपूर्ववृत्तित्वानुपपादकत्वात् तं प्रत्यपि भवति गगनमन्यथासिद्धमिति **रामरुद्रभट्टः** (मु.रा.पृ.२१७) ।

''यागत्वञ्च 'नश्यैव इदं भवति' त्याकारकदेवतोद्देश्यकत्वप्रकारक-स्वस्वत्वध्वंसविशिष्टद्रव्यविशेष्यकेच्छात्वं, देवतोद्देश्यकत्वञ्च देवतानिरूपितस्वत्ववत्त्वं, देवतायाश्च शब्दविशेषरूपत्वे स्वस्वत्वसम्बन्धविशेषरूपं तदिति'' (मु.प्र.पृ.८४४) **नृसिंहशास्त्री** ।

प्रकृते यागादेः स्वर्गं प्रति पूर्ववृत्तित्वं यागादेरपूर्वं प्रति पूर्ववृत्तित्वोपपादकमिति यागादेरपूर्वपूर्ववृत्तित्वोपपादक-स्वर्गपूर्ववृत्तित्वं

अतः आकाशनिष्ठ शब्दसमवायिकारणता के अवच्छेदकधर्मविधया पृथिवीआदि अष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्व का ही स्वीकार करना मुनासिब है । इस तरह पृथिवी, जल आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्यत्वेन आकाश में घटपूर्ववृत्तिता का भान मानने में कोई दिक्कत नहीं है । इस स्थिति में तो शब्द के प्रति पूर्ववृत्तिता = कारणता का भान माने बिना भी घट के प्रति पूर्ववृत्तिता = कारणता का ज्ञान गगन में माना जा सकता है । इसलिए उपर्युक्त द्वितीय अन्यथासिद्ध के लक्षण से घटादि के प्रति गगन को अन्यथासिद्ध नहीं कहा जा सकता ।

किञ्च. । इसके अतिरिक्त यह बात भी विचारणीय है कि अन्य के प्रति पूर्ववृत्तित्व का भान मान कर प्रकृत कार्य के प्रति जिसमें पूर्ववृत्तिता का भान हो उसे प्रकृत कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध मानने पर तो याग (यज्ञ) आदि भी अपूर्व (पुण्य) के प्रति अन्यथासिद्ध बन जायेगा, क्योंकि याग में स्वर्गजनकता का, जो कि स्वर्गनियतपूर्ववृत्तिता से घटित है, ज्ञान कर के ही अपूर्व के प्रति पूर्ववृत्तिता का भान माना जाता है । आशय यह है कि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वेदवचन से याग में स्वर्गकारणता का भान होने के बाद ही स्वर्गकामनावाला पुरुष याग में प्रवृत्त होता है । मगर याग तो क्रियाविशेषस्वरूप होने से क्षणिक है । याग करने के बाद बड़े दिनों के बाद स्वर्ग प्राप्त होता है । जब स्वर्गप्राप्ति होती है तब याग तो चिरपूर्वकाल में विनष्ट होता है । अतः स्वर्ग के प्रति याग में वेदबोधित कारणता की अन्यथानुपपत्ति के बल पर अपूर्व नामक व्यापार की बीच में कल्पना की जाती है । मगर अपूर्व के प्रति याग में पूर्ववृत्तिता का भान याग में स्वर्गपूर्ववृत्तिताघटितकारणता के ज्ञान के बाद ही होता है । अतः उपर्युक्त द्वितीय अन्यथासिद्ध के लक्षण के अनुसार याग अपूर्व के प्रति अन्यथासिद्ध सिद्ध हो जाने की आपत्ति आयेगी। इस तरह द्वितीय अन्यथासिद्ध के लक्षण में उपर्युक्त अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोष प्रसक्त होते हैं ।

~ द्वितीय अन्यथासिद्ध के लक्षण में परिष्कार मीमांसा ~

उपर्युक्त दोष के निवारणार्थ द्वितीय अन्यथासिद्ध के लक्षण का इस स्वरूप में स्वीकार करना चाहिए कि अन्य के प्रति पूर्ववृत्तिता के अनुपपादक पूर्ववृत्तित्व का जिसमें ज्ञान हो वह प्रकृत कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है । याग में अपूर्वपूर्ववृत्तिता का भान स्वर्ग के प्रति याग की उस पूर्ववृत्तिता के ज्ञान के बाद होता है, जो पूर्ववृत्तिता अपूर्व के प्रति याग की पूर्ववृत्तिता = कारणता की उपपादक है, न कि अनुपपादक । याग में स्वर्गकारणता (स्वर्गपूर्ववृत्तिता) ही यागजन्य अपूर्वनामक व्यापार की पूर्ववृत्तिता = कारणता की समर्थक है । यदि याग में स्वर्गपूर्ववृत्तिताघटित कारणता न हो तब तो याग में अपूर्व के प्रति पूर्ववृत्तिता = कारणता ही उपपन्न न हो सकेगी । इस तरह अपूर्व के प्रति याग की पूर्ववृत्तिता की उपपादक स्वर्गपूर्ववृत्तिता

तत्रोपपादकत्वं न तदभावव्याप्याभावप्रतियोगित्वं, अपूर्वपूर्ववृत्तित्वं विनापि अपूर्वे स्वर्गपूर्ववृत्तित्वात् । नापि तद्व्याप्यत्वं, एवं हि शब्दविशिष्टं प्रत्याकाशस्य हेतुतापत्तेः ।

❀ जयलता ❀

गृहीत्वाऽपूर्वं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यत इति नापूर्वं प्रति यागादेरन्यथासिद्धत्वप्रसङ्गः । गगनस्य शब्दं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गगनस्य घटं प्रति पूर्ववृत्तित्वानुपपादकमिति गगनस्य घटपूर्ववृत्तित्वानुपपादक-शब्दपूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव घटं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहादाकाशस्य घटं प्रति नान्यथासिद्धत्वानापत्तिरिति भावः ।

किन्त्विदमपि न समीचीनम्, अनुपपादकत्वप्रतियोगिन उपपादकत्वस्याऽनिर्वचनात् । यत उपपादकत्वं किं उपपाद्याभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वरूपं उपपाद्यव्यापकत्वात्मकं अन्यद्वा ? इति कल्पनात्रितयी प्रगुणगुण्ठ्यापि सर्वत्राप्रतिहतप्रसरा प्रसरीसरीति । आद्याया अयुक्तत्वमावेदयति **तत्र** = 'प्रकृतकार्यपूर्ववृत्तित्वानुपपादकपूर्ववृत्तित्वमन्यं प्रति गृहीत्वैव यस्य प्रकृतकार्यपूर्ववृत्तित्वं ज्ञायते तत् प्रकृतकार्यं प्रत्यन्यथासिद्धं द्वितीयं' इति लक्षणघटकं **उपपादकत्वं न तदभावव्याप्याभावप्रतियोगित्वं** = उपपाद्याभावो व्याप्यो यस्य स उपपाद्याभावव्याप्यः स चासौ अभावश्च = उपपाद्याभावव्याप्याभावः, तस्य प्रतियोगित्वं उपपादकत्वमिति न युक्तमित्यर्थः । प्रकृते उपपाद्यं यागादेरपूर्वं प्रति पूर्ववृत्तित्वं तस्योपपादकञ्च यागादेः स्वर्गं प्रति पूर्ववृत्तित्वम् । ततश्चापूर्वनिरूपित-पूर्ववृत्तित्वाभावनिष्ठव्याप्यत्वनिरूपितव्यापकत्वाश्रयस्याभावस्य प्रतियोगित्वं स्वर्गपूर्ववृत्तित्वे प्राप्तम् । तच्च व्यभिचारग्रस्तम्, **यतोऽपूर्वपूर्ववृत्तित्वं विनाऽपि अपूर्वे स्वर्गपूर्ववृत्तित्वात्** । प्रकृते अपूर्ववृत्तित्वाभावस्य व्याप्यत्वं स्वर्गपूर्ववृत्तित्वाभावस्य च व्यापकत्वम् । ततोऽपूर्वपूर्ववृत्तित्वस्य व्यापकत्वं स्वर्गपूर्ववृत्तित्वस्य च व्याप्यत्वमिति प्राप्तम् । अपूर्वेऽपूर्वपूर्ववृत्तित्वरूपं व्यापकं नास्ति तथापि स्वर्गपूर्ववृत्तित्वस्वरूपं व्याप्यमस्तीति तदभाववद्वृत्तित्वलक्षणव्यभिचारान्न स्वर्गपूर्ववृत्तित्वेऽपूर्ववृत्तित्वाभावव्याप्या-भावप्रतियोगित्वमस्ति । ततो नाद्या कल्पना सङ्गता ।

द्वितीयकल्पनायामाह- **नापि तद्व्याप्यत्वं**, तद् = उपपाद्यं व्याप्यं यस्य स तथा तद्भावस्तत्त्वं, तदपि न युक्तमित्यर्थः । स्वर्गपूर्ववृत्तित्वेऽपूर्वपूर्ववृत्तित्वनिरूपितव्यापकत्वं स्वर्गपूर्ववृत्तित्वनिरूपितव्याप्यत्वञ्चापूर्वपूर्ववृत्तित्व इत्यपि न सम्यगित्यर्थः । एवं हि यागनिष्ठे स्वर्गपूर्ववृत्तित्वेऽपूर्वपूर्ववृत्तित्वोपपादकत्वसम्भवेऽपि **शब्दविशिष्टं** शब्दं **प्रति** अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन शब्दविशिष्टशब्द-त्वावच्छिन्नं प्रतीति यावत्, **आकाशस्य हेतुतापत्तेः** । अयं भाव आकाशस्य कार्यतावच्छेदकं शब्दत्वमेव, न तु जन्यतासम्बन्धेन

का याग में ज्ञान होने के पश्चात् ही याग में अपूर्वपूर्ववृत्तिता का भान होने पर भी याग अपूर्व के प्रति अन्यथासिद्ध नहीं है - यह फलित होता है । आकाश में शब्दकारणता (शब्दपूर्ववृत्तिता) आकाशनिष्ठ घटपूर्ववृत्तिता की उपपादक नहीं है, किन्तु अनुपपादक है । अतः घट के प्रति आकाश की पूर्ववृत्तिता की अनुपपादक शब्दपूर्ववृत्तिता का गगन में भान होने के बाद ही गगन में घटपूर्ववृत्तिता का भान होने की वजह आकाश घट के प्रति अन्यथासिद्ध है - यह सूचित होता है । अतः आकाश में घट की अपेक्षा अन्यथासिद्धत्व की अव्याप्ति का एवं याग में अपूर्व की अपेक्षा अन्यथासिद्धत्व की अतिव्याप्ति का निराकरण हो जाता है ।

❀ उपपादकत्व का निरूपण नामुमकिन ❀

तत्रो. । मगर उपर्युक्त बात भी विचार करने पर असंगत प्रतीत होती है । इसका कारण यह है कि द्वितीय अन्यथासिद्ध के घटक उपपादकत्व का सम्यग् निर्वचन नहीं हो सकता है । (१) यदि यह कहा जाय कि —> 'उपपाद्याभाव जिस अभाव का व्याप्य है उस अभाव की प्रतियोगिता ही उपपादकत्व है' <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि तब स्वर्गपूर्ववृत्तित्व अपूर्वपूर्ववृत्तित्व का उपपादक न बन सकेगा । वह इस तरह- उपर्युक्त उपपादकत्वनिर्वचन के अनुसार अपूर्वपूर्ववृत्तित्वाभाव होगा व्याप्य और स्वर्ग-पूर्ववृत्तित्वाभाव बनेगा व्यापक । अर्थात् अपूर्वपूर्ववृत्तित्व व्यापक बनेगा और स्वर्गपूर्ववृत्तित्व उसका व्याप्य होगा । इससे यह अर्थ प्राप्त होता है कि जहाँ जहाँ स्वर्गपूर्ववृत्तित्व रहता होगा वहाँ वहाँ अपूर्वपूर्ववृत्तित्व अवश्य रहता होगा । यानी अपूर्वपूर्ववृत्तित्व को छोड़ कर स्वर्गपूर्ववृत्तित्व कहाँ भी नहीं रहेगा । मगर वस्तुस्थिति इससे विपरीत है । अपूर्व = पुण्य में अपूर्वपूर्ववृत्तित्व नहीं रहता है फिर भी स्वर्गपूर्ववृत्तित्व रहता है । अन्य अपूर्व की उत्पत्ति अपूर्व से नहीं होती है, किन्तु याग से होती है । अतः अपूर्व में स्वर्गपूर्ववृत्तित्व अपूर्वपूर्ववृत्तिता का व्यभिचारी बन जायेगा । इसलिए उपपादकत्व का उपर्युक्त निर्वचन असंगत है ।

यदि ऐसा कहा जाय कि —> 'उपपाद्य जिसका व्याप्य हो वह उपपादक है यानी उपपाद्य की व्यापकता = उपपादकत्व। इसको सरल भाषा में इस तरह कह सकते हैं कि जिसके बिना उपपाद्य अर्थ की उपपत्ति न हो सके वह उपपादक कहा

नाप्यन्यद्, दुर्वचत्वात् ।

अथास्यायमर्थो 'यदन्यं प्रति पूर्ववृत्तिताघटितरूपेण यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तिता गृह्यते

❀ जयलता ❀

शब्दविशिष्टशब्दत्वं गौरवात् । किन्तूपपाद्यनिरूपितव्यापकत्वरूपमुपपादकत्वमङ्गीकृत्य प्रकृतकार्यनिरूपितपूर्ववृत्तित्वानुपपादकं प्रकृतकार्यातिरिक्तकार्यनिरूपितपूर्ववृत्तित्वं, गृहीत्वैव यस्य प्रकृतकार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तस्य प्रकृतकार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वमिति प्रतिपादने तु स्वजन्यत्वसम्बन्धेन शब्दविशिष्टशब्दत्वावच्छिन्नं प्रत्यपि गगनस्य कारणत्वं स्यात्, आकाशकार्यतावच्छेदकं शब्दविशिष्टशब्दत्वं स्यादिति भावः । शब्दाजन्यं शब्दमजनयित्वाकाशस्य शब्दविशिष्टशब्दजनकत्वं नोपपद्यते । अतः कार्यतावच्छेदकघटकीभूतवैशिष्ट्यप्रतियोगिशब्दनिरूपितपूर्ववृत्तित्वं तादृशवैशिष्ट्यानुयोगिशब्दनिरूपितपूर्ववृत्तित्वस्योपपादकं = व्यापकम् । ततो यथाऽपूर्वपूर्ववृत्तित्वव्यापकस्वर्गपूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यागस्यापूर्वपूर्ववृत्तित्वग्रहेऽपि यागस्य नापूर्वं प्रति द्वितीयान्यथासिद्धत्वं तथैव विवक्षितकार्यतावच्छेदकवैशिष्ट्यानुयोगिशब्दलक्षणप्रकृतकार्यनिरूपितपूर्ववृत्तित्वव्यापकं तादृशवैशिष्ट्यप्रतियोगिशब्दनिरूपितपूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव गगनस्य स्वजन्यत्वसम्बन्धेन शब्दविशिष्टशब्दनिरूपितपूर्ववृत्तित्वग्रहेऽपि गगनस्य न शब्दविशिष्टशब्दत्वावच्छिन्नं प्रति द्वितीयान्यथासिद्धत्वं स्यात्, तुल्ययोगक्षेमत्वात् । **एतेन** तज्ज्ञापकत्वरूपं तत्कल्पकत्वरूपं वोपपादकत्वमित्यपि **प्रत्युक्तम्**, शब्दविशिष्टशब्दत्वस्याकाशकार्यतावच्छेदकत्वापत्तेः दुर्वारत्वात् । ततो यस्य अभावे सत्युपपाद्यं नोपपद्यते स उपपादक इति द्वितीयकल्पनाऽपि न मतिमतां रतिदायिनी ।

यदि च गगनस्य शब्दविशिष्टशब्दत्वं न कार्यतावच्छेदकं किन्तु शब्दविशिष्टशब्दमात्रवृत्ति वैजात्यमेव, अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन शब्दवैशिष्ट्यं तु कार्यतावच्छेदकपरिचायकं न तु तद्घटकमिति पूर्वशब्दपूर्ववृत्तित्वं नियमेन न गृह्यत इत्युच्यते तदा नितरां तं प्रति गगनस्य द्वितीयान्यथासिद्धत्वाऽसम्भवः । वस्तुतः तादृशवैजात्यकल्पने गौरवमेव बाधकमिति तृतीयान्यथासिद्धत्वमेव तादृशवैजात्यावच्छिन्नं प्रति गगनस्य स्यान्न तु द्वितीयान्यथासिद्धत्वमिति तु ध्येयम् ।

तृतीयकल्पनायामाह-नाप्यन्यद् = अन्यस्वरूपं उपपादकत्वं सम्भवति, **दुर्वचत्वात्** = समीचीननिर्वचनाऽसम्भवात् । न चोत्पादकत्वमेवोपपादकत्वम्, अपूर्वं प्रति यागादेरन्यथासिद्धत्वापत्तेः । ततो न प्रकृतकार्यपूर्ववृत्तित्वानुपपादकमन्यनिरूपितपूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य प्रकृतकार्ये पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तत् प्रकृतकार्ये द्वितीयमन्यथासिद्धमिति परिष्कारः चारुतामञ्चति ।

तृतीयं द्वितीयान्यथासिद्धलक्षणमाक्षिपति - **अथेति** । अयं = अनुपदं वक्ष्यमाणः **अस्य** = प्रोक्तद्वितीयान्यथासिद्धलक्षणस्य

जाता है' <-- तो यह भी असंगत है, क्योंकि तब स्वर्गपूर्ववृत्तित्व में अपूर्वपूर्ववृत्ति की उपपादकता = व्यापकता उपपन्न हो जाने पर भी शब्दजन्य शब्द = स्वजन्यत्वसम्बन्ध से शब्दविशिष्टशब्द के प्रति भी आकाश कारण बन जायेगा अर्थात् आकाश का कार्यतावच्छेदक शब्दविशिष्टशब्दत्व भी हो जायेगा । आकाश में शब्द (A) के प्रति पूर्ववृत्तित्व का ज्ञान करने के बाद शब्दविशिष्ट शब्द (B) के प्रति पूर्ववृत्तित्व का भान होता है मगर कार्यतावच्छेदक शब्दविशिष्टशब्दत्व के घटक वैशिष्ट्य के प्रतियोगी शब्द (A) के प्रति पूर्ववृत्तित्व वैशिष्ट्य के अनुयोगी शब्द (B) के प्रति पूर्ववृत्तित्व का उपपादक = व्यापक है। पूर्व शब्द (A) का पूर्ववृत्तित्व आकाश में न होने पर विशिष्ट शब्द (B) का पूर्ववृत्तित्व कभी नहीं रहता है । अतः पूर्वशब्द (A) का पूर्ववृत्तित्व विशिष्टशब्द (B) की पूर्ववृत्तिता का अनुपपादक = अव्यापक नहीं है। इसलिए विशिष्टशब्दनिरूपित पूर्ववृत्तित्व के अनुपपादक पूर्वशब्द (A) पूर्ववृत्तित्व का ज्ञान कर के ही आकाश में विशिष्टशब्द (B) के प्रति पूर्ववृत्तिता का ज्ञान नहीं होता है किन्तु विशिष्टशब्द (B) के पूर्ववृत्तित्व के उपपादक ऐसे पूर्वशब्द (A) निरूपित पूर्ववृत्तित्व का ज्ञान कर के ही आकाश में विशिष्टशब्द (B) के प्रति पूर्ववृत्तित्व का ज्ञान होता है । इसलिए शब्दविशिष्टशब्दत्वावच्छिन्न के प्रति आकाश में कारणता की आपत्ति आयेगी। वास्तविकता यह है, कि आकाश शब्दत्वावच्छिन्न का कारण है, न कि शब्दविशिष्टशब्दत्वावच्छिन्न का । अर्थात् गगन का कार्यतावच्छेदक शब्दत्व है न कि शब्दविशिष्टशब्दत्व । इस दोष की बदौलत द्वितीय अन्यथासिद्ध के लक्षण के घटक उपपादकत्व का द्वितीय निर्वचन भी असंगत है - यह निश्चित होता है । उपपादकत्व को अन्य किसी स्वरूप तो नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसका सम्यक् निरूपण करना ही दुर्वच है। इस तरह द्वितीय अन्यथासिद्ध के घटक उपपादकत्व का समीचीन निर्वचन नामुमकिन होने के सबब उपर्युक्त रीति से तादृश लक्षण को मान्यता नहीं दी जा सकती ।

❋ द्वितीय अन्यथासिद्ध का तृतीय लक्षण भी सदोष ❋

अथा. । यदि नैयायिक की ओर से द्वितीय अन्यथासिद्ध के लक्षण का ऐसा प्रतिपादन किया जाय कि --> 'जिस

तत्र तदन्यथासिद्धमि'ति । नन्वेवं तस्याऽष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वादिनाऽन्यथासिद्धिः कुतः ? 'अवश्यक्लृप्तेत्यादित' इति चेत् ? आकाशत्वेनाऽपि तत एव साऽस्तु ।

❋ जयलता ❋

अर्थः । तथाहि - **यदन्यं** = यस्मात् प्रकृतकार्यात् अतिरिक्तं कार्यं **प्रति पूर्ववृत्तिताघटितरूपेण** एव **यस्य** = यद्रूपावच्छिन्नस्य यं = प्रकृतकार्यं **प्रति पूर्ववृत्तिता गृह्यते तत्र** = प्रकृतकार्ये **तत्** द्वितीयं **अन्यथासिद्धम्** । शब्दं प्रति पूर्ववृत्तिताघटितरूपेणाकाशस्य घटं प्रति पूर्ववृत्तिता गृह्यते इति घटादौ गगनमन्यथासिद्धम् । पूर्वशब्दं प्रति पूर्ववृत्तित्वघटितरूपेणैवाकाशस्य शब्दविशिष्टशब्दत्वावच्छिन्नं प्रति पूर्ववृत्तिता गृह्यते इति शब्दविशिष्टशब्दत्वावच्छिन्ने गगनमन्यथासिद्धम् । **न च** स्वर्गपूर्ववृत्तित्वघटितस्वर्गजनकत्वेन रूपेण यागस्याऽपूर्वं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहादपूर्वं प्रति यागस्यान्यथासिद्धत्वापत्तिरिति **वाच्यम्**, स्वर्गजनकत्वेन यागस्यापूर्वं प्रत्यन्यथासिद्धत्वेऽपि यागत्वेन हेतुत्वेऽन्यथासिद्ध्यभावादिति **महादेवः** ।

प्रकरणकारः तमपक्षस्सयितुमाशिपति - **ननु एवं** = अन्यपूर्ववृत्तित्वघटितरूपेण यस्य प्रकृतकार्यं प्रति पूर्ववृत्तिता गृह्यते तस्य प्रकृतकार्येऽन्यथासिद्धत्वमित्युपगमस्य स्वर्गजनकत्वेन यागस्याऽपूर्वं प्रत्यन्यथासिद्धत्वेऽपि यागत्वेनान्यथासिद्धत्वाभावप्रतिपादने गगनस्य शब्दसमवायिकारणत्वेन रूपेण घटादिकं प्रत्यन्यथासिद्धत्वेऽपि **तस्य** = आकाशस्य **अष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वादिना** रूपेण घटादिकं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहे घटादिकं प्रति **अन्यथासिद्धिः कुतः** सम्भवेत् ? अन्यथाऽर्थजरतीयापातात् ।

पर प्रत्युत्तरयन्ति - **अवश्यक्लृप्तेत्यादितः** अनुपदमेव वक्ष्यमाणतृतीयान्यथासिद्धलक्षणाक्रान्तत्वादेव गगनस्याष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वादिना घटादिकं प्रति तृतीयान्यथासिद्धत्वेन । अवश्यक्लृप्तेन घटादिसम्भवे तत्सहभूतत्वेन गगनस्याऽष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वेन तृतीयान्यथासिद्धत्वमिति चेत् ?

प्रकरणकारः प्रतिबन्द्या प्राह- **आकाशत्वेनाऽपि** – शब्दसमवायिकारणत्वेनाऽपि **ततः** = अवश्यक्लृप्तेत्यादित **एव सा** अन्यथासिद्धिः **अस्तु** शब्दसमवायिकारणत्वेनापि गगनस्य घटादिकं प्रत्यक्लृप्तत्वात् । इत्थञ्च तृतीयान्यथासिद्धत्वेन गतार्थत्वादेव तदतिरिक्तत्वेन प्रकृतान्यथासिद्धत्वकल्पनमन्याय्यमिति ध्वन्यते । एतेन घटं प्रति कुलालस्य कुलालपितृत्वेन द्वितीयान्यथासिद्धत्वमिति **तर्कसङ्ग्रहनृसिंहीयप्रकाशिकाकारवचनं** (त.सं.नृ.प्र.पृ.२३२) **निरस्तम्**, तृतीयान्यथासिद्धेरेव कुलालपितृत्वेनाऽन्यथासिद्धत्वोपपत्तेः ।

वस्तुतोऽन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहनियतो यं प्रति यद्धर्मावच्छिन्नस्य पूर्ववृत्तित्वग्रहस्तं प्रति तद्धर्मावच्छिन्नस्य द्वितीयान्यथासिद्धत्वमित्येवार्थः । यागादेः विजातीयसुखहेतुतया विहितत्वेनापूर्वं प्रत्यन्यथासिद्धत्वेऽपि यागत्वादिना हेतुत्वं निष्प्रत्यूहम् । आकाशस्याऽपि घटादौ शब्दजनकत्वेनैतदन्यथासिद्धत्वं, शब्दाश्रयत्वेन त्वन्यत्र क्लृप्तत्वादिनैव । न चैवं मननव्यापारकश्रवणत्व-भ्रमिजनकत्वादिना जनकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वज्ञाने एवैतत्त्वत्र फलाननुगुणमन्यं प्रतीति वाच्यत्वादित्यपि **कश्चित्** ।

कार्य से अन्य कार्य के प्रति पूर्ववृत्तिताघटितरूप से जिसमें जिस कार्य के प्रति पूर्ववृत्तिता का भान हो वह उस कार्य के प्रति द्वितीय अन्यथासिद्ध है । जैसे आकाशत्वेन = शब्दपूर्ववृत्तित्वघटितशब्दसमवायिकारणत्वेन रूपेण आकाश में घट के प्रति पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होने से घट के प्रति गगन द्वितीय अन्यथासिद्ध है' <— तो यह भी संगत नहीं है, क्योंकि घट के प्रति शब्दसमवायिकारणत्वेन आकाश में पूर्ववृत्तित्व का ज्ञान होने से आकाश में घट के प्रति द्वितीय अन्यथासिद्धि का उपपादन करने पर भी अष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वादिरूपेण आकाश में घट के प्रति पूर्ववृत्तित्व का ज्ञान होने पर घट के प्रति गगन को आप नैयायिक कैसे अन्यथासिद्ध कह सकोगे ? यह कोई नियम नहीं है कि घट के प्रति पूर्ववृत्तित्व का गगन में शब्दसमवायिकारणत्वेन = आकाशत्वेन ही भान हो, न कि अष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वेन । इसलिए अष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वेन रूपेण गगन में घटादि के प्रति कारणता की आपत्ति दुर्वार बन जायेगी । यहाँ नैयायिक की ओर से यह तो नहीं कहा जा सकता कि —> ''गगन में अष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वेन रूपेण अन्यथासिद्धि द्वितीय अन्यथासिद्ध के लक्षण से भले ही सिद्ध न हो, किन्तु 'अवश्यक्लृप्त....' इत्यादिरूप से वक्ष्यमाण तृतीय अन्यथासिद्ध के लक्षण से आक्रान्त होने की वजह गगन में अष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वेन रूपेण तृतीय अन्यथासिद्धि तो मुमकिन ही है । इसलिए गगन में अष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वेन रूपेण घटकारणता की आपत्ति को अवकाश नहीं है'' <— इसका कारण यह है कि इस तरह अवश्यक्लृप्त गगन में घट के प्रति तृतीय अन्यथासिद्धि का प्रतिपादन करना ही अभिमत है तो फिर अष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वेन रूपेण ही क्यों तृतीय अन्यथासिद्धि गगन में मानी जाय ? आकाशत्वेन = शब्दसमवायिकारणत्वेन रूपेण भी गगन में घट के प्रति तृतीय अन्यथासिद्धि क्यों न मानी जाय ? मतलब कि द्वितीय अन्यथासिद्ध का अन्तर्भाव तृतीय अन्यथासिद्ध में ही हो जाने की वजह अतिरिक्त द्वितीय अन्यथासिद्ध का प्रतिपादन करना असंगत है । अब यहाँ यह भी

अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तत्सहभूतं तृतीयम् । यथा पाकजगन्धं प्रति रूपप्रागभावादि, यथा वा तद्घटादौ तद्रासभादि । दण्डादिना चक्रादेर्मिथोऽन्यथासिद्धि-व्युदासाय 'कार्यसम्भवे'त्युक्तम् । तथा चात्र ज्ञानज्ञाप्यत्वस्य पञ्चम्यर्थत्वात् दण्डमात्रस्य

❋ जयलता ❋

दीधितिकृतस्तु - फलाननुगुणं अन्यं प्रतीति न वक्तव्यम् । अत एव परामर्शजनकत्वेन तद्व्याप्तिज्ञानानां न कारणत्वम्, एतदन्यथासिद्धेरिति **वदन्ति** ।

तृतीयमन्यथासिद्धमाहुः - **अन्यत्र** = प्रकृतकार्यसजातीयप्रकृतकार्यभिन्ने, सप्तम्यर्थो निरूपितत्वम्, तस्य पदार्थैकदेशपूर्ववृत्तितायामन्वयः। **क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिनः** = प्रमाणप्रसिद्ध-नियतपूर्ववृत्तिताश्रयात् **एव कार्यसम्भवे** = प्रकृतकार्यस्याप्युत्पत्तिनिर्वाहे, **तत्सहभूतं** = क्लृप्तनियतपूर्ववृत्तिसहभूतं **तृतीयं** अन्यथासिद्धम् । तथा च प्रकृतकार्यसजातीयप्रकृतकार्यभिन्नकार्यनिरूपित-प्रामाणिकनियतपूर्ववृत्तित्वशून्यत्वं तत्कार्यसजातीयनिरूपितान्यथासिद्धत्वमिति फलितार्थः । उदाहरति **यथेति । पाकजगन्धं** = विजातीयतेजःसंयोगजन्यगन्धसजातीयं **प्रति रूपप्रागभावादि** तृतीयमन्यथासिद्धमिति शेषः । गन्धं प्रत्यन्यत्र क्लृप्तपूर्ववर्तिनाऽऽकगन्ध-प्रागभावेन तत्सहभूतं रूपप्रागभावादि पाकजगन्धं प्रत्यन्यथासिद्धमित्यर्थः । अयं भावः पाकाद्रूपादिचतुष्टयोत्पत्त्यधिकरणे तदुत्पत्तेः प्राग्रूपादिप्रागभावचतुष्टयसत्त्वेऽपि यादृशपुष्पादौ कदाचिद्रूपान्तरं नोपलब्धं किन्तु गन्धान्तरमेव, तत्र तादृशगन्धोत्पत्त्य-व्यवहितप्राक्काले रूपप्रागभावसत्त्वे मानाभावात् गन्धप्रागभावस्यैव क्लृप्तनियतपूर्ववृत्तिताकतया तेनैव प्रकृतगन्धस्याप्युत्पत्तिसम्भवे प्रकृतगन्धसजातीये रूपप्रागभावोऽन्यथासिद्ध इति **नृसिंहप्रकाशिकाकारः** ।

उदाहरणान्तरमाह- **यथा वा तद्घटादाविति** । यद्यपि संयोगादिसम्बन्धेन रासभविलम्बेऽपि घटविलम्बाभावात् 'घटकारणत्वं कुत्र?' इति जिज्ञासायां प्रथमं दण्डादय एवोपतिष्ठन्ते न रासभः । अत उपस्थितिकृतलाघवादवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिभिः दण्डादिभिरेव घटसम्भवे रासभस्यान्यथासिद्धत्वं तथापि घटत्वावच्छिन्नकारणतायां रासभस्यान्यथासिद्ध्युपपादनमनावश्यकं, नियतपूर्व-वृत्तित्वदलेनैव तद्वारणात् किन्तु तत्तद्घटव्यक्तित्वावच्छिन्नकारणतायामेव, तत्रापि न सर्वत्र विशेषकारणतायां, विना रासभमुत्पन्नं घटं प्रति तस्य नियतपूर्ववृत्तित्वाभावादेव वारणात् । किन्तु यत्र घटव्यक्तौ रासभस्य पूर्ववृत्तित्वमस्ति तद्व्यक्तिनिरूपितकारणतायामेव तद्रासभस्यान्यथासिद्धत्वं वक्तव्यमिति 'घटादौ रासभादि'त्यनुक्त्वा तद्घटादौ **तद्रासभादीत्युक्तम्** । यद्घटं प्रति यद्रासभस्य पूर्व-वृत्तित्वमस्ति तत्रापि तद्घटजातीयं प्रति सिद्धकारणभावैर्दण्डादिभिरेव तद्व्यक्तेरपि सम्भवे तद्रासभस्यान्यथासिद्धत्वमिति । एत-दनुसृत्यैव लोके दासीगर्दभन्यायः प्रवृत्तः । घटोत्पत्तौ शिरसि मृत्तिकामानीतवती दासी तथा तदानयनकारी गर्दभश्च न कारणं किन्तु मृत्तिकैव, अन्यथासिद्धिशून्यत्वात्, मृत्तिकाहर्त्री दासी तदानयनकारी गर्दभश्चान्यथासिद्धौ, उपायान्तरेणापि मृत्तिकानयनस्य सुकरत्वात् ।

अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिसहभूतं यत्तत्तृतीयमन्यथासिद्धमित्युक्तौ तु अन्यत्र तद्घटादौ क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिनो दण्डादेः सहभूतं चक्रादि घटं प्रति अन्यथासिद्धं स्यादिति **दण्डादिना चक्रादेः मिथः** = परस्परं **अन्यथासिद्धिव्युदासाय 'कार्यसम्भवे' इत्युक्तम्** । न हि चक्रादिकं विहाय दण्डादेरेव घटोत्पत्तिः सम्भवति । ततो न चक्रादेर्दण्डादिना दण्डादेश्चक्रादिना वा घटं प्रत्यन्यथासिद्धत्वप्रसङ्गः । **तथा च अत्र** = 'क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन' इत्यत्र **ज्ञानज्ञाप्यत्वस्य पञ्चम्यर्थत्वात् दण्डमात्रस्य** = केवलस्य

जान लीजिये कि तृतीय अन्यथासिद्ध का स्वरूप क्या है ? देखिये,

❋ तृतीय अन्यथासिद्ध का प्रतिपादन ❋

अन्यत्र. । प्रस्तुत कार्य से भिन्न एवं तत्सजातीय अन्य कार्य के प्रति क्लृप्त एवं नियम से पूर्व रहनेवाले से ही प्रस्तुत कार्य की उत्पत्ति मुमकिन हो तो क्लृप्तनियतपूर्ववृत्ति का सहभूत जो हो वह प्रस्तुत कार्य के प्रति तृतीय अन्यथासिद्ध है। जैसे अपाकज गन्ध के प्रति क्लृप्त नियतपूर्ववर्ती गन्धप्रागभाव से ही पाकज गन्ध की उत्पत्ति मुमकिन होने से तत्सहभूत = गन्धप्रागभाव से ही पाकज गन्ध की उत्पत्ति मुमकिन होने से तत्सहभूत = गन्धप्रागभावभिन्न रूपप्रागभाव पाकज गन्ध के प्रति तृतीय अन्यथासिद्ध है । इस तरह घटविशेष के प्रति रासभविशेष पूर्ववृत्ति होने पर भी अन्य घट (रासभविरहकालीनोत्पत्तिक) के प्रति क्लृप्त एवं नियम से पूर्ववृत्ति दण्ड, चक्र, कुलाल आदि से ही घटविशेष की उत्पत्ति मुमकिन होने से दण्डादिसहभूत = दण्डादिभिन्न रासभविशेष (गधा) घटविशेष के प्रति तृतीय अन्यथासिद्ध कहा जाता है । यदि तृतीय अन्यथासिद्ध के लक्षण में केवल इतना ही कहा जाय कि - 'अन्यत्र क्लृप्त एवं नियम से पूर्ववर्ती का सहभूत तृतीय अन्यथासिद्ध है'- तब तो

घटोत्पत्त्यव्याप्यत्वात्तन्निरासः ।

नन्वत्रापि गन्धप्रागभावमात्रस्य न पाकजगन्धोत्पत्तिव्याप्यत्वं, तस्य रूपप्रागभावाऽविनाभूतत्वात् । एतेन पृथगन्वयव्यतिरेकराहित्ये सति अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिताकसहभूत-

❋ जयलता ❋

दण्डस्य चक्रादिशून्यस्य **घटोत्पत्त्यव्याप्यत्वात् तन्निरासः** = चक्रादेरन्यथासिद्धत्वनिराकरणम् । यद्यपि पञ्चम्या अवधिमत्त्वप्रतियोगित्व-जन्यत्व-स्वकर्तृकोच्चारणाधीनत्व-निरूपितत्व-ज्ञानज्ञाप्यत्व-तदपेक्षात्व-पर्यन्तारम्भादयोऽर्थास्तथापि प्रकृते ज्ञानज्ञाप्यत्वमर्थं उपादेयः । यथा 'वह्निमान् धूमादि'त्यत्र धूमज्ञानज्ञाप्यवह्निमानिति बोधस्तथा घटजातीयं प्रति क्लृप्तनियतपूर्ववृत्तिदण्डमात्रज्ञानज्ञाप्यघटोत्पत्तिरित्यर्थः प्राप्तः । स च बाधितः, दण्डमात्रस्य घटोत्पत्त्यव्याप्यत्वेन दण्डमात्रज्ञानज्ञाप्यत्वस्य घटोत्पादेऽन्वयायोगात् । अत एव दण्डादिना चक्रादेः मिथोऽन्यथासिद्धिपराकरणमित्यर्थः ।

पाकजगन्धस्थलेऽपि रूपप्रागभावः कथं न क्लृप्तनियतपूर्ववृत्तिः ? गन्धादीनां चतुर्णामप्येकदोत्पत्त्या प्रागभावचतुष्टयस्यापि नियतपूर्ववृत्तित्वादित्याशयेन शङ्कते **नन्विति** । अस्य च समाधानमग्रे 'अत्राहुः' इत्यनेन वक्ष्यतीति स्मर्तव्यम् । **अत्र** = तृतीयान्यथासिद्धलक्षणे **अपि गन्धप्रागभावमात्रस्य न पाकजगन्धोत्पत्तिव्याप्यत्वं** येन गन्धप्रागभावमात्रज्ञानज्ञाप्या पाकजगन्धोत्पत्तिः स्यात् । तत्र हेतुमाह- **तस्य** = गन्धप्रागभावस्य **रूपप्रागभावाविनाभूतत्वात्** = रूपप्रागभावव्याप्यत्वात् । यत्र यत्र गन्धप्रागभावः तत्र तत्र रूपप्रागभाव इति नियमादित्यर्थः । स्वव्याप्यव्यापकस्य स्वव्याप्यत्वनियमेन गन्धरूपप्रागभावयोरुभयोरेव पाकजगन्धोत्पत्तिव्याप्यत्वात् पाकजगन्धं प्रति रूपप्रागभावस्य तृतीयान्यथासिद्धत्वासम्भव इति तन्त्वाशयः ।

एतेन = गन्धप्रागभावस्य रूपप्रागभावव्याप्यत्वेन, अस्य निरस्त इत्यनेनान्वयः । पञ्चम्यर्थहेतुत्वप्रवेशे आत्माश्रयप्रसक्तेः प्रकृते '**पृथगन्वयव्यतिरेकराहित्ये** = स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशून्यत्वे **सति अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिताकसहभूतं** यत् तत्तृतीयमन्यथासिद्धं, तद्ज्ञानप्रयुक्तज्ञातत्वादिविरहरूपं पृथक्त्वं ग्राह्यम् । तद्घटं क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिताकदण्डादिसहभूतस्य रासभस्य पृथगन्वयव्यतिरेक

दण्डादि से चक्रादि भी अन्यथासिद्ध बन जायेंगे, क्योंकि घटजातीय के प्रति क्लृप्त दण्डादि कारण से चक्रादि अन्य है । एवं चक्रादि से दण्डादि भी तृतीय अन्यथासिद्ध बन जायेंगे, क्योंकि घटजातीय के प्रति क्लृप्त नियतपूर्ववृत्ति चक्रादि से दण्डादि अन्य है । इस आपत्ति के वारणार्थ 'कार्यसम्भवे' ऐसा तृतीय अन्यथासिद्ध के शरीर में कहा गया है । अर्थात् अन्यत्र क्लृप्तनियत पूर्ववर्ती से कार्य की संभावना हो तो उसका सहभूत तृतीय अन्यथासिद्ध है । घटजातीय के प्रति क्लृप्त केवल दण्ड से घट कार्य की उत्पत्ति नामुमकिन है । अतएव पंचमी का अर्थ ज्ञानज्ञाप्यत्व होने पर केवल दण्डज्ञानज्ञाप्य घटोत्पत्ति यहाँ नामुमकिन बनती है, क्योंकि केवल दण्ड में घटोत्पाद की व्याप्ति नहीं है । इसलिए केवल दण्ड से चक्रादि में तृतीय अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति का निरास हो जाता है ।

❋ पाकजगन्ध के रूपप्रागभाव में अन्यथासिद्धत्व की शंका ❋

पूर्वपक्ष :- नन्व. । यहाँ पंचमी विभक्ति का ज्ञानज्ञाप्यत्व अर्थ अन्य कार्य के प्रति क्लृप्तनियतपूर्ववर्ती का, जिसके ज्ञान से कार्योत्पत्ति ज्ञाप्य है, सहभूत प्रकृत कार्य के प्रति तृतीय अन्यथासिद्ध है - ऐसा अर्थ करने पर तो पाकज गन्ध के प्रति रूपप्रागभाव गन्धप्रागभाव से तृतीय अन्यथासिद्ध नहीं हो सकेगा । इसका कारण यह है कि पाकज गन्ध के प्रति क्लृप्तनियतपूर्ववर्ती गन्धप्रागभाव ही केवल गन्धोत्पत्ति का व्याप्य नहीं है किन्तु रूपप्रागभाव भी पाकज गन्धोत्पत्ति का व्याप्य है, क्योंकि रूपप्रागभाव का गन्धप्रागभाव व्याप्य है । जहाँ जहाँ गन्धप्रागभाव रहता है वहाँ वहाँ रूप का भी प्रागभाव अवश्य रहता है । अतः केवल गन्धप्रागभाव में यानी रूपप्रागभावशून्य गन्धप्रागभाव में पाकज गन्ध की व्याप्यता नहीं है । अतः रूपप्रागभावशून्य गन्धप्रागभाव के ज्ञान से पाकजगन्धोत्पत्ति की ज्ञप्ति (ज्ञाप्यता) नामुमकिन है । इसलिए गन्धप्रागभाव की भाँति रूपप्रागभाव का भी क्लृप्तनियतपूर्ववर्ती पद से ग्रहण हो जायेगा। तब तो पाकज गन्ध के प्रति गन्धप्रागभाव से रूपप्रागभाव तृतीय अन्यथासिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह क्लृप्तनियतपूर्ववर्ती से भिन्न - सहभूत नहीं है ।

एतेन. । अतएव यहाँ यह वचन कि —> 'जिसका पृथगन्वयव्यतिरेक अप्राप्त हो और जो क्लृप्तनियतपूर्ववृत्तिसहभूत हो वह प्रकृत कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है । जैसे तद्घट के प्रति रासभविशेष, क्योंकि पृथगन्वयव्यतिरेक का प्रतियोगी गधा नहीं बनता है' <— भी निरस्त हो जाता है, चूँकि गन्धप्रागभाव की भाँति रूपप्रागभाव का भी पृथगन्वयव्यतिरेक मिलता है । जल में गन्धप्रागभाव को छोड़ कर भी उत्पत्तिक्षणावच्छेदेन रूपप्रागभाव रहता है । रूपप्रागभाव में पृथगन्वयव्यतिरेक

मि'त्यर्थोऽपि निरस्तः, गन्धप्रागभावस्येव रूपप्रागभावस्यापि पृथगन्वयादिमत्वात् ।

एतेन पृथगित्यादिना स्वावच्छेदकानवच्छिन्नेत्यादिविवक्षणमपि निरस्तम्; गन्धत्वावच्छेदेनाऽप्युभयोरन्वयव्यतिरेकसम्भवात् ।

अत्राहुः 'अन्यत्र क्लृप्ते'त्यस्य 'अवश्यक्लृप्ते'त्यर्थः । अवश्यक्लृप्तश्चात्र गन्धप्रागभाव

❀ जयलता ❀

रेकशून्यत्वेन तृतीयान्यथासिद्धत्वं इत्यर्थोऽपि **निरस्तः**, पाकजगन्धं प्रति क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिनो **गन्धप्रागभावस्येव** तं प्रति क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिनो **रूपप्रागभावस्यापि पृथगन्वयादिमत्त्वात्** = स्वेतरज्ञानविरहप्रयुक्ताज्ञातत्वशून्यान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वात् विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावान्न रूपप्रागभावस्य पाकजगन्धं प्रति तृतीयान्यथासिद्धत्वं स्यादिति । **न च** स्वातन्त्र्यस्वरूपं पृथक्त्वमुपादेयमिति **वाच्यम्**, गन्धप्रागभावं विहायाऽपि जलादावुत्पत्तिक्षणावच्छेदेन रूपप्रागभावस्य सत्त्वेन स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वस्य रूपप्रागभावेऽनपायात् । ततः पाकजगन्धे रूपप्रागभावस्य कारणत्वापत्तिर्दुर्वारैवेति नव्याशयः ।

एवञ्च = पाकजगन्धं प्रति रूपप्रागभावस्य पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वप्रतिपादनेन च, निरस्तमित्यनेनास्यान्वयः । **पृथगित्यादिना स्वावच्छेदकानवच्छिन्नेत्यादिविवक्षणमपि** । ततश्च 'पृथगन्वयव्यतिरेकराहित्ये सत्यन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिताकसहभूतं तृतीयमि'त्यस्य स्वावच्छेदकानवच्छिन्नान्वयव्यतिरेकशून्यत्वे सत्यन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिताकसहभूतं यत्तत्तृतीयमन्यथासिद्धमित्यर्थः प्राप्तः । यथा तद्घटत्वानवच्छिन्नान्वयव्यतिरेकशून्यस्य तद्घटं प्रति क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिताकसहभूतस्य तद्रासभस्य तद्घटेऽन्यथासिद्धत्वमित्यादिविवक्षणमपि **निरस्तम्, गन्धत्वावच्छेदेनापि उभयोः** = गन्धरूपप्रागभावयोः **अन्वयव्यतिरेकसम्भवात्** पाकजगन्धत्वानवच्छिन्नान्वयव्यतिरेकशून्यभिन्नस्य पाकजगन्धं प्रति क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिताकगन्धप्रागभावसहभूतस्य रूपप्रागभावस्य पाकजगन्धत्वावच्छिन्ने तृतीयान्यथासिद्धत्वानापत्तेस्तदवस्थत्वात् ।

तथापि पाकजगन्धं प्रति गन्धप्रागभावेन रूपप्रागभावस्य तृतीयान्यथासिद्धत्वस्वीकारे तु अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिताकेन पाकजरूपप्रागभावेन गन्धोत्पत्तिसम्भवे रूपप्रागभावेनैव गन्धप्रागभावस्य कुतो नान्यथासिद्धिः स्यात्, तुल्ययोगक्षेमत्वात् । **एतेन** अपाकजस्थले गन्धं प्रति गन्धप्रागभावस्यैव हेतुता क्लृप्ता, न तु रूपप्रागभावस्येति न रूपप्रागभावेन गन्धप्रागभावः पाकजगन्धेऽन्यथासिद्ध इति **निरस्तम्**, अपाकजगन्धस्थलेऽपि गन्धं प्रति रूपप्रागभावस्यैव हेतुता क्लृप्ता न तु गन्धप्रागभावस्येति न गन्धप्रागभावेन रूपप्रागभावः पाकजगन्धेऽन्यथासिद्ध इत्यस्यापि सुवचत्वात् । किञ्चानेकद्रव्यत्वादन्यत्र महत्त्वस्य क्लृप्तनियतपूर्ववृत्तित्वाभावेन तस्य प्रत्यक्षे महत्त्वेनान्यथासिद्धत्वं न स्यादित्यपि **कश्चित्** ।

नव्यनैयायिका **अत्राहुः** तृतीयान्यथासिद्धलक्षणघटकस्य 'अन्यत्र क्लृप्ते'त्यस्य 'अवश्यक्लृप्त'इत्यर्थः । ततश्च अवश्यक्लृप्त-

की प्रतियोगिता होने से रूपप्रागभाव में पृथगन्वयव्यतिरेकशून्यत्व विशेषण नहीं रहता है। अतएव विशेषणविशिष्ट तृतीयान्यथासिद्धिलक्षण की भी रूपप्रागभाव में प्रवृत्ति नहीं होने से पाकज गन्ध के प्रति रूपप्रागभाव की कारणता की आपत्ति का परिहार नहीं किया जा सकता ।

एवञ्च. । अतएव यहाँ यह वक्तव्य भी कि —> 'पृथक् का अर्थ है स्वावच्छेदकानवच्छिन्न । अर्थात् स्वावच्छेदकानवच्छिन्न अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता से रहित होते हुए जो क्लृप्तनियतपूर्ववृत्तिसहभूत हो वह प्रकृत कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है। जैसे तद्घट के प्रति पूर्ववृत्ति तद्रासभ में कार्यतावच्छेदक तद्घटत्वानवच्छिन्न अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता नहीं होने से एवं क्लृप्तनियतपूर्ववृत्ति दण्डादि के सहभूत होने से तद्रासभ (विशेष गधा) तद्घट के प्रति तृतीय अन्यथासिद्ध है' <— निरस्त हो जाता है, क्योंकि गन्धप्रागभाव एवं रूपप्रागभाव में गन्धत्वावच्छेदेन भी अन्वय एवं व्यतिरेक की प्रतियोगिता मुमकिन है। गन्ध की उत्पत्ति जहाँ होती है वहाँ गन्धप्रागभाव और रूपप्रागभाव दोनों पूर्व क्षणावच्छेदेन अवश्य विद्यमान ही होते हैं। अतः पाकजगन्धत्व से, जो विवक्षित कार्यतावच्छेदक है, अनवच्छिन्न अन्वय-व्यतिरेक की प्रतियोगिता भी रूपप्रागभाव में मुमकिन होने से पाकजगन्धत्वानवच्छिन्न अन्वय-व्यतिरेक प्रतियोगिता का अनाश्रय न होने की वजह रूपप्रागभाव में पाकज गन्ध के प्रति तृतीय अन्यथासिद्धत्व का उपपादन नहीं किया जा सकता ।

❀ तृतीय अन्यथासिद्ध के लक्षण का परिष्कार ❀

उत्तरपक्ष :- अत्राहुः । आपका यह वाणीविलास ठीक नहीं है, क्योंकि 'अन्यत्र क्लृप्त' का अर्थ है अवश्यक्लृप्त यानी लघु। तब तृतीय अन्यथासिद्ध का लक्षण यह प्राप्त होगा कि लघुनियतपूर्ववर्ती से ही कार्य की उत्पत्ति सम्भव हो तो तत्सहभूत

एव, गन्धरूपस्य प्रतियोगिनः उपस्थितत्वेन त्वरितोपस्थितिकत्वलाघवात् ।

ननु अत्र सहभावः स्वबहिर्भावेन वाच्यः, अन्यथा स्वेनैव स्वान्यथासिद्ध्यापत्तेः । तथा

❁ जयलता ❁

नियतपूर्ववर्तिनाकसहभूतं तृतीयमन्यथासिद्धमि'ति प्राप्तम् । तथापि पाकजगन्धे रूपप्रागभावस्य कथं गन्धप्रागभावेन तृतीयान्यथासिद्धत्वमित्याशङ्कायामाहुः - **अवश्यक्लृप्तश्च अत्र** = पाकजगन्धे **गन्धप्रागभाव** एव, **गन्धरूपस्य** = गन्धात्मकस्य **प्रतियोगिनः** = गन्धप्रागभावप्रतियोगिन **उपस्थितत्वेन** = ज्ञातत्वेन **त्वरितोपस्थितिकत्वलाघवात्** । रूपप्रागभावप्रतियोगिनो रूपस्यानुपस्थितत्वेनोपस्थितिकृतगौरवात्र रूपप्रागभावस्य पाकजगन्धं प्रति अवश्यक्लृप्तत्वमिति तृतीयान्यथासिद्धत्वम् ।

'यद्यपि गन्धरूपयोः समानकालोत्पत्तिकत्वेन गन्धरूपप्रागभावयोः तुल्यमवश्यक्लृप्तत्वं तथापि अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वेन गन्धरूपकार्योपस्थित्यनन्तरं गन्धप्रागभावस्यैव शीघ्रमुपस्थितिः सम्भवति न तु रूपप्रागभावस्य, तदुपस्थितेः रूपज्ञानसापेक्षत्वादित्युपस्थितिलाघवेन गन्धं प्रति गन्धप्रागभाव एव नियतपूर्ववर्तित्वेनाऽवश्यक्लृप्तः । पाकजगन्धरूपकार्योपस्थित्यनन्तरं तु गन्धरूपप्रागभावयोर्युगपदेवोपस्थितिः सम्भवति, रूपपरावर्तकतेजःसंयोगस्यैव पाकपदार्थतया रूपोपस्थितेरप्यावश्यकत्वात् । तथा चापाकजस्थले गन्धं प्रति अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिना गन्धप्रागभावेनैव पाकजगन्धोत्पत्तिसम्भवे तं प्रति रूपप्रागभावोऽन्यथासिद्धः' (मु.रा.पृ.२१९) इति **रामरुद्रः** ।

अवश्यक्लृप्तत्वञ्चात्र लघुत्वम् । तथा च लघुनियतपूर्ववर्तिनः कार्यसम्भवे तत्सहभूतमन्यथासिद्धमिति फलितम् । लघुत्वञ्चात्रोपस्थितिकृतं शरीरकृतं च तत्र प्रथमं गन्धं प्रति रूपप्रागभावापेक्षया गन्धप्रागभावे गन्धात्मकप्रतियोगिज्ञानसत्त्वे शीघ्रं तदुपस्थितेरिति पूर्वमुक्तमेव । द्वितीयञ्चानेकद्रव्यसमवेतत्वापेक्षया महत्त्वे । तत्र हि महत्त्वमवश्यक्लृप्तं तेनानेकद्रव्यत्वमन्यथासिद्धम् । न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, महत्त्वत्वजातेः कारणतावच्छेदकत्वे लाघवात् । अत्रानेकद्रव्यत्वं नानेकद्रव्यसमवेतत्वं, तस्य द्व्यणुकेऽपि सत्त्वेन द्व्यणुकप्रत्यक्षापत्तेः । नापि समवेतसमवेतद्रव्यत्वं, आत्मप्रत्यक्षानुपपत्तेः । अणुभिन्नद्रव्यत्वं तदित्यपि न, अणुभिन्नद्रव्यत्वं द्रव्यत्वविशिष्टाणुत्वं वेत्यत्राऽविनिगमेन कार्यकारणभावद्वयापत्तेः, द्रव्यत्वाणुभिन्नत्वयोरेकसम्बन्धेन वृत्तित्वाप्रसिद्ध्या उभयत्वावच्छिन्नस्य स्वरूपासम्भवाच्च । किन्तु महत्त्व-द्रव्यत्वोभयत्वावच्छिन्नं तदिति बोध्यमिति (मु.प्र.पृ.२१९) **नृसिंहः** । न चैवं तृतीयं सम्बन्धकृतं लाघवमादाय दण्डादिनाऽऽवश्यकत्वेन दण्डरूपादेरित एवान्यथासिद्धौ प्रथमान्यथासिद्धिवैयर्थ्यमिति वाच्यम्, सम्बन्धलाघवकृतावश्यकत्वस्यात्राऽप्रवेशादिति प्रथमान्यथासिद्धिनिरूपण एवोक्तत्वात्। **अत एव** तृतीयं दण्डत्व-दण्डरूपाद्यपेक्षया दण्डे, स्वाश्रयदण्डसंयोगादिघटितपरम्पराया गुरुत्वादिति **महादेववचनं प्रत्युक्तम्**, अत्र वक्ष्यमाणचतुर्थान्यथासिद्धपूर्वोक्तप्रथमान्यथासिद्धवैयर्थ्यापत्तेः ।

कश्चिच्छङ्कते **ननु** इति । चेदित्यनेनास्यान्वयः । **अत्र** = तृतीयान्यथासिद्धलक्षणशरीरे, अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिनः **सहभावः स्वबहिर्भावेन** = लघुनियतपूर्ववृत्तिव्यतिरेकेण **वाच्यः** = स्वीकार्यः, **अन्यथा** = स्वाबहिर्भावेनापि लघुनियतपूर्ववृत्तिसहभावोपगमे, **स्वेनैव** = दण्डादिनैव **स्वान्यथासिद्ध्यापत्तेः** = स्वस्य दण्डादेः तृतीयान्यथासिद्धत्वप्रसङ्गात् । न हि स्वस्मिन् स्वसहभूतत्वं न वर्तते इति क्वचिद् दृष्टं श्रुतं वा । घटं प्रति लघुनियतपूर्ववृत्तिदण्डादिसहभूतस्य दण्डादेः तृतीयान्यथासिद्धत्वापत्तिरित्यर्थः । ततश्च स्वबहिर्भावेनैव सहभूतत्वमुपादेयम् । **तथा च** लघुनियतपूर्ववृत्तित एव कार्योत्पत्तिसम्भवे तद्भिन्नं तत्र तृतीयमन्यथासिद्धमित्यर्थः

प्रकृत कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है । पाकज गन्ध के प्रति अवश्यक्लृप्त गन्धप्रागभाव ही है, क्योंकि गन्धप्रागभाव का प्रतियोगी गन्ध उपस्थित = ज्ञात होने से गन्धप्रागभाव के ज्ञान में उपस्थितिकृत लाघव है । 'गन्ध के प्रति कौन कारण है ?' इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में रूपप्रागभाव को कारण नहीं बताया जा सकता, क्योंकि रूपप्रागभाव का प्रतियोगी रूप अनुपस्थित है। इसलिए रूपप्रागभाव को पाकजगन्ध का कारण मानने में उपस्थितिकृत गौरव है । जब कि रूप की अपेक्षा प्रतियोगिस्वरूप गन्ध की शीघ्र उपस्थिति होने से गन्धप्रागभाव को ही पाकजगन्ध का कारण माना जा सकता है । उससे रूपप्रागभाव अन्यथासिद्ध हो जाता है ।

ननु अत्र. । **यहाँ यह शंका होने का अवकाश है कि —> 'लघुनियतपूर्ववर्ती का सहभाव जिस तृतीय अन्यथासिद्ध में विवक्षित है वह सहभाव स्वबहिर्भाव से यानी लघुनियतपूर्ववर्ती से भिन्नत्वेन ही कहना पड़ेगा अर्थात् लघुनियतपूर्ववृत्ति से भिन्न तृतीय अन्यथासिद्ध है । अगर ऐसा न कहा जाय तब तो अपने से ही अपने में तृतीय अन्यथासिद्धि की आपत्ति आयेगी । जैसे घट के प्रति लघुनियतपूर्ववृत्ति दण्डादि से ही घटोत्पत्ति मुमकिन होने से दण्डादि का सहभूत वही दण्डादि घट के प्रति अन्यथासिद्ध बन जायेगा । अपना सहभाव = सहवृत्तित्व अपने में रहता ही है । इसलिए स्वबहिर्भाव से सहभाव की विवक्षा**

च कारणाल्पत्वलाघवेन व्यापकधर्मावच्छिन्नस्य स्वस्यैव व्याप्यधर्मावच्छिन्नेन कथमन्यथासिद्धिरिति चेत् ? न, 'स्वाबहिर्भावेनाऽपि अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकावच्छिन्नसहभावनिरूपकतावच्छेदकरूपेणान्यथासिद्धिरि'त्यत्र तात्पर्ये दोषानवकाशात् ।

❋ जयलता ❋

प्राग: । कारणाल्पत्वलाघवेनेति मूलादर्शे पाठः तत्र च 'कारणाल्पत्वलाघवेने'ति शुद्धः पाठः प्रतिभाति, अन्यत्रापि तथैव तदुपलम्भात् । लब्धावकाशः नव्यवादी साम्प्रतं दोषमाविर्भावयति - **व्यापकधर्मावच्छिन्नस्य** = तत्कारणतातिरिक्तवृत्तिधर्मावच्छिन्नस्य, **स्वस्यैव व्याप्यधर्मावच्छिन्नेन** = तत्कारणतासमनियतधर्मावच्छिन्नेन **कथं अन्यथासिद्धिः** = तृतीयान्यथासिद्धत्वम् ? अयं भावः दण्डत्ववत् द्रव्यत्वादिकमपि जातिरूपतया स्वरूपतो लघु घटनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकमेव। किन्तु द्रव्यत्वस्य घटनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकत्वेनाऽनन्तेषु दण्डघटपटादिषु द्रव्येषु घटकारणत्वकल्पनापत्त्या कारणबाहुल्यम् । दण्डत्वस्य घटनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकत्वे च कारणत्वकल्पनापत्त्या कारणबाहुल्यम् । दण्डत्वस्य घटनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकत्वे च कारणाल्पत्वलाघवम् । अतो व्यापकधर्मेण द्रव्यत्वेनावच्छिन्नस्य दण्डस्य घटं प्रति दण्डत्वलक्षणव्याप्यधर्मावच्छिन्नेनान्यथासिद्धिरिति सर्वसम्मता न्यायशास्त्रमर्यादा । परन्तु लघुनियतपूर्ववृत्तिभिन्नस्य तृतीयान्यथासिद्धत्वस्वीकारे द्रव्यत्वावच्छिन्नस्य दण्डस्य दण्डत्वावच्छिन्नेनान्यथासिद्धिर्न स्यात् लघुनियतपूर्ववर्तितावच्छेदकदण्डत्वावच्छिन्नभिन्नत्वस्य द्रव्यत्वावच्छिन्ने दण्डे विरहात् । ततः घटं प्रति द्रव्यत्वेन दण्डस्यान्यथासिद्धिः दण्डत्वेन चानन्यथासिद्धिरिति प्रसिद्धप्रामाणिकव्यवहारोऽपपन्नो न स्यात् यदि सहभावः स्वबहिर्भावेन स्वीक्रियेत स्वाऽबहिर्भावेन सहभावविवक्षणे च स्वस्यैव स्वेनान्यथासिद्धत्वं प्रसज्येतेत्युभयतः पाशारज्जुरिति नव्याशयः ।

नैयायिकः तन्निराकरोति -नेति । **स्वाबहिर्भावेन** = अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तिव्यतिरेकशून्यत्वेन सहभावविवक्षायां **अपि अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकावच्छिन्नसहभावनिरूपकतावच्छेदकरूपेण** = लघुनियतपूर्ववृत्तित्वावच्छेदकावच्छिन्नस्य यः सहभावः तन्निरूपकतायाः अवच्छेदकधर्मेण तृतीया **अन्यथासिद्धिः इत्यत्र तात्पर्ये दोषानवकाशात्** = व्यापकधर्मावच्छिन्नस्य व्याप्यधर्मावच्छिन्नेनान्यथासिद्धत्वप्रसङ्गस्यासम्भवात् । घटं प्रति लघुनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकेन दण्डत्वेनावच्छिन्नस्य यो दण्डनिष्ठः सहभावः तन्निरूपकतायाः अवच्छेदकत्वं द्रव्यत्वादौ न तु दण्डत्व एव, निराकाङ्क्षशाब्दबोधानुपपत्तेः । ततो घटं प्रति द्रव्यत्वेन

करनी आवश्यक है । तब लक्षण यह प्राप्त होगा कि लघुनियतपूर्ववृत्ति से ही कार्यसम्भव होने पर उससे भिन्न तृतीयअन्यथासिद्ध है । अर्थात् लघुनियतपूर्ववृत्ति और तत्सहभूत में परस्पर भेद होना आवश्यक है । मगर ऐसा कहने पर कारणाल्पत्वलाघव हेतु से व्यापकधर्मावच्छिन्न की व्याप्यधर्मावच्छिन्न से अन्यथासिद्धि होगी, जो कि प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक है, नामुमकिन हो जायेगी । आशय यह है कि घट के प्रति लघुनियतपूर्ववृत्ति दण्ड को दण्डत्वेन कारण माना जाता है न कि द्रव्यत्वेन, क्योंकि द्रव्यत्वेन घटकारणता का स्वीकार करने पर दण्ड की भाँति घट, पट, मठ आदि अनन्त द्रव्यों में घटकारणता के स्वीकार की आपत्ति आयेगी, जिसमें कारणबाहुल्य की कल्पना का गौरव है । इसकी अपेक्षा दण्डत्वेन घटकारणता का स्वीकार करने में कारणाल्पत्वकृत लाघव है, क्योंकि तब दण्ड को छोड़ कर घट, पट, मठ आदि में घटकारणता की कल्पना का गौरव प्रसक्त नहीं होता है । दण्डत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व व्यापक = अधिकदेशवृत्ति धर्म है, जब कि द्रव्यत्व की अपेक्षा दण्डत्व व्याप्य = न्यूनदेशवृत्ति धर्म है । इसलिए घट के प्रति दण्ड द्रव्यत्वेन अन्यथासिद्ध कहा जाता है और दण्डत्वेन अनन्यथासिद्ध कहा जाता है । यह वस्तुस्थिति है । मगर लघुनियतपूर्ववृत्ति से भिन्न में ही अन्यथासिद्धि का स्वीकार किया जाय तब तो दण्ड में द्रव्यत्वेन अन्यथासिद्धि नामुमकिन बन जायेगी, क्योंकि लघुनियतपूर्ववृत्ति दण्ड से भिन्नत्व द्रव्यत्वावच्छिन्न दण्ड में नहीं है। तब घट के प्रति द्रव्यत्वावच्छिन्न में दण्डत्वावच्छिन्न से अन्यथासिद्धि का समर्थन नहीं हो सकेगा' <— ।

❋ सहभाव स्वाऽबहिर्भाव से भी मुमकिन ❋

न. स्या. । मगर इसके समाधानार्थ नव्य नैयायिकों की ओर से यह कहा जाता है कि अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्ति का बहिर्भाव किये बिना भी सहभाव का तृतीय अन्यथासिद्ध में स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है । मगर फिर भी व्यापकधर्मावच्छिन्न की व्याप्यधर्मावच्छिन्न से अन्यथासिद्धि होने में कोई असंगति नहीं होगी, क्योंकि तृतीय अन्यथासिद्धि का लक्षण यह बनाया जा सकता है कि अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक (= लघुनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक) से अवच्छिन्न के सहभाव के निरूपकतावच्छेदकधर्मेण तृतीयाऽन्यथासिद्धि होती है । घट की अपेक्षा अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक धर्म दण्डत्व है । दण्डत्वावच्छिन्न का सहभाव यद्यपि दण्ड में भी है तथापि सहभाव की निरूपकता का अवच्छेदक धर्म दण्डत्व नहीं है, किन्तु द्रव्यत्वादि है। स्वावच्छिन्नसहभाव की निरूपकता का अवच्छेदक धर्म स्व नहीं होता है, अन्यथा निराकांक्ष शाब्द बोध होना ही नामुमकिन

न चैवं दण्डचक्रादेर्मिथोऽन्यथासिद्धिः; चक्रत्वादिनापि नियतपूर्ववर्तिताया आवश्यकत्वात् ।

ननु तद्घटादौ तद्रासभस्यापि कुतो नावश्यकत्वमिति चेत् ? घटत्वावच्छिन्नं प्रति क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिसमाजादेव तत्सम्भवे तत्समनियत इव तत्रावश्यकल्पनानुदयात् ।

ॐ जयलता ॐ

दण्डस्यान्यथासिद्धत्वमनपायमेव । ततो न व्यापकधर्मावच्छिन्ने व्याप्यधर्मावच्छिन्नेनान्यथासिद्धत्वासम्भवः । तदुक्तं **गदाधरेण** - 'प्रकृतकार्यं प्रति यद्धर्मव्याप्यधर्मस्याऽगुरोः कारणतावच्छेदकत्वसम्भवस्तदवच्छिन्नं च प्रकृतकार्येऽन्यथासिद्धम्, यथा घटादौ द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नम्, घटादिप्रकृतकार्यजनकतावच्छेदकश्च दण्डत्वादि, तस्य द्रव्यत्वव्याप्यत्वात् । **न च एवं** = निरुक्तरीत्या द्रव्यत्वस्यान्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदकत्वोपपादने, तु **दण्डचक्रादेः मिथोऽन्यथासिद्धिः** प्रसज्येत, चक्रत्वस्य दण्डत्वावच्छिन्नसहभावनिरूपकतावच्छेदकत्वात् दण्डत्वस्य च चक्रत्वावच्छिन्नसहभावनिरूपकतावच्छेदकत्वात्, दण्डादेः चक्रादिभिस्सह सम्भूयैव घटजनकत्वादिति **वक्तव्यम्, चक्रत्वादिनाऽपि नियतपूर्ववर्तिताया आवश्यकत्वात्** = अवश्यक्लृप्तत्वात् लघुनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकत्वेन न केवलं दण्डत्वस्य ग्रहणं किन्तु दण्डत्व-चक्रत्व-चीवरत्वादीनामेव, अन्यथा केवलादेव दण्डाद् घटोत्पादापत्तेः । ततः चक्रत्वादेः घटं प्रति लघुनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकावच्छिन्नत्वेन न तत्सहभावनिरूपकतावच्छेदकत्वम् । अतो न चक्रत्वादिनाऽन्यथासिद्धत्वप्रसङ्गः ।

ननु विना रासभमुत्पन्नं घटं प्रत्यस्तु तस्य नियतपूर्ववृत्तित्वाभावादेवान्यथासिद्धत्वं किन्तु यत्र घटव्यक्तौ रासभस्य पूर्ववृत्तित्वमस्ति तद्व्यक्तिकारणतायां तद्रासभस्य कुतो नानन्यथासिद्धत्वमित्याशयेन शङ्कते कश्चित् - **ननु तद्घटादौ** = तद्रासभोत्तरकालीनत्वविशिष्टघटादिकं प्रति पूर्ववर्तिनः **तद्रासभस्यापि** तद्रासभत्वेन **कुतः** = कस्माद्धेतोः **नावश्यकत्वं** = नावश्यक्लृप्तत्वं ? इति **चेत्** ? उच्यते, **घटत्वावच्छिन्नं प्रति क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिसमाजादेव** दण्डचक्रचीवरकुलालादिकारणकलापादेव **तत्सम्भवे** = रासभोत्तरकालीनघटोत्पत्तिनिर्वाहे **तत्समनियते** = तद्घटव्यक्तिसमनियते दण्डरूपादौ **इव तत्र** = तद्रासभे **अवश्यकल्पनानुदयात्** = अवश्यक्लृप्तत्वाभावात् । तद्रासभस्य मृत्तिकानयन एवोपक्षीणत्वम्, न तु तद्घटोत्पादने व्यापृतत्वम् । मृत्तिकानयनं

हो जायेगा । इस तरह द्रव्यत्वेन दण्ड में घट के प्रति अन्यथासिद्धत्व की अनुपपत्ति नहीं है, भले ही द्रव्यत्वावच्छिन्न दण्ड से दण्डत्वावच्छिन्न अभिन्न हो ।

❖ चक्रत्वादि भी नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक है ❖

न चैवं. । यहाँ यह शंका हो कि —> 'अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकावच्छिन्न के सहभाव = साहित्य की निरूपकता का अवच्छेदक धर्म अन्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदक है, यह स्वीकार करने पर तो दण्ड में चक्रादि भी घट के प्रति अन्यथासिद्ध बन जायेंगे, क्योंकि दण्डत्वावच्छिन्न के सहभाव की निरूपकता, जो चक्रादि में रही है, का अवच्छेदक चक्रत्वादि धर्म से अवच्छिन्न = विशिष्ट चक्रादि है । चक्रादि भी दण्ड का सहभूत ही होता है । एवं जब अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकधर्मविधया चक्रत्व का उपादान किया जाए तब घट के प्रति दण्डादि अन्यथासिद्ध बन जायेंगे, क्योंकि चक्रत्वावच्छिन्न के सहभाव की निरूपकता का, जो दण्डादि में रही है, अवच्छेदक दण्डत्वादि धर्म से अवच्छिन्न = विशिष्ट दण्डादि है । दण्डादि भी चक्र का सहभूत ही होता है । इस तरह दण्ड-चक्रादि में परस्पर से ही परस्पर में अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति आयेगी' <— तो इसका समाधान केवल यही है कि जैसे दण्डत्व अवश्यक्लृप्त नियतपूर्ववृत्तिता का अवच्छेदक है ठीक वैसे ही चक्रत्व आदि भी अवश्यक्लृप्त नियतपूर्ववृत्तिता का नियामक है । अतः अवश्य-क्लृप्तनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकावच्छिन्न केवल दण्ड नहीं है, बल्कि चक्र-चीवर-कुलालादि भी है । दण्ड-चक्र-चीवर-कुलालादि के सहभाव की निरूपकता की, जो रासभादि में रहती है, अवच्छेदकता रासभत्वादि में ही आयेगी, जिससे रासभादि ही घट के प्रति दण्ड-चक्र-चीवरादि से अन्यथासिद्ध होगा । जैसे रासभादि का अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकावच्छिन्न से बहिर्भाव होता है वैसे चक्रादि का बहिर्भाव नहीं होता है । इसलिए दण्ड से चक्रादि में या चक्रादि से दण्डादि में घट के प्रति अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति को अवकाश नहीं है ।

❖ तद्घट में भी तद्रासभ अन्यथासिद्ध ❖

ननु. । यहाँ इस शंका के कि —> 'घट सामान्य के प्रति रासभ को अन्यथासिद्ध कहना ठीक है मगर घटविशेष, जो रासभोत्तरकालीन है, के प्रति रासभविशेष, जो घटविशेषोत्पत्तिपूर्वक्षणावच्छेदेन विद्यमान है, क्यों आवश्यक नहीं होगा ?' <— समाधानार्थ यह कहा जा सकता है कि घटसामान्य के प्रति क्लृप्तनियतपूर्ववर्ती दण्ड, चक्र, चीवर, कुलालादि के समुदाय से ही, जिसकी उत्पत्ति के अव्यवहितपूर्वक्षण में रासभ रहता है उस घटविशेष की, उत्पत्ति मुमकिन होने से तद्रासभ में

यमादायैव यस्यान्वयव्यतिरेकौ गृह्येते तेन तदन्यथासिद्धमिति चतुर्थम् । यथा दण्डादिना दण्डत्वादि । न चाद्ये एवास्यान्तर्भावः दण्डादेः दण्डत्वादितः पृथगन्वयाद्यभावात्; यमवच्छेदकीकृत्य यस्यावच्छेद्यस्यान्वयव्यतिरेकग्रहस्तेनाऽवच्छेद्येन तस्यावच्छेदकस्यान्यथासिद्धिरित्य-

❋ जयलता ❋

तु दास्यादित्वेऽपि सम्भवति । न च दास्यादेरपि तद्घटादावावश्यकत्वम्, तद्घटजातीयं प्रति क्लृप्तकारणभावैर्दण्डादिभिरेव तद्घटस्यापि सम्भवेन तत्राऽप्यवश्यक्लृप्तत्वाज्ञानात् । तदुक्तं **गदाधरेणापि कारणतावादे** - अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तत्सहभूतं यद्धर्मावच्छिन्नं तद्धर्मावच्छिन्नमपि तत्रान्यथासिद्धं यथा पाकजगन्धादौ रूपादिप्रागभावः । तत्र हि सुरभ्यसुरभिमदवयवारब्धघटादौ पाकजगन्धप्रागभाववति रूपादिप्रागभाववति गन्धोत्पादवारणाय तत्प्रागभावस्य तन्नियतपूर्ववर्तित्वस्य कल्पनादिति (का.वा.का.वा.पृ.२०३) ।

यं दण्डत्वादिकं **आदाय** = गृहीत्वा **एव यस्य** दण्डादेः घटं प्रति **अन्वयव्यतिरेकौ** = अन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वे **गृह्येते तेन** दण्डादिना **तदन्यथासिद्धं** = दण्डत्वादि अन्यथासिद्धं **चतुर्थम्** । **यथा दण्डादिना दण्डत्वादि** । दण्डादेरखण्डोपाधिजातिव्यतिरिक्तत्वेन किञ्चित्प्रकारेणैव तस्य घटं प्रति अन्वय-व्यतिरेकप्रतियोगित्वज्ञानसम्भवः । स च प्रकारीभूतो धर्मो दण्डत्वादिकः । दण्डत्वादिकं ज्ञात्वैव घटं प्रति दण्डस्यान्वयव्यतिरेकग्रहसम्भवात् घटं प्रति दण्डादिना दण्डत्वादिरन्यथासिद्धः ।

ननु आद्ये अन्यथासिद्धे **एव अस्य** चतुर्थान्यथासिद्धस्य समावेशः क्रियतां, किं तत्पार्थक्येनतदुपदेशेन ? दण्डादिना सहैव दण्डत्वस्य घटं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहात्, कुतः ? उच्यते, दण्डत्वं हि दण्डेतरावृत्तित्वे सति सकलदण्डवृत्तित्वस्वरूपम् । दण्डत्वेनैव दण्डत्वस्य घटं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहसम्भवे दण्डादिना सहैव दण्डत्वान्वयव्यतिरेकयोः सिद्धेः । न हि घटकबहिर्भावेन घटितान्वयव्यतिरेकौ गृह्येते इति प्रथमातिरेकेणैतन्निरूपणं व्यर्थमित्याशयमपाकर्तुं नैयायिका उपक्रमन्ते **न चेति** । तन्निरासे हेतुमाहुः **दण्डादेः दण्डत्वादितः पृथगन्वयाद्यभावात्** = दण्डत्वादिविनिर्मोकेणान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वग्रहासम्भवात् । यथा दण्डरूपादिकमविज्ञायापि दण्डादेः घटं प्रति अन्वय-व्यतिरेकप्रतियोगित्वग्रहः सम्भवति तथा दण्डत्वादिकमनवबुध्य दण्डादेः घटं प्रत्यन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वज्ञानं नैव सम्भवतीति विशेषात्तत्राद्यादिमान्यथासिद्धे समावेशः सम्भवति । निरुक्तलक्षणादिदमवगन्तुं न शक्यत इत्यत आहुः - **यं अवच्छेदकीकृत्य** = कारणतावच्छेदकं कृत्वा **यस्य** = अवच्छेद्यस्य **अन्वय-व्यतिरेकग्रहः** = अन्वय-व्यतिरेकनिरूपितप्रतियोगित्वज्ञानं भवति तत्र **तेन** = अवच्छेद्येन **तस्य** = **अवच्छेदकस्य** चतुर्थी **अन्यथासिद्धिरित्यर्थात्** ।

उस घट की अपेक्षा अवश्यक्लृप्तत्व का भान नहीं होता है । जैसे दण्ड-चक्रादि के समनियत दण्डत्व, चक्रत्वादि में, जो घटनियतपूर्ववृत्ति हैं, घट की अपेक्षा अवश्यक्लृप्तत्व का भान नहीं होता है ठीक वैसे यह भी ज्ञातव्य है । इस तरह तृतीय अन्यथासिद्ध का निरूपण पूर्ण हुआ । अब चतुर्थ अन्यथासिद्ध का निरूपण हो रहा है ।

❁ चतुर्थ अन्यथासिद्ध ❁

यमा. । अन्य किसीको लेकर ही कार्य के प्रति जिसका अन्वय-व्यतिरेक ज्ञात हो वह प्रकृत कार्य के प्रति अन्य से चतुर्थ अन्यथासिद्ध होता है । अर्थात् किसी कार्य के प्रति जिसका अन्वय तथा व्यतिरेक स्वतन्त्ररूप से नहीं बन पाता, अपितु अन्य (=अपने आश्रय प्रकृतकार्यकारण) को लेकर ही जिसके अन्वय-व्यतिरेक का निश्चय जिस कार्य के प्रति किया जाय उस कार्य के प्रति वह वस्तु अपने आश्रय से अन्यथासिद्ध है, जैसे घट के प्रति दण्डादि से दण्डत्वादि अन्यथासिद्ध है । घट के प्रति दण्ड का अन्वय-व्यतिरेक दण्डत्व को लेकर ही बन पाता है, क्योंकि दण्डत्वेन रूपेण ही दण्ड को घटकारण माना जा सकता है । इस तरह दण्ड के अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान दण्डत्व को लेकर ही हो सकता है । इसलिए घट के प्रति दण्डत्व दण्ड के द्वारा चतुर्थ अन्यथासिद्ध बनता है । यहाँ इस शंका का कि —> 'चतुर्थ अन्यथासिद्ध दण्डत्वादि का प्रथम अन्यथासिद्ध दण्डरूप आदि में ही अन्तर्भाव क्यों नहीं किया जाता है ?' <— समाधान यह है कि दण्ड आदि को दण्डत्वादि से कभी भी पृथक् कर के घट के प्रति अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान नहीं हो सकता है । अखण्ड उपाधि एवं जाति अतिरिक्त होने की वजह दण्ड का किञ्चिद्धर्मप्रकारेण ही भान हो सकता है । इसलिए दण्ड का अन्वय-व्यतिरेक दण्डत्वेन ही होगा । जब कि दण्डरूप के बिना भी दण्ड के अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान हो सकता है । अतः जिसको अवच्छेदक बना कर के उससे अवच्छेद्य का अन्वय-व्यतिरेक ज्ञात होता है वहाँ अवच्छेद्य से अवच्छेदक अन्यथासिद्ध बनता है - ऐसा अर्थघटन करने पर किसी दोष का अवकाश नहीं है। दण्डत्व दण्ड का अवच्छेदक है और दण्ड उससे अवच्छेद्य है । अतः

र्थात् । न चेह प्रथमान्तर्भावः, तत्र दण्डादिनाऽवच्छेदकेन दण्डरूपादेरवच्छेद्यस्यैवान्यथासिद्धेः ।

ननु दण्डत्वत्वस्य दण्डघटितत्वात्तस्यावच्छेदकत्वे दण्डस्याप्यवच्छेदकत्वात् दण्डत्वेनैव दण्डस्य कुतो नान्यथासिद्धिरिति चेत् ?

❀ जयलता ❀

घटकारणतावच्छेदकं हि दण्डत्वादि, न तु दण्डरूपत्वादि । दण्डत्वादिकमवच्छेदकीकृत्य दण्डादेरन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वज्ञानाद् दण्डादिना दण्डत्वादेः घटं प्रति चतुर्थान्यथासिद्धत्वम् । यद्यपि दण्डत्वाद्यवच्छेद्यत्वं दण्डादिनिष्ठकारणताया एव, न तु दण्डादौ, धर्मिणोऽनिरूप्यत्वात् तथापि प्रकृतेऽवच्छेद्यत्वं न सीमाकरणात्मकमभिप्रेतं किन्तु विशिष्टत्वरूपमिति न दोषः । **न चैवं** दण्डादेर्दण्डरूपादिविशिष्टत्वेन दण्डरूपादेरपि चतुर्थान्यथासिद्धत्वप्रसङ्ग इति **वाच्यम्**, दण्डरूपादेः घटकारणतानवच्छेदकत्वेनैव तदसम्भवात् ।

ननु मास्तु चतुर्थस्य प्रथमेऽन्तर्भावः किन्तु प्रकृत एवाद्यस्य समावेशः कुतो न क्रियते ? न च दण्डरूपस्य घटकारणतावच्छेदकत्वाभावेन तथात्वासम्भवोऽनुपदमेवोक्त **इति** वाच्यम्, सङ्कोचकरणे मानाभावेन अवच्छेदकत्वपदस्य कारणतावच्छेदकत्वार्थपरत्वाऽयोगात् शक्तिप्राप्तविशेषणत्वार्थकत्वौचित्यात् । दण्डरूपस्यापि दण्डविशेषणत्वे बाधकाभावादित्यभिप्रायमपहस्तयितुमुपक्षिपन्ति - **न चा इह** = चतुर्थान्यथासिद्धे **प्रथमान्तर्भावः** = आदिमान्यथासिद्धस्य समावेशः सम्भवति । अत्र दोषमुपदर्शयन्ति - **तत्र** = प्रथमान्यथासिद्धस्थले **दण्डादिना अवच्छेदकेन** = प्रकृतेऽवच्छेदकीभूतेन दण्डरूपविशेषणेन **दण्डरूपादेः अवच्छेद्यस्य** = प्रकारीभूतदण्डनिरूपितविशेष्यतावतः **एव अन्यथासिद्धेः**। प्रकृते त्ववच्छेद्येनावच्छेदकस्यान्यथासिद्धिरिति विशेषः । यतो घटं प्रति दण्डरूपस्य नियतपूर्ववृत्तित्वोपगमे अवच्छेद्यं = विशेष्यं दण्डरूपं स्यात् तच्च स्वसमवेतत्वसम्बन्धेन दण्डात्मकविशेषणविशिष्टमिति दण्डस्यावच्छेदकता प्राप्ता । ततः दण्डमवच्छेदकीकृत्य = विशेषणीकृत्यावच्छेद्यस्य = विशेष्यस्य दण्डरूपस्य घटं प्रति अन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वग्रहणात् अवच्छेद्येन दण्डरूपेणावच्छेदकस्य दण्डस्य घटं प्रति प्रकृतान्यथासिद्धत्वापत्तिर्दुर्वारैव स्यात् । न चैतदभिमतम् । अतो दण्डरूपस्य घटं प्रति अन्यथासिद्धत्वोपपादनकृते चतुर्थान्यथासिद्धे नादिमान्यथासिद्धान्तर्भावः कर्तुमर्हतीति एतदतिरेकेण तत्प्रदर्शनस्य न्याय्यत्वमेवेति नैयायिकाशयः ।

कश्चिच्छङ्कते - **ननु दण्डत्वत्वस्य** दण्डेतरावृत्तित्वे सति सकलदण्डवृत्तित्वात्मकतया **दण्डघटितत्वेन तस्य** = दण्डत्वत्वस्य **अवच्छेदकत्वे** = विशेष्यभूतदण्डनिरूपितप्रकारतावच्छेदकत्वे **दण्डस्यापि अवच्छेदकत्वात्** घटं प्रति **दण्डत्वेनैव** दण्डस्य **कुतो नान्यथासिद्धिः**? अयं भावो घटं प्रति दण्डस्य पूर्ववृत्तित्वे यथा दण्डत्वमवच्छेदकं भवति तथा दण्डत्वस्य नियतपूर्ववृत्तित्वे दण्डत्वत्वमवच्छेदकं भवति । ततश्च दण्डत्वमवच्छेदकीकृत्य दण्डस्यावच्छेद्यस्यान्वयव्यतिरेकग्रहाद् दण्डेन यथाऽन्यथासिद्धत्वं दण्डत्वस्यानुपदमेवोक्तं तथैव दण्डत्वत्वमवच्छेदकीकृत्य दण्डत्वस्यावच्छेद्यस्यान्वयव्यतिरेकग्रहाद् अवच्छेद्येन दण्डत्वेनावच्छेदकस्य दण्डस्य घटं प्रत्यन्यथासिद्धत्वमापद्येत, अवच्छेदकशरीरघटकस्याऽप्यवच्छेदकत्वात् । न हि प्रकारतावच्छेदकस्य प्रकारत्वोपगमे केषामपि विप्रतिपत्तिरस्ति । ततो दण्डस्यान्यथासिद्धत्वापत्तिस्तदवस्थैव अतिरिक्तचतुर्थान्यथासिद्धस्वीकारेऽपीति खण्डितेऽपि

दण्डस्वरूप अवच्छेद्य से उसका अवच्छेदक दण्डत्व घट के प्रति अन्यथासिद्ध होता है । यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता है कि —> 'चतुर्थ अन्यथासिद्ध का प्रथम अन्यथासिद्ध में समावेश मत हो लेकिन चतुर्थ अन्यथासिद्ध में प्रथम अन्यथासिद्ध का समावेश करना तो उचित ही है' <— क्योंकि यदि प्रथम अन्यथासिद्ध का चतुर्थ अन्यथासिद्ध में समावेश किया जाय तब तो दण्डरूप से दण्ड ही अन्यथासिद्ध बन जायेगा । इसका कारण यह है कि दण्ड दण्डरूप का अवच्छेदक = विशेषण है और दण्डरूप उसका अवच्छेद्य = विशेष्य है । दण्डरूप का अन्वय-व्यतिरेक दण्ड के पुरस्कार से ही मुमकिन है । जब कि प्रथम अन्यथासिद्ध के लक्षणानुसार दण्ड, जो यहाँ अवच्छेदक बनता है, उससे दंडरूप की, जो यहाँ अवच्छेद्य है, अन्यथासिद्धि होती है । इसलिए चतुर्थ अन्यथासिद्ध में प्रथम अन्यथासिद्ध का समावेश नहीं किया जा सकता - यह फलित होता है।

❖ दण्डत्व से दण्ड में अन्यथासिद्धत्व की शंका ❖

ननु द. । यहाँ यह शंका हो सकती है कि —> 'घट के प्रति दण्ड को दण्डत्वेन कारण मानने पर जैसे दण्डत्व अवच्छेदक बनता है वैसे दण्डत्व को नियतपूर्ववृत्ति मानने पर दण्डत्वत्व अवच्छेदक होता है । मगर दण्डत्वत्व तो दण्डेतराऽवृत्तित्वे सति सकलदण्डवृत्तित्वस्वरूप होने से दण्ड से घटित है । तब तो दण्ड भी अवच्छेदक बन जायेगा और दण्डघटित दण्डत्वत्व की अपेक्षा दण्डत्व अवच्छेद्य बन जायेगा। तब तो अवच्छेद्य दण्डत्व से अवच्छेदक दण्ड में चतुर्थ अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहेगी'' <— ।

'यं पृथगन्वयव्यतिरेकशून्यमि'त्यस्य विवक्षितत्वात् । अत एव विनिगमनाविरहस्थले नान्यथासिद्धिः ।

'स्वजन्यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव स्वस्य तत्त्वग्रहस्तत्र स्वमन्यथासिद्धम्' (१)

❀ नयलता ❀

इति न शान्ता वासनेति न्यायापातः इति मन्याशयः ।

नैयायिकाः समादधते - **'यं'** = **पृथगन्वयव्यतिरेकशून्यं' इत्यस्यार्थस्य विवक्षितत्वात्** । ततश्च पृथगन्वयव्यतिरेकशून्यं यमवच्छेदकीकृत्य यस्यावच्छेद्यस्यान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वग्रहस्तेनावच्छेदेन तस्यावच्छेदकस्य चतुर्थाऽन्यथासिद्धिरित्यर्थः फलितः । पृथक्त्वञ्चान्याघटितत्वस्वरूपमुपादेयम् । एवञ्च न दण्डत्वेन दण्डस्य घटं प्रति चतुर्थाऽन्यथासिद्धिः । दण्डत्वस्य घटं प्रत्यन्वयव्यतिरेकग्रहसम्भवो दण्डघटित दण्डत्वत्वमवच्छेदकीकृत्येति दण्डस्यापि तदवच्छेदकत्वं प्राप्तं अवच्छेदकतावच्छेदकस्याऽप्यवच्छेदकत्वात् किन्तु अन्याऽघटितान्वयव्यतिरेकशून्यत्वं दण्डे नास्ति, दण्डान्वयव्यतिरेकयोर्दण्डेतराऽघटितत्वात् । ततः पृथगन्वयव्यतिरेकयोस्तु दण्डघटितत्वेनाऽन्याऽघटितत्वलक्षणपृथक्त्वशाल्यन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वशून्यत्वस्य दण्डत्वे सत्त्वात् पृथगन्वयव्यतिरेकशून्यस्यावच्छेदकस्य दण्डत्वस्यावच्छेदेन दण्डेन घटं प्रति चतुर्थान्यथासिद्धत्वोपपत्तिः । **अत एव** = चतुर्थान्यथासिद्धत्वेनाभिमतावच्छेदकस्य पृथगन्वयव्यतिरेकशून्यत्वविशेषणादेव, **विनिगमनाविरहस्थले नान्यथासिद्धिः** । घटं प्रति दण्डस्यान्यथासिद्धत्वं दण्डसंयोगस्य वा ? इत्यत्राविनिगमे नैकस्याप्यन्यथासिद्धत्वम् । अन्यथा दण्डमवच्छेदकीकृत्य दण्डसंयोगस्य घटं प्रति अन्वयव्यतिरेकग्रहादवच्छेदेन दण्डसंयोगेनावच्छेदकस्य दण्डस्यान्यथासिद्धिः चतुर्थी प्रसज्येत । पृथगन्वयव्यतिरेकराहित्यस्यावच्छेदकविशेषणत्वोपगमे तु न दण्डसंयोगेनावच्छेदेन दण्डस्य चतुर्थान्यथासिद्धत्वप्रसङ्गः, दण्डस्य स्वेतराऽघटितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वेन निरुक्तावच्छेदकत्वविरहात् । न च दण्डसंयोगस्य दण्डघटितान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वेन पृथगन्वयव्यतिरेकनिरूपितप्रतियोगित्वशून्यत्वेन दण्डेनान्यथासिद्धत्वापत्तिर्दुर्वारेति **वाच्यम्,** दण्डसंयोगस्य पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वशून्यत्वेऽपि तमवच्छेदकीकृत्य दण्डस्य घटं प्रत्यन्वयव्यतिरेकाग्रहात्तस्य दण्डेनान्यथासिद्धत्वसम्भवः । इत्थञ्च न विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टावच्छेदकत्वविरहात् दण्डस्य दण्डसंयोगेनान्यथासिद्धिः, न वा विशेष्यावच्छेदकत्वाभावप्रयुक्तविशिष्टविरहाद् दण्डसंयोगस्य दण्डेनान्यथासिद्धिः । इत्थञ्च न दण्डचक्रादेर्मिथोऽन्यथासिद्धिरिति भावनीयम् ।

गदाधरस्तु येन रूपेण यादृशकार्यं प्रति पूर्ववर्तित्वमवगम्यते तादृशकार्यं प्रति तद्रूपमन्यथासिद्धम्, यथा घटादिकं प्रति दण्डत्वादिकमिति प्रोक्तवान् ।

चतुर्थमन्यथासिद्धं निरूप्य साम्प्रतं पञ्चमान्यथासिद्धं नैयायिकाः प्रदर्शयन्ति **स्वजन्यस्य** = स्वनिरूपितजन्यताश्रयस्य

❋ चतुर्थ अन्यथासिद्ध के लक्षण में परिष्कार ❋

यं पृ. । **मगर इसके समाधानार्थ यह कहा जा सकता है कि पृथगन्वयव्यतिरेकशून्य जिसको अवच्छेदक बना कर जिस अवच्छेद्य के अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान होता है उस अवच्छेद्य से अवच्छेदक प्रकृत कार्य के प्रति चतुर्थ अन्यथासिद्ध होता है -ऐसा अर्थघटन करने में किसी दोष का अवकाश नहीं है । पृथक् का मतलब है अन्य से अघटित । चतुर्थान्यथासिद्धात्मक अवच्छेदक अन्याऽघटितान्वयव्यतिरेक की प्रतियोगिता से शून्य होना चाहिए । जैसे दण्डत्व दण्ड का निरुक्त अवच्छेदक बन सकता है वैसे दण्ड दण्डत्व का निरुक्त अवच्छेदक नहीं बन सकता है, क्योंकि जैसे घट के प्रति दण्डत्व का अन्वय-व्यतिरेक अपने आश्रय दण्ड से घटित होता है वैसे घट के प्रति दण्ड का अन्वय-व्यतिरेक अन्य किसीसे घटित नहीं होता है । अतः पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिताशून्यता दण्डत्व में रहती है, न कि दण्ड में । दण्ड में निरुक्त अवच्छेदकता नामुमकिन होने से अवच्छेद्य दण्डत्व से दण्ड में अन्यथासिद्धि की आपत्ति को अवकाश नहीं है । अवच्छेदक के विशेषणविधया पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिताशून्यत्व का ग्रहण करने की वजह ही तो जहाँ परस्पर में कारणत्व का विनिगमक कोई नहीं मिलता है वहाँ एक से दूसरे की या द्वितीय से प्रथम की अन्यथासिद्धि नहीं होती है । जैसे घट के प्रति दण्ड को कारण माना जाय या दण्डसंयोग को ? यहाँ कोई विनिगमक नहीं होने से अवच्छेदक दण्ड से अवच्छेद्य दण्डसंयोग को अन्यथासिद्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दण्ड का अन्वय-व्यतिरेक अन्य से घटित नहीं होने से पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिताशून्यतास्वरूप अवच्छेदकविशेषण दण्डसंयोगावच्छेदकविधया सम्मत दण्ड में नहीं रहता है । इस तरह दण्डादि से चक्रादि में या चक्रादि से दण्डादि में अन्यथासिद्धि की आपत्ति को अवकाश नहीं है । इस तरह संक्षेप से चतुर्थ अन्यथा सिद्ध का निरूपण पूर्ण हुआ । अब चरम एवं पंचम अन्यथासिद्ध का निरूपण हो रहा है । सुनिये,**

❂ कुलालपिता पंचम अन्यथासिद्ध ❂

स्वज. । **अपने से जन्य में प्रकृत कार्य के प्रति पूर्ववृत्तित्व का ज्ञान होने पर ही अपने में प्रकृत कार्य के प्रति पूर्ववृत्तित्व**

यथा घटं प्रति कुलालेन तत्पिता । साक्षादहेतोस्तस्य कुलाले घटजनकत्वे ज्ञात एव तद्द्वारा तस्य पूर्वभावग्रहात् ।

अथैवं स्वजन्यभ्रमिं प्रति घटजनकत्वं गृहीत्वैव तद्द्वारा दण्डे घटपूर्ववृत्तित्वग्रहाद् दण्डोऽपि तया तत्रान्यथासिद्ध्येत, अन्यथा कुलालेन कुलालपिताऽपि न तथा स्यात्, तुल्ययोगक्षेमत्वादिति चेत् ? 'अन्यं प्रति पूर्ववृत्तिताघटितरूपेण द्वितीयेनैव कुलालपितुरन्यथासिद्धिः ।

जयलता

यं = प्रकृतकार्यं **प्रति पूर्ववृत्तित्वं** = अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तित्वं **गृहीत्वैव स्वस्य तत्त्वग्रहः** = प्रकृतकार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वबोधः **तत्र** = प्रकृतकार्ये **स्वं** = स्वपदप्रतिपाद्यं **अन्यथासिद्धं** इति पञ्चमम् । अत्रोदाहरति - **यथा घटं प्रति कुलालेन तत्पिता** = कुलालपिता पञ्चमोऽन्यथासिद्धः । न च कुलालस्य घटं प्रति अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तित्वमज्ञात्वा कथं न कुलालपितुः घटं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते ? इति वाच्यम्, व्यवहितपूर्वकालवृत्तित्वेन **साक्षात्** = स्वाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन **अहेतोः** = हेतुत्वशून्यस्य **तस्य** = कुलालपितुः **कुलाले घटजनकत्वे ज्ञात एव** = घटजनकत्वं गृहीत्वैव, **तद्द्वारा** = स्वजन्यद्वारा **तस्य** = कुलालपितुः घटं प्रति **पूर्वभावग्रहात्** = पूर्ववृत्तित्वभानसम्भवात् । न चैवमपूर्वेण यागस्य विजातीयसुखस्वरूपं स्वर्गं प्रत्यनदन्यथासिद्धत्वापत्तिः साक्षादहेतोः यागस्यापूर्वे स्वर्गजनकत्वं गृहीत्वैव तद्द्वारा तस्य स्वर्गं प्रति पूर्वभावग्रहादिति वाच्यम्, अपूर्वे स्वर्गजनकत्वमविज्ञायापि विहितत्वेन यागस्य स्वर्गजनकत्वज्ञानसम्भवे बाधकाभावात् । वस्तुतः यागस्य स्वर्गजनकत्वं ज्ञात्वैवापूर्वस्य तथात्वग्रह इति नापूर्वेण यागस्यान्यथासिद्धिः । तदुक्तं **गङ्गेशेन** - 'यत्र जन्यस्य पूर्वभावं ज्ञात्वा जनकस्य तद्ग्रहस्तत्र जन्येन जनकमन्यथासिद्धम् । यत्र तु जनकस्य पूर्वभावं ज्ञात्वा जन्यस्य तद्ग्रहस्तत्र तद्द्वारा जनकत्वं यागस्येवाऽपूर्वद्वारा' (त.चिं.) इति ।

अथ एवं = जन्यस्य पूर्ववृत्तित्वं ज्ञात्वैव जनकस्य तद्द्वारा पूर्ववृत्तित्वग्रहे जनकस्यान्यथासिद्धत्वमित्येवं प्रतिपादने, **स्वजन्यभ्रमिं प्रति** दण्डस्य **घटजनकत्वं गृहीत्वैव तद्द्वारा** = स्वजन्यभ्रमिद्वारा दण्डे **घटपूर्ववृत्तित्वग्रहात्** साक्षादहेतुः **दण्डोऽपि तया** = स्वजन्यभ्रम्या **तत्र** = घटे **अन्यथासिध्येत** = अकारणं प्रसज्येत । **अन्यथा** = स्वजन्यस्य कार्यपूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव स्वस्य कार्यपूर्ववृत्तित्वज्ञानेऽपि दण्डो स्वजन्यभ्रमिद्वारा नान्यथासिद्ध इत्यङ्गीकारे तु **कुलालेन** = स्वजन्यकुलालद्वारा **कुलालपिताऽपि** घटं प्रति **न तथा** = अन्यथासिद्धः स्यात्, युक्तेरुभयत्रैव **तुल्ययोगक्षेमत्वात्** अन्यथाऽर्धवैशसप्रसङ्गादिति **चेत्** ?

अत्रोच्यते '**अन्यं प्रति पूर्ववृत्तिताघटितरूपेण** यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तिता गृह्यते तत्र तदन्यथासिद्धमिति **द्वितीयेन** = पूर्वोक्तेन द्वितीयान्यथासिद्धलक्षणेन **एव** घटं प्रति **कुलालपितुः अन्यथासिद्धिः** । यथाऽऽकाशस्य शब्दजनकत्वेन घटं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहाद् घटं प्रति द्वितीयान्यथासिद्धत्वं तथा कुलालपितुः कुलालजनकत्वेन घटं प्रति पूर्ववृत्तित्वज्ञानाद् घटं प्रति द्विती-

का ज्ञान हो तो प्रकृत कार्य के प्रति अपने में पञ्चम अन्यथासिद्धत्व होता है । जैसे कि घट के प्रति कुलाल से कुलालपिता अन्यथासिद्ध होता है । कुलालपिता तो साक्षात् घट का हेतु नहीं हो सकता है । इसलिए कुलाल के द्वारा कुलालपिता को घट के प्रति पूर्ववर्ती मानना होगा । मगर जब तक कुलाल में घटजनकत्व का, जो घटनियतपूर्ववृत्तिता से घटित है, ज्ञान न हो तब तक कुलाल के द्वारा कुलालपिता में घटपूर्ववृत्तिता का ज्ञान नहीं हो सकता है । इसलिए कुलालपिता घट के प्रति कुलालद्वारा पञ्चम अन्यथासिद्ध सिद्ध होता है । यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि —> 'यदि अपने कार्य में किसीके प्रति पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होने के बाद ही अपने में किसी कार्य के प्रति पूर्ववृत्तिता का ज्ञान हो तब अपने में पञ्चम अन्यथासिद्धत्व आयेगा, इस नियम का स्वीकार करने पर तो दण्ड भी घट के प्रति अन्यथासिद्ध बन जायेगा, क्योंकि दण्डजन्य भ्रमिक्रिया में घट के प्रति पूर्ववृत्तित्व का ज्ञान होने पर ही दण्ड में घट के प्रति पूर्ववृत्तित्व का भान होता है । फिर भी दण्ड को दण्डजन्य भ्रमिक्रिया के द्वारा अन्यथासिद्ध न माना जाय तब तो घट के प्रति कुलालपिता भी कुलाल से अन्यथासिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि दोनों पक्ष में आक्षेप और समाधान तो तुल्य ही है' <— ।

यह कथन अयुक्त होने का कारण यह है कि घट के प्रति कुलालपिता द्वितीय अन्यथासिद्ध के परिष्कृत लक्षण से द्वितीय अन्यथासिद्ध हो जाता है। यहाँ यह कहा गया था कि - 'अन्य प्रति पूर्ववृत्तिताघटितरूपेण जिसकी पूर्ववृत्तिता का प्रकृत कार्य के प्रति ज्ञान हो वह प्रकृत कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है' । कुलालपिता में कुलालपितृत्वेन घटपूर्ववृत्तिता का ज्ञान होने से कुलालपिता घट के प्रति अन्यथासिद्ध होता है । कुलालपितृत्व तो कुलालात्मक अन्य कार्य के प्रति पूर्ववृत्तित्व से घटित ही है - इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है । दण्ड में तो दण्डत्वेन घटकारणता का भान होने से दण्ड घट के प्रति अन्यथासिद्ध नहीं है ।

न चैवं दृढदण्डत्वेनाऽपि हेतुत्वं न स्यादिति वाच्यम्, इष्टत्वात् । क्वचिद् दण्डाद् घटानुत्पादस्य व्यापारव्यतिरेकप्रयुक्तत्वादिति दीधितिकृतः ।

❋ जयलता ❋

यान्यथासिद्धत्वमेव दण्डस्य तु न भ्रमिजनकत्वेन घटं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते किन्तु दण्डत्वेनैवेति न घटं प्रति अन्यथासिद्धत्वम् । पञ्चान्यथासिद्धवादिगदाधरमतेऽपि आकाश-कुलालजनकयोः समानमेवान्यथासिद्धत्वमिति तु प्रागेवोपदर्शितम् ।

कुलालत्वेन तु कुलालपितुरपि घटकारणत्वमेव । तदुक्तं **मुक्तावलीकृता** 'तस्य हि कुलालपितृत्वेन घटं प्रति जनकत्वेऽन्यथासिद्धिः, कुलालत्वेन रूपेण जनकत्वे त्विष्टापत्तिः, कुलालमात्रस्य घटं प्रति जनकत्वात्' (का. २० मु.पृ. २१८) इति ।

न च एवं = दण्डस्य दण्डत्वेन घटजनकत्वस्वीकारे, दण्डस्य घटं प्रति **दृढदण्डत्वेन** = भ्रमिजनकत्वलक्षणदृढत्वेन **अपि हेतुत्वं न स्यादिति वाच्यम्, इष्टत्वात्,** दण्डत्वापेक्षया गुरुत्वेन तत्रावश्यकल्पनानुदयात् । **न च** दण्डत्वस्य घटकारणतावच्छेदकत्वे त्वदृढदण्डादपि घट उत्पद्येतेति **वाच्यम्, क्वचिद् दण्डाद् घटानुत्पादस्य व्यापारव्यतिरेकप्रयुक्तत्वात्** = भ्रमिस्वरूपद्वाराऽभावेन प्रयोज्यत्वात्, क्षुद्रचक्रभ्रमिसमर्थान्महाचक्रसहिताद् दण्डाद् घटानुत्पत्तौ तथैव वाच्यत्वात्, सामग्रीविकल्पे कार्योत्पादापादनस्याऽयुक्तत्वादिति **दीधितिकृतः** ।

कुलालपितुर्न द्वितीयान्यथासिद्धत्वं, तत्र फलाननुगुणं प्रतीति वाच्यत्वादित्यपि **कश्चित्** ।

विश्वनाथस्तु 'यत्कार्यजनकं प्रति **यस्य** पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वं, यथा कुलालपितुर्घटं प्रति' (का. २०, मु. पृ. २१८) इत्याह ।

तृतीयचतुर्थयोरभेदात्पञ्चम्याश्च द्वितीयस्यामेवान्तर्भावात्त्रिधैवान्यथासिद्धिरिति **केचित्** ।

विश्वनाथ-महादेवप्रभृतयश्च एतेषु पञ्चस्वन्यथासिद्धेषु 'अवश्यक्लृप्ते'त्यादिरेवावश्यकः, तेनैव परेषां चरितार्थत्वात् । तथाहि दण्डादिभिरेवावश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तिभिरेव कार्यसम्भवे दण्डत्व-दण्डरूपाकाश-रासभ-कुलालजनकादयोऽन्यथासिद्धाः । **न च** वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति **वाच्यम्,** दण्डत्वादेः कारणत्वे दण्डघटितपरम्परायाः सम्बन्धत्वकल्पने गौरवात्, सम्बन्धकृतलाघवस्यापि तत्र प्रविष्टत्वात् । एवमन्येषामपि चरितार्थत्वमनेनैव सम्भवतीति **व्याचख्युः** ।

वस्तुतस्तु नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकयद्धर्मावच्छेदेन यादृशकार्यं प्रति न कारणत्वव्यवहारः प्रामाणिकानां तद्रूपावच्छिन्नमेव तादृशकार्येऽन्यथासिद्धम् । तेन शब्दादिपूर्ववर्तित्वमगृहीत्वाऽपि शब्दसमवायित्वादिनाऽऽकाशादौ ज्ञानादिपूर्ववर्तित्वग्रहसम्भवेऽपि पूर्वसंयोगनाशादिपूर्ववर्तित्वमगृहीत्वापि विभागत्वावच्छिन्नस्योत्तरसंयोगादिपूर्ववर्तिताग्रहसम्भवेऽपि च तत्र तेषामन्यथासिद्धत्वमेव । अत एव लघुधर्मसमनियतगुरुधर्मावच्छिन्नस्य प्रतिबन्धकाभावनिष्ठतद्व्यक्तित्वावच्छिन्नस्य च न कारणत्वं तद्रूपावच्छिन्नस्य निरुक्तान्यथासिद्धत्वात् । अधिकभेदनिवेशाद् गौरववारणाय नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकत्वं धर्मविशेषणम् । तच्च न कारणताशरीरघटकं

❋ दृढदण्डत्वेन घटकारणता अस्वीकार्य - दीधितिकार ❋

न चैवं. । यह इस शंका का कि —> यदि दण्ड को दण्डत्वेन, जो अन्य कार्य के प्रति पूर्ववृत्तिता से घटित नहीं है, घटकारण मानने पर तो भ्रमिजनकत्व स्वरूप दृढत्वेन रूपेण घटकारण नहीं माना जा सकेगा, अन्यथा दण्ड में भी कुलालपिता की भाँति द्वितीय अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति आयेगी' <— समाधान यह है कि यह तो इष्ट ही है । दण्ड केवल दण्डत्वेन ही घट का कारण है न कि दृढदण्डत्वेन, क्योंकि तब कारणतावच्छेदक धर्म में गौरव प्रसक्त होता है । यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि —> 'दण्ड में दण्डत्वेन घटकारणता का स्वीकार करने पर तो अदृढ = चक्रभ्रमिअजनक दण्ड में भी घटकारणता के स्वीकार की आपत्ति आयेगी, क्योंकि उसमें भी दण्डत्व तो रहता है । मगर कभी भी अदृढ दण्ड से घट की निष्पत्ति नहीं होती है, किन्तु दृढ दण्ड से ही' <— इसका कारण यह है कि अदृढ दण्ड में भी घटकारणता तो रहती ही है । मगर घट की उत्पत्ति अदृढ दण्ड से न होने का कारण यह है कि तब घटकारणीभूत चक्रभ्रमणस्वरूप व्यापार का अभाव होता है । मतलब कि घट की अनुत्पत्ति अदृढदण्डनिष्ठ घटकारणत्वाभाव से प्रयुक्त नहीं है, किन्तु व्यापाराभावप्रयुक्त है । कार्य का जन्म अपने किसी एक कारण की भी अनुपस्थिति में नहीं होता है - यह तो सर्वमान्य है । इसलिए दण्डत्वेन ही दंड में घटकारणता का स्वीकार करना मुनासिब है । तब दण्ड में द्वितीय अन्यथासिद्धि की आपत्ति को अवकाश नहीं रहेगा - यह दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि का वक्तव्य है । इस तरह पञ्चम अन्यथासिद्ध का निरूपण पूर्ण हुआ । इन पाँच अन्यथासिद्ध का भेद कारणताशरीर में प्रविष्ट है ।

ननु अनन्यथासिद्धत्वमन्यथासिद्धभेदः इति द्रव्यत्वादिनाऽन्यथासिद्धस्य कपालस्य कथं घटहेतुत्वमिति चेत् ? न, अन्यथासिद्धिनिरूपकतानवच्छेदक-नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकरूपवत्त्वे तात्पर्यात् । अनवच्छेदकत्वञ्चावच्छेदकत्वपर्याप्त्यनधिकरणत्वम्, तेन नान्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदककपालत्वाऽभिन्नैतत्कपालत्वेनैतद्घटं प्रत्यन्यथासिद्धिः ।

❀ जयलता ❀

किन्तु भेदप्रतियोगिपरिचायकमात्रमिति गदाधरः ।

ननु एतावता कारणताशरीरघटकीभूतं **अनन्यथासिद्धत्वं** = **अन्यथासिद्धभेद इति** फलितम् । किन्त्वेवं सति **द्रव्यत्वादिना** घटं प्रति अन्यथा**सिद्धस्य कपालस्य कथं घटहेतुत्वं** स्यात्, अन्योन्याभावस्य व्याप्यवृत्तित्वात् स्वप्रतियोगितावच्छेदकविरोधित्वाच्च **इति चेत् ? न,** अन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वस्य **अन्यथासिद्धिनिरूपकतानवच्छेदक-नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकरूपवत्त्वे तात्पर्यात् ।** अन्यथासिद्धिनिरूपकताया अनवच्छेदकं यत् नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकं रूपं तद्वत्त्वमेव कारणत्वमित्यर्थः । रासभनिष्ठाया अन्यथासिद्धेः निरूपकत्वस्यावच्छेदकं द्रव्यत्व-पृथिवीत्व-सत्तादिकं तदनवच्छेदकं च कपालत्वं घटनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकत्वस्य सत्त्वात् कपालत्ववत्त्वलक्षणं घटकारणत्वं कपालेऽनपायमेव, उपधेयसाङ्कर्येऽप्युपाध्योरसाङ्कर्यात् ।

ननु नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकं यद्रूपं तस्यान्यथासिद्धिनिरूपकतानवच्छेदकत्वविवक्षणे त्वेतद्घटं प्रत्येतत्कपालत्वेनाऽपि हेतुता न स्यात् एतद्घटं प्रति कपालत्वस्यान्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदकत्वात्, एतत्कपालत्वस्य च ततोऽव्यतिरेकेण तस्याप्यन्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदकत्वादेव । तत एतद्घटनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकीभूतस्यैतत्कपालत्वस्यान्यथासिद्धिनिरूपकतानवच्छेदकत्वविरहेणैतद्घटं प्रत्येतत्कपालत्वेनान्यथासिद्धिर्दुर्वारेत्याशङ्कायां नैयायिका व्याचक्षते - **अनवच्छेदकत्वञ्च** = अनवच्छेदकत्वपदप्रतिपाद्यञ्च प्रकृते **अवच्छेदकत्वपर्याप्त्यनधिकरणत्वं** = पर्याप्तिसम्बन्धेनावच्छेदकत्वस्याधिकरणत्वाभावः, न त्ववच्छेदकभिन्नत्वम् । ततश्च पर्याप्त्या अन्यथासिद्धिनिरूपकताया अवच्छेदकत्वस्यानधिकरणं यद्रूपं नियतपूर्ववृत्तिताया अवच्छेदकं तद्वत्त्वं कारणत्वमिति फलितोऽर्थः । विशिष्टस्य शुद्धानतिरेकनये एतत्कपालत्वस्य कपालत्वाभिन्नत्वेऽपि एतद्घटान्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदकत्वपर्याप्त्यधिकरणत्वविरहेण निरुक्तानवच्छेदकत्वसत्त्वान्नैतत्कपालत्वेनैतद्घटं प्रत्यन्यथासिद्धत्वापत्तिरित्याहुः - **तेन** = निरुक्तानवच्छेदकत्वविवक्षणेन, **न अन्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदककपालत्वाभिन्नैतत्कपालत्वेन** = एतद्घटापेक्षया अन्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदकीभूतकपालत्वानतिरिक्तेन एतत्कपालत्वेन रूपेणैतत्कपालस्य **एतद्घटं** = एतत्कपालाव्यवहितोत्तरघटं **प्रति अन्यथासिद्धिः** एतत्कपालत्वस्य एतद्घटनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकत्वेऽपि निरुक्तरीत्या अन्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदकत्वपर्याप्त्यधिकरणत्वाभावेन निरुक्ता-

❀ नैयायिकमतानुसार परिष्कृत कारणता का स्वरूप ❀

नन्व. । यहाँ यह शंका हो कि —> 'उपर्युक्त निरूपण के अनुसार कारणताशरीरघटक अनन्यथासिद्धत्व का अर्थ अन्यथासिद्धभेद सिद्ध होता है । मगर ऐसा मानने पर कपाल घट का कारण नहीं हो सकेगा, क्योंकि कपाल भी द्रव्यत्वेन घट के प्रति अन्यथासिद्ध होने से अन्यथासिद्धभिन्न नहीं है <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कारणता को अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वस्वरूप कहने का तात्पर्य यह है कि कारणत्व अन्यथासिद्धि की निरूपकता के अनवच्छेदक ऐसे कार्यनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकधर्मस्वरूप है । घट की अपेक्षा कपाल में जो अन्यथासिद्धि रहती है उसकी निरूपकता कपाल में होने पर भी अन्यथासिद्धि की निरूपकता का अवच्छेदक धर्म द्रव्यत्वादि है, न कि कपालत्व । कपालत्व तो कपालनिष्ठ अन्यथासिद्धि की निरूपकता का अनवच्छेदक एवं घटनियतपूर्ववृत्तिता का अवच्छेदक है । इसलिए कपालनिष्ठ घटकारणता कपालत्ववत्त्वस्वरूप फलित होती है । इस घटकारणता की आश्रयता कपाल में होने से 'घटकारण कपाल है' इस प्रसिद्ध प्रामाणिक व्यवहार का अपलाप होना नहीं है ।

❀ अनवच्छेदकत्व का निर्वचन ❀

अन. । यहाँ इस शंका का कि —> 'यदि नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक धर्म, जो अन्यथासिद्धिनिरूपकता का अनवच्छेदक हो, तद्वत्त्व को कारणता मानने पर तो एतद्घट के प्रति एतत्कपालत्वेन अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति आयेगी, क्योंकि एतद्घटात्मक कार्य के प्रति अन्यथासिद्धिनिरूपकता का अवच्छेदक कपालत्व है और कपालत्व से एतत्कपालत्व अभिन्न होने की वजह एतत्कपालत्व भी अन्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदक बन जाता है । अन्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदकभिन्नत्व न होने की वजह अन्यथासिद्धिनिरूपकता-अनवच्छेदक-नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकधर्मवत्त्वात्मक एतद्घटकारणत्व एतत्कपाल में कथमपि संगत नहीं हो सकेगा । अतः अव्याप्ति दोष प्रसक्त होता है' <— समाधान यह है कि अनवच्छेदकत्व यहाँ अवच्छेदकभिन्नत्वात्मक विवक्षित नहीं है, किन्तु अवच्छेदकत्व-

अनुपधायकहेतुसाधारण्याय 'अवच्छेदके'त्यादि। धूमादौ रासभादेर्हेतुत्ववारणाय 'नियतपूर्ववृत्ती'ति। धूमत्वाद्याश्रया यावन्तः प्रत्येकं तत्तदव्यवहितप्राक्कालावच्छेदेन तत्तदधिकरणे विशेष-

❀ जयलता ❀

न्यथासिद्धिनिरूपकतानवच्छेदकत्वविरहात् । **न** चैतत्कपालत्ववत् कपालत्वस्याप्येतद्घटाऽन्यथासिद्धत्वनिरूपकतानवच्छेदकत्वमेवेति **वाच्यम्**, तथा सति कपालत्ववतः तत्कपालादपि एतद्घटोत्पत्त्यापत्तेः ।

नन्वन्यथासिद्धिनिरूपकतापर्याप्त्यनधिकरण-नियतपूर्ववर्तित्वस्यैव कारणतात्वमस्तु किमवच्छेदकपदनिवेशेन ? इत्याशङ्कायामाहुः **अनुपधायकहेतुसाधारण्याय** = धूमादिस्वरूपयोग्यकारणसङ्ग्रहाय **'अवच्छेदक'त्यादि** = अवच्छेदकरूपवत्त्वोपादानम् । अन्यथा धूमादिलक्षणफलोत्पत्तिव्याप्यानलादावेव निरुक्तकारणत्वं स्यात्, न तु फलोत्पत्त्यव्याप्यानलादौ तदव्यवहितोत्तरकाले धूमाऽभावेन धूमनियतपूर्ववृत्तित्वस्य तत्र विरहात् । **न च** अन्यथासिद्धिनिरूपकतानवच्छेदककार्यनियतवृत्तितावच्छेदकरूपवत्त्वं कारणत्वमित्येवोच्यतां किं पूर्ववृत्तित्वप्रवेशनिवेशनेनेति **वाच्यम्**, तथा सति धूमध्वंसे धूमकारणत्वापत्तेः । न चाव्यवहितोत्तरत्वनिवेशान्नायं दोष इति वाच्यम्, धूमकारणत्वस्य धूमप्रागभावेऽव्याप्तेः धूमप्रागभावध्वंसेऽतिव्याप्तेश्च । **न चास्तु** पूर्ववृत्तित्वनिवेशः किन्तु नियतपदं नातिप्रयोजनमिति **वाच्यम्, धूमादौ** = धूमादिकार्यं प्रति **रासभादेः हेतुत्ववारणाय 'नियतपूर्ववृत्ती'**ति पदस्यापि सार्थकत्वात्, नियमतोऽव्यवहितपूर्वकालवृत्तीत्यर्थः । तेन न व्यवहितानलादेरिदानीं धूमजनकत्वापत्तिः । **न च** धूमाव्यवहितपूर्वकाले क्वचिद्रासभादेरपि सत्त्वादेतद्रासभाद्यव्यावर्तकं इति **वाच्यम्**, तद्रासभत्वादिना रासभादिव्यावर्तकत्वेनास्य सफलत्वात्, रासभत्वादिनान्यथासिद्धेरेवाऽहेतुत्वात् । न च तद्रासभत्वादिनापि तत एवाऽहेतुत्वमिति **वक्तव्यम्**, तद्धूमादिकं प्रति तद्दिग्देशकालतद्रासभादेः तत्कारणासहभूतत्वेन यथोक्तान्यथासिद्ध्यभावात्, विशेष्यभागसाफल्याय नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकेन येन कारणत्वाऽव्यवहारस्तद्रूपेणान्यथासिद्धेर्वाच्यत्वाच्च । यद्वा दैशिकव्यापकतावच्छेदकत्वमपि नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकविशेषणं, इत्थञ्च दैशिकव्यापकताशालितद्धूमदेशस्थहेतुत्ववारणाय कालिकव्यापकत्वनिवेशः । अत एव दैशिक-कालिकव्यापकताद्वयगर्भमेकमेव कारणत्वमिति वदन्ति ।

वस्तुतस्तु **धूमत्वाद्याश्रया यावन्तः प्रत्येकं तत्तदव्यवहितपूर्वकालावच्छेदेन** = तत्तत्कार्योत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन **तत्तदधिकरणे** = तत्तत्कार्यनिरूपित-कार्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतावच्छिन्ने **विशेषणतया वर्तमानस्य**

पर्याप्त्यनधिकरणत्वात्मक अभिमत है । एतद्घट की अपेक्षा अन्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदक कपालत्व से भिन्नत्व भले ही एतत्कपालत्व में न हो, मगर अन्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदकत्वपर्याप्ति का अनधिकरणत्व तो एतत्कपालत्व में रहता ही है, क्योंकि एतद्घटान्यथा-सिद्धिनिरूपकतावच्छेदकत्व केवल एतत्कपालत्व में पर्याप्त नहीं है । इसलिए एतत्कपालत्वेन एतद्घट के प्रति अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति नहीं है - यह फलित होता है । यदि केवल अन्यथासिद्धिअनिरूपकत्वे सति नियतपूर्व-वृत्तित्व को ही कारणत्व माना जाय तब तो धूम को अव्यवहितोत्तरक्षण में उत्पन्न न करनेवाले = अनुपधायक हेतु अर्थात् स्वरूपयोग्य कारण अग्नि में धूमकारणता न रह सकेगी, क्योंकि उस अग्नि के उत्तर क्षण में धूम उत्पन्न नहीं होने की वजह उस अग्नि में कार्यनियतपूर्ववृत्तित्व नहीं रहता है । फलानुपधायक हेतु के संग्रहार्थ अवच्छेदक का ग्रहण कर के उपर्युक्त कारणतास्वरूप का निर्वचन करना जरूरी है । तब कार्योत्पत्त्यव्याप्य अग्नि आदि हेतु में कारणता की अनुपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि फलानुपधायक अग्नि में नियतपूर्ववृत्तित्व न होने पर भी वह धूमनियतपूर्ववृत्तिअग्निसजातीय होने की वजह नियत-पूर्ववृत्तितावच्छेदक धर्म अग्नित्व तो अग्नि में रहता ही है । अतः उसमें धूमकारणता की असंगति=अनुपपत्ति=अव्याप्ति नहीं है । यदि केवल अन्यथासिद्धिनिरूपकतानवच्छेदक-पूर्ववृत्तितावच्छेदकरूपवत्त्व को कारणत्व कहा जाय तब तो धूम के प्रति रासभ आदि भी हेतु बन जायेंगे । मगर रासभ धूम के प्रति नियमेन अव्यवहितपूर्ववर्ती नहीं है । इसलिए उसमें धूमादिकारणत्व के परिहारार्थ नियतपूर्ववृत्तित्व का ग्रहण किया गया है । तब रासभ में धूमादि की कारणता की आपत्ति को अवकाश नहीं रहता है ।

❀ परिष्कृत कारणतालक्षण - नैयायिक ❀

धूमत्वा. । मगर वास्तविकता को लक्ष्य में ली जाय तब नैयायिक की ओर से कारणता का यह स्वरूप कहा जाता है कि कार्यतावच्छेदकीभूत धूमत्वादि के जितने भी आश्रय = अधिकरण धूम हैं उनमें से प्रत्येक की अव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन उनके = धूमादि के अधिकरण में स्वरूपसम्बन्ध = विशेषणाविशेषसम्बन्ध से जो अभाव रहता है उस अभाव की कारणतावच्छेदक तत् तत् सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का अनवच्छेदक जो धर्म है तद्वत्त्व ही विवक्षित कारणता है - यह निहितार्थ है । जैसे धूमत्वावच्छिन्न सकल धूम में से प्रत्येक धूम के आश्रय पर्वत, चत्वर, महानस आदि में रहनेवाला रासभअभाव घटाभाव, पटाभाव आदि होगा, जो संयोग आदि तत् तत् कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक

णतया वर्तमानस्याऽभावस्य कारणतावच्छेदकतत्तत्सम्बन्धावच्छिन्नाभावप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वं तदिति मुकुलितार्थः । तेन कालतो नियतपूर्ववर्तिनोऽपि रासभादेर्व्युदासः सुघटः ।

❀ जयलता ❀

= अभावीयविशेषणताविशेषसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्ववतः **अभावस्य कारणतावच्छेदकतत्तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वं** = कारणतावच्छेदकीभूततत्तत्सम्बन्धावच्छिन्ना या प्रतियोगिता तदनवच्छेदकधर्मवत्त्वं एव **तत्** = कारणत्वं **इति मुकुलितार्थः** = निहितार्थः । **तेन** = कार्याधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितायाः कारणतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्वप्रतिपादनेन, **कालतः** = कालिकविशेषणताविशेषसम्बन्धेन **नियतपूर्ववर्तिनः** = कार्योत्पादाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन नियमेन वर्तिनः **अपि रासभादेः व्युदासः** = धूमादिकारणत्वव्यवच्छेदः **सुघटः** = सुवचः संयोगादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-रासभाभावादेः धूमाद्यधिकरणे विशेषणताविशेषसम्बन्धेन वर्तमानत्वात् रासभत्वादेः तत्प्रतियोगितानवच्छेदकत्वासम्भवात् । तदनुक्तौ तु रासभादेरपि कारणत्वापत्तिः, कार्यधूमाधिकरणे रासभादेः कालिकेन वर्तमानत्वेन तत्र विशेषणतया वर्तमानो यो विनष्टघटाद्यभावः तत्प्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य रासभत्वादौ सत्त्वेन तद्वत्त्वेन रासभादेः धूमादिकारणत्वापत्तिर्दुर्वारैव स्यात् ।

तदुक्तं **जगदीशतर्कालङ्कारेण कारणतावादे** ''यदवच्छिन्नं प्रति यादृशसंसर्गेण नियताव्यवहितपूर्ववर्तितावच्छेदकं यदन्यथासिद्ध्यनिरूपकं रूपं तद्वत्त्वमेव तदवच्छिन्नं प्रति तादृशसंसर्गेण कारणत्वम् । तत्र **यद्यपि** घटत्वावच्छिन्नसामान्यस्याऽव्यवहितपूर्वत्वमप्रसिद्धं, घटसामान्यप्रागभावाधिकरणसमयप्रागभावानधिकरणत्वे सति घटप्रागभावाधिकरणकालत्वरूपस्य तस्य क्वचिदप्यसत्त्वात् ; प्रसिद्धं वा न कारणत्वस्य निर्वाहकं, महाप्रलयकालीनतत्तद्दण्डत्वादिनापि घटत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वप्रसङ्गेनाऽव्यावर्तकत्वात् । अत एव यत्किञ्चिद्घटाव्यवहितपूर्वत्वमपि दुर्निवरम्, घटसामान्यं प्रत्यपि तत्कपालत्वेन हेतुतापत्तेः, तद्धर्मावच्छिन्नसकलकार्याव्यवहितपूर्ववर्तिस्वावच्छिन्नवत्ताकधर्मस्यैवाऽन्यथासिद्ध्यनिरूपकत्वदलेन वारणीयत्वात्, अन्यथा तन्मात्रस्यैव सम्यक्त्वेऽव्यवहितपूर्ववर्तितावच्छेदकत्वांशवैयर्थ्यापत्तेः । **न च** तद्धर्मविशिष्टस्य यावतः प्रत्येकाऽव्यवहितप्राक्कालावच्छेदेन तत्प्रत्येकस्याधिकरणे वर्तमानस्याभावस्य यावतः प्रत्येकाऽव्यवहितप्राक्कालावच्छेदेन तत्प्रत्येकस्याधिकरणे वर्तमानस्याभावस्य यत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितानवच्छेदको यो धर्मः तद्वत्त्वमेव तद्धर्मावच्छिन्नं प्रति तत्सम्बन्धेन कारणत्वमित्यपि **साम्प्रतम्** घटत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्येन कपालत्वादिना हेतुतापाभव्याप्तिप्रसङ्गात् । घटाव्यवहितप्राक्कालावच्छेद्यस्य कपालादौ तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याऽप्रसिद्धत्वात्, अन्योन्याभावमात्रस्यैव देशे व्याप्यवृत्तित्वात् **तथापि** तद्धर्मविशिष्टा यावन्तः तत्प्रत्येकाधिकरणदेशावच्छेदेन तत्प्रत्येकाऽव्यवहितप्राक्काले वर्तमानस्य तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य प्रतियोगितानवच्छेदकत्वमेव तद्धर्मावच्छिन्नं प्रति तत्सम्बन्धेन नियताव्यवहितपूर्ववर्तितावच्छेदकत्वं विवक्षितम्, घटाव्यवहितप्राक्काले तदधिकरणीभूतकपालाद्यवच्छेद्यस्य पटादिभेदस्यैव सुलभत्वात् । निरुक्तप्रत्येकाधिकरणत्वञ्च देशस्य कार्यतावच्छेदकसम्बन्धेनैव ग्राह्यम् । अतः सम्बन्धान्तरे यत्कार्यस्याधिकरणं तादृशदेशावच्छेदेन कार्यस्य प्राक्काले कारणाभावस्य सत्त्वेऽपि न क्षतिः । वस्तुतः तद्धर्मावच्छिन्नस्य यावतः प्रत्येकाधिकरणदेशावच्छेदेन तत्प्रत्येकाव्यवहितप्राक्कालवृत्ति स्वविशिष्टप्रतियोगिकतादृशसम्बन्धवत्ताकान्यथासिद्ध्यनिरूपकधर्मवत्त्वं तद्धर्मावच्छिन्नं प्रति तादृशसम्बन्धेन कारणत्वं वाच्यं, उक्तापेक्षया लाघवात् । न चैवमपि तत्तद्व्यक्तिस्थलीयकार्यकारणभावस्य प्राच्यैरस्वीकारात्, कार्यतावच्छेदकभेदेन कारणत्वस्य विभिन्नतया तादृशस्थले यावत्त्वस्यानुपादेयत्वाच्च, शब्दैक्यस्याकिञ्चित्करत्वात् ।''

ननु कार्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न-कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणताश्रयनिरूपित-विशेषणताविशेषसम्ब-

---

है । उसकी प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म है रासभत्व, घटत्व, पटत्व आदि और अनवच्छेदक है अस्तित्व । अतः तादृश अस्तित्ववत्त्व ही धूमकारणता है । इस तरह कार्याधिकरण में कार्यअव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन रहनेवाले अभाव की कारणतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता का अनवच्छेदक जो धर्म हो तद्धर्मवत्त्वस्वरूप कारणता फलित होती है । इस तरह कार्याधिकरणवृत्ति अभाव का कारणतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व विशेषण लगाने का लाभ यह है कि कार्य की उत्पत्ति के अव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरण में कालिकसम्बन्ध से गधा आदि रहने पर भी कार्याधिकरण में रहनेवाले अभाव की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक धर्मस्वरूप कारणता की आपत्ति रासभादि में नहीं आयेगी, क्योंकि धूमादि कार्य की उत्पत्ति के अव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन धूमाधिकरण में संयोगादि सम्बन्ध से, जो कारणतावच्छेदकसम्बन्धविधया अभिमत है, रासभादि नियमतः नहीं होने की वजह अव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्ति अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक रासभत्वादि ही बनता है । अतः तादृश अभाव की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक धर्मवत्त्वस्वरूप कारणता की आपत्ति रासभादि में नहीं आयेगी ।

न चैवं धूमं प्रति वह्न्यभावस्य हेतुतापत्तिः, धूमाधिकरणे वह्निरूपतदभावस्य विशेषणतयाऽवृत्ते-रिति वाच्यम्, विशेषणतयापि तस्य तत्र वृत्तेः, 'वह्न्यभावो नास्ती'ति प्रतीतेस्तथैव निर्वाहात् ।

❀ जयलता ❀

न्धावच्छिन्नवृत्तिताक-निरुक्तसंसर्गककार्याऽव्यवहितप्राक्क्षणावच्छिन्नात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वं कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नं प्रति तादृशसम्बन्धेन कारणत्वमित्यभ्युपगमे तु धूमत्वावच्छिन्नं प्रति वह्नेरिव वह्न्यभावस्यापि कारणत्वं प्रसज्यते धूमत्वावच्छिन्नो-त्पादाव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन समवायेन धूमाधिकरणेषु धूमावयवेषु संयोगेन पर्वतादिषु विशेषणताविशेषसम्बन्धेन वर्तमानस्य कारणतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य घटाभावादेः प्रतियोगितायाः अनवच्छेदकत्वस्य वह्न्यभावत्वे सत्त्वात् । न च तस्य वह्निस्वरूपत्वमेव नाभ्युपगम्यत इति वाच्यम्, तदा तत्र वह्न्यभावाज्ञानात् वह्न्यभावव्यवहाराच्च तस्य वह्निरूपताया अनिरा-कार्यत्वात् । तदुक्तं **न्यायकुसुमाञ्जलौ उदयनेन** 'अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता' । (न्या.कु. ३/२) इति । न चाऽ-व्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन धूमाधिकरणे वह्निस्वरूपो वह्न्यभावाभावो विशेषणताविशेषसम्बन्धेन वर्तते । ततो वह्न्यभावत्वं तादृश-प्रतियोगितानवच्छेदकत्वासत्त्वाद् धूमकारणत्वापत्तिरित्याशङ्कामपाकर्तुं नैयायिका उपक्षिपन्ति - **न चेति** । वाच्यमित्यनेनास्यान्वयः । **एवं** = निरुक्ताभावे विशेषणताविशेषसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वस्य विशेषणविधया निवेशे, कार्यं **धूमं** = धूमत्वावच्छिन्नं **प्रति** वह्नेरिव **वह्न्यभावस्य** अपि **हेतुतापत्तिः**, अव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन **धूमाधिकरणे वह्निरूपतदभावस्य** = वह्निस्वरूपस्य वह्निप्रतियोगिकाभावाभावस्य **विशेषणतया** = स्वनिष्ठविशेष्यतानिरूपितधूमाधिकरणत्वावच्छिन्नविशेषणतासम्बन्धेन **अवृत्तेः** = असत्त्वात् **इति वाच्यम्** ।

नैयायिका अत्र समादधते - **विशेषणतया** = स्ववृत्तिविशेष्यतानिरूपितविशेषणताविशेषसम्बन्धेन **अपि तस्य** = वह्न्य-भावाभावस्य **तत्र** = धूमाधिकरणे **वृत्तेः** = सत्त्वात् । यथा घटवति भूतले पटाभावाधिकरणको घटाभावः पटाभावत्वेन रूपेण स्वनिरूपितभूतलत्वावच्छिन्न-विशेषणताविशेषसम्बन्धेन वर्तते घटाभावत्वेन रूपेण तु कालिकविशेषणतासम्बन्धेन तथैव अव्यवहित-प्राक्क्षणावच्छेदेन धूमाधिकरणे वह्न्यभावाभावः वह्नित्वेन रूपेण संयोगेन सन्नपि वह्न्यभावाभावत्वेन रूपेण तु स्वनिष्ठविशेष्यता-निरूपितधूमाधिकरणत्वावच्छिन्नविशेषणतासम्बन्धेनैव वर्तते । कुतः ? उच्यते, धूमाधिकरणे **वह्न्यभावो नास्तीति प्रतीतेः तथैव** = निरुक्तविशेषणतयैव **निर्वाहात्**, नास्तित्वावगाहिप्रतीतेः संसर्गविधया विशेषणताविशेषस्यैव विषयीकरणात्, अन्यथा 'भूतले घटो नास्ती'ति प्रतीतेरपि विशेषणताविशेषसंसर्गकत्वं न स्यात् । अत्यन्ताभावाभावस्य सप्तमपदार्थत्वनये तु सुतरां विशेषणता-

❀ अनलाभावाभाव स्वरूपसम्बन्ध से रहता है - नैयायिक ❀

न चैवं धू. । यहाँ यह शंका कि —> 'कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरण में विशेषणताविशेषसम्बन्धात्मक स्वरूपसम्बन्ध से रहनेवाले अभाव की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक धर्मवत्त्व की ही कारणता मानी जाय तब तो धूमात्मक कार्य के प्रति जैसे वह्नि कारण है ठीक वैसे ही वह्नि का अभाव भी कारण बन जायेगा, क्योंकि अव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन धूमाधिकरण में विशेषणता-विशेषात्मक स्वरूपसम्बन्ध से रहनेवाले अभाव हैं घटाभाव, पटाभाव आदि, जिनकी प्रतियोगिता का अनवच्छेदक वह्निअभावत्व है । धूमाधिकरण में विशेषणताविशेषसम्बन्ध से रहनेवाले अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक वह्निअभावत्व तब हो सकता है यदि वहाँ विशेषणताविशेषसम्बन्ध से वह्निअभावाभाव रहता हो । मगर यह नामुमकिन है, क्योंकि वह्निअभाव का अभाव तो वह्निस्वरूप ही है, क्योंकि अत्यन्ताभाव का अभाव प्रथम अभाव के प्रतियोगिस्वरूप होता है - यह नियम है । वह्निस्वरूप वह्निअभावाभाव तो धूमाधिकरण में संयोगसम्बन्ध से रहता है, न कि विशेषणताविशेषसम्बन्ध से । अतः अव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन वह्निअभावत्वधर्मवत्त्वस्वरूप धूमकारणता वह्निअभाव में भी रहने लगेगी, जो किसीको भी इष्ट नहीं है' <— ।

विशे. । इसलिये निराधार है कि अव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन धूमाधिकरण में वह्निअभावअभाव विशेषणताविशेषसम्बन्ध से भी रहता ही है । इसीलिए तो तब वहाँ यह प्रतीति होती है कि 'यहाँ वह्निअभाव नहीं है' । विशेषणताविशेष को सम्बन्ध बनाने पर ही तो उपर्युक्त नास्तित्वावगाही प्रतीति की उपपत्ति हो सकती है । नास्तित्वावगाही होने पर भी उक्त प्रतीति को विशेषणताविशेषसम्बन्ध की अनवगाही मानी जाय तब तो 'भूतले घटो नास्ति' इत्यादि प्रतीति भी विशेषणताविशेषात्मक स्वरूपसम्बन्ध को अपना विषय नहीं बनायेगी । मगर वस्तुस्थिति यह है कि घटाभाव में रहनेवाली विशेष्यता से निरूपित विशेषणता उक्त प्रतीति से भूतल में प्रतीत होने की वजह स्वनिष्ठविशेष्यतानिरूपित-भूतलत्वावच्छिन्नविशेषणता सम्बन्ध से ही घटाभाव भूतल में रहता है । इस तरह अव्यवहित प्राक्क्षणावच्छेदेन धूमाधिकरण में विशेषणताविशेषसम्बन्ध से वृत्ति वह्निअभावअभाव

न चैवं नीलादौ नीलाभावादेर्हेतुत्वं न स्यात् नीलप्राक्काले नीलाधिकरणे सम्बन्धान्तरेण तदभावनीलस्यापि विशेषणतयैव वृत्तेरिति वाच्यम्, प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धस्यैव विशेषणता-

❀ नयलता ❀

वच्छेदकत्वात् तादृशप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वलक्षणं धूमकारणत्वं वह्न्यभावे आपादयितुमर्हतीति गौतमीयाशयः ।

न च एवं = विशेषणताविशेषसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वस्य तादृशाभावविशेषणत्वस्वीकारे, समवायेन **नीलादौ** समवायेन नीलादेः प्रतिबन्धकत्वेन प्रतिबन्धकाभावविधया **नीलाभावादेः हेतुत्वं न स्यात्, नीलप्राक्काले** = नीलोत्पादाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन **नीलाधिकरणे** = नीलरूपात्मककार्याधिकरणतयाऽभिमते अनीलघटादौ स्वनिरूपितघटत्वावच्छिन्नविशेषणतया नीलरूपाभावस्य विरहेण **सम्बन्धान्तरेण** = स्वीयघटत्वावच्छिन्नविशेषणतासम्बन्धेन **तदभावनीलस्यापि** = निरुक्तव्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्ननीलाभाव-निष्ठप्रतियोगितानिरूपकाभावस्वरूपस्य नीलस्यापि नीलाभावाभावत्वेन रूपेण **विशेषणतया** = स्वनिरूपितनीलघटनिष्ठविशेषणता-सम्बन्धेन वर्तमानस्य नीलत्वादिरूपेण **विशेषणतया** = कालिकविशेषणतया **एव वृत्तेः** = वृत्तित्वात् **इति वाच्यम्, प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धस्य** = प्रतियोगिनिष्ठस्वाभावविरोधितावच्छेदकसम्बन्धस्य **एव विशेषणतात्वात्** = विशेषणतापदप्रतिपाद्यत्वात् । प्रकृते नीलरूपवत्यपि घटादौ नीलाभावनिरूपितघटत्वावच्छिन्नविशेषणतासम्बन्धेन नीलाभावस्य सत्त्वान्निरुक्तप्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्धत्वासम्भवः । नापि कालिकविशेषणतासम्बन्धस्य प्रतियोगिनिष्ठस्वाभावविरोधितावच्छेदकसम्बन्धत्वसम्भवः प्रतियोगिमत्यपि कालिकविशेषणतावच्छिन्नतदभावसत्त्वात् । किन्तु नीलप्राक्काले नीलाधिकरणविधयाऽभिमते घटे स्वनिरूपितघटत्वावच्छिन्नविशेषणता-विशेषसम्बन्धेन नीलाभाववति एतत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-नीलाभावाभावविरहादेतस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धत्वम् । तेन नीलाभावाभावस्य तदा तत्राऽसत्त्वान्न नीलाभावत्वस्य कार्योत्पादाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणनिरूपित-निरुक्तसंसर्गा-वच्छिन्नवृत्तिताकाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमिति समवायेन नीलं प्रति न नीलाभावस्य कारणत्वानुपपत्तिः । न च प्रतियोगिनिष्ठ-स्वाभावविरोधितावच्छेदकसम्बन्धस्यैव कथं विशेषणतात्वं ? इति शङ्कनीयम्, **तेन** = विरोधितावच्छेदकसम्बन्धेन **एव तदभावाभाव-व्यवहारात्**, तदभावाऽज्ञानाच्च । घटवति भूतले 'किमत्र स्वनिरूपितभूतलनिष्ठविशेषणतासम्बन्धेन घटाभावोऽस्ति ?' इति पर्यनुयोगे 'अनेन सम्बन्धेन घटाभावोऽत्र नास्ती'त्येव व्यवहारात् । अत एव तत्र स घटस्वरूपो गीयते नान्त्रिकैः । प्रथमाभाव-प्रतियोगिकाभावीयप्रतियोगितया येन सम्बन्धेनावच्छिन्नत्वदशायां द्वितीयाभावस्य प्रथमाभावप्रतियोगिस्वरूपत्वमुपपद्यते तस्य तत्र विवक्षितप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धत्वं बोध्यम् । स च प्रथमात्यन्ताभावस्य भावप्रतियोगिकत्वे विशेषणताविशेषस्वरूपः तस्याभाव-प्रतियोगिकत्वे यथायथं समवायादिस्वरूपः । अत एव समवायसम्बन्धावच्छिन्नघटाभावनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकाभावस्य न घटस्व-

---

की प्रतियोगिता का अवच्छेदक **वह्निअभावत्व हो जाने की वजह तादृशअभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वस्वरूप** धूमकारणता **वह्निअभाव में रह जाने की अनिष्ट आपत्ति नहीं आयेगी - यह फलित होता है ।**

❖ नील के प्रति नीलाभाव की कारणता का समर्थन ❖

न चैवं नी. । यहाँ इस **शंका का कि** —> 'समवाय सम्बन्ध से नील रूप की उत्पत्ति में समवाय सम्बन्ध से नील रूप प्रतिबन्धक होने से नील रूप के प्रति प्रतिबन्धकाभावविधया नीलरूपाभाव में कारणता नैयायिकसम्प्रदायमान्य है । मगर उपर्युक्त कारणता के स्वीकारपक्ष में नील के प्रति नीलाभाव में कारणता न हो सकेगी, क्योंकि नीलरूप की उत्पत्ति के प्राक्क्षणावच्छेदेन नील रूप के अधिकरणविधया अभिमत घट आदि में नीलरूपाभाव घटीयविशेषणतास्वरूप स्वरूपसम्बन्ध से होने पर भी घटीयविशेषणता सम्बन्ध से नहीं होने से समवायसम्बन्धावच्छिन्न-नीलरूपाभावनिष्ठप्रतियोगिताकाभाव विशेषणताविशेष-सम्बन्ध से रहता है । कार्याधिकरण में विशेषणताविशेषसम्बन्ध से रहनेवाले नीलाभावाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक नीलाभावत्व बनता है । अतः नीलाभाव में तादृशअभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वस्वरूप नीलकारणता न रह सकेगी' <—समाधान यह है कि कार्याधिकरण में जिस विशेषणतासम्बन्ध से अभाव का रहना अभिमत है वह प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धात्मक ही ग्राह्य है, न कि अन्य सम्बन्धात्मक । प्रतियोगिता का अर्थ है विरोधिता । प्रतियोगी अपने अभाव का जिस सम्बन्ध से विरोधी हो वह प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध हो सकता है । यहाँ नीलोत्पादाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन नीलाधिकरणविधया अभिमत अनील घट में घटनिष्ठविशेषणतासम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक नीलाभावाभाव कालिकविशेषणतादि सम्बन्ध से होने पर भी वह सम्बन्ध प्रतियोगितावच्छेदक नहीं हो सकता है, क्योंकि उक्त सम्बन्ध से दोनों एकत्र रह सकते हैं । विरोधिता-अवच्छेदकसम्बन्ध तो घटवृत्तिविशेषणताविशेषसम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि तभी नीलाभाव नीलाभावाभावस्वरूप बन सकता

त्वात्, तेनैव तदभावाभावव्यवहारात्, 'घटोऽस्ती'ति प्रतीतेः 'घटाभावो नास्ती'ति प्रतीतौ विशेषणतात्वावच्छिन्नसांसर्गिकविषयतयैव विशेषात्'[१] ।

न चाऽव्यवहितत्वांशत्यागेन तत्तत्कालावच्छेदेनेत्येवोच्यतां इति वाच्यम्, अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन कार्यवति यदभावो ज्ञायते तत्र कारणताबुद्ध्यनुदयेन तन्निवेशादिति वदन्ति ।

अत्रोच्यते - यत्तावद् 'येन सह' इत्यादिकमुक्तं तदयुक्तम्, येन पृथगन्वयादिमता यस्य तद्रहितस्येत्युक्तौ नियमादिप्रवेशवैफल्यात्,

❀ जयलता ❀

रूपत्वं भवति । **न च** घटात्यन्ताभावाभावस्य घटस्वरूपत्वे तदवगाहिप्रतीत्योः सर्वथाऽविशेष एवेति **वाच्यम्, 'घटोऽस्ती'ति प्रतीतेः 'घटाभावो नास्ती'ति प्रतीतौ विशेषणतात्वावच्छिन्नसांसर्गिकविषयतयैव विशेषात्** = भेदात् । 'घटोऽस्ती'ति प्रतीतिः संयोगत्वाद्यवच्छिन्नसांसर्गिकविषयतावगाहिनी 'घटाभावो नास्ती'ति प्रतीतिस्तु विशेषणतात्वावच्छिन्नसंसर्गताख्यविषयतावगाहिनीतीयांस्तयोर्विशेषः ।

एतावत्पर्यन्तमेव महामहोपाध्यायप्रणीतं मध्यमपरिमाणस्याद्वादरहस्यप्रकरणमुपलभ्यते । साम्प्रतं तदनुसन्धानं विधीयते ।

न च प्रकृतकारणतालक्षणे **अव्यवहितत्वांशत्यागेन** = अव्यवहितत्वभागविनिर्मोकेण, **तत्तत्प्राक्कालावच्छेदेन** = तत्तत्कार्योत्पत्तिपूर्वक्षणावच्छेदेन **इत्येवोच्यतां** अव्यवहितत्वोपादानेनालम्**इति वाच्यम्, अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन** = तत्तत्कार्योत्पादाव्यवहितपूर्वसमये **कार्यवति** = कार्यतावच्छेदकसम्बन्धेन कार्याधिकरणत्वेनाऽभिमते **यदभावः** = यद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः **ज्ञायते तत्र** = तद्धर्मावच्छिन्ने **कारणताबुद्ध्यनुदयेन** = तत्तत्कार्यनिरूपितकारणत्वज्ञानासम्भवेन **तन्निवेशात्** = अव्यवहितत्वप्रवेशात् अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन कार्याधिकरणेऽवृत्तित्वस्यैव व्यतिरेकव्यभिचारपदार्थत्वात्, व्यभिचारज्ञानस्य निरुक्तकारणत्वविरोधित्वादिति वदन्ति ।

उत्तरपक्षयति - **अत्रोच्यते । यत्तावद् 'येन सह' इत्यादिकं** = येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तत्र तदाद्यमन्यथासिद्धमिति **उक्तं** = यथाश्रुतं **तदयुक्तम्**, दण्डत्वादिना दण्डादेः दण्डादिना दण्डसंयोगादेर्वा घटं प्रत्यन्यथासिद्धत्वापत्तेः। तन्निवारणार्थं **'येन** = **पृथगन्वयादिमता यस्य** = **तद्रहितस्य** = पृथगन्वयव्यतिरेकशून्यस्य **इत्युक्तौ नियमादिप्रवेशवैफल्यात्**

है । मगर घटवृत्तिविशेषणताविशेषस्वरूपसम्बन्ध से तो नीलोत्पत्तिप्राक्क्षणावच्छेदेन घट में नीलाभाव ही रहता है, न कि उपर्युक्त-सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक नीलाभावाभाव । इसलिए नीलाभावत्व तादृशकार्याधिकरणवृत्ति अभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक ही बनेगा । अतः तादृशप्रतियोगितानवच्छेदक धर्मवत्त्वस्वरूप नीलकारणता नीलरूपप्रतियोगिकात्यन्ताभाव में निराबाध रहती है । अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध से ही तदभाव के अभाव का व्यवहार होता है । जैसे घटसंयुक्त भूतल में 'क्या यहाँ स्वरूपसम्बन्ध से घटाभाव है ?' इस प्रश्न के जवाब में यही व्यवहार होता है कि 'यहाँ स्वरूप-सम्बन्ध से घटाभाव नहीं है' । यह स्वरूपसम्बन्ध दूसरा कुछ न हो कर स्वनिरूपितभूतलत्वावच्छिन्नविशेषणताविशेष ही है । हाँ इतनी विशेषता जरूर है कि 'भूतले घटोऽस्ति' इस प्रतीति में संयोगत्वावच्छिन्न संसर्गतानामक विषयता का उल्लेख होता है जब कि 'भूतले घटो नास्ति' इस प्रतीति में विशेषणतात्वावच्छिन्न संसर्गताख्य विषयता का भान होता है । सर्वथा ऐक्य दोनों में नहीं है ।

यहाँ यह शंका करने की कोई जरूरत नहीं है कि --> 'कारणता के शरीर में अव्यवहितत्व अंश का प्रवेश किये बिना 'तत् तत् कालावच्छेदेन' का ही निवेश क्यों न किया ?' <-- क्योंकि कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध से कार्य के अधिकरण में अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन जो अविद्यमान होता है उसमें कारणता का ज्ञान ही नहीं होता है । जिसकी अव्यवहितपूर्वक्षण में उपस्थिति न हो फिर भी कार्य उत्पन्न हो जाय तब उसे उस कार्य का कारण कहने का दुःसाहस कौन करेगा ? अतः कारणता के शरीर में अव्यवहितत्व अंश का निवेश भी आवश्यक है - यह नैयायिकों का मत है ।

❀ नैयायिकाभिमतकारणता असंगत - स्याद्वादी ❀

भेद । मगर इसके प्रतिवाद में स्याद्वादी का यह कथन है कि कारणता के शरीर में प्रविष्ट भेद के प्रतियोगी अन्यथासिद्ध

१ इतः परं मूलादर्शपत्रं रिक्तमेव । इतोऽग्रे मध्यमस्याद्वादरहस्यानुसन्धानं एकादशकारिकाविवरणपर्यन्तमस्माभिरस्मिन् पुस्तके मुद्रितम् । द्वादशकारिकाविवरणं तु लघुस्याद्वादरहस्यगतमत्रास्माभिः मुद्रितमिति विज्ञवाचकवर्गेणाऽवधातव्यम् ।

पृथगन्वयादिमतेत्यादेरनुगतानतिप्रसक्तस्य दुर्वच-त्वाच्च ।

❀ जयलता ❀

= कारणतालक्षणघटकपूर्ववृत्तित्वविशेषणीभूतनैयत्यादिप्रवेशस्य वैयर्थ्यापत्तेः । न चास्तु तस्य तत्परिचायकत्वमेवेति वाच्यम्, तथापि **'पृथगन्वयादिमते'त्यादेः अनुगतानतिप्रसक्तस्य दुर्वचत्वात्** । तथाहि समवायेन घटं प्रति स्वसंयुक्तसंयोगसम्बन्धेन नियतपूर्ववृत्तौ दण्डेऽतिव्याप्तिः । संयोगेन घटं प्रति संयोगेन दण्डस्य पूर्ववृत्तित्वस्वीकारेण तद्दोषवारणेऽपि दण्डरूपेऽतिव्याप्तिः, समवायेन घटं प्रति दण्डाद्यघटितकालिकसम्बन्धेन नियतपूर्ववृत्तिताया दण्डरूपेऽतिव्याप्तिः, समवायेन घटं प्रति दण्डाद्यघटितकालिक-सम्बन्धेन नियतपूर्ववृत्तिताया दण्डरूपे सत्त्वात् ।

यत्तु महादेवेन स्वातन्त्र्येण तत्कार्यनिरूपितान्वयव्यतिरेकशून्यत्वे सति तत्कार्यकारणावच्छिन्नस्वनिष्ठतत्कार्यनिरूपितनियत-पूर्ववृत्तित्वग्रहविशेष्यताकं यत्तत्तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धमित्यर्थः । कपालसंयोगो घटनियतपूर्ववृत्तिरित्यादिग्रहविशेष्यतायाः कपालसंयोग-निष्ठायाः कपालावच्छिन्नत्वात् कपालसंयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तं दण्डत्वादिवारणाय विशेष्यमिति गदितं (मु. दिनकरीय.) तन्न चारु, तथापि 'दण्डत्वं घटनियतपूर्ववृत्ती'त्यादिग्रहविशेष्यताया दण्डत्वनिष्ठाया दण्डत्वत्वघटकदण्डावच्छिन्नत्वानपायात् । विशेष्य-तावच्छेदकतापर्याप्तिनिवेशे दण्डरूपं घटनियतपूर्ववृत्तीति पूर्ववृत्तित्वग्रहविशेष्यतावच्छेदकतायाः रूपत्वान्तर्भावेन पर्याप्तत्वादसम्भवापत्तेः कपालसंयोगो घटनियतपूर्ववृत्तिरित्यादिग्रहविशेष्यतावच्छेदकतायाः कपालपर्याप्तत्वाभावेन कपालसंयोगवारकसत्यन्तवैयर्थ्यापत्तेश्च । दण्डीयं घटनियतपूर्ववृत्ति कपालीयो घटनियतपूर्ववृत्तिरित्यादिग्रहविशेष्यतावच्छेदकतामादाय तदुभयोपपादने दण्डीयं घटनियतपूर्व-वृत्तीत्याकारकदण्डत्वविशेष्यकग्रहविशेष्यतावच्छेदकतामादाय दण्डरूपेऽतिव्याप्तिर्दुर्वारा ।

अथ ग्रहनिवेशनं स्वरूपाख्यानमात्रं, लक्षणं तु तत्कार्यकारणावच्छिन्ननियतपूर्ववृत्तित्वमेव । दण्डत्वनिष्ठनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकं दण्डत्वनिष्ठतद्व्यक्तित्वमेव न तु दण्डत्वत्वं गौरवादिति चेत् ? अत्र पृच्छामः, कुतो न दण्डत्वं नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकमिति ? तद्यदि कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्तितावच्छेदकत्वरूपं तदा गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वस्य सत्तात्वापेक्षया गुरुत्वेऽपि यथा द्रव्यवृत्तितावच्छेदकत्वं तथा दण्डत्वत्वस्य गुरुत्वेऽपि 'दण्डत्वं घटोत्पादनियतपूर्ववृत्ति' इति प्रतीत्या तदवच्छेदकत्वं दुर्वारम् । यदि च कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्यानधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वरूपं तदा सुतराम् । **न च** कार्याधिकरणताप्रयोजकाधिकरणतानिरूपकतावच्छेदकत्वे सति कार्याभावप्रयोजकाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वरूपनियतपूर्ववृत्तिता-वच्छेदकत्वं न दण्डत्वत्वेऽभ्युपेयते गौरवात्, प्रयोजकत्वञ्च स्वरूपसम्बन्धविशेष एवेति **वाच्यम्**, तर्हि दण्डरूपत्वविशिष्टनिरूपितपरम्प-रासम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणतायां घटाधिकरणताप्रयोजकत्वं तत्सम्बन्धावच्छिन्नदण्डरूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावे घटाभावप्रयोजक-त्वञ्चाप्रामाणिकं लाघवेन दण्डाधिकरणत्व-दण्डाभावयोस्तत्समनियतयोरेव प्रयोजकत्वस्वीकारसम्भवादिति दण्डरूपादावसम्भवः ।

अथैतदर्थमेव ग्रहनिवेशनं कृतं ग्रहश्च सम्भावनारूपो विवक्षितः । सम्भाव्यमानमपि तादृशान्वयव्यतिरेकवत्त्वं दण्डत्वे तद्व्यक्तित्वेनैव सम्भाव्यते लाघवात्, न तु दण्डत्वत्वेन गौरवात् । दण्डरूपे तु दण्डरूपत्वेन सम्भाव्यते न तु रूपत्वेनातिप्रसङ्गादिति चेत् ? किमियं सम्भावना महासती प्रमात्मिका उत भ्रमप्रमासाधारणी वाराङ्गना ? इति पक्षोभयी । आद्ये दण्डरूपेऽपि न तत्सम्भवः तत्र तादृशान्वयव्यतिरेकयोरभावात् । द्वितीये दण्डत्वेऽपि दण्डत्वत्वेन सम्भावना केन वारणीया ? इत्यलं अनावश्यकदण्डत्व-वारणसम्भवासम्भवविचारेण ।

का जो निर्वचन नैयायिक की ओर से किया गया है वह समीचीन नहीं है । देखिये, प्रथम अन्यथासिद्ध के प्रतिपादन में नैयायिक ने कहा था कि —> 'जिसके साथ ही जिसमें कार्य के प्रति पूर्ववृत्तित्व का भान होता है वह उस कार्य के प्रति प्रथम अन्यथासिद्ध है' (देखिये पृ.८३६) <— मगर वह अयुक्त है, क्योंकि यथाश्रुत इस अर्थ का स्वीकार करने पर दंडसंयोगादि भी दण्डादि से प्रथम अन्यथासिद्ध होने की आपत्ति आती है । दण्ड के साथ ही दण्डसंयोगादि की घट के प्रति पूर्ववृत्तिता ज्ञात होती है । यदि 'येन = पृथगन्वयादिमता' और 'यस्य = पृथगन्वयादिरहितस्य' ऐसा परिष्कार किया जाय तब पूर्वोक्त रीति से (देखिये पृ.८३६) दण्डादि से दण्डसंयोगादि में प्रथमअन्यथासिद्धत्व की आपत्ति तो चली जायेगी मगर तब कारणता के शरीर में प्रविष्ट पूर्ववृत्तित्व के विशेषण नैयत्य आदि के वैयर्थ्य की आपत्ति आयेगी । दूसरी बात यह है कि पृथगन्वयादि का अनुगत एवं अनतिप्रसक्त निर्वचन भी हो सकता नहीं है । अननुगत एवं अतिप्रसक्त होने की वजह आद्य अन्यथासिद्ध में पृथगन्वयादि का निवेश हो सकता नहीं है ।

❀ ईश्वरज्ञानादि में घटादि के प्रति अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति ❀

'अन्यं प्रती'त्यादिकमप्ययुक्तम्, ईश्वरज्ञानादेः क्षित्यादिपूर्ववृत्तित्वेन गृहीतस्यैव घटादिपूर्ववृत्तित्वग्रहाद् घटादावन्यथासिद्ध्यापत्तेः । न च महेश्वरज्ञानादेः क्षित्यादिपूर्ववृत्तित्वग्रहादेव कार्यमात्रे तद्धेतुत्वसिद्धिरिति वाच्यम्, तथापि शब्दसाक्षात्कारे गगनस्यान्यथासिद्धत्वापत्तेः । न च इन्द्रियत्वेन तत्र हेतुत्वग्रहाददोष इति वक्तव्यम्, तथापि श्रावणत्वावच्छिन्ने श्रोत्रत्वेनाऽहेतुत्वप्रसङ्गात् ।

❀ जयलता ❀

द्वितीयान्यथासिद्धमपाकरोति - 'अन्यं प्रती'त्यादिकं = अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञाते एव यं प्रति यस्य पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तत्र तद् द्वितीयमन्यथासिद्धमिति अपि अयुक्तम् । अस्याऽयुक्तत्वेऽतिव्याप्तिदोषमाह - ईश्वरज्ञानादेरिति नित्यज्ञानेच्छादेः क्षित्यादिपूर्ववृत्तित्वेन = अस्मदाद्यजन्यक्षित्यादिपूर्ववृत्तित्वघटितत्वेन गृहीतस्य = 'क्षित्यादि सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवदि'त्यनेनानुमितस्य, एव घटादिपूर्ववृत्तित्वग्रहाद् आकाशादेरिव घटादौ कार्ये अन्यथासिद्ध्यापत्तेः = द्वितीयान्यथासिद्धत्वप्रसङ्गात् ।

न च महेश्वरज्ञानादेः क्षित्यादिपूर्ववृत्तित्वग्रहादेव = क्षित्यादिपूर्ववृत्तित्वघटितकारणत्वग्राहकप्रमाणादेव कार्यमात्रे = कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति तद्धेतुत्वसिद्धिः = त्रिलोचनज्ञानादेः घटादिनियतपूर्ववृत्तित्वघटितकारणत्वसिद्धिः यद्वाऽस्तु क्षित्यादिहेतुत्वेन पार्वतीपतिज्ञानादेः घटादिकं प्रत्यन्यथासिद्धत्वेऽपि नित्यज्ञानत्वादिना कारणत्वं इति वाच्यम्, तथापि = निरुक्तरीत्या ईशज्ञानादेः घटादावन्यथासिद्धिवारणसम्भवेऽपि शब्दसाक्षात्कारे गगनस्य कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशत्वेन रूपेण अन्यथासिद्धत्वापत्तेः = द्वितीयान्यथासिद्धत्वप्रसङ्गात् । आकाशत्वस्य शब्दसमवायिकारणत्वस्वरूपतया शब्दसाक्षात्कारातिरिक्तकार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वघटितरूपेणाकाशस्य शब्दप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहात् घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रतीव शब्दप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रत्यपि द्वितीयान्यथासिद्धत्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् । न चाष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वेन अन्यकार्यनिरूपितपूर्ववृत्तित्वाऽघटितरूपेणाकाशस्य शब्दसाक्षात्कारे हेतुत्वमिति शङ्कनीयम्, तेनैव रूपेणाकाशस्य घटादिजनकत्वापत्तेः । न च इन्द्रियत्वेन रूपेण तत्र = श्रोत्रात्मके आकाशे शब्दप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वग्रहात् = पूर्ववृत्तित्वभानात् अदोषः = द्वितीयान्यथासिद्धत्वकलङ्कानापातः, प्रत्यक्षत्वावच्छिन्ने इन्द्रियत्वेनैव हेतुत्वात्, यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः असति बाधके स तत्सामान्ययोरपीति न्यायात् इति वक्तव्यम्, तथापि = कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशेऽन्यनिरूपितपूर्ववृत्तित्वाघटितेन इन्द्रियत्वेन रूपेण शब्दप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वोपपादनेऽपि, श्रावणत्वावच्छिन्ने श्रोत्रत्वेन = कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशत्वेन रूपेण अहेतुत्वप्रसङ्गात् = द्वितीयान्यथासिद्धत्वापातात् । न हि श्रावणत्वावच्छिन्नं प्रति श्रोत्रस्येन्द्रियत्वेन कारणत्वं सम्भवति, अतिप्रसङ्गात् । कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशत्वं तु अन्यपूर्ववृत्तित्वघटितम् । अतो न

अन्यं. । इस तरह द्वितीय अन्यथासिद्ध का 'अन्य के प्रति पूर्ववृत्तिता ज्ञात होने पर ही जिसकी प्रकृतकार्यपूर्ववृत्तिता ज्ञात होती है वह प्रकृत कार्य के प्रति द्वितीय अन्यथासिद्ध है' (देखिये पृ.८४५) इत्याकारक लक्षण भी असंगत है, क्योंकि तब तो महेश्वरज्ञान आदि भी घटादि कार्य के प्रति द्वितीय अन्यथासिद्ध बन जायेंगे । इसका कारण यह है कि 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्' इत्याकारक अनुमान से नैयायिकमतानुसार ईश्वर की सिद्धि होने से ईश्वरज्ञान आदि में क्षिति आदि के प्रति पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होने के बाद ही उसमें घटादि कार्य के प्रति पूर्ववृत्तिता ज्ञात होती है । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'ईश्वरज्ञानादि में क्षित्यादि के प्रति पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होने से ही कार्यमात्र के प्रति कारणता का उसमें निश्चय हो जाता है । इसलिए घटादि के प्रति ईश्वरज्ञानादि में अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति नहीं आयेगी' <— तो भी आकाश शब्दसाक्षात्कार के प्रति द्वितीय अन्यथासिद्ध बन जायेगा, क्योंकि शब्द के प्रति पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होने के बाद ही शब्दसाक्षात्कार के प्रति आकाश में शब्दसाक्षात्कारपूर्ववृत्तित्व का ज्ञान होता है । आशय यह है कि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश ही नैयायिकमतानुसार श्रोत्रेन्द्रिय है और वह शब्दप्रत्यक्ष के प्रति कारण है, जैसे कि रूपप्रत्यक्ष के प्रति चक्षु । शब्दप्रत्यक्ष के प्रति श्रोत्रत्वेन पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होने पर आकाश में शब्दपूर्ववृत्तित्व का ज्ञान हो ही जाता है, क्योंकि श्रोत्रत्व = कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशत्व = कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नशब्दसमवायिकारणत्व = कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न - शब्दनिरूपितान्यथासिद्धिशून्यनियतपूर्ववृत्तित्व होने से शब्दसाक्षात्कार के प्रति श्रोत्रत्वेन श्रोत्र को कारण मानने पर शब्द के प्रति पूर्ववृत्तित्व का ज्ञान हो ही जाता है । इसलिए शब्दप्रत्यक्ष के प्रति आकाश में द्वितीयान्यथासिद्धत्व की आपत्ति का वारण नहीं हो सकता ।

❀ श्रावणप्रत्यक्ष के प्रति द्वितीयान्यथासिद्धत्वापत्ति ❀

न च इ. । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'शब्दप्रत्यक्ष के प्रति आकाश श्रोत्रत्वेन कारण नहीं है किन्तु इन्द्रियत्वेन कारण है, क्योंकि प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपित कार्यता का अवच्छेदक इन्द्रियत्व है, न कि श्रोत्रत्व ।

'अवश्यक्लृप्ते'त्यादिकमपि न समीचीनम्, आवश्यकत्वस्य दुर्वचत्वात् ।

❀ जयलता ❀

श्रावणत्वावच्छिन्ने श्रोत्रत्वेन हेतुत्वग्रहसम्भवः । **न च** श्रावणत्वावच्छिन्नकारणताशरीरे शब्दपूर्ववृत्तित्वातिरिक्तपूर्ववृत्तित्वभेद एव नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकविशेषणमिति **वाच्यम्**, घटत्वाद्यवच्छिन्नकारणताशरीरेऽपि विनिगमनाविरहेण तथानिवेशे घटादावाकाशस्य कारणतापत्तेः । न च तस्य तत्राकारणत्वादेव घटत्वावच्छिन्नकारणताशरीरे न तथानिवेशादर इति वाच्यम्, परस्पराश्रयप्रसङ्गात् गौरवाच्च । **एतेन** 'पाञ्चभौतिकं शरीरमि'तिश्रुत्या शरीरं प्रत्याकाशस्य कारणताबोधनाच्छरीरत्वावच्छिन्नकारणताशरीरे शब्दपूर्ववृत्तित्वातिरिक्तपूर्ववृत्तित्वघटितधर्मभेद एव नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकधर्मविशेषणमिति **मञ्जूषाकारवचनं निरस्तम्** । वस्तुतस्तु 'यद्विशेषयो...' इतिन्याये मानाभावेन शब्दसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नं प्रति नेन्द्रियत्वेन रूपेणापि गगनस्य हेतुत्वग्रहः सम्भवति इति तु ध्येयम् ।

तृतीयान्यथासिद्धमपाकरोति - **अवश्यक्लृप्तेत्यादिकं** = 'अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तत्सहभूतं अन्यथासिद्धं तृतीयं' इति **अपि न समीचीनम्, आवश्यकत्वस्य** = दण्डत्व-दण्डरूपादिष्वावृत्तावश्यकत्वस्य पूर्वोक्तरीत्या **दुर्वचत्वात्** । न च कार्यान्वयव्यतिरेकप्रयोजकान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वमेवावश्यकत्वमिति वाच्यम्, कार्यान्वये तद्व्यतिरेके च कारणान्वयव्यतिरेकयोरिव कारणतावच्छेदकान्वयव्यतिरेकयोरपि तत्प्रयोजकतायाः सिद्धान्तसिद्धतया तच्छून्यत्वस्य दण्डत्वे दुरुपपादत्वात् । प्रतियन्ति हि लोकाः 'तन्तौ कपालत्वाभावान्न घट' इति । एवं यत्र चक्रे वस्त्वन्तरं संयोज्य प्रवृत्तो घटमुत्पादयितुं न शक्नोति पश्चात्तत्रेत्थं मन्यते 'एतस्य दण्डत्वाभावान्न मृत्पिण्डे घटोत्पत्तिरिति ।'

किञ्च दण्डरूपसत्तायाः कुतो न घटसत्ताप्रयोजकत्वं कुतो वा तदभावस्य न तदभावप्रयोजकत्वम् ? 'दण्डापेक्षया दण्डरूपस्य गुरुत्वादि'ति चेत् ? तर्हि कपालापेक्षया गुरोः कपालसंयोगस्य चक्रापेक्षया गुरोः चक्रभ्रमणादेरपि यावन्वयव्यतिरेकौ तयोरप्रयोजकत्वापत्तिः । **न च** सत्यपि कपाले कपालसंयोगविलम्बे घटविलम्बः सत्यपि चक्रे चक्रभ्रमणविलम्बे घटविलम्ब इति तयोरन्वयव्यतिरेकौ तथेति **वाच्यम्**, एवं सति कपालसंयोगे न कपालविलम्बाद् घटविलम्बः सति चक्रभ्रमणे न चक्रविलम्बाद् घटविलम्ब इति कपालचक्रयोरपि अन्वयव्यतिरेकौ न तथा स्याताम् । **न च** कपाल-चक्रयोस्स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशून्यत्वेऽपि तत्कार्यकारणावच्छिन्नेत्यादिविशेषणेन तयोरन्यथासिद्धत्ववारणसम्भव इति **वाच्यम्**, दण्डवच्चक्रं घटनियतपूर्ववृत्ति, चक्रवान् कपालो घटनियतपूर्ववृत्तिरित्यादिप्रतीत्या तद्विशेषणस्यापि तत्र सत्त्वात् । **न च** कारणान्वयव्यतिरेकयोः कार्यान्वयव्यतिरेकप्रयोजकतया कपालचक्रान्वयव्यतिरेकयोस्तथात्वमिति **वाच्यम्**, एवं दण्डरूपस्य कारणत्वाभावमनिश्चित्य कथं तदन्वयव्यतिरेकयोरप्रयोजकत्वनिश्चयः स्यात् तत्रभवतां भवताम् ? **न चोक्तान्यथासिद्धत्वादेव** हि तत्र कारणत्वाभावो निश्चेय इति **वाच्यम्**, परस्पराश्रयप्रसङ्गात् ।

अथ यत्र द्वयोरेकतरस्यान्वयव्यतिरेकयोः प्रयोजकयोरुपपत्तिः तत्र लघोरेव सा स्वीक्रियते न गुरोरतो न दण्डरूपान्वयव्यतिरेकयोः घटान्वयव्यतिरेकप्रयोजकत्वनिश्चय इति चेत् ? एवमपि चक्रकपालयोः कारणतामनिश्चित्य तदन्वयव्यतिरेकयोः प्रयोजकता दुर्ज्ञेया तामनिश्चित्य च तयोः कारणतेति परस्पराश्रयता । चक्रसंयोगापेक्षया चक्रस्य लघुत्वेन तदन्वयव्यतिरेकयोः प्रयोजकत्वनिश्चये

इस तरह शब्दप्रत्यक्ष के प्रति आकाश में श्रोत्रत्वेन द्वितीय अन्यथासिद्धि होने पर भी इन्द्रियत्वेन कारणता का ज्ञान हो सकता है' <— तो भी श्रावणत्वावच्छिन्न के प्रति श्रोत्रत्वेन अकारणता की आपत्ति आयेगी । आशय यह है कि प्रत्यक्षत्वेन कार्यता का स्वीकार करने पर इन्द्रियत्वेन कारणता का प्रतिपादन किया जा सकता है । मगर श्रावणत्वेन कार्यता का स्वीकार किया जाय तब इन्द्रियत्वेन कारणता मान्य होती नहीं है, क्योंकि वह अतिरिक्तवृत्ति धर्म है । किन्तु श्रोत्रत्वेन हीं कारणता मान्य की जाती है - यह सर्वमान्य है । मगर नैयायिक मतानुसार श्रोत्रत्व उपर्युक्त रीति से शब्दपूर्ववृत्तिताघटित होने की वजह श्रावणत्वावच्छिन्न के प्रति श्रोत्र में श्रोत्रत्वेन पूर्ववृत्तिता का ज्ञान तभी हो सकता है यदि शब्द के प्रति उसमें पूर्ववृत्तिता का ज्ञान हो । अतः श्रावणत्वावच्छिन्न के प्रति श्रोत्रत्वेन अन्यथासिद्धत्व की आपत्ति अपरिहार्य बन जायेगी । इसलिए द्वितीय अन्यथासिद्ध का नैयायिकसम्मत लक्षण भी असंगत है - यह फलित होता है ।

इस तरह तृतीय अन्यथासिद्ध का 'अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्ति से ही प्रकृत कार्योत्पाद मुमकिन होने पर तत्सहभूत प्रकृत कार्य के प्रति तृतीय अन्यथासिद्ध है' (देखिये पृष्ठ ८५२) यह लक्षण भी असंगत है, क्योंकि उसके घटकीभूत आवश्यकत्व का समीचीन निर्वचन ही नामुमकिन है । किसको आवश्यक कहा जाय और किसको अनावश्यक कहा जाय ? इसका यथार्थ निर्णय नहीं किया जा सकता । दण्डादि को आवश्यक और दण्डत्वादि को अनावश्यक कहने में कोई तर्क नहीं है । इस तरह तृतीय अन्यथासिद्ध का लक्षण भी निर्दोष नहीं है । चतुर्थ और पंचम अन्यथासिद्ध का खंडन करने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि तृतीय और चतुर्थ अन्यथासिद्ध अभिन्न होने से तृतीय अन्यथासिद्ध के निरास से ही चतुर्थ अन्यथासिद्ध

अथान्यथासिद्ध्यनिरूपकनियतपूर्ववर्तिताकरूपवत्त्वं हेतुत्वम् । तत्रान्यथासिद्ध्य-निरूपकत्वञ्च येन नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकेन कारणत्वं न व्यवह्रियते तत्तद्भेदसमूहः कारणतायां निविशते तावदन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकः एक एव भेदो वा इति चेत् ? न, उक्तभेदसमूहे प्रतियोगिकोटावुदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहात्,

☙ जयलता ☙

चक्रसंयोगान्वयव्यतिरेकयोः न घटान्वयव्यतिरेकप्रयोजकत्वं स्यादिति न किञ्चिदेतत् ।

तृतीय-चतुर्थान्यथासिद्धत्वयोः नैयायिकमतेऽभेदात् तृतीयापाकरणेनैव चतुर्थस्यापि निराकरणमवगन्तव्यम् । पञ्चमस्य तु द्वितीये समावेशात् द्वितीयनिरासेनैव तस्यापि प्रत्याख्यातत्वम् । इत्थञ्च नान्यथासिद्धत्वलक्षणं सङ्गतिमङ्गति ।

यत्तु दिनकरीयवृत्ती 'इतरान्वयव्यतिरेकाप्रयुक्तान्वयव्यतिरेकशालित्वं दण्डत्व-दण्डरूप-साधारणमनुगतमन्यथासिद्धं भवती'ति गदितं **तदसत्** यतो यदि तत्र यदितरान्वयव्यतिरेकप्रयुक्तत्वं तद्व्याप्यत्वं तदा दण्डान्वयव्यतिरेकयोः दण्डत्वान्वयव्यतिरेकव्याप्यत्वाद् दण्डेऽतिव्याप्तिः; स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलान्वयव्यतिरेकयोः समवेतत्वसम्बन्धेन नीलविशिष्टान्वयव्यतिरेकव्याप्यत्वान्नीलेऽति-व्याप्तिश्च । अत एव न तद्व्यापकत्वमपि, दण्डनीलयोरतिव्याप्तितादवस्थ्यात् ।

नैयायिकः शङ्कते - **अथेति** । चेदित्यनेनास्यान्वयः । **अन्यथासिद्ध्यनिरूपकनियतपूर्ववर्तिताकरूपवत्त्वं हेतुत्वं** = हेतुत्वपदप्रतिपाद्यम् । न चान्यथासिद्ध्यनिरूपकधर्माणामननुगतत्वेन कारणताननुगम इति वाच्यम्, यतस्तत्र **अन्यथासिद्ध्यनिरूपकं च** = हि येन **नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकेन कारणत्वं** प्रामाणिकैः न व्यवह्रियते **तत्तद्भेदसमूहः** = तत्तद्धर्मभेदकूटः **कारणतायां** = कारणताशरीरे **निविशते तावदन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकः** = तत्तद्धर्मान्यतमप्रतियोगिकः **एक एव भेदो** वा कारण-तायां निविशते । **एतेन** तत्तद्धर्मप्रतियोगिकभेदकूटप्रवेशप्रयुक्तगौरवं परिहृतम् । **इति** = अस्मात्कारणात्, एकस्यैव भेदस्य तद्घटकत्वात् इति यावत्, कारणताशरीरे नाननुगमदोषः । यथा अन्यथासिद्धिनिरूपकद्रव्यत्वभेद-पृथिवीत्वभेदादिकूटविशिष्टं तादृशद्रव्यत्वपृथिवीत्वाद्यन्यतमत्वावच्छिन्नभेदविशिष्टं वा यद् दण्डत्वं तद्वत्त्वमेव दण्डे घटकारणत्वमित्यर्थः । तन्निराकरोति **नेति** । कारणत्वस्य निरुक्तरूपत्वे **यद्यपि** तद्घटकान्यथासिद्धिनिरूपकधर्मभेदकूटस्य तावदन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदप्रतियोगिनां च प्रातिस्विकरूपेण युगसहस्रेणापि ज्ञातुमशक्यतया कारणत्वस्य दुर्ज्ञेयत्वापत्तिः । न च तादृशभेदकूटविशिष्टविशेषणताविशेषसम्बन्धेन निरुक्तनियतपूर्ववर्तितावच्छेदकतावत्त्वमेव कारणताशरीरे निवेशनीयं, तथा च सम्बन्धज्ञानस्य विशिष्टबुद्धावहेतुतयाऽनुपस्थितानामेव भेदानां सम्बन्धघटकतया भानसम्भव इति वाच्यम्, तत्तद्भेदकूटवत्त्वस्य कार्यप्रतियोगिकत्वाभावेन भेदकूटविशिष्टत्वेन विशेषणताविशेषस्य सम्बन्धत्वे मानाभावात् । एवमन्यथासिद्धिनिरूपका ये ये धर्मास्तत्तद्भेदकूटस्यापि तत्र सत्त्वात् । न चात एव तावदन्यतमत्वा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकस्यैकस्यैव भेदस्य तत्र प्रवेशान्न दोष इति वाच्यम्, प्रवृत्तिकारणताशरीरे तादृशधर्मभेदस्य प्रयोजनविरहेणाऽ-निवेशनीयत्वादित्यादिदोषाः तथापि स्फुटत्वात्तानुपेक्ष्य दोषान्तरमाह - **उक्तभेदसमूहे** = अन्यथासिद्धिनिरूपकधर्मभेदकूटे **प्रति-योगिकोटौ उदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां** = निष्प्रयोजनधर्मनिवेशानिवेशाभ्यां पूर्वोक्तरीत्या **विनिगमनाविरहात्** ।

निरस्त हो जाता है एवं पंचम अन्यथासिद्ध और द्वितीय अन्यथासिद्ध में अभेद होने के सबब द्वितीय अन्यथासिद्ध के लक्षण के खण्डन से ही पंचम अन्यथासिद्ध के लक्षण का प्रत्याख्यान हो जाता है । पञ्चम का द्वितीय में और चतुर्थ का तृतीय में समावेश होने के सबब ही तो तत्त्वचिन्तामणिकार ने सिर्फ तीन अन्यथासिद्धि का निरूपण किया है । इस तरह अन्यथासिद्धि का सम्यग् निर्वचन नामुमकिन होने की वजह कारणता का नैयायिकसंमत लक्षण भी असंगत सिद्ध होता है ।

❋ कारणत्वलक्षण में भेदकूट या अखण्डाभाव का निवेश नामुमकिन ❋

अथा. । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जा सकता है कि —> 'अन्यथा सिद्धि का अनिरूपक ऐसा जो नियतपूर्ववृत्तिता का अवच्छेदक धर्म है तादृशधर्मवत्त्व ही कारणता है । कार्यनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकधर्म के विशेषणीभूत अन्यथासिद्धिअनिरूपकत्व का अर्थ है जिस नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकरूप से कारणता का व्यवहार नहीं होता है तत्तद् धर्मों के भेद का समूह या तावदन्यतमत्वाव-च्छिन्नप्रतियोगिताक एक भेद । जैसे घट के प्रति दण्ड में द्रव्यत्वेन पृथ्वीत्व आदि रूपेण, जो घटनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक हो सकता है, कारणत्व का व्यवहार होता नहीं है । अतः द्रव्यत्वभेद, पृथ्वीत्वभेद आदि के समूह का या द्रव्यत्व-पृथ्वीत्वादि अन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक एक भेद का कार्यनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकधर्मविशेषणविधया कारणताशरीर में निवेश किया जाता है । घटनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक दण्डत्व में द्रव्यत्वभेद, पृथ्वीत्वभेद आदि का समूह या द्रव्यत्व-पृथ्वीत्वाद्यन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक एक भेद रहता है । इसलिए दण्ड में तादृश दण्डत्ववत्त्व ही घटनिरूपित कारणता है । इस तरह कारणताशरीर में निरुक्त रीति

प्रतियोग्यविशेषिताऽखण्डभेदाभ्युपगमे च सर्वत्राऽखण्डाभाववत एवाखण्डाभावस्यैव वा हेतुत्वं स्यादिति बहु विप्लवेत ।

किञ्चैवं विशेष्यभागोऽपि व्यर्थत्वमाप्नुयात्कारणभेदस्यैवाखण्डस्य कारणतालक्षणत्वसम्भवात् । तस्मादिष्टसाधनत्वादिज्ञानकारणतावच्छेदकतयाऽतिरिक्तमेव परिणामविशेषरूपं नियतान्वय-व्यतिरेकज्ञानव्यङ्ग्यं कारणत्वमभ्युपगन्तव्यम् ।

एतेन **दण्डत्वादिकमेव कारणत्वं तस्यैव घटादिकार्यसम्बन्धितया ग्रहेऽनन्यथासिद्धेत्यादे-**

जयलता

न चात एव तावदन्यतमभेदस्याऽखण्डस्याभावत्वेनैव हेतुत्वमभ्युपगम्यत इति वाच्यम्, प्रतियोग्यविशेषिताऽखण्डाभावसत्त्वे प्रमाणाभावात्, **प्रतियोग्यविशेषिताऽखण्डभेदाभ्युपगमे च सर्वत्र** एव **अखण्डाभाववतः** = अखण्डाभावाधिकरणस्य **एव हेतुत्वं स्यात्** । ततोऽपि लाघवात् **अखण्डाभावस्यैव वा हेतुत्वं स्यात्** । वस्तुतः प्रतियोग्यविशेषितरूपेणाखण्डाभावानां जनकतायामिव जनकतावच्छेदकतायामप्यन्यथासिद्धत्वम् । अन्यथा तावद्दण्डगगनाद्यन्यतमत्वलक्षणाखण्डभेदव्यक्तिमत्त्वेनापि जनकतापातादित्यपि वदन्ति ।

यत्तु जगदीशेन 'गन्धादिकं प्रति गन्धत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यैव रूपरसगन्धान्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याखण्डस्य तद्व्यक्तित्वेन हेतुत्वं, अन्यथा रूपादिकमिव शब्दबुद्ध्यादिकमन्तर्भाव्य पञ्चतुःपञ्चकान्यतमत्वं तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावव्यक्तीनामप्यखण्डतद्व्यक्तित्वेन गन्धादिहेतुतायामनन्तकार्यकारणभावापत्तेः । न चैवं गन्धत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यापि तद्व्यक्तित्वेन गन्धहेतुत्वं न स्यात्, इष्टत्वादिति कारणतावादेऽभिहितम्, तन्न चारुतया चकास्ति, एवं सति विशेषकार्यकारणभावस्योच्छेदापत्तेः, जन्यभावत्व-द्रव्यत्वाभ्यामेव कार्यकारणभावविश्रामात् ।

अत्रैव दोषान्तरमाह - **किञ्च एवं** = तद्व्यक्तित्वेनाऽखण्डाभावस्यैव कारणत्वस्वीकारे 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वमि'त्यत्र **विशेष्यभागः** = नियतपूर्ववृत्तित्वांशः **व्यर्थत्वं** = नैष्फल्यं **आप्नुयात्** । कुतः ? अनन्यथासिद्धत्वस्य = अन्यथासिद्धभेदस्य = **अकारणभेदस्य** = यावदकारणभेदस्य **एव अखण्डस्य कारणतालक्षणत्वसम्भवात्**, तस्यानतिप्रसक्तानुगतत्वात् ।

निगमयति - **तस्मात् इष्टसाधनत्वादिज्ञानकारणतावच्छेदकतया** 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादौ विधिप्रत्ययार्थेष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वादिगोचरज्ञानकारणतावच्छेदकविधया **अतिरिक्तमेव** = कारणात्कथञ्चित्पृथग्भूतं **परिणामविशेषरूपं नियतान्वयव्यतिरेकव्यङ्ग्यं कारणत्वं** = कारणत्वपदप्रतिपाद्यं **अभ्युपगन्तव्यम्** ।

युक्तञ्चैतत्, यतो घटादिकारणतायाः कारणीभूतदण्डादिस्वरूपत्वे तेन समं तस्याधाराधेयभावानुपपत्तिः । अभेदेऽपि तदभ्युपगमे 'दण्डो घटकारणवानि'त्यादिप्रतीत्यापत्तेः । दण्डत्वादिस्वरूपत्वे च सप्रतियोगिकत्वानुपपत्तिः, जातेः निष्प्रतियोगिकत्वात्, दण्डत्वाद्यवच्छिन्नत्वानुपपत्तिश्च अभेदेऽवच्छेद्यावच्छेदकभावविरहात् । अभेदेऽपि तदङ्गीकारे दण्डत्वेन घटकारणत्वमितिवद् 'दण्डत्वेन दण्डत्वमि'त्यादिप्रतीत्यापत्तेः । **एतेन दण्डत्वादिकमेव** कारणतावच्छेदकस्वरूपं **कारणत्वं, तस्य** = दण्डत्वादेः **एव घटादिकार्यसम्बन्धितया ग्रहे अनन्यथासिद्धेत्यादेः** = अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तिताकत्वस्य **व्यञ्जकत्वं** = तज्ज्ञानजनकत्वं, तस्य च कारण-

से भेदकूट या तादृश एक भेद का निवेश करने की वजह अननुगम आदि दोष को भी अवकाश नहीं रहता है' <— ।

न, उक्त. । मगर यह नैयायिकवक्तव्य भी असंगत है । इसका कारण यह है कि कारणतालक्षण में निरुक्त भेदकूट का निवेश किया जाय तब भेदकूट की प्रतियोगिकोटि में उदासीन का प्रवेश किया जाय या नहीं ? इस विषय में कोई विनिगमक नहीं है । अतः भेदप्रतियोगी का निश्चय करना मुश्किल बन जाता है । प्रतियोगी का निर्णय न होने पर भेदकूट का निश्चय भी कैसे हो सकेगा ? अतः भेदकूट का निवेश नहीं किया जा सकता । यदि इसी दोष की वजह भेदकूट का प्रवेश न कर के प्रतियोगिअविशेषित अखण्डाभाव ही हेतु बन जायेगा तब तो भारी अव्यवस्था हो जायेगी । इस परिस्थिति में दण्ड, चक्र आदि को घटकारण कहना मुश्किल हो जायेगा । दूसरी बात यह है कि इस तरह तो कारणताशरीर का विशेष्यांश भी निरर्थक हो जायेगा, क्योंकि अखण्ड अकारणभेद को ही कारणता का लक्षण कहा जा सकता है । इसलिए यही मुनासिब है कि इष्टसाधनताज्ञान के कारणतावच्छेदकविधया अतिरिक्त परिणामविशेषस्वरूप कारणता का ही स्वीकार किया जाय, जो नियत अन्वय और व्यतिरेक से व्यंग्य होता है एवं सर्व कारण में अनुगत होता है ।

व्यञ्जकत्वमिति पक्षधरमिश्रमतं निरस्तम्, एवं हि दण्डत्वादेः स्वरूपतो निरवधित्वे कार्यापेक्षया च सावधित्वे शबलवस्त्वभ्युपगमप्रसङ्गादिति । अनेकान्तव्यवस्थायां विस्तरो ज्ञातव्यम् ।

❀ जयलता ❀

तात्वेन घटादिप्रतियोगिकत्वात्, जातेः स्वरूपत एव निष्प्रतियोगिकत्वोपगमात् । कारणतात्वेनावच्छेद्यता स्वरूपतश्चावच्छेदकता; अभेदेऽपि भिन्नरूपेणावच्छेद्यावच्छेदकभावोपगमे क्षतिविरहादिति **पक्षधरमिश्रमतं निरस्तम्**; एवं हि प्रदर्शितरीत्या **दण्डत्वादेः** कारणतावच्छेदकस्य कारणतात्वे स्वीकृते सति जातेः **स्वरूपतो निरवधित्वे** = निष्प्रतियोगिकत्वे, **कार्यापेक्षया सावधित्वे** = कारणतात्वेन कार्यप्रतियोगिकत्वे **शबलवस्त्वभ्युपगमप्रसङ्गात्** । एतत्प्रकरणकाररचितायां **अनेकान्तव्यवस्थायां जैनतर्का**पराभिधानायां 'व्यवहारे सावधित्वं स्वरूपतस्तु निरवधित्वमिति नायं दोष इति चेत् ? न, व्यवहर्तव्याविशेषे व्यवहाराविशेषात्, अन्यथा केवलभूतलज्ञानादेव प्रतियोगिज्ञानादिनाऽभावव्यवहारसमर्थको मीमांसक एव विजयेत । किञ्चैवं घटवद्दण्डत्ववान् दण्ड' इति ज्ञानात् दण्डो घटकारणमिति व्यवहारापत्तिः, अनन्यथासिद्धेत्यादिज्ञानजनिततादृशज्ञानत्वेन तादृशव्यवहारहेतुत्वे च गौरवं घटकारणतात्वेन तज्ज्ञानस्योक्तव्यवहारहेतुत्वे च कारणतात्वमधिकमभ्युपगन्तव्यं स्यात् । किञ्चैवं दण्डत्वादिस्वरूपाया दण्डादिनिष्ठकारणताया अनुगतत्वोक्तावपि घटसमवेतनाशादिकार्यनिरूपितघटनाशादिकारणतायाः कथमनुगतत्वं ? घटनाशत्वस्यानुगतस्याऽभावात् । तत्राऽप्यखण्डोपाधिनानुगमस्वीकारे व्यक्तीनामेव कथञ्चिदनुगतत्वं स्वीक्रियतां, एकस्यैव वस्तुनो व्यावृत्तिबुद्ध्यपेक्षया व्यावृत्तत्वस्यानुवृत्तिबुद्ध्यपेक्षया चानुगतत्वस्य सम्भवात् । विषयभेदं विना बुद्धिभेदो नोपपद्यत इति चेत् ? कारणत्व-कार्यत्वयोरपि तुल्यमेतत् । तस्मात्त्यज्यतां वाऽतिरिक्तसामान्यविशेषवादः स्वीक्रियतां वा कारणत्वकार्यत्वादिकमप्यतिरिक्तमिति दुरुत्तरा प्रतिबन्दिनदी' (अ.व्य.पृ. १७) इत्यादिको **विस्तरो ज्ञातव्यः ।**

किञ्च कारणत्वस्यानन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकधर्मवत्त्वे प्रतिबन्धकाभावस्य तत्तद्व्यक्तित्वेन हेतुत्वापत्तिरिति महागौरवम् । **न च** कारणत्वस्यानतिरिक्तत्वे दण्डत्वादेः घटादिनियतपूर्ववृत्तितानवच्छेदकत्वग्रहेऽपि तादृप्येण घटादिजनकत्वस्यापि प्रत्ययापत्तिरिति **वाच्यम्**, तादृप्येण कारणत्वग्रहे तद्धर्मिक-घटादिनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकत्वनिश्चयस्य हेतुत्वात् । **न चैवमावश्यकतया तदेवास्तु कारणत्वमिति वाच्यम्**, घटादिकार्यस्यानुपस्थितावपि 'दण्डः कारणं न वा ? दण्डः कारणं' इत्यादिप्रतीत्यनुरोधेनैवातिरिक्तस्य तस्योपपत्तेः । **एतेन** कारणत्वस्यातिरिक्तत्वे दण्डादौ सर्वदा तत्प्रत्यक्षापत्तिः । न चानन्यथासिद्धत्वे सत्यात्वादिधर्मस्तद्व्यञ्जकः इति वाच्यम्, तादृशधर्मज्ञानस्यावश्यकत्वे तस्यैव कारणताग्रहरूपत्वौचित्यादिति **मुक्तावलीप्रकाशकारवचनं निरस्तम्**, गोत्वादिजातेरप्येवमुच्छेदप्रसङ्गाच्च । न हि सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणाद्यज्ञानदशायां 'अयं गौः' इत्येवं गोत्वप्रकारकं ज्ञानं भवितुमर्हति । अतोऽवयवसंस्थानज्ञानस्यावश्यकत्वे तस्यैव गोत्वादिज्ञानरूपतौचित्यात् अतिरिक्तं गोत्वं न सिध्येत् ।

कार्यान्वयव्यतिरेककालपूर्वकालान्वयव्यतिरेकशालित्वं कारणत्वमिति **कश्चित्** । तदसत्, आत्मादौ सुखादिकारणे प्रागभावरूपव्यतिरेकासंभवेनाव्याप्त्यापत्तेः ।

अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वमिति यथाश्रुतं **त्वसमीचीनम्**, विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेणोभयोस्तथात्वे गौरवादिति दिक् ।

एतेन. । **कारणता के विषय में पक्षधरमिश्र का यह कथन है कि —> 'दण्ड आदि में रहनेवाला दण्डत्व आदि ही घटकारणता है । अन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तिता तो घटादिकार्यसम्बन्धिविधया उसीकी व्यंजक है । मतलब यह है कि दण्डत्वादि जातिस्वरूप है और जाति स्वरूपतः निष्प्रतियोगिक होती है । फिर भी कारणतात्वेन रूपेण दण्डत्वादि जाति घटादिकार्यप्रतियोगिक होती है । इसलिए कार्यसम्बन्धिविधया दण्डत्वादि का व्यंजक अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्व ही सकता है । अतएव केवल दण्ड को देख कर घटनियतपूर्ववृत्तिता का दण्ड में भान न होने पर दण्ड में घटकारणता का भान नहीं हो सकता है' <— मगर यह कथन भी सर्वकारणानुगत एवं अतिरिक्त परिणामविशेषात्मक कारणता के स्वीकार से निरस्त हो जाता है । दूसरी बात यह है कि इस तरह दण्डत्व आदि को स्वरूपतः निरवधि और घटादि कार्य की अपेक्षा सावधिक मानने पर तो शबल वस्तु के स्वीकार की नैयायिकमत में आपत्ति आयेगी। मतलब कि तब अनिच्छा से भी स्याद्वाद का स्वीकार नैयायिकमत में प्रसक्त होगा । यहाँ जो कहा गया है वह तो नगण्य है । इस विषय का विस्तार से निरूपण तो प्रकरणकार से रचित अनेकान्तव्यवस्था में प्राप्य है - ऐसी यहाँ सूचना मिलती है ।**

❀ न्यूनतादोष नाममुमकिन ❀

प्रभाकराद्यो मीमांसकास्तु प्रायशोऽनेकान्तवादात्स्वयमेव न पराङ्मुखा इति न तेषां पृथक्-सम्मत्यनुक्त्या न्यूनत्वम् । वेदान्तिनोऽपि ब्रह्मणो बद्धत्वाबद्धत्वमाचक्षाणा व्यवहारे च भट्टमतानुपातिनो न स्याद्वादपराङ्मुखा इति न तेषामपि पृथक्सम्मत्यनुक्त्या न्यूनत्वमित्यवधेयम् ॥११॥

❀ जयलता ❀

ननु मीमांसकादीनां पार्थक्येण स्याद्वादे सम्मत्यदर्शनात्स्याद्वादस्य सार्वतान्त्रिकत्वं न स्यादित्याशङ्कायामाह - **प्रभाकरादयः मीमांसका** इति । त्रिपुटीप्रत्यक्षवादी प्रभाकरमिश्रो गुर्वपराभिधानोऽनुमितेः मितिमातृभागे प्रत्यक्षत्वं मेयांशे च परोक्षत्वं वदन्नानेकान्तं प्रतिक्षिपति । कुमारिलभट्ट-मुरारिमिश्रौ मीमांसकौ वस्तुनो जातिव्यक्त्युभयात्मकत्वं प्रतिपादयन्तो न स्याद्वादमपक्षिपन्तः । त्रयोऽप्येते मीमांसकाः प्रायशो**ऽनेकान्तवादात्स्वयमेव न पराङ्मुखा इति न तेषां पृथक्सम्मत्यनुक्त्या न्यूनत्वम्** । तदुक्तं **श्रीप्रभानन्दसूरिणापि** साक्षेपोत्तरम् - 'ननु ताथागतादीनामुपपत्त्या साम्मत्यं चार्वाकस्य तु वराकस्योपेक्षामुपक्षिप्तवान् । तदत्र मीमांसामांसलमतेर्मीमांसकस्य किमिति कामपि चर्चां नाकरोदाचार्यः ? उच्यते, समस्तमतविशेषेण स्वयमेव प्रकारान्तरेणानेकान्तमतं प्रतिश्रमानं तं प्रति प्रतिपत्त्युपपत्तिः पिष्टमेव पिनष्टीति नास्ति पर्यनुयोगावसरः । ततः सिद्धं सर्वमतसम्मतमनेकान्तम्' (वी.वि.पृ. ९०) इति । वेदान्तिनोऽपि **ब्रह्मणः बद्धत्वाबद्धत्वमाचक्षाणाः** = परमार्थेनाऽबद्धत्वं व्यवहारेण च बद्धत्वमिति वदन्तः **व्यवहारे च भट्टमतानुयायिनः** 'व्यवहारे भाट्टमतमि'ति वचनात् स्याद्वादापराङ्मुख- कुमारिलानुयायित्वेन तेऽपि बाहुल्येन **न स्याद्वाद-पराङ्मुखा इति तेषामपि** = वेदान्तिनामपि **पृथक्सम्मत्यनुक्त्या न न्यूनत्वम्** । तदुक्तं प्रकरणकृतैव **अध्यात्मोपनिषदि** 'प्रत्यक्षं मितिमात्रंशे मेयांशे तद्विलक्षणम् । गुरुर्ज्ञानं वदन्नेकं नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥ जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु वदन्ननुभवोचितम् । भट्टो वाऽपि मुरारिर्वा नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥ अबद्धं परमार्थेन बद्धं च व्यवहारतः ब्रुवाणो ब्रह्म वेदान्ती नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥ ब्रुवाणा भिन्नभिन्नार्थान्नयभेदव्यपेक्षया । प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतान्त्रिकम् ॥ (अ. उप. १/४८-५१) अत्र वेदा इत्युपलक्षणमुपनिषदादीनाम् तेषामपि स्याद्वादसाधकत्वात् । तथाहि 'सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चासत्यं च सत्यमभवत् (तै.उप. २/६) इति **तैत्तिरीयोपनिषद्वचनस्य**, 'तस्यैव **स्यात्पदवित्तं** विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति' । (बृ. उप. ४/५/२३) इति **बृहदारण्यकोपनिषद्वचनस्य** 'त्वमेव सदसदात्मकः त्वमेव सदसद्विलक्षणः' (त्रि.म. १/२) इति **त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्वचनस्य**, 'सोऽहं नित्यानित्यो व्यक्ताव्यक्तो ब्रह्माऽहं' (अ.उप.१) **अथर्वशिरउपनिषद्वचनस्य** 'मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा' (मै.उप. ३/२२) इति **मैत्रेय्युपनिषद्वचनस्य**, 'न बहिःप्रज्ञं नान्तःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं' (श्री.रा. उप. १) इति **श्रीरामोत्तरतापिन्युपनिषद्वचनस्य**, 'अस्य सत्त्वमसत्त्वञ्च दर्शयति सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन' (नृ.उप. ९) **नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्वचनस्य**, बन्धमोक्षस्वरूपात्मा बन्धमोक्षविवर्जितः । द्वैताद्वैतस्वरूपात्मा द्वैताद्वैतविवर्जितः ॥४-६६॥ इति **तेजोबिन्दूपनिषद्वचनस्य**, दिवा न पूजयेद्विष्णुं, रात्रौ नैव प्रपूजयेत् । सततं पूजयेद् विष्णुं दिवारात्रौ न पूजयेत् ॥१-५५॥ **शाण्डिल्योपनिषद्वचनस्य**, 'शुद्धं सदसतोर्मध्यं पदं बुद्ध्वाऽवलम्ब्य च । सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं मा गृहाण विमुञ्च वा' ॥५-१७२॥ इति **महोपनिषद्वचनस्य**,

प्रभा. । **यहाँ यह शंका हो सकती है कि** —> **'मूलकार श्रीमद् हेमचन्द्रसूरिजी महाराजा ने बौद्ध-नैयायिक-वैशेषिक - सांख्य की अनेकान्तवाद में सम्मति दी और नास्तिक की सम्मति की उपेक्षा की है, यह तो ठीक है । मगर प्रभाकर आदि मीमांसकों की और वेदान्ती की स्याद्वाद में संमति का प्रदर्शन करना तो रह ही गया । इसलिए यहाँ न्यूनता दोष उपस्थित होता है'** <— **मगर यह संगत नहीं है, क्योंकि प्रमिति-प्रमातृ अंश में सब ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं मेयांश में अनुमिति आदि को परोक्ष माननेवाला मीमांसक प्रभाकरमिश्र एवं वस्तु को जाति-व्यक्ति उभयात्मक माननेवाला मीमांसकमूर्धन्य कुमारिलभट्ट तथा मुरारिमिश्र तो अनेकान्तवाद से स्वयं ही पराङ्मुख नहीं है । इसलिए उनकी पृथक् सम्मति दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं है । अतएव मीमांसकों की स्याद्वाद में स्वतंत्र सम्मति न बताने पर भी न्यूनता दोष नहीं है । इस तरह वेदान्ती भी ब्रह्मतत्त्व को परमार्थ से अबद्ध एवं व्यवहार से बद्ध मानते हैं तथा व्यवहार में कुमारिलभट्ट के, जो स्याद्वादसन्मुख है, मत का स्वीकार करते हैं । अतएव वे भी स्वयमेव स्याद्वाद के सन्मुख हैं । इसलिए वेदान्ती की भी पृथक् सम्मति न बताने पर भी न्यूनता दोष की आपत्ति नहीं है । इस बात पर ध्यान देना चाहिए । इस तरह ११ वीं कारिका की व्याख्या समाप्त होती है ॥११॥**

इत्थमनेकान्तवादं परेषामपि सम्मत्या प्रमाणयित्वा सम्प्रति वस्तुस्वरूपमाहुः —> तेनेति ।

तेनोत्पादव्ययस्थेमसंभिन्नं गोरसादिवत् ।

त्वदुपज्ञं कृतधियः प्रपन्ना वस्तु वस्तुसत् ॥१२॥

❀ जयलता ❀

'तदा मुक्तो न मुक्तश्च' ॥२१॥ इति **पाशुपतब्रह्मोपनिषद्वचनस्य**, 'अचक्षुर्विश्वतश्चक्षुरकर्णो विश्वतः कर्णोऽपादो विश्वतः पादोऽपाणिः विश्वतः पाणिः । (भ.जा.२) इति **भस्मजाबालोपनिषद्वचनस्य**, 'नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यं नाचिन्त्यं चिन्त्यमेव च ॥५-६॥ इति **त्रिपुरातापिन्युपनिषद्वचनस्य** च स्याद्वादसाधकत्वं स्फुटमेव । स्याद्वादानभ्युपगमे हि - इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति - (वे.सा.) इति **वेदान्तसारवचनमप्यनुपपन्नं** स्यात् । व्यवहारे ब्रह्मणो नानात्वं परमार्थतो ह्येकत्वमित्यभ्युपगमोऽपि तेषामनेकान्तानुपातित्वमेव व्यनक्ति । ततश्च सिद्धं सार्वपार्षदत्वं स्याद्वादस्येत्यलं विस्तरेण ॥११॥

द्वादशकारिकामवतारयति - **इत्थमिति** । सोपयोगित्वात्प्रथममत्र **प्रभानन्दसूरिविवरणमुपदर्श्यते**- 'हे भगवन् ! तेन कारणेन कृतधियः = कृतिनः त्वत्प्ररूपितमेव वस्तु वस्तुबुद्ध्या सत् = पारमार्थिकमिति यावत्, प्रपन्नाः = अङ्गीकृतवन्तः । कथम्भूतं वस्त्वित्याह - उत्पादव्ययस्थेमसम्भिन्नं = उत्पादविनाशस्थितिसम्भवस्वभावम् । को भावः ? उत्पादादयः समुदिताः सत्त्वं गमयन्ति, सत एव तद्भावात् । न हि सर्वथाप्यसतस्तुरङ्गशृङ्गादेः केनचिदप्याकारेणानुपाख्यायमानस्योत्पादादयो भवितुमर्हन्ति, तस्मादुत्पादादिमत्त्वं सत्त्वम् । यदुवाच **वाचकमुख्यः** 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं (वस्तु) सत्' । **पारमर्षमपि** 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' इति स्थितम् । तत्र **द्रव्यपर्यायात्मकमिति** भणनेन द्रव्यैकान्तपर्यायैकान्तवादिपरिकल्पितविषयव्युदासः । आत्मग्रहणेन चात्यन्तव्यतिरिक्तद्रव्यपर्यायवादिकणादयोगाभ्युपगतवस्तुनिरासः । यतः **श्रीसिद्धसेनः (सम्मतितर्के)** 'दोहिं वि नएहिं नीयं सत्थमुलूएण तह वि । मिच्छत्तं जं सविसयप्पहाणत्तणेण अन्नुन्ननिरविक्खा ॥ (सं.त.३/४९) **इति** ।

अथेत्थमाचक्षीथाः ''न द्रव्यपर्यायात्मकं परमार्थसत् एकान्तनित्यानित्यवस्तुवदनर्थक्रियाकारित्वात् । तेन च किम् ? यतोऽर्थक्रियार्थी सर्वोऽपि विपश्चित् । एतच्चार्थक्रियाकारित्वं नित्यानित्यात्मकेऽपि न घटासण्टङ्कमारोहति यतः 'प्रत्येकं यो भवेद्दोषः द्वयोर्भावे कथं न सः ?' । तस्मादुत्पादव्ययस्थेममहिमाऽनर्थक्रियाकारित्वेन न वस्तुनि वास्तवी'' **इति चेत् ? न,** पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेनास्य नित्यानित्यात्मकस्य वस्तुनोऽर्थक्रियोपपत्तेः, यतोऽस्मन्मते न कूटस्थनित्यस्वरूपद्रव्यरूपं वस्तु नाप्येकान्तानित्यपर्यायरूपं, **नोभयरूपं** वस्तु येन पक्षद्वयभाविदोषावकाशशङ्का किन्तु स्थित्युत्पादव्ययात्मकं शबलं जात्यन्तरमेव वस्तु । तेन तत्तत्सहकारिसन्निधाने क्रमेण युगपद्वा तां तामर्थक्रियां कुर्वत्सहकारिकृतामुपकारपरम्परामुपजीवच्च जैनमतानुसारिभिरनुश्रियते । ततः सिद्धमुत्पत्तिव्ययध्रौव्ययुक्तमर्थक्रियाकारि **वस्तु** ।

ननु कथं वस्तुन्येकसामयिकमन्योन्यविरुद्धं परिकल्पयितुं न्याय्यमित्याशङ्कायां वदन्ति सूरयः **गोरसादिवदिति** । यथा गोरसे स्थायिनि पूर्वदुग्धपरिणामविनाशोत्तरदधिभावोत्पादौ सम्भवन्तौ प्रत्यक्षादिप्रमाणबलेनोपलब्धौ, तौ च कथमपह्नोतुं पार्येते ? यदुक्तं 'पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ॥१॥ तथा 'घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पत्तिस्थितिष्वलम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ यथा चैकस्या अङ्गुलेः स्थायिन्याः पूर्वस्थितिसरलभावाभावो वक्रतासम्भवश्च । एवं त्रिभुवनभवनोदरविवरवर्तिपदार्थसार्थे उत्पादव्ययध्रौव्यभावं पश्यन्तु शेमुषीमुख्याः । ततः सिद्धं त्रयात्मकं वस्तुतत्त्वम् । तथा च प्रयोगः विवादास्पदं वस्तु नित्यानित्य - सत्त्वासत्त्व-सामान्यविशेषाभिलाप्यानभिलाप्यात्मकं तथैवाऽस्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानत्वात् । यद् यथैवाऽस्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानं तत्तथैव दृष्टम्, यथा घटो घटरूपतया प्रतीयमानो घट एव न पटः । तथैव चास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानं वस्तु । तस्मात् नित्यानित्याद्यात्मकम् । न चात्र स्वरूपासिद्धो हेतुः, तथैवास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानत्वस्य सर्वत्र वस्तुनि तिष्ठमानत्वात् । न हि स्वरूप-पररूपाभ्यां भावाभावात्मकत्वेन द्रव्यपर्यायरूपादिभिः नित्यानित्या-

❀ चरम कारिका की व्याख्या ❀

इत्थं । इस तरह १ से ११ कारिका पर्यन्त परमतनिराकरणपूर्वक एवं परवादियों की भी सम्मतिपूर्वक अनेकान्तवाद को प्रामाणिक = सार्वतान्त्रिक सिद्ध कर के अब मूलकार श्रीमद् वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की चरम कारिका से वस्तुस्वरूप को बताते हैं । कारिका का सामान्य अर्थ निम्नोक्त है ।

हे वीतराग ! इस कारण से प्रेक्षावान लोग आपसे स्वीकृत पारमार्थिक वस्तु का, जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसंमिलित है, स्वीकार करते हैं, जैसे कि गोरसादि ॥१२॥

*तेन = **प्रागुक्तयुक्त्या परेषामपि सम्मत्या च** कृतधियः = **सत्परीक्षादक्षाः** त्वदुपज्ञं = **त्वदङ्गीकृतमेव** वस्तुसत् = पारमार्थिकं वस्तु प्रपन्नाः = **अङ्गीकृतवन्तः । कीदृशं वस्तु ? उत्पादव्ययध्रौव्यसम्भिन्नमेतत्त्रितयस्वभावमित्यर्थः । अयं भावः द्रव्यस्योत्पादोच्छेदध्रौव्यैक्यपरिणामः स्वभावस्तथा च पारमर्षं 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' त्ति ।***

यथैव हि द्रव्यवास्तुनः सामस्त्येनैकस्यापि विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः प्रदेशास्त-

❀ जयलता ❀

द्यात्मकत्वैश्च **सर्वस्मिन्** पदार्थे प्रतिभासः **कस्यचिदसिद्धः** । तत एव न सन्दिग्धासिद्धोऽपि । न खल्वबाधरूपतया प्रतीयमानस्य वस्तुनः सन्दिग्धत्वं नाम । नापि विरुद्धः, विरुद्धार्थसंसाधकत्वाभावात् । न ह्येकान्तेऽपि तथैवाऽस्खलत्प्रत्ययप्रतीयमानत्वमास्ते येन विरुद्धं स्यात् । नापि पक्षस्य प्रत्यक्षादिबाधा, येन हेतोरकिञ्चित्करत्वं स्यात् । नापि दृष्टान्तस्य साध्यविकलता साधनविकलता वा । न खलु घटे नित्यानित्याद्यात्मकत्वं तथैवास्खलत्प्रतीयमानत्वं वाऽसिद्धम् । तस्मादनवद्यं प्रयोगयोगमुपश्रुत्य किमित्यनेकान्तो नानुमन्यन्ते ? (वी.स्तो. ८/१२ प्र.वि.) इति ।

श्रीविशालराजसूरिः 'हे वीतराग ! तेन कारणेन ये केचन कृतधियो ज्ञातारः त्वदुपज्ञं त्वयैव प्रथममुपदिष्टं वस्तु सत् = परमार्थरूपं प्रपन्नाः = कक्षीकृतवन्तः । वस्तु किंविशिष्टम् ? उत्पादव्ययस्थेमसम्भिन्नं = उत्पत्तिक्षयस्थिरतामिश्रं, किंवत् ? गोरसादिवत् । यथा गोरसं दुग्धतया विनश्यद् दधितयोत्पद्यमानं गोरसतया तिष्ठत्येव' (वी.स्तो. ८/१२ अ.पृ.९२) इति व्याचक्रे ।

साम्प्रतं द्वादशकारिकाया **लघुपरिमाणस्याद्वादरहस्याभिधानव्याख्या** विव्रियते - **तेन = प्रागुक्तयुक्त्या** = सर्वथा परस्पराऽसम्पृक्तनित्यत्वानित्यत्वसामान्यविशेषाभिलाप्यत्वानभिलाप्यत्वनिराकरणकरणपूर्वक-पूर्वोक्ततर्कवृन्दसान्निध्येन **परेषां** ताथागत-नैयायिक-वैशेषिक-साङ्ख्य-वेदान्ति-मीमांसकादीनां **अपि सम्मत्या** = सम्मतत्वेन **च कृतधियः = सत्परीक्षादक्षाः** = सम्यग्वस्तुस्वरूपपरीक्षणप्रवणप्रज्ञाशालिनः हे वीतराग ! **त्वदुपज्ञं = त्वदङ्गीकृतं** = स्वसमीचीनस्वरूपप्रकाशकत्वसम्बन्धेन त्वत्स्थं **वस्तुसत् = पारमार्थिकं** = तात्त्विकं **वस्तु** = सकलवस्तुजातं **प्रपन्नाः = अङ्गीकृतवन्तः** = स्वविषयकसम्मतिदातृत्वसम्बन्धेन पारमार्थिकवस्तुस्तोमवन्तः ।

ननु केवलालोकशालिप्रकाशितं **कीदृशं वस्तु** ? इत्याशङ्कायां श्रीहेमचन्द्रसूरयो वदन्ति **उत्पादव्ययस्थेमसम्भिन्नं** = **उत्पादव्ययध्रौव्यसम्भिन्नं = एतत्त्रितयस्वभावं** = निष्पत्तिनाशानिष्पत्तिनाशस्वभावं न तु खण्डशोऽवस्थितरक्तत्वकृष्णत्वशालिगुञ्जाफलमिव **परस्परानाश्लिष्ट-सम्भव-संहार-स्थितिमत्** इत्यर्थः । तदेव समर्थयति महामहोपाध्यायः - **अयं भावः द्रव्यस्य** = **द्रव्यत्वावच्छिन्नस्य उत्पादोच्छेदध्रौव्यैक्यपरिणामः स्वभावः** । घटमौलिसुवर्णार्थी सन् प्रत्येकं सौवर्णघट-मुकुट-सुवर्णान्यभिलषन् **एकदा तन्नाशोत्पादस्थितिषु** सतीषु शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं सहेतुकं याति । तदैव हि घटार्थिनो घटनाशाच्छोकः, मुकुटार्थिनस्तु तदुत्पादात्प्रमोदः सुवर्णार्थिनस्तु पूर्वनाशापूर्वोत्पादाभावान्न शोको न वा प्रमोदः किन्तु माध्यस्थ्यमिति दृश्यते । इदञ्च द्रव्यस्य निष्पत्तिनाशस्थैर्यात्मकत्वं विनाऽनुपपन्नम् । घटनाशकाले किरिटोत्पादानङ्गीकारे तदर्थिनः प्रमोदानुपपत्तेः, घटादिविवर्तातिरिक्त-सुवर्णद्रव्यानभ्युपगमे च सुवर्णार्थिनो माध्यस्थ्यानुपपत्तेः । तदुक्तं **शास्त्रवार्तासमुच्चये** 'घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् । शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥७-२॥ इति । **तथा च पारमर्षं 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' त्ति** । ततो यदेव विनष्टं शिवकत्वेन तदेवोत्पन्नं मृद्द्रव्यं घटत्वेनावस्थितञ्च मृत्त्वेनेति त्रयात्मकं द्रव्यं सर्वदैवेति व्यवस्थितम् । अस्तु द्रव्याणां त्रितयात्मकत्वं परिणामानां तु त्रितयात्मकत्वं कथं ? इत्याशङ्कायामाहुः **यथैव हि द्रव्यवास्तुनः** वसन्ति गुणा अस्मिन् = वास्तु द्रव्यञ्च तद् वास्तु च = द्रव्यवास्तु तस्य, सामस्त्येन = कार्त्स्न्येन **एकस्यापि विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः** = दैशिक-

तेन = प्रा. । **महोपाध्यायजी चरम कारिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पूर्वोक्त युक्ति एवं एकान्तवादिओं की सम्मति से सम्यक्परीक्षा में निपुण मनुष्य हे वीतराग ! आपसे स्वीकृत पारमार्थिक वस्तु का ही स्वीकार करते हैं । आपसे स्वीकृत वस्तु** उत्पाद-व्यय-**ध्रौव्यसम्भिन्न यानी** उत्पाद-व्यय-**ध्रौव्यस्वभाववाली है । मतलब यह है कि** उत्पाद-व्यय-**ध्रौव्यैक्यपरिणाम ही द्रव्य का स्वभाव है । इस विषय में परम ऋषियों का वचन भी कि 'वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और स्थिर भी रहती है' साक्षी है ।**

❀ प्रदेश एवं परिणाम में त्रितयात्मकता ❀

यथै. । **जिसमें गुणों का वास होता है उसे वास्तु कहते हैं । वह द्रव्य ही होता है । द्रव्यवास्तु सामस्त्येन = सर्वात्मना**

थैव हि द्रव्यवृत्तेः सामस्त्येनैकस्या अपि प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्त्तिनः सूक्ष्मांशाः परिणामाः । यथा च प्रदेशानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनो विष्कम्भक्रमः तथा परिणामानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनः प्रवाहक्रमोऽपि । यथैव च ते प्रदेशाः स्वस्थाने स्वरूप-पूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयाऽनुत्पन्नप्रलीनत्वाच्चोत्पत्तिव्ययध्रौव्यत्रितयात्मकमात्मानं बिभ्रति तथैव ते परिणामाः स्वावसरे स्वरूप-पररूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयाऽनुत्पन्नप्रलीनत्वाच्चोत्पत्तिव्ययध्रौव्यत्रितयात्मकमात्मानं बिभ्रति ।

❀ जयलता ❀

क्रमेण प्रवृत्तिशालिनोऽन्वयिनः **सूक्ष्मांशाः** = अविभाज्यभागाः स्कन्धद्रव्यसम्बद्धाः सन्तः प्रदेशा इति भण्यन्ते **तथैव हि द्रव्यवृत्तेः** = एकद्रव्यानुयोगिकविच्छिन्नान्वयसन्ततेः **सामस्त्येन** = समूहापेक्षया **एकस्या अपि प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्त्तिनः** = कालिकक्रमेणान्वयशालिनः **सूक्ष्मांशाः परिणामा** इति भण्यन्ते । **यथा च** एकस्मिन् द्रव्यवास्तुलक्षणेऽधिकरणेऽन्वयिनामपि **प्रदेशानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनः** = अन्योन्याभावनिमित्तक एव **विष्कम्भक्रमः** = दैशिकक्रमः **तथा** एकस्यामेव निरुक्तद्रव्यवृत्तौ अन्वयिनामपि **परिणामानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनः** = इतरेतराभावप्रयुक्तः **प्रवाहक्रमोऽपि** = कालिकक्रमोऽपि । यथा सिंह-पञ्चानन-वनकेसरि-मृगारि-पशुपतीनां परस्पराऽभिन्नानां दैशिकक्रमेण विद्यमानत्वं न सम्भवति तथैवैकद्रव्यप्रदेशानां मिथोऽभेदे सति दैशिकक्रमेण वृत्तित्वं न सम्भवति । अतः प्रदेशानां विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्तिनां अन्योन्याभावोऽनिराकार्य एव, विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवृत्तित्वस्य तद्व्याप्यत्वात् । एवमेवातीतानागतवर्तमानकालीनानां परिणामानां मिथोऽभेदे कालिकक्रमेण प्रवर्तमानत्वं न सम्भवति, पूर्वं तेषां तत्तत्प्रवृत्तिसमर्थत्वे कृत्स्नप्रवृत्तीनां पूर्वमेव सम्भवेन तदुत्तरकालमर्थक्रियाकारित्वाभावेनासत्त्वापत्तेः । पूर्वं तेषामसमर्थत्वे पश्चाच्च समर्थत्वे सिद्ध एव तेषां मिथो भेदः । अतः कालिकक्रमेण प्रवृत्तिशालिनां परिणामानां मिथो भेदोऽनाविल एव ।

यथैव च ते = विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्त्तिनः प्रदेशाः **स्वस्थाने** = स्वीयदैशिकाधिकरणतावच्छेदकावच्छेदेन स्वदेशे **स्वरूप-पररूपाभ्यां उत्पन्नोच्छन्नत्वात्** = स्वरूपेणोत्पन्नत्वात् पररूपेण च विनष्टत्वात् तथा **सर्वत्र** = स्वीयदैशिकाधिकरणतावच्छेदकानवच्छेदकोभयावच्छेदेन **परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतया** = इतरेतरानुवेधलक्षणसूत्रग्रथितैकवास्तुत्वेन **अनुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च** = अजातत्वादध्वस्तत्वाच्च **उत्पत्ति-व्यय-ध्रौव्यत्रितयात्मकमात्मानं बिभ्रति** । तेषां प्रदेशानां सर्वत्राऽवयविनि नेतरेतरानुगमसूत्रितैकवास्तुतयोत्पन्नत्वं विनष्टत्वं वेति तदपेक्षया स्थैर्यं न बाधितुं शक्यम्, तेषां स्वदेशे एव निरुक्तरूपेणोत्पन्नत्वाद् विनष्टत्वाच्च । एकवास्तुत्वञ्चोत्पादविनिपातप्रतियोगितानवच्छेदकमेव । यथाऽपेक्षाभेदेन तेषां त्रितयात्मकत्वमनपायमेव **तथैव ते** = प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्त्तिनः **परिणामा** अपि **स्वावसरे** = स्वकाले **स्वरूपपररूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्** स्वरूपेणोपजातत्वात्पररूपेण च विलीनत्वात् **सर्वत्र सर्वदा** = सर्वकाले **परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतया** = मिथोऽनुवृत्तिलक्षणसूत्रगुम्फितैद्रव्यानुयोगिकाविच्छिन्नान्वयसन्तानतया, **अनुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च** = उत्पादविनाशाऽप्रतियोगित्वाच्च **उत्पत्तिव्ययध्रौव्यत्रितयात्मकं आत्मानं बिभ्रति**। निरुक्तैकप्रवाहतया

एक होने पर भी दैशिक क्रम से प्रवृत्ति में रहनेवाले उसके अनेक सूक्ष्म अंश होते हैं, जिन्हें प्रदेश कहते हैं । अवयवी में अनेक अवयव एक काल में युगपत् रहने पर भी देश की अपेक्षा क्रम से ही रहते हैं एवं प्रवृत्ति करते हैं । ठीक इसी तरह द्रव्यवृत्ति = एकद्रव्यान्वयसंतान भी सर्वात्मना एक होने पर भी प्रवाहक्रम = कालिकक्रम से प्रवृत्ति में रहनेवाले उसके अनेक सूक्ष्म अंश होते हैं, जिन्हें परिणाम कहते हैं । जैसे एक ही आत्मान्वयसंतान के मनुष्य, देव, नारक आदि परिणाम काल की अपेक्षा से क्रमिक प्रवर्तमान होते हैं । जैसे परस्पर भिन्न होने की वजह एक द्रव्य के प्रदेशों में विष्कम्भक्रम = दैशिकक्रम होता है ठीक वैसे ही परस्परभेद होने की वजह एक द्रव्य के परिणामों में प्रवाहक्रम = कालिकक्रम होता है । जैसे परस्पर भिन्न प्रदेश स्वदेश में स्वरूप से उत्पन्न होते हैं एवं पूर्वरूप = पूर्वावस्था से निवृत्त होते हैं मगर सर्वत्र = सर्वदेश में = संपूर्ण द्रव्यवास्तु में परस्परानुवेधस्वरूप सूत्र से ग्रथित एकद्रव्यवास्तुविधया न तो वे उत्पन्न होते हैं और न तो वे निवृत्त होते हैं अर्थात् ध्रुव होते हैं । इस तरह द्रव्य के प्रदेश उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्रितयात्मकता को धारण करते हैं । ठीक इसी तरह पूर्वोक्त परिणाम भी अपने काल में स्वरूप से उत्पन्न होते हैं एवं पररूप से विनष्ट होते हैं मगर सर्वत्र सर्वदा परस्परानुवृत्तिस्वरूप एक सूत्र से गुम्फित एक प्रवाहात्मना सदा विद्यमान होने से न तो उत्पन्न होते हैं और न तो विनष्ट होते हैं । इस तरह एक द्रव्य के परिणाम भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्रितयात्मकता को धारण करते हैं । पूर्वप्रदेश का उच्छेदन ही वास्तु का सीमान्त है और वही उत्तरोत्पादात्मक = उत्तर प्रदेश की उत्पत्तिस्वरूप है तथा वही परस्परानुवेधात्मक सूत्र

यथैव च य एव पूर्वप्रदेशोच्छेदनात्मको वास्तुसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतया तदुभयात्मक इति तथैवात्रापि य एव पूर्वपरिणामोच्छेदनात्मको वृत्तिसीमान्तः स एव तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवृत्तितया तदुभयात्मक इति । दृष्टान्तोऽत्र मुक्तादाम । यथा दीर्घे लम्बे मुक्तादामनि सर्वेष्वपि स्वधामसूत्रकसत्सु मुक्ताफलेषु उत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात्, पूर्वेषां पूर्वेषाञ्चानुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकसूत्रस्यावस्थानाच्च त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धं तथात्रापि ध्येयमिति ।

अत्र निश्चयतः प्रदेशादीनामुत्पत्तिनाशसम्भवेऽपि व्यवहारतः परिणामानामेव तौ । यदव-

✤ जयलता ✤

तेषां परिणामानां पूर्वं पश्चाच्च सत्त्वात्स्थैर्यं प्रातिस्विकरूपेण पश्चादुत्पन्नत्वाद्विनष्टत्वाच्चोत्पादव्ययप्रतियोगित्वमिति त्रितयात्मकत्वमनपायमेव परिणामानाम् ।

यथैव च य एव पूर्वप्रदेशोच्छेदनात्मकः वास्तुसीमान्तः स एव हि **तदुत्तरोत्पादात्मक स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतया तदुभयात्मक** इति । तथाहि य एव शिवकलक्षणपूर्वप्रदेशोच्छेदात्मकः मृद्द्रव्यलक्षणवास्तुध्वंसः स एव हि घटलक्षणतदुत्तरोत्पादात्मकः स एव च शिवकघटान्योन्यानुवेधलक्षणसूत्रसूत्रितमृद्द्रव्यात्मकैकवास्तुत्वेन शिवकघटोभयात्मक इति भण्यते । **तथैवात्रापि** य एव पूर्वपरिणामोच्छेदनात्मको **वृत्तिसीमान्तः** = एकद्रव्यानुयोगिकाविच्छिन्नान्वयसन्तानविश्रामः **स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः** = स्वोत्तरपरिणामनिष्पत्तिस्वरूपः, **स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवृत्तितया** = अन्योन्यानुवृत्तिलक्षणसूत्रग्रथितैकप्रवाहात्मना **तदुभयात्मकः** = पूर्वोत्तरपरिणामोभयस्वरूप इति । **दृष्टान्तोऽत्र मुक्तादाम** = मुक्तावली । **यथा दीर्घे लम्बे मुक्तादामनि सर्वेष्वपि स्वधामसूत्रकसत्सु** = स्वाश्रयीभूतगुणवृत्तिषु **मुक्ताफलेषु** सत्सु **उत्तरोत्तरेषु** धामसु जपादिसमये **उत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात्** = उत्तरवर्तिमुक्ताफलाऽऽगमात्, **पूर्वेषां पूर्वेषां** च उत्तरोत्तरेषु धामसु **अनुदयनात्** = अनागमात् **सर्वत्राऽपि** मुक्तादामनि **परस्परानुस्यूतिसूत्रकसूत्रस्यावस्थानाच्च** = इतरेतरानुवृत्तिलक्षणस्य गुणस्य = दवरकस्य सत्त्वाच्च **त्रैलक्षण्यं** = उदयानुदयाव-स्थानलक्षणं **प्रसिद्धम्** । अयं भावो जपादिषु मुक्ताफलपरावर्तनसमये तत्तत्स्वदेशसूत्रस्थितानामुत्तरोत्तरमुक्ताफलानामग्रे गमनं भवति पूर्विलमुक्ताफलानाञ्च स्वस्थानादधोगमनं भवति सूत्रं तु अवस्थितमेव । **तथाऽत्रापि** = प्रदेशेषु परिणामेषु चापि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकं त्रैलक्षण्यमनपायम् । पूर्वपरिणामनाशोत्तरपरिणामोत्पादयोः परिणामात्मना परिणामावस्थानाविनाभावित्वात् । अत्र यद्यपि स्वधामसूत्रस्थितानामुत्तरवर्तिनां पूर्विलानाञ्च मुक्ताफलानामेकदैव मुक्तादामनि अवस्थानमाबालगोपालप्रसिद्धं, न चैवं शिवककपालघटादीनां पूर्वोत्तरकालभाविनामेकदैकत्र मृद्द्रव्येऽवस्थानं दृष्टचरं तथापि यथा मुक्ताफलानां पूर्वोत्तरदेशावस्थितानां विवक्षितस्थाने आगमानागमयोः दृष्टत्वम् तथैवात्र प्रदेशादीनां विवक्षितकाले एकत्र उदयविलययोर्नाप्रसिद्धत्वमित्यादिसूचनार्थं ध्येयमित्युक्तम् ।

अत्र = जैनप्रवचने **निश्चयतः** = निश्चयनयमाश्रित्य, **प्रदेशादीनां** = प्रदेशपरिणामानां **उत्पत्तिनाशसम्भवेऽपि व्यवहारतः** = व्यवहारनयमाश्रित्य, **परिणामानामेव तौ** = उत्पादव्ययौ न तु प्रदेशानाम् रक्तश्यामयोरुत्पादविनाशदशायामपि 'स

से ग्रथित एकद्रव्यवास्तुविधया पूर्वोत्तरोभयात्मक है । जैसे मृत्पिण्डोच्छेदात्मक मृद्द्रव्यात्मकवास्तुध्वंस ही घटोत्पादात्मक है और वही मृत्पिण्ड-घटान्योन्यानुवेधात्मक सूत्र से ग्रथित मृद्द्रव्यात्मक एकवास्तुविधया मृत्पिण्डघटोभयात्मक कहा जाता है । ठीक वैसे ही यहाँ पूर्वपरिणामोच्छेदात्मक वृत्तिसीमान्त = एकद्रव्यान्वयसंतानोच्छेद ही तदुत्तरपरिणामोत्पादात्मक है और वही परस्परानुवेधात्मक सूत्र से ग्रथित एकद्रव्यान्वयसन्तानविधया पूर्वोत्तरोभयपरिणामात्मक होता है । यह बात मोतिओं की माला के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायेगी । वह इस तरह-दीर्घ एवं लम्बी मोतिओं की माला में सभी मोती अपने आश्रयभूत सूत्र में विद्यमान होते हुए भी जप करने के समय उत्तर उत्तर आश्रयभूत सूत्रस्थान में मोतिओं का उदय होता है एवं पूर्व पूर्व मोतिओं का उस स्थान में उदय नहीं होता है, क्योंकि वे मोती उस स्थान को छोड़ कर आगे चलते हैं । फिर भी एक सूत्र = दोरी में वे परस्पर अनुवृत्त होने से एक दोरी में रहते ही हैं । मतलब कि मूल दोरी में सब मोती अवस्थित होने की अपेक्षा ध्रुव हैं फिर भी दोरी में तत् तत् स्थान के स्वीकार एवं त्याग की अपेक्षा उनके उदय-अनुदय भी होते हैं । जैसे वहाँ त्रितयात्मकता प्रसिद्ध है ठीक वैसे ही यहाँ भी प्रदेश और परिणामों में एवं उनसे अभिन्न द्रव्यवास्तु और द्रव्यवृत्ति = द्रव्यान्वयसंतान में भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता की संगति करने पर ध्यान देना चाहिए ।

अत्र. । यद्यपि निश्चयनय से तो प्रदेश एवं परिणामों की भी उत्पत्ति एवं विपत्ति मुमकिन है । फिर भी व्यवहारनय

च्छेदेन च ध्रौव्यं तदवच्छेदेन तु नोत्पत्तिनाशौ, अन्यथा सङ्करापत्तेः । उत्पादव्ययर्योर्द्रव्यत्वं तु स्वावलम्बितपर्यायावलम्बनत्वाद् बोध्यम् । उत्पाद-स्थिति-भङ्गाश्च न परस्परं सर्वथा भिन्नाः कुम्भसर्ग-मृत्पिण्डसंहार-मृत्तिकास्थितीनामैक्येनैवानुभवनात् ।

❋ जयलता ❋

एवायमि'ति लौकिकप्रतीतिप्रसिद्धेः । **न च प्रदेशानामन्त्यानां निरवयवत्वात्कथं उत्पादविनाशौ ? इति वाच्यम्,** प्रयोगजनितयोरैकत्विकविस्रसाजनितयोःचोत्पादविनाशयोस्तत्राऽसम्भवेऽपि समुदयजनितवैस्रसिकोत्पादस्य अर्थान्तरगमनलक्षणस्वाभाविकविनाशस्य चावस्थाविशेषात्सम्भवे बाधकाभावात् ।

नन्वेवं स्थित्यादीनां प्रदेशादिभ्योऽभेदे स्थितिरेवोत्पत्तिविनाशौ, विनाश एवोत्पत्तिस्थिती, उत्पत्तिरेव च विनाशस्थिती इति प्राप्तम्, एकस्मादभिन्नानां स्थित्यादीनां भेदासम्भवात् । तथा च कथं त्रिलक्षणता स्यात् ? इत्याशङ्कायामाह- **यदवच्छेदेन ध्रौव्यं तदवच्छेदेन एव तु नोत्पत्तिविनाशौ,** यथा मृद्द्रव्यत्वावच्छेदेन स्थैर्यं घटत्वावच्छेदेनोत्पादः मृत्पिण्डत्वावच्छेदेन च ध्वंसः । **अन्यथा** = एकावच्छेदेनैव त्रयाणामुपगमे, तेषां निरुक्तरीत्या **सङ्करापत्तेः** = अभेदप्रसङ्गादित्यर्थः ।

ननूत्पादादीनामपि परिणामत्वेनोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वं वाच्यम् । तच्च कथं तत्र स्यात् ? अनवस्थापातादिति चेत् ? **नैवम्,** तत्र तद्वतः कथञ्चिदभेदोपगमे स्थित्यादीनां स्थितिरेवोत्पद्यते सामर्थ्याद्विनश्यति च, विनाश एव तिष्ठति सामर्थ्यादुत्पद्यते च, उत्पत्तिरेव नश्यति, सामर्थ्याच्चिष्ठतीति च ज्ञायते, त्रिलक्षणात्प्रदेशादभिन्नानां स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वसिद्धेः । तथा च स्थितिरेव स्थास्यति उत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति सामर्थ्यात् स्थिता उत्पन्ना विनष्टेति गम्यते । विनाश एव स्थास्यति उत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थित उत्पन्नो विनष्ट इति च गम्यते । उत्पत्तिरेव उत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थास्यतीति न कुतश्चिदुपरमति सोत्पन्ना विनष्टा स्थितेति गम्यते । स्थित्याद्याश्रयस्य वस्तुनोऽनाद्यनन्तत्वाद् अनुपरमसिद्धेः स्थित्यादिपर्यायाणां कालत्रयापेक्षिणामनुपरमसिद्धिः, अन्यथा तस्यातल्लक्षणत्वप्रसङ्गात्, सत्त्वविरोधात् । एतेन जीवादि वस्तु तिष्ठति स्थितं स्थास्यति, विनश्यति विनष्टं विनङ्क्ष्यति, उत्पद्यते उत्पन्नं उत्पत्स्यते चेति प्रदर्शितं, कथञ्चित् तदभिन्नस्थित्यादीनामन्यथा स्थास्यतीत्यादिव्यवस्थानुपपत्तेरिति **अष्टसहस्रीकारः ।**

ननु तथाप्युत्पादव्यययोर्द्रव्यात्मकत्वं कथं स्यात् तयोर्द्रव्यपरिणामत्वादिति चेत् ? उच्यते **उत्पादव्यययोर्द्रव्यत्वं तु स्वावलम्बितपर्यायावलम्बनत्वाद् बोध्यम् ।** स्वपदेनोत्पादव्यययोर्ग्रहणम् । ताभ्यामवलम्बिता ये पर्याया एतत्कालीनत्वादयः तेषां **अवलम्बनत्वात्** = आश्रयत्वात् । पर्यायाश्रयत्वस्यैव द्रव्यलक्षणत्वात् । 'एतत्कालीन उत्पाद', 'एतद्द्रव्यप्रतियोगिको व्यय' इत्यादिप्रतीतेः एतत्कालीनत्वैतद्द्रव्यप्रतियोगिकत्वादिपर्यायाश्रयत्वमुत्पादव्यययोरपि निराबाधमेव ।

इदन्तु ध्येयं - **उत्पादस्थितिभङ्गाश्च न परस्परं सर्वथा भिन्ना** एव, **कुम्भसर्ग-मृत्पिण्डसंहार-मृत्तिकास्थितीनां ऐक्येन** = अभेदेन **अनुभवात्** 'कुम्भोत्पाद एव मृत्पिण्डसंहारः तावेव च मृत्तिकास्थिति'रित्यनुभवात्, तेषां त्रयाणां समनियतत्वात् । तदुक्तं **प्रवचनसारे कुन्दकुन्दाचार्येणापि** 'ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो । उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥१-८॥ न च सर्वथैवाऽभेदः, यतः त्रयोऽप्युत्पादादयो भिन्नरूपावच्छेदेन भिन्नकालाः घटोत्पादसमये घटविनाशस्य घटविनाशसमये घटोत्पादस्य, तदुत्पादविनाशयोरुत्पत्तिविनाशानवच्छिन्नकालसम्बन्धरूपायाः तत्स्थितेः घटविनाशविशिष्टघटरूप-मृत्स्थित्योर्वा विरोधात् । तथा प्रत्येकमपि देश-कार्त्स्न्याभ्यां भिन्नकालता, उत्पद्यमानस्यापि पटस्य देशेनोत्पन्नत्वात् देशेन चोत्प-

से परिणामों की ही उत्पत्ति और विपत्ति होती है - यह ध्यातव्य है । इस तरह यह भी यहाँ ख्याल में रखना जरूरी है कि यदवच्छेदेन = जिसकी अपेक्षा ध्रौव्य होता है उसी अवच्छेदेन उत्पाद और नाश नहीं होते हैं । यदि जिसकी अपेक्षा स्थैर्य हो उसीकी अपेक्षा उत्पाद-व्यय को मान्य किया जाय तब तो उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्य में सांकर्य = अभेद की आपत्ति आयेगी । यद्यपि उत्पाद-व्यय द्रव्यपरिणामात्मक हैं फिर भी उनमें द्रव्यात्मकता का इन्कार नहीं किया जा सकता; क्योंकि वे उत्पाद एवं व्यय में आश्रित एतत्कालिकत्व आदि पर्यायों के आश्रय होते हैं । पर्यायाश्रयत्व ही तो द्रव्य का लक्षण है।

❋ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में कथञ्चिदभेद ❋

उत्पाद. । **यहाँ इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी परस्पर सर्वथा भिन्न नहीं हैं, क्योंकि घट की उत्पत्ति, मृत्पिण्ड के नाश एवं मृत्तिका द्रव्य के ध्रौव्य में परस्पर ऐक्य का ही अनुभव होता है । घटोत्पाद से भिन्न मृत्पिण्डध्वंस या मृत्तिकास्थैर्य की उपलब्धि नहीं होती है एवं मृत्पिण्डध्वंस को छोड कर घटोत्पाद या मिट्टी के ध्रौव्य की ज्ञप्ति नहीं होती है एवं मिट्टी की स्थिति के बिना अतिरिक्त घटजन्म और मृत्पिण्डविलय का ज्ञान नहीं होता है ।**

द्रव्यस्य स्थितिकाल एव च पर्यायाणामुत्पत्तिनाशसम्भवान्न क्षणभेदोऽपीति परमसमयामृतास्वादोद्गारः ।

इत्थञ्च सर्वेषामेव द्रव्याणां एकस्वभावत्वेऽप्ययं कश्चिद्विशेषो यदिह पुद्गलजीवद्रव्ये एव परपरिणामाद् वैचित्र्यमनुभवतः । भवन्ति हि यथा परमाणवः स्निग्धरूक्षत्वादिविशेषेण परस्परमेकीभवन्तो द्व्यणुक-त्र्यणुकादिसमानजातीयद्रव्यपर्यायभाजो रागद्वेषादिप्रवृत्तिपार-

जयलता

स्यमानत्वात् प्रबन्धेन चोत्पत्स्यमानत्वात् । विगच्छतोऽपि देशेन विगतत्वात् देशेन च विगमिष्यत्वात् प्रबन्धेन च विगच्छत्त्वात् । तिष्ठतोऽपि देशेन स्थितत्वात् देशेन च स्थास्यत्वात् प्रबन्धेन च तिष्ठत्त्वादिति । एकस्वरूपत्वाद् द्रव्यादर्थान्तरभूतादभिन्नकालाश्चैतेऽविशिष्टाः सन्तो भिन्नप्रतियोगिविशिष्टा वा कुशूलनाश-घटोत्पाद-मृत्स्थितीनामेककालत्वादिति ततोऽनर्थान्तरभूता अपीति । एवञ्चोत्पादादित्रयेण त्रैकाल्येन भेदाभेदाभ्यां भङ्गसन्ततिर्द्रव्यस्य भावनीया सूक्ष्मधिया, त्र्यात्मक-त्रिकालात्मकतयाऽनन्तपर्यायात्मकत्वादेकवस्तुनः (शा.वा. ७-१) इति व्यक्तं **स्याद्वादकल्पलतायाम्** ।

तदेवाह-**द्रव्यस्य स्थितिकाले एव च पर्यायाणामुत्पत्तिनाशसम्भवान्न क्षणभेदोऽपि** उत्पत्ति-व्यय-ध्रौव्याणां त्रयाणां इति **परमसमयामृतास्वादोद्गारः** । यथैकैकमपि उत्पत्त्यादिकालत्रयेण त्रैकाल्यं प्रतिपद्यते तथा विगच्छदादिकालत्रयेणाऽपि उत्पादादिरेकैकः त्रैकाल्यं प्रतिपद्यते। तथाहि - यथा यद् यदैवोत्पद्यते तत्तदैवोत्पन्नमुत्पत्स्यते च । यद् यदैवोत्पन्नं तत्तदैवोत्पद्यते उत्पत्स्यते च । यद् यदैवोत्पत्स्यते तत्तदैवोत्पद्यते उत्पन्नञ्च । तथा तदेव यदुत्पद्यते तत्तदैव विगतं विगच्छद् विगमिष्यच्च । तथा यदेव यदैवोत्पन्नं तदेव तदैव विगतं विगच्छद् विगमिष्यच्च । तथा यदेव यदैवोत्पत्स्यते तदेव तदैव विगतं विगच्छद् विगमिष्यच्च । एवं विगमोऽपि त्रिकाल उत्पादादिना दर्शनीयः । तथा स्थित्याऽपि त्रिकाल एव सप्रपञ्चः दर्शनीयः । एवं स्थितिरपि उत्पाद-विनाशाभ्यां सप्रपञ्चाभ्यामेकैकाभ्यां त्रिकाला प्रदर्शनीयेति द्रव्यमन्योन्यात्मकतथाभूतकालत्रयात्मकोत्पाद-विनाश-स्थित्यात्मकमिति **सम्मतितर्कटीकाकारः** ।

ननु तथापि गगनादीनां कथं त्रैलक्षण्यं घटाकोटीमाटीकेत ? उच्यते, तावद् आकाशधर्माधर्माणामवगाह-गति-स्थित्याधारत्वं न तदनाधारत्वस्वभावप्राक्तनावस्थाध्वंसमन्तरेण सम्भवति । प्रयोग-विस्रसात्मकमूर्त्तिमद्द्रव्यानारब्धत्वेन गगनधर्माधर्मास्तिकायानां अवगाहकगन्तृस्थातृद्रव्यसन्निधानतोऽवगाह-गति-स्थितिक्रियोत्पत्तेरनियमेन स्यात्परप्रत्ययः, मूर्तिमदमूर्तिमदवयवद्रव्यद्वयोत्पाद्यत्वादवगाहनादीनां वैस्रसिक उत्पादः स्यादैकत्विकः स्यादनैकत्विकश्च । आकाशत्वादिना उत्पादव्ययाऽप्रतियोगित्वाद् ध्रौव्यम् । ततः सिद्धं तेषां त्रैलक्षण्यम् ।

इत्थञ्च निरुक्तयुक्त्या **सर्वेषामेव द्रव्याणां** उत्पादव्ययध्रौव्यात्मके **एकस्वभावत्वे अपि** अस्ति **अयं कश्चिद् विशेषः** = वैलक्षण्यं **यत्** = यस्मात् कारणात् **इह** = जगति **पुद्गलजीवद्रव्ये एव परपरिणामाद् वैचित्र्यमनुभवतः** । तदेव समर्थयति **- भवन्ति हि यथा परमाणवः स्निग्धरूक्षत्वादिविशेषेण** । तदुक्तं 'णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण । णिद्धस्स लुक्खेण उ एइ बंधो जहण्णवज्जो विसमे समे वा' ।।इति । **परस्परमेकीभवन्तः** = अन्योन्यानुवेधमाश्रयन्तः **द्व्यणुक-त्र्यणुकादिसमानजातीयद्रव्यपर्यायभाज** इति।

इदमत्रावधेयम् - परमाणुकारणतावादिनः सौगत-नैयायिक-स्याद्वादिनः । तत्र सौगतनैयायिकाश्च परमाणून् अपरिणामिनो

वस्तुतः द्रव्य की स्थिति अवस्था में ही पर्यायों की उत्पत्ति और नाश का सम्भव होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में क्षणभेद = कालभेद भी नहीं है, जिसकी वजह कालभेद से तीनों में सर्वथा भेद की सिद्धि हो सके - यह परम जैनागमस्वरूप अमृत के आस्वाद का रम्य उद्गार है ।

विशेष द्रव्य में विशेष का प्रदर्शन

इत्थञ्च. । उपर्युक्त विचारसरणी से यह फलित होता है कि सब द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य त्रितयस्वभाववाला है । धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं काल - इन छ द्रव्यों में एक स्वभाव होने पर भी उनमें कुछ विशेषता भी जरूर है, जिसकी वजह पुद्गलद्रव्य एवं जीवद्रव्य ही परपरिणाम से वैचित्र्य का अनुभव करते हैं, न कि धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य । जैसे कि स्निग्ध-रूक्षत्वादिविशेष से परस्पर एक = संमिलित बनते हुए परमाणु ही द्व्यणुक,

तन्त्र्येणात्मानश्चासमानजातीयद्रव्यपर्यायभाज इति न ह्येवमाकाशादय इति दिक् ।

नन्वेकस्मिन् समये विरुद्धोत्पत्त्यादिधर्मसमावेशः कथं ? इत्याशङ्कायां दृष्टान्तमाहुः - गोरसादेवादेति । यथाहि गोरसे स्थायिनि पूर्वदुग्धपरिणामविनाशोत्तरदधिपरिणामोत्पादौ प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वान्न विरुद्धौ, तदुक्तं 'पयोव्रती न दध्यत्ति' (शा.स. ७-३) इत्यादि, तथे-

❀ जयलता ❀

मन्यन्ते । बौद्धमते परमाणूनां समुदाय एव घटादिः न तु तेषां परिणामरूपः । नैयायिकमते घटादिर्न परमाणुसमूहस्वरूपो नापि परमाणुपरिणामरूपः किन्तु परमाणुद्वयात् द्व्यणुकरूपोऽवयवी जायते । स च स्वावयवपरमाणुद्विकादत्यन्तं भिन्नः । एवं त्रिभिः द्व्यणुकैः त्र्यणुकस्वरूपोऽवयवी चतुर्भिः त्र्यणुकैश्च चतुरणुकस्वरूपोऽवयवी उत्पद्यते । परमाणुकारणतावादमङ्गीकुर्वन्तोऽपि स्याद्वादिनः परमाणूनां परिणामरूपः द्व्यणुकादिर्घटादिश्चावयवी कथञ्चित्स्वावयवापृथग्भूत इति मन्यन्ते । अतो जैनाः परिणामवादिनः सौगतयौगवैशेषिकास्तु न परिणामवादिनः । साङ्ख्ययोगवेदान्तिनः तु न परमाणुकारणतावादिनः, परमाणूनामेवास्वीकारात् । प्रकृतेरेव परिणामभूतं जगदिति सांख्यानां योगानाञ्च मतम् । वेदान्तिनस्तु साङ्ख्यसम्मतां प्रकृतिमपहाय तत्स्थाने मायामभिषिञ्चयन्ति । सैव माया अविद्या, अज्ञानं इति निगद्यते तैः । तन्मते मायाया एव परिणामभूतं जगत्, यतो माया परिणामिकारणम् । यत्र स्वरूपे विकारो भवति तादृशं कारणं परिणामि उपादानम्, यथा दुग्धं दध्नः । यत्र स्वरूपे विकारो न भवति तत्कारणं विवर्तोपादानमुच्यते यथा रज्जुः सर्पस्येति वेदान्तिनः ।

ननु पूर्वमन्धकारवादे भवद्भिरेव तमःपरमाणूनां प्रकाशात्मना परिणामः प्रत्यपादीति कथमत्र 'समानजातीय'त्युक्तमिति चेत् ? नैवम् द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिरूपेणैव समानजातीयत्वस्यात्राभीप्सितत्वात् । द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजात्यवच्छेदेन नियतपर्याया-रम्भवादः तदवान्तरजात्यवच्छेदेन चानियतपर्यायारम्भवाद इत्यत्राप्यनेकान्तस्य लब्धप्रसरत्वात् । अत एवानुपदं वक्ष्यमाणाऽसमान-जातीयद्रव्यपर्यायोत्पादकथनमपि न विरुद्धम्।

जीवद्रव्ये परपरिणामाद् वैचित्र्यमुपदर्शयति - **राग-द्वेषादिप्रवृत्तिपारतन्त्र्येण आत्मानश्च असमानजातीयद्रव्यपर्यायभाजः** द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजीवत्वव्याप्यनरत्व-देवत्वादिवैजात्यशालिद्रव्यपर्यायवन्तः भवन्ति इति । न **ह्येवमाकाशादयः** स्निग्धरूक्षादिपरि-णामविशेषादन्यस्माद्वा समानासमानजातीयद्रव्यपर्यायशालिनो भवन्ति । स च विशेषः आकाशधर्मादिभेदो वा जीवपुद्गलमात्रवृत्तिवैजात्यं वा सावच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं वा सम्बन्धविशेषेण रूपादिमत्त्वं वा स्वातन्त्र्येण गन्तृत्वादिकं वा अन्यो वा कश्चिदिति बहुश्रुतेभ्योऽ-वगन्तव्यमित्यादिसूचनार्थं **दिगित्युक्तिः**।

मुग्धः शङ्कते - **नन्विति** । **स्थायिनि** = दुग्धदध्यवस्थाव्यापिनि । **शास्त्रवार्तासमुच्चय**संवादमाह-**पयोव्रतीति** । पयोव्रती न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् । इति संपूर्णा कारिका । पयोव्रतः = क्षीरभोजनव्रतः न दध्यत्ति = न दधि भुङ्क्ते। यदि च दध्नः पयस एकान्ताभेदः स्यात्तदा तस्य दधि भुञ्जतोऽपि न व्रतभङ्गः स्यात् । तथा दधिव्रतः = दधिभोजनव्रतः न पयः = दुग्धं अत्ति । पयसो दध्न एकान्ताभेदे च तद् भुञ्जतो न दधिभोजनव्रतभङ्गः स्यात् । ततो दधिपयसोः कथञ्चिद्भेदः । तथा अगोरसव्रतः = आरनालादिभोजनव्रतः उभे = दुग्धदधिनी नात्ति इति गोरसभावेन

त्र्यणुक, चतुरणुक आदि सजातीय द्रव्य - पर्यायों को धारण करते हैं. । इसी तरह राग- द्वेष आदि प्रवृत्ति के पारतन्त्र्य से आत्माएं भी नर, नारक, तिर्यंच आदि असमानजातीय द्रव्यपर्याय को धारण करती हैं । मगर आकाश, काल आदि द्रव्य परपरिणाम से वैचित्र्य को धारण नहीं करते हैं । इस विषय में बहुत कहा जा सकता है । यह कथन तो एक दिग्दर्शन है । इस बात की सूचना देने के लिए श्रीमद्जी ने यहाँ दिक् पद का प्रयोग किया है ।

❀ गोरसदृष्टान्त से त्रैलक्षण्यसिद्धि ❀

नन्वे. । 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तो परस्पर विरुद्ध हैं । अतः एक ही काल में एक द्रव्य में उनका समावेश कैसे हो सकता है ?' इस प्रश्न के निराकरणार्थ मूलकार श्रीमद्जी गोरसादि के दृष्टान्त को बताते हैं । वह इस तरह - गोरस स्थायी द्रव्य है फिर भी उसीमें पूर्व के दुग्धपरिणाम का विनाश एवं उत्तर दधिपरिणाम का उत्पाद प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने से स्थैर्य, उत्पाद और विनाश परस्पर विरुद्ध नहीं है । 'गोरसात्मना स्थिर द्रव्य ही दुग्धात्मना नष्ट हुआ और दधिरूप से उत्पन्न हुआ' - यह प्रतीति तो सार्वजनीन है । इसलिए तो सूरिपुरन्दर श्रीहरिभद्रसूरिजी महाराज ने कहा है कि→ जिसको केवल दुग्धभोजनव्रत है, वह दधि नहीं खाता है और जिसको दधिभोजनव्रत है वह दुग्धपान नहीं करता है । इससे फलित होता है कि दुग्ध और दधि में परस्पर भेद है । अन्यथा दुग्धभोजनव्रती दही का भी भक्षण कर ले तब उसे पाप

हापि द्रव्ये सर्वदा स्थायिनि पूर्वपरिणामोच्छेदोत्तरपरिणामोत्पादौ प्रतीतिबलादेव न विरुद्धाविति भाव इति श्रेयः श्रीः ॥१२॥

❀ जयलता ❀

द्वयोरभेदः; अन्यथा कृतगोरसप्रत्याख्यानस्य दुग्धाद्येकैकभोजनेऽपि न व्रतभङ्गः स्यादिति । तस्मात् = द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वात् त्रयात्मकं = उत्पादव्ययध्रौव्यापृथग्भूतं वस्तु इति **स्याद्वादकल्पलताव्याख्यालेशः**।

निगमयति - **तथा इहापि** = दार्ष्टान्तिकेऽपि **द्रव्ये सर्वदा स्थायिनि** द्रव्यत्वस्य ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकत्वात्, **पूर्वपरिणामोच्छेदोत्तरपरिणामोत्पादौ प्रतीतिबलादेव न विरुद्धौ** अस्खलत्सार्वजनीनस्वरसवाहिप्रत्यक्षस्यानपलपनीयत्वात् इति **भावः** । यथा चैतत्तत्त्वं तथा पूर्वमनेकशो विभावितमेवेत्यलं विस्तरेणेति शम् ॥१२॥

❀ जयलताकृत्प्रशस्तिः ❀

तपागच्छे श्रीसद्गुणगणमणिश्रेणिनिधयः तपःश्रीन्यायाम्भोनिधय उचिताचारविधयः ।
स्वभक्तेच्छापूर्तित्रिदशतरवो बुद्धिगुरवः समुद्भूताः श्रीमद्विजयिविजयानन्दगुरवः ॥१॥
श्रीसंघे ददतां विद्यासौख्यकल्याणसम्पदः । पट्टपद्माकरे तेषां जातः **कमलसूरिराट्** ॥२॥
तत्पट्टगगने जातो **वीरविजय**वाचकः । चन्द्रवद्गोविलासैः कुवलयबोधतत्परः ॥३॥
तत्पट्टगगनदिनमणिरजनिष्ट जनेष्टदानदेवमणिः । श्रीविजय**दान**मुनि**मणिरनुगुणाधरितरजनिमणिः** ॥४॥
रत्नाकरादिवैतस्मात् शिष्यरत्नं बभूव सत् । वागीशोऽपि हि नो मन्ये यद्गुणवर्णने प्रभुः ॥५॥
सौभाग्याद्भुतवैभवो भवमहाम्भोराशिकुम्भोद्भवः । तत्पट्टे गुरु**प्रेमसूरि**गणभृन्न्यायविशारदः ॥६॥
दाक्षिण्यैकनिधिर्व्यधात्र सहजे देहेऽप्यहो मूर्च्छितं कारुण्यामृतवारिधिर्विनिदधे गुप्तौ स्वकीयं मनः ।
शान्तात्माऽनुचरं चिरस्य विनिजग्राहेन्द्रियाणां गणं, यो विज्ञातसमस्तवस्तुरभवत् तुल्यश्च हेमाश्मनोः ॥७॥
कालिमकृति कलिकाले कालेऽभूत् कालिमा मनाग् नास्य । प्रत्युत स एव येन स्वयशस्सुधया शुचीचक्रे ॥८॥
मनसि घनविवेकस्नेहसंसेकदीप्तो द्युतिमतनुत यस्य ज्ञानरूपः प्रदीपः ।
असमतमतमांसि ध्वंसयन्नञ्जसाऽसौ न खलु मलिमसं स्वं किन्तु कुत्रापि चक्रे ॥९॥
वर्ण्यते किमतः तस्य श्रीसिद्धान्तमहोदधेः । माहात्म्यं यत्करस्पर्शात् संसारी संयमी भवेत् ॥१०॥
तत्रोदियाय तमसामवसायहेतुर्निस्तारकद्युतिभरो भुवनप्रकाशः ।
गच्छाधिपो **भुवनभानुगणी** नमस्यपादो नवार्क इव सद्धितिकचित्तः ॥११॥
नैयायिकानामुपकारकाणां तपस्विनां कीर्तिमतां कवीनाम् ।
अध्यापकानां सुधियां च मध्ये दधे सदा यः प्रथमत्वमेव ॥१२॥
सुरगुरुसमा प्रेक्षा गिरश्च श्रवसोः सुधा, अधरितधरं धैर्यं यस्य क्षमानुकृतक्षमा ।
शमदमवनः पातालं प्राविशद्धवलं यशः शशिजयकरं नाभूत्कस्याद्भुताय मुनिप्रभोः ॥१३॥

न लगेगा और दधिभोजनव्रती दुग्ध का आस्वाद करें तब भी उसे पाप न लगेगा । मगर ऐसा नहीं है । इससे दूध और दही में भेद सिद्ध होता है । मगर जिसने गोरस का प्रत्याख्यान किया है वह न तो दूध को पीता है और न तो दही को खाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि दुग्ध और दधि में गोरसात्मना अभेद रहता है । केवल दूध ही गोरस हो तब तो दधिभक्षण करने पर भी गोरसप्रत्याख्यानी को पाप न लगना चाहिए और केवल दधि ही गोरस हो तब तो दुग्धपान करने पर भी गोरसप्रत्याख्यानी को पापकर्मबन्ध नहीं होना चाहिए । मगर ऐसा होता नहीं है । गोरसप्रत्याख्यानी चाहे दुग्धपान करे या दधिभक्षण करे मगर उसे पापकर्मबन्ध होता है । इसीसे सिद्ध होता है कि दूध और दही गोरसात्मना परस्पर अभिन्न भी हैं । मतलब कि दधि का उत्पाद, दुग्धविनाश एवं गोरसस्थैर्य परस्पर एक काल में एक द्रव्य में विरुद्ध नहीं है - यह सिद्ध होता है । जैसे इस दृष्टान्त में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य त्रितयात्मकता की सिद्धि होती है ठीक वैसे ही यहाँ सर्वदा स्थायी द्रव्य में पूर्वकालीन परिणाम का नाश और उत्तरपरिणाम का जन्म भी प्रतीति के बल से ही परस्पर विरुद्ध नहीं है । इसकी शांति से भावना करनी चाहिए ॥१२॥

इति महामहोपाध्याय-यशोविजयगणिवरविरचितं स्याद्वादरहस्यम् (मध्यमपरिमाणम्)
श्रीरस्तु सङ्घस्य ।

❀ जयलता ❀

इष्टफलादिसिद्धान्ताः सम्यक्शास्त्रानुसारतः । स्थापिता येन स जीयात् वर्धमानतपोनिधिः ॥१४॥

भव्यान्सार्धं कुटुम्बैः बहुश उपकृतौ कर्मठोऽबोधयद्यो वाग्मी तर्कज्ञवैयाकरणगणमणिः पीतसिद्धान्तसिन्धुः ।

यन्नामामानधामाधरितमुखरवैतण्डिका आशु नेशुः, स्मर्तॄणां सादराणां विदलयति विपद् यः प्रदत्ते हि भद्रम् ॥१५॥

तत्पट्टे गुणरत्नरोहणगिरिर्गाम्भीर्यपाथोनिधिः तुङ्गत्वानुकृतक्षमाधरपतिः साम्ये च तारापतिः

सम्यग्ज्ञानविशुद्धसंयमशमः स्वाचारचर्यानिधिः दान्तो नो **जयघोषसूरि**रवतान्निःसङ्गचूडामणिः ॥१६॥

आबाल्याच्चिन्तकः बाल्यकाले पित्रा सहैव यः । दीक्षां गृहीतवान् नैव च स्पृष्टवान् विकारिताम् ॥१७॥

कण्ठस्थछेदशास्त्रादिः नव्यकर्मादिशास्त्रकृत् । दिव्यदशास्त्रमीमांसकः सर्वशास्त्रमर्मवित् ॥१८॥

ब्रूमः किं तस्य माहात्म्यं यत्सहवासतो जनैः । मादृशा अपि मूर्खा गण्यन्ते पङ्क्तौ प्रमावताम् ॥१९॥

तच्छिष्यो राजते प्राज्ञः विजयः **जयसुन्दरः** । येन मेधाविना प्राप्ताः स्तोकैरेव वत्सरैः ॥२०॥

न्यायकर्मादिसाहित्यसिद्धान्तोदन्वतां तटाः । मह्यं प्रदत्तवान् न्यायशास्त्रशिक्षामनाविलाम् ॥२१॥

पदार्थाः प्रकटा यद्वत्प्रसादाच्चन्द्रसूर्ययोः । भवन्ति प्राणिनां नित्यमेतयोर्मे तथा किल ॥२२॥

क्व बालस्य पदन्यासे सामर्थ्यं मम साम्प्रतम् । विजृम्भतेऽत्र सामर्थ्यमेतयोरिति मे मतिः ॥२३॥

एतयोरनुरागाद् वचनात्प्रसादतश्च मे । द्वितीयेयं कृतिः प्रारब्धा पूर्णा च तथैव हि ॥२४॥

अहम्भिक्षादीक्षार्थिनां यत्प्रेरणयैकदा । जातं वार्षिकदानं तस्मै **हेमसूरये** नमः ॥२५॥

पञ्चविंशतिभिः सार्धं प्रव्रजितः स मे गुरुः । विजयः **विश्वकल्याणः** पुण्यशाली प्रभावकः ॥२६॥

प्रसन्नास्याय सौम्याय चैत्योद्धारोद्यताय हि । भुवनभानुसूरीशशिष्याय गुरवे नमः ॥२७॥

तच्छिष्येण मयेमां जयलतां कुर्वता सता । श्रीमृत्युञ्जय-सिद्धयाख्ये तपसी साधिते मुदा ॥२८॥

ग्रन्थेऽस्मिन् जटिला ग्रन्थयः प्रायः प्रतिवाक्यगाः । तथापि गुरुभक्त्या प्रसादाच्च शारदाकृतः ॥२९॥

सुबोधेऽस्मिन मया शास्त्राणि शतशोऽवगाह्य वै । जयलतापदार्थैदम्पर्यार्थकलिता कृता ॥३०॥

गजगत्यभ्रराशिप्रमिते (२०४८) विक्रमवत्सरे । कार्त्तिकि हुबलीपुर्यां राकायां पूर्णतामगात् ॥ ३१॥

टीकेयं शोधिता तर्करत्नैः **श्रीजयसुन्दरैः** । **पुण्यरत्नादिभिश्चा**ध्यात्मतपोज्ञानशालिभिः ॥३२॥

कृतिरियं सदा नन्द्याच्छ्रीयशोविजयस्य हि । अनया लभतां लोको विषयविजयश्रियम् ॥३३॥

ग्रन्थाग्रम् - २३०००

इति महामहोपाध्याय-यशोविजयगणिवर्यविरचित मध्यमस्याद्वादरहस्यप्रकरणस्योपरि मुनियशोविजयकृतजयलता टीका समाप्ता

कल्याणमस्तु

तृतीयः भागः संपूर्णः

ग्रन्थश्च सटीकः समाप्तः ।

इस तरह न्यायविशारद न्यायाचार्य महनीय महोपाध्याय यशोविजयजी गणिवर्यश्री से विरचित (मध्यम) स्याद्वादरहस्य ग्रन्थ की सुविशाल गच्छाधिपति वर्धमानतपोनिधि, न्यायविशारद आचार्यदेव श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजा के शिष्य शासनप्रभावक मुनिराजश्री विश्वकल्याणविजयजी महाराजा के शिष्य मुनि यशोविजय से रचित रमणीया (हिन्दी) व्याख्या सानन्द संपूर्ण हुई ।

श्रीरस्तु श्रमणसंघस्य

हुबलि - कार्तिकपूर्णिमा

वि.स. २०४८

परिशिष्ट-१ मध्यमस्याद्वादरहस्ये स्पष्टीकृता अर्थविशेषाः

१. अवगाहना हि न संयोगदानमुपग्रहो वान्यसाधारणत्वात् किन्त्वाधारत्वपर्यायः ६९०

२. आभिमुख्येन ग्रहणं मुख्यत्वं, तद्विपरीतत्वमुपसर्जनत्वम् ४३२

३. उपयोगश्चोपलिप्सोराभोगकरणं इति विशेषावश्यकवृत्तौ ५८

४. एकशेषस्थले तु वस्तुतः पदान्तरस्मरणमेव कल्प्यम् २८७

५. एकदोभयतात्पर्यग्रहे एकपदादेकदोभयबोधास्वारस्यनिर्वाहाय 'सकृदुच्चरिते' त्यादिनियमो युक्तः २९६

६. ऋजुसूत्रनये उपादेयक्षण एवोपादानप्रध्वंसः १६

७. क्षयश्चात्र(कर्मक्षये) स्वसमानाधिकरणतज्जातीयपर्यायप्रागभावासमानकालीनस्तत्पर्यायध्वंसो, न तु सर्वथाभावः ४५५

८. कृतस्य = कुम्भकारादिप्रयत्नस्य नाशः = उपधानाव्याप्यत्वम्, अकृतस्य = कुम्भकारादिप्रयत्ना भावस्य आगमः = अनुपधानाव्याप्यत्वम् १११

९. तत्तदर्थस्वरूपपरिणामपरिणतपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वंतत् (अनभिलाप्यत्वम्) ५११

१०. मोहक्षोभविहीनो ह्यात्मनः परिणामः शुद्धः_स एव हि चारित्र्यशब्दवाच्यः १९६

११. न चैवं मोक्षेऽ प्यनुजिघृक्षापत्तिः जिननामकर्मोदयसाचिव्यादेव तत्प्रवृत्तेः ५२१

१२. नन्वत्र किं कारणत्वमिति चेत् नियतान्वयव्यतिरेकव्यंग्यः परिणामविशेषः। ८३४

१३. योग्यताविशेषश्च तदंशे ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमः ३३१

१४. व्यवहारनये तु घटोत्तरकालवर्त्तिमृदादिस्वद्रव्यं घटप्रध्वंसः ११

१५. वस्तुतः सामान्यत एका चाक्षुषजननी योग्यताऽ परा च तमःसंयुक्तचाक्षुषजननी ३५१

१६. विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वं सत्त्वं, निषेधमुखप्रत्ययवेद्यत्वं चासत्त्वम् ४७२

१७. द्वयं न विरुद्धं = न परस्परानधिकरणाधिकरणम् ४६५

१८. प्राच्यादिविभागेन कथञ्चिद्विभिन्ना प्राच्यप्रतिच्योभयाधारत्वेन कथञ्चिदेका चाकाशात्मिकैव दिगिति। ६१३

१९. समनियताभावस्त्वेक एव ११

२०. स्वभावो हि स्वद्रव्यगुणपर्यायानुगतं स्वरूपास्तित्वम् १७८

२१. 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इत्यभ्युपगमेनैकया शक्त्याप्येकपदस्यानेकार्थबोधकत्वात् २९७

२२. सादृश्यं न तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं, किन्तु तद्वृत्तिधर्मैकधर्मवत्त्वम्। ४९४

२३. एकत्वं च संग्रहनयार्पणार्पितबुद्धिविशेषविषयत्वम्।

२४. संकेतो हि तपश्चरणदानप्रतिपक्षभावनावज्ज्ञानावरणक्षयोपशमभिव्यञ्जकतयोपयुज्यते न तु शब्दार्थसम्बन्धतया। ६३३

२५. भगवतां मोहाभिव्यक्तचैतन्यविशेषरूपाया इच्छाया असत्त्वेपि तदनभिव्यक्तचैतन्यविशेषरूपानुजिघृक्षादिसत्त्वमविरुद्धम्। ५२८

परिशिष्ट-२ मध्यमस्याद्वादरहस्ये निर्दिष्टा ग्रन्थविशेषाः

१.	अध्यात्ममतपरीक्षा	१९८, ५२९
२.	अनुमानखण्डः (त.चि.)	६१०
३.	अनेकान्तव्यवस्था	८७४
४.	अष्टसहस्री	७६३
५.	आकरः (स्याद्वादरत्नाकरः)	२२, ९६, २९८, ६४९
६.	गुणस्थानकक्रमारोहः	११७
७.	चित्ररूपप्रकाशः	५८४
८.	ज्ञानकर्मसमुच्चयवादः	८३०
९.	न्यायवादार्थाः	१३९, ५६४, ६५५
१०.	पदार्थमाला	७१४
११.	विशेषावश्यकवृत्तिः	५८
१२.	श्रीपूज्यलेखः	९३, २२९
१३.	सप्तभङ्गीतरङ्गिणी	२९९
१४.	स्तुतिः	८५

परिशिष्ट-३ मध्यमस्याद्वादरहस्ये निर्दिष्टा नामविशेषाः

१.	अष्टसहस्रीकारः (विद्यानन्दः)	२६८
२.	उच्छृङ्खलाः	३४६
३.	उदयनः	१०२
४.	ऋजवः	१०४, ५८४
५.	एकदेशी	१५७, ५८५
६.	कन्दलीकारः (श्रीकण्ठः)	४०७
७.	कापिलमतम्	६३४
८.	गङ्गेशः	३५
९.	ग्रान्थिकाः	६६७
१०.	चार्वाकः	६३५
११.	जरन्नैयायिकाः	७०५
१२.	तथागतः	५४६
१३.	तौतातितैकदेशी	३५०
१४.	दिगम्बराः	८९, ४५८, ४८१, ५२५
१५.	दीधितिकृत्	९२, २४९, ४३५, ८६२
१६.	नवीनः	२९२, ३९३,
१७.	नव्यचार्वाकः	६३८, ६५५
१८.	नव्यनैयायिकः	७३, ७५४
१९.	नव्यमतानुयायी	९३, ४९८, ६२१
२०.	नूतननैयायिकः	७०१
२१.	नैयायिकः	७२१
२२.	नैयायिकैकदेशी	६८, १७४
२३.	पक्षधरमिश्रः	८७४
२४.	प्रगल्भः	३६६
२५.	प्राञ्चः	४७, ४८६, ६७९, ६९७
२६.	प्राभाकराः	३६३
२७.	बौद्धः	५४६
२८.	भट्टाः	७६२, ७७०
२९.	भवदेवः	२४८
३०.	मणिकृत्	११, ८८, १७०, ६१०
३१.	मीमांसकः	७१०
३२.	यशोविजयः	१६०
३३.	यौक्तिकाः	८७
३४.	यौगाः	९४, १२६, ७७०
३५.	रामभद्रसार्वभौमः	५५८
३६.	लोकायतिकः	६३५
३७.	वर्धमानः	३८४, ५०४
३८.	वैशेषिकः	५४९
३९.	शिरोमणिनयानुयायी	७२३
४०.	सांख्यः	१११, १२७, ६३४, ७६०, ७७०
४१.	साम्प्रदायिकाः	७२९, ७५२
४२.	स्तुतिकृतः	७३७
४३.	स्याद्वादी	७३६
४४.	स्वतन्त्राः	३८९
४५.	हेमसूरिः	१, १६०

परिशिष्ट-४ मध्यमस्याद्वादरहस्ये ग्रन्थान्तरादुद्धृतानां संवादानां सूचिः

१.	अ.मा.नो.ना	४७०
२.	अण्णं घडाउ रूवं (श्रीपूज्यलेख)	९३
३.	अत्यन्तासत्यपि ज्ञानं (खं.खं. खा. १.१)	६१६
४.	अनन्तो शुद्धसम्यकत्व (गु. क्र. १३०)	१९७
५.	असदकरणादुपादान (सां.का. ९)	१११
६.	आनन्दं ब्रह्मणो रूपं	१६३
७.	आया सामाइए	१९८
८.	इह विविधलक्खणाणं (प्र. सा. २.५)	४८३
९.	उपयोगश्चोपलिप्सो (वि. आ. वृ.)	५८
१०.	उपाधयो (स्या.मं. २४.३५९)	६११
११.	उपाधिभेदोपहितं (अन्ययो. व्य. २४)	६१०
१२.	उवन्नेइ वा	८७६
१३.	एकत्र वस्तुनि (प्र.न. ४.१४)	२२९
१४.	एकत्र वृत्तौ हि (शंखे पा. स्तोत्र-४०)	८५
१५.	एगे भंते जीवप्पएसे (आत्मप्रवाद)	८१५
१६.	एतस्य चाक्षरस्य (बृ. आर. ३,८,९)	४३९
१७.	एवंविधं सहावे (प्र. सा. २.१९)	१३०
१८.	कयमाणे कडे	४३४
१९.	केवलविन्नेयत्थे (बृ.क.भा. ५८)	५२०
२०.	चैतन्यस्वरूपः (प्र. व. १.५६)	७५६
२१.	जम्हा य मोअगुच्चारणंमि (बृ. क. भा. ५९)	५२
२२.	जुत्तो य तदुवयारो (वि. आ. भा. २३४७)	८१३
२३.	ठाणनिसेज्ज (प्र. सा. १.४४)	५२६
२४.	तत्र सचेतसां	६१७
२५.	तस्मान्न बध्यते (सां.का.६२)	७७६
२६.	तेषां मोहः (न्या. सू. ४.१.६)	४६७
२७.	तो भासइ सव्वन्नु	५२८
२८.	न भवो भंगविहिणो (प्र. सा. २.८)	२३
२९.	नाणस्स सव्वस्स (उत्तरा. ३२.२)	१९७
३०.	नानात्मानो व्यवस्थातः	८२३
३१.	नित्यं विज्ञानं आनन्दं (तै.आ.)	१६२, ८२७
३२.	नित्यं सत्त्वमसत्त्वं (प्र.वा. ३.३४)	६१५
३३.	पन्नवणिज्जाणं पुण (वि.आ.भा. १४१)	५१८
३४.	पन्नवणिज्जा भावा (वि.आ.भा. १४१)	५१४
३५.	पयोव्रती न (शा.वा. ७.३)	८८२
३६.	पविभत्तपदेसत्तं (प्र.सा. २.१४)	९२
३७.	पुट्ठं सुणेइ सद्दं (आ.नि. ५)	६९३
३८.	पूर्वापरपरिणाम (प्र.न. ५.५)	४८०
३९.	प्रमाणप्रतिपन्न (प्र.न.त. ४.४४)	२८२
४०.	मुखे पुच्छे च (इति.हा. ९६)	५९९, ६०६
४१.	यत्रैव यो दृष्ट (अन्य. व्यव. ९)	८०४
४२.	यथा हि प्रेर्यते	६९९
४३.	रूवं पुण पासइ (आ.नि. ५)	७२
४४.	विकल्पयोनयः	५१९
४५.	विसेढी पुण सद्दं (आ.नि. ६)	६९२
४६.	वीतरागजन्मादर्शनात् (न्या. सू.)	६५६
४७.	संविदेव हि भगवती	१०२
४८.	सद्दंधयारउज्जोआ (उत्तरा.)	६९०
४९.	सद्दव्वं सच्च गुणो (प्र. सा. २.५)	१०८
५०.	सब्भावो हि सहावे । (प्र. सा. २.५)	४८१
५१.	साधु चन्द्रमसि (का. प्र. ७.७८८)	४५१
५२.	सिद्धिः स्याद्वादात् (सि. श. १.१.२)	७३७
५३.	सिद्धे नो चरित्ती	१९७

परिशिष्ट-५ मध्यमस्याद्वादरहस्ये दर्शितानां न्यायानां सूचिः

१. एकं सीव्यतोऽपरप्रच्युतिः ७२२
२. एकत्र द्वयम् १३९, ४८९
३. तद्धेतोरस्तु किं तेन ६९१
४. धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी ६८८
५. प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वम् ४६७
६. यद्विशेषयोः कार्य-कारणभावः स तत्सामान्ययोरपि ४१
७. विशिष्टवाचकानां पदानां विशेषणवाचकपदसमवधाने सति विशेष्यार्थ- मात्रपरत्वम् १७३
८. सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति २८५, २९६, २९७

परिशिष्ट-६ जयलता में खंडित किये गये ग्रंथ एवं मत की सूचि

१. अनेकान्तवादनिरास १०६
२. अन्नम्भट्टमत ५९९
३. अर्थसंग्रह ४५१
४. अष्टसहस्री २५८, ५९५, ७६२
५. ऐतरेयोपनिषत् ८२४
६. कठोपनिषत् ८२४
७. कल्पतरुपरिमल २१९
८. कान्टमत ६८६
९. कारणतावाद (जगदीश) ८७३
१०. कारिकावली ६८५
११. किरणावली (उदयनाचार्यकृत) ३७५, ७५३
१२. गौडपादकारिका ८००
१३. छान्दोग्योपनिषत् ८००, ८०८, ८२४
१४. जागदीशीव्यधिकरणदीपिका २५५
१५. तत्त्वचिन्तामणि १२, १६, ३५, ३६, ५१, ६१, ७५, ८५, ३६९, ६९४
१६. तत्त्वचिन्तामणि आलोकटीका ४९, ५२
१७. तत्त्वसंग्रह २३५, ५४०
१८. तत्त्वसंग्रहदीपिका १००
१९. तत्त्वसंग्रहपञ्जिका १४६
२०. तत्त्वार्थराजवार्तिक १०४
२१. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक ५२५, ५३०
२२. तर्कसंग्रहनृसिंहप्रकाशिका ८५१
२३. त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत् ४४८
२४. दीधिति ४३५, ६८९
२५. देवराजमत ४
२६. नारदपरिव्राजकोपनिषत् ४४८
२७. नारायणपरिव्राजकोपनिषत् ८०८
२८. न्यायकणिका ४५१
२९. न्यायकन्दली १२९, ४०७, ७९६
३०. न्यायतात्पर्यटीका ७३
३१. न्यायभाष्य ७०७
३२. न्यायभूषण २१, ७३, ८४, ११३, ११४, १७७, १८०, २३४, २३६, २७२
३३. न्यायमञ्जरीसार २
३४. न्यायरत्नमाला ४५१
३५. न्यायरत्नाकर ७०३
३६. न्यायसिद्धान्तदीप (शशधरशर्मा) ३८०
३७. पक्षधरमिश्रमत ४०८
३८. प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार ९
३९. प्रवचनसार २१३, ५२९
४०. प्रवचनसारतात्पर्यवृत्ति २४
४१. प्रशस्तपादभाष्य १०, ६९५
४२. बृहदारण्यकोपनिषत् ४४०, ४४२, ८२४
४३. ब्रह्मबिन्दूपनिषत् ८२४
४४. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य १०, २२५, २३४, २६४
४५. भवदेवमत २४९
४६. मथुरानाथमत ३४८

४७. माध्यमकवृत्ति १३२

४८. माध्यमिककारिका ६१३

४९. मीमांसान्यायप्रकाश ४५१

५०. मीमांसापरिभाषा ४५१

५१. मीमांसासारसंग्रह ४५१

५२. मुक्तावली २९, २०६, ५५८, ७०९, ६४७, ६८८, ७००, ७५९, ८१४, ८२५

५३. मुक्तावलीकिरणावली ४८

५४. मुक्तावलीदिनकरीयवृत्ति ३१, ७२, ३२६, ३५०, ५०८, ६४८, ६८८, ७३२, ७३५, ८७२

५५. मुक्तावलीप्रकाश ८७४

५६. मुक्तावलीप्रभा (नृसिंहशास्त्री) ३०९, ३२६, ५०८, ५११, ६९३

५७. मुक्तावलीमञ्जूषा ३१, ३०९, ६९५, ७९७, ७०३, ७३२, ८७१

५८. मुक्तावलीमयूख ३८५

५९. मुक्तावलीरामरुद्रीयवृत्ति (दिनकरीयतरङ्गिणी) ३७०, ४३५, ४३७, ५११, ५१२, ६६४

६०. मुण्डकोपनिषत् ४४८, ८२४

६१. योगसूत्र ४५६

६२. रेल्महोल्टसमत १२९

६३. विधिविवेक ४५५

६४. वेदान्तकल्पतरु २२३

६५. व्यधिकरणप्रकरण १२

६६. व्युत्पत्तिवाद ७६, २१४

६७. व्योमवती ९

६८. शतपथब्राह्मण ८००, ८०८

६९. शिवादित्यमत ४०८

७०. शेषानन्तमत ४०८

७१. श्लोकवार्तिक ४५१, ४५२, ४५५, ६९८

७२. श्वेताश्वतरोपनिषत् ४४८, ८०८

७३. सप्तभङ्गीतरङ्गिणी (विमलदासकृत) २६९

७४. सांख्यकारिका २११, ७७३, ७७४

७५. सांख्यतत्त्वकौमुदी १२३, १२८

७६. सांख्यतत्त्वकौमुदी किरणावली १२९

७७. सामान्यनिरुक्तिदीधिति १८२

७८. सिद्धान्तलक्षणदीधिति ३६९

७९. स्याद्वादध्वान्तमार्तण्ड ४२७

८०. हिरियन्नामत ३

८१. हेगलमत ६८६

परिशिष्ट-७ जयलता में निर्दिष्ट साक्षी ग्रंथ की सूचि

१. अथर्वशिरउपनिषत् ८७५
२. अद्वैतसिद्धि ८०१
३. अध्यात्मबिन्दुवृत्ति ९४०
४. अध्यात्ममतपरीक्षा १९८, २०९, ५२९
५. अध्यात्मोपनिषत् ५१३, ८७५
६. अनुयोगद्वारसूत्र १०३
७. अनेकान्तजयपताकावृत्ति २
८. अनेकान्तव्यवस्था (जैनतर्क) ३००, ८२६, ८३५, ८७४
९. अन्धकारभाववाद ३९५
१०. अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका १६९, २०१, ३००, ६१०, ७५९, ८०४
११. अन्वीक्षानयतत्त्वबोध १७२
१२. अभिधानचिन्तामणि ३३९
१३. अमरकोश ३२. २९०, ४०८
१४. अमृतनादोपनिषत् ३
१५. अवच्छेदकत्वनिरुक्तिदीधिति २४०, २७७
१६. अष्टसहस्री ७०९, ८३५, ८८०
१७. अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण १३९,२०७,२२७, २४९,२९७,३००,४५०,४५४
१८. आत्मख्याति ७८५, ७९९, ८००, ८१७
१९. आत्मतत्त्वविवेक १००
२०. आत्मतत्त्वविवेकवृत्ति १५२
२१. आत्मप्रवाद ८०८
२२. आप्तमीमांसा ३,१५५,१९९, २५६, ७६२
२३. आवश्यकनिर्युक्ति ५२४, ५२८, ६१७, ६९३, ८३३
२४. आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका ६२९
२५. आवश्यकनिर्युक्तिहारिभद्रीयवृत्ति ७२,६९२,६९३
२६. इतिहासोपनिषत् ५९९
२७. उत्पादादिसिद्धिवृत्ति १३९, २३६, ४६०, ५३९
२८. ऋग्वेद २३४
२९. कर्मग्रन्थ (चतुर्थ) ५२५
३०. कल्याणकन्दली ७९२
३१. कारणतावाद (गदाधरकृत) ८४२, ८४७, ८५७, ८५८, ८६०, ८६३
३२. कारणतावाद (जगदीशकृत) ८७२
३३. कारिकावली ४१७
३४. काव्यप्रकाश ४५१, ४८६
३५. काव्यानुशासन ४८६
३६. काशिका ७८, २८७
३७. किरणावली (उदयनकृत) ७८, ५३६
३८. खण्डनखण्डखाद्य ११, ४२१
३९. गुणस्थानकक्रमारोह १९७
४०. गौडपादभाष्य १११, ७७२
४१. चित्ररूपप्रकाश ५७०, ५८४
४२. छान्दोग्योपनिषत् १६३, ८०३, ८०८, ८१८
४३. जीवविचार ३०५
४४. जीवाजीवाभिगम ६८६
४५. जैनतर्क ८२८, ८३५
४६. ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद ८३०
४७. ज्ञानबिन्दु ५२४, ७६८
४८. तत्त्वचिन्तामणि ३५,४९,८४,८८,८९, ३१७,६८०,८२७,८५६
४९. तत्त्वचिन्तामणिआलोक १२, ३६९
५०. तत्त्वचिन्तामणिदीधितिप्रकाश २४८
५१. तत्त्वप्रदीपिका ८१९
५२. तत्त्ववैशारदी १०६, १४५
५३. तत्त्वसंग्रह ११५, ४५०
५४. तत्त्वसंग्रहपञ्जिका १२८
५५. तत्त्वार्थटीका १०५,३९९,५२४,५२९,६८५,६९०
५६. तत्त्वार्थभाष्य १८
५७. तत्त्वार्थराजवार्त्तिक १९३, ६८५
५८. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक १९, २३४,६८५
५९. तत्त्वार्थसूत्र ६,७८,३६१, ६१९, ७०५,७४१,८२८,८७७
६०. तर्कसंग्रहनीलकण्ठीयवृत्ति ६०२

६१. तर्कसंग्रहनृसिंहीयवृत्ति ८४६
६२. तर्कसंग्रहरामरुद्रीयवृत्ति ६०७, ८४५
६३. तर्कसंग्रहनृसिंहीयप्रकाशिका ८५२
६४. तेजोबिन्दूपनिषत् ८७५
६५. तैत्तरीयब्राह्मण १३१
६६. तैत्तिरीयोपनिषत् १०, ७५४,७५५.७९२, ८२२,८२६,८७०
६७. त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत् ८७५
६८. त्रिपुरातापिन्युपनिषत् ८७६
६९. दशवैकालिकनिर्युक्ति ७५७
७०. दीधिति ५३३, ७४६,७४८,८५२,८६२
७१. देवीभागवत ७६०
७२. द्वात्रिंशिकाप्रकरण (सिद्धसेनसूरिकृत) ८३२
७३. द्वादशारनयचक्र २२९, ६९८
७४. धर्मसंग्रहणीवृत्ति [illegible], ८२८
७५. ध्यानशतक ६२८
७६. नन्दीसूत्र २०४
७७. नयचक्रसार २१
७८. नयरहस्य ४६०
७९. नयामृततरङ्गिणी ८३०
८०. नयोपदेश १७१, १८४, २३१,३००,५६९,८३०
८१. नारायणोत्तरतापनीयोपनिषत् ८०८
८२. निशीथपीठिकाचूर्णि ८२२
८३. नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषत् ८७५
८४. नैष्कर्म्यसिद्धि ८०१
८५. न्यायकणिका १३१, २२४,४००,५२९
८६. न्यायकन्दली १३१, ८०६, ८२२, ८२३
८७. न्यायकुसुमाञ्जलि ५६, ८६६
८८. न्यायखण्डखाद्य ५३३, ७९८,८००,८०५
८९. न्यायप्रभा ५३३
९०. न्यायभाष्य ६५६, ७३७
९१. न्यायमाला ३
९२. न्यायसंग्रह २५८
९३. न्यायसिद्धान्तमञ्जरी-शब्दखण्डवृत्ति ४५२
९४. न्यायसूत्र ५२, ४६७,६५६,७५०,७६१
९५. न्यायसूत्रवैदिकवृत्ति १३१
९६. न्यायालोक ८२९
९७. न्यायावतारवृत्ति ४
९८. पञ्चदशी १२
९९. पञ्चपादिकाविवरण ८०२
१००. परामर्शगादाधरी ६८०
१०१. परीक्षामुख ४७८
१०२. पाणिनिसूत्र ७८,७९,१६४,१६६, २६०,२८६,७३७,७५८
१०३. पातञ्जलमहाभाष्य (व्याकरण) ७९, ७५४
१०४. पातञ्जलयोगभाष्य ७
१०५. पारमात्मिकोपनिषद्वृत्ति ४५१
१०६. पाशुपतब्रह्मोपनिषत् ८७७
१०७. प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार १६,१४१,२२९,२३१, २३४,२८२,२८३,२९९,३०१,४८०, ६३४,६३६,६४८,७५६,७७०,७७४
१०८. प्रमाणमीमांसा २३
१०९. प्रमाणवार्त्तिक २८, ४४८, ५४७
११०. प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार ५४७
१११. प्रमारहस्य १३९
११२. प्रमेयकमलमार्तण्ड १४८
११३. प्रवचनसार २३,९२,१०८,१३०,१८०,१९२, १९६,२१२,४३३,४८१,५२४,५२९,८८०
११४. प्रवचनसारतत्त्वप्रदीपिका २३,९२,१०८,१३०, १३१,२०९,२५६,४८१,४८३,५२६
११५. प्रवचनसारतात्पर्यवृत्ति ९२,१०८,१३०, २५६,४८२,४८४
११६. बृहत्कल्पभाष्य ५१३, ५१८,५२३,६३२
११७. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति ५२४, ५१८, ५२२, ५२३
११८. बृहत्संहिता ७७६
११९. बृहत्स्याद्वादरहस्य ७, ४१३
१२०. बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र १८०
१२१. बृहदारण्यकोपनिषत् ७५८, ७५९, ७७०, ८०३, ८१८, ८७५
१२२. बृहद्द्रव्यसंग्रहः ७५६

१२३. बौद्धतर्कभाषा १४७
१२४. ब्रह्मवैवर्त ७६०
१२५. ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्य १४५
१२६. ब्रह्मबिन्दूपनिषत् २३५
१२७. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य ७५८,७५९,८०३,८१८,८१९
१२८. ब्रह्मानन्द १४५
१२९. ब्रह्मसूत्र ८१८
१३०. भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) १९५, ४७५
१३१. भगवद्गीता २५४, ३३६, ८६२
१३२. भस्मजाबालोपनिषत् ७५८,८३२, ८७६
१३३. भानुमती (न्यायालोकटीका) ८२८
१३४. भामती ८०१
१३५. भावप्रकाश ४५९
१३६. भाषारहस्यविवरणम् ६३४, ६९२
१३७. मनःप्रकरणम् ७३९
१३८. महानारायणोपनिषत् ८०८
१३९. महोपनिषत् २३४,८७५
१४०. माठरवृत्ति ७७०
१४१. मीमांसाकुतूहल ३६६
१४२. मुक्तावली ३८८, ४८७,८४२,८६२
१४३. मुक्तावलीदिनकरीयवृत्ति (महादेव) ३८८, ४८५,४८७, ५०९,८३६,८४२
१४४. मुक्तावलीकिरणावली ४२
१४५. मुक्तावलीप्रभा १४,४१,१८१,३८८,४१३, ५०९,७३६,७८२,८३६,८४२,८४८
१४६. मुक्तावलीमञ्जूषा (पट्टाभिराम) १४,४२,४८७
१४७. मुक्तावलीरामरुद्रीयवृत्ति ४८५,४८७५०९,७३१, ८३६,८४८,८५५
१४८. मुण्डकोपनिषत् ८३२
१४९. मैत्रेय्युपनिषत् ८७५,२३५
१५०. मोक्षरत्ना १०६, २३३,६३४,६९५
१५१. योगचूडामण्युपनिषत् ७७०
१५२. योगबिन्दु ४५५
१५३. योगशास्त्र २१०, ४४३,७९०
१५४. योगसूत्र ५४७, ७६०
१५५. रत्नाकरावतारिका १४०,१९४,२०८,२३०, २३३,२६७,२८२,२९९,४८०,६९७
१५६. राजमार्तण्ड १०६
१५७. लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति १४१
१५८. लघुस्याद्वादरहस्य ३,२८,२९१,४००,४७२, ५०८,५२३,५५३,५५५, ५८६,६५०,८२९,८७६
१५९. वाक्यपदीय २२२, ५२१
१६०. वाक्यपदीयवृत्ति ७९
१६१. वादमाला ५८४
१६२. वाशिष्ठ ८३४
१६३. विधिविवेक १३१, ४४७
१६४. विवरणप्रमेयसंग्रह ८०१, ८०२
१६५. विशेषवाद (वादसंग्रह) ५०८
१६६. विशेषावश्यकभाष्य ७,२५,१२८,४३४, ४५०,५१२,५२१,५२२,५२३,५२८, ५५५,६१७,८०९,८१३,८१५,८२८
१६७. विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति १४१,५१४,५२२, ५२४,८०९,८१३,८१४
१६८. विष्णुपुराण ८३१
१६९. वीतरागस्तोत्र १४५, २००
१७०. वीतरागस्तोत्रविवरण ३०,१४५,१७७,१८६, १९९,२०१,२१७,४६१,४६२,५४६, ५४९,६३५,६५३,८७५,८७६
१७१. वीतरागस्तोत्रावचूर्णि ३०,१४७,१७७,१८६, २००,२०१,२१७,५४६,८७६
१७२. वेदान्तकल्पलतिका ८१९
१७३. वेदान्तसार ८७७
१७४. वैशेषिकसूत्र ८२२, ८२३
१७५. वैशेषिकसूत्रभाष्य २५५
१७६. वैशेषिकसूत्रवैदिकवृत्ति १३१
१७७. वैशेषिकसूत्रोपस्कार २५५
१७८. व्यधिकरण ८९
१७९. व्यधिकरणदीधिति २४१, २४८
१८०. व्यवहारभाष्यवृत्ति ३६६
१८१. व्यवहारसूत्रभाष्य ३६६

१८२. व्युत्पत्तिवाद ३४, १६७,१७०,२१३,२५९
१८३. शकुन्तलानाटक २९२
१८४. शक्तिवाद ४५२
१८५. शरीरकारणतावाद ६३८
१८६. शाण्डिल्योपनिषत् ८७५
१८७. शाबरभाष्य ७२०
१८८. शास्त्रदीपिका १०६, १४५,१६०
१८९. शास्त्रवार्तासमुच्चय १०६, २०४,२७८,८७७,८८२
१९०. श्रीरामोत्तरतापिन्युपनिषत् ८७६
१९१. श्लोकवार्तिक ४०, ६७,१७५,३५३,६३६,७२३
१९२. श्वेताश्वतरोपनिषत् ४४२, ८०८,८३२
१९३. संक्षेपशारीरकवार्त्तिक ८०१
१९४. सप्तभङ्गीतरङ्गिणी १४०, २३०,२५४
१९५. सप्तभङ्गीनयप्रदीप ३००
१९६. सम्मतितर्क १३, ८७७
१९७. सम्मतितर्कवृत्ति (वादमहार्णव) ८१,१२४, १४०,१७७,२०४,२११,२३४,२३६, ४२०,४३६,६१७,७८९,८०४,८८१
१९८. सर्वज्ञसिद्धि ५२९
१९९. सांख्यकारिका १११, ७६०,७७०,७७२
२००. सांख्यतत्त्वकौमुदी ११२, ११६
२०१. सांख्यतत्त्वकौमुदीकिरणावली २०८
२०२. सांख्यसूत्र ७६४, ७७०
२०३. सामान्यनिरुक्तिदीधिति १८२
२०४. सामान्यलक्षणाकाशिकानन्दिवृत्ति ७७९
२०५. सामान्यलक्षणागादाधरी ७३६
२०६. सिद्धहेमबृहद्वृत्ति ७३७
२०७. सिद्धहेमलघुन्यास २८६, ७३७
२०८. सिद्धहेमलघुवृत्ति ७९, २१३,७४७
२०९. सिद्धहेमशब्दानुशासन ४०,५१,७९,१०९,१३२, १६५,२०८,२११,२१३,७३७,७४७
२१०. सिद्धान्तबिन्दु ८०२, ८१९
२११. सिद्धान्तलक्षणदीधिति ९०
२१२. सिद्धान्तलक्षणदीधितिजागदीशीवृत्ति ३७२
२१३. सुबालोपनिषत् २३५
२१४. सूत्रकृताङ्ग २०४
२१५. सूत्रकृताङ्गवृत्ति १२४
२१६. स्याद्वादकल्पलता ८४,१८६,२८४,३००, ४५०,४५९,५२८,५२९,५६९,६१६, ६३४,६९८,७१०,७९८,८८१,८८३
२१७. स्याद्वादमञ्जरी ४, ६२०,६२४,७५८,७८८, ८०४,८०६
२१८. स्याद्वादरत्नाकर: २३,५८,१९४,२०६,२११, २३०,२९९,३९९,४९८,६१६,६३४,६४९, ६५०,६८५,६९८,७३७,७३९,७४१, ७७६,७७७,७८६,७९४,८२४
२१९. स्वरूपसम्बोधन २०९
२२०. हलायुधकोश ६४, २६३,२९२,२९६
२२१. हारीतस्मृति ८३१

परिशिष्ट-८ जयलता में निर्दिष्ट नामविशेष

१. अकलङ्कदेव ११३, २०९, ६८५
२. अक्षपाद ६५६
३. अप्पयदीक्षित २१९
४. अभयदेवसूरि ८१, १४०
५. अमृतचन्द्र २३,२४,८९,९२,१०८, १३०,१३१,१९२,२०९,२५६,४८१
६. आनन्दानुभवाचार्य १९५
७. आपदेव ४५१
८. ईश्वरकृष्ण १११, २११, ७६०, ७७०, ७७२
९. उदयनाचार्य ५६, ७८, १००, ५३६,६७३, ७५२,७५३,८३२,८६६
१०. उमास्वातिजी (वाचकमुख्य) ६, ८, ६११, ८२८, ८७६
११. कमलशील १२८, १४६
१२. कमलाकरभट्ट ३६६
१३. कान्ट ६८६
१४. कुन्दकुन्दस्वामी २३,८९,९२,१०८,१३०, ४८२,५२६,८८०
१५. कुमारिलभट्ट ४०, ६७, ११५, ३५०, ४५१, ४५२, ६३६, ६९८
१६. कृष्णवल्लभ ४८
१७. क्षेमकीर्तिसूरि ५१४, ५२३
१८. गङ्गेश उपाध्याय (मणिकार) १२, ३५, ७५, ८६, ३६९, ८६६
१९. गदाधर ७६,१६७,१७०,२१३,२१४, २५९,४५२,७४०,८४७,८५२,८६२, ८६३,८६५,८६७
२०. गर्ग ७७६
२१. चन्द्रकीर्ति १३२
२२. चन्द्रसूरि २३६
२३. चन्द्रसेनसूरि ४६०
२४. जगदीश २४८, ८७२
२५. जयघोषसूरीश्वर १९७
२६. जयदेवमिश्र १२, ४९, ५२, ३६९
२७. जयसेन ८९, ९२,१०८, १३०, २५६, ४८२
२८. जितारि १०६
२९. जिनभद्रगणी ५१२, ६२८, ८१३
३०. जेकोबि ६८६
३१. ज्ञानश्री १६
३२. तिष्यगुप्त ८०८, ८०९, ८१६
३३. तौतातित ८२९
३४. त्रिदण्डी ८२९
३५. दिगम्बर (आशाम्बर) १७८
३६. दिनकरभट्ट ३७०, ७३५
३७. देवेन्द्रसूरि ५२५
३८. धर्मकीर्ति २८, १०६, ४४८, ६१६
३९. नयोदयविजय ३९५
४०. नागार्जुन १३३, ६१४
४१. नीलकण्ठ ६०२
४२. नृसिंहशास्त्री १४,४२,१८१,३२६,३८८, ४१३,४२७,५०८,५०९,५११, ६९३,७३६,७८२,८८६
४३. नेमिचन्द्र ७५६
४४. पट्टाभिरामशास्त्री ४२, ३६०, ४८७, ६९५, ७२५, ७३६
४५. पतञ्जलि ७९,४५६
४६. परमेनाइडीझ १४५
४७. पाणिनि ७९, १६६
४८. पार्थसारथिमिश्र ४५१, ७०३
४९. पार्थसारमिश्र १०६
५०. प्रकाशात्मयति (विवरणाचार्य) ८०१
५१. प्रज्ञाकरगुप्त ९
५२. प्रभाकर ८७५
५३. प्रभाचन्द्र १४८
५४. प्रभानन्दसूरि ३०,१४६,१७७,१८६,१९९, २०१,४६१,६५३,८७५, ८७६
५५. बुलर ६८६
५६. ब्रह्मदेव ७५६
५७. भगीरथठक्कुर १५२
५८. भट्टशङ्कर ४५१
५९. भद्रबाहुस्वामी ५२८, ६९३
६०. भर्तृहरि ५२१
६१. भवानन्द २४८
६२. भासर्वज्ञ २१,८४,११३,११४,१७७, १८०,२३५,२७२,६८६

६३. भास्कराचार्य १४५, ८०१, ८०२

६४. भोज १०६, ४८६

६५. मण्डनमिश्र १३१, ४४७, ८०२

६६. मथुरानाथ ३४८, ७५२

६७. मधुसूदनसरस्वती ७६८, ८०१, ८०२

६८. मम्मट ४८६

६९. मलधारिहेमचन्द्रसूरि १४१,५१४,५२८, ५२२,८०९,८१३

७०. मलयगिरिसूरि ३६६

७१. मल्लवादिसूरि २२९

७२. मल्लिषेणसूरि ६१०, ७८८, ८०४

७३. महादेवभट्ट ३२६,३८८,४८७,५०८, ५०९,७३२,८३६,८६२

७४. माणिक्यनन्दी ४७८

७५. माणिक्यशेखरसूरि ६२८

७६. मित्रश्री ८२६

७७. मुसलगाँवकर ८३६

७८. मोक्षाकरगुप्त १४७

७९. रघुनाथशिरोमणि ९२, २४८, ४३५, ६८६, ७२३

८०. रत्नकोशकार ६६३

८१. रत्नप्रभसूरि २०८, २३०, २९९, ६९७

८२. रत्नशेखरसूरि १९७

८३. रसेल ६८६

८४. रामप्रपन्नाचार्य २५५

८५. रामरुद्रभट्टः ३७७,४३५,४३९,४८५,४८७, ५०९,५११,६०७,६६४,७३१,८४५

८६. रामानुज १०६

८७. रुद्रट ४८६

८८. रेल्महोल्टस १२९

८९. लौकायतिक ८२९

९०. लौगाक्षिभास्कर ४५१

९१. वराहमिहिर ७७६

९२. वर्धमान उपाध्याय १७२, ४०६

९३. वसु ८०८, ८०९

९४. वाचस्पतिमिश्र ७३,१०६,११६,१३१, १४५,२२४,४००,४५१,५२१,८०५

९५. वात्स्यायन ६५६

९६. वादिदेवसूरि १६,२३,५८,१४१,२३०, २८३,७३९,७७०,७७६,७८६, ७९४,८२४,८२६

९७. विद्यानन्द २६९, ७६२

९८. विद्यानन्द ७०९

९९. विद्यारण्यस्वामी १२, १४५, ८०१, ८०२

१००. विमलदास २३०,२५४,२६९

१०१. विशालराजसूरि ८,३०,१४७,१७७,१८६, २००,२०१,८७६

१०२. विश्वनाथपञ्चाननभट्ट २५८, ७००, ८६२

१०३. विश्वरूपाचार्य ८०१

१०४. व्योमशिव ९,८०७

१०५. शङ्करमिश्र २५५

१०६. शङ्कराचार्य १०६, २३४, ७५८

१०७. शान्तरक्षित १२९, २३५,४५०,५४०

१०८. शिरोमणिभट्टाचार्यानुयायी ५८५

१०९. शिवादित्यमिश्र ३१७

११०. ·कृष्णयज्वा ४५१

१११. श्रीधर १३१, ८७७, ८२२

११२. श्रीनिवासाचार्य १०६

११३. संघदासगणी ६३२

११४. समन्तभद्रस्वामी १५५, २५६, १८०, १९९

११५. सर्वज्ञात्ममुनि ८०५

११६. सिद्धर्षिगणी ४

११७. सिद्धसेन दिवाकर ८८१

११८. सिद्धसेनगणी १०५

११९. सुदर्शनाचार्य १४५

१२०. सुरेश्वराचार्य ८०५

१२१. सूर्यनारायण ३८५

१२२. सोमिल ४७५

१२३. हरिप्रसादस्वामी १३१

१२४. हरिभद्रसूरि (याकिनीमहत्तरासूनु) २, २७८, ५२९, ६९२

१२५. हर्ष ११, ४२१

१२६. हर्षवर्धनोपाध्याय १४०

१२७. हेमचन्द्रसूरीश्वर २,३,२३,१४५,१६७, २१९,४८६,५३०,५४६,५४९, ६१०,७३७,७९०

१२८. हेलाराज ७९

परिशिष्ट-९ जयलताकाररचित श्लोक की सूचि

१.	अत एव नित्यं	२३६
२.	अतो हि तेऽपि	२३६
३.	अधोज्वलनमग्ने	५
४.	अनारब्धेऽप्यमे	१
५.	अनेकान्तात्मकं	१
६.	अभव्यमोक्षसञ्जाते	५
७.	अलीकवाचालतया	१३०
८.	अवच्छेदकभेदेन	५४१
९.	अहो महान् प्रमादः	४५१
१०.	आत्माविभुत्वमुक्तं	७७५
११.	उदयव्ययधर्माणः	२३६
१२.	उपनिषदनेकान्तस्य	३००
१३.	एकमित्युच्यते तद्धि	५४१
१४.	एतेनैव प्रकारेण	५४१
१५.	कथञ्चिच्चैव	२३६
१६.	कथञ्चिदनुवृत्तस्य	५४१
१७.	कथञ्चिदणुसन्दोह	५४१
१८.	कूर्मरोम्णा गजे	६
१९.	क्षीरं विहाय	६
२०.	खरो गजगतिं	६
२१.	गगने नीलिमा	६
२२.	ज्ञानावृत्तिक्षयप्राप्त	५४९
२३.	ज्वालाग्निमण्डले	५
२४.	ज्वालावह्निरनु	६
२५.	तं नौमि हेमसूरिं	१
२६.	तक्रं क्षीरं	६
२७.	ततो निरन्वयो ध्वंसः	२३६
२८.	तर्कानुमान	८१८
२९.	तस्मान्नर्हति	२३६
३०.	तां नौमि शारदां नित्यं काश्मीर	६०९
३१.	तां नौमि शारदां नित्यं यत्प्रसादा	६३४
३२.	तृणानलस्तथा	५
३३.	द्रव्यात्मनानुगामित्वं	५४१
३४.	द्रव्यात्मनैक	५४१
३५.	धर्मातिरेके तु धर्म	७५
३६.	धीभावो हि वज्रे	६
३७.	न चोपलभ्यरूपस्य	२३६
३८.	नदीवेगस्स्थिरः	६
३९.	नरशृङ्गेण नष्ट	५
४०.	नरसिंहादयो भावा	५४१
४१.	नानात्मत्वं न	५४१
४२.	नानात्वे स्यात्	५४१
४३.	नृसिंहभागानुस्यूत	५४१
४४.	न्यायविशारदं नौमि	१
४५.	पठन्ति बहवो न्यायं	१
४६.	पश्य पश्य सुदूरं	७३
४७.	प्रार्श्वनाथं प्रणम्य	२०१
४८.	प्रतिभटः कुरङ्ग	५
४९.	प्रत्यक्षतः प्रमीयेते	२३६
५०.	प्राचां प्रलपितं	२३६
५१.	फल-फलवतोः स्या	१४५
५२.	भृष्टबीजसमुत्पन्न	६
५३.	भो ! विस्मरणशीलत्वं	१६०
५४.	भो !साधूक्तं त्वयैव	१६०
५५.	भो ! साधूक्ता	१४१
५६.	मीमांसक ! समुत्तिष्ठ	७३८
५७.	मृद्रूव्यं हि घटत्वेन	१६०
५८.	मेरुरागत्य पत्रे	६
५९.	यदि वरविघाताय	५
६०.	रज्जुसर्पेण	६
६१.	लुण्टिते वेश्मनि	६
६२.	वन्ध्यापुत्रीकटाक्षे	५
६३.	विद्वांसो यदि मम	२६
६४.	विधान-प्रतिषेधौ हि	५४१
६५.	विविधार्थक्रिया	२३६
६६.	व्यवहारानुरोधेन	५४१
६७.	शशशृङ्गेण नागेन्द्रो	५
६८.	श्रेयसेऽस्तु	६८९
६९.	सत्कार्यवादमेकान्तं	१२९
७०.	सद्योजाता तु	५
७१.	सर्वज्ञोदितहेतु	१
७२.	सर्वथानित्यता	७२१
७३.	सुरभि व्योमपुष्पं	५
७४.	स्कन्धन्यस्त	६९९
७५.	स्यादविकारि हि	२३५
७६.	स्वभावाभेद	२३५
७७.	हावेरिमण्डनं नत्वा	६३५